हिन्दी नाट्य शास्त्र

बाबूलाल शुक्ल शास्त्री



चौखम्भा संस्कृत संस्थान

वाराणसी

हिन्दी नाट्यशास्त्र



चौखम्भा संस्कृत संस्थान · वाराणसी

श्रीभरतमुनिप्रणीतं सचित्रम्

नाट्यशास्त्रम्

(सप्तमाध्यायान्तः प्रथमो भागः)

(परिष्कृत द्वितीय संस्करण)

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

२१५



श्रीभरतमुनिप्रणीतं सचित्रम्

नाट्यशास्त्रम्

'प्रदीप'-हिन्दीव्याख्या-टिप्पणी-परिशिष्ट-प्रस्तावनादिभिर्विभूषितम्

(सप्तमाध्यायान्तः प्रथमो भागः)

(परिष्कृत द्वितीय संस्करण)

सम्पादक एवं व्याख्याकार

श्रीबाबूलाल शुक्ल, शास्त्री

एम० ए०, साहित्याचार्य प्रभृति

[मध्यप्रदेश शासन (साहित्य अकादमी) सम्मानित]

प्राध्यापक एवं अध्यक्ष स्नातकोत्तर संस्कृत अध्यापन एवं संशोध विभाग

शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, शाजापुर (म० प्र०)



चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक

पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० १३९

जड़ाव भवन, के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी (भारत)

प्रकाशक : चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी
संस्करण : द्वितीय, वि० संवत् २०४०
मूल्य : रु० ७५-००

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्भा विश्वभारती
पो० बाक्स नं० ८४
चौक (चित्रा सिनेमा के सामने)
वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : ६५४४४

THE

KASHI SANSKRIT SERIES

215

*****

NĀṬYA ŚĀSTRA

OF

BHARAT MUNI

Critically edited with 'Pradīpa' Hindi Commentary, Various readings, Introduction, Preface, Index and Critical notes

(**PART FIRST**)

(Chapters 1 to 7)

(Second revised Edition)

By

Prof. BĀBŪ LĀLA ŚUKLA, ŚĀSTRĪ

M. A., Sāhityācārya

Honoured by the Madhya Pradesh Government (Sahitya Acedemy)

Professor and Head of Sanskrit Department in Postgraduate Teaching and Research, Government Postgraduate Coollege, Shajapur (M. P.)

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN

Publishers and Distributors of Oriental Cultural Literature

P. O. Chaukhambha, Post Box No. 139

Jadau Bhawan, K. 37/116, Gopal Mandir Lane

VARANASI (INDIA)

Phone : 65889

Edition : 1984

Price Rs. 75–00

Also can be had of

CHAUKHAMBHA VISVABHARATI

Post Box No. 84

Chowk (Opposite Chitra Cinema)

VARANASI–221001

Phone : 65444

प्रस्तावना

द्वितीय संस्करण

भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र के प्रदीप हिन्दी व्याख्यादि से मण्डित शोधपूर्ण संस्करण के प्रथमभाग के द्वितीय संस्करण को सहृदय पाठकों एवं विवेचक विद्वानों, प्राध्यापकों एवं अधीतिजन के समक्ष प्रस्तुत करते हुए प्रसन्नता हो रही है। इस व्याख्या के प्रकृत संस्करण के शीघ्र ही द्वितीय संस्करण होने की बात से यह भी स्पष्टतः दृष्टिगत होना आवश्यक है कि अब हमारे देश तथा प्रदेश में 'नाट्यविद्या' का अनुशील प्रभूतमात्रा में विकसित है तथा विद्वानों के ऊहापोह का लक्ष्य भी बन रहा है। इसी बीच नाट्यशास्त्र के अनेक प्रकरण ग्रन्थों की भी हिन्दी व्याख्याएँ प्रकाश में आयी तथा कुछ संस्कृत मूल के साथ भी इसी क्रम में सम्पादित हुए तथा हो रहे हैं। यह सभी बातें अधिक उत्साहवर्धक हैं तथा नाट्यविद्या का अनुशीलन करने वालों को आशादायी भी।

प्रथम से सप्तम अध्याय तक के प्रथम भाग के इस संस्करण में सभी प्रथम-भाग स्थलों को दोहराया जाकर उनमें अपेक्षित सुधार करते हुए प्रस्तुत किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त टिप्पणियों में भी पञ्चम अध्याय से सप्तम अध्याय पर टिप्पणियाँ लगाई गयी हैं तथा इन्हीं अध्यायों पर पूर्व में मूल के साथ लगी टिप्पणियों को भी व्यवस्थित करते हुए रखा गया है।

इसी संस्करण को अनेक विश्वविद्यालयों के द्वारा 'एम. ए' के लिये अनुमोदित तथा स्वीकृत ग्रन्थ के रूप में अनुशंसित करने के भी प्रयास अधिकाधिक होते जा रहे हैं तथा अनेक विश्वविद्यालयों में यह लगभग

४ या ५ वर्षों पूर्व से ही सन्दर्भ ग्रन्थ अनुशंसित हो चुका है। मैं उन सभी मनीषी प्राध्यापकों एवं नाट्यविद्या के अन्वेषक एवं अधीतिजन का भी आभारी हूँ जिनने इसी संस्करण को प्रेमपूर्वक अपनाया और मुझे प्रोत्साहित किया। आशा है इस संस्करण का पूर्ववत् अब भी सभी कोनों से इसी भावना से अनुशीलनादि होता रहेगा।

प्रकृत संस्करण पर अनेक पत्र-पत्रिकाओं एवं भारत के मान्य मनीषी जन के आशीर्वाद प्राप्त हुए हैं जिनके प्रति अपनी विनम्र कृतज्ञता प्रकट करता हूँ तथा इनकी कृपा की सदैव अपेक्षा को अनुभव कर रहा हूँ।

प्रकृत ग्रंथ को अपनी विश्रुत ग्रन्थ-परम्परा में प्रकाशित करने की भावना वाले चौखम्भा संस्कृत संस्थान के संचालक भाई श्री मोहनदास जी गुप्त तथा उनके समग्र परिवार जन का भी आभारी हूँ जिनने प्रथम संस्करण के समाप्त होने के कुछ समय बाद ही इस भाग का पुनर्मुद्रण आरम्भ कर इस ग्रन्थ को शीघ्र उपलब्ध करवाया। इस क्रम में प्रेस के सभी कार्यकर्तागण तथा व्यवस्थापक का भी स्मरण करना आवश्यक है। मित्र श्री कपिलदेव गिरि ने यथासंभव प्रूफ की त्रुटियों का निराकरण किया है। अत एव मैं इन सभी के प्रति अपना विनम्र हार्दिक आभार मानता हूँ।

अन्त में सभी मित्रों एवं स्नेहीजन को इस संस्करण को 'पूर्ववत् कृपा के साथ अपनाते हुए मुझे प्रोत्साहित करने की प्रार्थना है।

श्रावणी पर्व
दिनांक २३-८-८३

विद्वज्जन-कृपाकांक्षी
बाबूलाल शुक्ल, शास्त्री

पुरोवाक्

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र का 'प्रदीप'व्याख्यादि के साथ प्रस्तुत संस्करण का प्रकाशन आज से कई वर्ष पूर्व ही हो जाना चाहिए था, परन्तु समय की प्रतिकूलता ने ऐसा नहीं होने दिया। इसका एक कारण तो इस ग्रन्थ का दूरस्थ वाराणसी में मुद्रण तथा मेरा शासकीय सेवा के कारण अनेक स्थानों पर परिवर्तन भी है; जिसने इस कार्य को थोड़ा शीघ्रता से प्रस्तुत नहीं होने दिया। दूसरा प्रमुख कारण था नाट्यशास्त्र खण्ड एक के अन्तिम भाग के मुद्रण काल में (जब अतिरिक्त टिप्पणियों का मुद्रण चल रहा था) मेरे स्वास्थ्य का सहसा अतिशय बिगड़ जाना। मुझे अपनी वातजन्यव्याधि तथा वृक्क में होने वाले विकार के निरन्तर रहने के कारण भी इस ओर से ध्यान हटाना पड़ा, यह व्याधिक्रम भी लगभग एक से डेढ़ वर्ष तक चला (जिसमें गृध्रसीवात तथा वृक्क के सभी उपचार एवं चिकित्सा के दौर में मुझे आना पड़ा) इस प्रकार एक तो वाराणसी दूरस्थ होने तथा मेरे कुछ वर्षों तक अस्वस्थ हो जाने के कारण नाट्यशास्त्र के प्रकाशन में अप्रत्याशित विलम्ब हो गया।

इसकी हिन्दी व्याख्या अनुवादात्मक रूप में की गयी है तथा आवश्यक होने पर कुछ व्याख्यात्मक रूप में भी, इसका कारण विषय की गम्भीरता है। क्योंकि नाट्यशास्त्र के विभिन्न स्थलों की व्याख्या करते समय कला, शिल्प, वास्तु तथा संगीत आदि शास्त्रों की प्राचीनपरम्परा को ध्यान में रखना पड़ता है, जो आज के व्याख्याकार के लिये कठिन स्थिति निर्मित कर देती है। इसका दूसरा कारण यह भी है कि एक ही व्यक्तिद्वारा विस्तीर्ण क्षेत्र पर अधिकार रखते हुए मूल सम्पादन एवं व्याख्या लेखन के कार्य को सम्पन्न करना और नाट्यशास्त्र में चर्चित संगीत आदि शास्त्रों के प्राचीनतर रूप को प्रतिपादित करते हुए परम्परानुसारी दृष्टि से भी व्याख्या का

आलेखन करना। इस प्रकार की स्थिति प्रत्येक नाट्यशास्त्र के सम्पादक या—संस्कर्ता व्याख्याकार के समक्ष अवश्य उपस्थित होती है। इस प्रसंग में भरत-मुनि के आशय को काश्मीरिक परम्परा के पाठों से स्पष्ट करने वाली एकमात्र आचार्य अभिनवगुप्त प्रणीत नाट्यशास्त्र की व्याख्या अभिनव-भारती ही सहायक है। जिसमें नाट्यशास्त्र में अभिहित विषयों (जैसे रस, भाव, रूपकस्वरूप, नाट्यङ्ग, सन्ध्यङ्ग आदि) का अपनी परम्परा के अनुसार व्याख्यान किया गया है। यह व्याख्या नाट्यशास्त्र के व्याख्यान लेखक को अतिशय सहायता तो करती है पर फिर भी जिन अध्यायों पर यह व्याख्या प्राप्त नहीं है या किन्हीं स्थानों पर इसके द्वारा अल्परूप में (विषयों का) व्याख्यान किया गया है या फिर किसी अंश का खण्डित या संदिग्ध पाठ है तो ऐसे स्थलों पर अनुवादक या व्याख्याकार को अर्थ स्पष्ट करते समय असहाय स्थिति में आकर अधिक सतर्क रहने की आवश्यकता हो जाती है। कुछ विद्वान् नाट्यशास्त्र की अभिनवगुप्त प्रणीत व्याख्या को भरत के दृष्टिकोण को सुस्पष्टतया प्रस्तुत करने में अधिक सहायक नहीं मानते हैं। इनके मत में नाट्यशास्त्र के अनेक स्थानों की अभिनवभारती के आधार पर अधिक स्पष्ट व्याख्या करना सम्भव ही नहीं है। इतना होने पर भी अभिनवभारती के आधार को लेकर व्याख्यान करना अधिक प्रामाणिक है, ऐसा मेरा अपना मत है। हाँ, यह अवश्य है कि नाट्यशास्त्रीय प्रमेयों को प्राचीन परम्परागत नाट्य या संगीत के ग्रन्थों में या विवरणों के शास्त्रीय विवेचनों को देखकर ही स्पष्ट करना चाहिए। इसी भावना को सर्वदा बनाये रखकर इस ग्रन्थ की हमने यह व्याख्या लिखी है तथा साहित्यशास्त्र के एक सुप्रसिद्ध व्याख्यान के अनुकरण पर इस व्याख्यान का नाम भी 'प्रदीप' दिया है। प्रयत्न किया गया है कि यह व्याख्यान अपने पूर्व परम्परागत गौरव का अनुसरण करते हुए ठीक से शास्त्रीय तत्वों को उपस्थापित करे तथा उनमें स्थित गम्भीर आशयों को स्पष्ट करे। अपने इस प्रयास की सफलता भी कालिदास के शब्दों को ध्यान में रखकर विद्वानों के परितोष पर ही हम निर्भर मानते हैं।

आरम्भ में हिन्दी व्याख्यान के साथ संक्षिप्त हिन्दी टिप्पणियाँ जोड़ी गयी थीं तथा यह निश्चय हुआ था कि विस्तीर्ण व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ परिशिष्ट में दे दी जाएँ जिनमें अभिनवगुप्तपाद की अभिनव-भारती व्याख्या के आवश्यक सभी विवरण को रखा जाए। परन्तु बाद में यह निश्चय हुआ कि इस प्रकार की विस्तीर्ण टिप्पणियाँ जिनमें अभिनव-गुप्त का आधार तो लिया ही गया है तथा जो अनेक अन्य ग्रन्थों के आधार पर भी निर्मित की गयी हैं उन्हें मूल ग्रन्थ के व्याख्यान के नीचे ही यथास्थान लगा देना अधिक उपयुक्त रहेगा। इसी कारण प्रथम अध्याय से चतुर्थ अध्याय तक के अंश की विस्तीर्ण टिप्पणियाँ परिशिष्ट–१ में लगायी गयीं तथा शेष भाग अर्थात् अध्याय ५ से ७ तक की टिप्पणियाँ मूल भाग की व्याख्या के यथास्थान नीचे लगायी गयी हैं तथा परिशिष्ट में भी हैं। इस प्रकार करने से यद्यपि पाठकों को थोड़ी असुविधा अवश्य ही होगी परन्तु नाट्यशास्त्र के अगले संस्करण में ही इन टिप्पणियों को मूल व्याख्यान के नीचे व्यवस्थित कर लगाना संभव हो सकेगा। सम्प्रति इस असुविधा के लिये पाठकों से क्षमा प्रार्थना ही एक मात्र अवलम्बन है।

प्रस्तुत संस्करण में षष्ठाध्याय के रससूत्र व्याख्यान के प्रसंग में अभिनवभारती व्याख्या का मूल सहित सम्पूर्ण भाग भी हिन्दी व्याख्यान के साथ लगाया गया है। इससे रसविषयक नाट्यशास्त्रीय अध्ययन-क्रम को (आवश्यक सामग्री एवं विवरण के साथ एक साथ उपलब्ध करने के कारण) पाठक व्यवस्थित रूप से प्राप्त कर सकेंगे। इस प्रसंग में हमने शान्त रस की निरूपक नाट्यशास्त्र की कारिकाएँ तथा उनकी समग्र अभिनव-भारती की हिन्दी व्याख्या मात्र लगायी है। शान्तरस का भाग यद्यपि भरताचार्य के आठ नाट्यरसों की विवेचना से पृथक् पड़ता है, किन्तु अभिनवभारती के पाठ के आधार पर उसे यहाँ संगृहीत कर लेना उपयोगी होने के कारण किया गया है। यहाँ क्रम के अनुसार इन कारिकाओं की संख्या भी लगा दी गयी है, परन्तु आवश्यकतानुसार इन्हें अलग भी रखा जा सकता है तथा यदि इनको उद्धृत करना कहीं इष्ट हो तो उन्हें संख्या देकर प्रस्तुत भी किया जा सकता है।

नाट्यशास्त्र के इस समग्र 'प्रदीप' व्याख्यान को सुसम्पादित एवं पाठान्तर आदि के अतिरिक्त पद्यार्थानुक्रमणिका आदि के परिशिष्टों के साथ चार भागों में प्रकाशित करने की योजना है। इसमें प्रत्येक खण्ड में उसी भाग से सम्बद्ध विषय की प्रस्तावना में विवेचना रखी गयी है, जिससे नाट्यविषय व्यापक और सूक्ष्म अध्ययन को बढ़ावा मिलने की आशा है।

मैं इस कार्य में अपने प्रकाशक श्री भाई मोहनदास जी गुप्त एवं श्री भाई विट्ठलदास जी गुप्त का अतिशय कृतज्ञ हूँ जिन्होंने इस महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थ के प्रकाशन कार्य को लिया तथा उसे बड़े ही धैर्य के साथ पूर्ण-करवाने में रुचि रखी। इस अवसर पर चौखम्बा से सम्बद्ध श्री देवनारायण झा तथा सुहृद्वर श्री पं० रामचन्द्र जी झा व्याकरणाचार्य के सहयोग को भी भुलाया नहीं जा सकता, जिनके प्रयत्नों से ही यह ग्रन्थ ठीक से मुद्रित हो सका और आज प्रस्तुत रूप में प्रकाशित हो रहा है।

मेषसंक्रान्ति
वि० सं० २०२६

सुधीजन-कृपाकांक्षी
बाबूलाल शुक्ल, शास्त्री

प्रस्तावना

कला का उत्कृष्ट रूप काव्य है और उत्कृष्टतम रूप है नाटक, जिसका प्रतिपादक सर्वप्राचीन भारतीय ग्रन्थ है भरतमुनि का नाट्यशास्त्र—जो अपनी विचारों की व्यापकता के साथ साथ विषयगत समग्रता से परिपूर्ण है। भारतीय नाट्य-कला पर विचार करते समय नाट्यशास्त्र सदा सम्मुख आ जाता है, क्योंकि यह महान् ग्रन्थ नाट्य-कला के अतिरिक्त उसके आनुषंगिक विषयों, जैसे—काव्य, सङ्गीत, नृत्य, शिल्प तथा अन्य ललित-कलाओं का भी कोष है। इस ग्रन्थ ने भारत की रङ्गमञ्चीय-कला को शताब्दियों से प्रभावित कर रखा है—क्योंकि इस अकेले ग्रंथ में नाट्य-विषयक विवरण जितनी समग्रता के साथ प्रस्तुत हुआ है वह किसी अन्य उत्तरकालीन भारतीय ग्रन्थ में तो दुर्लभ है ही, तत्कालीन संसार के किसी अन्य ग्रन्थ में भी प्राप्त नहीं होता। इसका कारण यह भी है कि भारतीय नाट्यकला की नाट्यशास्त्र को छोड़कर कल्पना करना सम्भव ही नहीं है और प्राचीनभारत में व्यवहृत नाटचकला के स्वरूप, तत्व तथा प्रकृति को पूर्णतः हृदयङ्गम करने के लिए एकमात्र नाट्यशास्त्र ही आलम्बन है। इस ग्रन्थ में नाट्य तथा रङ्ग से सम्बद्ध काव्य, शिल्प, सङ्गीत, नृत्य आदि ललित-कलाओं का विस्तृत विवरण दिया गया है तथा विविध शास्त्रों, शिल्पों, कलाओं तथा प्रयोगों की चर्चा की गयी है। ग्रन्थ की इसी विविधता ने इसे काव्य, नाट्य, शिल्प तथा ललित विद्याओं का विश्वकोष बना दिया। इसमें भरत-मुनि ने नाट्यकला को (व्यवस्थित कर) जो स्वरूप प्रदान किया, वह इतना व्यापक, सूक्ष्म तथा तात्विक हुआ कि परवर्ती आचार्यों को इसी के प्रभाव तथा छाया में आकर ही अपना विश्लेषण प्रस्तुत करना पड़ा। भरत के नाट्य-सिद्धान्तों में मौलिकता तथा व्यापकता के ऐसे बीज हैं, जिनकी शाश्वती स्थिति आज भी नाट्य-रचना में (सफलतापूर्वक) देखी जा सकती है। भरत का चतुर्विध अभिनय-सिद्धान्त, गीत एवं वाद्यविधि, पात्रों की विविध प्रकृति तथा भूमिका आदि का विवेचन विश्व की किसी भी उन्नत नाट्यकला के प्रतिपादक ग्रन्थ से न्यून नहीं ठहरता तथा आज भी इसमें उन नाट्य-तत्वों की ग्राह्यता बराबर बनी हुई है। भरतमुनि प्रणीत नाटचशास्त्र ने शाश्वत भारत का ऐसा स्वरूप उपस्थित किया जिसमें काव्य, नाटच, सङ्गीत तथा नृत्य जैसी सुकुमार ललित कलाओं के द्वारा मानव के शाश्वत जीवन की कल्पना की गई थी। नाटच के सांगोपांग तथा सर्वाङ्गीण वर्णन ने नाटच-शास्त्र

को जो अप्रतिम स्वरूप, सौभाग्य तथा स्थान प्रदान किया वह आज तक अक्षुण्ण है। नाटचशास्त्र में वर्णित शिल्पों तथा विद्याओं की प्राचीन परम्परा यद्यपि पूर्णतः स्थिर नहीं रही, मध्यकाल में इनमें थोड़े बहुत परिवर्तन भी हुए पर फिर भो नाटचशास्त्रीय प्रमेय अपनी स्पष्टता तथा ग्राह्यता की स्थिति को अपरिवर्तित रखने में समर्थ रहा यह आश्चर्य ही है। आचार्य भरतमुनि ने भारत की समस्त कला-चेतना को अपनी प्रतिभा से अनुप्राणित किया था जिसका कीर्तिस्तम्भ है उनका आकर ग्रन्थ 'नाटचशास्त्र'।

नाट्यशास्त्र का स्वरूप

ललित-कलाओं के विश्वकोष इस ग्रन्थ ने भारत की उदात्त कला चेतना को अनुप्राणित किया है। इसी कारण शास्त्रकारों ने नाटचशास्त्र को नाटच-वेद तथा इसके प्रणेता भरताचार्य को मुनि के रूप में आदर से स्मरण किया। वर्तमान उपलब्ध नाटचशास्त्र के छत्तीस (या कुछ संस्करणों में सैंतीस) अध्याय हैं तथा इसका आयाम छः सहस्र श्लोकों का है। इसी तथ्य का संकेत आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी प्रसिद्ध नाटचशास्त्र व्याख्या अभिनवभारती में किया है। शारदातनय तथा इसके उत्तरवर्ती अनेक शास्त्रकारों ने नाटच-शास्त्र के दो संस्करणों या पाठों का उल्लेख किया है। इनके अनुसार नाटच-वेद के बृहत् तथा लघु दो पाठ थे, जिनमें क्रमशः छः तथा बारह हजार श्लोक या ग्रन्थ (एक श्लोक की अक्षर संख्या ३२ मानकर तदनुसार ग्रन्थ संख्या की गणना की जाती है) का प्रमाण था। म० म० रामकृष्ण कवि ने इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए बतलाया कि द्वादश-साहस्री संहिता वृद्धभरत की रचना थी जिसे संक्षेप करते हुए भरतमुनि ने छः सहस्र श्लोकों में नाटच-शास्त्र का संकलन किया। प्राचीन ग्रन्थ का नाम नाटचवेद था तथा दीर्घ या द्वादशसाहस्री का पाठ ही प्राचीन पाठ था; जिसके कुछ अंश प्राप्त भी (हो गए) हैं। अन्य विद्वान् श्री रामकृष्ण कवि के इन तर्कों से सहमत नहीं हैं। उनका मत है कि लघु या षट्साहस्रीसंहिता का पाठ ही प्राचीन है जिनमें अन्य प्रक्षेपों तथा विषय-विस्तरों को जोड़कर विस्तृत बनाना ही उत्तरवर्ती पाठ की स्थिति तथा आयाम को तार्किक सहारा देने योग्य बनाता है। धनञ्जय,, भोज एवं आचार्य अभिनवगुप्त के समय तक दोनों पाठों की परम्पराएँ चल रही थीं। धनञ्जय ने नाटचशास्त्र के षट्साहस्री रूप को तो भोजराज ने द्वादशसाहस्री या बृहत्-पाठ को अपनी रचना का आधार माना था। परन्तु आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी सुप्रसिद्ध अभिनव-भारती टीका नाटचशास्त्र के षट्साहस्री पाठ पर ही लिखी थी। इन दोनों पाठों (के बनने) का

कारण भी शारदातनय ने अपने भाव-प्रकाशन में सविवरण दिया है। तदनुसार मूल नाट्यवेद को मनु के आग्रह पर दो रूप में विभाजित किया गया था जिनमें एक षट्साहस्री तथा दूसरी द्वादशसाहस्री थी। द्वादशसाहस्री का पाठ सदाशिव भरत की परम्परा में प्रचलित था। यमलाष्टकतन्त्र के अनुसार नाट्यवेद का विस्तार छत्तीस हजार श्लोकों का था। जिसे संक्षिप्तरूप में द्वादशसाहस्री में प्रतिपादित किया गया; परन्तु यह विवरण उत्तरकालीन किसी भी नाट्यशास्त्रीय विवरण से मेल नहीं खाता और न ही शारदातनय के वर्णन से कहीं समानता प्राप्त करता है, अत एव इसे निराधार कल्पना मान कर प्रसन्न हुआ जा सकता है। यदि 'गान्धर्ववेद' अपने सैद्धान्तिक विवरणों में संगीत-रत्नाकर जैसे उत्तरवर्ती ग्रन्थों से जहाँ विषयगत समानता रखता हो तो फिर नाट्यवेद के विवरण भी इसी परम्परा में होने आवश्यक थे। इस विषय में दूसरा तर्क यह भी है कि वर्तमान नाट्यशास्त्र को कहीं भी षट्साहस्री-संहिता से यद्यपि अभिन्न नहीं निर्दशित किया गया है तथापि धनिक जैसे प्रथितयशस्क आचार्य तथा उत्तरवर्ती अनेक आचार्यों के द्वारा नाट्यशास्त्र के जिस विवरण को उपस्थापित किया जा रहा है वह निस्सन्दिग्धरूप से षट्साहस्री-संहिता ही है जो वर्तमान नाट्यशास्त्र का लघुपाठ (वाला संस्करण) हैं, पर इसे द्वादशसाहस्री का प्रतिषेधक नहीं मानना चाहिए। इसका कारण है दशरूपक-टीका में बहुरूपमिश्र द्वारा तथा अन्यत्र द्वादशसाहस्री-संहिता के कुछ उद्धरण मिलना। यह शारदातनय के उस विवरण को ही पुष्टि देता है कि द्वादशसाहस्री संहिता का दीर्घपाठ नाट्यशास्त्र का एक बृहत् रूप (अवश्य) था जो प्राचीनकाल में विद्यमान था। इन विवरणों पर ध्यान देने से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इनमें चर्चित ब्रह्मा, शिव तथा भरत का व्यक्तित्व नाट्यशास्त्र के मुख्य उपदेष्टाओं में हैं जिनमें बाद में विष्णु तथा तण्डु को भी समाविष्ट किया गया है। यह इन उपदेष्टा व्यक्तियों की महत्वपूर्ण स्थिति की तो पुष्टि करता ही है साथ ही एतद्विषयक प्रवृत्तियों का भी क्रमिक संकलन निर्दिष्ट करता है। पर इनसे प्राप्त ऐतिहासिक संकेतों को बड़ी कठिनाई से मान्यता की सोपानपंक्ति पर अग्रसर किया जा सकता है। हम तो यही कहेंगे कि वर्तमान नाट्यशास्त्र ही षट्साहस्री के रूप में स्थापित है क्या? या इसके अतिरिक्त अन्य सामग्री भी है? यदि अन्य सामग्री नहीं है तो फिर कितने विस्तार की आवश्यकता हो सकती थी जिसके कारण द्वादशसाहस्री की स्थिति आई। यदि षट्साहस्री से विषय के सम्भव तत्वों का प्रतिपादन सम्भव था तो फिर द्वादशसाहस्री में एतद्विषयक सामग्री के विशिष्ट आयाम को मान लेने

के अतिरिक्त अन्य बातों को विचारणीय विषय बनाना आधारहीन होगा। क्योंकि हमारे पास नाट्यशास्त्र विषयक पुरामध्यकालीन रचनायें उपलब्ध नहीं हैं। केवल कुछ उद्धरणों के आधार पर ही आज हमारी ये कल्पनायें अग्रसर हो रही हैं जो केवल भावी आशावाद की मद्धिम ज्योति प्रदान करने मात्र में सक्षम हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भरतमुनि का नाट्यशास्त्र अपने व्यापक विषय-विस्तार के कारण पुराकाल से आजतक विवेचक विद्वानों को आकृष्ट करता चला आ रहा है, जो इस बात का सूचक है कि पुरा-भारतीय प्रज्ञा ने लोकप्रिय कलाओं को कितने गम्भीर रूप में ग्रहण किया होगा तथा उसे उन्नत-स्थान पर आसीन करवाने में कितना श्रम तथा समय लगाया होगा। आज भी नाट्यशास्त्र का अध्ययन इसके स्थायी महत्व को देखकर ही जारी है।

नाट्यशास्त्र का विषय-संक्षेप

हम यहाँ नाट्यशास्त्र की संक्षिप्त रूपरेखा दे रहे हैं; जिसमें अध्यायक्रम काशी संस्करण के आधार पर ही रखा गया है (तथा यही क्रम प्रस्तुत संस्करण में भी है) परन्तु विशेषता यह है कि प्रस्तुत संस्करण में बड़ौदा से प्रकाशित अभिनवभारती संस्करण के सभी महत्वपूर्ण विवरण विवेचन तथा पाठों को व्यवस्थित रूप में आगृहीत किया गया है जिसका वर्णन प्रसंगानुसार आगे किया जाएगा।

नाट्यशास्त्र के प्रथम-अध्याय में भरतमुनि के आत्रेय आदि ऋषियों द्वारा नाट्यवेद के विषयों में जिज्ञासापूर्वक प्रश्न किये गये कि नाट्यवेद की उत्पत्ति कैसे हुई? किसके लिए हुई? इसके कौन-कौन अंग है? उसकी प्राप्ति के उपाय कौन से हैं तथा उसका प्रयोग कैसे हो सकता है? भरतमुनि ने इसके उत्तर में कहा कि नाट्यवेद का ऋग्वेद से पाठ्य अंश, साम से संगीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रसों को लेकर प्रणयन किया गया है। इसे इस स्वरूप में निर्मित कर मुनि ने इसे अपने पुत्रों को सिखाया।

द्वितीयाध्याय में मुनि ने नाट्यप्रदर्शन के लिये आवश्यक होने के कारण प्रेक्षागृह का वर्णन करते हुए उसके तीन प्रकारों को बतलाया तथा उनके शिल्प, आकार तथा साधनों का विस्तार से विवेचन किया है।

तृतीयाध्याय में नाट्यमण्डप में सम्पादित की जाने वाली आवश्यक धार्मिक क्रियाओं का निरूपण करते हुए विभिन्न देवताओं की पूजा तथा उनसे प्राप्त होने वाले फलों का निरूपण किया है।

चतुर्थाध्याय में भरतमुनि द्वारा अमृतमन्थन नाट्यप्रयोग के देवताओं के सम्मुख प्रस्तुत करने तथा त्रिपुरदाह को महेश्वर के सम्मुख करने तथा महेश्वर के आदेश से तण्डु द्वारा भरत को अंगहार, करण तथा रेचकों का ज्ञान करवाने का वर्णन है। इसी अध्याय में विस्तार से ताण्डवनृत्य की उत्पत्ति तथा उसके शिल्प का (अंगहारों, करणों, रेचकों आदि को) सांगोपांग विवेचन है। जिसके अभिनय में नृत्तहस्तों तथा गीतों से सौन्दर्य वृद्धि होती है।

पंचमाध्याय में नाट्यप्रयोग के आरम्भ में प्रस्तुत किये जाने वाले पूर्वरंगविधान, नान्दी, प्रस्तावना तथा ध्रुवाओं का सांगोपांग विवेचन है।

षष्ठ-अध्याय—रसाध्याय है। इसमें ऋषिगण रसविषयक पाँच प्रश्न उपस्थापित करते हैं। उत्तर में भरतमुनि रसों के नामकरण का आधार तथा संग्रह, कारिका तथा निरुक्त का आधार लेकर नाट्यसंग्रह, के विववरण के साथ रस का वर्णन करते हैं। इसी क्रम में रस-निष्पत्ति, रसों का भावों आदि से पारस्परिक सम्बन्ध, रसों के अधिदेवता तथा रस एवं उनके स्थायीभावों का विस्तृत विवरण दिया गया है।

सप्तमाध्याय—भावाध्याय है। इसमें भाव, विभाव, स्थायी तथा संचारी या व्यभिचारीभावों का विस्तृत विवेचन तथा आठ प्रकार के सात्विक भावों का (रसों की अपेक्षा से) विवरण दिया गया है।

अष्टमाध्याय से अभिनय वर्णन आरम्भ हो जाता है। इसमें अभिनय के आंगिक, वाचिक आहार्य तथा सात्विक भेद बतलाकर आंगिक अभिनय के अन्तर्गत उपाङ्गाभिनय आदि का सांगोपांग वर्णन किया गया है।

नवमाध्याय में आंगिक अभिनय के क्रम की ओर आगे बढ़ाते हुए हस्त, कुक्षी, कटि, जानु तथा पाद जैसे शारीर अंगों का अभिनय विस्तार से निरूपित करते हुए २४ असंयुत हस्तमुद्राओं, १३ संयुत हस्तमुद्राओं, २७ प्रकार के नृत्त हस्तों का वर्णन करते हुए ६४ हस्त प्रकारों को बतलाया गया है। अंग संचलन तथा हस्त-मुद्राओं का प्रयोग रस, भाव तथा अभिनय के अनुरूप होता है और नृत्य में हस्तमुद्राओं की परमोपयोगिता होती है अतः इसका भी विवेचन किया गया है।

दशम-अध्याय में वक्ष, कटि तथा शरीर के अन्य भागों के परिचालनजन्य पाँच प्रकारों का विवरण देकर उनके विभिन्न अवसरों पर किये जाने वाले अभिनय प्रयोग बतलाये गये हैं।

एकादशाध्याय में चारों का निरूपण करते हुए १६ प्रकारों की भौमी तथा १६ प्रकार की आकाशिकी चारियों के लक्षण तथा प्रयोगों को बतलाया गया है तथा खण्ड-करण तथा मण्डलों की नाट्योपयोगिता का वर्णन किया गया है।

द्वादशाध्याय में मण्डलों का लक्षण, संख्या तथा प्रयोग आदि का विशद निरूपण किया गया है।

त्रयोदशाध्याय में गति प्रचार का निरूपण है। इसमें रसादि के अवसरों एवं अवस्थाओं के अनुकूल पात्रों की गति के विवरण बतलाये गये हैं। इसमें नाटचप्रयोग के आरंभ में प्रस्तुत होने वाली ध्रुवाओं के गान के (आरम्भ में) समय होने वाली पात्रों (को प्रवेश करते समय) की गति से लेकर देव, राजा, मध्यवर्ग के स्त्रीपुरुष, निम्न वर्ग के लोगों की गति में लगने वाले समय, रौद्र, बीभत्स, वीर आदि रसों को प्रस्तुत करते समय की भङ्गिमाएँ तथा शीतार्त्त, संन्यासी, मदमत्त तथा उन्मत्त पात्रों के परिचालन के प्रकार तथा गतियों के अभिनय करने का विवरण दिया गया है।

चतुर्दशाध्याय में रंगमंच पर विद्यमान गृह, उपवन, वन, जल, स्थल आदि प्रदेश को संकेतित करने के निश्चय, समय के अंगानुसारी विभाजन तथा एक वर्ष या एक मास में घटित घटनाओं के लिए नये अंक की योजना; देश, वेषभूषा, आधार आदि पर निर्भर चार प्रकार की प्रवृत्तियों का निरूपण, सुकुमार तथा आविद्ध नामक दो प्रकार के नाटच-प्रयोगों का वर्णन तथा अन्त में लोकधर्मी तथा नाटच-धर्मी नामक दो नाटच-विधाओं का निरूपण है।

पंचदशाऽध्याय से वाचिकाभिनय आरम्भ होता है। इसमें आरम्भ के अक्षरों पर आधारित वाणी का नाटच के वाचिक अभिनय में उपयोग बतलाते हुए अक्षरों के स्वर-व्यञ्जनात्मा विभेद बतलाकर उनके स्थान, प्रयत्न आदि का विवरण दिया गया है। फिर शब्दों की संज्ञा, क्रिया, उपसर्ग, संधियाँ आदि विभेद बतलाकर नाटक में की जानेवाली भाषाओं का शब्द-भेद द्वारा विवेचन किया गया है। इसके उपरान्त नाटच के संवादमय वाचिक-अभिनय में प्रयुक्त किये जाने वाले एक से लेकर छब्बीस अक्षरों तक के छन्दों का (प्रत्येक के भेदोपभेद एवं) उदाहरण देते हुए निरूपण किया गया है। अन्त में गुरु, लघु तथा यति मात्रा आदि छन्दःशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या दी गयी है।

षोडषाध्याय में भी इसी क्रम में आगे बढ़कर वाचिकाभिनय में उपयोगी वृत्तों का सोदाहरण निरूपण है। अन्त में सम तथा विषम वृत्त बतलाकर आर्या के प्रभेदों का विवरण दिया गया है।

सत्रहवें अध्याय में अभिनय के अन्तर्गत काव्य के छत्तीस लक्षणों का विवरण है। इसके उपरान्त उपमा, रूपक, दीपक तथा यमक नामक काव्य के अलंकार का निरूपण करते हुए गुण तथा दोषों का भी निरूपण दिया गया है।

अठारहवें अध्याय में नाटकोपयोगी भाषाओं का विवरण देते हुए संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश या देशी शब्द रूपों के उच्चारण भेद द्वारा होने वाले परिवर्तनों का विवरण देकर भाषा एवं विभाषाओं का वर्णन दिया गया है। इनके बोलने के नियम, विराम तथा काकु का प्रयोग तथा देशभेद से प्राकृतादि भाषाओं के ओकारबहुला आदि भेद होना दिखलाया गया है।

उन्नीसवें अध्याय में उच्च, मध्य तथा निम्न वर्ग के पात्रों के सम्बोधन करने की विविध प्रणालियों का निरूपण है। इसके अतिरिक्त इन वर्गों के पात्रों के नामकरण के उपाय बतलाते हुए गद्य-पाठ्य के गुण; स्वर, व्यञ्जनों के उच्चारण-स्थान, स्वरों के उदात्त आदि प्रकार, काकु के विभेद तथा स्वरों के उच्च, मन्द, दीप्त, भद्र एवं नीच, द्रुत तथा विलम्बित जैसे अलंकारों का विवरण दिया गया है।

बीसवें अध्याय में रूपकों के विभेद बतलाते हुए नाट्यशास्त्र के मुख्य विषय का आरम्भ किया गया है। इसमें दस-रूपकों के लक्षण बतलाते हुए उनके वैशिट्य को प्रतिपादित किया गया है। इनके अंगभूत अंक, प्रवेशक, विष्कम्भक, चूलिका आदि का निरूपण करते हुए रूपकों के अन्य संघटक अंगों की चर्चा की गयी है।

इक्कीसवें अध्याय में नाटक की कथावस्तु के आधिकारिक तथा प्रासंगिक भेदों का निरूपण, पंच संधियाँ, पाँच अवस्थाएँ, पाँच अर्थप्रकृतियाँ तथा सन्ध्यन्तर का विवरण देकर सन्धियों के सभी अंगों के लक्षण बतलाये गये हैं। अर्थोपक्षेपकों के द्वारा कथावस्तु के सूच्य-रूप को निरूपित करते हुए उनके पाँच प्रकारों का लक्षण सहित निरूपण किया गया है तथा अन्त में सभी विद्या, शिल्प तथा कला आदि के नाटकोपयोगी होने की बात को दोहराया गया है।

बाइसवें अध्याय में नाटकोपयोगी वृत्तियों का निरूपण किया गया है। ये वृत्तियाँ हैं—भारती, सात्वती, कैशिकी तथा आरभटी। वृत्तियों की उत्पत्ति के प्रसंग में विष्णु भगवान के द्वारा मधुकैटभ दैत्यों से युद्ध करने तथा उसमें चारों वृत्तियों के प्रयोग की पौराणिक कथा को लेकर चारों वेदों से चारों वृत्तियों के उत्पन्न होने का विवरण देकर इन वृत्तियों के भेद-प्रभेद तथा लक्षण बतलाकर विभिन्न रसों में योजना का विवरण दिया गया है।

तेईसवें अध्याय में आहार्याभिनय का वर्णन है। आहार्याभिनय नेपथ्य या वेषभूषा पर अवलम्बित होता है, अत एव इसमें आभूषण के स्वरूप के साथ वेषभूषा के प्रदर्शन के विविध उपायों का विववरण दिया गया है। नेपथ्य के चार प्रकार बतलाकर अलंकारों के विवरण देते हुए विभिन्न देशों के निवासी स्त्री-पुरुषों के द्वारा व्यवहार में लिये जाने वाले आपादमस्तक धारण करने

योग्य अलंकारों-एवं उपकरणों यथा-तिलक, अंजन, दन्त एवं ओष्ठराग आदि उपकरणों की सजावट के विवरण दिये गये हैं। अंगरचना के प्रकरण में विविध पात्रों के जातीय रूप (जैसे राजा, श्रेष्ठि, शक, यवन, शूद्र आदि) को प्रकट करने के लिए उनके शरीर के अनुरूप रंग में रंगना तथा तदनुसार मूँछ, दाढ़ी आदि की निर्माण-विधि बतलायी गयी है। सजीव-नेपथ्य का वर्णन तथा उसके अन्तर्गत नाट्यमंच पर प्रस्तुत होने वाले विविध पशु, पक्षी, सर्प आदि को प्रस्तुत करने की विधियों का वर्णन किया गया है।

चौबीसवें अध्याय में सामान्य-अभिनय का निरूपण है। इसमें पात्रों की उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति का वर्णन है। इसी प्रकार स्त्रियों के अयत्नज अलंकारों के अन्तर्गत भाव, हाव तथा हेला का स्वरूप बतलाकर इनके स्वभावज अलंकारों को बतलाया गया है। इसके बाद वाक्याभिनय का निरूपण करते हुए वाचिक-अभिनय के आलाप, प्रलाप आदि विभेदों को बतलाया गया है। इसी प्रकार दर्शन, स्पर्शन आदि क्रियाओं के अभिनय की विधि का वर्णन कर उचित तथा अनुचित घटनाओं के मंच पर प्रदर्शित करने के नियम बतलाये गये हैं। विभिन्न स्त्री जातियों के स्वभावादि के आश्रय से विभेद बतलाकर अभिलाषा, स्मृति आदि दस दशाओं का वर्णन किया गया है तथा कामावस्था में दूतीप्रेषण आदि का विधान बतलाने के बाद नायिकाओं के अवस्थागत आठ प्रकारों का निरूपण किया गया है। इससे अतिरिक्त प्रणय, क्रोध तथा ईर्ष्या की दशा में होने वाले उचित सम्बोधन आदि का यहाँ रोचक विवरण दिया गया है।

पच्चीसवें अध्याय में वैशिकपुरुष का लक्षण बतलाकर उसके सहजगुणों तथा सम्पादित गुणों का विस्तार से निरूपण किया गया है। इसके मित्र तथा दूती आदि का भी सांगोपांग विवरण देकर स्त्रियों के यौवन को चार अवस्थाओं, प्रेमियों के प्रकारों तथा स्त्री को वश में करने के उपायों का विधिवत् निरूपण किया गया है।

छब्बीसवाँ अध्याय चित्राभिनय का है। इसमें सामान्य अभिनय के अन्तर्गत जिन आंगिक आदि अभिनयों का वर्णन छूट गया था ऐसे विशिष्ट अभिनयों का विवरण दिया गया है। इसके अन्तर्गत आकाश, रात्रि, सायंकाल, अंधकार आदि का प्रदर्शन करने के लिये अभिनयविधि के विवरण देते हुए हर्ष, शोक आदि भाव प्रकट करने की विधियाँ विशिष्टरूप से निर्दिष्ट की गई हैं। आकाशभाषित जैसे सूच्य कथावस्तु के प्रकारों का तात्पर्य प्रकट करते हुए वृद्ध तथा बालकों के सम्भाषण की विधि, आसन्नमृत्यु पात्र के मंच पर प्रस्तुत करने तथा अन्य अनुक्त अभिनयों के सम्पन्न करने की विधि निरूपित की गई है।

सत्ताइसवाँ अध्याय सिद्धिव्यञ्जकाध्याय है। इसमें नाट्य-प्रदर्शन में होने वाली देवी तथा मानुषी सिद्धि का सांगोपांग निरूपण करते हुए उनमें होने वाले विघ्नों का विवरण दिया गया है। इसी प्रसंग में नाटक-प्रदर्शन के निर्णायक या परीक्षकों की विभिन्न श्रेणियों तथा उनकी योग्यता का विस्तार से निरूपण है।

अट्ठाइसवें अध्याय से लेकर चौंतीसवें आध्याय तक संगीतशास्त्र का विषय प्रतिपादित किया गया है। इस क्रम में अट्ठाइसवें अध्याय में चार प्रकार के वाद्यों का विस्तार से विवरण दिया गया है। स्वरों के सात प्रकार बतलाते हुए उनके वादी आदि चार विभेद निर्दशित किये गये हैं। इसके अतिरिक्त स्वर ग्राम, मूर्च्छना, श्रुतियों तथा जातियों का विशद विवरण प्रस्तुत किया गया है।

उन्तीसवें अध्याय में जातियों के रसाश्रित प्रयोग का विवरण है। वर्ण तथा अलंकारों का स्थायी आदि वर्णों पर आश्रित स्वरूप बतलाया गया है तथा वीणाओं के स्वरूप आदि पर चर्चा की गयी है।

तीसवें अध्याय में बाँसूरी के स्वरूप का विवेचन तथा उसकी वादनविधि बतलाई गयी है।

इकतीसवें अध्याय में ताल और लय का सांगोपांग वर्णन करते हुए अवनद्धवाद्यों का निरूपण किया गया है। इसके अतिरिक्त गीत के समय-नियमन हेतु ताल विधान को विस्तार से निरूपित करते हुए कुछ गौण नाट्य-प्रयोगों का सलक्षण विवरण दिया गया है।

बत्तीसवाँ अध्याय 'ध्रुवाध्याय' है। इसमें पात्रों के प्रदेश आदि अवस्थाओं में गायी जाने वाली ध्रुवाओं का विवरण है। ध्रुवाओं के अधिकांश प्राकृत-भाषा में तथा कुछ संस्कृत भाषा में होने से मुख्यतः ध्रुवाओं की भाषा प्राकृत (शौरसैनी) रखने का विवरण दिया गया है। इन ध्रुवाओं के सोदाहरण लक्षणों का प्रतिपादन तथा गायक, वादक तथा बाँसुरीवादक के गुण तथा उनकी योग्यता का निरूपण भी दिया गया है। इसके उपरान्त संगीत के आचार्य तथा शिष्य की योग्यता के विवरण एवं स्वभावतः स्त्री के द्वारा गायन और पुरुषों के द्वारा वादन करने का निर्देश दिया गया है।

तैंतीसवां अध्याय 'वाद्याध्याय' है, जिसमें मृदङ्ग आदि अवनद्धवाद्यों का विवेचन है। इसी में स्वाति तथा नारद के द्वारा अवनद्धवाद्य के प्रवर्तन का आख्यानात्मक विवरण दिया गया है तथा किस अवसर पर किस प्रकार के वाद्यों का वादन किया जाए इसका शिक्षण भी है। वाद्यों के अन्तर्गत मृदङ्ग, पणव, दर्दर आदि वाद्यों के निर्माण तथा वादन आदि का विवरण है तथा वाद्यों के अधिदेवताओं का भी वर्णन दिया गया है।

चौतीसवें अध्याय में पुरुष एवं स्त्रियों की त्रिविध प्रकृति का निरूपण करने के साथ ही चार प्रकार के नायकों का सलक्षण वर्णन दिया गया है। नायक परिवार के अन्तर्गत स्त्रियों की विभिन्न श्रेणियों में महादेवी, देवी, नर्तकी, परिचारिका आदि पात्रों का भी स्वरूप बतलाया गया है। नृप, सेनापति पुरोहित मंत्रीगण, सचिव, प्राड्विवाक तथा कुमार का सलक्षण निरूपण है।

पैंतीसवाँ अध्याय 'भूमिका-पात्र-विकल्पाध्याय' है। इसमें नाटयमण्डली के सदस्यों का विभाजन करते समय उनकी व्यक्तिगत विशेषाओं को दर्शाया गया है। सुकुमार तथा आविद्ध नामक दो नाटच-प्रयोगों का विवरण देकर सूत्रधार, पारिपार्श्विक, अभिनेता, विट, शकार, विदूषक, चेट जैसे पुरुष-पात्रों तथा नायिका, गणिका आदि स्त्रीपात्रों के स्वरूप का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

छत्तीसवाँ अध्याय अन्तिम है। इस अध्याय में मुनियों ने भरतमुनि से पृथ्वी पर नाटच के अवतरित होने के विषय में पुनः जिज्ञासा की? मुनि ने इसके उत्तर में दो आख्यान प्रस्तुत किये। प्रथम में भरतपुत्रों के द्वारा मुनि-जनों के उपहासकारी नाटच से रुष्ट होकर ऋषियों से शप्त हो जाने की तथा दूसरे में इसी कारण राजा नहुष की प्रार्थना पर स्वर्गस्थ नाटच की भूतल पर अवतरणा होने की कथा है।

नाटचशास्त्र के जिन संस्करणों में ३७ अध्याय है उनमें नहुष की कथा अर्थात् द्वितीय आख्यान ३७ वें अध्याय में रखा गया है।

नाटचशास्त्र के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि नाटचशास्त्र अपने विस्तीर्ण क्षेत्र के कारण अपने उत्तरकाल में निर्मित सभी नाटचशास्त्रीय ग्रन्थों से विशिष्ट बना रहा। इसका कारण है नाटच से सम्बन्धित सभी विद्याओं का सलक्षण निरूपण करते हुए इसका विश्वकोष के रूप में ग्रथित होना! इसमें रूपकों में प्रयुक्त होने वाले अभिनय के (वाचिक) छन्दों से लेकर सात्विक, आंगिक तथा आहार्य अभिनय, रूपकों के संघटक तत्वों आदि का सांगोपांग विवरण तथा उनमें प्रयुक्त होने वाले गीत तथा सङ्गीत के उप-करण, वाद्य आदि के विषय में सूक्ष्मतम विवरण दिया गया है। इस प्रकार कला के सूक्ष्म एवं व्यापक विवेचन वाला विश्व में एकमात्र ग्रन्थ होने का भी नाटचशास्त्र को ही गौरव प्राप्त है।

विदेशी एवं भारतीय विद्वानों द्वारा नाट्यशास्त्र पर कार्य

जब से श्री विलियम जोन्स के द्वारा सन् १७८९ में कालिदास के सुप्रसिद्ध नाटक अभिज्ञानशाकुन्तल का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ तभी से पश्चिमी

विद्वानों ने भारतीय रङ्गमञ्च की प्रकृति और उसके उद्‌गम के विषय में रुचि लेना आरम्भ कर दिया। इसका परिणाम भी थोड़ा आशाजनक बना और इसके बाद सन् १८२६ में श्री एच० ए० विल्सन् ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सैलेक्ट स्पेसीमेन आफ दी हिन्दू थिएटर' (Select Specimen of the Hindu Theatre) में भरतमुनि के नाटचशास्त्र की चर्चा करते हुए लिखा है कि अनेक संस्कृतनाटकों तथा नाटचशास्त्रीय ग्रन्थों में जिस भरतमुनिप्रोक्त नाटचविद्या के सूत्रग्रन्थ के उद्धरण प्राप्त होते हैं, वह ग्रन्थ सम्प्रति न तो प्राप्त है और न ही उसके देखने का अवसर प्राप्त है। इस प्रकार योरोपीय विद्वानों में श्री विल्सन के इस विचार से नाटचशास्त्र के विषय में निराशा व्याप्त हो चली थी। इसके बाद लगभग चालीस वर्ष तक इस ग्रन्थ के विषय में (अर्थात् सन् १८६५ ई० तक) कोई बात नहीं हुई जब तक श्री एल० हाल के द्वारा सम्पादित दशरूपक का प्रकाशन (१८६५ में) नहीं हुआ। धनञ्जयप्रणीत दशरूपक यद्यपि नाटचशास्त्र का मध्यकालीन ग्रन्थ था फिर भी नाटच शास्त्रीय लक्षण-ग्रन्थों में सर्वप्रथम उसी का प्रकाशक सम्भव था। इस ग्रन्थ के प्रकाशन में पर्याप्त समय लगा, परन्तु जब यह ग्रन्थ प्रकाशित होने ही वाला था कि श्री हाल को नाट्यशास्त्र की एक त्रुटिपूर्ण पाण्डुलिपि प्राप्त हो गयी। यह आशा की प्रथम किरण थी। हाल ने उसी पाण्डुलिपि के आधार पर दशरूपक के साथ 'परिशिष्ट' के रूप में नाट्यशास्त्र के अध्याय १८ से २० तथा ३४ अध्यायों को प्रकाशित कर दिया। इस दशरूपक के प्रकाशन के बाद हाल महोदय ने नाट्यशास्त्र के प्रकाशन का भी विचार किया किन्तु आगे जाकर किसी प्रामाणिक तथा समग्र पाण्डुलिपि के न मिलने के कारण उन्हें निराश होकर इस विचार को छोड़ देना पड़ा। इस प्रकार नाट्यशास्त्र के प्रकाशन का प्रथम प्रयास विफल ही रहा।

नाटचशास्त्र के कुछ अध्यायों के प्रकाशन तथा पाण्डुलिपि की प्राप्ति की श्री हाल की खोज ने उस निराशावादी भावना को नष्ट कर दिया था जो श्री विल्सन के समय से व्याप्त थी। अत एव अनेक विद्वान् उत्साहपूर्वक नाटचशास्त्र की पाण्डुलिपियाँ खोजने में लग गये। कुछ ही वर्षों बाद जर्मन विद्वान् हैमान ने नाटचशास्त्र की एक और पाण्डुलिपि प्राप्त की तथा नाटचशास्त्र पर एक परिचयात्मक लेख भी (सन् १८७४ ई० में) प्रकाशित करवाया। इस निबन्ध के प्रकाशन से विद्वानों में और भी अधिक नाटचशास्त्रविषयक अभिरुचि उत्पन्न हुई तथा नाटचशास्त्र के अध्ययन एवं अनुसन्धान को बल मिला।

हैमान के इस लेख के प्रकाशन के बाद फ्रांसीसी विद्वान् श्री पी० रेग्नों और उन्हीं के शिष्य श्री जे० ग्रासेट ने नाटचशास्त्र के अनुसन्धान को ओर

आगे बढ़ाया । श्री पी० रेग्नों ने सन् १८८० में नाटचशास्त्र चे सत्रहवें अध्याय को तथा सन् १८८४ में पन्द्रहवें (आंशिक), सोलहवें तथा छठे और सातवें अध्याय को सम्पादित कर प्रकाशित करवाया । (इस प्रकार नाटचशास्त्र के अभी तक कुल आठ अध्याय ही प्रकाशित हो पाये थे) इसके पश्चात् श्री रेग्नों के ही एक शिष्य श्री जे० ग्रासेट ने अट्ठाइसवें अध्याय को सम्पादित कर प्रकाशित करवाया जिसमें भारतीय सङ्गीत के सामान्य सिद्धान्तों का विवेचन था । फिर सन् १८९० में श्री ग्रासेट ने नाट्चशास्त्र की विभिन्न पाण्डुलिपियों के आधार पर नाटचशास्त्र का अध्याय एक से चौदह तक तुलनात्मक संस्करण तैयार कर प्रकाशित करवाया जो पाश्चात्य गवेषणापूर्ण सम्पादन पद्धति का एक आदर्शग्रन्थ होकर अपना महत्व आज भी तथैव आस्थापित कर रहा है ।

जब विदेश में श्री पी० रेग्नों तथा जे० ग्रासे अपने नाटचशास्त्र के सम्पादन की योजना बना रहे थे तभी भारत में भी इस महान् ग्रन्थ की पाण्डुलिपियाँ प्राप्त करने तथा उनके आधार पर एक संस्करण बनाने की योजना (भारत के) दो संस्कृत विद्वान् बना रहे थे । ये थे श्री शिवदत्त दाधीच तथा पाण्डुरङ्ग परव जिसने समग्र नाटचशास्त्र की दो पाण्डुलिपियाँ प्राप्त कर उनके आधार पर इस ग्रन्थ का सम्पादन किया और निर्णय-सागर प्रेस बम्बई से सन् १८९४ में सर्वप्रथम प्रकाशन हुआ । यह कार्य श्री ग्रासेट के अपूर्ण नाटचशास्त्र के तुलनात्मक संस्करण के प्रकाशन के भी चार वर्ष पूर्व ही भारत में हो गया था तथा यह समग्र नाटचशास्त्र का प्रकाशन भी था ।

इसी समय फ्रान्स के प्रथितयशस्क विद्वान् प्रो० सिल्वाँलेनी ने इस मूल ग्रन्थ के १८ से २२ अध्याय तथा ३४ वें अध्याय (जिसका प्रकाशन श्री हाल ने अपने 'दशरूपक' के परिशिष्ट में किया था, उन्हीं अंशों) का आधार लेकर भारतीय रङ्गमंच के स्वरूप एवं प्रकृति पर एक विवेचनात्मक ग्रन्थ की रचना की । इस ग्रन्थ का नाम था 'थिएटर इण्डियन्' जिसका प्रकाशन १८९० में हुआ और जो श्री रेग्नों के प्रकाशित नाटचशास्त्र से भी पूर्ववर्ती ग्रंथ लेखन का प्रयास था । इस ग्रंथ में नाटक के साहित्यिक रूप के अध्ययन पर विशेष ध्यान दिया गया था और प्रथम बार यहाँ धनञ्जय के दशरूपक तथा विश्वनाथ कविराज के साहित्यदर्पण जैसे परवर्ती नाटचशास्त्रीय ग्रन्थों के वचनों की नाटचशास्त्र के आधार पर प्रमाणिकता की समीक्षा की गयी थी । यह किसी नाटच-शास्त्रीय ग्रन्थ के सम्पादन या अनुवाद से भिन्न कार्य अवश्य था किंतु इस कार्य ने नाट्यशास्त्र के महत्व की ओर विद्वानों के ध्यान आकृष्ट करने में पर्याप्त सफलता अर्जित की तथा प्राचीन-भारतीय-नाटचविद्या

के इतिहास को प्रथम लक्ष्यबिन्दु तक पहुँचाने में महत्वपूर्ण योग दिया। प्रो० लेवी के उपरान्त जिसने भी नाट्यशास्त्र पर अपने विवेचन या समीक्षायें लिखीं उसने किसी न किसी अंश में लेवी के ग्रन्थ का आधार अवश्य लिया।

इस समय तक नाट्यशास्त्र के अधिक आकर्षक न रहने में बाधा थी तो इस ग्रन्थ के मूलपाठ की दुरूहता, क्योंकि इसके आशय को हृदयगंम करने के लिए किसी एक समग्र व्याख्यान का अभाव था। यह अभाव अधिक वर्षों तक नहीं रहा और नाट्यशास्त्र के बम्बई संस्करण के लगभग बीस वर्ष के अन्दर ही मद्रास शासन द्वारा हस्तलिखित ग्रन्थों आदि की खोज के लिए संस्कृत के कुछ प्रतिष्ठित विद्वानों का एक अन्वेषक दल नियुक्त किया गया। इसमें तत्कालीन प्रसिद्ध विद्वानों के अतिरिक्त म. म. रामकृष्ण कवि भी थे, जो इस दल के मुख्य-व्यवस्थापक भी थे। यह व्यवस्था तब की गयी कि जब शासन को यह विदित हुआ कि अनेक महत्वपूर्ण, हस्तलिखित संस्कृत-ग्रन्थ मलावार के पुस्तकालयों तथा स्वतन्त्र व्यक्तियों के संग्रह में विद्यमान हैं। सन् १९१५ ई० में इस विद्वत्समुदाय ने मलावार के पुस्तकालयों में विद्यमान ग्रन्थों में नाट्यशास्त्र की अभिनवगुप्तविरचित अभिनवभारती व्याख्या प्राप्त कर ली। इनमें तीन ताड़पत्र पर लिखित ग्रन्थों में अभिनवभारती टीका के अध्याय १ से ३१ तक प्राप्त हुए। इन ग्रन्थों को अनुशीलनार्थ मद्रास-शासन के हस्त-लिखित-पुस्तकालय द्वारा मँगवाया गया। इसी व्याख्या की दूसरी प्रति भी त्रावणकोर के राजकीय हस्तलिखित ग्रन्थागार में मिल गयी। इस समाचार से अनेक विद्वान् इन ग्रन्थों की ओर आकृष्ट हुए तो इन ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ करवाकर उन सभी विद्वानों को भेजा गया जो इन्हें अवलोकन करने के इच्छुक थे। इन सभी प्रतियों में नाट्यशास्त्र के सप्तम और अष्टम अध्याय की टीका नहीं थी। इसके अतिरिक्त पंचमाध्याय के अन्तिम भाग भी दोनों प्रतियों में एक ही स्थान पर अपूर्ण थे। किन्तु षष्ठाध्याय का अन्तिम भाग शान्त रस-विवेचन दोनों प्रतियों में समान रूप से विद्यमान था। दोनों प्रतियाँ किसी एक ही मूल प्रति के आधार पर तैयार की गई थीं यह दोनों के मिलान से निश्चित हुआ। अभिनव-भारती की प्राप्ति से नाट्यशास्त्र के अध्येताओं को नवीन प्रोत्साहन प्राप्त हुआ तथा श्री म. म. रामकृष्ण कवि ने सन् १९२६ में बड़ौदा से इसी व्याख्या के साथ मूल नाट्यशास्त्र का परिश्रम से सम्पादन कर सप्तमाध्याय तक का प्रथम खण्ड फिर क्रमशः सन् १९३६ में अध्याय ८ से १८ तक का दूसरा खण्ड, सन् १९५४ में अध्याय १९ से २७ तक का तृतीय खण्ड तथा सन् १९६४ में अध्याय २८ से ३७ तक का चतुर्थ खण्ड प्रकाशित हुआ। नाट्यशास्त्र के चतुर्थखण्ड के प्रकाशन के कुछ समय पूर्व ही दुर्भाग्यवश म. म. रामकृष्ण कवि की मृत्यु हो गयी जिससे नाट्यशास्त्र के विषय में कवि जी द्वारा इष्ट विस्तीर्णभूमिका तथा अव्याख्यात अध्यायों पर

उनके द्वारा निर्मित व्याख्या से अध्येताओं को वंचित हो जाना पड़ा। इसके अतिरिक्त इनके द्वारा संगृहीत नाटचशास्त्र पर प्राप्त वार्तिक आदि का एक विशिष्ट संग्रह भी अन्तिम खण्ड में परिशिष्ट के रूप में दिये जाने की योजना थी। हन्त! यह सभी रह गया। अब नाटचविद्या को इन कार्यों के लिए किसी अन्य प्रतिभा की प्रतीक्षा है, जिससे कदाचित् भविष्य में यह अभाव पूर्ण हो सकेगा।

बड़ौदा से प्रकाशित नाटचशास्त्र के इस संस्करण में परिश्रमपूर्वक सभी पाठभेदों को लेकर भूमिका आदि के साथ पर्याप्त महत्वपूर्ण सामग्री दी गयी थी। जब पुनः नाटचशास्त्र के प्रथम भाग का नवीन संस्करण श्री रामास्वामी शास्त्रीद्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ तो इसमें इन्होंने कवि द्वारा निश्चित दो पाठों के परम्परागत अन्तर को अधिकांश रूप में स्वीकार नहीं किया। इन्होंने नाटचशास्त्र के मूलपाठों के निश्चय में अभिनवभारती के आधार को भी प्रमाणरूप में कम ही स्वीकृत किया। इनका तर्क था कि आचार्य अभिनवगुप्त के समय तक नाटचशास्त्र में पर्याप्त प्रक्षिप्तांश मिल चुका था। जिसे स्वयं अभिनवगुप्त ने ही साम्प्रदायिक पाठों की चर्चा के द्वारा स्वीकार किया है।

बड़ौदा से प्रकाशित अभिनवभारती व्याख्या सहित नाटचशास्त्र के प्रथम खण्ड के तीन वर्ष पश्चात् ही सन् १९२९ में काशी संस्कृत ग्रंथमाला से श्री प्रो० बटुकनाथ शर्मा तथा प्रो० बलदेव उपाध्याय के द्वारा सम्पादित नाटच-शास्त्र का एक संस्करण प्रकाशित हुआ। इस संस्करण को सरस्वती-भवन पुस्तकालय, काशी में विद्यमान दो पूर्ण हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर सम्पादित किया गया था। वह मूल पाठ बम्बई तथा बड़ौदा संस्करणों से न केवल भिन्न ही था किन्तु यह नाटचशास्त्र की दीर्घपाठ परम्परा का अनुसारी होने से महत्वपूर्ण भी था। काशी संस्करण के पाठों की भारतीय तथा विदेशी विद्वानों ने यद्यपि पर्याप्त आलोचना की, तथापि इसे इन (सभी) कारणों से पर्याप्त महत्व भी प्राप्त हुआ। सम्प्रति काशी संस्करण के विषय में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इसका अध्यायक्रम तथा पाठ कदाचित् मूल नाटच-शास्त्र के पाठों से अधिक सामीप्य लिये हुए माना जाए तो कुछ अनुचित न होगा। इसके पश्चात् बम्बई के निर्णयसागर प्रेस से नाटचशास्त्र का भी द्वितीय संस्करण सन् १९४३ में प्रकाशित हुआ जिसमें बड़ौदा के अभिनव-भारती संस्करण के दो खण्डों के तथा जे० ग्रासे के संस्करण के पाठान्तरों का संग्रह भी जोड़ा गया था।

इसी बीच नाटचशास्त्र के विभिन्न भाषाओं में अनुवाद तथा व्याख्यान लिखने के भी प्रयत्न आरंभ हुए। सर्वप्रथम प्रो० भानु ने नाट्यशास्त्र के आरम्भिक कुछ आचार्यों का मराठी में भाषान्तर किया। सन् १९४० के

लगभग 'वसुमती' बंगाली मासिक पत्रिका में नाट्यशास्त्र के अध्यायों का बंगला भाषा में धारावाहिक रूप से अनुवाद प्रकाशित होता रहा जो तीन अध्यायों से आगे अपना विकास नहीं कर पाया। इधर डॉ० मनोमोहन घोष ने नाट्यशास्त्र के अध्याय १ से २७ तक के अंश का स्वयं विनिश्चित पाठों, अनेक नवीन प्राप्त पाण्डुलिपियों तथा पूर्वसंस्करणों के आधार पर अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित करवाया। कलकत्ता की रायल एशियाशिक सोसाइटी द्वारा सन् १९५१ में इसका यह प्रथम खण्ड प्रकाशित हुआ और इसी क्रम में सन् १९६१ में इसके आगे के समग्र अंश को प्रकाशित कर नाट्यशास्त्र का समग्र अनुवाद करने का यश प्राप्त किया। इसमें श्री घोष ने नाट्यशास्त्र की अर्थसंगति पर पर्याप्त मनोयोग लगाया तथा अनेक पाठों पर स्वतंत्र विचार भी प्रस्तुत किये। डॉ० घोष ने अपने अंग्रेजी अनुवाद के लिए जो मूल पाठ तैयार किया था उसका द्वितीय खण्ड (अध्याय १८ से ३६) तथा अंग्रेजी अनुवाद भी वहीं से प्रकाशित करवाया।

इसी बीच हिन्दी भाषा में भी नाट्यशास्त्र के व्याख्यान (तथा अनुवाद करने) की प्रकृति के फलस्वरूप कुछ प्रयास प्रारम्भ हो गये थे। काशी से चौखम्भासंस्कृत पुस्तकालय द्वारा नाट्यशास्त्र के दो अध्यायों का श्रीरामगोविन्द शुक्ल द्वारा हिन्दी में शाब्दिक अनुवाद का सन् १९५३-५४ में प्रकाशन हुआ जिसमें बिना नाट्यशास्त्र की विषय गरिमा पर विचार किये हुए एक त्वरित् अनुवाद प्रस्तुत किया गया था। परीक्ष्य छात्रों की आवश्यकता को दृष्टि में रखकर श्री भोलानाथ तिवारी ने भी नाट्यशास्त्र के प्रथम तीन अध्यायों का एक सटिप्पण संस्करण प्रकाशित करवाया। श्री प्रॉ० कृष्णदत्त वाजपेयी (सागर विश्वविद्यालय) द्वारा नाट्यशास्त्र के प्रथम सात अध्यायों का संक्षिप्त भूमिका के साथ एक सामान्य साब्दिक अनुवाद लखनऊ से सन् १९६० में प्रकाशित किया गया। मोतीलाल बनारसी दास के यहाँ से सन् १९६४ में डॉ० रघुवंश द्वारा अनूदित तथा एक उपयोगी भूमिका तथा टिप्पणी (बड़ौदा संस्करण के पाठों पर आधृत मूल पाठ) आदि के साथ एक संस्करण प्रकाशित हुआ। नाट्यशास्त्र के प्रथम दो तथा षष्ठ अध्याय का अभिनवगुप्त विरचित अभिनवभारती टीका के व्याख्यान के साथ हिन्दी अनुवाद आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि द्वारा किया गया जिसका प्रकाशन सन् १९६० में दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा हुआ। नाट्यशास्त्र के शोधपूर्ण संस्करणों में अभिनवभारती के हिन्दी व्याख्यान के साथ-साथ प्रकाशित यह संस्करण सर्वोत्तम उपलब्धि माना जाएगा। इसके अतिरिक्त श्री डॉ० ब्रजमोहन चतुर्वेदी का नाट्यशास्त्र के प्रथम-द्वितीय अध्याय की हिन्दी व्याख्या तथा विशिष्ट भूमिका के साथ सन् १९६७ में दिल्ली से और एक संस्करण निकल गया है।

नाट्यशास्त्र का प्रस्तुत संस्करण

नाट्यशास्त्र के आलोचनात्मक संस्करण के अभाव ने इसके अनुवाद, व्याख्यान आदि कार्यों को अनेक वर्षों तक सम्भव नहीं होने दिया था, परन्तु जब इसके विभिन्न संस्करण प्रकाश में आये तो अध्ययनकर्त्ताओं को भी प्रोत्साहन मिला और इसी के परिणामस्वरूप नाट्यशास्त्र में वर्णित तत्वों की विवेचना भी साहित्य के विविध क्षेत्रों में दिखाई दी। नाट्यशास्त्र के प्रस्तुत व्याख्यात्मक अनुवाद को भी आलोचनात्मक संस्करण के अभाव ने कई बार विघ्न उत्पन्न किया। जब इस प्रदीप व्याख्या का सन् १९४८ के लगभग उज्जैन में लेखन आरम्भ हुआ था उस समय केवल बम्बई के निर्णयसागर प्रेस तथा काशी के चौखम्भा संस्करण के साथ बड़ौदा के अभिनवभारती व्याख्या वाले संस्करण के केवल दो खण्ड (अध्याय-१ से १८ तक) मात्र उपलब्ध थे। इतनी सामग्री को लेकर जब कार्य आरम्भ हुआ तो सर्वप्रथम पाठों की समस्या उपस्थित थी। कुछ विवादग्रस्त स्थलों को छोड़कर जैसे-जैसे कार्य आगे बढ़ता चला तो एक व्यवस्थित पाठ के संस्करण की आवश्यकता का भी अधिकाधिक अनुभव होने लगा। तब फिर मूलपाठों को व्यवस्थित कर एक आधारभूत मूल पाठ का संस्करण तैयार करते हुए अनुवाद तथा टिप्पणियाँ आदि लिखने का कार्य आरम्भ किया गया जिसमें नाट्यशास्त्र के प्राप्य सभी संस्करण, अन्य नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों तथा नाट्यशास्त्र की अन्य पाण्डुलिपियों आदि का उपयोग किया गया है। नाट्यशास्त्र के पाठों के विषय में योजना इस प्रकार रखी कि जो पाठ नाट्यशास्त्र के प्रामाणिक तथ्य प्रकट करते हों उन्हें सावधानी के साथ मूलपाठ बनाते हुए विद्यमान प्रचलित पाठों को भी अपेक्षित होने पर वहीं अर्थ के साथ दे दिया जाए जिससे दोनों उचित पाठों का एक साथ वाचन संभव हो सके। इसके अतिरिक्त अवशिष्ट पाठों को पाठान्तर टिप्पणी में भी दर्शाया जाए जिससे नाट्यशास्त्र के सभी उपलब्ध पाठान्तरों का समायोजन हो जाए। विवेकाश्रित सम्पादन पद्धति एवं प्रगतिशील शोधन के इसी उपक्रम ने आगे बढ़कर इस कार्य को व्यवस्थित एवं प्रामाणिक बनाया। इस पद्धति में न तो किसी संस्करण विशिष्ट पाठों को स्थापित किया गया है और न ही किसी महत्वपूर्ण पाठ या पाठान्तर को छोड़ा ही गया है। इस पद्धति की प्रेरणा श्री ए० ए० मेकडानल द्वारा सम्पादित 'बृहद्देवता' के कार्य एवं श्री जे० ग्रोसे के सम्पादित नाट्यशास्त्र के संस्करण से प्राप्त हुई, जिसके विरुद्ध किसी गम्भीर आपत्ति का उठाया जाना हास्यास्पद कहा जाएगा। इसका अन्य कारण अर्थ-संगति भी है जिसका नाट्यशास्त्र की प्रकृति को ध्यान से देखने पर स्वयं विवेकशील जन अनुभव कर सकते हैं।

जब इस प्रकार अनुवादात्मक व्याख्यान का कार्य चल रहा था इसी बीच श्री मनोमोहन घोष का अंग्रेजी अनुवाद भी सन् १९५१ में प्रकाशित हो गया तो पुनः इसके पाठों को भी ध्यान से विचार कर यथोचित रूप में अपने संस्करण के लिए परिगृहीत करना आवश्यक हो गया। उस समय तक किसी हिन्दी व्याख्या की न तो उपलब्धि ही रही और न कहीं से इस कार्य के सम्पन्न करने का इतिवृत्त ही मिला था। निदान कुछ भागों को छोड़कर सन् १९५५–५६ में नाट्यशास्त्र के लगभग २८ अध्यायों का अनुवाद कार्य पूर्ण हो गया। सीमित समय के कारण यह कार्य बहुत ही धीरे-धीरे चल रहा था।

इसी बीच प्रकृत लेखक का स्थानान्तर जबलपुर के भाषा-शोध संस्थान में हो गया जिससे कुछ दिन के लिए नाट्यशास्त्र का कार्य बन्द करना पड़ा किन्तु वहाँ के समृद्ध पुस्तकालय एवं शैक्षणिक वातावरण ने नाट्यशास्त्र के दुहराने और विस्तीर्ण टिप्पणी लेखन के कार्य को पुनः बल प्रदान किया तथा इसके साथ अन्य नाट्यशास्त्रीय संस्कृत ग्रन्थों के व्याख्यान लिखने की प्रवृत्ति को भी बढ़ावा मिला। अन्य नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों तथा नाट्यशास्त्र के इस संस्करण को जब चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय के मर्मज्ञ व्यवस्थापक श्रीकृष्णदास जी गुप्त ने देखा तो वे इन सभी ग्रन्थों के प्रकाशन के लिये उद्यत हो गये। नाट्यशास्त्र को चार खण्डों में प्रकाशित करने की योजना के साथ प्रथमखण्ड का मुद्रण आरम्भ हुआ जो अनेक विघ्नों और अनेक बार स्थान परिवर्तन की बाधा के आ जाने के कारण अधिक समय तक चलता रहा और अब एक लम्बे समय के बाद वर्तमान रूप में विज्ञ समीक्षकों के समक्ष प्रस्तुत हो रहा है।

नाट्यशास्त्र का रचयिता

परम्परागत प्रसिद्धि के अनुसार नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत मुनि हैं और सभी इनके नाट्यशास्त्र-कर्तृत्व को असन्दिग्धरूप से स्वीकारते चले आ रहे हैं। मुनि भरत स्वयं एक पौराणिक व्यक्ति हैं जिनकी पहुँच देवलोक से भूतल तक वर्णित की गयी है। पुराण आदि में अनेक भरतों का उल्लेख मिलता है—यथा दशरथपुत्र भरत, दुष्यन्तपुत्र भरत, मन्धाता के प्रपौत्र भरत तथा जड़ भरत। इनमें सभी किसी राजवंश से सम्बद्ध होने या अन्य कारणों से उल्लिखित होने से नाट्यशास्त्र के लेखक भरत नहीं हो सकते। पुराणों में उल्लेख होने के कारण भरत मुनि को ऐतिहासिक व्यक्ति की अपेक्षा कल्पित व्यक्ति मानने की स्थिति अधिक बलवती नहीं है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि नाट्यशास्त्र के रचयिता मुनि भरत पृथक् अस्तित्वशाली होने के साथ-साथ कल्पित मुनि की अपेक्षा ऐतिहासिक व्यक्ति अधिक माने जाने

चाहिए। नाट्यशास्त्र के अनुसार मुनि भरत ने ब्रह्मा से नाटयवेद की उपलब्धि की तथा अपने एक सौ पुत्रों को नाट्यवेद की शिक्षा दी जिसमें से अनेकों ने बाद में नाट्यशास्त्रविषयक ग्रन्थों की रचनाएँ की थीं। भरत ने स्वयं भी 'महेन्द्र-विजय' (नाटक), त्रिपुरदाह (डिम) तथा अमृतमन्थन (समवकार) नामक रूपकों के अभिनय प्रयोगों को विभिन्न अवसरों पर प्रस्तुत किया। इसके अतिरिक्त प्रेक्षागृह की रचना के सन्दर्भ में भी 'भरत' को ही अधिक श्रेय प्राप्त है तथा इसी कारण नाट्य-मण्डप के आद्य-प्रवर्तक भी भरत मुनि ही मान्य किये जाते हैं।

नाटयशास्त्र के अतिरिक्त परवर्ती नाटयशास्त्रीय रचनाओं तथा नाटक आदि के साक्ष्यों से भी नाट्यप्रणेता एवं नाट्यशास्त्र के निर्माता के रूप में भरत मुनि का उल्लेख प्राप्त होता है ! नाट्यशास्त्रीय रचनाओं से धनिक एवं धनंजय के दशरूपक, नन्दिकेश्वर के अभिनयदर्पण, शारदातनय के भावप्रकाशन, अभिनवगुप्तरचित नाट्यशास्त्र की अभिनवभारती टीका, सिंहभूपाल के रसार्णवसुधाकर तथा सागरनन्दी के नाटक-लक्षण-रत्नकोश आदि सभी नाट्यशास्त्रीय रचनाओं में भरत को बड़ी श्रद्धा के साथ नाट्यशास्त्राचार्य के रूप में उल्लिखित किया गया है। भरत मुनि भी महर्षि पाणिनि की तरह नाट्यविद्या के सूत्रकार के रूप में ही परम्परा से प्रसिद्ध हैं। इसी कारण नाट्यशास्त्र का दूसरा नाम भरतसूत्र भी है। सूत्ररूप में शास्त्रीय तत्वों के प्रतिपादन की प्रवृत्ति इस ग्रन्थ की मुख्य शैली है। इन कारणों से भरतमुनि ही नाटयशास्त्र के रचयिता सिद्ध होते हैं।

नाटयशास्त्र में भरत शब्द का अभिनेता, सूत्रधार आदि के लिये भी प्रयोग मिलने के कारण परवर्ती आचार्यों में अनेक भरतों के होने जी आशंका व्याप्त हो गयी तथा इनके आगे वृद्ध तथा आदि भरत जैसे विशेषण लगाये जाने लगे।

आचार्य अभिनवगुप्त के समय में भी यही भावना व्याप्त थी कि नाटयशास्त्र भरतादि प्रणीत है। आचार्य अभिनवगुप्त ने इस भावना का खण्डन किया कि नाटयशास्त्र का प्रथम प्रणयन सदाशिव फिर ब्रह्मा तथा अन्त में भरतमुनि ने किया था। अतः इसके प्रणेता क्रमशः आचार्य सदाशिव, ब्रह्मा तथा भरत थे। भाव प्रकाशन के अनुसार नाटयशास्त्र की द्वादशसाहस्री-संहिता की रचना आदि-भरत या वृद्धभरत ने की थी जिसके कुछ गद्यांश भी उसमें उद्धृत किये गये हैं। इनसे यही निष्कर्ष निकलता है कि आदि या वृद्ध भरत की रचनायें भरत के उत्तर-काल में प्रचलित हुई (जैसे मनुस्मृति के पश्चात् वृद्ध मनु आदि), जिनमें भरत शब्द को विशेषण लगाकर नाटयशास्त्रीय ग्रन्थों को निर्दशित

किया गया है। इस प्रकार यद्यपि भरत शब्द किसी वंश या जाति परम्परा के लिये चाहे प्रयुक्त हुआ हो पर इससे भरत मुनि के व्यक्तित्व में किसी प्रकार की क्षति नहीं हुई। हाँ, इससे इस बात का संकेत अवश्य मिलता है कि नाट्यशास्त्र के अनुशीलन के कारण नाट्याचार्यों तथा भरतों की एक अक्षुण्ण परम्परा प्रवहमान रही जिन्हें भरत संज्ञा प्राप्त थी। उसी प्रकार जैसे आजकल शंकराचार्य पीठ पर अभिषिक्त व्यक्ति की शंकराचार्य संज्ञा हो जाती है।

नाट्यशास्त्रीय विवरणों से भरतमुनि के भूतल पर निवास-स्थान का भी यत्किंचित् आभास मिल जाता है। नाट्यशास्त्र में हिमालय पर्वत पर अवस्थित भगवान् शिव के आदेश पर तण्डु से ताण्डव का ज्ञान भरत मुनि ने प्राप्त किया था तथा उन्हीं के समक्ष त्रिपुरदाह नामक डिम (रूपक) को प्रस्तुत भी किया था। नाट्यशास्त्र में हिमालय पर्वत के सहज एवं मनोमोहक वर्णन के साथ शिव एवं पार्वती के ताण्डव तथा लास्य के विवरणों से यही प्रतीत होता है कि भरत मुनि का आवास (या आश्रम) हिमालय पर्वत के किसी क्षेत्र में रहा होगा। कुछ आलोचक हिमालय के अन्तराल में प्राप्त होने वाले वृक्षों आदि के सूक्ष्म विवरणों को काश्मीर के अधिक निकट स्थापित करते हुए भरत मुनि के निवास-स्थल को काश्मीर बतलाते हैं तथा यह तर्क भी देते हैं कि इसी कारण प्रायः काश्मीर में ही नाट्यशास्त्र का परम्परागत अध्ययन सर्वाधिक होता रहा था और इसी कारण काश्मीरी विद्वानों में से ही जैसे भट्ट लोल्लट, श्रीशंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्तपाद आदि ने ही नाट्यशास्त्र की व्याख्याएँ लिखी हैं।

नाट्यशास्त्र में नाट्य के सहायक तत्वों के रूप में अलंकार, छन्दःशास्त्र तथा संगीत का भी विस्तृत विवेचन मिलता है जिसने भरतमुनि नाट्यविद्या के साथ-साथ अलंकारशास्त्र आदि के भी प्रथम आचार्य हैं यह निर्विवादरूप से सभी आलोचक स्वीकार करते हैं।

नाट्यशास्त्र की रचना-शैली

नाट्यशास्त्र की विषयगत विविधता एवं व्यापकता पर दृक्पात किया जाय तो इसमें अनेक शैलियाँ दृष्टिगत होंगी। नाट्यशास्त्र की रचना-शैली तथा प्रयोगों को देखकर अनेक विद्वानों ने यह कल्पना की है कि इस ग्रन्थ में रचना के कई स्तर हैं या इसमें प्राप्य गद्य एवं पद्यमयी शैलियों में सूक्ष्म अन्तर विद्यमान है। नाट्यशास्त्र के षष्ठ तथा सप्तमाध्याय के विवेचन में गद्य के साथ पद्य का प्रयोग किया गया है और यही शैली नाट्यशास्त्र में लक्षण, छन्द, प्रवृत्ति, सङ्गीत तथा पात्र आदि के विवेचन में भी दृष्टिगत होती है।

इस गद्यशैली में (१) गद्य-मय सूत्ररूप में सिद्धान्त-निरूपण, (२) गद्यमय भाष्य करते हुए सूत्रोक्त सिद्धान्त का व्याख्यान तथा (३) प्रतिपाद्य विषय के निरूपण में आने वाले तथ्यों का निरुक्त या व्याकरण-शैली में निर्वचन। शास्त्रीय तत्व का निरूपण के लिए प्राचीनकाल में इसी शैली के अन्यत्र भी प्रयोग प्राप्त होते हैं तथा इस शैली की तुलना हम यास्क या पाणिनि के वृत्ति तथा भाष्य ग्रन्थों से कर सकते हैं। इससे यह भी समर्थित होता है कि नाट्यशास्त्र की विवेचना पद्धति भी इसी प्रवृत्ति के कारण प्राचीन परम्परानुकूल है।

नाट्यशास्त्र में (इसी प्रकार) प्रधानरूप में पद्यात्मक शैली प्रयुक्त है तथा इसका अधिकांश भाग अनुष्टुप् वृत्त में है। ये सभी पद्य सूत्र या कारिकाएँ मानी जाती हैं जिनमें भरतमुनि ने अपना ग्रन्थ ग्रथित किया है। परन्तु इन कारिकाओं के अतिरिक्त अपने विचारों के समर्थन में मुनि ने यथाप्रसङ्ग अनुवंश्य आर्या, श्लोक तथा सूत्रानुविद्ध आर्याओं का उपयोग किया है। इसके अतिरिक्त विषय-विवेचन-क्रम में कारिकाओं को उपजाति, आर्या आदि छन्दों में भी रखा गया है। इस प्रकार सूत्र, भाष्य, संग्रह, कारिका एवं निरुक्त जैसी सभी प्राचीन शास्त्रीय पद्धतियों का नाट्यशास्त्र में भी दर्शन होता है। अब हम क्रमशः इन तथ्यों पर विचार करते हैं।

आनुवंश्य-श्लोक—आनुवंश्य श्लोक कहने से यही तत्काल प्रतीत होता कि ये श्लोक परम्परा-प्राप्त श्लोक हैं। महाभारत में 'यत्रानुवंश्यं भगवान् जामदग्न्यस्तथा जगौ। विश्वामित्रस्य तां दृष्ट्वा विभूतिमतिमानवीम्।' (महा० वनपर्व ८७–१६) तथा मत्स्यपुराण आदि में भी अनुवंश्य श्लोकों की परम्परा मिलती है। जिनके सम्बन्ध में महाभारत के प्रसिद्ध टीकाकार नीलकण्ठ ने 'परम्परागतमाख्यानमानुवंश्यश्लोकम्' (महा० वन० ८६।१६ पर टीका) कहकर इन श्लोकों को परम्पराप्राप्त श्लोक निरूपित किया है। आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने भी 'अत्रेतिभाष्ये अनुवंशभवौ = शिष्याचार्यपरम्परासु वर्तमानौ श्लोकाख्यौ वृत्तविशेषौ सूत्रार्थसंक्षेपप्रकटीकरणेन कारिकाशब्दवाच्यौ, भवन्तौ पठति।' (अभि० खण्ड १ पृष्ठ २६१) कहकर अनुवंशीय श्लोकों को परम्परागत आख्यान श्लोक (ही) माना है। ये श्लोक पूर्वाचार्यों की परम्परा से उद्‌धृत किये गये हैं इस विषय में कोई सन्देह नहीं रहता। इसी प्रकार सूत्रानुविद्ध श्लोकों को भी समझना चाहिए जिनमें सूत्रकारिकाओं में अनुस्यूत सिद्धान्तों का विस्तार ग्रन्थकार द्वारा इष्ट होता है। स्पष्ट है कि ये श्लोक नाट्यशास्त्रकर्ता द्वारा निर्मित नहीं होंगे।

आनुवंशीय आर्याएँ—आनुवंश्य श्लोक के अतिरिक्त भरतमुनि ने आर्याओं को भी उद्धृत करते हुए उन्हें 'सूत्रानुविद्धे (नुबद्धे) आर्ये' कहा है। स्पष्ट है कि ये आर्याएँ भी पूर्वाचार्यों की परम्परा से गृहीत ही होंगी, भरत-निर्मित नहीं। इनका प्रयोजन सूत्ररूप में अभिहित विषय को सरलता से हृदयङ्गम करवाना है। आचार्य अभिनवगुप्त ने इन आर्याओं को 'लक्षणार्थं पूर्वाचार्यों के द्वारा निर्मित आर्याएँ' माना है, जिनका आचार्य भरत द्वारा केवल उचित स्थान पर समावेश मात्र किया गया है। इससे विदित होता है कि ये आर्याएँ भी भरत मुनि प्रणीत नहीं हैं। इस तथ्य से आचार्य अभिनवगुप्त पूर्णतः परिचित थे।

नाट्यशास्त्र का स्वरूप प्रथम गद्य में सूत्रशैली में हुआ था जिसका उत्तरोत्तर विकास कारिका के रूप में हुआ। श्री डॉ० सुशीलकुमार डे महोदय की यह धारणा अधिक मान्य नहीं की जा सकती। सम्भवतः डॉ० डे की इसके मूल में यही भावना प्रतीत होती है कि सूत्र गद्यात्मक होता है, पद्यात्मक नहीं, परन्तु ध्यान देने की बात है कि नाट्यशास्त्र से प्राचीनतर ग्रन्थ शतपथब्राह्मण, गृह्य तथा धर्मसूत्र जैसे ग्रन्थों में भी गद्य-पद्य मिश्रित शैली के प्रयोग प्राप्य हैं। इसलिए नाट्यशास्त्र के गद्य-पद्य विमिश्रित रूप को गद्य से पद्य तक का विकसित रूप नहीं माना जा सकता। आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने भी नाट्यशास्त्र की कारिकाएँ सूत्रबद्ध मानकर इसकी गद्य-पद्य विमिश्रित शैली को प्रतिपादित करते हुए इसकी व्याख्या भी की है। अभिनवगुप्त के इसी सिद्धान्त का श्री पी० वी० काणे जैसे आधुनिक समीक्षक विद्वान् ने भी अनुसरण किया है। इस सन्दर्भ में यह भी ध्यान देने की बात है कि भवभूति ने उत्तररामचरित में भरतमुनि को **तौर्यत्रिक सूत्रकार** कहा है। इसलिये यह असम्भव नहीं जान पड़ता कि नाट्यशास्त्र गद्य-पद्य में निर्मित होने पर सूत्रग्रन्थ न कहा जा सके। आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने तो नाट्यशास्त्र को ही **भरत-सूत्र** कहा है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र अपनी शैली आदि की दृष्टि से एक सुनियोजित रचना है। जैसे व्यासों की परम्परा पुराण रचना की, इसी प्रकार की भरतों की परम्परा ने नाट्यशास्त्र की रचना की, यह तर्क अधिक सङ्गत नहीं माना जायगा। इसका कारण यह है कि वाल्मीकि का व्यक्तित्व जैसे रामायण के कारण विलुप्त नहीं होता इसी तरह नाट्यशास्त्र रचयिता के रूप में भरत का व्यक्तित्व स्पष्ट रहेगा।

नाट्यशास्त्र के पूर्ववर्ती आचार्य

आनुवंश्य श्लोक, आर्याएँ आदि पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निर्मित होने की

स्थिति वैसे ही है जैसी आचार्य पाणिनि के प्रथम आचार्य होकर अष्टध्यायी के निर्माण करने के पूर्व भी व्याकरण के अनेक आचार्यों की स्थिति का विद्यमान होना। यही दशा नाट्यविद्या की भी समझनी चाहिए। भरतमुनि के नाट्यशास्त्रीय उल्लेखों के अतिरिक्त भी ऐसे उल्लेख प्राप्य हैं जिनसे नाट्यशास्त्र के पूर्ववर्ती नाट्यविषयक ग्रन्थ तथा उनके प्रणेताओं का आभास मिलता है। इनमें सबसे प्राचीन उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी में है। जिससे शिलालिन् तथा कृशाश्व के द्वारा प्रणीत नटसूत्रों का पता चलता है। ये नटसूत्र नाट्यशास्त्रविषयक लौलिक सूत्र ग्रन्थ रहे होंगे। परन्तु इन ग्रंथों के विषय में आज हम अन्धकार में हैं, अतः यह कहना कठिन है कि इनका मूल या प्रतिपाद्य क्या था तथा इनकी शैली कैसी थी। प्रो० सिल्वा लेवी तथा हिलेब्राण्ट ने इन ग्रंथों को अभिनेताओं के लिये लिखे ग्रन्थ माना है पर बेवर तथा स्टेनकोनों जैसे विद्वान् इन्हें नर्तक या नटों के लिए लिखित शिक्षासूत्र ग्रन्थ मानते हैं। प्रो० श्री ए० वी० कीथ ने इन दोनों के मतों को मान्य किया। श्री कोनो आदि विद्वानों का यह भी अनुमान है कि भरत ने नाटचशास्त्र के निर्माण होने पर इन ग्रन्थों का अन्तर्भाव नाटचशास्त्र में हो जाने के कारण लोप हो गया, जैसे पाणिनि के पूर्ववर्ती वैयाकरणों के ग्रन्थों का अष्टाध्यायी में अन्तर्भाव होकर लोप हो गया था। नटसूत्र के स्वरूप-विवेचन के प्रसङ्ग में इन पाश्चात्य विद्वानों ने नट शब्द से बाजीगरी का जो आशय लिया वह बहुत सतही है, क्योंकि नट शब्द की निष्पत्ति नट् धातु से हुई है जिसका अर्थ अभिनय होता है। इसी नट के कर्मों को बतलाने वाला शब्द 'नाट्य' है। अतः यह मानना कि ये किन्हीं नटविद्या के या बाजीगरी के शिक्षा ग्रन्थ होंगे, अनुभव से परे की कल्पना है। नटसूत्रकार शैलालक ऋग्वेद का चरण ग्रन्थ था। कात्यायन ने इस चरण के अध्येता को शैलाला शब्द से सम्बोधित किया है। पाणिनि सूत्र की प्रसिद्ध वृत्ति काशिका में इन सूत्रों की वृत्ति में लिखा है कि शिलालिन् तथा कृशाश्व द्वारा जो चरणों का विकास हुआ उसे आम्नायवत् पवित्रता प्राप्त थी। नाट्यशास्त्र को भी आम्नायवत् माना गया है। इससे यह भी प्रतीत होगा कि भरत को ये ग्रन्थ अवश्य उत्तराधिकार में शास्त्र-परम्परा से प्राप्त हुए होंगे।

नाट्यशास्त्र में भी प्रसङ्गवश अनेक आचार्यों का उल्लेख मिलता है, जो इन आचार्यों की भरत-पूर्वस्थिति का निदर्शक है। इस सन्दर्भ में शब्द लक्षण के प्रसङ्ग में पूर्वाचार्य, गान्धर्व के प्रसङ्ग में स्वाति, छन्द निरूपण के प्रसङ्ग में गुह, ध्रुवाओं के निरूपण के प्रसङ्ग में नारद, अङ्गहार तथा करण के प्रसङ्ग में तण्डु तथा नन्दी और मानवीय-गुणों के प्रसङ्ग में बृहस्पति का आचार्य

के रूप में उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त नाट्योत्पत्ति के प्रसङ्ग में भरत ने अपने एक सौ पुत्रों का उल्लेख किया है जिनमें नाट्यप्रयोक्ता तथा शास्त्र-प्रणेता पुत्रों का भी उल्लेख है। इन पुत्रों में कोहल, दत्तिल, अश्मकुट्ट, बादरायण और शातकर्णी आचार्य के रूप में विदित होते हैं। इनमें कोहल के विषय में यह भविष्यवाणी भी की गई है कि वह नाट्यशास्त्र के अवशिष्ट तत्वों पर अपना शास्त्रग्रंथ रचेगा तथा यह भी कि शांडिल्य, धूतिल तथा वात्स्य दारा मनुष्यों की बुद्धि के विकास के लिये नाट्यशास्त्र पर और भी ग्रन्थ लिखे जायेंगे। अब क्रमशः इन आचार्यों के विषय में ज्ञात सामग्री के आधार पर नीचे थोड़ा परिचय दिया जा रहा है।

भरतमुनि के समकालीन नाट्यशास्त्रकार आचार्य

कोहल—नाट्यशास्त्र में उल्लिखित भरतपुत्रों में सर्वप्रथम कोहल[1] आते हैं, जो सर्वाधिक सम्मानप्राप्त आचार्य हैं तथा अग्रगण्य भी। नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में भरतपुत्रों में कोहल का साधारण उल्लेख मिलता है किन्तु

---

१. आचार्य अभिनव की तर्कना तथा नाट्यशास्श में कोहल के उत्तराधिकारी होने के उल्लेख से जो निष्कर्ष निकलता है उससे यह प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्र की रचना के समय भरत अतिवृद्ध हो चुके थे तथा इसी कारण उन्हें मुनि संज्ञा भी मिली थी। किन्तु उस समय उनके पुत्र कोहल युवा थे तथा अपने पिता द्वारा अध्यापित नाट्यवेद में प्रगाढ़रुचि एवं दक्षता के कारण इस शास्त्र पर अपने निश्चित दृष्टिकोण को स्वतन्त्र भी रखते होंगे जो भरत मुनि से मत-विभेद लिये हुए था तथा जिनका अभिनव ने यत्र-तत्र उल्लेख भी किया है। यदि इन तथ्यों को ध्यान में रखा जाए तो ऐसा प्रतीत होता है कि जब भरत मुनि का वर्तमान ग्रंथ भरतसूत्र समाप्ति पर था तभी भरत अतिवृद्ध हो चुके थे। निरन्तर लेखन में अशक्ति के कारण नाट्यशास्त्र के अवशिष्ट विषयों पर-जो कि अभी तक प्रतिपादित विषय से कम महत्व के नहीं थे—लिखने में असमर्थ से हो गये थे। किन्तु इस समय तक कोहल ने नाट्यविद्या के आचार्य के रूप में पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर ली थी तथा इसकी नाट्यशास्त्र के अवशिष्ट विषयों पर लिखने की क्षमता का भी मुनि को विश्वास था। इस समय कोहल स्वयं भी शेष विषयों पर लिखने की योग्यता रखता था। इस कारण भरत ने अपने ग्रन्थ को अपने पुत्र द्वारा शेषांश पूर्ति की भविष्यवाणी के साथ ही पूर्ण कर दिया होगा। इसके बाद आचार्य कोहल ने नाट्यशास्त्र के शेषांश का प्रणयन किया, जो आज उनके नाम से पृथक् ग्रंथों के रूप में प्राप्त है।

नाट्यशास्त्र के अन्तिम अध्याय में कोहल आचार्य के रूप में भरत के उत्तराधिकारी निरूपित किये गये हैं। आचार्य कोहल ने सङ्गीत, नृत्य तथा अभिनय से सम्बद्ध स्वतन्त्र ग्रंथों की रचना की थी। आचार्य अभिनवगुप्त ने अनेक स्थानों पर कोहल के मत का उल्लेख किया है तथा कोहल को आचार्य भरत का समसामयिक भी माना है। इसी कारण अनेक प्रसङ्गों में आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने कोहल का मत उद्धृत किया है। इसके अतिरिक्त भावप्रकाशन में शारदातनय ने, हेमचन्द्राचार्य ने काव्यानुशासन में, नाट्यदर्पण-सूत्र में रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने रूपकों के संख्यावर्द्धन का कर्त्ता कोहल को माना है, जिसने नाटिका, सट्टक जैसे नाट्यभेद को प्रवर्तित किया। रसार्णवसुधाकर में भरतमुनि के साथ कोहल, दत्तिल आदि का स्वतन्त्र नाट्याचार्य के रूप में उल्लेख किया गया है। राजशेखर ने बालरामायण नाटक में कोहलाचार्य को नाट्यप्रयोक्ता के रूप में प्रस्तुत किया है। इन सब विवरणों से स्पष्ट हैं कि कोहल भरत मुनि की परम्परा के सर्वाधिक प्रशंसित आचार्य एवं नाट्यप्रयोक्ता रहे होंगे। यद्यपि भरत मुनि के पुत्र होने से भरत के समकालीन कोहलाचार्य को भी माना जाना चाहिये तथापि नाट्यशास्त्र के सम्पादक म० म० रामकृष्ण कवि इनका समय ईस्वी पूर्व तीसरी शती मानते हैं। कोहल ने नाट्य के विविध अङ्गों तथा नृत्य एवं सङ्गीत पर अधिकृतरूप से अनेक रचनाएँ की थीं जिनके सम्प्रति उद्धरण प्राप्य हैं। सङ्गीत ग्रन्थों में कोहलविषयक विवरण तथा उनके विस्तृत उद्धरण, शार्ङ्गदेव के सङ्गीत-रत्नाकर एवं उसकी सिंहभूपाल तथा कल्लिनाथ की टीकाओं में प्राप्त होते हैं। पार्श्वदेव के संगीतसमयसार में कोहल के साथ दत्तिल आचार्य का सङ्गीतशास्त्र के आचार्य के रूप में भी उल्लेख प्राप्त होता है। मद्रास के शासकीय हस्तलिखित ग्रन्थागार में कोहलप्रोक्त ग्रन्थ का तेरहवाँ अध्याय विद्यमान है। इसका नाम है 'कोहलरहस्य'। यह ग्रन्थ खण्डित है किन्तु इसमें कोहल का भरतपुत्र के रूप में उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त कोहलाचार्य प्रणीत 'कोहलमतम्' नामक अन्य ग्रन्थ भी मिलता है, जो बहुत अल्प मात्रा में है। इसमें पुष्पाञ्जलि का केवल स्वरूप मात्र बतलाया गया है। एक अन्य ग्रंथ है—'कोहलीयम्;' यह ग्रन्थ लन्दन के इण्डिया आफिस संग्रहालय में विद्यमान है। यह ग्रंथ तालपत्र पर लिखित है। आचार्य कोहल के ये सभी ग्रन्थ अपूर्ण तथा अप्रकाशित हैं।

नन्दी या नन्दिन्—नन्दी या तण्डु जिनका अन्य अभिधान नन्दिकेश्वर भी है, भरतमुनि के ताण्डव शिक्षक के रूप में नाट्यशास्त्र में उल्लिखित किये गये हैं। अतएव किंचित् भरत पूर्ववर्ती माने जा सकते हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने तण्डु शब्द नन्दी या नन्दिकेश्वर का ही नाम या पर्याय माना है।

इससे स्पष्ट है कि नन्दी ही तण्डु थे, जिनने भरत को उस ताण्डवनृत्य का-शिक्षण दिया था जो उन्हें शिव से साक्षात् प्राप्त हुआ था। नन्दी के सुप्रसिद्ध ग्रंथ अभिनयदर्पण से इन्हें नाट्यशास्त्र के आचार्य मानने में कोई कठिनाई नहीं रह गई। नन्दिकेश्वर के अन्य ग्रंथों में 'नन्दिभरतोक्त संकरहस्ताध्याय' नामक ग्रन्थ हस्तलिखित रूप में अपूर्ण प्राप्त होता है। भरत के नाट्यशास्त्र की पुष्पिका में नन्दिभरतप्रणीतं सङ्गीतपुस्तकम् लिखा मिलता है जो भरत के शिष्य होने या नन्दिमत प्रतिपादित करने वाले ग्रंथ में नाट्यशास्त्र को संकेतित करता प्रतीत होता है। इस प्रकार नन्दिकेश्वर का भी नाट्य-शास्त्र के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान इससे स्पष्ट है।

तुम्बुरु—रेचक, करण, अङ्गहार तथा सङ्गीत के प्रसङ्ग में तुम्बुरु का नाट्यशस्त्र में उल्लेख मिलता है, जो तुम्बुरु को भी नन्दी की तरह भरतमुनि का समकालीन आचार्य सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। तुम्बुरु नृत्य-संगीत के प्रसिद्ध आचार्य थे तथा प्रत्येक सङ्गीत के अवसर पर इनका सहयोग प्राप्त रहने का उल्लेख पुराणों में प्राप्त होता है। इस प्रकार इनका व्यक्तित्व पौराणिक है यह स्पष्ट है, परन्तु इनके किसी ग्रन्थ या उद्धरणों की प्राप्ति आज तक नहीं हुई।

काश्यप—कोहल के समान काश्यप मुनि भी भरताचार्य के समकालीन संगीत तथा नाट्यशास्त्रकार थे। आचार्य अभिनवगुप्त इन्हें भरत के समान प्रतिष्ठित आचार्य मानते थे। इनने काश्यप का लम्बा उद्धरण अभिनवभारती में दिया है जिसमें जातियों तथा रागों के विषय में शास्त्रकारों के मतों का निदर्शन करवाया गया है। इससे हमें ज्ञात होता कि भिन्न कैशिक, टक्क, सौवीर तथा मालव कैशिक जैसे रागों का क्या स्वरूप है। इस प्रकार भरत-मुनि के समकालीन शास्त्रकारों को रागों का ज्ञान था, यह इससे स्पष्ट हो जाता है।

दत्तिल—दत्तिल या दन्तिल भी भरतमुनि के समकालीन शास्त्रकार थे। दत्तिल नाट्यविद्या तथा सङ्गीत के प्रामाणिक ग्रंथकार थे। आचार्य अभिनव-गुप्त ने इनका उल्लेख सङ्गीतकलाप्रतिपादक नाट्यशास्त्र अध्याय २८ की व्याख्या में किया है। भरतमुनि के शतपुत्रों में कोहल के बाद दत्तिल का ही क्रम आता है। नृत्तकला के विषय में 'दत्तिल-कोहलीयम्' नामक एक अप्रका-शित पाण्डुलिपि तञ्जोर ग्रन्थागार में विद्यमान है जिसमें नृत्यकला का विशद निरूपण है। रसावर्णवसुधाकर आदि ग्रन्थों में दत्तिल का नामोल्लेख मिलता है। म० म० रामकृष्ण कवि ने इसके एक अन्य ग्रन्थ **गान्धर्व-वेदसार** का भी उल्लेख किया है। दत्तिलम् इनका सुप्रसिद्ध एवं सर्वविदित प्राप्य ग्रन्थ है ही।

अश्मकुट्ट तथा नखकुट्ट—इन दोनों आचार्यों का भरतपुत्र के रूप में नाट्यशास्त्र में उल्लेख मिलता है। सागरनन्दी ने अपने नाटकलक्षणरत्न-कोष में अश्मकुट्ट तथा नखकुट्ट के विभिन्न नाट्य प्रसंगों में क्रमशः चार तथा दो बार मत उद्धृत किये हैं जिनसे इनकी स्वतंत्र नाट्यशास्त्रीय कृतियों का पता चलता है। आमुख में वीथ्यंग तथा अन्य नाट्यतत्वों की योजना के विधान में विश्वनाथ कविराज ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ साहित्य-दर्पण में अश्मकुट्ट के श्लोक उद्धृत किये हैं। इससे स्पष्ट है कि सागरनन्दी तथा विश्वनाथ-कविराज के साथ अश्मकुट्ट तथा नखकुट्ट के नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ विद्यमान थे।

बादरायण तथा शातकर्णी—नाट्यशास्त्र में बादरायण का उल्लेख भरतपुत्र के रूप में किया गया है। नाटकलक्षणरत्नकोष में बादरायण के मत का तीन स्थलों पर उल्लेख होने से ये निश्चित रूप में नाट्यशास्त्र के आचार्य थे। शतकर्णी का भरतपुत्रों की सूची में शालकर्णी अभिधान भी प्राप्त है। रुचिपति उपाध्याय की अनर्घराघव व्याख्या में भी शातकर्णी का उद्धरण मिलता है। नाटकलक्षणरत्नकोष में भी शातकर्णी का मत उद्धृत होने ये इनका भी नाट्यविद्या के आचार्य होने का प्रमाण मिलता है। इसके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र में वात्स्य तथा शाण्डिल का नाम भरतपुत्र होने के अतिरिक्त नाट्यावतरणाध्याय में कोहल के साथ शेषतन्त्र के व्याख्याता आचार्य के रूप में भी किया गया है किन्तु इनके किसी ग्रन्थ या उद्धरण के प्राप्त न होने से सम्प्रति इनके ग्रंथकार होने का प्रमाण नहीं मिलता।

इस प्रकार जिन भरतपुत्रों का आचार्यत्व यहाँ बतलाया गया है, उनकी भरत मुनि से समकालता थी यह स्पष्ट है।

मध्यकालीन नाट्यशास्त्रकार आचार्य

विशाखिल तथा चारायण—आचार्य अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र व्याख्या में विशाखिल का एक उद्धरण दिया है जिससे नाट्यशास्त्र पर इनकी किसी कृति का अनुमान लगता है। इससे अधिक इनके विषय में ज्ञात नहीं। इसी प्रकार सागरनन्दी ने नाटकलक्षणरत्नकोष में चारायण का उल्लेख किया है, जिनसे इनके भी नाट्यशास्त्रीय आचार्य होने की प्रतीति होती है।

कात्यायन, राहुल तथा गर्ग—आचार्य अभिनवगुप्त ने कात्यायन का एक उद्धरण दिया है जिससे इनके नाट्यशास्त्र तथा छन्दःशास्त्र पर ग्रंथों की प्रतीति होती है। सागरनन्दी ने भी कात्यायन का एक उद्धरण दिया है जिससे इनका आचार्यत्व समर्थित होता है। इसी प्रकार अभिनवगुप्त तथा सागरनन्दी ने आचार्य राहुल के भी कुछ उद्धरण दिये हैं जिनसे नाट्यशास्त्र के आचार्य के रूप में इनकी भी प्रतीति निर्बाध है। सागरनन्दी ने गर्ग का भी नाट्या-

चार्य के रूप में उल्लेख तो किया है किन्तु कोई उद्धरण नहीं दिया। सम्भवतः सागरनन्दी इनके ग्रन्थ से परिचित अवश्य थे किन्तु आवश्यक न रहने के कारण उद्धरण देकर उल्लेख न कर पाये हों।

शकलीगर्भ तथा घण्टक—आचार्य अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र व्याख्या में शकलीगर्भ तथा घण्टक के मतों का उल्लेख किया है। आचार्य शकलीगर्भ को रामकृष्ण कवि आचार्य उद्भट से अभिन्न मानते हैं, किन्तु ऐसा मानने के लिये कोई उचित कारण नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा ही होता तो वे फिर उद्भट का मत अनेक बार उद्धृत करते समय अन्य नाम क्यों देते। अतः शकलीगर्भ कोई पृथक् नाट्याचार्य अवश्य थे। इनका समय उद्भट तथा भट्ट लोल्लट के मध्य नवीं शताब्दी हो सकता है। आचार्य शकलीगर्भ तथा घण्टक की किसी नाट्यरचना का स्पष्ट ज्ञान नहीं है।

नाट्यवार्तिककार हर्ष—आचार्य अभिनवगुप्त से पूर्व नाट्यशास्त्र पर हर्षविरचित वार्तिक का अध्ययन भी अधिक प्रचलित था। यह वार्तिक नाट्यशास्त्र पर स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में था जिसके अनेक उद्धरण अभिनव-भारती में मिलते हैं। रामकृष्ण कवि ने नाट्यशास्त्र खण्ड २ की भूमिका में अंगहारों पर खण्डित वार्तिक के अंश के प्राप्त हो जाने की सूचना भी दी है। डॉ० राघवन का मत है कि हर्ष ने नाट्शास्त्र के छठे अध्याय के बाद भाष्यभूत वार्तिक का निर्माण ही नहीं किया था। यह मत इसलिये मान्य नहीं है क्योंकि एक तो समग्र वार्तिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, दूसरे भाव-प्रकाशन में त्रोटक के प्रसंग में तथा सागरनन्दी के नाटकलक्षणरत्नकोष में श्रीहर्ष का नाट्यशास्त्र के आचार्य रूप में विवरण मिलता है। डॉ० शंकरन के मत में वार्तिक-कार हर्ष तथा कन्नौज के सम्राट् हर्षवर्धन एक ही व्यक्ति थे जो रत्नावली, नागानन्द तथा प्रियदर्शिका के रचयिता भी थे। राजतरंगिणी में काश्मीर के राजा हर्ष विक्रमादित्य के द्वारा मातृगुप्त को सिंहासनासीन करने का विवरण मिलता है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि कदाचिद् ये हर्षविक्रम ही नाट्यवार्तिककार हों। मातृगुप्त के समकालीन होने पर इनका समय भी चतुर्थ शती का अन्त तथा पाँचवीं शती का आरम्भ माना जा सकता है।

मातृगुप्ताचार्य—राजतरंगिणी में प्राप्त विवरण के अनुसार मातृगुप्त कवि भी थे तथा भर्तृमेण्ठ जैसे कवि के समकालीन एवं आश्रयदाता भी थे, जिनने श्रीहर्षविक्रम के द्वारा प्राप्त काश्मीर का पाँच वर्ष तक शासन किया तथा अन्त में विरक्त होकर राज्य छोड़ दिया। अभिनवभारती ने मातृगुप्त का मत वीणावादन के पुष्प नामक प्रभेद के व्याख्यान प्रसङ्ग में उद्धृत किया है। शारदातनय ने भावप्रकाशन तथा सागरनन्दी ने नाटकलक्षणरत्नकोष में

नाट्यस्वरूप तथा नाट्यांग आदि के प्रसङ्गों पर अनेक बार मातृगुप्ताचार्य का मत उद्धृत किया है। इनके सर्वाधिक उद्धरण अभिज्ञानशाकुन्तल की राघवभट्ट प्रणीत व्याख्या में प्राप्त होते हैं जिनसे नाट्यशास्त्र पर इनके स्वतंत्र ग्रंथ की महत्ता प्रतिपादित होती है। यद्यपि सुन्दरमिश्र ने (स्थितिकाल १६ वीं शती) अपने 'नाट्यप्रदीप' में मातृगुप्त का नाट्यशास्त्र के एक व्याख्याकार के रूप में उल्लेख किया है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्र के स्वतंत्र लेखक के रूप में इनने भरतमत की समीक्षा की हो जिससे श्री मिश्र ने इन्हें नाट्यशास्त्र का व्याख्या समझ लिया होगा। मातृगुप्त उच्चकोटि के कवि भी थे और इसी कारण कुछ आलोचक इन्हें कालिदास से अभिन्न मानते हैं जो अब अधिक विश्वसनीय कल्पना नहीं मानी जाती। वक्रोक्तिजीवित में कुन्तक ने मातृगुप्त के काव्य के सुकुमारता तथा विचित्रता नामक गुणों का उल्लेख किया है। श्रीहर्ष विक्रमादित्य के समकालीन होने के आधार पर मातृगुप्त का स्थितकाल ईसवी पाँचवी शती माना जाता है।

सुबन्धु—शारदातनय ने भावप्रकाशन में सुबन्धु के नाटकों के स्वरूप पर एक विशिष्ट मत का उल्लेख किया है। नामसाम्य के कारण कुछ समीक्षक इन्हें वासवदत्ता नामक गद्यकाव्य के रचयिता से अभिन्न मानते हैं। यदि ये ही सुबन्धु नाट्यशास्त्र के स्वतंत्र ग्रन्थ के रचयिता भी हों तो इनका भी पाँचवीं से छठी शती के मध्य स्थित-काल माना जा सजता है। सुबन्धु के विषय में अन्य ग्रन्थों मे किसी प्रकार इसके अतिरिक्त और विवरण नहीं मिलते हैं!

भरतनाट्यशास्त्र के व्याख्याकार—भरत मुनि के नाट्यशास्त्र पर अनेक आचार्यों द्वारा व्याख्याएँ लिखी गयी थीं। इस समय केवल अभिनवभारती ही उपलब्ध है, जिससे नाट्यशस्त्र पर लिखित व्याख्यानों, वार्तिकों तथा स्वतंत्र नाट्यरचनाओं के विषय में हमें ज्ञान होता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने उद्भट को नाट्यशास्त्र का एक व्याख्याकार माना जिसका समर्थन शार्ङ्गदेव के संगीत-रत्नाकर से भी होता है। संगीतरत्नाकर ने कीर्तिधर आचार्य को भी नाट्यशास्त्र का एक व्याख्याकार बतलाया। इसके अतिरिक्त इसने ही नाट्यशास्त्र के व्याख्याकारों के रूप में भट्ट लोल्लट, श्रीशंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त का उल्लेख किया है। अभिनवगुप्त के अनुसार भट्टयन्त्र भी नाट्यशास्त्र के एक व्याख्याकार थे। परवर्ती रचनाओं से कुछ अन्य आचार्यों द्वारा भी नाट्यशास्त्र पर व्याख्यान लिखने के विवरण मिलते हैं। यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि नाट्यशास्त्र की सर्वाधिक व्याख्याएँ केवल काश्मीर के विद्वानों द्वारा ही लिखी गई थीं। अब हम क्रमशः नाट्यशास्त्र के व्याख्याकारों के विषय में लिखेंगे।

भट्ट उद्भट—आचार्य अभिनवगुप्त ने छः, नौ, तथा उन्नीसवें अध्याय में

आचार्य उद्‌भट के मतों का उल्लेख किया है। मम्मट भट्ट ने भी अपने काव्य-प्रकाश में उद्भट को रस-सूत्र का व्याख्याता तथा संगीतरत्नाकरकार शार्ङ्ग-देव ने भी इन्हें नाटचशास्त्र का व्याख्याकार माना है। भट्टोद्‌भट के विचारों की भट्ट लोल्लट द्वारा आलोचना किये जाने के कारण ये भट्टलोल्लट के पूर्ववर्ती नाटचशास्त्र के व्याख्याकार हैं। राजतरंगिणी के अनुसार भट्टोद्‌भट काश्मीरी सम्राट् जयापीड की विद्वत्सभा के सभापति थे तथा इनकी विद्वत्ता का सम्मान करते हुए प्रतिदिन एक लाख दीनार इन्हें वेतन दिया जाता था। भामह विरचित काव्यालंकार के सुप्रसिद्ध व्याख्याता के रूप में आचार्य भट्टो-द्‌भट विदित हैं। इनका स्थितिकाल जयापीड के समकालीन रहने से सप्तम शती का मध्यकाल माना जाता है। अन्य विद्वान् इनका स्थितिकाल सातवीं शती का उत्तरार्ध मानते हैं।

भट्ट लोल्लट—आचार्य अभिनवगुप्त ने भट्ट लोल्लट के मत को प्रस्तुत करते हुए उस पर आलोचना की है जिससे यह स्पष्ट है कि भट्ट लोल्लट ने समग्र नाट्यशास्त्र पर अपनी व्याख्या या भाष्य लिखा था। पूर्व-मीमांसाशास्त्र के अनुगामी होने से इनकी रससूत्र पर इसी दर्शन के सिद्धान्तानुरूप व्याख्या भी है। यद्यपि भट्ट लोल्लट के रसव्याख्यान की सभी व्याख्याकारों ने चर्चा की है परन्तु इनकी व्याख्या शास्त्रगाम्भीर्य में उन्नत स्थान रखती थी इसे सभी मुक्तकण्ठ से स्वीकार भी करते थे। काव्यप्रकाश के प्राचीन व्याख्याकार माणिक्यचन्द्र ने लोल्लट तथा शंकुक की तुलना में लोल्लट भट्ट को रसशास्त्र का मार्मिक पण्डित माना है। भरतसूत्र के रसविषयक व्याख्याक्रम में इन्हें उत्पत्ति-वादी आचार्य माना जाता है। ये मीमांसक होने के कारण व्यञ्जनाविरोधी थे। काव्यप्रकाश आदि अनेक अलंकारशास्त्र के ग्रन्थों में भट्ट लोल्लट के मत का उल्लेख मिलता है। आचार्य हेमचन्द्र ने भट्ट लोल्लट के दो स्थानों पर मत उद्‌धृत किये हैं। भट्ट लोल्लट अपराजित के पुत्र होने से अपराजिति नाम से भी जाने जाते थे। अपराजिति के नाम से राजशेखर की काव्यमीमांसा में जो उद्धरण दिये गये हैं उन्हीं को हेमचन्द्र ने भट्ट लोल्लट के नाम से उद्‌धृत किया है। भट्टलोल्लट ने न केवल भरत-नाटचशास्त्र पर ही व्याख्या की किन्तु स्पन्दकारिका की भी व्याख्या की थी जिनका नाम वृत्ति था। इस टीका का उल्लेख आचार्य अभिनवगुप्त के परमशिष्य क्षेमराज ने किया है। अत एव स्पन्दकारिका के लेखक भट्ट कल्लट भी भट्ट लोल्लट से ज्येष्ठतर एवं उन्हीं के समकालीन विद्वान् ठहरते हैं। भट्ट कल्लट की अपेक्षा श्रीशंकुक अवस्था में कम रहने पर भी लोल्लट के समकालीन विद्वान् थे। जिनका स्थितिकाल आठवीं शती का उत्तरार्ध एवं नवीं शती का प्रारम्भ है। ये सभी काश्मीर के निवासी थे। यह भी सम्भावना है कि भट्ट कल्लट की तरह भट्ट लोल्लट भी वसुगुप्त के शिष्य रहे हों।

श्रीशंकुक—भरत नाटय-शास्त्र के अन्य व्याख्याकार श्रीशंकुक थे, जो भट्ट लोल्लट के कनिष्ठ समकालीन एवं काश्मीर निवासी विद्वान् थे। शार्ङ्गधरपद्धति वल्लभदेव की सुभाषितावली तथा जल्हण के सूक्तिसंग्रहों में श्रीशंकुक की अनेक सूक्तियाँ उद्धृत की गई हैं। श्री शंकुक मयूर के पुत्र थे। बाण के समकालीन मयूर से ये श्रीशंकुक के पिता मयूर निश्चित ही भिन्न व्यक्ति होंगे। कल्हण ने राजतरङ्गिणी में श्रीशंकुक के भुवनाभ्युदय काव्य का उल्लेख करते हुए इन्हें अपने समकालीन काश्मीर के शासक अजितापीड़ के आश्रित विद्वान् बतलाया है। अभिनवभारती में अध्याय ३ से २६ अध्याय तक श्रीशंकुक की टीका के निरंतर उद्धरण देकर उनकी आलोचना की गई है। अत एव श्रीशंकुक ने समग्र नाटचशास्त्र पर व्याख्या लिखी थी यह स्पष्ट है। ये रसशास्त्र के व्याख्यान में अनुमितिवादी आचार्य माने जाते हैं।

भट्ट नायक—ध्वन्यालोक तथा अभिनवभारती के रचनाकाल के मध्यवर्ती आचार्य के रूप में भट्टनायक का स्थान है। नाटचशास्त्र के व्याख्याकार के रूप में तो अति प्रसिद्ध हैं। कुछ विद्वानों ने इनके समग्र नाटचशास्त्र के व्याख्यान लिखने पर आशङ्का प्रकट की है, किन्तु इनके मत का अभिनवभारती ने अनेक स्थानों पर उल्लेख न होने से निश्चित नहीं कहा जा सकता कि नाटचशास्त्र पर इनका अधूरा व्याख्यान हुआ था। रसशास्त्र के व्याख्यान क्रम में ये साधारणीकरण के उद्भावक एवं भुक्तिवाद के प्रवर्तक आचार्य के रूप में विख्यात हैं। आचार्य अभिनवगुप्त के अतिरिक्त रुय्यक ने अलङ्कारसर्वस्व की विमर्शिनी टीका में, हेमचन्द्र ने काव्यानुशासनविवेक में तथा महिमभट्ट ने व्यक्तिविवेक में भट्टनायक के ही दो पद्य उद्धृत किये हैं। इनने हृदय-दर्पण नामक एकस्वतन्त्र ग्रन्थ का निर्माण भी किया था जिसका संकेत महिमभट्ट ने 'अदृष्टदर्पणा मानधीः' लिखकर अति चातुर्यपूर्ण पद्धति से किया है। महिमभट्ट के टीकाकार राजानक रुय्यक ने भट्टनायक का उल्लेख करते हुए उनकी रचना हृदयदर्पण बतलाई है। साधारणीकरण के मौलिक सिद्धान्त के उद्भावक भट्टनायक ही हैं। ये आनन्दवर्धन के समकालीन तथा उनके आश्रयदाता अवन्तिवर्मा के आश्रित राजकवि भी थे। कल्हण की राजतरङ्गिणी में इन्हें शङ्करवर्मा के समसामयिक निर्दशित किया गया है। अत एव भट्टनायक का स्थितकाल अभिनवगुप्त से कुछ ही वर्ष पूर्वमाना जाता है। ये काश्मीर के शासक अवन्तिवर्मा तथा शंकरवर्मा के समकालीन थे। इसी कारण इनका समय ८८०—९०० ई० के मध्य माना जाता है।

भट्टयन्त्र—अभिनवभारती में आचार्य भट्टयन्त्र के मत का उल्लेख मिलता है। ये भट्टयन्त्र भी कदाचित् नाटचशास्त्र के व्याख्याकार थे। इसके अतिरिक्त इनका अन्यत्र कहीं भी और अधिक परिचय नहीं मिलता।

आचार्य कीर्तिधर—अभिनवभारती में अभिनवगुप्त ने केवल एक बार आचार्य कीर्तिधर के मत को उद्धृत किया है तथा इन्हें नाटचशास्त्र का प्राचीन टीकाकार माना है। इससे कीर्तिधर नाटचशास्त्र के प्राचीन तथा प्रतिष्ठित व्याख्याकार सिद्ध होते हैं। सम्भवतः ये उद्भट के समसामयिक या उससे भी प्राचीन रहे हों। भट्टोद्भट्ट से प्राचीन मानने पर इनका स्थितिकाल सातवीं शती माना जाना उचित है।

नान्यदेव—अभिनवगुप्त ने नान्यदेव के भरतभाष्य से भी कुछ उद्धरण दिये हैं। सम्प्रति नान्यदेव का भरतभाष्य उपलब्ध है। नान्यदेव ने भवभूति के मातलीमाधव प्रकरण पर एक पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या लिखी थी जिसमें अपने भरतभाष्य को भी उद्धृत किया है। ये नान्यदेव अभिनवगुप्त से पूर्वकालीन तथा भवभूति के उत्तरकालीन होने पर नवीं शती में विद्यमान थे ऐसा मान लेने की स्थिति अधिक उपयुक्त है। आचार्य कान्तिचन्द्र पाण्डेय के अनुसार भी नान्यदेव अभिनवगुप्त से दो पीढ़ी पुराने हैं। अतः इनका स्थितिकाल नवीं शती का उत्तरार्द्ध है।

भट्टतोत—अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती तथा ध्वन्यालोक की लोचन व्याख्या में भट्टतोत का उल्लेख अपने गुरु के रूप में किया है तथा नाटचशास्त्र पर उनकी गम्भीर मान्यताओं का निदर्शन किया है। नाटचशास्त्र के तत्कालीन महान् विद्वान् तथा व्याख्याता थे तथा नाटचशास्त्र की पाठभेद परम्पराओं की एक महत्वपूर्ण शाखा के समर्थक थे। यह शाखा थी शान्तरस के विवरण को मूलपाठ की मान्यता देना, रस की अनुकरणशीलता का विरोध तथा काव्य एवं नाटच में रस प्रतिपादन जिसका अभिनवभारती में अनुसरण किया गया है। इनने 'काव्य-कौतुक' नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना भी की थी जिस पर अभिनवगुप्तपाद ने विवरण लिखा था। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती के काव्यकौतुक की कुछ पंक्तियाँ भी उद्धृत की हैं। सम्प्रति काव्यकौतुक तथा उस पर अभिनवगुप्त विरचित विवरण प्राप्त नहीं है। काव्यानुशासन में हेमचन्द्र ने भी भट्टतोत के नाम से तीन पद्य काव्यकौतुक से उद्धृत किये हैं। इससे प्रतीत होता है कि काव्यकौतुक विद्वानों में प्रमाण ग्रंथ का आदर प्राप्त कर चुका था। भट्टतोत का स्थितिकाल दसवीं शती का पूर्वार्द्ध था क्योंकि अभिनवगुप्त का स्थितिकाल दसवीं शती के उत्तरार्ध से ग्यारहवीं शती का आरम्भक-काल माना जाता है।

इसके अतिरिक्त अभिनवने भट्टगोपाल; भागुरि; प्रियातिथि, भट्टवृद्धि, रुद्रक, भट्टसुमनस्, भट्टशंकर जैसे आचार्यों का भी यत्र तत्र व्याख्यान-प्रसंग में नामोल्लेख किया है किन्तु इनमें कितने नाटचशास्त्र के विवेचक टीकाकार

थे यह ज्ञात नहीं । ये अभिनवगुप्त से प्राचीन या समकालीन थे इस विषय में भी कोई बातें जानकारी में नहीं आईं ।

आचार्य अभिनवगुप्तपाद—आचार्य अभिनवगुप्तपाद काव्यशास्त्र तथा नाटचशास्त्र के अतिरिक्त दर्शन तथा तन्त्रादि शास्त्रों के पारङ्गत विद्वान्, महान् ज्ञानी तथा मध्यकालीन भारत की प्रतिभामण्डित विद्वत्शृङ्खला में मध्यमणि की तरह विलक्षण व्यक्तित्व के धनी थे। अभिनवगुप्त ने विस्तार से अपना परिचय दिया है । यद्यपि अभिनवगुप्त कश्मीर के निवासी थे किन्तु इनके पूर्वज कन्नौज नगर के आस-पास अन्तर्वेदी के निवासी थे । अभिनवगुप्त के स्थितिकाल से लगभग २०० वर्ष पूर्व इनके पूर्वज अत्रिगुप्त कन्नौज से आकर कश्मीर में बस गये थे क्योंकि इन्हें कन्नौज से काश्मीर के तत्कालीन शासक यशोवर्मा ने ससम्मान आमन्त्रित किया था । उन्होंने अत्रिगुप्त को वितस्ता के किनारे एक सुन्दर भवन तथा एक जागीर देकर बसाया था । इनके वंश में आगे चलकर वराहगुप्त हुए जो अभिनव के पितामह थे । वराहगुप्त के पुत्र नरसिंहगुप्त हुए जिसका दूसरा नाम चुखुलक था । इनके चाचा का नाम वामनगुप्त था । वामनगुप्त कवि थे जिनका एक पद्य अभिनव ने एक प्रसङ्ग में उद्धृत भी किया है । नरसिंहगुप्त के पुत्र अभिनवगुप्त थे । इनकी माता का नाम था विमल-कला । इनका वंश शिवभक्ति के लिए प्रसिद्ध था । अभिनवगुप्त एक योगिनी भूः सन्तति होने से उन्हें आगम तथा त्रिक-शास्त्र के संग्रह एवं रचना का पूर्ण सामर्थ्य प्राप्त होता था । उनकी माता के बाल्यकाल में ही वियुक्त हो जाने पर इनके पिता को बड़ा दुःख हुआ तथा इसी कारण उनने संसार की अनित्यता और वैराग्य से अभिभूत होकर गृहत्याग कर डाला । अभिनवगुप्त जब तक माता-पिता की छत्रच्छाया में रहे उनका जीवन सुखद रहा पर जब पिता भी उन्हें छोड़कर चले गये तो उन्हें अपनी जीवनधारा में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया ।

अभिनवगुप्त-पाद की विद्याध्ययन में प्रबल रुचि थी तथा वे प्रत्येक विषय का पूर्ण पाण्डित्य प्राप्त करने के लिये प्रत्येक विषय के प्रमुख विद्वान् से उस विषय का अध्ययन करते थे । अभिनव ने अपने पिता नरसिंहगुप्त से व्याकरण-शास्त्र, वामनाथ से द्वैताद्वैत तन्त्रशास्त्र, भूतिराजतनय से शैवसम्प्रदाय की दीक्षा; लक्ष्मणगुप्त से प्रत्यभिज्ञा, त्रिक तथा क्रम, भट्टेन्दुराज से ध्वनिसिद्धान्त, भूतिराज से ब्रह्म-विद्या तथा भट्टतोत से नाटचशास्त्र का अध्ययन किया । इसके अतिरिक्त उन्होंने लगभग १३ गुरुओं से किसी विषय का अध्ययन किया था ।

संसार से विरक्त होने के कारण केवल अध्ययन, ग्रन्थ-निर्माण तथा शिवभक्ति ही इनके व्यापार रह गये थे । इनका शिवभक्ति या उपासना से जो समय बचता था वह इन्हीं दो कार्यों में लगता था । ये किसी विषय के उद्भट

विद्वान् का पता लगते ही उससे विद्याग्रहण करने में लग जाते थे। इस प्रकार काश्मीर तथा उसके बाहर जाकर जो विशिष्ट विद्याएँ उनने ग्रहण कीं, उनके द्वारा विशाल ग्रन्थराशि का निर्माण भी किया। इनकी सब मिलकर ४१ कृतियाँ ज्ञात हैं।

इन कृतियों के नाम हैं :—(१) बोधपंचदशिका, (२) परात्रिंशिका-विवरण, (३) मालिनी-विजय-वार्तिक, (४) तन्त्रालोक, (५) तन्त्रसार, (६) तन्त्रवटधानिका। ये सभी ग्रंथ-काश्मीरक शैव-दर्शन तथा शैव तन्त्र के हैं।

(७) अभिनव भारती—(नाट्यशास्त्र–व्याख्या), (८) ध्वन्यालोक-लोचन (ध्वन्यालोक-व्याख्या)। ये दोनों ग्रन्थ अलङ्कार-शास्त्र तथा नाट्य-शास्त्र पर व्याख्यान हैं।

(९) भगवद्गीतार्थसंग्रह, (१०) परमार्थसार, (११) ईश्वरप्रत्य-भिज्ञा विमर्शिणी, (११) ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विवृत्ति-विमर्शिणी (१३) क्रम-स्तोत्र, (१४) भैरवस्तोत्र, (१५) देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र, (१६) अनुभव-विवेचन, (१७) अनुत्तराष्टिका, (१८) परार्थद्वादशिका, (१९) परमार्थ-चर्चा तथा (२०) महोपदेशविंशतिकम्। संख्या (१३) से (२०) तक की रच-नाएँ स्तोत्रात्मक तथा छोटी-छोटी हैं। (२१) तन्त्रोच्चय, (२२) घटकर्पर-कुलक-विवृति, (२३) क्रमकेलि, (२४) शिवदृष्ट्यालोचन, (२५) पूर्व-पञ्चिका (२६) पदार्थप्रवेशनिर्णय-टीका, (२७) प्रकीर्णकविवरण, (२८) प्रकरण(स्तोत्र)–विवरण, (२९) काव्यकौतुक-विवरण (भट्टतोत कृत काव्यकौतुक नामक अलङ्कारशास्त्रीय ग्रन्थ की व्याख्या), (३०) कथामुख-तिलक, (३१) लघ्वीप्रक्रिया, (३२) भेदवाद-विवरण, (३३) देवीस्तोत्र-विवरण, (३४) तत्वाध्व-प्रकाशिका, (३५) शिवभक्त्यविनाभावस्तोत्र। (इनमें २३ से ३५ तक के ग्रन्थ भी सम्प्रति उपलब्ध नहीं होते हैं इनके अभि-नवगुप्त के ग्रन्थों में उल्लेख मात्र प्राप्त होते हैं।) इसके अतिरिक्त इनके नाम से कुछ सूचीपत्रों में अन्य कुछ ग्रंथ-विवरण भी मिलते हैं। (१) बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद, (२) अनुत्तरतत्व-विमर्शिणी-वृत्ति, (३) नाट्यालोचन, (४) परमार्थसंग्रह तथा (५) अनुत्तरशतक।

इन ग्रन्थों को विषय विभाजन की दृष्टि से (१) साहित्यशास्त्रीय (या काव्यशास्त्रीय) ग्रन्थ, (२) दार्शनिक, (३) तान्त्रिक तथा प्रकीर्ण विभागों में बाँटा जा सकता है। इनकी रचनाओं का सबसे बड़ा भाग तान्त्रिक ग्रंथों का है। दार्शनिक ग्रंथों में प्रत्यभिज्ञा-दर्शन पर तथा गीता पर लिखित व्याख्यान आदि ग्रन्थ आते हैं। साहित्यिक ग्रन्थों में अभिनव-भारती, ध्वन्यालोक-लोचन नामक दो शास्त्रीय विवेचन के टीका ग्रन्थ, घटकर्पर-विवरण-काव्य व्याख्या तथा एक अप्राप्य ग्रन्थ काव्य-कौतुक (भट्टतोत के ग्रन्थ) का विवरण है। प्रकीर्ण ग्रन्थों में इनके शेष स्तोत्र आदि सभी ग्रन्थों को लिया जा सकता है।

इनके साहित्य शास्त्र के प्राप्य दो ग्रन्थ हैं-एक ध्वन्यालोक-लोचन तथा दूसरा अभिनवभारती। यद्यपि ये क्रमशः आनन्दवर्द्धनाचार्य के ध्वन्यालोक तथा भरत मुनि के नाट्यशास्त्र की टीकाएँ हैं किन्तु इन्हें विद्वन्मण्डली में असाधारण मान्यता तथा आदर प्राप्त है। अपने विषयगत मौलिकता-पूर्ण विवेचन के आधार पर अभिनवगुप्त द्वारा निश्चित सिद्धान्तों को उन विषयों पर अन्तिम माना जाता था, इसी कारण अलंकारशास्त्र के उत्तर कालीन समग्र प्रतिभाशाली ग्रन्थकार एवं विवेचक किसी न किसी रूप में अभिनवगुप्त की अधमर्णता स्वीकारते ही हैं। इस प्रकार संस्कृत साहित्य की जो सेवा इनके द्वारा की गयी उसके लिये समस्त भारत इनके प्रति आनत है तथा भारत में इनका पूत-व्यक्तित्व आद्यशंकराचार्य से किसी प्रकार कम स्थायी मूल्य नहीं रखता।

नाट्यशास्त्र के कुछ अन्य ज्ञात व्याख्याकार—इसके अतिरिक्त संगीतग्रन्थों के विवरण से कुछ और नाटचशास्त्रीय व्याख्यानों का पता लगता है, जिनमें संगीत-शिरोमणि ग्रंथ के अनुसार नाटचशास्त्र पर 'भरत-बाल-बोध' व्याख्या लिखी गयी थी। संगीत-रत्नाकर की आन्ध्रव्याख्या में सिंगाचार्य कृत 'भरत-मिति' व्याख्या का उल्लेख उन्हीं के पौत्र ने किया है। सिंगाचार्य का स्थितिकाल १४ वीं शती था। इसके अतिरिक्त कांची के शासक शम्भुराज (समय १३४० ई०) ने भी नाटचशास्त्र पर एक व्याख्या लिखी थी जिसका उल्लेख पण्डितमण्डली ने किया है। म० म० रामकृष्ण कवि के अनुसार 'भरतोत्तर' नामक व्याख्या आचार्य कीर्तिधर के द्वारा नाटचशास्त्र पर लिखी गयी थी। इसका अधिक विवरण प्राप्त नहीं होता। सोलहवीं शती के आसपास श्री रंगराज ने भी नाटच-शास्त्र पर एक व्याख्या लिखी थी जिसका उल्लेख अच्युतराय ने अपने तालाब्धि ग्रंथ में किया है। (अच्युतराय का स्थितिकाल सन् १५४० ई० या सोलहवीं शती है)। इस व्याख्या का नाम था 'नाटचभाष्यम्'।

नाट्य-साहित्य के उत्तरकालीन-ग्रन्थकार

धनञ्जय—धनञ्जय ने दशरूपक की रचना दशवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में की जिसमें नाटचशास्त्र में विद्यमान सामग्री के आधार पर संक्षिप्त विषय सामग्री के साथ केवल रूपकों के विवेचन मात्र से सम्बद्ध तत्वों का विवरण दिया गया है। इस समय अलंकार-शास्त्र को स्वतंत्र रूप में प्रस्तुत करने की धारा प्रचलित हो गयी थी तथा नाटचशास्त्र के अंगरूप में काव्यशास्त्र का विवेचन अब बन्द-सा था। इस बीच नाट्य पर भी जो अनेक प्रकरणग्रन्थ लिखे जा रहे थे धनञ्जय उन्हीं की परम्परा में प्रमुख थे। ये विष्णु के पुत्र तथा मालवा के परमारवंशीय शासक मुंज वाक्पतिराज द्वितीय (उपनाम पृथ्वी वल्लभ) की राजसभा के पण्डित थे। इन्हीं के भाई धनञ्जय ने दशरूपक पर अवलोकवृति लिखी, जिसमें धनिक के लक्षणों की सोदाहरण

विवेचना की गयी है। धनञ्जय भी अपने अग्रज की भांति मुंज का सभा-पण्डित था। इस समय तक नाट्य का विवेचन रूपक लक्षणों के विवेचन तक केन्द्रित होकर संकुचित रूप ले चुका था।

दशरूपक पर बहुरूप मिश्र, भट्टनृसिंह, देवपाणि तथा क्षौणीधर मिश्र की प्राचीन टीकाएँ हैं। लोकप्रियग्रन्थ होने से इसके अनेक संस्करण हो चुके हैं।

सागरनन्दी—इनकी रचना है नाटक-लक्षण-रत्नकोष। सागरनन्दी का स्थितिकाल धनञ्जय के तथा भोज के उत्तरकालीन होने से ग्यारहवीं शती का अन्तिम भाग ठहरता है। सागरनन्दी ने धनञ्जय की तरह नाटक-लक्षण का विस्तार से विवेचन किया है तथा इससे सम्बन्ध सभी विषयों तथा रूपकों के प्रकारों का विस्तार से विवरण दिया है। यद्यपि तुलनात्मक रूप से अन्य नाट्याचार्यों को भी प्रस्तुत करना ग्रंथकार को इष्ट रहा, किन्तु यह ग्रन्थ सर्वाधिक रूप में भरत मुनि के नाट्यशास्त्र पर ही निर्भर है, जिससे उसने सर्वाधिक उद्धरण प्रमाण के लिये प्रस्तुत भी किये हैं। सागरनन्दी ने नाट्य के अभिनय अंग की संक्षेप में चर्चा मात्र की। सागरनन्दी के इस ग्रन्थ से ही हमें अनेक नाट्यशास्त्र के अनेक अज्ञात आचार्यों के नाम तथा उनके नाट्यविषयों पर स्वतन्त्र मन्तव्यों का परिज्ञान होता है। इस ग्रन्थ की सन् १९२२ ई० में प्रो० सिल्वा लेवी को नेपाल से एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई थी जिसे प्रो० ए० डिल्लन ने सम्पादित कर इसका सन् १९३७ में एक संस्करण लन्दन से प्रकाशित करवाया था। सम्प्रति चौखम्बा से इसका हिन्दी व्याख्यान के साथ संशोधित संस्करण भी मैंने तैयार करके प्रकाशित करवाया है।

भोज—संस्कृत साहित्य के इतिहास में महाराजाधिराज भोज की प्रसिद्धि चतुर्दिक् व्याप्त है। ये हर्ष, हाल आदि की परंपरा में विद्वानों के पारखी तथा आश्रयदाता, गम्भीरतत्त्वविचारक एवं विविध शास्त्रतत्त्वों के विज्ञाता एवं अनेक ग्रन्थों के लेखक भी थे। यद्यपि इनके द्वारा गद्यकाव्य, अलंकारशास्त्र, धर्मशास्त्र, ज्योतिष, योगशास्त्र, व्याकरण, शिल्प एवं वास्तु-विद्या आदि पर भी ग्रन्थ लिखे गये, परन्तु अलंकार-शास्त्र के ये मार्मिक एवं मौलिकग्रन्थकार भी हैं। इनके अलंकार शास्त्र पर दो प्रसिद्ध ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध हैं—(१) सरस्वतीकण्ठाभरण तथा (२) शृंगारप्रकाश। यद्यपि ये दोनों मूलतः अलंकारशास्त्र के ग्रन्थ हैं तथापि शृङ्गार-प्रकाश के बारहवें प्रकाश में नाट्य तथा उसके अंगों का विस्तार से विवेचन है जो दशरूपक से भिन्न है। इनके मत में दृश्यकाव्य की अपेक्षा श्रव्यकाव्य का क्षेत्र व्यापक है, अतः नाट्यशास्त्र अलङ्कारशास्त्र का अङ्गीभूत है। सम्प्रति अलङ्कारशास्त्र पर इनके सबसे विस्तीर्ण ग्रन्थ शृङ्गारप्रकाश का प्रकाशन आरम्भ होकर इसके लगभग २४ अध्याय प्रकाशित हो चुके हैं। पूरे ग्रंथ का प्रकाशन निस्सन्देह न केवल महत्त्वपूर्ण ही है, वाञ्छित भी (जो अब पूर्ण हो गया है)।

इनका स्थितिकाल एकादश शताब्दी का पूर्वार्ध है, अतः काव्यप्रकाशकार मम्मट के ये किंचित् पूर्व में विद्यमान थे यह स्पष्ट है।

आचार्य हेमचन्द्र—आचार्य हेमचन्द्र की काव्य-नाट्यविषयक प्रसिद्ध रचना है 'काव्यानुशासन' जिस पर स्वयं आचार्य हेमचन्द्र ने विवेक नामक व्याख्यान किया है। इस ग्रन्थ में अलङ्कार-शास्त्र का पूर्ण विवेचन है पर आनुषंगिक रूप में नाट्य पर भी थोड़ा विचार मिलता है, जिनमें रूपकों के भेदों तथा रस-सूत्र पर विवरण भरत के आधार पर है। ये जैन आचार्य तथा अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान् तथा जयसिंह सिद्धराज और उनके उत्तराधिकारी शासक कुमारपाल के गुरु थे। अतः इनका स्थितिकाल बारहवीं शती माना जाता है। इन्होंने व्याकरणादि अनेक शास्त्रों पर भी अनेक मौलिक ग्रंथ लिखे थे।

रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र—रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र सुप्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य थे। इनकी सम्मिलित रचना है 'नाट्यदर्पणसूत्र। मूलग्रंथ कारिका रूप में है जिसकी वृत्ति भी दोनों आचार्यों ने लिखी थी और जिसमें अभिनवगुप्त विरचित नाट्यशास्त्र व्याख्या अभिनवभारती का पर्याप्त उपयोग किया गया है। कारिका तथा वृत्ति दोनों में इन्होंने नाट्यशास्त्र के कुछेक व्याख्याकारों तथा प्रकरण-ग्रंथों की आलोचना भी की है, जिनमें धनंजय का दशरूपक भी एक है। इसमें भी सामयिक प्रवृत्ति के अनुसार नाटक रचना के विषय में ही अधिक विवेचन है, नाट्य के अन्य अङ्ग अभिनयादि का विशद विवेचन नहीं। रामचन्द्र इसके अतिरिक्त अनेक ग्रंथों के रचयिता भी थे जब कि गुणचन्द्र के विषय में इससे अधिक ज्ञात नहीं है। इनके ग्रन्थ में भरत, कोहल तथा वृद्धभरत आदि के उद्धरण या मत मिलते हैं। एक दन्तकथा के आधार पर ज्ञात होता है कि राजा अजयपाल के आदेश पर जलते हुए ताम्रपट्ट पर खड़े होने का दण्ड मिलने से रामचन्द्र का देहावसान हुआ। हेमचन्द्र आचार्य के समकालीन होने से इनका स्थितिकाल भी बारहवीं शती माना जाता है।

रुय्यक—रुय्यक या रुचक काश्मीर के निवासी थे, जिनका स्थितिकाल लगभग १२ वीं शती था। अलङ्कार-सर्वस्व तथा सहृदयलीला के सुप्रसिद्ध रचयिता होने के अतिरिक्त इन्होंने महिमभट्ट के व्यक्ति-विवेक पर टीका भी लिखी थी। इसके अतिरिक्त नाटक-मीमांसा का भी स्वरचित ग्रन्थ के रूप में रुय्यक ने उल्लेख किया परन्तु यह ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध नहीं है।

शारदातनय—भरत-मुनि के नाट्यशास्त्र के पश्चात् नाट्यशास्त्र पर दूसरा विस्तीर्ण ग्रन्थ शारदातनय का 'भावप्रकाशन' है। शारदातनय के स्वयं लिखित विवरण के अनुसार इसका गोत्र काश्यप था तथा पितामह का नाम लक्ष्मणभट्ट था, जो वेद के परम विद्वान् थे। लक्ष्मणभट्ट ने काशी में शिव की भक्ति की तथा उन्हीं की कृपा से एक पुत्र प्राप्त किया, जिसका नाम भट्ट-

गोपाल रखा, जो अष्टादश विद्याओं के पारंगत विद्वान् थे। गोपालभट्ट ने शारदादेवी की उपासना की तथा उनसे प्राप्त वरदान के परिणाम-स्वरूप एक पुत्र प्राप्त किया तथा जिसका नाम शारदातनय रखा। शारदातनय ने अपने वेदशास्त्रादि अध्ययन के अतिरिक्त नाट्यशाला के निर्देशक तथा नाट्यविद्या के आचार्य दिवाकर से नाट्यविद्या भी ग्रहण की थी। आचार्य दिवाकर ने नाट्यशास्त्र पर एक स्वतंत्र ग्रंथ लिखा था, जिसका पूर्णसरस्वती की मेघदूत की व्याख्या में एक उद्धरण भी मिलता है। इनका निवास आर्यावर्त या उत्तर भारत में मेरुत्तर जनपद का माठर-पूजा गाँव था, जिसे वर्तमान में मेरठ माना जा सकता है। इनके पिता भट्टगोपाल ने काव्य-प्रकाश पर व्याख्या भी लिखी थी। शारदातनय ने भोज तथा मम्मट का अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है, अतः इनका स्थितिकाल तेरहवीं शती का आरम्भ माना जाता है।

ग्रन्थकार ने यद्यपि अपने ग्रन्थ में अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों का आधार सामान्यतः स्वीकार किया है, तथापि उनके विषय प्रतिपादन की शैली तथा विषय के उपस्थापन का दृष्टिकोण मौलिक है। इनमें नाट्य के विषय को भाव के आधार पर ग्रहण करते हुए यह दिखलाने की सप्रमाण चेष्टा की गयी है कि नाट्य में भावों का प्रकाशन मुख्यतः प्रतिपाद्य है। इसी को केन्द्र बिन्दु मानने के कारण अपने ग्रन्थ का नाम भी इन्होंने भाव प्रकाशन रखा, जिसमें भरतमुनि से लेकर तत्कालीन समस्त नाट्यशास्त्रीय विषय-विवेचन को प्रस्तुत किया गया है। इसमें विद्यमान विषयों में भाव, रस, नायकादिस्वरूप, नाटकादि रूपकों के प्रकार तथा कथावस्तु के विशद विवेचन के अतिरिक्त अभिनयादि के प्रसंगों को भी उठाया गया है। इसमें भरत, कोहल, मातृगुप्त, हर्ष, सुबन्धु जैसे पूर्ववर्त्ती नाट्यशास्त्रकारों का आधार लेते हुए रुद्रट, भोज, धनिक तथा आचार्य अभिनवगुप्त, मम्मट आदि का भी यथास्थान (मत दिखलाते हुए) उल्लेख किया गया है। अपनी युगीन-प्रवृत्ति का अपवाद नहीं होने से नाट्य के समग्र अंगों की अपेक्षा रूपकों से सम्बद्ध विषयों के ही आस पास दशरूपक की तरह घूमते हुए ये ग्रंथकार भी दिखाई देते हैं। तेरहवीं शती के आसपास उत्तर भारत की राजनीतिक स्थिति के परिवर्तन के कारण एक तो नाट्यशालाओं तथा नाट्यप्रदर्शन की उत्कृष्ट परम्परा समाप्तप्राय हो चली थी, दूसरे नाटक के स्वरूपादि का संक्षिप्त विवरण काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में अंगभूत बनाते हुए रखे जाने की प्रवृत्ति ने अधिक प्रचलन प्राप्त कर लिया था। फलतः अनेक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में से नाट्यविषयक नायिकाभेद का ही पल्लवन होने लगा तथा अन्य ग्रंथों में रस तथा रूपकादि पर एक औपचारिक विवरण दिया जाने लगा, फिर भी इस काल में रचनाएँ इस लोक में रहकर भी उल्लेख्य स्थान रखती हैं। इस क्रम में सिंहभूपाल का रसार्णवसुधाकर तथा नाटक-परिभाषा, विश्वनाथ कविराज कृत

साहित्य-दर्पण, रूपगोस्वामी की नाटकचन्द्रिका, विद्यानाथ का प्रताप-रुद्र-यशोभूषण आदि ग्रंथ आते हैं।

सिंहभूपाल—सिंहभूपाल की सुप्रसिद्ध नाट्यशास्त्रीय कृति है 'रसार्णव-सुधाकर'। इस ग्रन्थ में ग्रंथकार द्वारा स्वयं प्रदत्त परिचय के अनुसार सिंह-भूपाल रेचल्लवंशीय अनपोत या (अपर नाम) अनन्त के पुत्र थे, इनकी माता का नाम अनम्मा था। ये अपनी वंशपरम्परा से चलने वाली राजाचल राज-धानी में रहकर शासन करते थे तथा इनके राज्य की सीमा विन्ध्याचल तथा श्रीशैल पर्वत का मध्यवर्ती भूमण्डल था। इनकी वंशावली के आधार पर इनका स्थितिकाल ईसवी १३१० या चतुर्दश शताब्दी का प्रथम चरण था। सिंहभूपाल विद्वान् तथा विद्वानों का आश्रयदाता था। सिंहभूपाल ने नाट्य तथा संगीत आदि विषयों पर अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। सम्प्रति इनके रसार्णवसुधाकर तथा नाटकपरिभाषा नामक नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ, कुवल-यावली नाटिका तथा संगीत-रत्नाकर व्याख्या उपलब्ध है। रसार्णवसुधाकर भी दशरूपक के समानही नाट्यशास्त्रीय प्रकरण ग्रंथ है जिसमें पर्याप्त विस्तार एवं सुबोध पद्धति से दशरूपकों के लक्षण प्रतिपादित किये गये हैं। यह ग्रंथ रूपकों से सम्बद्ध संपूर्ण विषयों का साधिकार प्रतिपादन करने में सक्षम होने के कारण नाट्यशास्त्रीय ग्रंथों में अप्रतिम स्थान रखता है इसमें सन्देह नहीं। इनकी नाटकपरिभाषा भी सम्प्रति प्राप्य हो गयी है।

विश्वनाथ कविराज—विश्वनाथ कविराज का परमलोकप्रिय तथा प्रसिद्ध ग्रंथ है 'साहित्य-दर्पण' जो मूलतः अलङ्कारशास्त्रीय ग्रंथ है। इसी के षष्ठ परि-च्छेद में नाटकीय तत्वों का विवेचन करते हुए ग्रंथकार ने पूर्ववर्ती नाट्याचार्यों के वर्णित विषयों एवं सिद्धान्तों का संक्षिप्त एवं समग्र विवरण दिया है। इसमें नाट्यलक्षण, रूपकों के विभेद तथा उपभेद एवं अर्थ प्रकृति, सन्धि आदि सभी अंगों का सोदाहरण लक्षण निरूपित किया गया है।

विश्वनाथ कविराज उत्तम ब्राह्मण-वंश में उत्कल देश में उत्पन्न हुए थे। इनके पिता चन्द्रशेखर महापात्र स्वयं भी उत्कृष्ट कोटि के कवि तथा महामंत्री थे जिनकी रचनाओं में पुष्पमाला नाटिका तथा भाषार्णव ग्रन्थ मुख्य हैं। विश्वनाथ कविराज की प्रतिष्ठा साहित्यदर्पण से परमोच्च है किन्तु इसके अति-रिक्त इनकी अन्य रचनाओं का भी साहित्यदर्पण में उल्लेख मिलता है जिनमें सम्प्रति चन्द्रकलानाटिका प्रकाशित है तथा काव्यप्रकाशटीका दर्पण की हस्त लिखित प्रति उपलब्ध है।

विश्वनाथ कविराज कलिंगराज निश्शंक भानुदेव चतुर्थ के सभा-पण्डि थे, अतः इनका स्थितिकाल (१४३० ई०) पन्द्रहवीं शती का प्रथम चरण माना जाता है।

नाटचशास्त्रीय प्रकरण ग्रंथों के इस क्रम में आगे चलकर विद्यानाथ के प्रताप–रुद्रयशोभूषण, रूपगोस्वामी कृत नाटक-चन्द्रिका (१६ वीं शती), सुन्दर-मिश्र कृत नाटच-प्रदीप तथा कामराज दीक्षित के काव्येंदु-प्रकाश जैसे ग्रन्थ आते हैं जिनमें नाटचशास्त्रीय विवरण एक ही क्रम पर नाटकादि लक्षण तक सीमित क्षेत्र में चलता रहता है । इन सभी प्रकरण ग्रंथों में नाट्यशास्त्र में वर्णित संगीत, नृत्यवाद्य आदि अंश को संगीत-शास्त्रीय ग्रंथों के लिये छोड़ दिया गया, किन्तु इसके अतिरिक्त प्रेक्षागृह, नाट्य-लक्षण, प्रवृति आदि के स्वरूप तक की चर्चा नहीं की गयी जो नाट्य के लिये परमोपयोगी थे । इन ग्रन्थों में यदि कुछ नयापन है तो यह केवल सन्ध्यंगों आदि के कुछ नवीन उदाहरणों को देने की विशष्टता मात्र ही है । आचार्य अभिनवगुप्त ने वैसे नाटक के सभी सन्ध्यंग, नाट्यागों आदि के उदाहरण अपनी प्रसिद्ध व्याख्या अभिनव-भारती में दे ही दिये थे, नये सिद्धान्तों को भी उद्भावित किया था और अलङ्कार-शास्त्र के सदृश नाट्यशास्त्रीय तत्वों को दार्शनिक आधार देकर विवेचित भी किया था, किन्तु किसी अन्य आचार्य ने आगे चलकर नाट्य-के तत्वों का विशद विवेचन तथा नवीन सिद्धान्तों का उद्भावन नहीं किया, केवल उनको संक्षिप्त करने के प्रयास में ही लगे रहे ।

यद्यपि शारदातनय ने अभिनवगुप्त के मार्ग के अनुसरण करने की बात अवश्य कही किन्तु विषय की उपस्थापना में अभिनवगुप्त के आगे वह भी नहीं बढ़ पाया जैसा कि एक उत्तरभावी आचार्य से अपेक्षित था । इस प्रकार आरम्भ में जहाँ नाट्यशास्त्र का अंग होकर अलङ्कारशास्त्र चलता था, अब इसी के ठीक विपरीत नाट्यशास्त्रीय तत्वों को काव्यशास्त्र के अंग के रूप में विवेचित किया जाने लगा ।

नाट्यशास्त्र का रचनाकाल

पिछले एक शतक से नाटचशास्त्र के रचयिता भरतमुनि के व्यक्तित्व के विषय की तरह नाटचशास्त्र की रचनाकाल के विषय में भी विद्वानों ने श्रम-पूर्वक अन्वेषण किया और उनका यह प्रयास अनेक निष्कर्षों के निकालने पर भी फलप्रद ही रहा । इस क्रम में प्रथम उद्योग नाटचशास्त्र के १–१४ अध्याय के सम्पादक पी० रेग्नों तथा जे० ग्रॉसे (P. Regnand and J. Gross-et) ने किया तथा नाटचशास्त्र का रचनाकाल इसके काव्यशास्त्रीय तथा छन्द-शास्त्रीय स्वरूप को दृष्टिगत रखते हुए इनने ईसवीसन से कम से कम एक शती पूर्व निर्धारित किया । इसके पश्चात् म० म० हरप्रसाद शास्त्री ने नाटच-शास्त्र के विभिन्न तत्वों के विश्लेषणों के उपरान्त इसका निर्माण काल पी० रेग्नों की तरह ईसा पूर्व दो शती निर्धारित किया । कर्नल श्रीजेकबी ने नाटच-शास्त्र की प्राकृतभाषा के अंशों का विश्लेषण करते हुए नाटचशास्त्र का रचना काल ईसा की तीसरी शती निर्धारित कर डाला । श्री प्रो० सिल्वा लेवी ने

नाटचशास्त्र में प्रयुक्त कुछ शब्दों के आधार पर नाटचशास्त्र का समय निश्चित करने का उद्योग किया। इनके मत में स्वामी, सुगृहीतनामा, भद्रमुख आदि शब्दों के प्रयोग के आधार पर नाटचशास्त्र का समय निश्चित होता है, क्योंकि स्वामी, भद्रमुख आदि शब्दों का प्रयोग नहपाण तथा चष्टन क्षत्रपों के शिलालेखों में आया है। इसके अतिरिक्त शक, यवन, पह्लव आदि आक्रमणकारी जातियों का भी नाटचशास्त्र में विवरण मिलता है। अतएव शिलालेखों में प्रयुक्त उपर्युक्त शब्दों के साम्य तथा शक आदि जातियों के उल्लेख के कारण नाटचशास्त्र का रचनाकाल ईसवी दूसरी शती अर्थात् इन क्षत्रपों के स्थितिकाल के आसपास का समय है। इसी प्रकार श्री डॉ० डी० सी० सरकार ने भी प्राचीन शिलालेखों के आधार पर तथा नाटचशास्त्र में प्रयुक्त नेपाल तथा महाराष्ट्र शब्द के आधार पर नाटचशास्त्र का रचनाकाल दूसरी शती ईसवी के बाद का बतलाया, क्योंकि नेपाल शब्द का प्रथम उल्लेख समुद्रगुप्त प्रशस्ति में तथा महाराष्ट्र शब्द का महावंश (ईसा पूर्व ५वीं शती) तथा ऐहोल अभिलेख (ई० ६३४) में मिलता है। म० म० पी० व्ही० काणे ने इस आधार का निषेध करते हुए यह प्रतिपादित किया कि ऐसा क्यों न माना जाए कि इन देशों का प्रथम उल्लेख नाटचशास्त्र में ही हुआ है क्योंकि प्रथम उल्लेख होने से यह निश्चय नहीं हो सकता कि इन देशों के इसके पूर्व ये नाम ही नहीं थे तथा इन शिलालेखों में इन देशों के पश्चाद्भावी काल में उल्लेख होने से नाटचशास्त्र का रचना काल आगे नहीं बढ़ाया जा सकता है। सेतुबन्ध काव्य (प्रवरसेनप्रणीत) में महाराष्ट्री प्राकृत का जिस परिष्कृत रूप में प्रयोग हुआ है उससे महाराष्ट्री प्रयोग करने वाले जनपद का इन शिलालेखों के रचनाकाल के सदियों पूर्व अस्तित्व का अनुमान लगाया जा सकता है। म० म० काणे के अनुसार नाटचशास्त्र में उल्लिखित विश्वकर्मा, पूर्वाचार्य, कामसूत्र, कामतन्त्र, बृहस्पति, नारद, तण्डु, पाशुपत आदि के उल्लेख से नाटचशास्त्र का काल ईस्वी सन् के प्रारम्भ से पूर्वभावीकाल की ओर अधिक नहीं बढ़ाया जा सकता है किन्तु इसके बाद की तिथि को ही अधिक निश्चय के साथ स्वीकार किया जा सकता है। कालिदास ने स्पष्ट रूप से विक्रमोर्वशीय में भरतमुनि को नाटचशास्त्र का आचार्य स्वीकृत कर उनके द्वारा स्वीकृत आठ रसों की भी चर्चा की है। दामोदरगुप्त के कुट्टनीमत ने नाटचशास्त्र के विभिन्न तथ्यों की सूचना दी है। बाण ने भरत प्रवर्तित संगीत का उल्लेख किया है। नाटचशास्त्र में केवल चार अलंकारों का ही उल्लेख मिलता है जब कि दण्डी, भामह आदि द्वारा इनकी संख्या को तीस तक पहुँचाया गया था। इन सबसे यही सिद्ध होता है कि छठी सदी तक नाटचशास्त्र का पाठ (जो वर्तमान में भी है) स्थिर हो चुका था। याज्ञवल्क्यस्मृति में गीत-विभेदों के प्रसङ्ग में

स्पष्ट ही नाट्यशास्त्र की चर्चा है तथा गाथा-सप्तशती में नाट्यशास्त्र के वर्णित पूर्व-रङ्ग का उल्लेख विद्यमान है। इसलिये दूसरी शताब्दी तक तो इसकी पूर्वतिथि ही पहुँचाती है। अतः इन सभी बातों के आधार पर इन तिथियों के पूर्वभावी काल में नाट्यशास्त्र का रचना काल मानना चाहिए जो ईसवी सदी के आरम्भ से बहुत पहले नहीं था तथा जिसे ईसवी सन् से कुछ बाद का मानना अधिक निश्चय के साथ हो सकता है, अतः ईसवी पूर्व पहली शती से दूसरी शती का मध्यवर्ती काल नाट्यशास्त्र का रचना-काल है।

श्री ए० बी० कीथ तथा श्री रेप्सन ने नाट्यशास्त्र का रचना काल तीसरी शती मानते हुए इससे अधिक उत्तरभाविता का प्रतिषेध किया। डॉ० श्री मनोमोहन घोष ने नाट्यशात्र के अंग्रेजी भाषान्तर की भूमिका में भाषा वैज्ञानिक, छन्दःशास्त्रीय भौगोलिक, जाति आदि सामग्री के आधार तथा काव्यशास्त्र, संगीतशास्त्र, कामशास्त्र एवं बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र के ऐतिहासिक साक्ष्य तथा अभिलेखों की सामग्री के प्रकाश में नाट्यशास्त्र के रचनाकाल पर विस्तार से विचार किया है। इनका मत है कि प्रवृत्तियों के साथ भौगोलिक अभिधानों की संयोजना महाभारत तथा अन्य पुराणों के अनुकरण पर नाट्यशास्त्र में भी संयोजित की गयी हैं। प्रॉ० सिलवां लेवी के मत से किंचित् सहमति बतलाते हुए श्री म० म० घोष ने क्षत्रपादि के अभिलेखों में विद्यमान नाट्यशास्त्रीय समताओं की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए बतलाया कि इनमें प्रयुक्त गान्धर्व, सौष्ठव तथा नियुद्ध शब्द नाट्यशास्त्र की परिभाषा के अधिक अनुकूल है। अतः नाट्यशास्त्र का स्थितिकाल दूसरी शती से तो पूर्वभावी है ही। कालिदास ने अंगहार, वृत्ति, सन्धि, प्रयोग, नृत्त, पात्र, सौष्ठव, उपवहन, वस्तु, माधुरी, मार्जना जैसे नाट्यशास्त्रीय शब्दों का प्रयोग किया है, अतः कालिदास नाट्यशास्त्र से पूर्ण परिचित थे, यह स्पष्ट है।

भास भी नाट्यशास्त्र से परिचित अवश्य थे, यह स्पष्ट है। इसका कारण है भास की नाट्यरचनाओं में विदूषक, प्रस्तावना, सूत्रधार, मारिष, हाव, भाव, प्रेक्षक, चारी, गति, भद्रमुख जैसे नाट्यशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग होना। इसके अतिरिक्त भास ने नाटक की काल संवादिता, काकु के नियम नृत्तोप्रदेश आदि को नाट्यशास्त्र के नियमों के आधार पर ही निर्दिष्ट किया है। इसलिये नाट्यशास्त्र का समय भास से निश्चित ही पूर्ववर्ती है। श्री म० म० गणपति शास्त्री ने भास का समय (ईसा से पूर्वभावी) कौटिल्य से भी प्राचीन माना है। श्री ए० डी० पुसलकर ने भास की संक्षिप्त, सरल तथा ललित भाषा के प्रयोग के आधार पर (ऐसी संस्कृत को तत्कालीन व्यवहार भाषा मानते हुए) भास का समय पाणिनि के पश्चात् तथा कात्यायन के पूर्ववर्ती स्वीकार किया है (अर्थात् ईसा से ३५० वर्ष पूर्व)। इसके अतिरिक्त भास द्वारा प्रयुक्त प्राकृत भाषा के अनुशीलन से न केवल डॉ० पुसलकर

के मत का समर्थन ही होता है किन्तु प्राकृत भाषा के आधार पर भास का स्थितिकाल कौटिल्य से पूर्ववर्ती स्थापित भी हो जाता है जो म० म० गणपति शास्त्री को भी मान्य है। इस प्रकार सरलता से भास का स्थितिकाल ईसा पूर्व ३५० से ४०० ई० के मध्य निर्धारित हो जाता है। भास के द्वारा नाट्य-शास्त्र का ज्ञान रहने की बात पूर्व में कही जा चुकी है, अतः नाट्यशास्त्र भास के पूर्ववर्ती है। इस स्थिति में नाट्यशास्त्र का स्थितिकाल ईसवी पूर्व ५०० हो जाता है। म० म० रामकृष्ण कवि भी नाट्यशास्त्र के परिशीलन के उपरान्त इसी निष्कर्ष पर पहुँचे थे। इस प्रकार श्री डॉ० मनोमोहन घोष के द्वारा जो प्रमाण प्रस्तुत किये गये वे स्वीकार्य प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त श्री घोष ने भारत के सांस्कृतिक इतिहास तथा भौगोलिक तथ्यों का भी नाट्यशास्त्र के स्थितिकाल के निश्चय हेतु पुष्ट आधार दिया है जिन पर हम प्रस्तुत नाट्यशास्त्र के द्वितीय खण्ड की भूमिका से सम्बद्ध अध्यायादि के प्रसंग में पुनः विचार करेंगे।

श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने नाट्यशास्त्र के स्थितिकाल का विवेचन करते हुए लिखा है कि यद्यपि इसके काल की अन्तिम सीमा भास तक पहुँचती है कन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह इससे पहिले नहीं पहुँचायी जा सकती है चूँकि भास के पूर्व विद्यमान किसी लेखक की सम्प्रति ऐसी नाटयरचनाएँ नहीं मिलीं जिनमें नाटयशास्त्र का उल्लेख मिलता हो। यदि ऐसी रचनाएँ आज हमारे सम्मुख विद्यमान रहती तथा उनमें नाटयशास्त्र का प्रभाव दृष्टि-गत न हो पाता तो निश्चय किया जाता कि नाटयशास्त्र भास से अधिक पूर्व-कालीन नहीं है। परन्तु यदि ऐसा कोई प्रमाण न हो तो फिर नाट्यशास्त्र की भास के स्थिति काल तक ही सीमा रखना अनुचित होगा। श्री पोद्दार के मत के अनुसार नाट्यशास्त्र का स्थितिकाल वैदिककाल के पश्चात् तथा पुराणकाल के पूर्व है जिसकी पूर्वसीमा भास तक सम्प्रति मानी जा सकती है।

इस प्रकार नाट्यशास्त्र के स्थिति काल के विनिश्चय में प्रत्येक विवेचक विद्वान् ने पर्याप्त ऊहापोह किया है परन्तु इसे निश्रित काल विशेष में निर्भ्रान्त स्थिर करना कठिन है। यह निश्चित है कि नाट्यशास्त्र कालिदास तथा भास के पूर्ववर्ती है। अब यदि कालिदास तथा भास के स्थितिकाल में एक दो शताब्दियों का पूर्व पश्चात् भाव होता रहेगा तो नाट्यशास्त्र पर भी उसका प्रभाव अवश्य पड़ेगा ही। इस संदर्भ में हमारी दृष्टि नाट्यशास्त्र की उपरली सीमा ही पर पहुँचाती है जिसके प्रभाव की परिधि में भास तथा अश्वघोष जैसे प्राचीन नाट्यकार आते हैं।

यदि हम नाट्यशास्त्र के सूत्रभाष्य शैली के स्वरूप पर विचार करें तो इसकी अतिप्राचीनता स्पष्ट होगी। सूत्रकाल के आसपास रचित होने के कारण कदाचित् सूत्ररूप नाट्यशास्त्र को नाट्यवेद कहकर वेद सदृश सम्मान

भी दिया गया है। यदि नाट्यशास्त्र के इस सूक्षमय स्वरूप में उत्तरकाल में कुछ आर्याएँ या अन्य पद्यात्मक विवरण तथा यवनादि शब्द जुड़ते गये होंगे तो केवल इतने आधार को लेकर समग्र नाट्यशास्त्र को अर्वाचीन नहीं माना जा सकता। क्योंकि इसके प्रतिज्ञात स्वरूप के महत्वपूर्ण तथा अधिक विस्तृत भाग की रचना ईसवी पूर्व पाँचवी शती में हो गयी थी। यदि इसमें कुछ प्रक्षिप्तांश का समायोजन हुआ भी हो तो वह एक दो शती में यत्र-तत्र हुआ होगा जैसा कि अनेक पुराणों महाभारत आदि में भी हुआ है। ऐसी स्थिति डॉ श्री मनोमोहन घोष के तथा म० म० रामकृष्ण कवि के निष्कर्षों पर एक बार पुनः ध्यान जाता है क्योंकि ये दोनों नाट्यशास्त्र के अधिकारी विद्वान् तथा समग्र नाट्यशास्त्र के सम्पादक तथा अनुवादन भी थे। दोनों के विस्तीर्ण मनन का एक ही परिणाम है—नाट्यशास्त्र का ईसा पूर्व पाँचवी शती में स्थिति-काल निर्धारण, जो स्वीकार्य ही प्रतीत होता है।

इन सभी निष्कर्षों को दृष्टि में रखने पर यह अनुमान सहज ही लगता है कि ईसा से पाँच शती पूर्व नाट्यशास्त्र का ऐसा रूप लोक-प्रसिद्धि अर्जित कर चुका था जिसमें भाव, रस, प्रेक्षागृह, नाट्याभिनय, रूपक-विभेद आदि का विवरण था तथा जिसका ज्ञान, भास, अश्वघोष तथा कालिदास जैसे नाट्यकारों को था। इसके बाद तो ऐसा कोई भी काव्य अथवा नाट्यशास्त्रीय आचार्य तथा कृतिकार नहीं था जो इसके प्रभाव क्षेत्र में अपनी रचना का निर्माता न हुआ हो। इस प्रकार स्पष्ट है कि ईस्वी पूर्व पाँचवी शती से पूर्व ही जब नटसूत्रादि के रूप में नाट्य-विद्या के प्रतिपादक ग्रन्थ पाणिनि की अष्टाध्यायी (समय ८०० ईसा पूर्व की रचना) के समय बन चुके थे तो इससे भी पूर्ववर्ती नाट्य-प्रयोग किसी सशक्त परम्परा से अनुप्राणित थे। अतएव पाणिनि के तीन सौ वर्ष पश्चात् नाट्यशास्त्र का रचनाकाल माना जाए तो यह प्रमाणिकता के अधिक समीप होगा जो निश्चित रूप में ईसा से पाँच शती पूर्ववर्ती है।

नाट्यशास्त्र में विवेचित विषय

नाट्यावतरण :—नाट्यशास्त्र के प्रथमाध्याय में आरम्भ में भरतमुनि ने ब्रह्मा तथा महेश्वर शिव कीं स्तुति करते हुए इन्हें क्रमशः नाट्य तथा नृत्य का जनक या प्रथम उपदेष्टा या प्रतिष्ठापक माना। ब्रह्मा ने ही वेदों तथा इसकी विविधशाखाओं से नाट्य-विधायक तत्वों को ग्रहण किया था। ब्रह्माजी ने तत्वों को ग्रहण कर नाट्यशास्त्र की चारों वेदों की गरिमा से मण्डित करते हुए ऐसा नाट्यवेद या पंचमवेद निर्माण किया जो सभी वर्णों के द्वारा समान रूप से अध्येय था (यह नाट्यवेद ही नाट्यशास्त्र है।) यहाँ प्रयुक्त नाट्यशास्त्र शब्द की व्याख्या अभिनवगुप्तपाद ने अभिनवभारती व्याख्या में की है तथा नाट्यवेद और नाट्यशास्त्र को समानार्थक बतलाया है। इसके साथ ही अभि-

नवगुप्त ने ब्रह्मा प्रदत्त ज्ञान से भरतमुनि को नाट्यविद्या की प्राप्ति का उल्लेख करते हुये वेदादि को ज्ञान का प्रतिपादक स्रोत मात्र मानकर नाट्यशास्त्र का कर्तृत्व भी भरत को ही प्रदान किया है। इसके साथ ही यह भी कि यह नाट्यशास्त्र सदाशिव, ब्रह्मा तथा भरत के मतों का विवेचक शास्त्र मात्र नहीं है, इस तथ्य को भी उनने दिखलाया है।

नाट्यशास्त्र के प्रतिपाद्य विषय तथा उसके प्रयोगादि को ध्यान में रखकर आरम्भ में ही ऋषिगण (एवं शिष्यगण ने) उनसे पाँच प्रश्न किये **प्रथम प्रश्न था**—नाट्यशास्त्र की रचना क्यों की गयी या यह क्यों उत्पन्न हुआ है ? इसका आशय यह है कि जब मानव जीवन के लिये निर्धारित पुरुषार्थों एवं इतिकर्तव्यता का वेद से ही ज्ञान हो जाता है तो फिर इस नवीन श्रम को क्यों किया जाए। इसी प्रश्न का अगला भाग है कि यह किसके लिये बनाया गया है। यह उपप्रश्न है–जिसका आशय है कि इस नाट्यवेद के अधिकारी कौन हैं जो वेद द्वारा उपदिष्ट होने से बच गये हैं ? इसी सन्दर्भ में उनका **दूसरा प्रश्न है**—इस नाट्यवेद के कितने विभाग हैं ? क्या इसके इतने विभाग हैं कि इसे सर्वाङ्गीणरूप से पृथक् से समझना आवश्यक होगा। **तीसरा प्रश्न है**–इस नाट्यवेद के कितने अंग है ? अर्थात् क्या नाटक विविध अंगों का संकलित रूप या दूसरे शब्दों में विविध कलाओं का समन्वित रूप है ? और यह भी कि क्या इन अंगों का सजीव शरीर के अंगों जैसा कोई पारस्परिक सम्बन्ध भी हैं ? **चौथा प्रश्न है**–नाट्य के अङ्गों को समझने के लिए आवश्यक प्रयोग कौन हैं। यदि ये अंग परस्पर सम्बद्ध हों तो इन अङ्गों को किसी विशेष प्रमाण से जानना आवश्यक है। यदि ऐसा हो तो वह विशेष प्रमाण कौन सा होगा। **पाँचवाँ प्रश्न है**—नाटक के (उपदिष्ट) अंगों का प्रदर्शन करते हुए इस नाट्य का प्रयोग किस प्रकार करना चाहिए। उपर्युक्त प्रश्नों तथा इनसे सम्बद्ध प्रश्नों के उत्तर ही भरतमुनि का नाट्यशास्त्र है।

इस प्रसङ्ग में इन प्रश्नों के उत्तर-क्रम में प्रथम प्रश्न के उत्तर में भरत मुनि ने देवों की प्रार्थना पर ब्रह्मा द्वारा सृष्ट सार्ववर्णिक पंचम वेद के रूप में सम्मानित नाट्यवेद की रचना की समग्र कथा बतलाते हुए उन परिस्थितियों का निदर्शन किया जिससे यह न केवल देवगणों के दृश्य-श्रव्य प्रयोजन को साधने वाला एक क्रीडनीयक बने अपितु उन लोगों के लिये भी वह एक आदर्श एवं अनुकरणीय पथ का प्रदाता हो जाए जिनके लिये वेद का पढ़ना निषिद्ध बतलाया गया है।

दूसरे प्रश्न के उत्तर में मुनि ने नाट्यवेद के विभागों को निर्दशित करते हुए इसके वाचिकाभिनय, संगीत, अभिनय तथा रस के विभाग को बतलाया।

तीसरे प्रश्न के उत्तर में मुनि ने बतलाया कि नाट्यवेद में निरूपित सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए नाटक मुख्यरूप से रस को प्रकट करता है, और अन्य कलाएँ इस रस को प्रभावशाली रूप में प्रकट करने में सहकारी

परस्पर वैसा ही सम्बन्ध होगा जैसा शरीर का अंगों के साथ रहता है। ये अंग परस्पर सम्बद्ध होकर जैसे एक पूर्ण शरीर बन जाते हैं वैसे ही ये कलाएँ परस्पर सम्बद्ध होकर नाट्य को पूर्णता प्रदान करती हैं।

चौथे प्रश्न का उत्तर है कि नाटक के विभिन्न भागों का ज्ञान आँख, कान जैसी दोनों इन्द्रियों की सहायता से होने के कारण इसका प्रमाण प्रत्यक्ष स्वीकृत है।

पाँचवे प्रश्न का उत्तर सम्पूर्ण नाट्यवेद है। मुनि ने अपने द्वारा उत्तरित इन पाँच प्रश्नों के परिवेश में नाट्यशास्त्र की उत्पत्ति के विषय में पुराण शैली में प्राचीन कथानक भी प्रस्तुत किया। नाट्यशास्त्र में उपलब्ध यह इतिहास विश्व में प्राप्य नाटकसाहित्य के उद्भव का सर्वाधिक महत्वशाली प्राचीन विवरण है। यह इस प्रकार है—

त्रेतायुग के आरम्भ में इन्द्रादि देवगण के अनुरोध को स्वीकार कर ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस ग्रहण कर नाट्यवेद की सृष्टि की यह सभी वर्णों के लिये ज्ञेय था। इसकी रचना कर ब्रह्मा ने देवगण के अनुरोध पर इस वेद की शिक्षा ऋषियों को देने का निश्चय कर भरतमुनि को इस नाट्यवेद की शिक्षा दी तथा उनको अपने-शतपुत्रों का सहयोग लेकर इसके प्रयोग प्रस्तुत करने का आदेश दिया। जब भरत मुनि ने अपने सौ पुत्रों को शिक्षा देकर ब्रह्मा के समक्ष अभिनय करवाया तो ब्रह्माजी ने इसमें कैशिकी वृत्ति की योजना का परामर्श दिया और इस प्रयोग के लिये मुनि द्वारा इष्ट स्त्री पात्रों की ब्रह्मा ने अप्सराओं को उत्पन्न कर पूर्ति भी की। तब मुनि ने इन्द्रध्वजमहोत्सव के शुभ अवसर पर अपना यह प्रयोग प्रस्तुत किया जिसमें देवासुर संग्राम में देवताओं की विजय का अभिनय किया गया था। इसे देखकर दैत्यगण रुष्ट हो गये और अभिनय में विघ्न उत्पन्न करने लगे। जब वे किसी प्रकार शान्त नहीं हुए तो नाट्यप्रयोग के रक्षणार्थ नाट्यगृह की आवश्यकता का अनुभव किया गया और तब विश्वकर्मा द्वारा एतदर्थ नाट्यगृह का निर्माण किया गया और विधिवत् रंगपूजा के साथ रंग के रक्षक देवगणों की भी प्रेक्षागृह में नियुक्ति की गयी।

इस प्रेक्षागृह में भरत ने पितामह ब्रह्मा द्वारा निर्मित 'अमृतमन्थन' समवकार को प्रस्तुत किया। इस प्रयोग में सभी देव एवं दैत्य गणों ने दर्शक के रूप में उपस्थित होकर अपने-अपने कर्म तथा भावों को प्रस्तुत होते देखकर प्रसन्नता व्यक्त की। तब फिर पितामह ब्रह्मा ने महेश्वर को इसी प्रयोग को बतलाने के लिये भरतमुनि को निर्देश दिया। उनके आदेशानुसार भरत ने हिमालय पर्वत के एक रमणीय शृंग पर पूर्वरंग-विधान पूर्वक अमृतमन्थन समवकार तथा त्रिपुरदाह नामक डिम (रूपकों) को प्रस्तुत किया जिन्हें देखकर प्रसन्न शिव ने भरतमुनि को पूर्वरंग विधि में ताण्डव के संयुक्त करने

तथा उसे तण्डु द्वारा प्राप्त करने का आदेश दिया। मुनि ने इस आदेश को सहर्ष स्वीकार किया और तण्डु से ताण्डव की शिक्षा प्राप्त कर उस ताण्डव का पूर्वरंग में समावेश किया, जिसमें माता पार्वती के द्वारा सुकुमार शृगांरिक लास्य का भी योगदान था। इस नाटयवेद के प्रभाव हेतु चार नाटयवृत्तियों को आविष्कृत कर उन्हें भी नाट्यवेद में श्री विष्णु ने प्रविष्ट करवाया। इस प्रकार निर्मित इस दिव्य नाट्यवेद को अवर-रूप में भूतल पर स्थानान्तरित करने का कार्य भी भरतमुनि को ही करना पड़ा जिसकी कथा नाट्यशास्त्र के अन्तिम अध्याय में दी गयी है।

नाट्य का भूतल पर अवतरण—इस प्रसंग में नाट्यशास्त्र में दो कथाएँ हैं। प्रथम कथा के अनुसार भरत पुत्रों को अपनी कला के ज्ञान पर अभिमान हो गया था जिससे एक बार उन्होंने एक नाट्य प्रदर्शन में मुनियों के चरित्र पर आक्षेप पूर्ण व्यङ्ग प्रस्तुतकर डाला। इसे देखकर क्रुद्ध हो मुनियों ने भरत पुत्रों को शाप दे डाला कि ऐसे नाट्य का नाश हो जाए तथा भरत पुत्र भी शूद्र हो जाएँ। यह सुनकर देवताओं को नाट्य के नाश की चिन्ता हुई और उन्होंने मुनियों से जाकर शाप को क्षमा करने का अनुरोध किया। मुनियों ने अपने दत्त शाप को पूर्णरूप से अन्यथा न होने की बात कहते हुए उसमें यह संशोधन किया कि नाट्यविद्या तो नष्ट नहीं होगी किन्तु भरत-पुत्रों को शूद्र अवश्य होना पड़ेगा।

इस शाप के चरितार्थ होने के प्रसंग में नाट्यशास्त्र में ही दूसरी कथा और भी दी गयी है। इसके अनुसार जब इन्द्र का पद सम्राट् नहुष को मिला तो स्वर्ग में उन्होंने अप्सराओं से अभिनीत नाट्यप्रयोग को देखकर भूलोक में अपने घर भी वही नाट्यप्रयोग प्रस्तुत करने का देवताओं से अनुरोध किया। देवताओं ने नहुष को समझाया कि यद्यपि अप्सराओं के द्वारा भूतल पर नाट्य संभव नहीं है किन्तु यह कार्य आप भरतपुत्रों को पृथ्वी पर ले जाकर अवश्य सम्पन्न करवा सकते हैं। नहुष ने भरतमुनि से भूतल पर नाट्य प्रस्तुत करने की प्रार्थना की जिसे स्वीकार कर भरत मुनि ने अपने पुत्रों को पृथ्वी पर जाकर नाट्यप्रयोग करने का आदेश देकर समझाया कि इस प्रकार वहाँ जाने से ऋषिप्रदत्त शाप का भी अन्त ही जायगा। तब भरत पुत्रों ने स्वर्ग से जाकर नहुष के अन्तःपुर में नाट्यप्रयोग प्रस्तुत किये तथा कुछ दिन भूतल पर गृहस्थ भाव में समय व्यतीत कर शाप के अन्त हो जाने पर पुनः स्वर्ग लौट आये। किन्तु वे अपनी सन्तति को इस नाट्य के प्रयोग आदि की शिक्षा दे गये जिससे पृथ्वी पर नाट्य स्थित हो गया।

अन्य मत—भारतीय नाट्य के उद्भव और विकास के सम्बद्ध में भारतीय तथा अन्य विदेशी विद्वानों ने अनेक मान्यतायें प्रस्तुत की हैं। भारतीय विद्वानों के मत में भरत प्रतिपादित नाट्य के अवतर या आधार देव-मूलकता

या धर्ममूलकता है। इसी को लेकर प्रस्तुत प्रयोगों को आदर्श नाट्य माना जाता है। अन्य विद्वान् नाट्य के उद्भव या आधार में वेद या धर्म को स्त्रोत के रूप में अस्वीकार कर मुख्य रूप से लोकवृत्ति या लोक के संस्कारों का आधार ही स्वीकारते हैं। योरोप के प्रसिद्ध विद्वान् श्रीकीथ का मत है कि वैदिक साहित्य में नाटक का अभाव था इसलिए देवताओं को ऐसे सर्वथा नवीन साहित्य के रूप की ब्रह्मा से प्रार्थना करनी पड़ी जो वैदिक-युग के परवर्ती काल के उपयुक्त हो जाए।

वर्तमान शती में आलोचक विद्वानों ने भरत प्रोक्त उपर्युक्त दिव्य उत्पत्तिवाद को एक पौराणिक गाथा से अधिक महत्व न देते हुए नाट्यशास्त्र के नाट्य उपादानों के वेद से ग्रहण करने के कथन से प्रेरित हो वेदों का गम्भीर अनुशीलन करते हुए निष्कर्ष निकाला कि नाट्य के मूल तत्वों का वेद के संवाद सूक्तों से उद्गम हुआ है। सूक्तों के स्वरूप तथा इनसे नाट्योद्भव की पद्धति में विद्वानों की विभिन्न धारणायें हैं। जर्मन विद्वान् श्री मेक्समूलर ने इन्द्र-मरुत् सूक्त के आधार पर इस तथ्य का उद्घाटन किया कि ऋत्विक्गण इन सूक्तों का अभिनयात्मक पाठ करते थे। वेद में यही नाट्य का बीज है। प्रोफेसर सिल्वा लेवी ने मेक्समूलर के इसी मत की पुष्टि करते हुए ऋग्वेद-काल में अभिनय की स्थिति स्वीकार की। उनका मत है कि ऋत्विकादि के द्वारा देवताओं के रूप ग्रहण कर यज्ञादि के समय नाट्याभिनय अवश्य प्रस्तुत किया जाता होगा।

डा० हर्टेल ने इन सूक्तों को गेय मानकर यह निरूपित किया कि इन गेय सूक्तों को एक के अधिक व्यक्ति मिलकर गाते थे। इस प्रकार वक्ताओं की विभिन्नता हो जाती थी जिसने नाट्याभिनय को प्रेरित किया। प्रो० वान श्रोडर ने इस क्रम को और आगे बढ़ाते हुए बतलाया कि इन सम्वाद सूक्तों के गान के साथ नृत्य भी होता होगा। क्योंकि मानव-विज्ञान (एन्थ्रापालाजी) के अनुसार संगीत और नृत्य का अभिन्न सम्बन्ध होता है गेय तथा अभिनेय दोनों तत्व यहाँ मिल जाते हैं जो नाट्य के बीज हैं। डॉ० विंडिश, ओल्डेनवर्ग तथा पिशेल का अनुमान है कि ये सूक्त पहिले गद्यपद्यात्मक थे। अधिक रोचक एवं कण्ठस्थ करने में सरल होने से इनका पद्य-भाग बच गया तथा गद्यभाग नष्ट हो गया। इसके अतिरिक्त ये आख्यानात्मक भी थे। तथा इन्हीं के अनुसरण पर गद्यपद्य के संवादात्मक तत्व का नाट्य में मिश्रण हुआ। ऐतरेय-ब्राह्मण का शुनःशेप आख्यान तथा शतपथ-ब्राह्मण का पुरुरवा-उर्वशी-आख्यान इस प्रकार के अंश के प्रमाण भूत अवशिष्ट रूप हैं। अतः इन्हीं से नाट्य का उद्भव हुआ है।

डॉ० ए० बी० कीथ ने उपर्युक्त इन सभी मतों को अस्वीकार करते हुए बतलाया कि न तो इनका गायन होता था और न अभिनय ही, क्योंकि गायन और अभिनयक्रमशः साम तथा यजुर्वेद के तत्व हैं जिनमें संवाद सूक्तों का

सर्वथा अभाव है। श्री कीथ का मत है कि इन सूक्तों की गद्यपद्यात्मकता का जो अनुमान किया गया है वह कल्पना से अधिक महत्वशाली नहीं है। इनका मत है कि नाटक की तात्विक स्थिति वेद में अवश्य विद्यमान है किन्तु यह बीज रूप में है। यह सम्वाद सूक्तों तक सीमित भी नहीं की जा सकती क्योंकि यह स्थिति यज्ञादि की विहित विधियों एवं सामगान में भी देखी जा सकती है।

डॉ० कीथ ने नाट्य की धार्मिक उत्पत्ति की बात करते हुए उसके मूल में मानवीय अन्तःकरण में प्रसुप्त धार्मिक भावना का होना निरूपित किया। इन्होंने आगे बतलाया कि प्राचीनतम नाटकों के नाम तथा कथावस्तु इसके साक्षी हैं, जिससे नाट्योद्गम के धार्मिक सिद्धान्त का असाधारण महत्व स्वतः बन जाता है—जैसे कंसवध, त्रिपुरदाह बलिबन्धन आदि।

डॉ० रिजवे ने नाट्य की विधाओं को देखकर उससे यह निष्कर्ष निकाला कि नाट्य की उत्पत्ति का मूल प्रेरक तत्व वीर-पूजा है जिसके बीज से नाट्य-रूपी वृक्ष का विस्तार हुआ। इनके मत में मूर्ति या प्रशस्तिस्तम्भ के समान किसी वीर पुरुष के साहस या पराक्रम का निदर्शन करते हुए नाटक प्रस्तुत करना भी उसके प्रति आदर भाव प्रदर्शित करना होने से यह भी इसी प्रकार का एक साधन मानना चाहिए। इनके अनुसार यह मत सार्वभौम महत्व का है क्योंकि इसी के अनुसार यूनान में त्रासदी नाटकों का भी आलेखन हुआ था। इन्होंने भारतीय नाट्यसाहित्य एवं काव्य का विवेचन करते हुए यह भी बतलाया कि राम तथा कृष्ण को आधार मानकर बनायी गयी नाट्य-रचनाओं, यात्राओं एवं उत्सवों को करने की प्रवृत्ति के पीछे भी मृत वीर-पुरुषों के प्रति आदर भाव प्रकट करने की भावना ही मूल रूप में निहित है।

श्री ए० बी० कीथ तथा अन्य विद्वानों ने उपर्युक्त मत के प्रति अनिच्छा प्रकट करते हुए इनका खण्डन किया। इनका तर्क है कि जब संस्कृत के अनेक नाटक नाटकों में वीर-रस ही नहीं पाया जाता है तब उन्हें वीर-पूजात्मक नाटक कैसे माना जा सकता है और संस्कृत नाटक की किसी प्रस्तावना में भी इस बात का उल्लेख नहीं मिलता कि नाटक की रचना किसी वीर-पुरुष के प्रति आदर या स्मृति में की गयी है। किन्तु इसके विपरीत राजाओं तथा राजसभासदों एवं प्रजाजन के मनोरंजनार्थ ही नाटक के ग्रथन करने की बातें मिलती हैं। अतएव मृत वीर-पुरुषों के प्रति आदर भाव प्रकट करने या धार्मिक-उत्सवों के अवसर के कारण नाट्य के उद्गम की कल्पना उचित नहीं है।

सुप्रसिद्ध जर्मन-विद्वान् डॉ० पिशेल ने भारतीय नाट्य की उत्पत्ति पुत्तलिकानृत्य से मानी। उन्होंने अपने मत को विस्तार से प्रतिपादित करते हुए बतलाया कि भारत ही वह मूल स्थान है जहाँ से पुत्तलिका-नृत्य प्रचलित

होकर यूनान आदि देशों में पहुँचते हुए सर्वत्र व्याप्त हो गया था। संस्कृत साहित्य में पुत्तलिका के प्राचीनतम विवरण भी मिलते हैं। जैसे :—महाभारत में राजकुमारी उत्तरा तथा उसकी सखियों ने अर्जुन से पुत्तलिका लाने की प्रार्थना की थी। कथा–सरित्–सागर में यन्त्रचालित पुत्तकालिकाओं का वर्णन मिलता है। मय दानव की पुत्री सोमप्रभा ने अपनी सखी राजकुमारी कलिंगसेना को पुत्तलिका की एक पिटारी भेंट की थी। पुत्तलिकानृत्य में एक सूत्रधार होता है जो सूत्र की डोरी के सहारे पुत्तलिकाओं को नचाकर प्रदर्शन करता है। प्रो० पिशेल ने भारतीय नाटक में सूत्रधार के अभिधान को इस क्रम में जोड़ते हुए कहा कि इन पुत्तलिकाओं को नचाते हुए उनके डोरों को पीछे से पकड़े रहने के कारण ही सर्वप्रथम इसका नाम सूत्रधार हो गया होगा। जो बाद में नाटक के प्रयोक्ता के लिये मान लिया गया। इसके अतिरिक्त नाट्य का स्थापक शब्द भी इस बात का संकेत करता है कि पुत्तलियों को लाकर मंच पर व्यवस्थित रखने का कार्य स्थापक का होता है तथा उसके इसी भाव को ध्यान में रखकर इस शब्द का प्रयोग स्थापक के लिये प्राचीनकाल में किया गया होगा। अतः नाटकों का आरम्भ पुत्तलिका नृत्य से मानना उचित है।

डॉ० रिजेवे ने पुत्तलिका-नृत्य से नाट्योद्गम के डॉ० पिशेल के उपर्युक्त मत का खण्डन कर उसे भ्रमात्मक बतलाया। इनने यह विस्तार से बतलाया कि सूत्रधार तथा स्थापक शब्द का सम्बन्ध पुत्तलिका नृत्य से नहीं जोड़ा जा सकता है क्योंकि सूत्रधार नाटक की कथावस्तु आदि का संक्षेप में वर्णन करता है तथा इसी कारण इसकी संज्ञा भी सूत्रधार है, यह किसी डोरी को धारण करने के कारण नहीं है। पुत्तलिका नचाने वाले के लिए सूत्रधार शब्द का प्रयोग बहुत बाद की कल्पना है (सम्भवतः ईसवी नवीं शती की) जब कि नाटकों में सूत्रधार शब्द का प्रयोग निश्चित रूप से ईसवी पूर्व का है। इससे सिद्ध है कि जब पुत्तलिका नृत्य ही नाटकों की नकल है तो इससे नाट्योद्गम की कल्पना कैसे की जा सकती है।

इस सन्दर्भ में डॉ पिशेल ने एक दूसरा मत भी रखा है—वह है—छायानाटक से नाट्य की उत्पत्ति। डॉ० स्टेनकोनों ने इनके इस मत का बड़े जोरों से समर्थन भी किया। संस्कृत में कुछ छायानाटक प्राप्त होते हैं। जिनमें दीपक की सहायता से छाया द्वारा नाटक दिखलाया जाता है। यह छायामात्र सामाजिक या दर्शक देखता है जो अभिनेताओं की या पुत्तलिकाओं की होती है। सुभट कवि के दूतांगद आदि कुछ नाटक छायानाटक के रूप में अद्यावधि प्राप्य हैं तथा जिनके विवरण मिलते हैं ये संख्या में इतने कम और परवर्ती नाटक हैं कि इनके आधार पर भारतीय नाटकों का उद्गम छायानाटकों से मानना उचित नहीं प्रतीत होता। दूसरे यह भी इस सन्दर्भ में विचारणीय है कि संस्कृत

के किसी प्राचीन ग्रंथ से लेकर मध्य या उत्तरकालीन किसी भी नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ में छायानाटक के स्वरूप की प्राप्ति तक नहीं है। अतएव इस आधार पर नाटकों का उद्गम छायानाटक से मानना नितान्त अनुचित ही होगा।

नाट्यशास्त्र में वर्णित इन्द्रध्वजमहोत्सव के अवसर पर सर्वप्रथम नाट्याभिनय का आधार लेकर तथा नेपाल में इन्द्रध्वज-महोत्सव के आज भी प्रवर्तित रहने को देखकर कुछ विदेशी विद्वानों ने इन्द्रध्वज-महोत्सव से संस्कृत-नाट्य के उद्गम की कल्पना की। उनने इसके अनुरूप एक समान प्रसंग ढूंढ निकाला जो मेपोल डान्स है। यूरोप में मई मास में एक सामूहिक महोत्सव मनाया जाता है, जिसमें किसी एक युवती को पुष्पों से सजाकर मई की रानी बनाया जाता है। इस मई मास का प्रतिरूप प्रतीक एक बाँस होता है, जिसे अलंकृत कर सभी इसके चारों ओर परिक्रमा करते हुए नाचते हैं। इसमें बाँस नाट्यशास्त्रोक्त जर्जर का प्रतीक है। अत एव इन्द्रध्वज-महोत्सव से नाट्य का उद्गम हुआ है। किन्तु यह मत भी अधिक नहीं टिकता। क्योंकि यूनान के मेपोल डान्स से एक तो समता का टिकना भी कल्पित आधारों के कारण अशक्य है, दूसरे शुभकार्य या उत्सवों पर नाटक खेलने या नृत्य करवाने का आशय यह नहीं होता कि इनसे ही नाट्य की उत्पत्ति भी मान ली जाए।

डॉ० ए० बी० कीथ ने पातंजल-महाभाष्य में कंसवध तथा बलिबन्धन के उल्लेख को लेकर बतलाया कि ये इस बात का संकेत करते हैं कि ऋतुओं (आदि) के प्राकृतिक परिवर्तनों को मूर्तरूप में दिखलाने की प्रतीक भावना से कदाचित् नाट्य का उद्गम हुआ होगा। कंसवध में कंस के सहचरों का कालेमुख का नेपथ्य बनाने और कृष्ण के अनुयायियों को रक्तमुखों में रखने का आशय है वसन्त की हेमन्त पर विजय, जिसके प्रतीक ये दोनों वर्ण हैं। इसके अतिरिक्त कृष्ण की कंस पर विजय भी उद्भिज्ज जगत् के अन्दर अपनी स्वतन्त्र चेष्टा प्रदर्शित करने वाली जीवनी शक्ति की विजय का प्रतीक है। कीथ की यह कल्पना बड़ी दूरारूढ़ है, जिसे मुश्किल से स्वीकारा जा सकता है। यह केवल एक कल्पना मात्र होने पर उत्कृष्ट मानी जा सकती है, किन्तु ऐसी कल्पना नाट्य के उद्गम में अधिक सहायक नहीं हो सकती।

डॉ० मेकडानल ने नाट्य के उद्गम को इसकी प्रारम्भिक अवस्था नृत्त से माना। इसी तथ्य का श्री डी० आर० माँकड़ ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक The Types of Sanskrit Drama (दि टाइप्स ऑफ संस्कृत ड्रामा) में भी समर्थन किया तथा इसके लिये प्रमाण और विकास क्रम की प्रक्रिया भी बतलाई। इन्होने यह बतलाने का प्रयत्न किया कि नृत्त से नृत्य होकर किस प्रकार नाट्यरूप में इसका परिणमन हुआ, जो असंख्य दिनों के विकास की कहानी है। इनके मत में ताल लयाश्रित नृत्त की दूसरी अवस्था है भावाश्रित

नृत्य। इसी कारण दोनों के कार्यकलाप में अधिक साम्य भी दृष्टिगत होता है, जो इनके एक से दूसरे के उद्भूत होने का कारण है। नृत्त और नृत्य के मिश्रित रूप से नाट्य का उद्भव हुआ जो क्रमशः एक पात्र के एक भाव की रसात्मक प्रस्तुति को एक अंक में रखने से लेकर फिर अनेक पात्रों द्वारा अनेक भावों की अनेक रसात्मक प्रस्तुतियों तक को अनेक अंकों द्वारा रखकर किया गया है। इस प्रणाली के द्वारा नृत्त से नाट्य का विकास हुआ ! नाट्य के भेदों में क्रमशः इस विकास का क्रम रूपकों के भाण, प्रहसन, ईहामृग जैसे प्रभेदों से होकर नाटक और सबके बाद प्रकरण में जाकर पूर्ण हो जाता है।

इस प्रकार नाट्योत्पत्ति के ये विभिन्न मत हैं। हमने पूर्व में ही निर्दशित किया है कि पाणिनि की अष्टाध्यायी के समकालीन नाट्य ही नहीं नाट्यशास्त्र के विधायक-ग्रन्थ भी विद्यमान थे। यदि ईसा पूर्व पाँचवीं शती में रसप्रधान नाट्य तथा संगीत कला न होती तो कौटिल्य अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ अर्थशास्त्र में नाट्यप्रयोग के लिये उपयोगी रंगोपजीवी पुरुष तथा रंगोपजीवी गणिकाओं का गीतवाद्य नाट्य, नृत्त और नृत्य जैसे शब्दों के पारिभाषिक अर्थों के साथ उल्लेख न करता। फिर भी नाट्योद्भव के ठीक समय और इसकी उत्पत्ति के कारणों की कल्पना दुरूह है किन्तु इसका अनुमानित काल ईसा की ही छठी शती के पूर्व ही समीप कहीं रखना पड़ेगा। इसका कारण यह है कि उस काल में निर्मित नाटकों का नाट्याचार्यों द्वारा अपनी नाट्य मंडली द्वारा अवश्य प्रयोग होता होगा जिसके आधार पर ही लक्षण-ग्रन्थों का ग्रथन संभव होता है। यह बात दूसरी है कि कालप्रवाह के कारण उनकी रक्षा सम्भव न हुई और वे आज हम तक नहीं पहुँच पा रहे हैं। फिर भी इस विशाल नाट्य-साहित्य के उद्गम का श्रेय भारत के नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्त-ग्रंथों को ही है यह निश्चित है। और तब ऐसे पथप्रदर्शक ग्रन्थ को हम नाट्यशास्त्र ही पाते हैं जिसमें नाट्योद्गम का एक व्यवस्थित परम्परागत प्रतिपादन है जिसे किसी भी प्रतीक से हृदयंगम उचित ही है।

इस नाट्य का स्वरूप क्या है उसका उत्तर भी भरत के—'त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्व नाट्यं भावानुकीर्तनम्' वचन से हो जाता है (पाठक इस पर अभिनवगुप्त के विवेचन की अतिरिक्त टिप्पणियों में देखें; विस्तार भय से यहाँ हम उसे नहीं दोहराना चाहते हैं) जिसका संक्षेप में यही आशय है कि नाट्य भावानुकरण नहीं है। अब जब यह अनुकरण नहीं है तो इसमें समीक्षकों के इस कथन के लिये भी स्थान नहीं रहेगा कि 'नाट्य' सभी अवस्थाओं में गीत-वाद्य-युक्त होने से एक विशेष प्रकार का अनुकरण ही है।' [इसका स्वरूप अतिविशद तथा विवेचन सापेक्ष है, जिसका विवरण हमने टिप्पणियों में स्थान स्थान पर दे दिया है। एतदर्थ नाट्यशास्त्र के श्लोक १।१०७, १।११६ तथा १।११९ पर अभिनव टिप्पणियाँ देखना चाहिए। यहाँ तक नाट्यशास्त्र के प्रथम-अध्याय की चर्चा है]

नाट्यमण्डप—नाट्यशास्त्र के द्वितीय-अध्याय में नाट्य की प्राथमिक आवश्यकता के कारण नाट्यगृह की निर्माण-विधि विस्तार से दिखलाई गयी है। विश्वकर्मा ने नाट्यमण्डप के तीन प्रकार के सन्निवेशों तथा उनका विधान बतलाया। इनमें विकृष्ट नाट्यगृह आयताकार, चतुरस्र नाट्यगृह वर्गाकार तथा त्र्यस्र नाट्यगृह त्रिभुजाकार होता है। विकृष्ट को कुछ लोग मण्डलाकार भी मानते हैं किन्तु यह विवरण नाट्यशास्त्र के अनुसार न रहने से मान्य नहीं है। इनमें प्रमाण की दृष्टि से फिर नाट्यमण्डप के और भी भेद किये गये हैं जो ज्येष्ठ, मध्यम और कनीयस् रूप में बनते हैं। ज्येष्ठ या विकृष्ट मण्डप देवों के लिये; मध्यम या चतुरस्र मनुष्यों के लिये उपयोगी होता है। ज्येष्ठ नाट्य-मण्डप के विशाल रहने से पात्रों के द्वारा उच्चारित पाठ्यांश दर्शकों को श्राव्य नहीं होता है और न ही उनकी भावपूर्ण शरीराभिनय की मुद्राएँ दृश्य हो पाती हैं; अतएव मध्यम नाट्यगृह ही अधिक उपयोगी होता है। इसी प्रकार अवर या त्र्यस्र नाट्यगृह सामान्य जनता के लिए उपयोगी होता है। विकृष्ट नाट्य-गृह का प्रमाण १०८ हाथ या दण्ड का, चतुरस्र का प्रमाण ६४ हाथ या दण्ड का तथा त्र्यस्र का प्रमाण ३२ दण्ड या हाथ का होता है। (इनके इस प्रकार १८ भेद बनते हैं जिनके विवरण तथा मान्यताओं को यथास्थान पाद-टिप्पणियों तथा अतिरिक्त टिप्पणियों में विस्तार से निर्दशित किया गया है।)

विकृष्ट नाट्यगृह—सभी प्रकार के नाट्यगृहों के निर्माण के पूर्व उचित भूमि का चयन करना चाहिए। इसके उपरान्त भूमि का शोधन स्वस्थ बैलों द्वारा हल चलाकर करते हुए अस्थि, कील आदि अशुद्ध पदार्थों को भूमि से निकाल देना चहिए। इसके बाद उजले दृढ़-सूत्र से भूमि का माप करना चाहिए तथा इस समय पर्याप्त सतर्कता बरतनी चाहिए, जिससे न तो सूत्र हाथ से छूटने पाये और न ही टूटने पावे अन्यथा किसी अमंगल के होने की आशंका रहती है। मध्यम विकृष्ट मण्डप की विधि यह है कि चौंसठ हाथ लम्बी तथा बत्तीस हाथ चौड़ीं लम्बाई का क्षेत्र लेकर फिर डोरी से उसके दो भाग कर लें। इन दो भागों को फिर और दो भागों में बाटें जिसमें से एक भाग पर रङ्गपीठ तथा रंगशीर्ष की तथा दूसरे (बाद वाले) भाग पर नेपथ्य गृह की रचना करे। (रंगशीर्ष तथा रंगपीठ के विशेष विवरण परिशिष्ट—१ सम्बन्धित अंश की टिप्पणियाँ २।३७–३८ पर इसके विस्तार हेतु देखना चाहिए)।

निवेशन—इस प्रकार हो चुकने पर इसके निवेशन या नींव रखने की विधि सम्पन्न करना चाहिए तथा इस समय उत्सव मनाते हुए मंगलवाद्यों (शंख, दुन्दुभि, पणव आदि) का निर्घोष करना चाहिए। क्योंकि पवित्र ध्वनियों से आकाश परिष्कृत एवं विशुद्ध हो जाता है और अनिष्ट की आशंका

निर्मूल हो जाती है। इस समय यहाँ पाखंडी, सन्यासी तथा विकलांग व्यक्तियों को नहीं आने देना चाहिए तथा रात्रि में दिशाओं में बलि दी जाए जो उनके अनेक देवता के मन्त्र तथा बलि पदार्थ के अनुरूप विधिवत् सम्पन्न की जाती हो। इस प्रकार बड़े मनोयोग से नींव रखने या शिलान्यास का समारोह सम्पन्न करना चाहिए।

भित्तिकर्म एवं स्तम्भारोपण—नींव की स्थापना के बाद मण्डपनिर्माण कार्य का आरम्भ करते हुए दीवारों को उठवाना आरम्भ किया जाय तथा दीवारों को उठाने के साथ-साथ स्तम्भारोपण करना चाहिए। यह कार्य भी उत्वव मनाते हुए शुभ वेला में रखना उत्तम होता है। विविध पूजाद्रव्यों से स्तम्भों की पूजा कर पुष्पमालाओं से स्तम्भों को सजाना चाहिए तथा इनके मूल या जड़ों में स्वर्ण आदि धातुओं को निर्देशानुसार छोड़ना चाहिए। ये स्तम्भ प्रेक्षकों के विवेशन के अतिरिक्त अन्य स्थान जैसे रंगपीठ, नेपथ्य तथा मत्तवारणी में लगाये जाते हैं। (इनका विवरण २।६३-६६ की अतिरिक्त टिप्पणियों में विस्तार से दिया गया है)।

मत्तवारणी—स्तम्भारोपण के उपरान्त मत्तवारणी का निर्माण किया जाता है। रंगपीठ की दोनों बाजू में इसका निर्माण किया जाता है। इसकी ऊँचाई रंणपीठ से ऊँची और डेढ़ हाथ प्रमाण की रखना चाहिए। मत्तवारणी वरामदे की आकार की होती थी तथा रंगपीठ या मञ्च के दोनों बाजू में रहती थी। (मत्तवारणी के विषय में विस्तार से सभी विवेचक विद्वानों के आशय ना० शा० अ० २।६७ की अतिरिक्त टिप्पणियों (पृष्ठ ४६५) पर दे दिया गया है)। मत्तवारणी की रचना समाप्ति पर भी पूर्ववत् उत्सव मनाना चाहिए।

रंगपीठ—इसके उपरान्त रंगपीठ की रचना की जाए तथा रंगपीठ के पिछले भाग में नेपथ्यगृह का निर्माण करना चाहिए जो रंगपीठ से अपेक्षाकृत ऊँचा रहे। इससे होकर नेपथ्य गृह में जाने के लिये दो द्वार रखे जाएँ जिनसे पात्र प्रवेश और निष्क्रमण करें। इसे ऊँचा करके वेदिका निमाणार्थ काली मिट्टी का प्रयोग किया जाए। श्वेत वर्ण के बैलों से जुताई कर मिट्टी के कंकड़-पत्थर साफ करने के बाद उस वेदिका का भराव करना चाहिए। मिट्टी ढोने वाले श्रमिक भी विकलांग न हो इसका ध्यान रखा जाए।

रंगपीठ बीच में ऊँचा तथा चारों ओर नीचा रहे, जो कछुए की पीठ के आकार का नहीं हो और नहीं वह मछली की पीठ जैसा एक ओर ऊँचा और दूसरी ओर से नीचा रहना चाहिए। इस विशुद्ध दर्पण की सतह के जैसा समतल ही बनाया जाए। रङ्गपीठ के एक भाग में रङ्गशीर्ष रखना चाहिए। (रङ्गपीठ तथा रङ्गशीर्ष का विवेचन अतिरिक्त टिप्पणियाँ पृष्ठ ४६४ पर द्रष्टव्य)

दारुकर्म—नाटचगृह की रचना में लकड़ी की कारीगरी भी सुन्दर ढंग से रहनी चाहिए। इसे दारुकर्म कहते हैं। तदनुसार इसके सभी स्तम्भ, द्वार और वातायन (खिड़कियाँ) विविध शिल्पकला से पूर्ण होना चाहिए। इसमें स्थान-स्थान पर चौके बने हुए रहने चाहिए। हाथियों या सर्पों की आकृतियाँ उकेरी हुई रखना चाहिए तथा काष्ठ की पुतलिकाओं से चतुर्दिक सुशोभित करते हुए नाट्यगृह को अलंकृत करना चाहिए। आशय यह कि दारुकर्म विविध प्रकार की कारीगरी से युक्त होना चाहिए।

नाटचगृह की रचना करते समय एक बात का ध्यान अवश्य रहे कि कोई स्तम्भ, खिड़की द्वार या नागदन्त (खूंटी) किसी के सामने न आने पावे क्योंकि ऐसा रहने पर इसकी सजावट (या अलंकरण) में शोभाहीनता आ जाएगी।

(दारुकर्म के प्रसङ्ग में अनेक शास्त्रीय शब्दों का प्रयोग हुआ है जिनका विवरण अध्याय २।७३–७७ पर तथा अतिरिक्त टिप्पणियों में देखना चाहिए)।

मण्डप—यह नाट्यमण्डप द्विभूमि बनाया जाता है। इस मण्डप में छोटे-छोटे वातायन या खिड़कियाँ भी रखना चाहिए। जिससे वायु का प्रवेश कम हो और शब्द गम्भीर रूप में सुनाई दे सके तथा वाद्य-संगीत के सूक्ष्मतम वादनादि क्रिया-कलापों को आसानी से सुना जा सके। (द्वि-भूमि नाट्यमण्डप पर टिप्पणी ना० शा० अ० २।८५, ८६ पर (दोनों स्थानों पर द्रष्टव्य) नाट्यमण्डप की दीवारों की अच्छी तरह लिपाई पुताई करने के बाद उन्हें चमकदार बनाया जाए और उन पर सुन्दर अंकित करवाये जाँए। इनमें अधिकतर पुरुष और स्त्रियों के शृङ्गार प्रसाधन एवं ललितभाव से युक्त चित्र हों या फिर लता-वृक्ष, गुल्म, पर्वत, नदी आदि के सुन्दर चित्र अंकित किये जाँए। इन चित्रों में विलास एवं क्रीडाओं का भी अंकन किया जा सकता हैं। नाट्यमण्डप में कितने द्वार रहते हैं इस विषय में भी मतैक्य नहीं है। कुछ आचार्य नाटचमण्डप में चार द्वार रखने तथा अन्य आचार्य छः द्वार रखने का विधान मानते हैं। मध्यम विकृष्ट नाटचमण्डप का यही स्वरूप है।

चतुरस्रनाट्यमण्डप—चतुरस्र नाटचमण्डप को लम्बाई और चौड़ाई (३२ = ३२) ३२–३२ हाथ की रहने से यह वर्गाकार नाटचमण्डप कहलाता है। इसके निर्माण में वही सब कार्य होते हैं जो विकृष्ट के स्वरूपवर्णन के प्रसंग में पूर्व में बतलाये गये हैं। इसकी दीवारें ईंटों से निर्माण की जाँय। इसमें दस स्तम्भ रखना चाहिए। विकृष्ट की अपेक्षा छोटा मण्डप होने से इसमें प्रेक्षकों को बैठने के लिये सीढ़ीनुमा बैठक का निर्माण किया जाए जिसे लकड़ी और ईंट से बनाया जाए। ये सीढ़ियाँ धरातल से एक हाथ ऊपर उठते हुए इतनी ऊँचाई तक चली जाँए जहाँ से रंगपीठ (सीधा) दिखलाई दे सकता हो।

विकृष्ट के समान ही यहाँ रङ्गपीठ तथा रङ्गशीर्ष की भी रचना की जाए तथा इसमें नेपथ्यगृह की ओर जाने के लिये एक ही द्वार रखा जाए तथा एक द्वार सामने के मंण्डप में हो जिससे सामान्य दर्शक प्रवेश करे। इसका रङ्गपीठ आठ हाथ के प्रमाण का होता है तथा दोनों बाजू में मत्तवारणी चार-चार स्तम्भों की रहती है। इसका धरातल आदर्श-तल के समान समतल होता है तथा वेदिका भी समतल ही। जबकि निकृष्ट में वेदिका से इस धरातल को ऊँचा रखा जाता है। चतुरस्र-नाटयमण्डप का यही स्वरूप है।

त्र्यस्र नाट्यमण्डप—त्र्यस्र संज्ञक नाटयमण्डप का आकार त्रिभुज जैसा रखा जाता है तथा इसके मध्यभाग में जिस रङ्गपीठ की रचना होती है वह भी त्रिभुज ही रहता है। इसका एक द्वार कोने में निकला हुआ रखा जाता है तथा दूसरा द्वार रंगपीठ के पिछली ओर रखते हैं। इनमें पहला द्वार सामान्य-जन के प्रवेश के लिये और दूसरा द्वार अभिनेताओं के प्रवेश के लिये होता है। चतुरस्र में अभिहित विधि के अनुसार ही इसमें भी दीवारों का निर्माण किया जाता है और इसी प्रकार स्तम्भ भी लगाये जाते हैं। शेष कार्य विकृष्ट नाट्यगृह के समान त्र्यस्र नाट्यगृह में भी होता है। त्र्यस्र नाटयमण्डप का यही स्वरूप है।

नाटयमण्डपों का नाट्यशास्त्र में इस प्रकार विवरण है। इस विषय में कुछ विवेचकगण प्रश्न करते हैं कि ये सभी नाट्यमण्डप खुले रखे जाते थे या इन पर छत का निर्माण होता था? इस आशंका का नाट्यमण्डप के विवरणों को ध्यान से पढ़ने पर स्थान ही नहीं रहता, क्योंकि जब नाट्यमण्डप के अन्दर स्तम्भों के स्थापन की विधि बतलाई है तो बिना छत के इन स्तम्भों का स्थापन व्यर्थ हो जाता है। दूसरे जब मण्डप को धारण करने वाले स्तम्भों को स्थापित करने की बात मुनि ने कही तो इसका आशय भी नाट्यमण्डप में छत के रखने से ही है। तीसरे यदि नाट्यमण्डप खुला हो तो वह निवात या गूँजने की स्थिति वाला हो ही नहीं सकेगा। यह भी नाट्यमण्डप में छत के निर्माण का ही समर्थन करती है तथा अन्तिम बात यह कि बिना छत के कोई स्थापत्य निर्माण ही नहीं होता। अतएव सिद्ध है कि नाट्यमण्डप की छत बनायी जाती थी। [नाट्यमण्डपों से सम्बन्धित अन्य विषयों का तथा कक्ष्याविभाग आदि का विवरण द्वितीय भाग में अध्याय क्रम से प्रस्तुत किया जाएगा जिसे पाठक नाट्यशास्त्र के द्वितीय खण्ड में अवलोकन करें]।

यद्यपि नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय में नाट्यमण्डपों के इन विवरणों को भरतमुनि ने बड़ी स्पष्टता से प्रतिपादित किया है फिर भी समय की दूरी तथा अपेक्षाओं के विपरिवर्तित होने से इसकी व्याख्या में कालान्तर में विचार-भिन्नता आ गयी थी (इस सन्दर्भ के सभी व्याख्येय अंशों की मीमांसा हमने यथास्थान टिप्पणियों में कर दी है। अतएव भूमिका में इन विषयों पर फिर

से विचार पुनरुक्त मानकर संक्षेप में यहाँ अध्यायगत विवरण प्रस्तुत किया गया है)।

नाट्यशास्त्र के तृतीय अध्याय से नाट्यमण्डप के निर्माण के पश्चात् देवगणों के अर्चन की विधि का विस्तार से निरूपण किया गया है, क्योंकि देवपूजन के बिना नाट्यप्रयोग को प्रस्तुत करना अभीष्ट नहीं है तथा मुनि ने भी इसी कारण इस अर्चन विधि का अवश्य सम्पादन बतलाया है। कुछ आचार्य नव-नाट्यमण्डप के निर्माण के अवसर पर इन देवगणों के पूजन को अनिवार्य बत-लाने के साथ-साथ यह भी निर्देश करते हैं कि इनका अर्चन प्रत्येक नाट्य-प्रयोग या प्रेक्षा के आरम्भ के समय भी अभीष्ट होने से अवश्य सम्पादित किया जाना है।

नाट्यशास्त्र के चतुर्थाध्याय में ताण्डव नृत्य के उद्भव के साथ नृत्य के लास्यादि प्रभेद का विवरण देकर उसके करण, अंगहार आदि का विवेचन दिया गया है। सर्वप्रथम इस क्रम में भरत मुनि ने नृत्य के उद्भव का भी विवरण दिया है। तदनुसार नाट्य में इसका प्रयोग भगवान् शिवजी की प्रेरणा से आरम्भ हुआ। जब त्रिपुरदाह नामक डिम का प्रयोग भरतमुनि ने ब्रह्माजी की प्रेरणा से शिवजी के सम्मुख हिमाचल पर्वत के एक ऊँचे टीले पर जाकर प्रस्तुत किया। उसे देखकर शिवजी परम प्रसन्न हुए और ब्रह्मा द्वारा सृष्ट नाट्य की प्रशंसा करने लगे और उन्हें कहा कि मैंने भी सन्ध्याकालिक नृत्य करने के समय नाना प्रकार के करणों एवं अंगहारों से विभूषित नृत्त का स्मरण किया है। ऐसे नृत्त का प्रयोग आप भी अपने पूर्वरंग में संयुक्त कीजिए। अभी आपने जिस पूर्वरंग का प्रयोग किया है वह शुद्ध है जो इस नृत्य के संयोग से चित्र नाम धारण करेगा।

तब श्रीब्रह्माजी ने शिवजी से उस नृत्त विधि के उपदेश की प्रार्थना की। शिवजी ने अपने अनुचर तण्डु मुनि को बुलाकर भरत को नृत्त विधि की शिक्षा देने की आज्ञा दी। तण्डु के द्वारा शिक्षा दिये जाने के कारण भगवान् शिव द्वारा प्रवर्तित नृत्त की ताण्डव[1] नाम से प्रसिद्धि हुई।

इस नृत्त में हस्त, कटि, पार्श्व, पाद, जंघा, उदर, वक्षःस्थल तथा पृष्ठ

---

१. ताण्डव नृत्य से सम्बद्ध नृत्त, नृत्य तथा नाट्य शब्द व्याख्या-सापेक्ष है तथा इनके अभिनय में अंगों तथा उपांगों आदि का सहयोग रहता है, जिसे शास्त्रीय विधि के अनुसार साङ्ग एवं व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करना इष्ट है। अभिनय-निरूपण के साथ इन सभी अंगों का भरत ने विधिवत् विवरण दिया है। हमने भी नाट्यशास्त्र के तृतीय-भाग में इस विषय पर प्रस्तावना में तथा सम्बद्ध स्थानों पर टिप्पणी आदि में पर्याप्त विवेचन किया है। अभि-नय से सम्बद्ध होने से पाठक-गण इसका विवरण तृतीय भाग में देखने का कष्ट करें।

आदि स्थानों तथा गति, चेष्टा आदि क्रियाओं का महत्व होता है और इसी कारण इसमें कभी स्थित तथा कभी द्रुतगति की चेष्टाएँ रखी जाती हैं। इन चेष्टाओं से नृत्य में मातृकाएँ निर्मित होती हैं तथा तीन या चार मातृकाओं से करण का संगठन या निर्माण किया जाता है।

भरतमुनि ने इस अध्याय में एक सौ आठ करणों का उनकी विभिन्न मुद्राओं के साथ विस्तार से विवरण दिया है तथा यह विवरण अनेक परवर्ती संगीत-नाट्य-ग्रन्थों में पर्याप्त विवेचन के साथ मिलता है, जिसका आधार भरतमुनि का नाट्यशास्त्र ही है। इन करणों से अंगहार बनते हैं, जिनकी संख्या बत्तीस है। नृत्य में प्रभावशालिता और शालीनता लाने के लिये पाद-रेचक कटिरेचक, कररेचक तथा कण्ठरेचकों की कल्पना की गयी है। ताण्डव के उपकरणभूत इन करणों, अंगहारों एवं रेचकों की रूपरचना भगवान् शिव ने की थी, जिनसे तण्डु ने इन्हें प्राप्त किया और तण्डु से निर्दिष्ट होने से इस नृत्य को ताण्डव नाम से कहा जाने लगा।

इस अध्याय के करणों को समझने में चिदम्बरम् के नटराज मन्दिर में उत्कीर्ण मूर्तियों से पर्याप्त सहायता मिलती है। ये मूर्तियाँ मन्दिर की नृत्त-सभा के चौदह स्तम्भों पर उत्कीर्ण की गयी है। पूर्व तथा पश्चिम के दोनों पार्श्वों में स्थित सात सात स्तम्भों पर आठ आठ मूर्तियाँ नाट्यशास्त्र में लिखित लक्षणों के साथ उसी क्रम में रखी गयी हैं। एक पार्श्व के सात स्तम्भों पर संख्या १ से ५४ तक की करण मूर्तियाँ और उनकी मुद्राओं के लक्षण उत्कीर्ण किये गये हैं। दूसरे पार्श्व के सात स्तम्भों पर संख्या ५५ से १०८ तक के शेष चौवन करण अंकित किये गये हैं। इन्हीं के साथ शेष चार मूर्तियाँ संभवतः उस काल के मन्दिर निर्माता राजा-रानी तथा मूर्ति निर्माता शिल्पी की है। दोनों स्तम्भों पर ये युगल मूर्तियों के रूप में अंकित की गयी हैं। इसका निर्माण ईसवी सन् १२४३ तथा १२७३ के मध्य विद्यमान महान् शासक राजसिंह देव (कोप्परेंजिग देव) के शासनकाल में हुआ था, जो चोलराजाओं के विरोधी के रूप में पर्याप्त प्रसिद्ध थे।

बड़ौदा से प्रकाशित नाट्यशास्त्र के प्रथम संस्करण में म० म० रामकृष्ण-कवि ने मद्रास एप्रिग्राफिकल रिपोर्ट के आधार पर इन करणों के जो चित्र प्रस्तुत किये थें, उनमें पन्द्रह करणों के रेखाचित्र नहीं दिये गये थे, बाद में श्रीरामास्वामी शास्त्री ने नाट्यशास्त्र के प्रथम भाग की अभिनवभारती टीका के द्वितीय संस्करण के प्रकाशन के अवसर पर इस सम्बन्ध में अधिक खोज-बीन करने के लिये चिदंबरम् के नटराज मन्दिर की स्वयं जाकर परीक्षा की कि इसके करण लक्षणानुसारी हैं या नहीं। वहाँ उत्कीर्ण मूर्तियों की जब बारीकी से परीक्षा की गयी तो मर्तियों और करणों का लक्षणों से सम्बद्ध ठीक पाया गया। हमने भी दक्षिण भारत के ओटकमंड में विद्यमान पुरातत्व-

विभाग से बड़ौदा से प्रकाशित प्रथम संस्करण में मुद्रित सभी ६२ ब्लाक प्राप्त कर उन्हें प्रस्तुत संस्करण में दे दिया है। उन्हीं के नीचे नाट्यशास्त्र में करण-मुद्रा के वर्णन की पृष्ठ संख्या और श्लोक संख्या को देते हुए उस करण का नाम भी चित्र के ऊपर लिख दिया है। (श्रीरामास्वामी शास्त्री के इस सम्बन्ध में दिये गये समग्र प्रतिवेदन को हम यहाँ विस्तार भय से नहीं दे रहे हैं। अध्ययनार्थी उसे नाट्यशास्त्र के प्रथमभाग की बड़ौदा से प्रकाशित भूमिका में देख सकते हैं।) इन करणों को आधार बनाकर श्री वी॰ वी॰ नारायण स्वामी नायडू ने **'ताण्डवलक्षण'** नामक अपने ग्रंथ का सन् १९३६ में प्रकाशन किया तथा नृत्यों पर लिखे गये कपिला-वात्स्यायन के शोध प्रबन्ध[1] में भी इन करणों के विवरण दिये गये हैं। हमने इन करणों से सम्बन्ध अभिनवभारती व्याख्या में दिया गया विवेचन परिशिष्ट में अतिरिक्त टिप्पणियों में दे दिया है, जिसका आधार लेकर शारंगदेव ने संगीतरत्नाकर ग्रन्थ में करणों का विवरण दिया था। इन करणों तथा अंगहारों का विवरण संगीत के अन्य ग्रन्थों—यथा—पुण्डरीक विट्ठल के नर्तननिर्णय, राणाकुम्भकर्ण के संगीतराज, हरिपालदेव के संगीतसुधाकर, सोमेश्वर के मानसोल्लास में (कुछ नये या भिन्न स्वरूपों को जोड़ते या दिखलाते हुए) दिया गया है। इसमें नाट्यशास्त्र के आधार को केवल शारंगदेव ने नहीं छोड़ा इसी कारण प्रमाणकोटि में संगीत रत्नाकर का ही विवरण अधिक आता है। इस अध्याय के करणों को समझने में इन सब से सहायता मिल सकती है।

नृत्त के दो प्रकार नाट्यशास्त्र में निर्दशित हैं, जिनमें उद्धत नृत्य का नाम है ताण्डव तथा मधुर या सुकुमार नृत्य का नाम हैं लास्य। ताण्डव का शिव की शक्ति तथा स्फूर्तिमयी भावभंगिमाओं से एवं लास्य का सम्बन्ध पार्वती की सुकुमार भावभंगिमाओं से होने के कारण ताण्डव तथा लास्य नृत्य के भगवान शिव एवं पार्वती ही उद्‌भावक देवता भी माने गये हैं।

ताण्डव नृत्य का संयोजन देवताओ की स्तुति के प्रसंग में होता है। अतएव जो रेचक एवं अंगहारों से निर्मित नृत्य हैं तथा शिवजी के द्वारा जिसका पर्याप्त विकास एवं रूपविस्तार हुआ, वही ताण्डव है यह स्पष्ट है। जहाँ शृंगार रस से सम्बद्ध स्त्री-पुरुषाश्रित गान हो तो वहाँ ललित अङ्गहारों से सम्पन्न भगवती पार्वती के द्वारा विकसित लास्य नृत्य का संयोजन किया जाता है।

नृत्य के साथ गीत एवं वाद्य का प्रयोग रखा जाता है। जब नर्तकी मंच पर प्रथम बार प्रवेश करती है तो वाद्य तथा लय से अनुगत चारी को भी

१. क्लासिकल इण्डियन डान्स इन लिटरेचर एण्ड दी आर्टस्—कपिला वात्स्यायन—दिल्ली।

वह प्रस्तुत करती है। इस प्रकार के नृत्य के साथ जब अंगुलियों से पुष्प विखेरती हुई रंगमण्डप पर आती है तो एक अपूर्व शोभा का संचार हो उठता है।

भरतमुनि के इस नृत्यादि विवरण का प्रभाव नृत्यकला के शास्त्रीय ग्रंथों तथा प्रयोगों पर अतिशय घना दृष्टिगत होता है। नृत्य के क्षेत्र में भरत की मौलिक चिन्तना से अभिभूत प्राचीन नृत्य नाट्य के ग्रन्थ तो इसके प्रभावक्षेत्र में आ ही गये उस काल के मन्दिरों, प्रस्तर-भित्तियों आदि पर भी इसी प्रभाव के अन्तर्गत मुद्राएँ अंकित हो गयी, जिसने भरत के ऐतिहासिक एवं शाश्वत दोनों महत्व को एक साथ प्राख्यापित कर डाला।

नाट्यशास्त्र के पञ्चम अध्याय में पूर्वरंग विधान का सांगोपांग वर्णन है। पूर्वरङ्ग के स्वरूपादि को ध्यान से देखने पर विदित होता है कि पूर्वरङ्ग नाट्यप्रयोग के पूर्व समय की चरमपरीक्षास्थली है। भरत ने नाट्यप्रयोग के आरम्भ के पूर्व अनेक अनुष्ठानों का विधान बतलाते हुए बतलाया कि इसमें मुख्यरूप में गीत, वाद्य, नृत्य और पाठ्य आदि का प्रयोग यवनिका के भीतर तथा बाहर किया जाता है। जिसका उद्देश्य है—उपस्थित सामाजिकों का अनुरञ्जन, प्रयोगपरीक्षण तथा कवि, काव्य एवं कथावस्तु का उपक्षेपण। इनका पूर्वरङ्ग नाम भी इसी कारण है कि ये विधियाँ प्रस्तुत होने वाले नाट्यप्रयोग के पूर्व ही सम्पन्न की जाती हैं।

आचार्य **अभिनवगुप्त** ने पूर्वरङ्ग के व्याख्यान-प्रसंग में वार्तिककार हर्ष के मन्तव्य को उपस्थापित करते हुए प्रतिपादित किया कि रङ्गमञ्च पर पूर्व प्रयोग के कारण इसका नाम पूर्वरङ्ग है। दशरूपक के वृत्तिकार आचार्य धनिक ने सामाजिकों की परिपुष्टि के कारण इसे पूर्वरङ्ग बतलाया। **भावप्रकाशनकारशारदातनय** के मत में पूर्वरंग की क्रिया के द्वारा नट एवं नटी आदि का पारस्परिक अनुरंजन भी होता है। इसका प्रयोग सामाजिकों के लिए आँशिक महत्वशाली है, क्योंकि इसकी अनेक क्रियाएँ यवनिका के भीतर होती हैं। साहित्यदर्पण के रचयिता **विश्वनाथ कविराज** के अनुसार पूर्वरंग का प्रयोग विघ्नोपशमन के लिये है, क्योंकि जब दैत्यों ने नाटक के समय उपद्रव किया था तो उपद्रव से रक्षा के लिए ही रंगपूजा की विधि रखी गयी थी जिसकी नाट्यशास्त्र में विस्तार से चर्चा भी है। नाट्यदर्पणकार **रामचन्द्र** तथा **गुणचन्द्र** के मत में पूर्वरंग के प्रयोग में रंजना ही को मुख्य-हेतु समझना चाहिए। विघ्नोपशान्ति, पाठ तथा मंगलाशंसा का श्रद्धा के कारण महत्व है परन्तु रंगपूर्व के धार्मिकपक्ष पर यदि बल न दिया जाए तो भी पूर्वरंग का प्रयोग विशुद्ध नाट्यप्रयोग से सम्बद्ध (रहता) ही है, जिसमें अन्तर्यवनिका या परदे के अन्दर की जाने वाली प्रत्याहार, अवतरण आदि क्रियाएँ होती हैं जिनकी उपेक्षा सम्भव नहीं हैं।

आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने पूर्वरंग की विधियों की तन्तुपट से तुलना करते हुए यह निर्दशित किया कि जैसे तुरी, तन्तु, वेमा आदि के संयोग के बिना पट का निर्माण नहीं होता, उसी प्रकार गीत, वाद्य, पाठ्य, नृत्यरूपी एक-एक सूत्र को मिलाकर ही प्रयोक्ता नाट्य को सफल रूप दे सकता है। इस सफलता की अन्तिम परीक्षा का स्थान है पूर्वरंग जिसमें प्रेक्षक, विद्वान् आदि परितुष्ट होते थे।

पूर्वरङ्ग के अङ्ग—पूर्वरंग के नाट्यशास्त्र में उन्नीस अङ्ग बतलाकर उनको दो भागों में विभाजित किया गया है। तदनुसार प्रत्याहार से आसारित तक की नौ विधियों का प्रयोग अन्तर्यवनिका या पर्दे के अन्दर होता था तथा शेष दस विधियों को यवनिका के उद्घाटन के बाद रंगपीठ पर प्रस्तुत किया जाता था।

इनमें (१) **प्रत्याहार** में वाद्य यन्त्रों का विन्यास, (२) **अवतरण** में गायक-गायिकाओं का उचित स्थान पर निवेशन, (३) **आरम्भ** में सामूहिक परिगीत-क्रिया का समारम्भ, (४) **आश्रावणा** में वाद्ययन्त्रों की आलापादि के साथ एकरूपता लाना (५) **वक्त्रपाणि** में वाद्ययन्त्रों का स्वरसन्धान, (६) **परिघट्टना** में तन्त्रीवाद्यों की सारणा या स्वर-साधन (७) **संघोटना** में कालनिर्धारण के परीक्षणार्थ तालवाद्यों को प्रहारादि से ठीक करते हुए श्रवण करना, (८) **मार्गासारित** में विभिन्न वाद्य-यन्त्रों का स्वर-समन्वय तथा (९) **आसारित** में नर्तकियों के पाद-विन्यासगत कला और लय का विनिश्चय रखा जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि इन नौ विधियों का सम्बन्ध यद्यपि मुख्यरूप में प्रयोक्तागण से रहता है फिर भी वाद्य-यन्त्रों के विधिवत् परीक्षण और सन्तुलन को अन्तिम रूप से कर लेने पर प्रयोग के व्यवस्थित होने के कारण सामाजिकों का भी परितोष होने से इसका उद्देश्य दोनों (प्रयोक्ता एवं सामाजिक) की रञ्जना मानना चाहिए।

यवनिका को हटाकर पूर्वरंग की जिन विधियों की रंगपीठ पर प्रस्तुत किया जाता था उनमें—(१) **गीतक** या **गीतविधि** में देवताओं का कीर्तन (२) **उत्थापन** में नान्दीपाठकों द्वारा मंगलोत्सव का आरम्भ, (३) **परिवर्तन** में सूत्रधार द्वारा परिक्रमा कर इन्द्र की वन्दना तथा जर्जर-स्तुति, (४) **नान्दी** में सूत्रधार द्वारा आशीर्वचनसमन्वित स्तुति-पाठ (५) **शुष्कावकृष्ट** में सूत्रधार द्वारा जर्जर श्लोक के पाठ के अवसर पर अवकृष्टा-ध्रुवा का शुष्काक्षर में पाठ, (६) **रङ्गद्वार** में आंगिक और वाचिक अभिनय की अवतारणा, (७) **चारी** में शृंगार-रस के भावों का गति द्वारा प्रसार, (८) **महाचारी** में रौद्ररस के भावों की गतियों के द्वारा अभिव्यञ्जना, (९) त्रिगत में सूत्रधार, पारिपार्श्विक एवं विदूषक के द्वारा कथावस्तु के सम्बन्ध में कौतूहलपूर्ण वार्तालाप तथा (१०) प्ररोचना में काव्योक्षेप, काव्यवस्तु का

निरूपण तथा कवि के अभिधान को बतलाकर सामाजिकों में प्रस्तुत होने वाले प्रयोग के प्रति अभिरुचि जागृत करना रहता है। इन दसों विषयों के द्वारा मुख्यरूप से मंगलाशंसा तथा नाटचप्रयोग (काव्य) के प्रयोजन या अर्थ की सूचना दी जाती है।

पूर्वरंग के इन विभेदों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसकी विधियाँ धार्मिक होने के साथ-साथ नाटचप्रयोगपरक भी है, जिनमें नाटप्रयोग की कथावस्तु, कविनाम एवं प्रयोग के गुणकीर्तन आदि की भी प्रमुखता रहती है। पूर्वरंग के अंगों की संख्या के विषय में आचार्यों की विविध विचारणाएँ हैं। आचार्य अभिनवगुप्तपाद, शारदातनय तथा सागरनन्दी ने अतिरिक्त अंगों की चर्चा करते हुए नान्दी की प्रमुखता तथा अनिवार्यता का उल्लेख किया है। अनेक आचार्यों के मत में नान्दी के अतिरिक्त शेष अंग अधिक प्रमुखता के भागी नहीं है, क्योंकि ब्रह्मा ने भी नाटचोत्पत्ति के प्रसंग में नान्दी का ही उल्लेख किया है तथा उसके नित्यप्रयोग का सुस्पष्ट निर्देश भी दिया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पूर्वरङ्ग की विधियों का नाटचप्रयोग की दृष्टि से कम महत्व नहीं है।

नान्दी—भरत ने अपने नाटचशास्त्र में पूर्वरङ्ग के प्रसंग में नान्दी का पाठ भी प्रस्तुत किया है जिसमें मांगलिक भावभूमि का सुन्दर संकेत है। इसमें देव, द्विज आदि पूज्यजन की वन्दना के साथ प्रशासक के सुशासन, राष्ट्र के प्रवर्धन, रंग की आशावृत्ति, नाटचकार कवि की धर्म एवं यश की प्राप्ति तथा देवताओं के प्रतिवर्धन की कल्पना की गयी है। इस प्रकार भरतमुनि ने देव-ताओं से लेकर प्रेक्षक तक को अपनी मांगलिक भावना की माला में अनुस्यूत कर लिया है। नान्दी के अधिष्ठाता चन्द्रदेव हैं जो इसके अनुष्ठान से प्रसन्न होते हैं। चन्द्र रसेश्वर हैं और नाटय का प्रतिपाद्य रस है, इस प्रकार भरत-प्रोक्त नान्दी में रसेश्वरता तथा नाट्य की रसमयता का एक ही बिन्दु पर समन्वय दिखलाई देता है।

भरतमुनि के नान्दीविषयक विचारों का परवर्ती विद्वानों ने पर्याप्त उप-बृंहण किया—इनमें अग्निपुराण, आदिभरत, भावप्रकाशन, नाट्यप्रदीप, रसा-र्णवसुधाकर तथा साहित्यदर्पण में नान्दी के विवरण विशेष उल्लेख हैं। इनमें अभिज्ञानशाकुन्तल की राघवभट्ट प्रणीत व्याख्या में उद्धृत आदिभरत के मत में नान्दी के द्वारा काव्यार्थ की सूचना दी जाती है तथा इसमें पदों की संख्या आठ या दस रखी जाती है। (आशीर्नमस्क्रियारूपः श्लोकः कथ्यते—(अभि-ज्ञानशाकुन्तल टीका निर्णय० सं० पृष्ठ ५), अग्निपुराण (३३८।९–१०) के अनुसार नान्दी के बाद सूत्रधार का प्रवेश होता है, तथा भास के नाटकों में नान्दी के बाद सूत्रधार का प्रवेश प्राप्त भी होता है। **भावप्रकाशन**

(भावप्रका०-१९६-१९७) में शिव के नृत्यकाल में उपस्थित वृषनन्दी की पूजा के साथ भी नान्दी का सम्बन्ध दिखलाया गया है। इसके अनुसार नान्दी प्रेक्षकवर्ग को आनन्दित करने के कारण नन्दन करने से नान्दी कहलाई। नाट्प्रदीप ने 'नन्दन्ति काव्यानि कवीन्द्रवर्गाः कुशीलवाः पारिषदाश्च सन्तः। यस्मादलं सज्जनसिन्धु-हंसी तस्मादियं सा कथितेह नान्दी ॥' कहकर नान्दी की बड़ी मनोहारी व्याख्या दी। जिसके अनुसार नान्दी कविजन, कुशीलव तथा सभ्यों का नन्दन करती हुई सज्जनरूपी सागर की हंसिनी जैसी दिखलाई देती है। सिंहभूपाल के रसार्णवसुधाकर के नाटकलक्षण रत्नकोश में नान्दी प्रकरण (चौखम्बा संस्करण) भरतानुसारी है। इसमें रसार्णवसुधाकर में अग्निपुराण के प्रभाव से गृहीत दस पदों की नान्दी का निदर्शन किया गया है। प्रतापरुद्रीय (प्रतापरुद्रीय पृष्ठ १३१) में नान्दी के द्वारा काव्यार्थसूचन दिखलाकर नान्दी के पदों की संख्या बाइस तक बढ़ा दी गयी है। साहित्यदर्पण (साहित्यदर्पण-६।११ तथा उसके गद्य भाग की वृत्ति) में विश्वनाथ कविराज ने नान्दी की प्रमुखता दिखलाते हुए उसे प्रयोक्ता का प्रतिपाद्य बतलाया, कविकर्तव्य नहीं। इसके अनुसार 'वेदान्तेषु' इत्यादि कालिदास के विक्रमोर्वशीय का आरम्भ का पद्य नान्दी नहीं रंगद्वार हैं, जहाँ से कवि के द्वारा रचित नाट्य का प्रयोग आरम्भ होता है।

नान्दी के उपरान्त पूर्वरङ्ग के शुष्कावकृष्ट, रङ्गद्वार, चारी, महाचारी, त्रिगत तथा प्ररोचना का क्रमिक प्रयोग होता है। इसमें शुष्कावकृष्ट के बाद सूत्रधार द्वारा ऐसा श्लोक पाठ किया जाता था जिसमें ब्रह्मा आदि देवों का स्तुति पाठ रहता था। इसके बाद चारी नृत्य आरम्भ हो जाता था। (चारी का विस्तृत विवरण ना० शा० ११ वें अध्याय में है) चारी शृंगार रस से युक्त रहती थी जो पार्वती देवी की प्रीति के लिये प्रस्तुत की जाती थी। इसके बाद रौद्ररस युक्त महाचारी का प्रयोग किया जाता था जो भगवान् शिव की प्रीति का आपादन करती थी। रंगद्वार से लेकर चारी और महाचारी के द्वारा गीत, वाद्य तथा नृत्य की मधुरता की सृष्टि की जाती है। इसके बाद त्रिगत का प्रयोग किया जाता है जिसमें विदूषक, सूत्रधार तथा पारिपार्श्विक के द्वारा कथावस्तु से सम्बन्धित ऐसी परिहासपूर्ण कथोपकथन की योजना की जाती है, जिससे सूत्रधार के चेहरे पर स्मित छा जाए। इसके बाद प्ररोचना द्वारा नाटचप्रयोग की सिद्धि के लिये काव्योपक्षेपण होता है। प्ररोचना भारतीवृत्ति का एक भेद है। आचार्य अभिनवगुप्तपाद के मत में प्ररोचना को नान्दी के रूप में भी रखा जा सकता हैं क्योंकि मंगल तथा विजय की आशंका दोनों में समान रूप से विद्यमान रहती है। किन्तु भरत ने प्ररोचना का एक दूसरा उद्देश्य भी दिखलाया है कि वह काव्योपक्षेपण का कार्य भी करती है तथा

जब यह नान्दी के उपरान्त प्रयुक्त की जाती है तो समान उद्देश्य की स्थिति नान्दी और प्ररोचना में हो ही नहीं सकती। अतएव प्ररोचना नान्दी और प्रस्तावना के मध्य में विद्यमान एक संयोजक शृंखला के रूप में अपना स्वतंत्र महत्व रखती है यह स्पष्ट ही है।

प्रस्तावना या स्थापना—पूर्वरंग के अन्तर्गत प्रस्तुत होने वाले नाट्य-प्रयोग का महत्वपूर्ण अंग प्रस्तावना है। क्योंकि इसमें कवि, काव्य तथा प्रयोक्ता का परिचय दिया जाता है और यहीं पर नाट्यसृष्टि के कारणीभूत प्रमुख अंगों का सांकेतिकता के साथ प्रेक्षकों के समक्ष प्रदर्शन भी होता है। प्रस्तावना के ही पर्याय हैं आमुख तथा स्थापना, जिनका प्रयोग स्वयं भरत-मुनि ने नाट्यशास्त्र में किया है। पञ्चम अध्याय में स्पष्ट रूप में प्रस्तावना या स्थापना की पृथक् कार्य-विधि नहीं दिखलाई गयी [तथा इनका विवरण स्पष्ट भी नहीं है।] इस विवरण से इतना प्रतीत होता है कि जब भरत ने स्थापक के प्रवेश का उल्लेख किया है और प्रस्तावक के निष्क्रमण का तो इससे ये दोनों समानार्थक (बन जाते) हैं। इस क्रम में जब भारती वृत्ति के स्वरूप की (नाट्यशास्त्र अध्याय २२ में) चर्चा की गयी तो वहाँ भी इन दोनों को समानार्थक दिखलाया गया है। अतः प्रस्तावना, स्थापना तथा आमुख पर्याय-वाची शब्द हैं। अभिनवगुप्तपाद ने स्थापक तथा सूत्रधार की भिन्नकर्तृता को अस्वीकार कर बतलाया कि स्थापना की स्थापक या प्रस्तावक सूत्रधार ही नान्दी-प्रयोग को सम्पन्न कर स्थापक के रूप में प्रयोग करता है। अभिनवगुप्त के समय में सूत्रधार तथा स्थापक का कार्य एक ही व्यक्ति के द्वारा सम्पन्न हो जाता था, यह स्पष्ट है। इससे इतना अवश्य प्रतीत होता है कि प्राचीन नाट्यपरम्परा में पूर्वरंग की विधियों के विस्तीर्ण प्रयोग के कारण सूत्रधार और स्थापक जैसे भिन्न व्यक्तित्व रखे गये होंगे तथा दोनों की पृथक् कार्य विधियाँ भी निश्चित की गयी होंगी पर कालान्तर में यह विस्तार स्थिर नहीं रह सका, जिसका प्रतिफलन आचार्य अभिनवगुप्तपाद की उपर्युक्त विचार-धारा से तो परिलक्षित होता ही है उत्तरवर्ती नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों के लेखक आचार्य धनञ्जय तथा विश्वनाथ के विवरणों से भी (यही) स्पष्ट हो जाता है कि उनके समय में भी पूर्वरंग के ये कार्यकलाप इतने विस्तीर्ण नहीं रह गये थे।

पूर्वरंग की विधियों में नान्दी और प्रस्तावना महत्वपूर्ण मानी जाती है। प्रस्तावना भारती वृत्ति का अंग होती है। इसके पाँच प्रकार मुनि ने नाट्य-शास्त्र के अध्याय २२ में निर्दशित किये हैं—यथा—उद्घात्यक, कथोद्घात्य, प्रयोगातिशय, प्रवर्त्तक तथा अवलगित। भरत-मुनि ने रूपक प्रबन्ध में इन पाँचों में से किसी एक की योजना को अपेक्षित मानहै। आचार्य नखकुट्ट के मत में नेपथ्योक्त वचन या आकाशभाषित के श्रवणा पर भी सूत्रधार इन भेदों

के अतिरिक्त प्रस्तावन का कार्य कर सकता है। अतएव यह अतिरिक्त प्रस्तावना भेद है। (प्रस्तावना के इन प्रभेदों के उदाहरण यथास्थान नाट्यशास्त्र अध्याय २२ पर पुनः द्रष्टव्य)।

पूर्वरंग के विभेद—भरतमुनि ने पूर्वरङ्ग के चार भेद बतलाये। इनमें सर्वप्रथम पूर्वरङ्ग के दो भेद किये गये हैं। ये हैं—चतुरस्र तथा त्र्यस्र। चतुरस्रपूर्वरङ्ग में कला, ताल तथा लयाश्रित हस्त तथा पाद के सोलह पात होते हैं, जबकि त्र्यस्र पूर्वरङ्ग में इनकी संख्या बारह होती है। यही दोनों का भेद भी है। क्योंकि त्र्यस्र में वाद्य, गति-प्रचार ध्रुवा और ताल का जिस मात्रा में प्रयोग होता है, चतुरस्र में उससे (थोड़ा) विस्तृत रहता है। यही जब भारती-वृत्ति के उपाश्रित हो गीत एवं वाद्य के साथ नृत्य-प्रयोग से हीन रहता है तो शुद्ध पूर्वरङ्ग बन जाता है। इस प्रकार पूर्वरङ्ग के तीन प्रकार बन जाते हैं—त्र्यस्र, चतुरस्र तथा शुद्ध।

इन भेदों के अतिरिक्त एक अन्य प्रभेद भी मुनि ने बतलाया है। यह है चित्र-पूर्वरङ्ग। चित्रपूर्वरङ्ग में गीत और नृत्य की योजना विशेषरूप में रखी जाती है तथा गान और नृत्य की रसमयी मुद्राओं से प्रदर्शन करने की विधि के समायोजन से शुद्ध पूर्वरङ्ग ही चित्र के रूप में परिगत हो जाता है।

यदि नाटचशास्त्र के चतुर्थाध्याय के सन्दर्भ को ध्यान में रखकर देखा जाए तो विदित होगा कि चित्र-पूर्वरङ्ग की सृष्टि भगवान् शिव के द्वारा की गयी। क्योंकि भरतमुनि ने ब्रह्मा के प्राप्त नाटचवेद के शिक्षण के अनुसार अपने प्रयोग में (शुद्ध) पूर्वरङ्ग की योजना की थी। जब उसका प्रयोग शिवजी ने देखा तो उसमें नृत्त-प्रयोग को जोड़ने का आदेश देकर तण्डु द्वारा भरत को ऐसे नृत्य की शिक्षा दिलवायी जो करण तथा अङ्गहारों से विभूषित था। आचार्य अभिनवगुप्त ने चित्र-पूर्वरङ्ग के विषय में बतलाया कि भरतमुनि ने पूर्वरङ्ग में नृत्य की योजना नहीं की थी पर जब भगवान् शिव से निर्दिष्ट नृत्य को भी इसमें संयुक्त किया गया तो वैचित्र्यकारक होने से इसे चित्र-पूर्वरङ्ग में ताण्डव या लास्य की योजना आवश्यकतानुसार रखी जा सकती है।

पूर्वरङ्ग की महत्ता तथा उद्देश्य भी भरतमुनि ने बतलाये हैं। तदनुसार पूर्वरङ्ग के विधिवद् सम्पन्न करने पर नाटच में विघ्न नहीं होता, किन्तु प्रमाद करने पर अनिष्ट अवश्य होता है। पूर्वरङ्ग के इस विश्लेषण से भरतमुनि की सूक्ष्म प्रयोग दृष्टि का हमें अवबोध होता है। (जिसे उनने अतिस्पष्टता से विषय-विवरण के साथ दिया)। नाटचशास्त्र द्वारा पूर्वरङ्ग विधान पर इतना बल दिये जाने पर भी बाद में इसका सर्वांगीण प्रयोग स्थायी नहीं रह पाया और उत्तरोत्तर भरतकाली पूर्वरङ्ग विधियों के संक्षेपकरण की प्रवृत्ति बल पकड़ने लगी। आचार्य विश्वनाथ कविराज के साहित्यदर्पणगत उल्लेख इस

प्रवृत्ति के स्पष्ट निदर्शन है' क्योंकि उनके समय में इतनी विस्तीर्ण पूर्वरङ्गीय क्रियाएँ नहीं रह गयी थी।

नाटचोत्पत्ति से लेकर पूर्वरंग की चित्रपूर्वरंग-विधि तक यदि दृष्टिपात किया जाए तो यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि नाटचशास्त्र अनेक क्रमिक संस्कारों के बाद व्यवस्थित हुआ था। इसमें सर्वप्रथम वेदों से गृहीत पाठ्य, गीत, अभिनय तथा रसवाले नाट्यवेद में ब्रह्मा ने इतिहास जोड़ा, फिर इसमें कैशिकीवृत्ति के संयोजन के कारण स्त्रियों का प्रवेश हुआ। यह दो संस्कार हुए। तीसरी बार दैत्यों के द्वारा किये गये विघ्नों को दूर करने के लिए रंग-पूजा जोड़ी गयी और अन्त में करणों और अंगहारों से युक्त ताण्डव का पूर्व-रङ्ग में संयोजन भगवान् शिवजी ने करवाया। जिससे ताण्डव का नाटक में समावेश हुआ। यह चौथा संस्कार था। भारतीय परम्परा के अनुसार जब नाट्यशास्त्र ने इन चारों कक्षाओं का अतिक्रमण कर लिया तो उसे पूर्णता प्राप्त हुई, जो इसके ऐतिहासिक विकास का भी एक संकेत (बना सकता) है।

प्रथम से पञ्चमाध्याय तक जो कुछ नाट्यवेद या नाट्यशास्त्र में बतलाया गया वे विधियाँ हैं। षष्ठाध्याय में पूर्वरंगविधि के श्रवण के बाद मुनियों ने पुनः पांच प्रश्न किये। यथा—(१) रस क्या है तथा रसत्व का कारण कौन है? (२) भाव क्यों हैं तथा वे किस वस्तु का भावन करते हैं? (३) संग्रह, (४) कारिका तथा (५) निरुक्त के स्वरूप कैसे हैं?

भरतमुनि ने इसके उत्तर में बतलाया कि यद्यपि ज्ञान और शिल्प की अनन्तता के कारण नाट्य का अन्त पाना कठिन है किन्तु संक्षेप में सूत्ररूप में नाट्य का रसभावादि संग्रह बतलाता हूँ। फिर अर्थों के संक्षिप्त निबन्धन को संग्रह बतलाते हुए मुनि ने संपूर्ण नाट्यशास्त्र के प्रतिपाद्य अर्थों का संग्रह एक श्लोक में इस प्रकार बतलाया।

> रसभावा ह्यभिनया धर्मी-वृत्ति-प्रवृत्तयः।
> सिद्धि-स्वरास्तथातोद्यं गानं रंगश्च संग्रहः॥ [ना० शा० ६।११]

अर्थात् नाट्यशास्त्र के संक्षेप में ग्यारह संग्रह अंग है:—

(१) रस, (२) भाव, (३) अभिनय, (४) धर्मी, (५) वृत्ति, (६) प्रवृत्ति, (७) सिद्धि, (८) स्वर, (९) आतोद्य, (१०) गान तथा (११) रंग।

मुनि ने आरम्भ में इन एकादश अङ्गों का संक्षिप्त स्वरूप दिखलाकर बाद में जो विस्तार से व्याख्या के साथ विवरण दिया वह शास्त्र है। यह विधि भिन्न स्वरूप वाला है क्योंकि इसमें रसादि के भेदोपभेदों को युक्तिपूर्वक बतलाते हुए ज्ञान करवाने के साथ-साथ इनकी क्यों और कब प्रयोग के लिये विधि की जाए यह भी दर्शाया गया है विधि सदा अवश्यानुष्ठेय होती है तथा उसमें तर्क का प्रवेश कम ही रहता है किन्तु शास्त्र में ऊहापोह यथा तर्क का

अधिक प्रसार हो सकता है क्योंकि उसमें शंका समाधान की पर्याप्त गुंजाइश होती है और इससे बौद्धिक विवरण का पर्याप्त आधार मिल जाता है।

षष्ठाध्याय रसाध्याय है जिसमें नाट्यप्रसंग में (तथा नाट्य-रस के सन्दर्भ में) उद्दिष्ट रसस्वरूप की सूत्र-भाष्यरूप व्याख्या-भरतमुनि ने प्रस्तुत की है। भारतीय समीक्षाशास्त्र को भरतप्रोक्त रस-सिद्धान्त एक अमूल्य देन है। यद्यपि भरतमुनि रस के आदि प्रतिष्ठाता आचार्य हैं किन्तु नाट्यशास्त्र से ऐसा संकेत भी मिलता है कि इनके पूर्व भी रस-मीमांसा की परम्परा विद्यमान थी। नाट्यशास्त्र के षष्ठ तथा सप्तम अध्याय में रस तथा भावों के विवेचन के अवसर पर भरत मुनि ने पूर्ववर्ती आचार्यों के आनुवंशश्लोक तथा आर्याएँ अपने विचारों के अनुमोदन में प्रस्तुत की है। इतना होने पर भी एक सुनिश्चित सिद्धान्त के रूप में सर्वप्रथम रस का उपस्थापन भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में ही है, जहाँ नाट्यप्रसङ्ग में रसनिरूपण किया गया है। काव्य के सन्दर्भों के साथ रससिद्धान्त की विवेचना बाद में आरम्भ हुई। भरतमुनि काव्य तथा नाट्य-के उस विभेद को जो आज माना जाता है स्वीकार ही नहीं करते थे। उनके समय में रस नाटक का धर्म था तथा चतुर्विध अभिनयों के द्वारा सहृदय सामाजिक के चित्त में रसनिष्पत्ति का सम्पादन करना नाटकों का उद्देश्य था।

भरतमुनि ने नाटच के सन्दर्भ में जैसा रस का निरूपण किया तथा इस प्रसंग में मानवीय संवेगों, प्रवृत्तियों तथा क्षणिक अनुभूतियों का जो मार्मिक विश्लेषण प्रस्तुत किया वह मानवमन के सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करने वाले आधुनिक मनोविज्ञानशास्त्र तथा उसकी सम्प्राप्त उपलब्धियों से आश्चर्यजनक समानता लिये हुये हैं। डॉ० ए० बी० कीथ ने अपने सुप्रसिद्ध-ग्रन्थ संस्कृत नाटक में (पृ० ३३६) रस के विषय में बतलाया कि भारतीय नाटचशास्त्र का सर्वाधिक मौलिक तथा मनोहारी प्रसङ्ग है रस के क्रमिक विकास का जिसमें सामाजिक के हृदय में रसानुभूति उत्पन्न कराना ही नाटक का उद्देश्य था।

रस की प्रमुखता को बतलाते हुए मुनि ने स्वयं ही कहा कि–'नहि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते' अर्थात् बिना रसज्ञान के किसी भी नाटचोक्त विभावादि को जानना कठिन होगा। नाट्यशास्त्र के मुख्य विवेच्य विषय चार हैं–रस, अभिनय, संगीत तथा नृत्य किन्तु मुनि की दृष्टि में रस इन सभी में प्रमुख है; क्योंकि अभिनय, नृत्य तथा संगीत के द्वारा रस को ही अभिव्यक्ति मिलती है तथा ये रस की अभिव्यक्ति में प्रधान या गौण रूप में सहकारी होने से साधन मात्र हैं, साध्य नहीं। यहाँ तक कि मुनि ने जिन-जिन विषयों की नाट्यशास्त्र में व्याख्या या विवरण दिये हैं उस सभी का साक्षात् या परम्परया रस से ही सम्बन्ध रहता है। उदाहरणार्थ—हम रंगमंच या प्रेक्षागृह को

ही ले लें। इस प्रसङ्ग में जब मध्यम-विकृष्ट नाट्यगृह की चर्चा करते हुए मुनि इसके आकार का वर्णन करते हैं तो इसकी उपयोगिता को इसलिये अधिक दर्शाते हैं, क्योंकि यही नाट्यगृह का आकार रस के साक्षात्कार कर-वाने में अधिक सक्षम है। रंगमञ्च का आकार यदि विशाल हुआ तो दर्शकों के लिये रस अस्पष्टता धारण कर लेगा, जो वाणी के उच्चारण तथा शारीर अनुभावों द्वारा व्यक्त किया जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि भरतमुनि द्वारा नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित सभी विवेच्य विषय रस की अभिव्यक्ति के साधन मात्र होकर ही प्रस्तुत किये गये हैं।

आचार्य अभिनवगुप्त (अभि० भा० भाग १ पृष्ठ—२९२) के मत में नाटक से (अनिवार्य रूप में) विषय रूप रस की उद्‌भावना होती है, क्योंकि प्रकृति-जन्य वस्तुओं में इसकी प्राप्ति असंभव है। यह रस शुद्ध एकत्व रूप नहीं होता है क्योंकि इसकी अनेकता में एकत्वस्वरूप तत्व होता है स्थायीभाव, जो रसो-त्पादक तत्त्व में सबसे महत्वशाली है एवं अन्य सभी सहकारी है। ये हैं—विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारीभाव। ये स्थायीभाव को उसी प्रकार महत्व-शाली बनाते हैं जैसे राजसी साज-सज्जा तथा सेवकवर्ग राजा को प्रमुखता दिलवाते हैं। इसमें जैसे केन्द्रिय स्थान राजा लेता है उसी प्रकार स्थायीभाव ही दर्शकों का आकर्षक बिन्दु बनकर मुख्यता धारण करता है तथा इसी कारण यह कहा जाता है कि विभावादि से व्यक्त होने वाला स्थायीभाव ही रस है ('व्यक्तः स तै विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः' (काव्य प्र० ४।२८)

विभावादि का स्वरूप—विभाव शब्द से आशय है नाट्यगत वह परि-स्थिति या अवसर जिसकी सहायता से नायक में स्थायीभाव उद्‌बुद्ध होता हो। यही नायक के साथ तादात्म्य स्थापित करने के कारण प्रेक्षक में भी उदित हो जाता है और इसे कारण न कहकर विभाव पद से इसलिये कहा भी जाता है। देश, काल तथा अवच्छिन्न वस्तु में सदा भेद रहता ही है। इसीभेद ने विभावों को भी दो रूपों में विभक्त कर दिया एक आलम्बन विभाव या अवच्छिन्न वस्तु जो स्थायीभाव का आधार होती है तथा दूसरा उद्दीपन-विभाव—जो देश और काल के समग्र रूप के साथ प्रेरक वातावरण के रूप में आकर वस्तु या आश्रय के प्रभाव को तीव्रतम बनाता है। व्यावहारिक जगत् में किसी स्थायी-भाव के कार्य(कहे जाने वाले) तथा स्थायी-भाव की जागृति से उद्‌भूत होने वाली शारीरिक चेष्टाएं नाट्यप्रयोग में अनुभाव कहलाती है। ये चेष्टाएं या गतियाँ दो प्रकार की होंगी। एक इच्छा से उत्पन्न होने वाली और दूसरी सहजन्य या स्वयमुद्‌भूत। इच्छा से उत्पन्न चेष्टाएँ दूसरों पर अपने भाव को प्रकट करने के लिये की जाती हैं। ये स्थायीभाव के इच्छाजन्य प्रकटन के रूप में रहती हैं। जैसे—आँखों या भौंहों का परिचालन। अपनी इच्छा से जिन

शारीरिक क्रियाओं को प्रकट किया जाए वे हैं अनुभाव। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार की भी चेष्टाएँ होती हैं, जो भावों के उदित होने या व्यक्त होने पर स्वयं ही बिना किसी इच्छा के प्रकट होती है—जैसे व्रीडा, रोमांच, स्वर-भंग, विवर्णता इत्यादि। ये स्वयमुद्भूत चेष्टाएँ सात्विकभाव कहलाती हैं। अन्तःकरण में स्थायीभाव के रहने पर ही सात्विक भावों की अभिव्यक्ति होती है। ये स्थायी-भावों के अविनाभावी-लक्षण या चिह्न माने जाते हैं। भरतमुनि ने उनचास भावों का वर्णन करते हुए उन्हें रसानुभव में उपयोगी बतलाया है। इनमें आठ स्थायी-भाव, तैंतीस व्यभिचारीभाव तथा आठ सात्विकभाव हैं। सात्विकभावों को अनुभाव के अन्तर्गत लिया जा सकता है किन्तु फिर भी इनकी पृथक् गणना का कारण है इनका स्थायीभाव के व्यक्त होने पर तदन्तर्गत किसी इच्छा के साथ स्वयं प्रकट होना जिससे इनके विषय में कोई संदेह न किया जा सके।

व्यभिचारीभाव अस्थायी होने के कारण संचारीभाव कहे जाते हैं। आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने व्यभिचारीभाव की व्याख्या करते हुए बतलाया कि इन्हें व्यभिचारीभाव कहने का कारण है—इनका विधि रसों के अनुभव में दर्शक के सम्मुख प्रत्यक्षवत् प्रकट होना। एक अन्य कारण से भी इन्हें संचारीभाव कहते हैं, क्योंकि ये विविध रसों को मानों प्रत्यक्ष रूप में दर्शकों के समक्ष उपस्थितकर देते हैं। क्योंकि जब एक उपयुक्त परिस्थिति में प्रभूत अस्थायी मानसिक अवस्थाओं का अभिनय किया जाता है तो दर्शकों के चित्त में उस स्थायीभाव के विषय में कोई आशंका नहीं रहती जिससे इनकी उत्पत्ति होती है। ये अस्थायी मानसिक दशाएँ संचारीभाव हैं।

स्थायीभाव को इन उनचास भावों के अन्तर्गत प्रमुख स्थान नाट्यशास्त्र में दिया गया है। स्थायीभाव भी चित्तवृत्तिरूप होते हैं किन्तु चित्त के अन्दर स्थायिता ही इनकी प्रमुखता में हेतु है। ये भाव मनुष्य में प्रधानरूप से विद्यमान होकर उसके चरित्र-गठन में सहयोग करते हैं। यह एक स्थायी मानसिक भावावस्था है। इसका उदय किसी विशिष्ट परिस्थिति के कारण होता है, जिसमें कर्त्ता या नायक अवस्थित रहता है। इसलिये यह भावावस्था उद्दिष्टकार्य सभी दशाओं में एक-सी बनी रहती है तथा इसी कारण स्थायी-भाव कहलाती है। स्थायीभाव आठ हैं जिनका प्रकटन विभावों, अनुभावों तथा संचारीभावों के सहकार से होता है। इनका विशद वर्णन भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के सप्तम अध्याय में किया है। (इस भावाध्याय की सम्प्रति अभिनवभारती प्राप्त नहीं है। भावों का विशेष विवरण यहाँ देना आवश्यक नहीं है, केवल रस के स्वरूप को स्पष्ट करने में सहयोगी रहने से इनके विवरण को यहाँ उपस्थापित किया गया है।—)

रस-निष्पत्ति—भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में रस का विवेचन सूत्र-भाष्य शैली में किया है। इनका प्रसिद्ध रस-निष्पत्ति विवेचक सूत्र है—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः' अर्थात् विभाव, अनुभाव और संचारीभाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। यह इस सूत्र का शाब्दिक अनुवाद मात्र है। इसका स्पष्टीकरण स्वयं भरतमुनि ने लौकिकरसनास्वाद से मानसिक रसास्वाद की तुलना करते हुये बतलाया कि जैसे नानाप्रकार के व्यञ्जनों से उपस्थित सुसंस्कृत भोज्य (अन्न) का भोक्ता आस्वादन करता है इसी प्रकार विभाव, अनुभाव तथा संचारीभावरूप अभिनय से सम्बद्ध स्थायीभावों का सहृदय प्रेक्षक मानसिक आस्वादन करता है। यह आस्वादन नाट्य से प्राप्त होता है अतएव यही नाट्य रस कहलाता है जो परमानन्द स्वरूप वाला है।

इन रससूत्र की व्याख्या भट्टलोल्लट, श्रीशंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्तपाद जैसे आचार्यों ने अपने-अपने भिन्न दृष्टिकोण के सन्दर्भों में प्रस्तुत की। आचार्य अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती के आरम्भ में क्रमशः इस व्याख्याकारों के मतों का उल्लेख करते हुये उनका खण्डन किया है। आचार्य मम्मट ने अभिनवगुप्तपाद के मत का ही स्वग्रंथ काव्यप्रकाश में अनुसरण किया। रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया एवं उसके जो स्वरूप इन आचार्यों ने निर्धारित किये तदनुसार रसनिष्पत्ति विषयक मान्यताएँ उत्पत्तिवाद या भावोपचयवाद, अनुमितिवाद, भुक्तिवाद तथा अभिव्यक्तिवाद के नाम से परम्परा बनाते हुए प्रसिद्ध हुईं।

भट्टलोल्लट तथा उनका उत्पत्तिवाद—रससूत्र के व्याख्याता भट्टलोल्लट के सिद्धान्त को उत्पत्तिवाद या स्थायीभावोपचयवाद कहा जाता है। इनके मूल विवरण तथा उसकी पोषक युक्तियों का विस्तार से अभिनवभारती में उल्लेख मिलता है। संक्षेप में इसका आशय यह है कि ये निष्पत्ति शब्द का अर्थ उत्पत्ति लेते हैं। तदनुसार विभाव, अनुभाव आदि से उपचित स्थायीभाव ही रसरूप में उत्पन्न हो जाता है। अर्थात् स्थायीभाव का विभावादि से संयोग जब होता है तो रस की उत्पत्ति होती है। स्थायीभाव और रस की उत्पत्ति का सम्बन्ध कार्यकारणभाव की तरह होता है। रत्यादि स्थायी चित्तवृत्तियों के रसरूप में उत्पन्न होने में विभावादि कारण होते हैं तथा अनुभाव कार्य होते हैं। अतः लौकिक कारण कार्यभाव के समान ही विभावादि के संयोग से स्थायीभाव रसरूप में उत्पन्न होता है। अनेक प्राचीन आचार्य भट्टलोल्लट के इस तर्क से सहमत थे।

इस प्रसङ्ग में भट्टलोल्लट ने रस के बास या स्थान की भी व्याख्या की है। प्रश्न यह है कि यह रस कहाँ स्थित होता है? भट्टलोल्लट का उत्तर है कि—रस प्रधानरूप हे अनुकार्य या मूल ऐतिहासिक व्यक्ति में निवास करता है परन्तु राम आदि के अनुरूप प्रतीति करवाने के कारण वह गौणरूप से

अभिनेता में भी निवास करता है। इस गौणता का कारण है अभिनेता का मूल या अनुकार्य व्यक्ति के साथ तादात्म्य स्थापन जिसमें यह ठीक मूल नायक के समान ही अपने अनुभावों को संगठित करने में सफल हो जाता है और इसलिये नायक के मूल-भावों की उसमें जागृति हो जाती है। यह आनन्दानुभव दर्शकों को अभिनेता में (अनुकार्य के रूप में) भ्रान्ति के कारण होता है अर्थात् प्रेक्षक नट में रामादि अनुकार्य का आरोप करता है, इसी कारण भट्टलोल्लट के सिद्धान्त को आरोपवाद भी कहा जाता है। दर्शक या सामाजिक की रसप्रतीति के दृष्टिकोण के सम्बन्ध में भट्टलोल्लट ने कोई विवरण नहीं दिया। अभिनवगुप्त ने जिस रूप में उनके मत को प्रस्तुत किया उसमें दर्शक के लिये कोई संकेत नहीं मिलता है। आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में अभिनवगुप्त के उद्दिष्ट पाठ में थोड़ा संशोधन करते हुए प्रतीयमान शब्द जोड़ दिया जो दर्शक का भी बोधक है। अन्य आचार्यों के मत में भट्टलोल्लट द्वारा प्रयुक्त नट शब्द उपलक्षण है जिसके द्वारा सामाजिक का भी ग्रहण हो जाता है क्योंकि सामाजिक को रसानुभूति होती ही है। मम्मट का संशोधित पाठ इस प्रकार है—मुख्यया वृत्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसन्धानात् नर्तकेऽपि प्रतीयमानो रसः (का० प्र० झल० सं० पृष्ठ ८८)।

भट्टलोल्लट का सिद्धान्त तत्त्वतः व्यावहारिक था। उनके मत में विभावादि की अनेकता में एकता का जनक स्थायीभाव ही विषय रूप रस हो जाता है। उसे ही रसविधायक तत्त्व पुष्ट करते हैं तथा पुष्ट कर प्रभावशाली बना देते हैं। इसके अनुसार विषयरूप रस में विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों की अनेकता के मध्य विद्यमान स्थायीभाव की ही एकता है क्योंकि रसविधायक तत्त्व-समुदाय में स्थायीभाव एकता का उत्पादक तत्त्व होता है, जिससे सभी तत्त्व सम्बद्ध होते हैं। सामान्यतः स्थायीभाव उसको उत्पन्न करने वाले किसी कारण के आधार पर होता है, जहाँ अभिनेता अपने अभिनय-कौशल तथा नाटकीय वातावरण की सहायता के द्वारा मूल पात्र के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है। और वह मूलपात्र की ही भाँति आचरण करते हुये उसी भाव को उत्पन्न कर लेता है जिसे कवि ने नायक के अन्तःकरण में विद्यमान दिखलाना चाहा था। अतः पूर्वप्रतिपादित विधि के अनुसार स्थायीभाव ही विषय-रूप रस हो जाता है यह स्पष्ट है।

यद्यपि भट्टलोल्लट का यह मत मुख्यरूप से व्यवहारिक आधार को लेकर प्रवृत्त हुआ था किन्तु इस मत में श्रीशंकुक ने आक्षेप करते हुये उसे दोषपूर्ण बतलाया। इनका कहना है कि श्रीभट्टलोल्लट ने जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया उसके अनुसार दर्शक के अन्तःकरण में विद्यमान रस के कारणों को स्पष्ट नहीं किया जा सकता है क्योंकि रसविधायक तत्त्वों में प्रमुख तत्त्व

स्थायीभाव की प्रत्यक्षतः जब प्रतीति सम्भव नहीं है तो वह दर्शक के अन्तःकरण में प्रकट कैसे होगा और जब तक स्थायीभाव की प्रतीति दर्शक को न हो तो रसोत्पत्ति कैसे सम्भव होगी।

इस मत के अनुसार रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत किये गये इतिवृत्त को प्रत्यक्ष देखकर दर्शक को कुछ समय के लिये वैसा ही अनुभव होगा जैसा सत्यरूप में घटित देखने से हो सकता था, क्योंकि दर्शक को नाटकीय नायक के अन्तःकरण में विद्यमान उस भाव की स्थिति का ज्ञान होता है जो वास्तविक न होकर कल्पित है तथा जिसको कला के प्रदर्शन द्वारा भ्रम उत्पन्न करते हुये चतुर अभिनेता ने साधा है। श्रीशंकुक ने जब भट्टलोल्लट की रस व्याख्या में रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत किये गये रस तथा दर्शकगत रस के अर्थों को बिना किसी विभेद को स्पष्ट करते हुये पाया तो उसे सदोष सिद्धान्त दिखलाया क्योंकि बिना पारस्परिक भेद के यदि इन दोनों शब्दों में रस शब्द को प्रयुक्त करेंगे तो फिर प्रदर्शनगत रस और दर्शक के अनुभवगत रस में समानता आ ही जाएगी, परन्तु इस समानता या अभेद का जब कोई स्पष्ट उल्लेख ही नहीं है तो इनकी सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिये यह भट्टलोल्लट के सिद्धान्त-प्रतिपादन में कमी है।

इसके अतिरिक्त दूसरा आक्षेप इसी सिद्धान्त पर और भी है जहाँ वे रस एवं स्थायीभाव के पारस्परिक विभेद को दिखलाते हैं। स्थायीभावों के उपचय या परिपुष्टि को भट्टलोल्लट ने रस माना था। श्रीशंकुक का इस सन्दर्भ में कहना है कि यदि परिपुष्टि या उपचय के कारण ही रस हो जाता है तो इस उपचित में असंख्या-क्रम होने से प्रत्येक स्थायीभाव के ही अनेक रूप हो जाएँगे। यदि यह मान लिया जाए कि स्थायीभाव की परिपुष्टि का अन्तिम बिन्दुभूत तत्व रस है तो ऐसी स्थिति में करुणरस का अस्तित्व नहीं रहेगा, क्योंकि करुणरस का स्थायीभाव शोक है और शोक के तो आरम्भ में ही तीव्रता रहती है एवं जिसका उत्तरोत्तर उपचय होता जाता है और ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है त्यों-त्यों उसका आवेग कम होता है। अतएव यह मानना कि शोक स्थायीभाव अपने अन्तिम बिन्दु पर रस हो जाता है, व्यर्थ होगा। अतः स्थायीभाव अपने चरम बिन्दु पर रस बन जाता है यह भट्टलोल्लट का सिद्धान्त भी युक्तिहीन है। (द्रष्टव्य-नाट्यशास्त्र प्रस्तुत संस्करण अभिनवभारती—पृष्ठ २३१-२३२)।

श्रीशंकुक का अनुकरण अथवा अनुमितिवाद—श्रीशंकुक ने रससूत्र की व्याख्या के प्रसङ्ग में भट्टलोल्लट की समीक्षा के बाद रसमीमांसा करते हुए अपना सिद्धान्त रसानुकरणवाद या अनुमितिवाद के आधार पर प्रतिपादित किया। इसके अनुसार रस के अनुभव का कारण नाट्यप्रदर्शन का प्रमेय रूप में प्रत्यक्ष होना है। इनने रस के दो स्वरूप बतलाये—एक तो विषयगत-रूप रस जो रङ्गमञ्च पर प्रदर्शित होता है तथा दूसरा दर्शक के अन्तःकरण में

विद्यमान अनुभव-गम्यरूप रस। इसकी व्याख्या यहाँ आवश्यक है। श्रीशंकुक इस समस्या को कि दर्शक के अन्तःकरण में सर्वांगपूर्ण रस का अनुभव किस प्रकार हो, क्योंकि स्थायीभाव एक मानसिक दशा है, जिसका विषय रूप में ज्ञान अन्य रसविधायक तत्वों की भाँति प्राप्त नहीं किया जा सकता है तो इसके समाधान के लिये उनने अनुमितिवाद को आधार बनाकर इस समस्या पर अपना विचार प्रस्तुत किया। इनके अनुसार प्रत्यक्षरूप विभाव, अनुभाव, तथा व्यभिचारीभाव आदि रस विधायक तत्वों से स्थायीभाव का उसी प्रकार अनुमान होता है जैसे उठते हुए धूम को प्रत्यक्ष पर्वत के शिखर पर देखकर उसके ऊपर सघन वृक्षों में प्रच्छन्न अग्नि के अस्तित्व का अनुमान से ज्ञान किया जाता है। यह ज्ञान अनुकरण स्वरूप होता है तथा अभिनेता अपनी अभिनयनिपुणता के द्वारा अनुकार्य रामादि से अपना अभिन्न बोध दर्शक को करवाता है। दर्शक का यह ज्ञान भ्रान्ति नहीं है—(जैसा कि भट्टलोल्लट मानते हैं) क्योंकि भ्रान्ति या आरोप क्षणस्थायी होता है। इसका स्वरूप संशय के सदृश भी नहीं है क्योंकि दर्शक के अन्तःकरण में यह सन्देह नहीं उठता कि रङ्गमञ्च पर प्रदर्शित नायक अभिनेता है यह वही व्यक्ति जिसका वह अभिनय कर रहा है। इस अनुभव का स्वरूप न यथार्थ वस्तु के अनुभव के सदृश होता है और न ही मिथ्या ज्ञान की स्थिति में इसे रखा जा सकता है। यह तो चित्रतुरङ्ग के समान विलक्षण है। इसमें चित्र में अश्व की सजीव आकृति देखकर जैसे यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि यही अश्व है, इसी प्रकार सहृदयदर्शक अभिनेता में राम आदि मूल व्यक्ति के अनुभावों आदि को देख-कर वहाँ स्थायीभाव की सत्ता का अनुमान लगा लेते हैं। यह अनुमानित स्थायीभाव मूल-व्यक्ति राम के यथार्थ स्थायीभाव का अनुकृत रूप होने से तथा हृदयाकर्षक विभावादि से संवलित होने से विशेष मोहकरूप धारण करता है। इसी का विकास दर्शक के अन्तःकरण में आनन्ददायक दशा में होता है तथा आनन्ददायक होने के कारण इसे रस कहते हैं। इस प्रकार प्रेक्षकों के द्वारा रस की सत्ता का अनुमान होने से विभावादि इसके अनुमापक बन जाते हैं तथा रस हो जाता है अनुमाप्य। इस प्रकार श्रीशंकुक अनुमितिवाद का आधार लेकर यहाँ स्पष्टतापूर्वक समझते हैं कि वास्तविक रति आदि दुष्यन्त या रामादि में है किन्तु अभिनेता में उसकी अनुकरणात्मकता के रहने के कारण अनुक्रियमाण स्थायीभाव ही रस रूप में अनुमानित किया जाता है।

श्रीशंकुक के अनुमिति या अनुकरणवाद की समीक्षा आचार्य अभिनवगुप्त-पाद के नाट्यशास्त्र के आचार्य भट्टेन्दुराज तथा भट्टतोत ने विस्तार से की थी जिसका उल्लेख अभिनवगुप्तपाद ने किया है। इन आचार्यों के मत में श्री-शंकुक का यह सिद्धान्त कि 'अनुक्रियमाण स्थायीभाव रस है' स्वीकार नहीं

किया जा सकता है। क्योंकि यह न तो दर्शक या सामाजिक के दृष्टिकोण से, न अभिनेता के दृष्टिकोण से और न ही नाट्यशास्त्र के आचार्य भरतमुनि की दृष्टि से आदरणीय (या अभिमत) है। प्रथमतः दर्शक या सामाजिक के दृष्टिकोण से श्रीशंकुक का सिद्धान्त स्वीकृत नहीं किया जा सकता, क्योंकि अनुकरण की प्रतीति तभी होगी जब उसका प्रत्यक्ष या प्रामाणिक ज्ञान हो जिसको अनुकृत कहा जाता है। सुरापान का अनुकरण करता हुआ जब कोई अभिनेता दुग्धपान करते हुए यह बतलाये कि इसी प्रकार व्यक्ति मदिरापान करता है तो दर्शक उसके दूध पीने को देखकर (किसी) व्यक्ति के मदिरापान की बात अनुकृति के आधार पर मान लेगा। परन्तु नाट्यप्रदर्शन में दर्शक ऐसी कौन-सी वस्तु को अभिनेता में देखता है जिसको स्थायीभाव की अनुकृति माना जाए। क्योंकि जो प्रत्यक्ष दिखलाई देता है वह तो अभिनेता का शरीर तथा उस पर स्थित मुकुटादि है, जिससे युक्त होकर अनुभाव तथा सात्विकादिभावों का वह प्रदर्शन कर रहा है। परन्तु यहाँ यह तो कोई नहीं मान सकेगा कि ये सब स्थायीभाव के अनुकरण हैं, क्योंकि दोनों में आधार तथा स्वरूपगत विभेद है। प्रत्यक्ष होने वाली वस्तुएँ भौतिक हैं और स्थायीभाव आत्मा का आधार लेकर मूलरूप से मानसिक है। फिर इनको जानने के साधन भी अलग-अलग होते हैं। भौतिक वस्तुओं का नेत्रादि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है जब कि स्थायीभाव की प्रतीति अन्तःकरण से होती है।

इसमें दूसरा कारण यह भी है कि अनुकरण का ज्ञान बिना अनुकार्य तथा अनुकृति के प्रत्यक्षज्ञान के नहीं हो सकता। अनुकरण सदृशतामूलक होता है तथा मुख्य अनुकार्य रामादि (ऐतिहासिक मूल व्यक्ति) तथा अमुख्य अनुकर्ता-अभिनेता दोनों पर देखने पर ही अनुकरण की प्रतीति होती है। इस मूल ऐतिहासिक व्यक्ति या अनुकार्य के रत्यादि भाव प्रेक्षकों में से किसी के भी द्वारा प्रत्यक्ष नहीं किया गया, अतः अभिनेता राम के रतिभाव का अनुकरण करता है तथा यह अनुक्रियमाण रत्यादिस्थायीभाव रसरूप में अनुमाप्य होता है यह मानना आधारहीन है; क्योंकि प्रत्यक्षीकरण के अभाव में अनुकार्य का तो अनुकरण जब संभव ही नहीं होता तब स्वरूप में अनुक्रियमाण रत्यादि को कैसे अनुमाप्य मानें। इस प्रकार जब अनुकार्य का अनुकरण ही संभव नहीं तो फिर अनुमाप्य रस कैसे हो सकेगा। यह युक्ति भी अधिक सारवती नहीं है कि भरतमुनि ने स्वयं इस अनुकरण सिद्धान्त का समर्थन किया है, क्योंकि नाट्यशास्त्र में ऐसा कोई विवरण या अंश नहीं मिलता है जिसके प्रकरणादि को देखकर पर्याप्त रूप से अनुकरण के सिद्धान्त का समर्थन हो सके। इस प्रकार श्रीशंकुक का यह सिद्धान्त कि रङ्गमञ्च पर प्रदर्शित स्थायीभाव अनुकृतिस्वरूप है, प्रत्येक दृष्टि से दोषग्रस्त है।

भट्टनायक का भुक्तिवाद या त्रिविध-व्यापारवाद—आचार्य भट्टनायक ने भट्टलोल्लट तथा श्रीशंकुक के पूर्वोक्त मतों की समीक्षा करते हुए खण्डन किया है। इनने रस की प्रतीति, उत्पत्ति या अभिव्यक्त का निषेध किया क्योंकि रस की प्रतीति, उत्पत्ति अथवा अभिव्यक्ति को पात्रनिष्ठ अथवा परगत मानने पर प्रेक्षकों को रसास्वादन सम्भव नहीं होगा। यदि स्वगत अथवा प्रेक्षकनिष्ठ स्वीकार करें तो करुणरस के प्रसङ्ग में प्रेक्षक का हृदय शोकाप्लावित होने लगेगा। तथा परगत स्वीकार करने से सामाजिक को कोई रसानुभूति नहीं होगी और रस की प्रतीति स्वीकार करने पर दुःख-प्रधान रसों में प्रेक्षकों के शोकाभिभूत हो जाने की आशङ्का होने लगती है।

इसलिये भट्टनायक ने रसानुभूति के लिये नवीन सिद्धान्त प्रस्तुत किया, जिसे भुक्तिवाद कहा जाता है। इसमें त्रिविध-व्यापार के अन्तर्गत प्रथम है अभिधाशक्ति जिसके द्वारा वाच्यार्थ का ज्ञान होता है, तदन्तर नाट्य प्रयोग या काव्य में भावकत्व और भोजकत्व नामक दो अन्य व्यापार और होते हैं। भावकत्व या भावना-व्यापार द्वारा सामाजिक के अन्तःकरण में राम और सीतारूप विभावादि का साधारणीकृत रूप में आविर्भाव होता है, जिनमें उनके रत्यादि भाव साधारणीकृत होकर सामाजिक या प्रेक्षक के अन्तःस्थिति रत्यादि भाव से तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं और उनके रत्यादि स्थायीभावों में सामाजिक स्वयं विलीन हो जाता है। सामाजिक की परत्व एवं ममत्व-परक भेदवृत्ति इसी व्यापार से विलीन हो जाती है तथा इसी भावकत्व व्यापार के परिणामस्वरूप भोग का–जो रस का साक्षात्कारक होता है—प्रादुर्भाव होता है। इनके मत में रसास्वादन की दशा में सामाजिक की अनुभूति में रजस् और तमस् तत्त्व की अपेक्षा सत्त्व का (अधिक) आविर्भाव होता है, जो प्रकाश, आनन्द तथा विश्रान्तिमयता-सम्पन्न होता है। आनन्द की यह दशा चेतना के ऐसे चरम आनन्द का स्वरूप होती है जो ब्रह्मास्वाद-सहोदर है। ब्रह्म की आध्यात्मिक अनुभुति से इसका अन्तर यह है कि रसानुभूति सीमित होती है, यद्यपि रसानुभव काल में इस सीमा का भान नहीं रहता, क्योंकि नाट्यप्रदर्शन तथा प्रेक्षक में साधारणीकरण व्यापार द्वारा तादात्म्य रहता है। इस रसानुभूति को सामान्य लौकिक अनुभव मानने में प्रत्यक्ष स्मृति आदि की अपेक्षा माननी पड़ेगी, अतः सत्त्व की प्रमुखता के कारण एक पूर्ण आनन्द की दशा में साधारणीकृत दर्शक के साधारणीकृत-विषय-रूप वाली रसानुभूति भट्टनायक का प्रतिपाद्य है।

भट्टनायक का महत्व इसलिये है कि इनने रस का सम्बन्ध सामाजिकों के साथ जोड़ने का श्लाघनीय प्रयास करते हुए साधारणीकरण व्यापार की उद्भावना की, जो नाट्यशास्त्र-सम्मत, व्यवहारिक तथा उपयुक्त भी थी, परन्तु

इतने जो दो अतिरिक्त व्यापार माने उनकी प्रामाणिकता में परवर्ती विद्वानों ने सन्देह प्रकट किया तथा इन व्यापारों को रसनिष्पत्ति में आवश्यक भी माना। इसके अतिरिक्त इनके मत में यह विशेषतः स्पष्ट नहीं होता था कि जिस स्थायीभाव का भोग किया जाता है, उसका आश्रय या स्थिति पात्र या प्रेक्षक में से किसमें मानी जाए।

आचार्य अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद—भट्टलोल्लट के पूर्ववर्ती नाट्यशास्त्रीय व्याख्याकार विद्वानों से लेकर आचार्य अभिनवगुप्त के बीच में आने वाले नाट्यशास्त्रीयव्याख्याकार भट्टनायक जैसे विद्वानों ने अभिनवगुप्त के सिद्धान्त के लिये पर्याप्त विचार सामग्री एकत्र कर दी थी। साहित्य के जिस युग में आचार्य अभिनवगुप्त का आविर्भाव हुआ उसकी अपनी ऐतिहासिक महत्ता अनेक कारणों से है। आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने रस-सिद्धान्त में अभिव्यक्तिवाद का प्रवर्तन किया। यह कार्य इनके द्वारा आचार्य आनन्दवर्द्धन के सिद्धान्त तथा अपने नाट्यशास्त्रीय उपाध्याय भट्टतोत के निर्देश के आधार को लेकर सम्पन्न किया गया था। इस समय मानवीय अनुभूतियों का विश्लेषण सिद्धान्त-ग्रन्थों का आधार बन रहा था जिसमें उपयुक्त तर्कवाद को संयुक्त किया जाता था। आचार्य अभिनवगुप्तपाद का संसार में विद्यमान शास्त्रों के अध्ययन और व्याख्यान तथा शैवसिद्धान्त की साधना के अतिरिक्त जीवन का अन्य लक्ष्य भी नहीं था। दर्शन, तन्त्र, व्याकरण तथा काव्य शास्त्र के समग्र प्राचीन-ज्ञान की विपुल राशि को इनने आत्मसात् कर लिया था और इसी कारण रससिद्धान्त की समस्याओं को नये दृष्टिकोण से समझकर अपने सिद्धान्त की रचना करने में ये पूर्ण सक्षम हो गये थे, जो इनकी बहुशास्त्र-चिन्तना का पिण्डीभूत परिणाम था। इनने रसनिष्पत्ति का सिद्धान्त काश्मीरी शैव-दर्शन के आभासवादी दृष्टिकोण को अपनाते हुए रसानुभव सम्बन्धी समस्याओं से लेकर उपस्थापित किया। अभिनवभारती में इनका यह मन्तव्य विस्तार से (प्रस्तुत संस्करण में भी) विद्यमान है जिसका आधार लेकर काव्यप्रकाशकार मम्मटभट्ट तथा अन्य परवर्ती आलंकारिक आचार्यों ने रस-मीमांसा की थी। (अतः हम उनके सिद्धान्त का अति-संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं)।

आचार्य अभिनवगुप्तपाद के मत में निष्पत्ति शब्द का अर्थ है अभिव्यक्ति तथा संयोग शब्द से विभावादित्रय का सम्मिलित रूप लिया गया है, जो रसाभिव्यक्ति में कारण है, किन्तु अभिनवगुप्ताचार्य रस में पूर्व आचार्यों की तरह कारण, कार्य तथा सहकारी जैसे सम्बन्धों का निषेध करते हैं। इनके मत में रस अलौकिक है, लौकिक नियमों से परे है। ये भट्टनायक के भावकत्व एवं भोजकत्व जैसे (दो) अतिरिक्त व्यापारों को न मानकर केवल उनके

साधारणीकरण व्यापार को स्वीकार करते हैं, किन्तु इनका यह साधारणीकरण व्यापार सर्वसाधारण से सम्बद्ध है जिसमें विभावादि का सम्बन्ध नायक-नायिकादि से दूर हटा दिया गया है। अभिनवगुप्त की यह साधारणीकरण की कल्पना अतिशय व्यावहारिक, उपयुक्तयुक्ति-समन्वित तथा नाट्यशास्त्र-सम्मत भी है तथा इसी कारण सभी पूर्ववर्ती व्याख्याओं से अधिक मान्य है।

सहृदय रसानुभूति कैसे करता है? इस प्रश्न को उठाते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने समाधान हेतु साधारणीकरण सिद्धान्त प्रस्तुत किया, जिसके अनुसार पात्र, काल, देश आदि की सभी विशेषताओं से निर्मुक्त होकर प्रेक्षक विभावानुभावों को देखकर ऐसे आनन्द की अनुभूति करता है जो सभी सहृदयों को भोग्य है। दुष्यन्त और सकुन्तला की रङ्गमञ्चस्थ रत्यानुभूति को देखकर प्रेक्षक को ऐसी प्रतीति नहीं होगी कि यह अनुभूति दुष्यन्त और शकुन्तला की ही है उनकी नहीं। रति का इस प्रकार विशेषता-निर्मुक्त रूप उन्हें साधारणीकरण व्यापार में उपलब्ध होता है और साधारणीकृत रत्यादि स्थायीभाव का सहृदय आनन्द लेते हैं जो कि अलौकिक है। यही रसानुभूति अभिनव की प्रतिपाद्य थी, क्योंकि वे रामादि पात्र में रसानुभूति का निषेध करते हैं। इनकी युक्ति यह है कि जैसे मद्य का आस्वादन मद्य का पात्र नहीं करता, किन्तु वह दूसरों को मद्यपान करवाने में हेतु बनता है इसी प्रकार अभिनेता भी स्वयं रसानुभूति प्राप्त न करके सामाजिक या प्रेक्षक को ही रसास्वादन करवाने में हेतु हो जाता है। इसका कारण यह है कि अभिनेता को तो अभिनय प्रस्तुत करने के समय श्रम होता है, अतः उसे रसास्वाद कैसे होगा।

नाट्यरस की अनुभूति के आधार सहृदय कैसे हो? इन प्रश्न का उत्तर देते हुए अभिनवगुप्त ने बतलाया कि ये प्रेक्षक या सहृदय स्वभावतः निर्मल-दर्पण के समान पारदर्शी हृदयवाले होते हैं, जो रूपक के प्रत्यक्ष करने के समय सामान्य जन की तरह लौकिक क्रोध-मोहादि से परे रहते हुये मञ्च पर प्रस्तुत किये गये अलौकिक रस का आनन्द प्राप्त करते हैं। ऐसा होने पर जो रसानुभूति इन्हें होती है, वह लोकजन्य न होकर नाट्यजन्य हो जाती है। ऐसी ही अनुभूति काव्य-पाठ या काव्यश्रवण के समय भी सहृदयों में देखी जाती है तथा इसी कारण वे काव्यजन्य रसानुभूति से भी अलौकिक रस का आनन्द प्राप्त करते हैं। इस अनुभूति का कारण होता है सहृदय के अन्तःकरण में विद्यमान रत्यादि भाव की वासना या संस्कार जिससे उनके अन्तःकरण भावित होते हैं। ऐसा स्थायीभाव जब साधारणीकृत विभावादि की उपस्थिति से उद्बुद्ध हो जाता है तो यही अभिव्यक्ति हो जाती है, जिससे सहृदय तन्मयी भाव की दशा में आकर परमानन्द रस का आस्वादन करने लगता है।

रससूत्र में स्थायिन शब्द का भरतमुनि द्वारा समावेश नहीं करने की कारणमीमांसा—यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि भरतमुनि ने रस-निष्पत्ति सूत्र में स्थायिन् शब्द का प्रयोग नहीं किया है। इस संकेत को नाट्य-शास्त्र के दो व्याख्याकारों—(१) श्रीशंकुक तथा (२) आचार्य अभिनवगुप्त-पाद ने अर्थपूर्ण बतलाया है। हम क्रमशः उनके मन्तव्य यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं :—

श्रीशंकुक के अनुसार स्थायीभाव अनुमानप्रमाण के द्वारा बोध्य होता है। भरतमुनि ने स्थायिन् शब्द का यहाँ प्रयोग इसलिये नहीं किया है। रस स्थायीभाव के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं होता तथा जिसका प्रत्यक्ष होने वाले विभाव, अनुभाव तथा संचारीभावों के आधार पर अनुमान किया जाता है। इसका आशय यही है कि भरतमुनि के अनुसार दर्शक के अन्तःकरण में जिस स्थायीभाव का बोध होता है वह विभावादि के बोध से भिन्न है। जिन विभावादि का ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण से होता है उन्हें तो मुनि ने शब्दों से बतलाया है किन्तु स्थायीभाव का बोध अनुमान से होने के कारण (स्थायी शब्द का) अत्यावश्यक होने पर भी रससूत्र में भरतमुनि ने समावेश नहीं किया।

आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने रस-परिभाषा-सूत्र में स्थायिन् पद के भरत-मुनि द्वारा प्रयोग न करने की विशद मीमांसा की है तथा इस प्रश्न को उठाकर दो स्थानों पर इसका उत्तर दिया है। इसमें प्रथम अभिनवभारती में रस-सूत्र के व्याख्यान प्रसङ्ग में तथा दूसरा ध्वन्यालोक की (प्रथमोद्योत १।२१ की) लोचन व्याख्या में रस व्याख्यान के अवसर पर भी है।

आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारीभाव से पृथक् रूप में स्थायीभाव का अनुभव नहीं होकर वह उनके मिश्रित तथा सामुदायिक रूप का वैसा ही अनुभव है जिसकी समानता प्रपाणकरस से दी जाए। जैसे प्रपाणक रस का स्वाद इसके विधायक किसी एक अङ्गभूत पदार्थ का नहीं होता, किन्तु यह एक विशिष्ट स्वाद है जो इन सभी विविधि पदार्थों के सामंजस्यपूर्ण मिश्रण के कारण विलक्षण रूप में व्यक्त हुआ है। अतः जो यह प्रतिपादित करते हैं कि विभावादि के प्रत्यक्षबोध से ज्ञात स्थायीभाव का अनुभव ही रसास्वादन है, यह उचित नहीं है। इसका कारण यह भी है कि रसानुभाव के विधायक-तत्वों में जो प्रधानतत्त्व है वह है स्थायीभाव। इस स्थायीभाव की प्रतीति या बोध भी किसी स्वीकृत प्रमाण-परिपाटी से सम्भव नहीं है। यह प्रतीति मानसिक होने के कारण प्रत्यक्षप्रमाण से अवगत भी नहीं हो सकती है। अनुमानप्रमाण से भी इसका बोध सम्भव नहीं है, क्योंकि अनुमानप्रमाण से इसका ज्ञान मानने पर इसका सम्बन्ध किसी दूसरे के साथ

अवश्य मानना पड़ेगा तथा ऐसा होने पर फिर यह स्थायी आस्वाद्यमान नहीं रह पाएगा।

भरतमुनि ने भी रससूत्र में स्थायिन् शब्द का प्रयोग इसलिए नहीं किया था तथा वे भी इससे यही स्पष्टतः सूचित करना चाहते थे कि जब विषयरूप स्थायीभाव का ज्ञान किसी प्रमाण से सम्भव ही नहीं होता है तो फिर इस शब्द का निवेषकर रस का स्वरूप कैसे बतलाया जा सकता है। इसका अन्य कारण यह भी है कि स्थायी नाटकादि के नायक के साथ तादात्म्य प्राप्त करने के कारण दर्शक की उपचेतना से निकल कर और फिर चैतनांग में जाकर अभिव्यक्ति प्राप्त करता है। स्थायीभाव रसविधायक तत्त्वों में मुख्य (होता) है, यह अनेक बार बतलाया जा चुका है। (तथा यह भी कि) स्थायीभाव से संयुक्त रहने पर ही विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीभाव जैसे रस विधायक तत्त्वों का महत्त्व माना जाता है।

रसों के विभेद एवं संख्या—रसों की संख्या के सम्बन्ध में भारतीय नाट्यशास्त्रीय परम्पराएँ अनेक (विरोधी) मान्यताओं को लिये हुए है। इन (विरोधी) मान्यताओं के प्रसङ्ग में ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि ऐसी दशा में रस शब्द का प्रयोग एक ही अर्थ में नहीं (किया गया) है। कहीं पर प्रसङ्गानुसार रस शब्द का आशय रसास्वादन किया गया है तो कहीं रसानुभावक संमिश्रित सामग्री के समुदायरूप अर्थ के भाव में रस शब्द का प्रयोग हुआ है तथा कहीं इन दोनों अर्थों को क्रोडीकृत किया गया है। इससे जो मतभिन्नता आई उसके अनुसार रसों की संख्या भी भिन्न-भिन्न विनिश्चित हुई। धाराधीश भोज ने मानवात्मा में विद्यमान अहङ्कार को ही रसराज श्रृंगाररूप एकरस स्वीकार किया और भवभूति के उल्लेख से करुणरस ही मूल रस है, जिससे श्रृंगारादि रसों की उद्भूति या प्रवृत्ति होती है। आचार्य भरतमुनि के मान्य व्यवहारिक आठ रस हैं। आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में अपने परम्परा प्राप्त पाठ को मानकर नौ रस स्वीकारते हुए शान्त-रस को सभी रसों का मूल मानने की सप्रमाण व्याख्या की है। अन्य शास्त्रकार इन नौ प्रभेदों में वात्सल्य, लौल्य एवं भक्ति को मिलाकर रस के बारह भेद तक निरूपित करते हैं। सभी आचार्यों ने अपनी जीवनदृष्टि तथा रचनाओं को ध्यान में रखकर तदनुरूप रस के स्वरूप तथा संख्या आदि का विनिश्चय किया था, यह इससे स्पष्ट होता है।

भरत मुनि के अनुसार व्यावहारिक दृष्टि से जो नाट्य में आठ रस हैं उनमें मूल रस चार हैं, जिनसे चार रसों की उत्पत्ति हुई है। इसमें श्रृङ्गार से हास्य, वीर से अद्भुत, रौद्र से करुण तथा बीभत्स से भयानकरस उत्पन्न हैं।

आचार्य अभिनवगुप्तपाद का कहना है कि भावों तथा रसों के आन्तरिक सम्बन्धों का यह व्याख्यान भरतमुनि ने रसों की उत्पत्ति दिखाकर जिस प्रकार प्रस्तुत किया है यह कोई स्पष्टरूप में नियम—निश्चय नहीं है। रसों की संख्या के सम्बन्ध में जो भी कुछेक आचार्यों में विभेद हो, परन्तु आठ रस सभी आचार्य स्वीकार करते हैं। तथा भरतमुनि के द्वारा निरूपित चार रसों से अन्य चार रसों के उद्भव के कारण आठ रस के सिद्धान्त को मानवीय अन्तश्चेतना की विकासशील प्रक्रिया के अतिशय समीप तथा अनुरूप भी माना जाता है।

एकरस वाद :—धाराधीश भोज ने मात्र एक शृङ्गार ही रस माना है, जिसमें रत्यादि भाव शृङ्गार या अभिमान से उद्भूत (होते) हैं। यहाँ शृङ्गार शब्द अहङ्कार या अभिमान का समानार्थक है। यही अहङ्कार रस है, जो सुखादि भावों के अनुभव का कारण है। यह एक विशेष प्रकार का अहङ्कार है, क्योंकि इसकी उत्पत्ति सत्वप्रधान प्राणियों के पुण्यकर्मों से होती है। यही सहृदय के मन में जागता है। जिसमें अहङ्कार मूलरूप में रहता है, वही स्वात्मानुभवात्मा रस है।

इनके मतानुसार इसी शृंगार के कारण सहृदय के अन्तःकरण में रत्यादि भाव उत्पन्न होते हैं। 'शृङ्गार ही केवल रस है' इस सिद्धान्त के प्रसङ्ग में शृंगार शब्द का रस-सामान्य के रूप में प्रयोग इष्ट नहीं है। शृङ्गार का सामान्य अर्थ है, वह रसानुभावक सामग्री जिसका प्रधान अंश रति नामक स्थायीभाव होता है? भोज ने शृंगार का अर्थ एक विशेष प्रकार का स्वात्मानुभव लिया है, जिसका कारण सात्विक पुरुषों के पुण्यकर्म हैं और जिसकी उत्पत्ति पूर्व-जन्म के संस्कारों से होती है। यह शृङ्गार एक-रस-कोटि में इसलिये आता है, क्योंकि इसके द्वारा सहृदय व्यक्ति को उन्नततल पर आसीन करवाया जाता है (येन शृङ्गमुच्चयो रीयते स शृंगारः—शृंगारप्रकाश)।

भवभूति के करुणरस पर विचार करने से विदित होता है कि सामान्यतः जिस पद्य में करुण शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट रस के लिये किया गया है तथा जो उत्तररामचरित के तीसरे अङ्क में दर्शाया भी गया है। अतएव इतने उल्लेख मात्र से यह कहना ठीक नहीं होगा कि भवभूति केवल करुणरस को ही प्रमुख या उद्भावक रस की कोटि में भोज के केवल शृङ्गार की तरह मानते थे।

स्वीकृत रस—रसों की संख्या के सम्बन्ध में चाहे आचार्यों में मत विभेद हों किन्तु प्रायः सभी आठ या नौ रसों को स्वीकार करते हैं। क्रमशः इनका विवरण इस प्रकार है :—

१. शृङ्गार—शृङ्गार रस का स्थायीभाव रति है। इसके संयोग तथा विप्रलम्भात्मा दो प्रकार होते हैं। इसमें आलस्य, उग्रता और जुगुप्सा के अति-

रिक्त तभी संचारीभाव रखे जाते हैं। करुण तथा शृङ्गार के विप्रलम्भप्रभेद में यही अन्तर है कि करुण निरपेक्ष है तथा उसमें निराशा के भाव से जीवन दुःखमय रहता है परन्तु विप्रलम्भ में आशा का बन्धन होने से प्रेम-भाव स्थिरता बनाये रहता है। शृङ्गार के भरत मुनि ने वाक्य, वेष तथा क्रिया भेद से तीन प्रकार और भी माने हैं।

२. **हास्य**—इसका स्थायीभाव हास होता है। इसमें अवहित्था, आलस्य तथा तन्द्रा आदि संचारीभाव होते हैं। इसके आत्मस्थ तथा परस्थ दो विभेद होते हैं। हास्य संक्रमणशील स्वरूप वाला होता है। मानव प्रकृति के अनुसार स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित ये छः भेद हैं जो क्रमशः दो-दो के प्रभेदों में उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति के पात्रों में दिखाई देते हैं। यह भी अङ्ग, वाक्य तथा वेष-रचना के भेद से तीन प्रकार का होता है।

३. **करुण**—करुण रस का स्थायीभाव शोक है। धर्मनाश, बन्धुनाश तथा अर्थनाश से उत्पन्न करुण-रस के तीन प्रकार और हो जाते हैं। इसमें निर्वेदादि संचारीभाव होते हैं। भरतमुनि ने करुण तथा शृङ्गार को स्थायीभाव प्रभव तथा अन्य रसों को स्थायीभावात्मक बतलाया है।

४. **रौद्र**—रौद्र रस का स्थायीभाव क्रोध होता है। इसके भी अङ्ग, वेष तथा रचनाभेद से तीन प्रकार होते हैं।

५. **वीर**—इसका स्थायीभाव उत्साह है। इसमें धृति, स्मृति आदि संचारीभाव होते हैं। इसके दान, धर्म तथा युद्ध-वीर नामक तीन प्रभेद और हो जाते हैं।

६. **भयानक**—इसका स्थायीभाव भय है। इसके स्तम्भ, स्वेद आदि व्यभिचारीभाव होते हैं। यह भय स्वाभाविक तथा कृत्रिम दो स्वरूप वाला होता है, स्त्री, नीच-पुरुष तथा बालादि में स्वाभाविक भय तथा उत्तम प्रकृति के व्यक्तियों में कृत्रिम भय रहता है।

७. **बीभत्स**—इसका स्थायीभाव जुगुप्सा होता है। इसके अपस्मार, उद्वेग, आवेग आदि व्यभिचारीभाव होते हैं। यह पुनः शुद्ध तथा अशुद्ध दो भेदों का और भी हो जाता है।

८. **अद्भुत**—इसका स्थायीभाव विस्मय है। इसमें स्तम्भ, अश्रु आदि संचारीभाव होते हैं। यह दिव्य तथा आनन्दज भेद से और दो प्रकार का हो जाता है।

शान्त-रस—नाट्यशास्त्र के षष्ठ-अध्याय में शान्तरस की स्थिति एक विचारणीय समस्या है तथा इस रस की भरत-निरूपित मान्यता के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त के पूर्ववर्ती एवं परवर्ती आचार्यों में पर्याप्त मतभेद परिलक्षित होता है। इस क्रम में सर्वप्रथम स्थान प्राचीन आचार्य उद्भट का आता है जो

नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार भी थे तथा जिनने शान्तरस को नवम रस के रूप में मान्य किया है। आचार्य आनन्दवर्धन तथा आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने शान्तरस के उद्भटादि द्वारा इसी परम्परागत नाट्यशास्त्रीय पाठ को मान्य किया था। एक सम्पूर्ण उपप्रकरण में अभिनवभारती में इसके स्वरूप की विशद मीमांसा करते हुए यह सिद्ध किया गया है कि शान्तरस सभी रसों का मूल या प्रधान रस है तथा यही सर्वाधिक स्वतन्त्र भी है। धनञ्जय ने दशरूपक में यद्यपि भरतमुनि के द्वारा निरूपित सिद्धान्तानुसारी रूपक विवरण देने की बात कही है किन्तु उसने रस के आठ प्रभेद ही स्वीकार किये। इसके मत में नाट्यप्रदर्शन में या रङ्गमञ्च पर शान्त रस प्रदर्शित होना सम्भव नहीं है। दूसरे जब नाट्यशास्त्र में ही शान्त-रस का उल्लेख न हो तो फिर नाट्य में इस रस को कैसे स्थान दिया जाए।

नाट्यशास्त्र के उद्भटादि की परम्पराओं में स्वीकृत शान्तरस के पाठ को न मानने वाले रूढ़िवादी आचार्यों ने—जिनमें धनञ्जय भी थे, इस शान्तरस के पाठ (वाले मूलपाठ) को अस्वीकार किया। इनका तर्क यह था कि न तो मुनि ने शान्तरस का लक्षण किया है और न ही इसके विभावादिकों का विवरण ही। आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने इन (आचार्यों के) तर्कों का साधारण निराकरण करने का उद्योग करते हुए कहा कि प्रथम तो शान्तरस अनुभव तथा ग्रन्थ-पाठ दोनों के आधार पर सिद्ध हो जाता है। दूसरे इनका यह भी मत है कि नाट्यशास्त्र के परवर्ती पाठ में भी यदि शान्तरस का अंग जोड़ दिया जाय तो भी बुरा नहीं। हमें इस रस को इसलिये भी मानना आवश्यक है, क्योंकि ऐहिक तृष्णाओं के नाश होने पर सभी को इस रस की अनुभूति होती है। आचार्य-अभिनवगुप्तपाद ने विस्तार से शान्तरस का विवेचन करते हुए नवम रस के रूप में इसकी प्रमुख एवं अनिवार्य स्थिति प्रतिपादित की।

आधुनिक समीक्षकों में बड़ौदा से प्रकाशित नाट्यशास्त्र के द्वितीय संस्करण के सम्पादक श्रीरामास्वामीशास्त्री का मत है कि शान्तरस का प्रक्षिप्त पाठ नाट्यशास्त्र के मूलभाग में अभिनवगुप्तपाद के पूर्व ही समाविष्ट हो चुका था, जिस पर अभिनवगुप्तपाद ने अपनी व्याख्या भी की थी। यह भी कदाचित् संभव है कि अभिनवगुप्त द्वारा शान्तरस के स्वतंत्ररूप में प्रतिपादित विवरण को परवर्ती किसी अन्य आचार्य ने नाट्यशास्त्र में संन्दर्भ देखकर संयुक्त कर दिया हो तथा नाट्यशास्त्र के शान्तरस सम्बन्धी प्रक्षेप से भी इसका अधिक सम्बन्ध न हो। संभवतः यह (प्रक्षेप करने का) कार्य अभिनवगुप्तपाद के ध्वन्यालोक लोचन में व्यक्त विचारों को आधार मानकर नाट्यशास्त्र के शान्तरस विवरण में ऐसे प्रक्षेप के बाद किया गया होगा।

समीक्षकों के उपर्युक्त तथा इसी प्रकार के अन्य आशंका भरे मतों का

आचार्य अभिनवगुप्त ने प्राचीन काल में स्वयं यी अनुभव करते हुए निराकरण किया था जिसका वर्णन दिया जा चुका है तथा शान्तरस के प्रकरण में विस्तार से प्रस्तुतग्रन्थ के सम्बद्धअध्याय में उसे उपस्थापित भी किया गया है। आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने मनुष्य की विभिन्न मनोभावना एवं पुरुषार्थों को आंगिक आदि अभिनयों के द्वारा नाट्य स्थिति में दर्शाये जाने पर आस्वाद्यमान भावदशा ही रस हो जाती है यह बतलाया भी है। अतः नाट्य ही रस है, जो आनन्द स्वरूप है तथा जो नाट्य के अतिरिक्त काव्य में भी विद्यमान रहता है तथा आस्वाद्य भी है। अतः यदि व्यापक दृष्टि से देखें तो नाट्य एवं रस एक ही बिन्दु पर मिलते हैं जिसे धाराधीश भोज ने अहङ्कार शृंगार के नाम से अभिहित किया है जहाँ मानवात्मा की प्रज्वलित दीप्ति सात्विक आवेग से मिल कर आनन्द की ज्योतिरश्मियों को प्रस्फुरित करती है।

आचार्य अभिनवगुप्तपाद बिना किसी संशय के नौ से अधिक रस भेद स्वीकार ही नहीं करते हैं। इनके मत में वात्सल्य रस में विद्यमान मृदुता रति ही है जो शृङ्गार का स्थायी भाव है। यही दशा भक्ति और लौल्य की है। क्योंकि हास्य के प्रसङ्ग में लौल्य केवल रति का वही रूप होता है जो किसी वस्तु की उत्कट अभिलाषा को प्रकट करे। इसी प्रकार भक्ति भी श्रद्धाभाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं जिसमें सब कुछ अर्पित किया जाता है। जो अन्य शास्त्रकार नौ से अधिक इस प्रकार के रस भेद मानते थे उनका खण्डन संक्षिप्त रूप में एक ही गद्यखण्ड में इस प्रकार अभिनवगुप्त आचार्य ने कर दिया है।

भाव एवं उनके स्वरूप—नाट्यशास्त्र के सप्तमाध्याय में भावों का विवेचन है। भाव चित्तवृत्ति स्वरूप होने से प्राणिमात्र में व्याप्त है। नाट्य का साध्य यदि रस है तो भाव उसके साधन हैं, अतः बिना भाव के रस की सिद्धि ही नहीं हो सकती। भरत-मुनि ने भाव के इस व्यापक स्वरूप का नाट्य प्रसंग में विस्तार में शास्त्रीय-तत्व बतलाया है। भरतमुनि ने सर्वप्रथम यह प्रश्न उठाया कि भाव शब्द चित्तवृत्ति के लिये क्यों प्रचलित हुआ ? इसके उत्तर में स्वयं मुनि ने ही दो तरह से समाधान भी प्रस्तुत किये। प्रथम तो ये भाव इसलिये कहे जाते हैं क्योंकि ये चित्तवृत्ति के रूप में स्थित रहते हैं अथवा ये आंगिक, वाचिक एवं सात्विक अभिनय द्वारा काव्यार्थ-रूप रस की भावना करवाते हैं, इसीलिये ये भाव हैं। भाव शब्द व्याप्ति का बोधक है, अतः सभी में व्याप्त होने के कारण भी यह भाव कहलाता है, तथा यही भाव कवि, प्रयोक्ता तथा प्रेक्षक तीनों में नाट्य प्रयोग के प्रसङ्ग में व्याप्त माना जाता है। भाव का स्वरूप मुनि ने अपने प्रसिद्ध पद्य-'विभावेनाहृतो योऽर्थो ह्यनुभावैश्च गम्यते' (ना० शा० अ० ७।१) में स्पष्टतः बतलाया जिसका

अभिनवगुप्तपाद ने विस्तार से विवेचन किया है। भावों के अन्तर्गत विभावों तथा अनुभावों की गणना मुनि ने नहीं की क्योंकि इनके मत में ये लोक-स्वभाव का अनुकरण करने वाली बाह्य स्थिति मात्र हैं तथा अभिनयक्रम में ये भावों के साथ ही व्यक्त एवं तिरोहित होते रहते हैं। भाव तथा अभिनव में पूर्वपश्चात् भाव या कारण-कार्य की स्थिति वास्तविक नहीं होती चाहे प्रत्यक्ष भले ही वैसा जान पड़े। अतः भावों के पश्चात् होने से इनको अनुभाव जो आचार्य मानते हैं तथा स्थायीभावों के बाद कार्य रूप में उत्पन्न होने वाले अनुभावों के द्वारा ही स्थायीभाव का भावन होता है यह भी जो मानते हैं उनका मत भरत-मत के अनुकूल नहीं कहा का सकता।

विभाव एवं अनुभाव—विभाव एवं अनुभाव से युक्त भाव होता है, अतः इन दोनों का भाव से सम्बन्ध होता ही है। चित्तवृत्तियों के (जो भाव-रूप है) उद्बुद्ध करने का कारणरूप विषय विभाव कहलाता है, जैसे विपत्ति का आना शोक के उद्बुद्ध करने का कारणरूप विषय होकर करुणरस का कारण या चन्द्रोदय होना रति के उद्बुद्ध करने का कारकरूप विषय होकर शृङ्गाररस का कारण बन जाता है। प्रेक्षक के द्वारा वाचिक आदि अभिनय का अनुभावन ही अनुभाव है। ये अनुभाव वाचिकादि अभिनय के अन्तर्गत होने वाली चेष्टा या व्यापार रूप हैं। अनुभाव भावों के साथ ही उत्पन्न होते हैं तथा तिरोहित भी। विभाव शब्द हेतु-वाचक होने से स्थायी तथा व्यभि-चारी भावों का ज्ञान इसी विभाव शब्द के द्वारा संभव होता है तथा तभी रसप्रतीति की सम्भावना होती है। नाट्य-प्रयोग के सन्दर्भ में इसी कारण-वाचक शब्द के रूप में भी विभाव का प्रयोग किया जाता है।

स्थायीभाव—जो जो भाव निरन्तर वर्तमान रहते हों, वे स्थायीभाव हैं परन्तु जो अनियमित रूप से यदा कदा प्रवहमान भाव-धारा में गति देकर चलते रहते हों उन्हें संचारी समझा जाता है। दशरूपककार धनञ्जय (द० रू० ४।३४) ने भी स्थायीभाव को समुद्र-सा व्यापक कहा है। जैसे समुद्र समस्त मिलने वाली नदियों को आत्मसात् कर लेता है, उसी प्रकार स्थायी-भाव से भी प्रतिकूल या अनुकूल सभी भाव विच्छिन्नता प्राप्त कर नहीं सकते तथा वे सभी स्थायी के आत्मरूप बन जाते हैं। इसको एक अन्य उदाहरण से भी समझा जा सकता है। इनकी स्थिति फूल-माला के समान है। जैसे एक सूत्र में कई पुष्प गूँथ दिये जाते हैं वैसे ही एक स्थायी या प्रधान भाव के साथ अन्य अनेक भाव भी संयुक्त कर दिये जा सकते हैं। अतः पुष्पमाला में सूत्रभूत होने वाला भाव जो सभी से सम्बद्ध हो वही स्थायी तथा पुष्परूप में पृथक् पृथक् रहने वाले संचारी होते हैं।

नाट्यशास्त्र में उनचास भावों के अन्तर्गत आठ स्थायी भावों को मुख्यता दी गयी है। इसका कारण यह है कि स्थायीभाव रूपी आठ वासनाएँ प्राणियों

के अन्तःकरणों में सर्वदा स्थित होती हैं तथा सहज भी। इन वासनाओं के सदा विद्यमान रहने के कारण ही, भाव भी स्थायीभाव कहा जाता है। इसके विपरीत संचारी भावरूपी वासनाएं वे हैं जो सदा विद्यमान नहीं रहतीं किन्तु उपयुक्त विभावादि के उपस्थित होने पर ही उद्‌बुद्ध हो जाती हैं।

संचारी-भाव—भरतमुनि के अनुसार जो भाव विविध प्रकार से रसाभिमुख होकर संचरण करते हैं वे संचारी भाव या व्यभिचारी-भाव कहलाते हैं। ये संचारी अनुभावों से युक्त होकर स्थायीभाव को रसत्व की ओर अभिमुख करने या ले जाने वाले होते हैं, अतएव ये स्थायीभाव के सहायक भाव भी हैं। व्यभिचारी भावों की संख्या तैंतीस है। सभी व्यभिचारी-भाव आत्मगत, परस्थ तथा मध्यस्थ भेद से तीन प्रकार के माने जाते हैं; जिनका देश, काल एवं अवस्था की अनुरूपता के सन्दर्भ में उत्तम, मध्यम तथा अधम श्रेणी के व्यक्तियों के (या पात्रों के) द्वारा उपयोग किया जाता है। इन सभी भावादि का स्वरूप नाट्यशास्त्र में विस्तार से प्रतिपादित है।

सात्विक भाव—भरतमुनि ने आठ सात्विक भाव बतलाकर सात्विकभावों के निरूपण को आरम्भ करते हुए यह प्रश्न उठाया कि इन आठों भावों को सात्विक क्यों कहा जाता है? फिर इसके उत्तर में स्वयं मुनि ने बतलाया कि सत्व की उत्पत्ति समाहित मन से होती है, अतः चित्त की एकाग्रता या समाहित-मनस्त्व से सात्विकभाव उत्पन्न होते हैं। सात्विक अभिनय मन की एकाग्रता के बिना सम्भव ही नहीं होता है। जिस अभिनय में सत्व की अतिरिक्तता होगी वही उत्तम अभिनय होगा। अन्य अभिनयों की तुलना में समान मात्रा में सत्व रहने पर मध्य तथा सत्व के अभाव में अधम या निम्न कोटि का अभिनय हो जाता है। भरत का यह मन्तव्य ध्यान देने योग्य है। इससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि सात्विक-भाव अनेक प्रकार के अभिनयों पर आश्रित होकर सभी रसों में विद्यमान रहते हैं और इन्हीं का व्यवस्थित प्रयोग प्रेक्षक के हृदय में रसोदय करवाता है। अतएव नाट्य में स्थायी, सात्विक तथा संचारी भावों का समायोजन कौशल के साथ वैसे ही किया जाए जैसे चतुर मालाकार, विविध पुष्पों को यथास्थान ग्रथित कर एक सुन्दर माला को प्रस्तुत कर देता हो। स्थायी तथा संचारी के इस विभेद के अतिरिक्त रस तथा भाव में भी विभेदक तत्व विद्यमान है तथा भाव ही पराकाष्ठा तक विकसित होकर रसदशा को प्राप्त करता है, यह पहिले बतला आये हैं किन्तु इस मान्यता को भी कुछ आचार्य नहीं मानते हैं। कुछ अन्य आचार्यों के मतानुसार सभी भाव समान रूप में आवश्यकतानुसार या परिस्थितिवस स्थायी और संचारी हो सकते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि नाट्यप्रयोग में प्रस्तुत किये जाने वाले भावों की

गणना एवं उनकी विनियोजना के विषय में भरतमुनि के द्वारा प्रस्तुत तथ्य ही महत्वशाली है। मानव स्वभाव की जो गहन तलस्पर्शिता हमें नाट्यशास्त्र के भावादि विवरण में मिलती है वह बड़ी आश्चर्यमयी तब हो जाती है जब हमें उसका वर्तमान मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी तथैव दिखाई देने लगता है। मानवीय संवेदन-भूमि के अन्तरतम प्रदेश का जो समुज्ज्वल स्वरूप नाट्यशास्त्र में है वही नाट्यविद्या की आत्मा है और इसी कारण भरत मुनि के द्वारा किया गया इन भावों का विवेचन अतिशय मौलिकता के साथ-साथ परवर्ती सभी आचार्यों द्वारा सामान्यतः उपजीव्य बना रहा, यह सभी जानते हैं। मुनि का यह विराट् प्रयास वैज्ञानिक और तर्कसम्मत होकर इसी कारण सर्वमान्य हुआ है तथा ऐसा विवरण विश्व के तत्कालीन किसी अन्य नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ में तो नितरां अप्राप्य है।

पाठसङ्केत—इस प्रकार यहाँ नाट्यशास्त्र के प्रथम से सप्तमाध्याय तक के विवरण को (प्रथम खण्ड में) उपस्थापित किया गया। अष्टमाध्याय से षट्त्रिंशाध्याय तक इसी प्रकार अगले खण्डों में क्रमशः विवेचन किया जाता रहेगा। हम यह पूर्व में दिखला आए हैं कि नाट्यशास्त्र के प्रस्तुत संस्करण में प्रायः सभी अद्यतन उपलब्ध पाठगत सामग्री का यथाशक्य उपयोग किया गया है तथा प्रायः सभी प्राप्य तथ्यों का अनुशीलन भी। इनमें **क** पाठ के अन्तर्गत बड़ौदा से प्रकाशित अभिनवभारती टीका के अनुसारी पाठ तथा इसी के अन्तर्गत अन्य सभी पाठान्तरों को दर्शाया गया है, **ख** पाठ के अन्तर्गत काव्यमाला बम्बई से प्रकाशित पाठों को तथा **ग** पाठ के अन्तर्गत काशी संस्कृत ग्रन्थमाला-चौखम्बा, वाराणसी के पाठों को लिया गया है। मूलपाठ काशी की दीर्घपाठ परम्परा के अनुसार ही यथासंभव रखा गया है, किन्तु आवश्यकतानुसार इसमें अनेक स्थानों पर परिवर्तन भी किया गया है। नाट्यशास्त्र के चतुर्थाध्याय के ताण्डव-प्रकरण में वर्णित करणों के चिदम्बरम् के नटराज मन्दिर में उत्कीर्ण प्रतिमाओं के रेखाचित्रों को भी यथास्थान विनियोजित किया गया है तथा नाट्यमण्डप के रेखाचित्रों को भी। इससे नाट्यशास्त्र के व्यापक बोध का मार्ग प्रशस्त होगा ऐसी आशा है। इसी क्रम में द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ खण्डों में भी अपेक्षित रेखाचित्रों को रखा जायगा। नाट्यशास्त्र के शेष सभी खण्ड यथाशक्य शीघ्र ही प्रस्तुत किये जायेंगे ऐसी चेष्टा है। आवश्यक विवेचन को ध्यान में रखकर प्रस्तुत खण्ड में परिशिष्ट १ में अतिरिक्त टिप्पणियों तथा परिशिष्ट २ में पद्यार्धानुक्रमणिका आदि लगाई गयी है। अन्त में शुद्धिपत्र भी दे दिया गया है, जिससे अशुद्धियों का भी परिमार्जन हो सके। इसमें दृष्टिदोष या प्रमाद से छूटी हुई अशुद्धियों

तथा आवश्यक परिष्कार एवं सुझावों को निर्देशित करने की अध्येता एवं सुधीजन से विनम्र अभ्यर्थना है उनके द्वारा प्राप्त सभी सुझाव अगले संस्करण में समाविष्ट किये जा सकेंगे ।

आभार प्रदर्शन

नाट्यशास्त्र के मूल संस्कृत के साथ पाठान्तरादि विविध परिशिष्टों, टिप्पणियों आदि से समन्वित इस प्रदीप हिन्दी व्याख्यान के लेखन से लेकर प्रस्तुत करने के सुदीर्घकाल के अन्तराल में अनेक सुधीजनों, विद्वानों एवं साहित्यकारों से सहयोग, प्रोत्साहन एवं प्रेरणा मिली है । सर्वप्रथम नाट्य-शास्त्र के मूलपाठ के पूर्ववर्ती सभी संस्करणों के सम्पादकों की मैं अधमर्णता स्वीकार करता हूँ जिनने इस संस्करण को सँवारने में आधार प्रदान किया है । इसके अतिरिक्त नाट्यशास्त्रीय वाङ्मय के उन सभी प्राचीन ग्रन्थकारों तथा अभिनव समालोचकों का भी मैं कृतज्ञ हूँ जिनके ग्रन्थों के अनुशीलन ने मुझे प्रस्तुत संस्करण में अभिनवतथ्यों की अधिक मीमांसा करने में प्रवृत्त करवाया । नाट्यशास्त्र के चतुर्थाध्याय में प्रतिपादित करणों के चिदम्बरम् के नटराज मन्दिर में उत्कीर्ण प्रतिमाओं के रेखाचित्रों के ९६ ब्लाकों को प्रस्तुत संस्करण में प्रकाशनार्थ प्रेषित करने के कारण मैं भारत शासन देहली के शासकीय अभिलेखाधिकृत तथा दक्षिण भारतीय प्रशाखा ओटकमंड के पुरा-तात्विक सामग्री एवं अभिलेख के विशेषाधिकारी श्री डॉ० जी० एस० घाई पी-एच० डी० का भी अतिशय कृतज्ञ हूँ ।

इस ग्रन्थ के लेखनकाल में अनेक मित्रों तथा विद्वानों का हार्दिक एवं व्यावहारिक सहयोग मिला है । इस क्रम में मैं डॉ० राजबली जी पाण्डेय, (दिवंगत कुलपति, जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर), प्राचार्य श्री रामेश्वर शुक्ल, 'अंचल' महाकोशल महाविद्यालय, जबलपुर, डॉ० श्रीनाथ श्रीपाद हसूरकर, पूर्वाचार्य, संस्कृत महाविद्यालय रायपुर तथा प्राचार्य शासकीय महाविद्यालय धार, डॉ० उदयनारायण तिवारी, अध्यक्ष-हिन्दी विभाग जबलपुर विश्वविद्यालय जबलपुर, डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी, प्राध्यापक, अध्यक्ष काशी हिन्दूविश्वविद्यालय वाराणसी, डॉ० प्रभुदयालु जी अग्निहोत्री, संचालक मध्यप्रदेश रचना अकादमी, भोपाल, श्री रामेश्वर शर्मा प्राध्यापक हिन्दी-विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय, डॉ० कृष्णबल्लभ जोशी, प्राध्यापक हिन्दी-विभाग, जबलपुर-विश्वविद्यालय, जबलपुर, तथा डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी प्राध्यापक एवं अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन का विशेषरूप से आभार व्यक्त करता हूँ ।

नाट्यशास्त्र के व्याख्यान लेखन का समग्र कार्य मध्यप्रदेश शासन की सेवा

में रहते हुए करने के कारण मैं मध्यप्रदेशशासन के प्रति भी अपना विनम्र आभार प्रदर्शित करता हूँ।

अन्त में काशी के विश्रुत एवं लब्धप्रतिष्ठ प्रकाशन संस्थान चौखम्बा संस्कृत संस्थान तथा उनके समस्त शाखा परिवार के प्रति सामान्यतः तथा इसके भूतपूर्व संचालक गोलोकवासी श्रीकृष्णदासजी गुप्त के प्रति विशेषतः अपना हार्दिक आभार प्रदर्शित करता हूँ जिनने प्रेमपूर्वक इस बड़े कार्य को प्रकाशनार्थ स्वीकृत कर अनुशीलनकर्त्ता तथा साहित्यसेवियों के लिये नाट्यशास्त्र को उपलब्ध करवाया किन्तु दुःख भी है कि वे इस ग्रन्थ के प्रकाशन के पूर्व ही असमय में गोलोकवासी हो गये तथा संस्था के कर्णधार मा० श्रीसेठ जयकृष्णदास जी गुप्त भी इसी बीच गोलोकवासी हो गये। मैं इस दुर्घटना से आहत-सा हूँ तथा वृन्दावनचारी से इनकी पवित्र आत्माओं को सदैव उनके नित्य विहार में समाविष्ट करने की अन्तःकरण से प्रार्थना करता हूँ।

मैं चौखम्बा संस्कृत संस्थान के वर्तमान संचालक श्रीभाई मोहनदासजी गुप्त का भी आभारी हूँ जिनने अपनी संस्था के गौरवानुरूप इस ग्रन्थ को प्रस्तुत करने में तत्परता दिखाई। मैं चौखम्बा परिवार के ही श्री पं० देवनारायण झा तथा पण्डित श्री रामचन्द्र झा व्याकरणाचार्य की भी इस प्रसंग में की गयी सहायता का आभारी हूँ। किमधिकम्—

नाट्याम्नाय–नितान्ततान्तमनसामासेतुशीताचला–
क्षोणीमण्डलमध्यवर्तिविदुषामाभोगिनी चेतसाम्।
जीयादुक्तिविवेकजालनिकरैः संशोधिता निस्तुलैः
गम्भीरा मधुरा प्रबोधजननी व्याख्या प्रदीपाभिधा॥

महाशिवरात्रि, सं० २०२८
मन्दसौर

सुधीजनकृपाकांक्षी
बाबूलाल शुक्ल, शास्त्री

ग्रन्थ संकेत

अभि० द०	: अभिनयदर्पण ।
अभि० भा०	: अभिनवभारती (नाट्यशास्त्र व्याख्या) ।
अ० भा०	: अभिनवभारती (नाट्यशास्त्र व्याख्या) ।
का० प्र०	: काव्यप्रकाश ।
काव्या० सू०	: काव्यालंकारसूत्र ।
द० रू०	: दशरूपक ।
ना० चं०	: नाटकचन्द्रिका ।
ना० द० सू०	: नाट्यदर्पणसूत्र ।
ना० शा०	: नाट्यशास्त्र ।
ना० शा० सं०	: नाट्यशास्त्रसंग्रह ।
भ० को०	: भरतकोश ।
भा० प्र०	: भावप्रकाशन ।
भ० अ०	: भरतार्णव ।
भ० भा०	: भरतभाष्य ।
म० भा०	: महाभारत ।
र० गं०	: रसगङ्गाधर ।
वा० रा०	: वाल्मीकिरामायण ।
रसा० सु०	: रसार्णवसुधाकर ।
शृ० प्र०	: शृङ्गारप्रकाश ।
सर० क०	: सरस्वतीकण्ठाभरण ।
सा० द०	: साहित्यदर्पण ।
सं० र०	: सङ्गीतरत्नाकर ।

सामान्य सङ्केत

अ०	: अध्याय ।
अं०	: अङ्क ।
का० सं०	: काशीसंस्करण ।
चौ० सं०	: चौखम्बासंस्करण ।
द्र०	: द्रष्टव्य ।
नि० सा०	: निर्णयसागरसंस्करण ।
गा० ओ० सी०	: गायकवाड़ ओरियेन्टल सीरीज, बडौदा।
श्लो० सं०	: श्लोक संख्या ।
सं०	: संख्या ।

—००:०:००—

विषयानुक्रमणिका

प्रथमोऽध्यायः

मंगलाचरण

प्रणम्य शिरसा देवौ पितामहमहेश्वरौ।
नाट्यशास्त्रं प्रवक्ष्यामि ब्रह्मणा यदुदाहृतम्[1] ॥ १ ॥

(प्रदीपकर्तुः मङ्गलाचरणम्)

वाणी ताण्डवमाधत्तां मज्जिह्वारङ्गमण्डपे।
हृद्या यद्भूमिकालीला विद्या वेदपुरस्सरी ॥

(मैं) पितामह [1]ब्रह्मा तथा महेश्वर भगवान शंकर को प्रणाम कर उस नाट्यशास्त्र[2] का निरूपण करूँगा जो ब्रह्माजी के द्वारा (वेदों से) उत्पन्न किया गया है ॥ १ ॥

---

१. नाट्यशास्त्र के प्रथमप्रवक्ता होने से सर्वप्रथम ब्रह्मा की तथा ताण्डव एवं लास्य नृत्यों के प्रथम प्रवर्तक होने और तण्डु द्वारा भरत को नाट्य-विद्या प्रदान करने के कारण भगवान शिव की यहाँ वंदना की गई है, जिससे ग्रन्थ की परम्परा तथा प्राचीनता प्रकट होती है। (तथा इसमें एक समन्वित ग्रन्थ की सूचना भी मिलती है जो ग्रन्थ पहिले ब्रह्मा तथा सदाशिव भरत द्वारा पृथक् पृथक् निर्मित रहे थे) नाट्य-शास्त्रीयग्रन्थों में शिव तथा ब्रह्मा की वन्दना एकसाथ कम ही प्राप्त होती है।

२. यहाँ 'नाट्यशास्त्र' शब्द का प्रयोग उसके मंचीय तथा साहित्यिक (उभय) पार्श्वों को ध्यान में रखकर किया गया है। आचार्य अभिनवगुप्त पाद ने इस शास्त्र की महत्ता एवं उपयोगिता बतलाते हुए इसे कवि तथा प्रयोक्ताजन

---

१. यदुदीरितम्—क०।

ऋषियों का भरत मुनि से प्रश्न—

समाप्तजप्यं व्रतिनं स्वसुतैः परिवारितम् ।
अनध्याये कदाचित्तं[1] भरतं नाट्यकोविदम् ॥ २ ॥
मुनयः पर्युपास्यैनमात्रेयप्रमुखाः पुरा ।
पप्रच्छुस्ते महात्मानो नियतेन्द्रियबुद्धयः ॥ ३ ॥

अति प्राचीन समय में किसी अनध्याय तिथि को जब नाट्यशास्त्र के विज्ञाता भरत[1] मुनि जप समाप्त कर अपने पुत्रों के बीच स्थित थे; तब महात्मा तथा जितेन्द्रिय[2] आत्रेय आदि मुनि गण भरत मुनि के सम्मुख उपस्थित हो उनसे विनयपूर्वक प्रश्न करने लगे ॥ २–३ ॥

योऽयं भगवता सम्यग्ग्रथितो[2] वेदसम्मितः ।
नाट्यवेदः कथं ब्रह्मन्नुत्पन्नः कस्य वा कृते ॥ ४ ॥
कत्यङ्गः[3] किंप्रमाणश्च प्रयोगश्चास्य कीदृशः ।
सर्वमेतद्यथातत्त्वं भगवन् वक्तुमर्हसि ॥ ५ ॥

हे भगवन्, आपने[3] जिस वेदतुल्य 'नाट्यवेद'[4] का निर्माण किया वह

(अभिनेता एवं निर्देशक गण) दोनों के लिये उपदेशप्रद शास्त्र बतलाया है । (द्रष्टव्य–'कविप्रयोक्तुरुपदेशपरं शास्त्रमिति' (अ० १, पृ० सं० ७, अभि० भार०, बड़ौदा संस्क०) ।

१. भरत मुनि के विषय में प्रस्तावना देखिये ।

२. आत्रेय—आत्रेय नामक दो मुनियों के उल्लेख प्राप्त हैं । इनमें एक याज्ञवल्क्य ऋषि के शिष्य (महा भा०) तथा दूसरे वामदेव के शिष्य (ब्रह्म पु०) थे ।

३. यहां नाट्यशास्त्र की जिज्ञासा हेतु मुनियों द्वारा ५ प्रश्न उपस्थापित किए गए हैं जिनका विवेचन ही प्रकृत ग्रन्थ का उद्देश्य है । उनका क्रमिक उत्तर देना नहीं (और न ऐसा किया ही गया है) ।

४. नाट्यशास्त्र के लिये 'नाट्यवेद' तथा 'नाट्यशास्त्र' दोनों ही शब्दों के

---

१. त्तु—ख० । २. कथितो—क० । ३. कत्यंशः—क० ।

किस प्रकार उत्पन्न हुआ और किसके लिए? इसके कितने अंग हैं, इस (वेद) का कितना परिमाण है और इसका प्रयोग (अभ्यास, अभिनय) किस प्रकार किया जाता है ? इन सभी बातों को आप हमें कृपा कर विस्तार-पूर्वक बतलाइये ॥ ४–५ ॥

नाट्यशास्त्र की उत्पत्ति—

तेषां तु [1]वचनं श्रुत्वा मुनीनां भरतो मुनिः ।
प्रत्युवाच ततो वाक्यं नाट्यवेदकथां प्रति ॥ ६ ॥

उन मुनियों के इन वचनों को सुनकर 'नाट्यवेद' के विषय में भरत मुनि ने तब इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया ॥ ६ ॥

भवद्भिः शुचिभिर्भूत्वा तथाऽवहितमानसैः ।
श्रूयतां नाट्यवेदस्य [2]सम्भवो ब्रह्मनिर्मितः ॥ ७ ॥

हे मुनिगण, आप ब्रह्मा के द्वारा निर्मित (उस) 'नाट्यवेद' की उत्पत्ति को पवित्र एवं एकाग्रचित्त होकर सुनिये ॥ ७ ॥

पूर्वं[3] कृतयुगे विप्रा वृत्ते स्वायम्भुवेऽन्तरे ।
त्रेतायुगे सम्प्रवृत्ते[4] मनोर्वैवस्वतस्य तु ॥ ८ ॥
ग्राम्यधर्मप्रवृत्ते[5] तु कामलोभवशङ्गते ।

प्रयोग किये गये हैं । 'नाट्यवेद' शब्द 'नाट्यशास्त्र' का ही बोधक है । इस शास्त्र का वेद शब्द के साथ अभिधान इसे प्राचीनता, पवित्रता तथा प्रामणिकता प्रदान करने के अतिरिक्त सश्रद्ध ग्रहण करने के लिये भी है । वेद शब्द को 'नाट्य' विशेषण देने का आशय है इसका अध्येयत्व सूचित करना । जैसा कि अभिनव-गुप्ताचार्य ने कहा भी है—

'अत्र तु नाट्यस्य वेदः शास्त्रमिति समासः । अन्यथा अध्यापनासम्भवात्' (अभि० भारती vol. I. पृ० ४) नाट्यवेद अर्थात् नाट्य-सिद्धान्तों का निदर्शक (शास्त्रीय परम्परा सम्पन्न) आकरग्रन्थ, अन्यथा उसका अध्यापन संभव न होता ।

---

१. तद्वचनं—क० । २. संक्षेपो—क० । ३. पुरा—क० ।
४. °गेऽथ सम्प्राप्ते—क० । ५. धर्मे प्रवृत्ते—क० ।

ईर्ष्याक्रोधादिसम्मूढे[1] लोके सुखितदुःखिते ॥ ९ ॥
देवदानवगन्धर्वयक्षरक्षोमहोरगैः ।
जम्बूद्वीपे समाक्रान्ते लोकपाल-प्रतिष्ठिते ॥ १० ॥
महेन्द्रप्रमुखैर्देवैरुक्तः किल पितामहः ।
क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यञ्च [2]यद्भवेत् ॥ ११ ॥
न वेदव्यवहारोऽयं[3] संश्राव्यः शूद्रजातिषु ।
तस्मात् सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम्[4] ॥ १२ ॥

हे मुनिगण, अति प्राचीन काल में जब स्वायंभुव मनु के मन्वन्तर में सत्ययुग बीत चुका था तथा वैवस्वत मनु का त्रेतायुग प्रारम्भ हो चुका था। (उस समय) प्रजाजन के काम और लोभ के वशीभूत होकर ग्राम्य[1] धर्म में प्रवृत्त होने एवं ईर्ष्या, क्रोध आदि से अभिभूत होने के कारण (अपने अपने कर्मों के अनुसार) सुखी और दुःखी होने पर तथा (भूर्भुवः आदि) लोकों में देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस सर्पाधिपतियों तथा लोकपालों की प्रतिष्ठा हो चुकने पर महेन्द्र आदि देवताओं ने पितामह ब्रह्मा जी से आकर निवेदन किया कि हे देव, (इन सभी प्रकार के व्यक्तियों के लिए) हम ऐसा मनोविनोद का साधन (क्रीडनीयकम्) चाहते हैं जो देखने (दृश्यं) तथा सुनने (श्रव्य) के योग्य हो। विधि-निषेधात्मक तथा दुर्बोध होने के कारण) वेद का शूद्रों को सुनाना संभव नहीं है अतएव

१. ग्राम्य धर्म = इन्द्रिय लोलुपता। अभिनवगुप्त ने ग्राम्यधर्म शब्द का अर्थ किया है—'ग्राम्योऽश्रुतशास्त्रार्थजनाकीर्णदेशोचितो धर्मः स्वधर्माननुपालनलक्षणः' (अभि० भार० vol. I. पृ० १०) अर्थात् वह धर्म जो अशास्त्रज्ञ व्यक्तियों से व्याप्त प्रदेश में हो, जहाँ अपने धर्म का पालन न किया जाता हो)।

२. अभिनवगुप्त के अनुसार दृश्य का हृद्य तथा श्रव्य का अर्थ है व्युत्पत्तिप्रद।

१. °भिसम्मू—ग०। २. श्राव्यश्च—क०।
३. नव्य (न च) विहारोऽयं—ख०।
४. 'नेमे वेदाः यतः श्राव्याः स्त्रीशूद्राद्यास्तु जातिषु।
वेदमन्यत्ततः स्रक्ष्ये सर्वश्राव्यन्तु पञ्चमम् ॥'
इति श्लोकोऽधिकः क-पुस्तके प्रक्षिप्तश्च।

आप (शूद्रों तथा अन्य) सभी वर्णों के लिए उपयोगी (एक) पाँचवें वेद[1] की और रचना कीजिये ॥ ८–१२ ॥

एवमस्त्विति तानुक्त्वा देवराजं विसृज्य च।
सस्मार चतुरो वेदान् योगमास्थाय तत्त्ववित् ॥ १३ ॥

(तब) देवताओं को 'एवमस्तु' (ऐसा ही हो) कह और देवराज इन्द्र को विदा कर सम्पूर्ण तत्त्वों के वेत्ता (उन) ब्रह्माजी ने योग (समाधि) में स्थित (एकाग्रचित्त) होकर चारों वेदों का स्मरण किया ॥ १३ ॥

धर्म्यमर्थ्यं यशस्यञ्च सोपदेश्यं ससङ्ग्रहम्।
भविष्यतश्च लोकस्य[1] सर्वकर्मानु[2]दर्शकम् ॥ १४ ॥
सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नं सर्वशिल्पप्रवर्तकम्[3]।
नाट्याख्यं[4] पञ्चमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम् ॥ १५ ॥

भगवान् ब्रह्मा ने सभी वेदों का स्मरण करते हुए संकल्प किया—मैं 'नाट्य' नामक ऐसे पाँचवें वेद की इतिहास[2] सहित रचना करता हूँ जो

---

१. नाट्यवेद' के प्रमाण, परम्पराओं और इसके पाँचवें वेद पर परिशिष्ट में विस्तार से विवेचन किया गया है। प्रारंभ से ही नाट्य एक संमिश्रितकला के रूप में (Composite Art) रही है जिसमें सभी कलाओं (वास्तु, चित्र, संगति आदि) का संयोग रहता था।

२. 'इतिहास' शब्द को भी प्राचीन काल में वेद की संज्ञा प्राप्त थी। उसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—इति + (इस प्रकार) ह + (निश्चय ही) आस (हुआ)। अतएव स्पष्ट है कि पूर्वकालीन घटनाओं को इतिहास माना गया है। इतिहास का लक्षण इस प्रकार है—

धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्।
इतिवृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते ॥

अर्थात् इतिहास उसे कहते हैं जिसमें धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के उपदेश

---

१. कालस्य—क०। २. कर्मप्रदर्शकम्—क०। ३. प्रदर्शकम्–ग०।
४. नाट्यसंज्ञमिमं—ग०।

धर्म और अर्थ की प्राप्ति कराने वाला (धर्म तथा अर्थ के प्रयोजन का उपपादक या उनके अनुकूल), यशःप्रदाता, उपदेश तथा संग्रह से युक्त, भावी जगत् के लिये सभी कार्यों का पथ-प्रदर्शक, सब शास्त्रों के अर्थों से परिपूर्ण और सभी शिल्पों को प्रदर्शित करने वाला होगा ॥ १४–१५ ॥

एवं सङ्कल्प्य भगवान् सर्वान्[1] वेदाननुस्मरन् ।
नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसम्भवम् ॥ १६ ॥

इस प्रकार का संकल्प करके भगवान् ब्रह्मा ने सभी वेदों का स्मरण करते हुए चारों वेदों के अंगों से उत्पन्न होने वाले 'नाट्य वेद' की रचना की ॥ १६ ॥

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् समाभ्यो[2] गीतमेव च ।
यजुर्वेदादभिनयान् रसा[3]नाथर्वणादपि ॥ १७ ॥

तब (नाट्य के संवाद या गद्यपद्यात्मक प्रथम अंग) पाठ्य को ऋग्वेद से, (नाट्य के द्वितीय अंग) गीत को सामवेद से, (नाट्य के तृतीय अंग) अभिनयों को यजुर्वेद से और (नाट्य के चतुर्थ अंग) रसों को अथर्ववेद (या आथर्वण) से लिया ॥ १७ ॥

वेदोपवेदैः सम्बद्धो[4] नाट्यवेदो महात्मना ।
एवं भगवता सृष्टो ब्रह्मणा सर्ववेदिना[5] ॥ १८ ॥

वाली पुरानी घटित कथा हो और इसी प्रकार की साहित्यिक रचना भी इतिहास मानी जा सकती है। इतिहास का प्राचीन काल में अध्ययन पर्याप्त मनोयोग से किया जाता था और उसे पाँचवाँ वेद भी माना जाता था। इतिहास से युक्त होने के कारण (ही) 'नाट्यशास्त्र' भी पाँचवाँ वेद माना गया, जैसा कि भरत-मुनि की प्रतिज्ञा से स्पष्ट है। इतिहास को अतिरिक्त वेद मानने वाले प्रमाणों के हेतु देखिये—छान्दोग्योपनिषद् ७।७, सुत्तनिपात २।७ (सेल्लसुत) कौटिल्य का अर्थशास्त्र तथा विन्टरनित्स कृत भारतीय साहित्य का इतिहास प्रथम जिल्द (पृ० ३१३)।

---

१. सर्ववेदान्—क० । २. सामतो—क० । ३. नृत्ताना—क० ।
४. सम्बन्धो—ग० । ५. ललितात्मकम्—ग० ।

इस प्रकार सम्पूर्णतत्वों के वेत्ता ब्रह्माजी ने वेदों तथा उपवेदों से सम्बद्ध (अर्थात् वेदों तथा उपवेदों से जिसके अंगों को ग्रहण किया गया है ऐसे) इस 'नाट्यवेद' की रचना की ॥ १८ ॥

उत्पाद्य नाट्यवेदं तु ब्रह्मोवाच[1] सुरेश्वरम् ।
इतिहासो मया सृष्टः[2] स सुरेषु नियुज्यताम्[3] ॥ १९ ॥

(इस प्रकार) नाट्यवेद की उत्पत्ति के उपरान्त ब्रह्माजी देवराज इन्द्र से बोले—मेरे द्वारा यह नाट्यकथा (काव्यकृति, इतिहास) निर्मित कर दी गयी; अब आप देवताओं के द्वारा इसका प्रयोग करवाइए ॥ १९ ॥

कुशला ये विदग्धाश्च प्रगल्भाश्च जितश्रमाः[4] ।
तेष्वयं नाट्यसंज्ञो हि वेदः संक्राम्यतां त्वया ॥ २० ॥

जो देवगण कार्य[1] (अभिनय) में चतुर, विदग्ध, प्रौढ़ तथा श्रम को जीते हुए हों (अथवा रंगमंचीय भय से निर्मुक्त हों और परिश्रमी हों) उन्हीं को इस 'नाट्य वेद' की आप शिक्षा दीजिये (या ऐसे देवों को ही यह कृति अभिनय के प्रयोगार्थ प्रदान कीजिये) ॥ २० ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं शक्रो ब्रह्मणा यदुदाहृतम्[5] ।
प्राञ्जलिः प्रणतो भूत्वा प्रत्युवाच पितामहम् ॥ २१ ॥

(ब्रह्माजी के द्वारा कहे गए) इन वचनों को सुनकर देवराज इन्द्र सविनय प्रणाम कर (पुनः) ब्रह्माजी से बोले ॥ २१ ॥

ग्रहणे धारणे ज्ञाने प्रयोगे चास्य सत्तम ।
अशक्ता भगवन् देवा अयोग्या[6] नाट्यकर्मणि ॥ २२ ॥

---

१. प्रस्तुत श्लोक में अभिनेता के चार गुण बतलाए हैं—(१) कार्य-कुशलता, (२) पाण्डित्य, (३) वाक्पटुता तथा (४) श्रम पर विजय पाने की क्षमता ।

---

१. ब्रह्मावोचत्—क० । २. दृष्टः—ग० । ३. निवेश्यताम्—क० । ४. जितक्लमा—क० । ५. समुदाहृतम्—क० । ६. न योग्या—घ० ।

य इमे वेदगुह्यज्ञा ऋषयः संश्रितव्रता[1]।
एतेऽस्य[2] ग्रहणे शक्ताः प्रयोगे धारणे तथा ॥ २३ ॥

हे भगवन्, इस नाट्यवेद के ग्रहण करने, धारण करने (स्मरण करने), (इस विषय में ऊहापोह करते हुए) जान लेने तथा प्रयोग (अभिनय) करने की देवताओं में सामर्थ्य नहीं है। अतएव ये इस (नाट्यकर्म) के योग्य नहीं हैं।

किन्तु जो वेद के गुह्य रहस्यों के ज्ञाता और उत्तम व्रतों के पालन करने वाले ऋषिगण हैं वे ही इस नाट्य वेद के ग्रहण, धारण तथा प्रयोग करने की (भी) सामर्थ्य रखते हैं ॥ २२-२३ ॥

नाट्य वेद की भरत[1] को उपलब्धि—

श्रुत्वा[3] तु शक्रवचनं मामाहाम्बुजसम्भवः।
त्वं पुत्रशतसंयुक्तः प्रयोक्ताऽस्य भवानघ ॥ २४ ॥
आज्ञापितो विदित्वाऽहं नाट्यवेदं पितामहात्।
पुत्रानध्यापयं योग्यान्[4] प्रयोगं चापि तत्त्वतः ॥ २५ ॥

इन्द्र के वचनों को सुन कमल से उत्पन्न होने वाले पितामह ब्रह्माजी ने मुझ (भरत मुनि) से कहा कि हे अनघ ! (निष्पाप एवं प्रिय मुनि !) तुम अपने सौ पुत्रों से युक्त होकर इस (नाट्य) प्रयोग के कर्ता बनो। इस प्रकार पितामह ब्रह्मा से आज्ञा पाकर, उन्हीं से नाट्यवेद को प्राप्त कर मैंने इसके प्रयोगों को अपने योग्य पुत्रों को प्रयत्नपूर्वक पढ़ाया ॥ २४-२५ ॥

---

१. पुराणों में नाट्यशास्त्रवेत्ता भरत का नाम नहीं मिलता, केवल अपवाद रूप में 'मत्स्यपुराण' में भरत का उल्लेख है। भरतपुत्रों के ये नाम पुराणों में उपलब्ध नहीं होते। इनमें (कुछ के विषय में) जो थोड़े उल्लेख प्राप्त हैं उनके आधार पर इतना विदित होता है कि कोहल, आत्रेय, शालिकर्ण (शातकर्ण) बादरायण, नखकुट्ट, अश्मकुट्ट आदि भी नाट्यशास्त्र के आचार्य हुए हैं। प्राचीन काल में विशाल नाट्यसाहित्य विद्यमान था जिसका कालान्तर में विनाश हो गया। इस विनाश की भी नाट्यशास्त्र में कथा विद्यमान है।

१. संशितव्रताः—क०। २. एते सङ्ग्रहणे—क०।
३. श्रुत्वेमम्—क०। ४. पुत्रानध्यापयामास—क०।

शाण्डिल्यं चैव[1] वात्स्यं च कोहलं[2] दत्तिलं[3] तथा ।
[4]जटिलाम्बष्ठकौ चैव तण्डुमग्निशिखं तथा ॥ २६ ॥

सैन्धवं सपुलोमानं [5]शाड्वलिं विपुलं तथा ।
कपिञ्जलिं बादरिञ्च[6] यम-धूम्रायणौ तथा ॥ २७ ॥

जम्बुध्वजं काकजङ्घं स्वर्णकं तापसं तथा ।
कैदारं[7] शालिकर्णञ्च दीर्घगात्रञ्च शालिजम् ॥ २८ ॥

कौत्सं ताण्डायनिञ्चैव पिङ्गलं चित्रकं तथा ।
बन्धुलं भल्लकञ्चैव मुष्टिकं सैन्धवायनम् ॥ २९ ॥

तैतिलं[8] भार्गवञ्चैव शुचिं बहुलमेव च ।
अबुधं बुधसेनञ्च पाण्डुकर्णं सुकेरलम्[9] ॥ ३० ॥

ऋजुकं मण्डकञ्चैव शम्बरं वञ्जुलन्तथा ।
मागधं सरलञ्चैव कर्तारञ्चोग्रमेव च ॥ ३१ ॥

तुषारं[10] पार्षदञ्चैव गौतमं बादरायणम्[11] ।
विशालं शबलञ्चैव सुनाभं[12] मेषमेव च ॥ ३२ ॥

कालियं भ्रमरञ्चैव तथा पीठमुखं मुनिम् ।
नखकुट्टाश्मकुट्टौ[13] च षट्पदं सोत्तमन्तथा ॥ ३३ ॥

पादुकोपानहौ चैव श्रुतिं [14]चाषस्वरन्तथा ।
अग्निकुण्डाज्यकुण्डौ च वितण्ड्यं[15] ताड्यमेव च ॥ ३४ ॥

---

१ चापि—ग० । २. केहालं—ग० । ३. दन्तिलं—ग० ।
४. जटुला—ग० । ५. शाड्वलीं—ग० । ६. बादिरञ्च—क० ।
७. कैदारिं—क० । ८. तिन्तिलं—क० । ९. सकेरलम्—ग० ।
१०. तुषादं—ग० । ११. बादरायणिम्—ग० ।
१२. सुनाली—ग० । १३. तरुकुट्टाश्मकुट्टौ—ग० ।
१४. श्रुतिकं षट्स्वरं—ग० । १५. विताण्ड्यं—ग० ।

कर्तराक्षं हिरण्याक्षं कुशलं दुस्सहन्तथा ।
जालं[1] भयानकञ्चैव बीभत्सं सविचक्षणम् ॥ ३५ ॥
पुण्ड्राक्षं [2]पुण्ड्रनासञ्चाप्यसितं सितमेव च ।
विद्युज्जिह्वं महाजिह्वं शालङ्कायनमेव च ॥ ३६ ॥
श्यामायनं[3] माठरञ्च लोहिताङ्गन्तथैव च ।
संवर्तकं पञ्चशिखं त्रिशिखं शिखमेव च ॥ ३७ ॥
शङ्खवर्णमुखं षण्डं शङ्कुकर्णमथापि च ।
शक्रनेमिं गभस्तिञ्चाप्यंशुमालिं शठं तथा ॥ ३८ ॥
विद्युतं[4] शातजङ्घञ्च रौद्रं वीरमथापि च ।
पितामहाऽज्ञयाऽस्माभिर्लोकस्य च गुणेप्सया ॥ ३९ ॥
प्रयोजितं पुत्रशतं यथाभूमिविभागशः ।
यो यस्मिन् कर्मणि यथा योग्यस्तस्मिन् स योजितः ॥ ४० ॥

तब हमने पितामह ब्रह्माजी की आज्ञा से तथा प्रजा की गुणग्राहिणी अभिलाषा को ध्यान रख कर अपने सौ पुत्रों को भूमिका के विभागानुसार—जो जिस कार्य में योग्य था उसे उसी प्रयोग[1] (कार्य) में लगा दिया। इन सौ पुत्रों[2] के नाम हैं—शाण्डिल्य, वात्स्य, कोहल, दत्तिल, जटिल, अम्बष्ठक, तण्डु, अग्निशिख, सैन्धव, पुलोमा, शाड्वलि, विपुल, कपिंजलि,

---

१. 'प्रयोग' शब्द के व्युत्पत्ति के अनुसार तीन अर्थ होते हैं। 'प्रयुज्यते इति प्रयोगः' के द्वारा दशरूपक प्रयोग कहलाते हैं। 'प्रयुज्यते निर्वर्त्यते इति प्रयोगः' से प्रयोग का अर्थ 'नाट्यशास्त्र' है और 'प्रयुक्तिः प्रयोगः' व्युत्पत्ति से 'प्रयोग' का अर्थ अभिनय होता है। भरतमुनि ने तीनों की ही शिक्षा पुत्रों को दी थी, जो 'च' तथा 'अपि' पद से सूचित होता है और 'तत्त्वतः' पद से नाट्याचार्य की पूर्ण प्रामाणिकता भी सूचित होती है। (अभि० भार० vol I. पृ० १८)।

२. भरत के इन सौ पुत्रों के नाम बतलाने का मुख्य प्रयोजन है प्रसिद्ध

---

१. लाजं—क०। २. पूर्णनासं—ग०। ३. त्यामायनं—ग०। ४. विद्यतं—ग०।

बादरि, यम, धूम्रायण, जम्बु-ध्वज, काकजंघ, स्वर्णक, तापस, केदार, शालिकर्ण, दीर्घगात्र, शालिक, कौत्स, ताण्डायनि, पिंगल, चित्रक, बन्धुल, भल्लक, मुष्टिक, सैन्धवायन, तैतिल, भार्गव, शुचि, बहुल, अबुध, बुधसेन, पाण्डुकर्ण, सुकेरल, ऋजुक, मण्डक, शम्बर, वञ्जुल, मागध, सरल, कर्त्ता, उग्र, तुषार, पार्षद, गौतम, बादरायण, विशाल, शबल, सुनाभ, मेष, कालिय, भ्रमर, पीठमुख, मुनि, नखकुट्ट, अश्मकुट्ट, षट्पद, उत्तम, पादुक, उपानह, श्रुति, चाषस्वर, अग्निकुण्ड, आज्यकुण्ड, वितण्ड्य, ताड्य, कर्तराक्ष, हिरण्याक्ष, कुशल, दुःसह, जाल, भयानक, बीभत्स, विचक्षण, पुण्ड्राक्ष, पुण्ड्रनास, असित, सित, विद्युज्जिह्व, महाजिह्व, शालंकायन, श्यामायन, माठर, लोहितांग, संवर्तक, पञ्चशिख, त्रिशिख, शिख, शङ्खवर्णमुख, षण्ड, शंकुकर्ण, शक्रनेमि, गभस्ति, अंशुमालि, शठ, विद्युत, शातजङ्घ, रौद्र तथा वीर ॥ २६–४० ॥

कैशिकीवृत्ति की आवश्यकता एवं योजना—

भारतीं सात्त्वतीं चैव वृत्तिमारभटीं तथा।
समाश्रितः प्रयोगस्तु प्रयुक्तो वै मया[1] द्विजाः ॥ ४१ ॥
परिगृह्य प्रणम्याथ ब्रह्मा विज्ञापितो मया।
अथाह मां सुरगुरुः कैशिकीमपि योजय ॥ ४२ ॥
यच्च तस्याः[2] क्षमं द्रव्यं तद्ब्रूहि द्विजसत्तम।
एवं [3]तेनास्म्यभिहितः प्रत्युक्तश्च[4] मया प्रभुः ॥ ४३ ॥
दीयतां भगवन् द्रव्यं कैशिक्याः सम्प्रयोजकम्।
मृदङ्गहारसम्पन्ना[5] रसभावक्रियात्मिका ॥ ४४ ॥

नटों तथा आचार्यों के प्रति सम्मान करना और अन्य प्रयोजन है भूमिका के उपयुक्त नाम के निर्वचन से प्राप्त अर्थों के द्वारा तदनुकूल भूमिका विशेष में उपयोग।

---

१. महाद्विजाः—ग०। २. तस्याक्षमं—ग०।
३. तेनाभ्यभि—ग०। ४. प्रयुक्तश्च—ख०।
५. नृत्ताङ्ग—ख०, मृदङ्गहारसंयुक्ता—घ०।

दृष्टा मया भगवतो नीलकण्ठस्य नृत्यतः।
कैशिकी श्लक्ष्णनैपथ्या शृङ्गाररससम्भवा ॥ ४५ ॥

अशक्या पुरुषैः सा[1] तु प्रयोक्तुं स्त्रीजनादृते।
ततोऽसृजन्महातेजा मनसाऽप्सरसो विभुः ॥ ४६ ॥

नाट्यालङ्कारचतुराः प्रादान्मह्यं प्रयोगतः।

(अपने सौ पुत्रों को शिक्षण देने के पश्चात्) हे मुनिजन, मैंने भारती, सात्वती, तथा आरभटी वृत्तियों[1] पर आश्रित प्रयोग को प्रस्तुत करने का उपक्रम किया और ब्रह्माजी के सम्मुख उपस्थित हो एवं प्रणाम कर अपनी सम्पूर्ण तैयारी के विषय में बतलाया। (कैशिकी वृत्ति हीन अभिनय के अभ्यास तथा तैयारी को जानकर) तब ब्रह्माजी मुझ से बोले कि (अभिनय में आप) इन वृत्तियों के साथ कैशिकी वृत्ति की भी योजना कीजिए तथा उसके लिये जो योग्य द्रव्य हो उसे बतलाइये। तब मैंने निवेदन किया— हे भगवन् ! कैशिकी वृत्ति के सम्यक् प्रयोग के लिये अपेक्षित द्रव्य प्रदान कीजिये (जिससे कि उसकी योजना की जा सके)। इस कैशिकी वृत्ति

---

१. वृत्तियों का लक्षण नाट्यशास्त्र के अध्याय २२ में विस्तार से दिया हुआ है। ये वृत्तियाँ चार हैं। वृत्तिका प्रयोग व्यवहार अर्थ में किया गया है। अभि० गुप्त ने 'व्यापारः पुमर्थसाधनी वृत्तिः' कहा है। यह व्यापार वाचिक, मानसिक तथा शारीरिक भेद से तीन प्रकार का होता है। वाचिक व्यापार को 'भारती' मानसिक को सात्वती और कायिक व्यापार को आरभटी वृत्ति कहा है। तीनों व्यापारों में सौन्दर्य का आधायक एक और व्यापार होता है जिसे 'कैशिकी वृत्ति' कहा है क्योंकि जैसे केश शरीर के सौन्दर्य में उपयोगी होकर भी किसी कार्य को सम्पादित नहीं करते और शीर्षस्थ रहते हुए शोभा बढ़ाते हैं वैसे ही सौन्दर्य में उपयोगी व्यवहार-व्यापार आदि विशिष्ट होकर कैशिकी वृत्ति कहलाते हैं (अभि० भार० vol. I. पृ० २०)। संभवतः ये वृत्तियाँ चार जातियों से संबद्ध होंगी जिनमें भरत तथा सात्वत जातियाँ तो विदित हैं, शेष जातियाँ नष्ट हो गईं (और अब उनका नाममात्र शेष रह गया) है।

---

१. साधु—ग०, न शक्या पुरुषैः साधु—घ०।

को—जो नृत्त[1] और अङ्गहारों से पूर्ण रस तथा भावों के व्यापार वाली, सुन्दर वेषभुषा से सज्जित तथा शृङ्गार रस से उत्पन्न होने वाली (या शृंगार रस की उत्पादिका) है—मैंने भगवान शिव[2] के नृत्य के अवसर पर देखा है। परन्तु इस कैशिकी-वृत्ति का स्त्रीपात्र के बिना अभिनय प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

तब महातेजस्वी और सर्वव्यापक ब्रह्माजी ने मानसिक संकल्प द्वारा नाट्य[3]-प्रयोग तथा शोभावर्द्धन में चतुर अप्सराओं की रचना की और उन्हें अभिनय के लिए मुझे प्रदान किया ॥ ४१–४७ ॥

अप्सराओं की संज्ञाएँ—

मञ्जुकेशीं सुकेशीं च मिश्रकेशीं सुलोचनाम् ॥ ४७ ॥
सौदामिनीं देवदत्तां देवसेनां मनोरमाम् ।
सुदतीं सुन्दरीं चैव विदग्धां विपुलां[1] तथा ॥ ४८ ॥
सुमालां सन्ततिं चैव सुनन्दां सुमुखीं तथा ।
मागधीमर्जुनी चैव सरलां केरलां[2] धृतिम् ॥ ४९ ॥

---

१. नृत्त तथा अंगहारों के लिये नाट्यशास्त्र के अध्याय ४ तथा रस और भाव के लिये अध्याय ६ तथा ७ देखिये।

२. भगवान शिव नृत्य के आदि प्रवर्तक हैं। अभिनयदर्पण के प्रारंभ में, उनकी वंदना (इस प्रकार) है—

आंगिकं भुवनं यस्य, वाचिकं सर्ववाङ्मयम् ।
आहार्यं चन्द्रतारादि तं नुमः सात्विकं शिवम् ॥ (अ० द० १।१)

३. यह नाट्यालंकार-चतुराः पद का अर्थ है (नाट्यालङ्कार के लिये देखिये नाट्यशास्त्र अध्याय २५–४, ५)। इसी का दूसरा अर्थ है नाट्यलङ्कार के प्रदर्शन में दक्ष। यह (प्राचीन) उल्लेख इस तथ्य का प्रदर्शक है कि भारतीय नाट्य का स्वाभाविकता की ओर कितना झुकाव था। पुरुषों का अभिनय पुरुषों के द्वारा तथा स्त्रियों का अभिनय स्त्रियों के द्वारा ही हो, यह मान्यता नाट्यशास्त्र के अतिरिक्त शायद ही किसी अभारतीय प्राचीन नाट्यशास्त्रीय-ग्रन्थ में प्राप्त होगी।

---

१. विविधां—ग०, विबुधां—घ०। २. केरलान्धतीम्—ग०।

नन्दां सपुष्कलां चैव कलमाश्चैव मे ददौ[1] ।

(जिन अप्सराओं को ब्रह्माजी ने मुझे प्रदान किया उनके नाम हैं)— मंजुकेशी, सुकेशी, मिश्रकेशी, सुलोचना, सौदामिनी, देवदत्ता, देवसेना, मनोरमा, सुदती, सुन्दरी, विदग्धा, विपुला, सुमाला, सन्तति, सुनन्दा, सुमुखी, मागधी, अर्जुनी, सरला, केरला, धृति, नन्दा, सपुष्कला तथा कलमा ॥ ४७–५० ॥

स्वाति तथा नारद की भरत की सहायता हेतु नियुक्ति—

स्वातिर्भाण्डे[2] नियुक्तस्तु सह शिष्यैः स्वयम्भुवा ॥ ५० ॥
नारदाद्याश्च गन्धर्वा गानयोगे[3] नियोजिताः ।
एवं[4] नाट्यमिदं सम्यग्बुध्वा सर्वैः सुतैः सह ॥ ५१ ॥
स्वातिनारदसंयुक्तो वेदवेदाङ्गकारणम् ।
उपस्थितोऽहं ब्रह्माणं प्रयोगार्थं कृताञ्जलिः ॥ ५२ ॥
नाट्यस्य ग्रहणं प्राप्तं ब्रूहि किं करवाण्यहम् ।

और ब्रह्माजी के द्वारा स्वाति[1] मुनि को अपने शिष्यों सहित वाद्य-यंत्रों (अवनद्ध वाद्यों) के बजाने के और नारद मुनि और गन्धर्व आदि को गाने[2] के लिये नियुक्त किया गया। इस प्रकार (कैशिकी वृत्ति तथा वाद्य गीत आदि सम्पूर्ण साधनों के मिल जाने पर) नाट्य की तैयारी

---

१. स्वाति नाम के एक मुनि का विष्णु पुराण में भी उल्लेख मिलता है। वाद्य में निपुण होने के कारण सदा संगीत कार्यक्रम में इनकी उपस्थिति रहती थी, ऐसे अनेक पौराणिक उल्लेख प्राप्त हैं।

२. 'अभिनवगुप्त' ने 'गानयोगे' पद का अर्थ किया है वीणा आदि तन्त्रियों (तन्तुवाद्य) तथा वंशी (सुषिर वाद्य) के बजाने के कार्य हेतु। यह वृन्दवाद्य (आतोद्य) का कार्य सम्पन्न करने हेतु बतलाया गया है क्योंकि स्वाति तथा नारद मुनि संगीत के वेत्ता के रूप में अनेक पुराणों में वर्णित हैं और नारद मुनि सदा वीणा धारण करने वाले स्वरूप में प्रसिद्ध भी।

---

१. निर्ममे—ग०। २. स्वातिर्भाण्डनियु—क०।
३. नाटचयोगे—ग०। ४. भावनाटच—क०।

पूर्णरूप से अपने सभी पुत्रों के साथ भली प्रकार समझकर करते हुए वेद और वेदांगों के कारणभूतसमस्त सृष्टि के स्वामी पितामह के सम्मुख स्वाति और नारद के साथ मैं प्रणाम करते हुए उपस्थित हुआ। फिर मैंने निवेदन किया—भगवन् ! नाट्य का ग्रहण (सिखाना आदि कार्य) पूर्ण हो चुका है; अब आप आज्ञा दीजिये कि आगे क्या किया जाए ? ॥ ५०–५३ ॥

इन्द्रध्वज महोत्सव के अवसर पर नाट्य प्रयोग—

एतत्तु वचनं श्रुत्वा प्रत्युवाच पितामहः ॥ ५३ ॥
महानयं प्रयोगस्य समयः प्रत्युपस्थितः[1] ।
अयं ध्वजमहः श्रीमान् महेन्द्रस्य प्रवर्तते ॥ ५४ ॥
अत्रेदानीमयं वेदो नाट्यसंज्ञः प्रयुज्यताम् ।

यह सुन पितामह ब्रह्माजी बोले—इस समय अभिनय के लिए फिर से बड़ा अच्छा अवसर आ गया है। महेन्द्र का इस समय ध्वज-महोत्सव[1] चल रहा है। अतएव इसी महोत्सव में इस नाट्यवेद का भी प्रयोग किया जाए ॥ ५३–५४ ॥

ततस्तस्मिन् ध्वजमहे निहतासुरदानवे ॥ ५५ ॥
प्रहृष्टामरसङ्कीर्णे महेन्द्रविजयोत्सवे ।
पूर्वं[2] कृता मया नान्दी ह्याशीर्वचनसंयुता ॥ ५६ ॥
अष्टाङ्गपदसंयुक्ता विचित्रा वेदनिर्मिता[3] ।
तदन्तेऽनुकृतिर्बद्धा यथा दैत्याः सुरैर्जिताः ॥ ५७ ॥
सम्फेटविद्रवकृता च्छेद्यभेद्याहवात्मिका ।
ततो ब्रह्मादयो देवाः प्रयोगपरितोषिताः ॥ ५८ ॥

---

१. इन्द्रध्वजमहोत्सव—असुरों पर देवताओं की (विशेषतः इन्द्र की) विजय के उपलक्ष में यह भाद्रपद शुक्ल-द्वादशी को मनाया जाता था और (यह उत्सव) प्राचीनकाल में बड़ा लोकप्रिय था। इनका उल्लेख अश्वघोष ने (अपने काव्य में) भी किया है।

---

१. समुपस्थितः—ख० । २. नान्दी मया कृता पूर्वं—घ० ।
३. देवसम्मता—ग० ।

प्रददुर्मत्सुतेभ्यस्तु[1] सर्वोपकरणानि वैः[2] ।

तब उस ध्वज महोत्सव में—जो कि असुरों और दानवों पर विजय प्राप्ति के उपलक्ष्य में बनाया जाता था तथा जिसमें आनन्दित देवगण इतस्ततः विचर रहे थे (ऐसे अवसर पर नाट्यप्रयोग प्रस्तुत करते हुए)—सर्वप्रथम मैंने आशीर्वादात्मक वचनों से युक्त नान्दी का पाठ किया। (मेरे द्वारा पठित) यह नान्दी वेदों से निर्मित, विचित्र तथा आठ[1] पदों वाली (जो कि उसके अंग होते हैं) थी। इस नान्दी के पश्चात् देवताओं द्वारा दैत्यों पर विजय प्राप्त करने का मैंने ऐसा अभिनय प्रस्तुत करना प्रारम्भ किया जो क्रोधपूर्ण वचनों (संफेट), भगदड़ आदि कार्यों तथा मारकाट और युद्धार्थ किये गये आह्वानों से युक्त था। इस प्रदर्शन को देख कर ब्रह्माजी तथा देवगण संतुष्ट हो गए और तब प्रसन्नमनाः उन ब्रह्मादि देवों ने हमें सभी प्रकार के उपकरण (पुरस्कार—नाट्य आदि के उपयोग में आने वाली वस्तुएँ) प्रदान किये ॥ ५५-५८ ॥

भरत-मुनि को तुष्ट देवताओं द्वारा दिए गए उपकरण[2]—

प्रीतस्तु प्रथमं शक्रो दत्तवान् स्वं ध्वजं शुभम् ॥ ५९ ॥
ब्रह्मा कुटिलकञ्चैव[3] भृङ्गारं वरुणः [4]शुभम् ।

---

१. अष्टपदा—नान्दी की व्याख्या में पदों के आठ विभाग (जो कि नाट्यशास्त्र में निर्दिशित हैं—अ० १४-४) इस प्रकार हैं— (१) नाम, (२) आख्यात, (३) निपात, (४) उपसर्ग, (५) समास, (६) तद्धित, (७) सन्धि तथा (८) विभक्ति। नान्दी का लक्षण नाटयशास्त्र (अध्याय ५।१०७-१०८) में दिया गया है। इसकी व्याख्या है 'नन्दन्ति देवता अस्याम् इति नान्दी'। अर्थात् जिसमें देवता आदि आनन्दित होते हों। [इन आनन्दित होने वालों में कवि, अभिनेता तथा सामाजिकों को भी सम्मिलित किया जा सकता है]। नान्दी का विशद विवेचन नाटयशास्त्र के संबन्धित स्थान पर देखिये।

२. भारत में कलाकारों को सफल प्रदर्शन पर पुरस्कार देने की प्राचीन

---

१. प्रददुर्हृष्टमनसः—ग०। २. नः—ग०।
३. कमण्डलुं—ग०। ४. तथा—ग०।

सूर्यश्छत्रं शिवस्सिद्धिं वायुर्व्यजनमेव च ॥ ६० ॥
विष्णुः सिंहासनञ्चैव कुबेरो मुकुटं तथा ।
श्राव्यत्वं प्रेक्षणीयस्य ददौ देवी सरस्वती ॥ ६१ ॥
शेषा ये देवगन्धर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः ।
तस्मिन्[1] सदस्यभिप्रेतान् नानाजातिगुणाश्रयान् ॥ ६२ ॥
अंशांशैर्भाषितान्[2] भावान् रसान् रूपं[3] बलन्तथा ।
प्रददुः[4] मत्सुतेभ्यश्च चित्रमाभरणं बहु ॥ ६३ ॥

सर्व प्रथम प्रसन्न होने वाले इन्द्र ने अपना शुभ ध्वज प्रदान किया। ब्रह्मा ने कुटिलक[1] (टेढ़ा मेढ़ा दण्ड जिसे दण्डकाष्ठ कहते हैं यह विदूषक के प्रयोग में आता है। 'कमण्डलु' पाठान्तर के अनुसार अर्थ होगा—कमण्डलु) दिया।

वरुण ने झारी, सूर्य ने छत्र (चंदोवा), शिव ने सिद्धि, वायु ने पंखा, विष्णु ने सिंहासन, कुबेर ने मुकुट तथा भगवती सरस्वती ने प्रेक्षणीय (नाटक आदि) को सुने जाने का सौष्ठव (क्षमता) प्रदान किया। इसके अतिरिक्त उस सभा में विद्यमान जो अन्य देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस; तथा पन्नग थे उन्होंने भी अति-प्रसन्न होते हुए मेरे पुत्रों को अपने अपने अंशों

परम्परा है। सम्पन्न व्यक्तियों या राजा के द्वारा ये पुरस्कार दिये जाते थे। सामान्य प्रजा बिना किसी शुल्क के इन मनोरंजक प्रदर्शनों का अवलोकन करती थी (यही प्राचीन परम्परा आज टिकिट के रूप में परिवर्तित हो गई है तथा पुरस्कार आदि देना प्रायः बन्द होता जा रहा है)।

१. कुटिलक = दण्डकाष्ठ। यह विदूषक (को धारण करने) के लिये होता है। अनेक रूपकों में विदूषक के 'दण्डकाष्ठमुद्यम्य' का विवरण मिलता है। नाट्यशास्त्र में (अ० २२।१६७, १७०) कपित्थ तथा बिल्व वृक्ष के त्रिवक्र (टेढ़े) दण्डकाष्ठ का वर्णन है पर इसका विदूषक के लिये होने का विवरण नहीं मिलता है।

---

१. तस्मिन् सदस्यतिप्रीताः—घ०।

२. भाषितं—क०, भाषितान्—घ०।

३. रूपबलिं क्रियाम्—ग, रूपं क्रियाबलम्—घ०।

४. दत्तवन्तः प्रहृष्टास्ते मत्सुतेभ्यो दिवौकसः—ग०।

से उत्पन्न होने वाली विभिन्न जाति एवं गुणों वाले, रस, रूप, बल तथा क्रिया को और उनके अनुरूप अनेक अलङ्करणों को प्रदान किया ॥ ५९–६३ ॥

एवं प्रयोगे प्रारब्धे दैत्यदानवनाशने।
अभवन् क्षुभिताः सर्वे दैत्या ये तत्र सङ्गताः ॥ ६४ ॥

विरूपाक्षपुरोगाँस्तु विघ्नान् प्रोत्साह्य[1] तेऽब्रुवन्।
न[2] क्षमिष्यामहे नाट्यमेतदागम्यतामिति ॥ ६५ ॥

दैत्यों तथा दानवों के नाशक इन अभिनय (प्रयोग) के प्रारम्भ होने पर वहाँ उपस्थित सभी दैत्य क्षुभित हो उठे (भड़क उठे)।

उन दैत्यों ने अपने नेता विरूपाक्ष[1] तथा अनेक विघ्नकारी तत्त्वों को उकसाते हुए कहा—हमे इस प्रकार नाट्य को (प्रदर्शित किये जाने पर) सहन नहीं करना चाहिए। (अतएव) चलो, सभी यहाँ से बाहर आओ (हम इसे बिगाड़ें) ॥ ६४–६५ ॥

ततस्तैरसुरैस्सार्धं विघ्ना[3] मायामुपाश्रिताः।
वाचश्चेष्टां[4] स्मृतिश्चैव स्तम्भयन्ति स्म नृत्यताम् ॥ ६६ ॥

तब माया तथा छल का आश्रय लेकर असुरों के साथ उन विघ्नकारी दैत्यों ने (अदृश्य होकर) नृत्य करते हुए अभिनेताओं की वाणी; चेष्टा तथा स्मृति को रुद्ध कर दिया ॥ ६६ ॥

तथा विध्वंसनं दृष्ट्वा सूत्रधारस्य[5] देवराट्।
कस्मात् प्रयोगवैषम्यमित्युक्त्वा ध्यानमाविशत् ॥ ६७ ॥

अथापश्यत् सदो[6] विघ्नैः समन्तात् परिवारितम्।
सहेतरैः[7] सूत्रधारं नष्टसंज्ञं जडीकृतम् ॥ ६८ ॥

---

१. विरूपाक्ष–एक दैत्य जो कि विद्यमान दैत्यों का अग्रणी था। विरूपाक्ष का दूसरा अर्थ है—शिव। पर यह अर्थ यहाँ अनुपयुक्त है। विघ्न से तात्पर्य है विघ्नकारी।

---

१. प्रोत्साद्य—ग०। नेत्थमिष्यामहे—ग०, नेत्थमीक्षामहे—घ०.।
३. विघ्नमायामु०—ग०। ४. वचश्चेष्टां—ग०।
५. तत्र तेषां स देवराट्—घ०। ६. तदा—ग०।
७. सहेतरं—क०।

देवराज ने इन्द्र अभिनय में इस प्रकार उपस्थित विघ्न को देखकर सूत्रधार के नाटय प्रयोग में उपस्थित विषमता और विघ्न के कारण को जानने के लिए ध्यानावस्थित हो गए। ध्यान लगाने पर उन्हें चारों ओर विघ्नों से घिरी हुई सभा दिखाई दी और उन्होंने सूत्रधार को अपने अन्य सहकारी अभिनेताओं के साथ चेतनाहीन अवस्था में पड़ा हुआ पाया ॥६७-६८॥

विघ्न नाशक [1]जर्जर की उपलब्धि—

उत्थाय त्वरितं शक्रः गृहीत्वा[1] ध्वजमुत्तमम् ।
सर्वरत्नोज्ज्वलतनुः[2] किञ्चिदुद्[3]वृत्तलोचनः ॥ ६९ ॥
रङ्गपीठगतान् विघ्नानसुराँश्चैव देवराट् ।
जर्जरीकृतदेहांस्तानकरोज्जर्जरेण सः ॥ ७० ॥

(यह देखकर) इन्द्र ने शीघ्र ही क्रोध से उठकर अपने उस दिव्य ध्वज को ग्रहण कर लिया। उस समय इन्द्र का शरीर सभी प्रकार के रत्नों से देदीप्यमान था और क्रोध से उनके नेत्र (कुछ) ऊपर की ओर चढ़े हुए थे। फिर उस जर्जरध्वज के द्वारा इन्द्र ने रंगपीठ पर विद्यमान विघ्नों तथा असुरों को जर्जरित (देहवाला) कर दिया ॥ ६९-७० ॥

निहतेषु[4] च सर्वेषु विघ्नेषु सह दानवैः ।
सम्प्रहृष्य ततो वाक्यमाहुः सर्वे दिवौकसः ॥ ७१ ॥

दानवों सहित सभी विघ्नों के नष्ट हो जाने पर प्रसन्न हो सभी देवगण यों कहने लगे ॥ ७१ ॥

अहो प्रहरणं दिव्यमिदमासादितं त्वया ।
नास्यविध्वंसिनस्सर्वे येन[5] ते जर्जरीकृताः ॥ ७२ ॥

---

१. जर्जर :—नाटचशास्त्र में इसका स्वरूप बतलाया गया है (दे० ना० शा० अ० २३।१६१-१७०)। इसके पूजन का विधान नाटचशास्त्र अध्याय ३ में है। प्रारम्भ में यह उद्दण्ड दर्शकों के नियमन के लिये था पर सुव्यवस्थित प्रेक्षागृहों के निर्माण के बाद यह एक प्रथा मात्र रह गया।

---

१. क्रोधाज् जग्राह तं ध्वजम्—ग० २. सर्वरत्नोज्ज्वलन्तं तं—ग०।
३. कोपादुद्वृत्त—घ०। ४. गतेषु तेषु विघ्नेषु सर्वेषु—घ०।
५. येनैते—क०; जर्जरीकृतसर्वाङ्गा येनैते दानवाः कृताः—ख०।

यस्मादनेन ते विघ्नाः सासुराः जर्जरीकृताः ।
तस्माज्जर्जर इत्येव[1] नामतोऽयं भविष्यति ॥ ७३ ॥

आज आपको यह दिव्य शस्त्र प्राप्त हो गया है जिसके द्वारा ये दानव जर्जरित कर दिए गये। क्योंकि इसके द्वारा सभी असुरों सहित विघ्न जर्जरित कर दिए गए हैं अतएव (भविष्य में) यह 'जर्जर' नाम से विख्यात होगा ॥ ७२-७३ ॥

शेषा ये चैव हिंसार्थमुपस्थास्यन्ति[2] हिंसकाः[3] ।
दृष्ट्वैव जर्जरं तेऽपि गमिष्यन्त्येवमेव तु ॥ ७४ ॥

और भविष्य में जो भी विघ्न (नाट्यप्रयोग के समय) उपस्थित होंगे वे जर्जर को देखने पर ऐसी ही दशा प्राप्त करेंगे ॥ ७४ ॥

एवमेवास्त्विति ततः शक्रः प्रोवाच तान्सुरान् ।
रक्षाभूतश्च सर्वेषां भविष्यत्येष[4] जर्जरः ॥ ७५ ॥

उन देवताओं से देवराज इन्द्र ने 'एवमस्तु' (ऐसा ही हो) कहा और बोले कि (सचमुच) यही जर्जर सभी (प्रयोग एवं नाट्याभिनेताओं) का रक्षक होगा ॥ ७५ ॥

प्रयोगे प्रस्तुते ह्येवं स्फीते शक्रमहे पुनः ।
त्रासं सञ्जनयन्ति स्म विघ्नाः[5] मद्वधबुद्धयः ॥ ७६ ॥
दृष्ट्वा तेषां व्यवसितं मदर्थे[6] विप्रकारजम् ।
उपस्थितोऽहं ब्रह्माणं सुतैः सर्वैः समन्वितः ॥ ७७ ॥

तब पुनः इन्द्रध्वजमहोत्सव के अवसर पर नाट्याभिनय के प्रस्तुत किये जाने पर अवशिष्ट वे विघ्न मेरा वध करने का निश्चय कर फिर त्रास उत्पन्न करने लगे। तब उन दैत्यों के उद्योग को विघ्नकारक जानकर मैं अपने सभी पुत्रों के साथ (पुनः) ब्रह्माजी के सम्मुख उपस्थित हुआ ॥ ७६-७७ ॥

निश्चिता भगवन्विघ्ना नाट्यस्यास्य विनाशने ।
अस्य[7] रक्षाविधिं सम्यगाज्ञापय सुरेश्वर ॥ ७८ ॥

---

१. एवेति—ख० । २. उपयास्यन्ति—ग० । ३. हिंसकाः—घ० ।
४. भविष्यत्येव—ग० ।
५. शेषास्तु नृत्यताम्—ग०, सेर्ष्यास्तु नृत्यताम् घ० ।
६. दैत्यानां—क० । ७. अतोरक्षाविधं—घ० ।

और मैंने ब्रह्मा जी से कहा—हे भगवन्, ये विघ्नकर्त्ता नाट्य का विनाश करने पर तुले हुए हैं। अतएव हे देवश्रेष्ठ, आप इसकी रक्षा की उचित व्यवस्था करने की कृपा कीजिए ॥ ७८ ॥

नाट्यगृह का निर्माण—

ततश्च विश्वकर्माणं ब्रह्मोवाच प्रयत्नतः ।
कुरु लक्षणसम्पन्नं नाट्यवेश्म महामते[1] ॥ ७९ ॥
ततोऽचिरेण कालेन विश्वकर्मा महच्छुभम् ।
सर्वलक्षणसम्पन्नं कृत्वा[2] नाट्यगृहं तु सः ॥ ८० ॥
प्रोक्तवान्द्रुहिणं[3] गत्वा सभायान्तु कृताञ्जलिः ।
सज्जं नाट्यगृहं देव तनवेक्षितुमर्हसि ॥ ८१ ॥

(तब मेरी प्रार्थना सुनकर) ब्रह्माजी विश्वकर्मा[1] से बोले—हे महामते, आप सभी लक्षणों से युक्त एक नाट्यशाला का निर्माण कीजिए। तब विश्वकर्मा ने थोड़े ही समय में शुभ, महाविस्तार सम्पन्न, अच्छे लक्षणों से युक्त नाट्यगृह की रचना कर दी और वह ब्रह्माजी की सभा में (हाथ जोड़) पुनः उपस्थित होकर कहने लगे—हे देव, नाट्यगृह तैयार हो चुका है, आप उसे देख लीजिये ॥ ७९-८१ ॥

ततः सह महेन्द्रेण सुरैः सर्वैश्च सत्तमैः[4] ।
आगतस्त्वरितो द्रष्टुं द्रुहिणो नाट्यमण्डपम् ॥ ८२ ॥
दृष्ट्वा नाट्यगृहं ब्रह्मा प्राह सर्वान्सुरांस्ततः ।
अंशभागैर्भवद्भिस्तु रक्ष्योऽयं नाट्यमण्डपः ॥ ८३ ॥

---

१. विश्वकर्मा—देवताओं के वास्तुकार। इनका नाम ऋग्वेद में भी मिलता है पर ये पुराणों में अधिक प्रसिद्ध हैं और इनके कार्यों का भी पुराणों में अधिक विवरण मिलता है।

---

१. चकार सः—ग०। २. नाट्यवेश्म चकार सः—घ०।
३. कृत्वा यथोक्तमेवं तु गृहं पद्मोद्भवाज्ञया इत्यधिकं दृश्यते—ग० पुस्तके।
४. सत्तमैः—ग०। ५. अगच्छत्वरितो—ख०।

तब ब्रह्माजी, इन्द्र तथा अन्य सभी देवगण उस नाट्यमण्डप को देखने के लिये शीघ्रतापूर्व वहाँ आए और उस नवनिर्मित नाट्यगृह को देख ब्रह्माजी सभी देवगण से बोले—आपको अपने अपने अंशों से इस नाट्य-मण्डप की रक्षा करनी चाहिये ॥ ८२–८३ ॥

नाट्यगृह के रक्षक देवताओं की नियुक्ति—

रक्षणे मण्डपस्याथ[1] विनियुक्तस्तु[2] चन्द्रमा ।
लोकपालास्तथा[3] दिक्षु विदिक्ष्वपि च मारुताः ॥ ८४ ॥

नैपथ्यभूमौ मित्रस्तु निक्षिप्तो वरुणोऽम्बरे[4] ।
वेदिकारक्षणे वह्निर्भाण्डे सर्वदिवौकसः ॥ ८५ ॥

वर्णाश्चत्वारः एवाथ स्तम्भेषु विनियोजिताः ।
आदित्याश्चैव रुद्राश्च स्थिताः स्तम्भान्तरेष्वथ ॥ ८६ ॥

धारणीष्वथ[5] भूतानि शालास्वप्सरसस्तथा ।
सर्ववेश्मसु यक्षिण्यो महीपृष्ठे महोदधिः ॥ ८७ ॥

द्वारशालानियुक्तौ[6] तु कृतान्तः काल एव च ।
स्थापितौ द्वारपात्रेषु[7] नागमुख्यौ[8] महाबलौ ॥ ८८ ॥

देहल्यां यमदण्डस्तु शूलं तस्योपरि[9] स्थितम् ।
द्वारपालौ स्थितौ चोभौ नियतिर्मृत्युरेव च ॥ ८९ ॥

पार्श्वे च रंगपीठस्य महेन्द्रः स्थितवान्स्वयम् ।
स्थापिता मत्तवारण्यां विद्युद्दैत्यनिषूदनी ॥ ९० ॥

स्तम्भेषु मत्तवारण्याः स्थापिताः परिपालने[10] ।

१. स्यास्य—ख०, मण्डपेऽस्याथ—ग० ।
२. नियुक्तो रजनीकर—ख० ।
३. यथादिग्लोकपालाश्च—ख० । ४. वरुणेश्वरः—ख० ।
५. धरणीषु स्थिता भूताः—ग०, धारणेष्वथ भूतानि—ख० ।
६. नियुक्तस्तु—ग० । ७. पार्श्वे तु—ग० । ८. नागराजौ—ग० ।
९. चोपरि संस्थितम्—ग० । १०. परिरक्षणे—ख० ।

भूतयक्षपिशाचाश्च[1] गुह्यकाश्च महाबलाः ॥ ९१ ॥
जर्जरे तु[2] विनिक्षिप्तं वज्रं दैत्यनिबर्हणम् ।
तत्पर्वसु विनिक्षिप्ताः[3] सुरेन्द्रा ह्यमितौजसः ॥ ९२ ॥
शिरःपर्वस्थितो ब्रह्मा द्वितीये शङ्करस्तथा ।
तृतीये च स्थितो विष्णुश्चतुर्थे स्कन्द एव च ॥ ९३ ॥
पञ्चमे च महानागाः शेषवासुकितक्षकाः ।
एवं विघ्नविनाशाय स्थापिता जर्जरे सुराः ॥ ९४ ॥

तथा नाट्यमंडप की रक्षा के लिये 'चन्द्रमा' को विशेष रूप से नियुक्त किया । (चारों मुख्य) दिशाओं की रक्षा के लिए उन-उन दिशाओं के लोकपालों को तथा विदिशाओं (कोण दिशाओं) की रक्षा हेतु मरुद्गणों को नियुक्त किया । नेपथ्यभूमि की रक्षा के लिए मित्र को तथा आकाश (खाली प्रदेश) की रक्षा के लिए वरुण को नियुक्त किया । वेदिका (रंगभूमि) की रक्षा में अग्नि को तथा वाद्यों की रक्षा के लिए सभी देवताओं को नियुक्त कर दिया । (इसके) स्तम्भों के पास चारोवर्ण[1] (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) को विशेष प्रकार से नियुक्त किया । स्तम्भों के मध्यवर्ती भागों में आदित्य और रुद्रदेव स्थापित किये । धारणी की (बैठकों की) रक्षा के लिए भूतगणों को, ऊपर की अटारी (शाला) की रक्षार्थ अप्सराओं को, शेष (सारे) स्थानों की रक्षा के लिए यक्षिणियों को तथा फर्श (पृथ्वीतल) की रक्षा के लिये महोदधि (सागर) को नियुक्त किया । नाट्यशाला के द्वारों की रक्षा हेतु कृतान्त काल की तथा द्वारों के पार्श्वों में किवाड़ों के रक्षार्थ दो सर्पाधिपतियों (अनन्त तथा वासुकि) की नियुक्ति की गई । देहली पर यमदण्ड की नियुक्ति की गई और उसके ऊपर शूल को स्थापित किया गया । नियति तथा मृत्यु दोनों देवता द्वारपाल

१. 'वर्णाश्चत्वारः' का अर्थ चार वर्ण है । चार रंग या उनके देवता नहीं क्योंकि दूसरे अध्याय में इन स्तम्भों की स्थिति स्पष्ट रूप से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र से सम्बन्ध रखने वाली बतलाई गई है ।

१. भूता यक्षाः पिशाचाश्च—घ० । २. चैव निक्षिप्तं—ग० ।
३. च निक्षिप्ताः—ग० ।

के रूप में स्थित हुए। रंगपीठ के पार्श्वकी रक्षार्थ स्वयं महेन्द्र स्थित हुए। मत्तवारणी[1] में दैत्यों की नाशक विद्युत् की स्थापना की गई। मत्तवारणी के (चारों) स्तम्भों में उनके रक्षार्थ महाबलशाली भूत, यक्ष, पिशाच तथा गुह्यकों को स्थापित किया। जर्जर में दैत्यों के नाशक वज्र की स्थापना की गई और उसके पर्वों (पैरों, पोरों) में अपरिमित शक्ति-सम्पन्न देवगण की स्थापना की गई। जर्जर के सबसे पहिले शीर्ष (स्थानीय) पर्व में ब्रह्मा की, दूसरे में शिव की, तीसरे में विष्णु की, चतुर्थ में स्कन्द की तथा पाँचवें में शेष, वासुकि और तक्षक नामक महासर्पों की स्थापना की गई। इस प्रकार विघ्नों के नाश के लिए जर्जर (के विभिन्न भागों) में देवगण की स्थापना की गई ॥ ८४–९४ ॥

रङ्गपीठस्य मध्ये तु स्वयं ब्रह्मा प्रतिष्ठितः।
इत्यर्थं[1] रङ्गमध्ये तु क्रियते पुष्पमोक्षणम् ॥ ९५ ॥

रंगपीठ के मध्यदेश में स्वयं पितामह ब्रह्मा स्थित हुए। इसलिये (नाट्य के प्रारंभ में) रंग के मध्यभाग में (ब्रह्मा की पूजा की भावना से) पुष्पों को चढ़ाया जाता है ॥ ९५ ॥

पातालवासिनो ये च यक्षगुह्यकपन्नगाः।
अधस्ताद्रङ्गपीठस्य रक्षणे ते[2] नियोजिताः ॥ ९६ ॥

और जो यक्ष, गुह्यक तथा सर्पगण पाताल में निवास करते थे उन्हें रंगपीठ के अधोभाग की रक्षा के लिये वहाँ स्थापित किया गया ॥९६॥

नायकं रक्षतीन्द्रस्तु नायिकाञ्च सरस्वती।
विदूषकमथोङ्कारः शेषास्तु प्रकृतीर्हरः ॥ ९७ ॥

नायक की रक्षा इन्द्र देव करते हैं, नायिका की सरस्वती, विदूषक की रक्षा ओंकार और शेष पात्रों की रक्षा भगवान् शिव करते हैं ॥ ९७ ॥

यान्येतानि नियुक्तानि दैवतानीह रक्षणे।
एतान्येवाधिदैवानि भविष्यन्तीत्युवाच सः ॥ ९८ ॥

---

१. मत्तवारणी का स्वरूप आगे (द्वितीय अध्याय में) बतलाया गया है।

---

१. इष्टचर्थं—ग०। २. विनियोजिताः—ग०।

(इस प्रकार व्यवस्था करने के बाद) ब्रह्माजी ने कहा कि जिन देवताओं की जिन स्थानों पर रक्षार्थ नियुक्ति की गई है वे भविष्य में इन्हीं स्थानों के अधिदेवता भी होंगे ॥ ९८ ॥

एतस्मिन्नन्तरे देवैस्सर्वैरुक्तः पितामहः ।
साम्ना तावदिमे विघ्नाः स्थाप्यन्तां वचसा त्वया ॥ ९९ ॥
पूर्वं साम प्रयोक्तव्यं द्वितीयं दानमेव च ।
तयोरुपरि भेदस्तु ततो दण्डः प्रयुज्यते ॥ १०० ॥

तब (इसी बीच) देवताओं ने ब्रह्माजी से निवेदन किया कि आपके द्वारा ये विघ्न पहिले साम (शान्त वाणी, आश्वासन, समझौता) के द्वारा रोके जाने चाहिए । सर्वप्रथम साम[1] का प्रयोग किया जाए, फिर दान, फिर भेद का और इन तीनों के बाद ही दण्ड का प्रयोग किया जाना चाहिए ॥ ९९-१०० ॥

ब्रह्मा द्वारा विघ्नकर्ताओं का उद्बोधन—

देवानां वचनं श्रुत्वा ब्रह्मा विघ्नानुवाच[1] ह ।
कस्माद्भवन्तो[2] नाट्यस्य विनाशार्थमुपस्थिताः[3] ॥ १०१ ॥
ब्रह्मणो वचनं श्रुत्वा विरूपाक्षोऽब्रवीद्वचः ।
दैत्यैर्विघ्नगणैः सार्धं सामपूर्वमिदं ततः[4] ॥ १०२ ॥
योऽयं भगवता सृष्टो नाट्यवेदः सुरेच्छया ।
प्रत्यादेशोऽयमस्माकं सुरार्थं भवता कृतः ॥ १०३ ॥
तन्नैतदेवं कर्तव्यं त्वया लोकपितामह ।
यथा देवास्तथा दैत्यास्त्वत्तः सर्वे विनिर्गताः ॥ १०४ ॥

देवगण के वचन सुनकर ब्रह्माजी जी ने विघ्नों से कहा—आप इस नाट्य के विनाश के लिए क्यों उद्यत हैं ? ब्रह्माजी के वचनों को सुनकर तब दैत्यों

---

१. विघ्नों के विरुद्ध पूरी व्यवस्था कर लेने पर भी 'साम' का प्रयोग व्यावहारिक यथार्थ तथा आदर्श का समन्वय प्रतीत होता है ।

---

१. वचनमब्रवीत्—ग० । २. कथं भव—ख० ।
३. विनाशाय समुत्थिताः—घ० । ४. वचः—ख० ।

तथा विघ्नकर्ताओं के अग्रणी विरूपाक्ष ने शान्तिपूर्वक कहना प्रारम्भ किया—हे भगवन् ! अपने देवताओं की इच्छा के अनुसार सर्वप्रथम जिस 'नाट्यवेद' की रचना की इसमें आपने देवताओं को प्रसन्न करने के लिये हमारा निरादर (ही) किया है और हे पितामह, आपके द्वारा ऐसा नहीं किया जाना चाहिये; क्योंकि सृष्टि के प्रारंभ में आपसे जैसे देवगण वैसे ही दैत्यगण भी उत्पन्न हुए हैं ॥ १०१–१०४ ॥

विघ्नानां वचनं श्रुत्वा ब्रह्मा वचनमब्रवीत् ।
अलं वो मन्युना दैत्या विषादं त्यजतानघाः ॥ १०५ ॥

भवतां देवतानाञ्च शुभाशुभविकल्पकः[1] ।
कर्मभावान्वयापेक्षी[2] नाट्यवेदो मया कृतः ॥ १०६ ॥

विरूपाक्ष के वचन सुन ब्रह्माजी बोले—हे दैत्यों, आपका क्रोध व्यर्थ है; आप इस विषाद को छोड़ दीजिये । मेरे द्वारा यह जो नाट्यवेद निर्मित किया गया है यह आपके तथा देवगणों (दोनों) के शुभ तथा अशुभ कर्मों को बतलाने वाला तथा दोनों के कर्म, वंश तथा भावों को (उसी प्रकार) व्यक्त करने वाला है ॥ १०५–१०६ ॥

नाट्यस्वरूप—

नैकान्ततोऽत्र भवतां देवानां चानुभावनम्[3] ।
त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम् ॥ १०७ ॥

(अतएव) इस नाट्यवेद में केवल आपके या देवताओं के ही चरित्रों का अनुभावन (कल्पना द्वारा अनुकरण या अभिनय ही) नहीं है (किन्तु) इस नाट्य में तो त्रैलोक्य के (समस्त) भावों का प्रस्तुतीकरण (अनुकीर्तन) होता है ॥

क्वचिद्धर्मः क्वचित्क्रीडा क्वचिदर्थः क्वचिच्छमः[4] ।

---

१. अनुकीर्तन का अर्थ है शब्द द्वारा कथन क्योंकि बिना शब्दों के साधारणीकरण का व्यापार संभव नहीं । अतएव अनुभावन नहीं किन्तु अनुकीर्तन ही 'नाट्य' है ।

---

१. विकल्पकैः—ख० । २. वान्वयापेक्षो—ग० ।
३. चात्र भावनम्—ग० । ४. क्वचिच्छ्रमः—ग० ।

कचिद्धास्यं कचिद्युद्धं कचित्कामः कचिद्वधः ॥ १०८ ॥

(इसमें) कहीं धर्म हैं, कहीं क्रीड़ा, कहीं अर्थ (राजनीति, अर्थनीति) कहीं श्रम, कहीं हास्य, कहीं युद्ध, कहीं काम तथा कहीं वध है ॥ १०८ ॥

धर्मो धर्मप्रवृत्तानां कामः कामोपसेविनाम्[1] ।
निग्रहो दुर्विनीतानां मत्तानां[2] दमनक्रिया ॥ १०९ ॥

क्लीबानां धाष्टर्यजनन[3]मुत्साहः शूरमानिनाम् ।
अबुधानां विबोधश्च वैदुष्यं[4] विदुषामपि ॥ ११० ॥

ईश्वराणां विलासश्च स्थैर्यं दुःखार्दितस्य च ।
अर्थोपजीविनामर्थो [5]धृतिरुद्विग्नचेतसाम् ॥ १११ ॥

धर्म परायणों के लिए इसमें धर्म है, काम के प्रयोजनों में प्रवृत्ति रखने वालों के लिये इसमें काम (भी) है। इसमें दुर्विनीतों (उद्दण्ड या अनीति का आश्रय लेने वाले व्यक्तियों) के लिए दण्ड व्यवस्था तथा मदमत्त व्यक्तियों को दमन करने की क्रियाएँ हैं। यह नपुंसकों में धृष्टता का तथा अपने को वीर समझने वाले मनुष्यों में उत्साह का उत्पादक है। (यह) अबोध जनों को विशेष ज्ञान प्रदान करने वाला तथा विद्वानों के ज्ञान को बढ़ाने वाला है। यह ऐश्वर्यशाली प्रभुओं के लिए विलास, दुःख से पीड़ित व्यक्तियों के लिए स्थिरता, अर्थाश्रित व्यक्तियों के लिए अर्थ तथा विकल-चित्त व्यक्तियों के लिए धीरज देने वाला है ॥ १०९-१११ ॥

नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम् ।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम् ॥ ११२ ॥

यह अनेक प्रकार के भावों से समन्वित, (उपसम्पन्न—युक्त, मिश्रित) विभिन्न अवस्थाओं वाला तथा लोक व्यवहार का अनुकरण करने वाला है ॥ ११२ ॥

उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम् ।

---

१. कामार्थसेविनाम्—ख० । २. विनीतानां दमक्रिया—क० ।
३. करण—ग० । ४. वैदग्धं—ख० । ५. वृति—ग० ।

हितोपदेशजननं [1]धृतिक्रीडासुखादिकृत् ॥ ११३ ॥

यह नाट्य उत्तम, मध्यम तथा अधम मनुष्यों के कर्म का आधार लेने वाला तथा हितावह उपदेशों का जनक होगा ॥ ११३ ॥

एतद्रसेषु भावेषु सर्वकर्मक्रियास्वथ ।
सर्वोपदेशजननं [2]नाट्यं लोके भविष्यति ॥ ११४ ॥

यह नाट्य रसों, भावों तथा इन सभी (रसभाव आदि) के कार्य और क्रियाओं के द्वारा उपदेश प्रदान करने वाला होगा ॥ ११४ ॥

दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम् ।
[3]विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद्भविष्यति ॥ ११५ ॥

यह नाट्य दुःख से, थकावट से तथा शोक से पीड़ित दीन-दुखियों के लिए विश्राम देने वाला होगा ॥ ११५ ॥

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम् ।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति ॥ ११६ ॥

यह नाट्य धर्म, यश और आयु का संवर्धक, हितकारी, बुद्धि का विकास करने वाला तथा संसार को उपदेश देनेवाला होगा ॥ ११६ ॥

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं[4] न सा विद्या न सा कला ।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ॥ ११७ ॥

जो नाट्य में न मिले ऐसा न तो कोई ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग और न ही कोई कार्य हो सकता है ॥ ११७ ॥

सर्वशास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च ।
अस्मिन्नाट्ये समेतानि तस्मादेतन्मया कृतम् ॥ ११८ ॥

इस नाट्य में सभी शास्त्रों, सभी प्रकार के शिल्पों और विविध प्रकार के (अनेक) कार्यों का सन्निवेश रहता है। इसलिए मैंने इस नाट्य की रचना की है ॥ ११८ ॥

---

१. नाट्यमेतद्भविष्यति—ग० । २. नाट्यमेतद्भविष्यति—ग० ।
३. विश्रामजननं लोके—ग०, घ० । ४. न तच्छ्रुतं—ख० ।

तन्नात्र मन्युः कर्तव्यो भवद्भिरमरान् प्रति ।
सप्तद्वीपानुकरणं [1]नाट्ये ह्यस्मिन् प्रतिष्ठितम् ॥ ११९ ॥

इसलिए देवताओं पर आपको क्रोध नहीं करना चाहिए; क्योंकि इस नाट्य में सातों[1] द्वीपों (सारे संसार) के भावों का अनुकीर्तन होता है ॥११९॥

[2]देवानामसुराणाञ्च राज्ञामथ[3] कुटुम्बिनाम् ।
ब्रह्मर्षीणाञ्च विज्ञेयं नाट्यं वृत्तान्तदर्शकम् ॥ १२० ॥

इस नाट्य को देवगण, असुर, राजा, गृहस्थीजन तथा ब्रह्मर्षिजन के वृत्तान्त को प्रदर्शित करने वाला जानिये ॥ १२० ॥

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः ।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते ॥ १२१ ॥

सुख और दुःख से मिश्रित (या युक्त) जो लोक प्रकृतियाँ (स्वभाव) हैं वही आङ्गिक आदि अभिनय से युक्त होकर 'नाट्य' कहलाती हैं ॥ १२१॥

वेदविद्येतिहासानामाख्यानपरिकल्पनम् ।
विनोदकरणं[4] लोके नाट्यमेतद्भविष्यति ॥ १२२ ॥

यह नाट्य संसार में वेदों, विद्याओं और इतिहास की गाथाओं की परिकल्पना करने वाला होकर प्रजाजन के मनोविनोद का कर्ता होगा ॥ १२२॥

श्रुतिस्मृतिसदाचार-परिशेषार्थकल्पनम् ।
विनोदजननं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति[5] ॥ १२३ ॥

---

१. पौराणिक वर्णन के अनुसार समस्त भूखण्ड सात द्वीपों में विभाजित है । यथा—(१) जम्बु, (२) प्लक्ष, (३) शाल्मलि, (४) कुश, (५) क्रौंच, (६) शाक तथा (७) पुष्कर । भारतवर्ष जम्बूद्वीप के अन्तर्गत आता है ।

---

१. नाट्यमेतद्भविष्यति—क०, ख० । २. देवानामित्यादि पद्यद्वयी ग० पु० नास्ति । ३. राज्ञां लोकस्य चैव हि—घ० । ४. विनोदजननं काले—ग० ।
५. इत्यस्याग्रे–देवतानामृषीणाञ्च राज्ञामथ कुटुम्बिनाम् । कृतानुकरणं लोके नाट्यमित्यभिधीयते । इत्यधिकं पद्यं वर्तते—ग० पुस्तके ।

और यही नाट्य श्रुति, स्मृति, सदाचार तथा शेष (बचे हुए) अर्थों की कल्पना करने वाला तथा लोकरंजनकारी होगा ॥ १२३ ॥

रंग तथा रंग देवताओं का पूजा-विधान—

एतस्मिन्नन्तरे देवान् सर्वानाह पितामहः ।
क्रियतामद्य[1] विधिवद् यजनं नाट्यमण्डपे ॥ १२४ ॥

इसके उपरान्त ब्रह्माजी सभी देवताओं से बोले—आप आज इस नाट्यमण्डप में विधिवत् यज्ञ कीजिये ॥ १२४ ॥

बलिप्रदानैर्होमैश्च मन्त्रौषधिसमन्वितैः ।
[2]भोज्यैर्भक्ष्यैश्च पानैश्च बलिः समुपकल्प्यताम् ॥ १२५ ॥

मन्त्र तथा औषधि आदि के, बलि[1] प्रदान के तथा होम आदि के साथ इस यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिये तथा भक्ष्य[2], भोज्य तथा पेय पदार्थों से बलि दी जाए ॥ १२५ ॥

मर्त्यलोकगताः सर्वे शुभां पूजामवाप्स्यथ ।
अपूजयित्वा रङ्गन्तु नैव प्रेक्षां[3] प्रवर्तयेत् ॥ १२६ ॥

यही पूजा भविष्य में नाटक के आरंभ के समय मृत्युलोक में आप लोग प्राप्त करेंगे । रंगपूजन किये बिना प्रेक्षा (खेल, नाटक) का आरंभ नहीं करना चाहिये ॥ १२६ ॥

अपूजयित्वा रङ्गन्तु यः प्रेक्षां कल्पयिष्यति ।
निष्फलं[4] तस्य तज्ज्ञानं तिर्यग्योनिश्च यास्यति ॥ १२७ ॥

---

१. बलि = पूजन तथा उसमें अर्पित की जाने वाली सामग्री । २. भोज्य का अर्थ है खाने के वे पदार्थ जो कड़े हों तथा भक्ष्य का अर्थ है कोमल पदार्थ । (खरविशदम् अभ्यवहार्यं भक्ष्यम्, खरभ्रष्टमत्स्यादिविशदं मोदकादि भोज्यम् अभि० गु०) ।

---

१. नाट्यविधि—ग० । २. जप्यैर्भक्ष्यैश्च—घ० ।
३. प्रेक्षा प्रवर्तते—ग० । ४. तस्य तन्निष्फलं ज्ञानं—ग० ।

जो बिना रंग पूजन किये ही 'प्रेक्षा' का प्रारंभ करेगा उसका ज्ञान निष्फल होगा तथा वह पशुयोनि को भी प्राप्त करेगा ॥ १२७ ॥

यज्ञेन सम्मितं ह्येतद्रङ्गदैवतपूजनम् ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन कर्तव्यं नाट्ययोक्तृभिः[1] ॥ १२८ ॥

रंग देवताओं का यह पूजन वैदिकयज्ञ के समान है अतएव 'नाट्य' की संयोजना करने वालों, नाट्याचार्य (या अर्थपति आदि) को यह पूजन प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए ॥ १२८ ॥

नर्तकोऽर्थपतिर्वापि यः पूजान्न करिष्यति ।
न [2]कारयिष्यत्यन्यैर्वा [3]प्राप्नोत्यपचयन्तु सः ॥ १२९ ॥

जो नट या उसका सहायक राजा या आश्रयदाता श्रेष्ठी (अर्थपति[1]) (जो भी हो) रंग की पूजा (का विधान) नहीं करेगा या दूसरे व्यक्तियों से पूजन नहीं करवाएगा तो वह अवनति (पतन, हानि) को प्राप्त करेगा ॥ १२९ ॥

यथाविधि [4]यथाशास्त्रं यस्तु पूजां करिष्यति ।
स लप्स्यते शुभानर्थान् स्वर्गलोकञ्च यास्यति ॥ १३० ॥

जो व्यक्ति विधिविधान तथा शास्त्रों के अनुसार रंग देवताओं की

---

१. प्राचीनकाल में ये अर्थपति धन द्वारा अभिनेताओं के तथा रंगमंच के निर्माण, नाटचप्रदर्शन आदि में सहायता किया करते थे (प्राचीन काल में व्यवसाय की दृष्टि से श्रेष्ठिजन के नाटचप्रदर्शन में प्रवृत्त होने का विवरण कम मिलता है) । अर्थपति नाटचमण्डलियों की उपलब्धि का प्रयत्न तथा उनके द्वारा प्रस्तुत नाटचप्रदर्शन में पर्याप्त अर्थव्यय करते थे ।

---

१. रङ्गपूजनम्—ग० ।

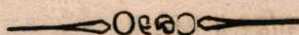
२. कारयिष्यति वा चैव—ग० । ३. प्राप्स्यत्यपचयं—घ० ।

४. यथा दृष्टं—क० ।

अर्चना करेगा वह शुभ अर्थों की (धन, वस्तु आदि इष्ट पदार्थों की) तथा स्वर्ग की प्राप्ति भी करेगा ॥ १३० ॥

एवमुक्त्वा[1] तु भगवान् द्रुहिणः सह दैवतैः ।
रङ्गपूजाङ्कुरुष्वेति मामेवं समबोधयत् ॥ १३१ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे नाट्योत्पत्तिर्नाम प्रथमोध्यायः ।



ब्रह्माजी ने इस प्रकार कह कर मुझे तथा देवताओं को इसी विधान तथा प्रकारों से रंग की पूजा करने को प्रेरित किया ॥ १३१ ॥

भरत मुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र की प्रदीप व्याख्या का 'नाट्योत्पत्ति' नामक प्रथम अध्याय सम्पूर्ण ॥ १ ॥

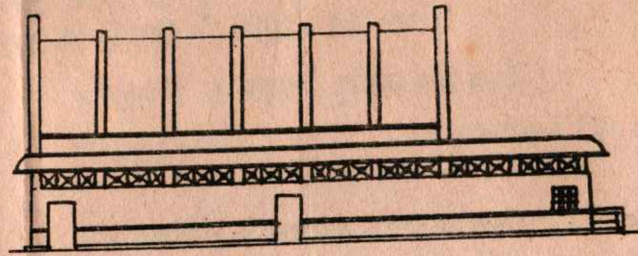


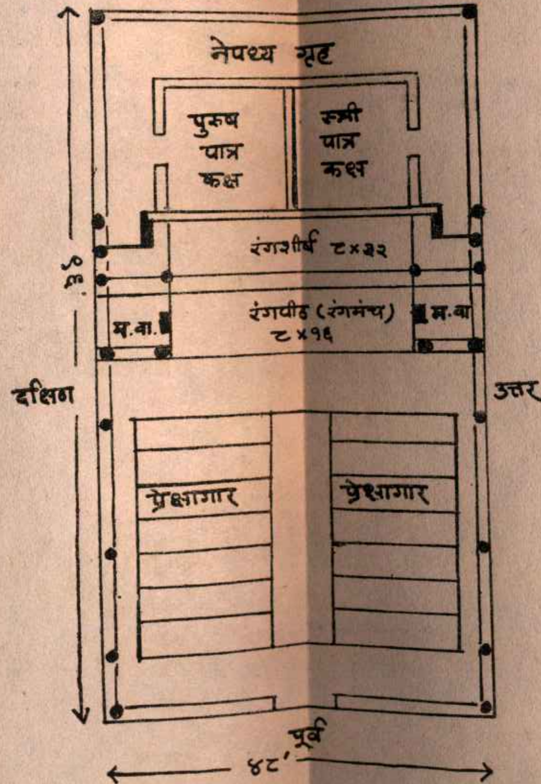
१. एवं भवत्विति प्राह—ग० ।

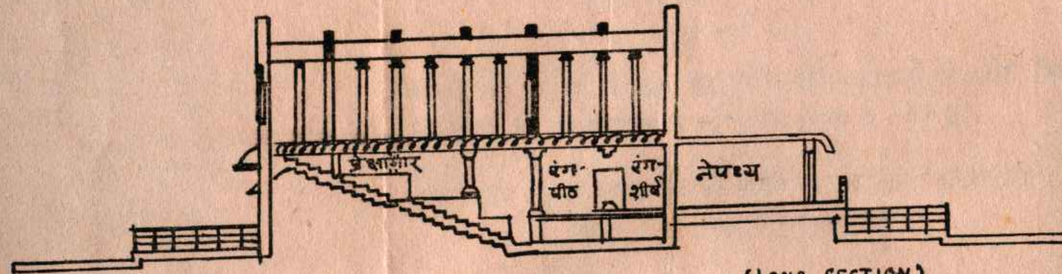

(FRONT ELEVATION)
सम्मुख दृश्य



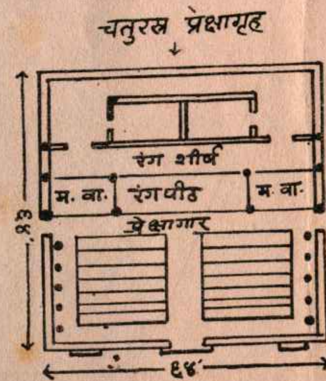
(CROSS SECTION)
पृष्ठ दृश्य

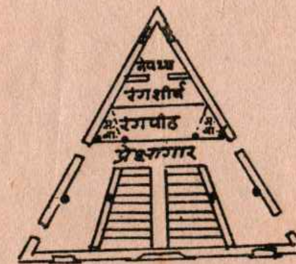

(SIDE ELEVATION)
पार्श्व दृश्य





(LONG SECTION)
आभ्यन्तर दृश्य





त्र्यस्र प्रेक्षागृह

प्राचीन भारतीय प्रेक्षागृह

अथ द्वितीयोऽध्यायः

प्रेक्षागृह के विषय में मुनियों का प्रश्न

भरतस्य वचः श्रुत्वा [1]पप्रच्छुर्मुनयस्ततः।
भगवन् श्रोतुमिच्छामो यजनं रङ्गसंश्रयम् ॥ १ ॥
अथ वा याः क्रियास्तत्र लक्षणं यच्च पूजनम्।
भविष्यद्भिर्नरैः कार्यं कथं तन्नाट्यवेश्मनि ॥ २ ॥

भरत मुनि के वचनों को सुन पुनः मुनिगण बोले—भगवन्! हम 'रंग मंच' पर होने वाले पूजन आदि का विधान सुनना चाहते हैं। अथवा उस रंगपीठ की भविष्य में मनुष्यों द्वारा किस प्रकार रचना (क्रियाएँ[1]) की जाए तथा इसके लक्षण, आकार, परिमाण तथा अधिकारी देवताओं का पूजन विधान क्या होगा इसे भी बतलाइये ॥ १-२ ॥

इहादिर्नाट्ययोगस्य नाट्यमण्डप[2] एव हि।
तस्मात्तस्यैव तावत्त्वं लक्षणं वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥

क्योंकि नाट्य का प्रारम्भिक तत्त्व रंगमंच है अतएव आप सर्वप्रथम 'नाट्यगृह' के लक्षण (आकार, परिमाण, स्वरूप आदि) ही बतलाने की कृपा करें ॥ ३ ॥

नाट्यगृह के प्रकार

तेषां तु वचनं श्रुत्वा मुनीनां भरतोऽब्रवीत्।
लक्षणं पूजनं चैव श्रूयतां नाट्यवेश्मनः ॥ ४ ॥

---

१. इस कारिका में क्रिया तथा यजन शब्दों के क्रमशः रखने का विशेष हेतु है। क्रिया शब्द 'नाटचमंडप' की रचना तथा लक्षण शब्द उसके विशेष आकार का बोधक है। भूतकाल के व्यक्तियों को बतलाना व्यर्थ है अतएव 'भविष्यद्भिः' शब्द का तथा देवगण के लिये संकल्पमात्र से सब कार्य सिद्ध हो जाने के कारण, 'नरैः' शब्द का प्रयोग किया गया है।

---

१. प्रत्यूचुः—ग०। २. कीर्तितो नाटचमण्डपः—च०।

मुनिगण की बात सुन भरत मुनि बोले—पहिले आप 'नाट्यगृह' का लक्षण (आकार आदि) तथा पूजन-विधान (दोनों) सुनिये ॥ ४ ॥

दिव्यानां[1] मानसी सृष्टिर्गृहेषूपवनेषु च।
यथाभावाभिनिर्वर्त्याः सर्वे भावास्तु मानुषा।
नराणां यत्नतः कार्या लक्षणाभिहिता क्रिया ॥ ५ ॥

श्रूयतां तद्यथा यत्र कर्तव्यो नाट्यमण्डपः।
तस्य वास्तु च पूजा च तथा योज्या [2]प्रयत्नतः ॥ ६ ॥

इह प्रेक्षागृहं[3] दृष्ट्वा धीमता विश्वकर्मणा।
त्रिविधः सन्निवेशश्च शास्त्रतः परिकल्पितः ॥ ७ ॥

विकृष्टश्चतुरश्रश्च त्र्यश्रश्चैव तु मण्डपः।
तेषां त्रीणि प्रमाणानि ज्येष्ठं मध्यं तथाऽवरम् । ८ ॥

देवताओं[1] को गृह तथा उपवन निर्माण में मानसी शक्ति प्राप्त है (अर्थात् देवगण अपने इच्छानुसार गृह तथा उपवन का निर्माण (मन के द्वारा ही) कर लेते हैं अतः उनके लिए निर्माण विधि आवश्यक नहीं है) किन्तु मनुष्यों के लिये तो सभी शास्त्र के नियमों से युक्त होकर ही सम्पन्न होने वाले कार्य हुआ करते हैं (इसलिये मनुष्यों को तो लक्षणानुसार ही नाट्यगृह का निर्माण करना चाहिये)।

(अतएव) अब आप नाट्यगृह के स्थान, उसका निर्माण-प्रकार (प्रमाण आदि) तथा पूजन-विधान को—जो कि प्रयत्नपूर्वक करना चाहिये-सुनिये।

---

१. यह श्लोक आगे भी आया है तथा वहीं अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। इससे यह भी सूचित होता है कि नाटच गृहों की अधिक आवश्यकता मनुष्यों के लिये ही है, देवगण के लिये नहीं और इनका स्वरूप बतलाना भी इसी कारण आवश्यक है।

---

१. देवानां—ख०। २. च वास्तुषु—ग०।
३. प्रेक्षागृहाणान्तु—ग०।

बुद्धिमान विश्वकर्मा ने 'नाट्यगृह' के विषय में विचार कर उसके शास्त्रानुसार तीन प्रकार बतलाए हैं जिनके नाम हैं (१) विकृष्ट, (२) चतुरस्र तथा (३) त्र्यस्र। इनके माप (परिमाण) तीन प्रकार के होते हैं—(१) ज्येष्ठ (बड़ा), (२) मध्य (मझला) तथा (३) अवर सबसे छोटा ॥ ५-८ ॥

प्रमाणमेषां निर्दिष्टं हस्तदण्डसमाश्रयम्।
शतं चाष्टौ चतुःषष्टिर्हस्ता[1] द्वात्रिंशदेव च ॥ ९ ॥
अष्टाधिकं शतं ज्येष्ठं चतुःषष्टिस्तु मध्यमम्।
कनीयस्तु तथा वेश्म हस्ता[2] द्वात्रिंशदिष्यते ॥ १० ॥
देवानां तु भवेज्ज्येष्ठं[3] नृपाणां मध्यमं भवेत्।
शेषाणां प्रकृतीनां तु कनीयः संविधीयते ॥ ११ ॥
प्रेक्षागृहाणां[4] सर्वेषां प्रशस्तं मध्यमं स्मृतम्।
तत्र पाठ्यं च गेयं च सुखश्राव्यतरं भवेत् ॥ १२ ॥
प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां त्रिप्रकारो विधिः स्मृतः।
विकृष्टश्चतुरस्रश्च त्र्यस्रश्चैव प्रयोक्तृभिः ॥ १३ ॥

इन नाट्यगृहों का परिमाण हाथ[1] तथा दण्ड के आधार पर निश्चित किया जाता है। इनके माप हैं एक सौ आठ, चौंसठ तथा बत्तीस हाथ की एक भुजा। एक सौ आठ हाथ वाला प्रेक्षागृह ज्येष्ठ, चौंसठ हाथ वाला मध्य तथा बत्तीस हाथ वाला कनिष्ठ होता है। देवताओं का नाट्यगृह,[2]

---

१. हस्त और दण्ड के लक्षण इसी अध्याय (२।१६।१९) में हैं।
२. कुछ लोगों का मत है कि विकृष्ट, चतुरस्र तथा त्र्यस्र ही क्रमशः ज्येष्ठ,

---

१. द्वात्रिंशच्चेति निश्चितम्—ग०। २. द्वात्रिंशत्करमिष्यते—ग०। ३. भवनं ज्येष्ठं—ग० ४. 'प्रेक्षागृहाणां सर्वेषामित्यारभ्य नाट्यवेदप्रयोक्तृभि'-रित्यन्तं पद्यत्रयं ग० पुस्तके नास्ति।

ज्येष्ठ, राजाओं का मध्यम तथा शेष सामान्य प्रजाजन के लिए अवर नाट्यगृह का संविधान किया जाना चाहिए। इन सभी प्रेक्षागृहों में मध्यम परिमाण का प्रेक्षागृह प्रशस्त होता है क्योंकि उसमें पाठ्य तथा गीत को सुखपूर्वक सुना जा सकता है। इस प्रकार प्रेक्षागृहों के विकृष्ट, चतुरस्र तथा त्र्यस्र नामक ये तीन प्रकार बतलाये गये ॥ ९–१३ ॥

मध्यम तथा अवर होते हैं। अन्य लोगों का कहना है कि प्रत्येक के तीन तीन भेद होते हैं और इस प्रकार नौ भेद होंगे। अभिनवगुप्ताचार्य ने भी इसी व्यवस्था को उचित माना है। (एतान्येव त्रीणि ज्येष्ठादीनि इति केचित्, अन्ये तु प्रत्येकं त्रित्वमिति नवैतेऽत्र भेदा इत्याहुः, एतदेव युक्तम्—अ० भा० Vol. I. पृ० ४९) इसके हस्त तथा दण्ड के अनुसार भेदों की कल्पना कर लेने पर १८ भेद हो जाते हैं। ये निम्न प्रकार से बनते हैं। यथाः—

(१) हस्तप्रमाण ज्येष्ठ (२) हस्तप्रमाण ज्येष्ठ चतुरस्र (३) हस्तप्रमाण ज्येष्ठ त्र्यस्र (४) हस्तप्रमाण मध्य विकृष्ट (५) हस्तप्रमाण मध्य चतुरस्र (६) हस्तप्रमाण मध्य त्र्यस्र (७) हस्तप्रमाण अवर विकृष्ट (८) हस्तप्रमाण अवर चतुरस्र (९) हस्तप्रमाण अवर त्र्यस्र।

(१) दण्डप्रमण ज्येष्ठ विकृष्ट (२) दण्डप्रमाण ज्येष्ठ चतुरस्र (३) दण्डप्रमाण ज्येष्ठ त्र्यस्र (४) दण्डप्रमाण मध्य विकृष्ट (५) दण्डप्रमाण मध्य चतुरस्र (६) दण्डप्रमाण मध्य त्र्यस्र (७) दण्डप्रमाण अवर विकृष्ट (८) दण्डप्रमाण अवर चतुरस्र (९) दण्डप्रमाण अवर त्र्यस्र।

इन सभी नाट्यगृहों में मध्यम नाट्यगृह श्रेष्ठ होता है। इसका कारण है अभिनय की स्वाभिकता की रक्षा। अभिनवगुप्ताचार्य ने बतलाया है कि देवता, भूपति तथा प्रजा का जो यहाँ वर्णन किया है वे पात्र रूप में हैं, प्रेक्षक रूप में नहीं। पर प्रेक्षक के रूप में भी उन्हें यहाँ मानना उचित है क्योंकि ये नाट्यगृह उन्हें प्रेक्षक मान कर तथा उनकी सुविधाओं को ध्यान में रखते हुए बनाए गए हैं। यूनान के बड़े मंचों में जो असुविधाएँ होती थीं वे इन मंचों में कदाचित् नहीं हो पाती थीं, यह सहज ही अनुमान भी किया जा सकता है।

नाट्यगृह के तीन परिमाण (माप)

कनीयस्तु स्मृतं त्र्यस्रं चतुरस्रं तु मध्यमम् ।
ज्येष्ठं विकृष्टं विज्ञेयं नाट्यवेदप्रयोक्तृभिः ॥ १४ ॥

त्र्यस्र सबसे छोटा और चतुरस्र मध्यम आकारवाला होता है तथा नाट्य वेद के विज्ञाता एवं प्रयोक्ताजन 'विकृष्ट' (ज्येष्ठ) को सबसे बड़े आकार वाला समझें ॥ १४ ॥

प्रेक्षागृहों के प्रमाण तथा लक्षण—

प्रमाणं यच्च निर्दिष्टं लक्षणं विश्वकर्मणा ।
प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां तच्चैव हि निबोधत ॥ १५ ॥

अणू रजश्च लिक्षा यूका [1]यवस्तथा ।
अंगुलश्च तथा हस्तो दण्डश्चैव प्रकीर्तितः ॥ १६ ॥

अणवोऽष्टौ रजः प्रोक्तं तान्यष्टौ बाल उच्यते ।
बालास्त्वष्टौ भवेल्लिक्षा यूका लिक्षाष्टकं भवेत् ॥ १७ ॥

यूकास्त्वष्टौ यवो ज्ञेयो यवास्त्वष्टौ तथाङ्गुलम् ।
अङ्गुलानि तथा हस्तश्चतुर्विंशतिरुच्यते ॥ १८ ॥

चतुर्हस्तो भवेद्दण्डो निर्दिष्टस्तु प्रमाणतः ।
अनेनैव प्रमाणेन वक्ष्याम्येषां विनिर्णयम् ॥ १९ ॥

विश्वकर्मा ने (सभी प्रकार के) इन प्रेक्षागृहों के जो लक्षण तथा प्रमाण[1] निर्दिष्ट किए हैं इन्हें भी अब आप जानिये । अणु, रज, बाल, लीख

---

१. यहाँ जो माप तौल का प्रमाण बतलाया गया है वही (प्रायः) प्राचीन काल में प्रचलित था । कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी यही प्रमाण मिलता है । (द्रष्टव्य—अ० शा० २।१०) पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी इसी प्रकार का मापतौल का प्रमाण बतलाया गया है । द्रष्टव्य—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष (अष्टाध्यायी ५।४।८६ पर)

---

१. यवः प्रोक्तः—ग० ।

(जूं का अण्डा), जूं, जौ, अंगुली, हस्त तथा दण्ड ये नौ नाप के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए परिमाण हैं। आठ अणुओं का एक रज होता है, आठ रजों का एक बाल, आठ बालों की एक लीख तथा आठ लीखों से एक जूं होती है। आठ जूं से एक जौ तथा आठ जौ का एक अंगुल होता है। चौबीस अंगुल का एक हाथ तथा चार हाथ का एक दण्ड कहलाता है। इसी प्रमाण विधि के अनुसार अब मैं प्रेक्षगृहों के आकार (प्रमाण) का निश्चय करता हूँ ॥ १५-१९ ॥

मनुष्यों के लिए निर्मित प्रेक्षागृह का स्वरूप—

चतुःषष्टिकरान्कुर्याद्दीर्घत्वेन तु मण्डपम्।
द्वात्रिंशेन तु विस्तारं मर्त्यानां यो भवेदिह[1] ॥ २० ॥

इस पृथ्वी पर मनुष्यों के लिए जो नाटयगृह निर्माण किया जाए उसकी लम्बाई ६४ हाथ तथा चौड़ाई ३२ हाथ रखनी चाहिए ॥ २० ॥

विस्तीर्ण प्रेक्षागृह की अनुपयोगिता—

अत ऊर्ध्वं न कर्तव्यः कर्तृभिर्नाट्यमण्डपः।
यस्मादव्यक्तभावं हि तत्र नाट्यं व्रजेदिति[2] ॥ २१ ॥

निर्मातागण इससे बड़ा नाट्यगृह निर्माण न करें क्योंकि प्रेक्षागृहों के अधिक विस्तीर्ण होने पर उनमें उच्चारित किये जाने वाले स्वरयुक्त पाठ्य (संवाद, गीत) तथा प्रस्तुत किया जाने वाला नाट्याभिनय अस्पष्ट होने लगेगा ॥ २१ ॥

मण्डपे विप्रकृष्टे तु पाठ्यमुच्चा[3]रितस्वरम्।
अनिस्सरणधर्मत्वाद्विस्वरत्वं[4] भृशं व्रजेत्[5] ॥ २२ ॥
[6]यश्चाप्यास्यगतो भावो[7] नानादृष्टिसमन्वितः।
स वेश्मनः प्रकृष्टत्वाद् व्रजेदव्यक्ततां परम् ॥ २३ ॥

---

१. यो भवेदिह—ख० । द्वात्रिंशतश्च विस्तारान् मर्त्यानां योजयेदिह—ग० घ० । २. भवेदिति—ग० । ३. मुच्चरित—घ० ।
४. अनभिव्यक्तवर्णत्वात्—ग० । ५. व्रजेदिति—क० ।
६. यश्च लास्यगतो—ग०; यस्य लास्य—ख० घ० ।
७. भावसृष्टिरसाश्रय-—ग०, भावदृष्टिसमन्वितः—घ० ।

प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां तस्मान्मध्यममिष्यते ।

यस्मात्पाठ्यञ्च[1] गेयञ्च तत्र[2] श्रव्यतरं भवेत् ॥ २४ ॥

(प्रेक्षागृह के लम्बे होने पर) कथोपकथन तथा गीतों में वर्णों के ठीक तरह से (स्फुटरूप में) उच्चारण (प्रकट) न होने से अतिशय बेसुरापन (विस्वरता) हो जाएगा और अभिनेताओं के मुखों पर स्थित नाना दृष्टियों से समन्वित भाव भी (प्रेक्षागृह के विस्तीर्ण होने के कारण) अस्पष्ट हो जाएँगे । इसलिए सभी प्रेक्षागृहों में मध्यम परिमाण वाला प्रेक्षागृह ही ठीक है, जिनमें संवाद, वाद्य तथा गीत सुखपूर्वक सुने जा सकें ॥ २२—२४ ॥

देवानां मानसी सृष्टिर्गृहेषूपवनेषु च ।
यत्नभावाभिनिष्पन्नाः[3] सर्वे भावा हि मानुषाः ॥ २५ ॥
तस्माद्देवकृतैर्भावैर्न विस्पर्द्धेत मानुषः ।

(सब प्रकार के) गृहों तथा उपवन की देवताओं[1] द्वारा मानसी सृष्टि की जाती है किन्तु मनुष्यों द्वारा सब रचनाओं को प्रयत्नपूर्वक (परिश्रम से) निर्माण करना होता है । अतएव मनुष्य को देवताओं की रचना शक्ति से विशेष स्पर्धा नहीं करनी चाहिए ॥ २५–२६ ॥

मानुषस्य[4] तु गेहस्य सम्प्रवक्ष्यामि लक्षणम् ॥ २६ ॥

भूमेर्विभागं पूर्वन्तु परीक्षेत प्रयोजकः ।

ततो वास्तुप्रमाणेन[5] प्रारभेत शुभेच्छया ॥ २७ ॥

समा स्थिरा तु कठिना कृष्णा[6] गौरी च या भवेत् ।

---

१. देवों तथा मनुष्यों का अन्तर बतलाने का उद्देश्य यह है कि मनुष्यों की दृष्टि तथा कर्णेन्द्रिय शक्ति (श्रवणशक्ति) सीमित है और यह भी कि आगे के (सभी) वर्णन मनुष्यों के लिए ही किए गए हैं ।

---

१. वाद्यञ्च—ग० । २. सुखं—ग० । ३. यत्नभावाद् विनिष्पन्नाः—ग, ख० । ४. मनुष्यस्य—ग० ५. प्रमाणञ्च—ग० । ६. कृष्णा गौरी च—ब० ।

भूमिस्तत्रैव[1] कर्तव्यः कर्तृभिर्नाट्यमण्डपः ॥ २८ ॥
प्रथमं शोधनं कृत्वा लाङ्गलेन समुत्कृषेत् ।
अस्थि-कीलकपालानि तृणगुल्मांश्च शोधयेत् ॥ २९ ॥
शोधयित्वा वसुमतीं प्रमाणं निर्दिशेत्ततः ।

अब मैं मनुष्यों के नाट्यगृह का लक्षण कहता हूँ। नाट्यगृह निर्माण करवाने वाले (शिल्पी) को सर्वप्रथम पृथ्वी के भाग की (जिस पर नाट्यगृह बनवाया जाए) परीक्षा करनी चाहिए।

तथा वास्तुशास्त्र[1] के प्रमाणानुसार शुभभावना से युक्त हो कार्य प्रारम्भ करे। जो भूमि समतल, स्थिर, कड़ी हो एवं जिसका रंग काला या गौर वर्ण (सफेद या भूरा) हो उसी भूमि पर निर्मातागण नाट्यमण्डप का निर्माण करवाएँ। सर्वप्रथम उस भूमि का शोधन करे फिर उसको हल चलावा कर जुतवा दे और उसमें स्थित हड्डी, कीलें, खपड़े, घास (जो कि भूमि में ही बढ़ रहा हो) तथा झाड़ियों को भी साफ कर दे। इस प्रकार भूमि का शोधन कर फिर प्रमाण का (नाप आदि का) निर्देश करे ॥ २६–३० ॥

(निर्माण हेतु) शुभ नक्षत्र—

त्रीण्युत्तराणि[2] सौम्यश्च विशाखापि च रेवती ॥ ३० ॥
हस्ततिष्यानुराधाश्च प्रशस्ता नाट्यकर्मणि ।

नाट्यगृह के निर्माण में शुभ नक्षत्र हैं—तीन उत्तरा शब्द युक्त नक्षत्र (अर्थात् उत्तराषाढ़ा, उत्तराफाल्गुनी तथा उत्तरा भाद्रपद), मृगशिरा (सौम्य), विशाखा, रेवती, हस्त, तिष्य तथा अनुराधा ॥ ३०–३१ ॥

---

१. प्राचीन काल में भवन-निर्माण शास्त्र अथवा वास्तुशास्त्र पर अधिक साहित्य उपलब्ध था। विश्वकर्मा इसके दूसरे आद्य प्रवर्तक थे तथा मयासुर आदि अनेक विद्वान् तथा शिल्पकार इसके निर्माता थे। सम्प्रति 'मानसारवास्तुसार' वास्तुशास्त्र का सर्वश्रेष्ठ संस्कृत ग्रन्थ है। इसमें भी प्रेक्षागृह का वर्णन (किया गया) है जो लगभग नाट्यशास्त्र जैसा ही है या उससे भी अस्पष्ट।

---

१. तत्र तु—ग०। २. अयं श्लोकः क-ख-पुस्तके प्रक्षिप्तः समुपलभ्यते।

रज्जु-ग्रहण —

पुष्यनक्षत्रयोगेन[1] शुक्लं सूत्रं प्रसारयेत् ॥ ३१ ॥
कार्पासं बाल्बजं[2] वापि मौञ्जं[3] वाल्कलमेव च ।
सूत्रं बुधैस्तु कर्तव्यं यस्य च्छेदो न विद्यते ॥ ३२ ॥
अर्धच्छिन्ने भवेत्सूत्रे स्वामिनो मरणं ध्रुवम् ।
त्रिभागच्छिन्नया[4] रज्ज्वा राष्ट्रकोपो विधीयते ॥ ३३ ॥
छिन्नायां तु चतुर्भागे प्रयोक्तुर्नाश उच्यते ।
हस्तात्प्रभ्रष्टया वापि कश्चित्त्वपचयो भवेत् ॥ ३४ ॥
तस्मान्नित्यं प्रयत्नेन रज्जुग्रहणमिष्यते ।
कार्यं चैव प्रयत्नेन मानं नाट्यगृहस्य तु ॥ ३५ ॥
मुहूर्तेनानुकूलेन तिथ्या[5] सुकरणेन च ।
ब्राह्मणांस्तर्पयित्वा तु पुण्याहं वाचयेत्ततः ॥ ३६ ॥
शान्तितोयं ततो दत्त्वा ततः[6] सूत्रं प्रसारयेत् ।

पुष्य नक्षत्र (के योग) में श्वेत वर्ण के सूत्र[1] को (मापने वाली) सफेद डोरी को) विस्तीर्ण करे । यह सूत्र कपास, ऊन, मूंज या किसी वृक्ष की छाल से निर्मित होना चाहिए ।

बुद्धिमान् पुरुषों द्वारा (इस) डोरी को ऐसी बनानी चाहिए कि वह टूटने न पाए । क्योंकि डोरी के बीच (भाग) से टूटने पर नाट्यगृह के निर्माता या राज्य के स्वामी की निश्चित मृत्यु हो जाती है ।

---

१. 'सूत्र' बनाने का जो विधान यहाँ दिया गया है मानसार-वास्तुशास्त्र में भी प्रायः वही मिलता है । इससे चूने में डुबोकर निशान बनाए जाते थे और तब नींव की खुदाई की जाती थी । आज भी ऐसा ही होता है ।

---

१. योगे तु—क०, ग० । २. बादरं—ग० ।
३. वाल्कलं मौञ्जमेव च—ग० ४. विभाग—क०; त्रिभागे—क० ।
५. तिथ्या च करणेन च—घ० । ६. तत्र सूत्रं—घ० ।

यदि रस्सी तिहाई भाग से टूट जाए तो राष्ट्रविप्लव[1] होता है। चौथे भाग से टूट जाने पर प्रयोक्ता[2] (अभिनय के प्रबन्धक या प्रस्तुत कर्ता) का नाश कहा गया है। यदि यह डोरी (भूमि मापन के समय) हाथ से खिसक कर गिर या टूट जाए तो भी कोई न कोई हानि अवश्य होती है। अतएव रस्सी को सदा बड़ी सावधानी से (मापने के लिए) ग्रहण करना चाहिए। अतः नाट्यगृह हेतु रज्जु से माप पयत्नपूर्वक की जानी चाहिए। इसके लिए मुहूर्त[3] और तिथि अनुकूल चाहिए और करण भी शुभ होना चाहिए तथा ऐसा होने पर फिर ब्राह्मणों को तृप्त कर (भोजन, दक्षिणा आदि देकर) पुण्याहवाचन करवाए। तदुपरान्त शान्ति का जल (छिड़क या) छोड़ते हुए सूत्र को धारण करे और उसे फैलाए ॥ ३१-३७ ॥

नाट्यगृह की भूमि योजना—

चतुष्षष्टिकरान्कृत्वा द्विधा कुर्यात्पुनश्च तान् ॥ ३७ ॥

पृष्ठतो यो भवेद्भागो द्विधो भूतस्य तस्य तु।

तस्यार्धेन[2] विभागेन रङ्गशीर्षं प्रकल्पयेत् ॥ ३८ ॥

पश्चिमे च[3] विभागेऽथ नेपथ्यगृहमादिशेत्।

(विकृष्ट तथा मध्यम[3]-परिमाण के प्रेक्षागृह की रचना के लिए) चौसठ

---

१. 'राष्ट्रकोप' या राष्ट्रविप्लव का अर्थ है राजनैतिक परिवर्तन या उथलपुथल। प्रयोक्ता का अर्थ है अभिनयनिर्देशक या नाट्याचार्य।

२. ज्योतिषशास्त्र के अनुसार एक मुहूर्त ४८ मिनट का कालांश होता है। चान्द्रतिथि के अर्धभाग को करण कहते हैं जो ११ होते हैं। इन्हें प्रत्येक मुहूर्त के देखते समय विचारना होता है। (देखिये सूर्यसिद्धान्त २।६७, ६८)।

३. 'मध्य विकृष्ट' नाटचगृह की रचना का यह क्रम है कि इसकी लंबाई ६४ तथा चौड़ाई ३२ हाथ है। दो भागों में बाँट कर पिछले भाग को जो कि १६ हाथ का ही ८, ८, हाथ के दो भागों में विभक्त किया जाए जिसमें पिछला भाग नेपथ्यगृह का तथा अगला भाग रंगपीठ और रंगशीर्ष हो जाता है। नेपथ्यगृह

---

१. द्विधाभूतो भवेच्च यः—ग०। २. सममर्धं—क०। ३. तु पुनर्भागे—ग०।

हाथ (लंबी) भूमि को नाप कर उसे दो भागों में विभक्त करे। इनमें जो पीछे का आधा भाग है उसे दो भागों में पुनः बाँट कर उसके अगले पर 'रंगपीठ' और 'रंगशीर्ष' का निर्माण करे तथा शेष पिछले आधे भाग पर (जो रंग-शीर्ष के पीछे है) 'नेपथ्य गृह' को बनवाना चाहिए ॥ ३७–३८ ॥

आधारशिला स्थापन हेतु उत्सव विधान—

विभज्य[1] भागान्विधिवद्यथावदनुपूर्वशः ॥ ३९ ॥

शुभे नक्षत्रयोगे च मण्डपस्य निवेशनम् ।

शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैर्मृदङ्गपणवादिभिः ॥ ४० ॥

सर्वातोद्यैः[2] प्रणुदितैः स्थापनं कार्यमेव तु ।

उत्सार्याणि त्वनिष्टानि [3]पाषण्ड्याश्रमिणस्तथा ॥ ४१ ॥

काषायवसनाश्चैव विकलाश्चैव ये नराः ।

इस प्रकार पूर्व कथित विधि के अनुसार भूमि के भागों को यथावत् विभाजन कर शुभ नक्षत्र तथा योग में शंख दुन्दुभि आदि मंगल वाद्यों के नाद घोष के साथ तथा मृदंग, पणव[1] आदि बाजों को वृन्दवादन सहित बजवाते हुए नाट्य-मण्डप (नाट्यगृह) की आधारशिला स्थापित करनी चाहिए।

और इस मंगलमय उत्सव के अवसर पर अनिष्टकारी जो भी (पदार्थ या मनुष्य) हों उन्हें तथा पाषण्ड[2], संन्यासी, काषायवस्त्रधारी तथा विकलांग मनुष्यों को भी (उस समय) इस स्थान से हटा देना चाहिए ॥ ३९–४२ ॥

अभिनेताओं के विश्राम तथा सज्जा के उपयोगार्थ बनाया जाता था (प्रेक्षागृह का रेखाचित्र देखने पर यह स्पष्ट हो जाएगा) विशेष विवेचन के लिए भूमिका तथा परिशिष्ट भी द्रष्टव्य ।

१. अवनद्ध वाद्य का एक प्रकार ।

२. यहाँ 'पाखण्ड का बुरा कार्य नहीं किन्तु किसी अन्य समाज या संघ में अन्तर्भुक्त व्यक्ति है । पीछे चलकर इसका अर्थ ढोंगी हो गया ।

---

१. विकल्प्य—ख० । २. सर्वातोद्यनिनादैश्च—घ० । ३. पाषण्डाश्रमि-ग ।

निशायाश्च बलिः कार्यो नानाभोजनसंयुतः ॥ ४२ ॥
गन्धपुष्पफलोपेतो दिशो दश समाश्रितः ।
पूर्वेण शुक्लान्नयुतो नीलान्नो[1] दक्षिणेन च ॥ ४३ ॥
पश्चिमेन बलिः पीतो रक्तश्चैवोत्तरेण तु ।
यादृशं[2] दिशि यस्यान्तु दैवतं परिकल्पितम् ॥ ४४ ॥
तादृशस्तत्र दातव्यो बलिर्मन्त्रपुरस्कृतः ।

(नींव रखने के दिन) रात्रि में अनेक प्रकार के भोजनों से युक्त, गन्ध, पुष्प और फलों से समन्वित दशों दिशाओं में (उनके अधिष्ठाता रक्षक, देवताओं के हेतु) बलि देना चाहिए। पूर्व दिशा में शुक्ल (सफेद) अन्न की, दक्षिण में नीले, पश्चिम में पीले तथा उत्तर में लाल अन्न की बलि दी जानी चाहिए। जिस दिशा का जो देवता अधिदेव के रूप में बतलाया गया है उस दिशा में वैसी ही मन्त्रों के सहित बलि प्रदान करना चाहिए ॥ ४२-४५ ॥

स्थापने ब्राह्मणेभ्यश्च दातव्यं घृतपायसम् ॥ ४५ ॥
मधुपर्कस्तथा राज्ञे कर्तृभ्यश्च गुडौदनम् ।
नक्षत्रेण तु कर्त्तव्यं मूलेन स्थापनं बुधैः ॥ ४६ ॥
मुहूर्त्तेनानुकूलेन तिथ्या[3] सुकरणेन च ।

गृह स्थापना के (उत्सव के) समय ब्राह्मणों को [1]घृतयुक्त पायस (खीर), राजा को मधुपर्क तथा (अभिनयादि समस्त) कार्य करने वाले व्यक्तियों को गुड धानी दी जानी चाहिए।

---

१. 'घृत' का तात्पर्य मक्खन है। 'मधुपर्क' दही में शहद मिलाकर श्रद्धा-विधिपूर्वक राजा आदि को दिया जाता था (दे० आश्व० गृ० सूत्र अ० १ तथा मनुस्मृति अ० २) और यह वैदिक काल से आज तक एक परम्परागत सदाचार के रूप में प्रचलित है। (१) दही, (२) घृत, (३) जल (४) मधु तथा (५) शक्कर मिलाई जाती है।

---

१. नीलाभो दक्षिणेन च—घ०

२. यस्यां यच्चाधिदैवं तु दिशि सम्परिकीर्तितम्—घ०।

३. तिथ्यानुकरणेन च—क०।

बुद्धिमान जन इस मण्डप की स्थापना मूल नक्षत्र में अनुकूल मुहूर्त तिथि तथा शुभ करण में करें ॥ ४५–४७ ॥

भित्ति तथा स्तम्भों का निर्माण—

एवन्तु स्थापनं कृत्वा भित्तिकर्मप्रयोजयेत् ॥ ४७ ॥
भित्तिकर्मणि निर्वृत्ते स्तम्भानां स्थापनं ततः ।

(पूर्व प्रतिपादित विधि से) बाह्य मंडप की इस प्रकार स्थापना कर फिर भित्ति[1] कर्म (दीवारें बनाने का कार्य) प्रारम्भ करे और उसके पूर्ण हो जाने पर खम्भों की स्थापना की जाए ॥ ४७–४८ ॥

तिथिनक्षत्रयोगेन शुभेन करणेन च ॥ ४८ ॥
स्तम्भानां स्थापनं कार्यं रोहिण्या श्रवणेन वा ।
आचार्येण सुयुक्तेन त्रिरात्रोपोषितेन च ॥ ४९ ॥
स्तम्भानां स्थापनं कार्यं प्राप्ते सूर्योदये शुभे ।

इन स्तम्भों की स्थापना शुभ तिथि, नक्षत्र, योग तथा (शुभ) करण में की जानी चाहिए । इनकी स्थापना के समय रोहिणी या श्रवण नक्षत्र होना चाहिए ।

एकाग्रचित नाट्याचार्य तीन दिन उपवास रखने के पश्चात् सूर्योदय की शुभ वेला में स्तम्भों की स्थापन-विधि (पूर्ण) करे ॥ ४८–५० ॥

[चन्दनन्तु भवेत् ब्राह्मं क्षात्रं खादिरमेव च ।
धावाख्यं वैश्यवर्णं स्याच्छूद्रं सर्वद्रुमैस्स्मृतम् ।]

(प्रक्षिप्त) ब्राह्मण स्तम्भ चन्दन का, क्षत्रिय स्तम्भ खैर (खदिर) का, वैश्य स्तम्भ धव (धाय) का तथा अन्य सभी वृक्षों का शूद्र स्तम्भ होता है ।

---

१. ये दीवार ईटों की बनाई जाती थीं, क्योंकि दर्शकों के उपवेशन स्थल ईटों से बनाए जाने का नाटचशास्त्र में निर्देश मिलता है (अतएव मिट्टी तथा ईटों से दीवार बनाई जाती थी ऐसा मानना उचित है) संभवतः भित्तियाँ १८ हाथ ऊँची बनानी होती थीं क्योंकि इससे कम होने पर विवरण से संगति नहीं बैठती ।

प्रथमे ब्राह्मणस्तम्भे सर्पिस्सर्षपसंस्कृतः[1] ॥ ५० ॥
सर्वशुक्लो विधिः कार्यो दद्यात् पायसमेव च ।
ततश्च क्षत्रियस्तम्भे वस्त्रमाल्यानुलेपनम् ॥ ५१ ॥
सर्वं रक्तं प्रदातव्यं द्विजेभ्यश्च गुडौदनम् ।
वैश्यस्तम्भे विधिः कार्यो दिग्भागे पश्चिमोत्तरे ॥ ५२ ॥
सर्वं पीतं प्रदातव्यं द्विजेभ्यश्च घृतौदनम् ।
शूद्रस्तम्भे विधिः कार्यः सम्यक्पूर्वोत्तराश्रये ॥ ५३ ॥
नीलप्रायं [2]प्रयत्नेन कृसरं[3] च द्विजाशनम् ।

(ईशान कोण में) सर्वप्रथम स्थापित किये जाने वाले ब्राह्मणस्तम्भ का घी और सरसों से संस्कार करे । इसकी स्थापना के अवसर पर पूजा की समग्र विधि श्वेत वर्ण की वस्तुओं से सम्पन्न की जानी चाहिए तथा ब्राह्मणों को भोजन में पायस (खीर) प्रदान करना चाहिए ।

और (आग्नेय कोण में) क्षत्रिय स्तम्भ की स्थापना के अवसर पर वस्त्र, पुष्प और चन्दन सभी रक्त वर्ण के चढ़ाए जाने चाहिए तथा ब्राह्मणों को भोजन में गुड़ चीनी प्रदान करना चाहिए ।

(नैऋत्य दिशा में) वैश्य स्तम्भ की स्थापना नाट्यगृह के पश्चिमोत्तर दिग्भाग में करना चाहिये । इसकी स्थापना के समय सभी पूजन सामग्री पीले रंग वाली वस्तुओं की रखनी चाहिये तथा ब्राह्मणों को भोजन में घृत और भात दिया जाना चाहिये ।

पूर्वोत्तर (वायव्य) कोण में स्थापित किये जाने वाले शूद्र स्तम्भ की सभी विधियाँ प्रयत्नपूर्वक नीले वर्ण की सामग्री द्वारा सम्पन्न की जानी चाहिए तथा ब्राह्मणों को भोजन के रूप में कृसर[1] (खिचड़ी) देनी चाहिये ॥ ५४–५४ ॥

---

१. तिल मिश्रित चावलों की खिचड़ी को कृसर कहते हैं जो दूध में पकाई जाए ।

---

१. सर्पिस्सर्षपसंस्कृते—ग० । २. प्रदातव्य—ग० । ३. कृसरा—ख० ।

पूर्वं तु[1] ब्राह्मणस्तम्भे शुक्लमाल्यानुलेपने ॥ ५४ ॥
निक्षिपेत्कनकं मूले [2]कर्णाभरणसंश्रयम् ।
ताम्रं चाधः प्रदातव्यं स्तम्भे क्षत्रियसंज्ञके ॥ ५५ ॥
वैश्यस्तम्भस्य मूले तु रजतं सम्प्रदापयेत् ।
शूद्रस्तम्भस्य मूले तु दद्यादायसमेव च ॥ ५६ ॥
शेषेष्वपि[3] च निक्षेप्यं स्तम्भमूलेषु काञ्चनम् ।

पहले ब्राह्मण स्तम्भ नीचे (मूल में)—जो कि सफेद वस्त्र, पुष्प तथा चन्दन से युक्त है—कान के आभूषण के लिये प्रर्याप्त सोना डाला जाए ।

क्षत्रिय स्तम्भ के नीचे तांबा तथा वैश्य स्तम्भ के नीचे चाँदी डालना चाहिए । शूद्र स्तम्भ के मूल में लोहा तथा शेष स्तम्भों के मूल में सोना डालना चाहिए ॥ ५६–५७ ॥

स्वस्तिपुण्याहघोषेण जयशब्देन चैव हि ॥ ५७ ॥
स्तम्भानां स्थापनं कार्यं [4]पुष्पमालापुरस्कृतम् ।
रत्नदानैः सगोदानैर्वस्त्रदानैरनल्पकैः ॥ ५८ ॥
ब्राह्मणांस्तर्षयित्वा तु स्तम्भानुत्थापयेत्ततः[5] ।
अचलं चाप्यकम्पञ्च तथैवावलितं[6] पुनः ॥ ५९ ॥
स्तम्भस्योत्थापने सम्यग्दोषा ह्येते प्रकीर्तिताः ।
अवृष्टिरुक्ता चलने वलने मृत्युतो[7] भयम् ॥ ६० ॥

---

१. इन स्तम्भों में की गई रंगों की व्यवस्था विविध वर्णों की सूचक है । यथा ब्राह्मण स्तम्भ का श्वेत वर्ण सात्विकता और ज्ञान का, क्षत्रिय का लाल वर्ण शौर्य तथा राजसवृत्ति का, वैश्य का पीतवर्ण सुवर्ण तथा धनसम्पत्ति का तथा शूद्रों का नीलवर्ण तामस वृत्ति का बोधक है ।

---

१. पूर्वोक्त —क; पूर्वं च० ख० ।
२. कण्ठाभरण—क० ।
३. सर्वेष्वेव तु; शेषेष्वेव च—क० ।
४. पर्णमाला—ग० ।
५. स्तम्भमु—ग० ।
६. वाचलितं—ग० ।
७. मृतितो—घ० ।

कम्पने परचक्रात्तु भयं भवति[1] दारुणम् ।
दोषैरेतैर्विहीनं तु स्तम्भमुत्थापयेच्छिवम् ॥ ६१ ॥

स्तम्भों का स्थापन स्वस्तिवाचन तथा पुण्याह वाचन के घोष के साथ जय शब्द को उच्चारित करते हुए करना चाहिए। स्थापन किये जाने वाले स्तम्भ पुष्पमाला से सजाना चाहिए।

ब्राह्मणों को रत्नदान, गोदान तथा वस्त्रों के दान से अतिशय संतुष्ट करने के पश्चात् स्तम्भों को उठाए। इन स्तम्भों को इस प्रकार उठाए कि ये न चले, न कम्पित हों और न ही झुके या मुड़े ही। क्योंकि स्तम्भों को उठाने के समय ऐसा होना अनिष्टकारी होने के कारण दोष माना गया है। यदि स्तम्भ चलायमान हो तो अवृष्टि, मुड़ जाने पर मृत्युभय तथा स्तम्भ के कम्पित होने पर शत्रुमण्डल से दारुणभय उपस्थित हो जाता है।

(अतएव) इन (उपर्युक्त) दोषों को बचाते हुए (शिवावह) स्तम्भ को उठाना चाहिए ॥ ५७–६१ ॥

पवित्रे ब्राह्मणस्तम्भे दातव्या दक्षिणा च गौः ।
शेषाणां भोजनं कार्यं स्थापने कर्तृसंश्रयम् ॥ ६२ ॥

पवित्र ब्राह्मण स्तम्भ की स्थापना के समय गौ की दक्षिणा (दक्षिणा के रूप में गौ) दी जाय तथा अवषिष्ट स्तम्भों की स्थापना के समय निर्माण कर्ताओं (शिल्पी, कर्मकारों आदि) को भोजन करवाना चाहिए ॥ ६२ ॥

मन्त्रपूतश्च[2] तद्देयं नाट्याचार्येण धीमता ।
पुरोहितं नृपश्चैव भोजयेन्मधुपायसैः[3] ॥ ६३ ॥
कर्तॄनापि तथा सर्वान् [4]कृसरां लवणोत्तराम् ।
सर्वमेवं विधिं कृत्वा सर्वातोद्यैः प्रवादितैः ॥ ६४ ॥
अभिमन्त्र्य यथान्यायं स्तम्भानुत्थापयेच्छुचिः ।

१. वदति—ग० घ० । २. मन्त्रपूर्वं—ग० ।
३. मधुपायसम्—ग० घ० । ४. कृसरं लवणोत्तरम्—ग० घ० ।

मन्त्रोच्चार सहित यह भोजन बुद्धिमान नाट्याचार्य द्वारा करवाया (या दिया) जाना चाहिए। इस भोजन में पुरोहित तथा राजा को मधुयुक्त खीर खिलाए तथा अन्य सभी कार्यकर्ताओं को नमक से युक्त खिचड़ी का भोजन करवाना चाहिए।

इस प्रकार सभी विधि-विधानों को सम्पन्न कर तथा सभी वाद्यों को बजवाते हुए पवित्र होकर अभिमन्त्रित एवं विधिवत मन्त्रोच्चारण करते हुए स्तम्भों को उठाए ॥ ६३–६५ ॥

यथाचलो [1]गिरिर्मेरुर्हिमवांश्च महाबलः ॥ ६५ ॥

जयावहो नरेन्द्रस्य तथा त्वमचलो भव[2]।

(वह इस मन्त्र का उच्चारण कर स्तम्भों को अभिमन्त्रित करे) जैसे सुमेरु पर्वत[1] स्थिर है और हिमाचल महाबलवान् है, हे स्तम्भ, तू भी उसी प्रकार अचल होकर राजा को विजय देने वाला बन।

स्तम्भद्वारञ्च भित्तिञ्च[3] नेपथ्यगृहमेव च ॥ ६६ ॥

एवमुत्थापयेत्तज्ज्ञो विधिदृष्टेन कर्मणा।

नाट्यगृहनिर्माण के विधानज्ञ पुरुषों के द्वारा इसी प्रकार विधिविधानानुसार (शास्त्र विधि से किये जाने वाले कर्मों के साथ) स्तम्भ, द्वार, भित्तियों तथा नेपथ्यगृह को उठाना चाहिए।

मत्तवारणी—

रङ्गपीठस्य पार्श्वे[4] तु कर्त्तव्या मत्तवारणी ॥ ६७ ॥

चतुःस्तम्भसमायुक्ता रङ्गपीठप्रमाणतः।

अध्यर्धहस्तोत्सेधेन कर्तव्या मत्तवारणी ॥ ६८ ॥

उत्सेधेन तयोस्तुल्यं कर्तव्यं रङ्गमण्डलम् (रङ्गपीठकम्)।

---

१. स्तम्भों का धार्मिक विधि से स्थापन जहाँ भी हो प्रायः सर्वत्र उसकी सुमेरु से उपमा देने की परिपाटी रही है (द्रष्टव्य—मानसारवास्तुशास्त्र १५।२१३, २१४)।

---

१. गुरुर्मेरु—ग०। २. वह—ग०। ३. भित्तिश्च—क०।
४. पश्चात्तु—क०, ग०।

रंगपीठ (की दोनों) बाजू में [दोनों ओर] रंगपीठ के माप (लंबाई) के बराबर चार खम्बों से युक्त मत्तवारणी[1] की रचना की जावे। इस (मतवारणी) की ऊँचाई डेढ़ हाथ रखी जाए और इन दोनों मत्तवारणियों के बराबर ही रंगपीठ की ऊँचाई रहे ॥ ६७–६९ ॥

तस्यां माल्यश्च धूपश्च गन्धं वस्त्रन्तथैव च ॥ ६९ ॥

नानावर्णानि देयानि तथा भूतप्रियो बलिः ।

मत्तवारणी के निर्माण (मुहूर्त) के अवसर पर भूतों को इष्ट पदार्थों की बलि तथा अनेक वर्णों के पुष्प, मालाएँ, वस्त्र तथा अनेकविध धूप और सुगन्धित पदार्थ (इत्र, तैल आदि) अर्पण करने चाहिए ॥६९–७०॥

आयसं[1] तत्र दातव्यं स्तम्भानां कुशलैरधः[2] ।

भोजने[3] कृसराश्चैव दातव्यं ब्राह्मणाशनम् ॥ ७० ॥

दक्ष शिल्पीजन इसके स्थापित किये जाने वाले खम्भों के मूल में लोहा रख दें और ब्राह्मणों को खिचड़ी का भोजन प्रदान करें[2] ॥ ७१ ॥

एवं विधिपुरस्कारैः कर्त्तव्या मत्तवारणी[4] ॥ ७२ ॥

इस प्रकार विधिवत् देवताओं को वस्त्र आदि प्रदान करते हुए मत्तवारणी का निर्माण करना चाहिए ॥ ७२ ॥

रङ्गपीठ—

रङ्गपीठं ततः कार्यं विधिदृष्टेन कर्मणा ।

रङ्गशीर्षन्तु कर्तव्यं षड्दारुकसमन्वितम् ॥ ७३ ॥

---

१. मत्तवारणी रंगपीठ के दोनों ओर बनाये जाने वाले दो बरामदों की शक्ल में होती थी और इसके चारों कोनों में ४ खम्भे लगाये जाते थे। मत्तवारणी का प्रवेश और निर्गम करने वाले पात्रों के क्रमशः प्रतीक्षा और विश्राम करने में उपयोग किया जाता था तथा अन्य कार्यों में भी उपयोग होता था। मत्तवारणी के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है [इसका विशेष विवेचन, प्रस्तावना तथा परिशिष्ट में भी द्रष्टव्य है] इसकी ऊंचाई डेढ़ हाथ रखी जाती थी।

२. (कुछ प्रतियों में) यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

---

१. आसनं—क०, पायसं ग० । २. कुशलाय तु—घ० ।
३. भोजनं कृसरा—क० । ४. मत्तवारुणी—ख० ।

कार्यं द्वारद्वयञ्चात्र नेपथ्यगृहकस्य तु ।

इसके बाद (वास्तु शास्त्र आदि के) विधानानुसार 'रङ्गपीठ' का निर्माण किया जाए । इस रंगशीर्ष को षड्दारुक[1] से युक्त करते हुए बनाया जाए । इसके (समीपवर्ती) नेपथ्यगृह में दो दरवाजे रखने चाहिए ॥

पूरणे मृत्तिका चात्र कृष्णा देया प्रयत्नतः ॥ ७४ ॥
लाङ्गलेन[1] समुत्कृष्य निर्लोष्टतृणशर्करम्[2] ।
लाङ्गले शुद्धवर्णौ तु धुर्यौ योज्यौ प्रयत्नतः ॥ ७५ ॥
कर्तारः पुरुषाश्चात्र येऽङ्गदोषविवर्जिताः[3] ।
अहीनाङ्गैश्च वोढव्या मृत्तिका पीवरैर्नवैः[4] ॥ ७६ ॥
एवंविधं[5] प्रकर्तव्यं रङ्गशीर्षं प्रयत्नतः ।

इस रंग शीर्ष को भरने के लिये हल से जोत कर ढेलों, घास तथा कंकड़ों से रहित की हुई काली[2] मिट्टी प्रयत्नपूर्वक डालनी चाहिए । हल में श्वेतवर्ण के बैल जोतने चाहिए और इस हल को जोतने वाले मनुष्य अंगहीन (हीन या विकलांग) नहीं होने चाहिए । यह मिट्टी सुदृढ़ तथा बलवान् मनुष्यों के द्वारा ढोई जानी चाहिएँ जो विकलांग न हों । इस प्रकार बड़े (ध्यान तथा) प्रयत्नपूर्वक रंगशीर्ष का निर्माण किया जाए ॥७४–७७॥

---

१. लकड़ी के २ खड़े, २ आड़े और २ तिरछे डंडे लगाकर बनाया गया चौखट षड्दारुक कहलाता है । इसे रंगशीर्ष के नीचे लगा देने से उसमें एक तो मजबूती आएगी, दूसरे शब्दों को गूंजने में सहायता मिलेगी । षड्दारुकम् की व्याख्या है :—षण्णां दारूणां समाहारः षड्दारुकम् । [देखिये मानचित्र तथा परिशिष्ट भी] ।

२. काली मिट्टी मजबूत और चिपकने वाली होने से रंगमंच मजबूत रहेगा तथा टिकाऊ भी । इसी कारण प्रयत्नपूर्वक काली मिट्टी के भराव करने का मुनि द्वारा निर्देश दिया गया ।

---

१. लाङ्गले च—क० । २. निलोष्ठतृणशर्करा—ग० ।
३. शब्ददोषविवर्जिताः—क० ।
४. पिटकैर्नवैः—क०, पीटकैर्नवैः—घ० । ५. एवं विधैश्च—घ० ।

कूर्मपृष्ठं न कर्तव्यं मत्स्यपृष्ठं तथैव च ॥ ७७ ॥
शुद्धादर्शतलाकारं[1] रङ्गशीर्षं[2] प्रशस्यते ।

यह रंगशीर्ष न तो कछुए की पीठ के समान (बीच में अधिक उभरा हुआ) और न मछली की पीठ के समान (लंबा एवं दूर तक उभरा हुआ) ही बनाना चाहिए। शुद्ध दर्पण के समान समतल धरातल वाला रंगशीर्ष ही श्रेष्ठ समझा जाता है ॥ ७७-७८ ॥

रत्नानि चात्र देयानि पूर्वे वज्रं विचक्षणैः ॥ ७८ ॥
वैडूर्यं[3] दक्षिणे पार्श्वे स्फटिकं पश्चिमे तथा ।
प्रवालमुत्तरे चैव मध्ये तु कनकं भवेत् ॥ ७९ ॥
एवं रङ्गशिरः कृत्वा दारुकर्म प्रयोजयेत्[4] ।

और चतुर शिल्पीजन के द्वारा इसमे रत्नों (को भी) रखना चाहिए। पूर्व की ओर हीरा, दक्षिण में वैदूर्य (लहसुनिया), पश्चिम में स्फटिक तथा उत्तर में प्रवाल (मूँगा) को लगाना चाहिए। इसके मध्य भाग में सोना रखा जाए। इसी प्रकार रङ्गशीर्ष[1] का निर्माण कर लेने पर फिर लकड़ी का काम आरम्भ करवाना चाहिये ॥ ७८-८० ॥

रंगमञ्च की शोभार्थ दारुकर्म तथा अन्य सजावट के कार्य—

ऊहप्रत्यूहसंयुक्तं नानाशिल्पप्रयोजितम् ॥ ८० ॥
नानासञ्जवनोपेतं[5] बहुव्यालोपशोभितम् ।
ससालभञ्जिकाभिश्च[6] समन्तात्समलंकृतम् ॥ ८१ ॥

---

१. रंगशीर्ष तथा रंगपीठ ये दोनों प्रेक्षागृह में दो भिन्न विभाग हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने इन्हें पृथक् मान कर ही व्याख्या की है जो उचित होती है। (विवेचन अन्यत्र द्रष्टव्य)।

---

१. शुद्धादर्शतलप्रख्यं—ख०। २. रङ्गपीठं—घ०।
३. वैदूर्यं—ख०, ग०। ४. प्रवर्तयेत्—ग०। ५. भञ्जवरो—ख०, ग०।
६. अट्टालभञ्चिकाभिश्च—ग०, भवेयुः चात्र विन्यस्ता विविधाः शालभञ्जिकाः इति क० पु० अधिकम्।

[1]निर्व्यूहकुहरोपेतं नानाग्रथितवेदिकम् ।
नानाविन्याससंयुक्तं [2]चित्रजालगवाक्षकम् ॥ ८२ ॥
सुपीठधारणी[3]युक्तं कपोतालीसमाकुलम् ।
नानाकुट्टिमविन्यस्तैः स्तम्भैश्चाप्युपशोभितम् ॥ ८३ ॥
एवं काष्ठविधिं कृत्वा भित्तिकर्म प्रयोजयेत्[4] ।

यह लकड़ी का कार्य बहुत सोच विचार तथा निरीक्षण करते हुए (ऊहप्रत्यूह[1]) किया जाए। इसमें विविध प्रकार की कारीगरी [शिल्प] रहनी चाहिए। इसमें अनेक तख्तों का—जो भित्ति के समान दिखाई दें—प्रयोग किया जाना चाहिए। अनेक हाथी (या सर्प आदि) की आकृतियाँ इनमें खुदवायी जाएँ। इनमें सुन्दर पुतलियाँ खुदवायी जाएँ, इसकी

---

१. ऊह प्रत्यूह, निर्यूह तथा कुहर शब्द शिल्पशास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं। परन्तु किसी प्राचीन शास्त्रीय ग्रन्थ में काष्ठशिल्प का व्यवस्थित उल्लेख प्राप्त न होने से विश्वासपूर्वक कुछ भी कहने की स्थित संभव नहीं। यहाँ 'निर्यूहकुहरोपेतम्' का अर्थ होगा लकड़ी के कोरों पर निर्मित खुदाई। यह शिल्पशास्त्र का एक परिभाषिक शब्द है जो उस समय प्रचलित रहा होगा। दीवार में चुनी हुई लकड़ी का बाहरी भाग भी 'निर्यूह' कहलाता है। (निर्यूह का अन्य अर्थ है कपोतपालिका परन्तु वह यहाँ पुनरुक्त हो जाने के कारण नहीं लिया जायगा क्योंकि 'कपोताली' शब्द इसी वर्णन में आया है) यदि निर्व्यूह पाठान्तर को माना जाय तो अर्थ होगा निश्चित स्वरूप वाले व्यवस्थापित छिद्रों से युक्त। मानसार वास्तुशास्त्र में 'निर्यूह' शब्द का अर्थ शिरोभूषण भी दिया है अभिनवगुप्त की व्याख्या इस स्थल पर विशेष प्रकाश नहीं डालती। 'यन्त्र' शब्द का एक अर्थ कुंडी (साँकल) है। 'कपोताली' का अर्थ है 'कपोतपालिका' या कबूतरों की छतरी। अन्य अर्थ इसका वही है जो 'निर्यूह' का है। माघ ने वितर्दिनिर्यूहविटङ्कनीडः (३।५५) में निर्यूह शब्द का प्रयोग किया है जिसका तात्पर्य भी उपर्युक्त ही प्रतीत होता है।

---

१. निर्यूह—ग०। २. यन्त्रजाल—ग०।
३. धरणी—ग०। ४. प्रवर्तयेत्—क, ग०।

वेदिकाओं के नानाविध चित्र बाहर निकले हुए (निर्यूह) और भीतर खुदे हुए (कुहर) रहना चाहिए। इनकी रचना अनेक शैलियों से युक्त रहनी चाहिए और इनकी जालियाँ और झरोखे एक विचित्र सजावट के लिये हुए होने चाहिए। इनमें विद्यमान खम्भों के ऊपर सुन्दर तुलाएँ [धारणी] लगायी जाएँ जिनमें विचित्र स्वरूप वाली कबूतरों की छतरियों पंक्तिबद्ध (रखी हुई) दिखाई दें तथा फर्श पर खड़े किये गये खम्भों पर अनेक तरह की चित्रकारी रहनी चाहिये। इस प्रकार जब लकड़ी का कार्य और सजावट (आदि) पूर्ण हो जाए तो फिर दीवारों को उठाने का कार्य आरंभ किया जावे।

स्तम्भं वा नागदन्तं वा वातायनमथापि वा ॥ ८४ ॥
कोणं[1] वा सप्रतिद्वारं [2]द्वारविद्धं न कारयेत्।

दीवारों को उठाने के अवसर पर कोई खम्भा, खूँटी, झरोखा या खिड़की अथवा कोना किसी दरवाजे के सामने न आने पावे अथवा किसी दरवाजे के सामने दूसरा दरवाजा न रखा जावे [या न खुलने पावे] ॥ ८४-८५ ॥

कार्यः शैलगुहाकारो द्विभूमिर्नाट्यमण्डपः ॥ ८५ ॥
मन्दवातायनोपेतो निर्वातो धीरशब्दवान्[3]।
तस्मान्निवातः कर्तव्यः कर्तृभिर्नाट्यमण्डपः ॥ ८६ ॥
गंभीरस्वरता[4] येन कुतपस्य भवेदिति[5]।

यह नाट्यमण्डप (नाट्यगृह) पर्वत की गुफा के समान आकार लिये हुए और द्विभूमि[1] (पहले नीचा और फिर क्रमशः ऊँचा होने वाला या

---

१. 'द्विभूमि' नाट्यमण्डप का आशय है कि नाट्यमण्डप दो मंजिला बनाया जाए। प्राचीन नाटकों में कुछ ऐसे दृश्य हैं जो दो मंजिले मण्डपों पर ही अभिनीत हो सकते थे। कुछ विद्वानों के अनुसार यह ऊँचे-नीचे दो धरातलों के कारण द्विभूमि कहलाता है क्योंकि नेपथ्य और रंगशीर्ष का तल एक समान न हीं होता। शैल्पिक-विधाओं के पर्यालोचक द्विभूमि का अर्थ दो छत करते हैं। पर द्विभूमि का अर्थ दो फर्श 'नाट्यशास्त्र' से थोड़ा मेलताल रखता

---

१. कार्ष्णायसं—क०। २. दारुविद्धं—ग०। ३. धीरशब्दभाक्—ग०।
४. गाम्भीर्यं सुस्वरत्वञ्च कुतपस्य भवेदिति—ग०।
५. भविष्यति—घ०।

दुमंजिला) बनाया जाए। इसमें झरोखे या खिड़कियों से हलकी-हलकी हवा आती रहनी चाहिए, यह तेज हवा से रहित (निर्वात) और गम्भीर शब्दों को गुँजाने वाला होना चाहिए [अर्थात् जिसमें उच्चरित शब्द की प्रतिध्वनि होती रहे।]। शिल्पीजन इसको निवात [जिसमें तेज हवा न आ पाए ऐसा] ही बनाएँ क्योंकि ऐसे मण्डप में सभी प्रकार के वाद्यों (कुतप) की ध्वनि में स्वरगत गाम्भीर्य बना रहता है ॥८५-८७॥

भित्तिकर्मविधिं कृत्वा भित्तिलेपं प्रदापयेत् ॥ ८७ ॥
सुधाकर्म बहिस्तस्य[1] विधातव्यं प्रयत्नतः।

भित्तियों को उठाने के बाद इन पर [पिसे हुए शंख, सीप आदि को बालू में मिला कर] चूने से लेप (पलस्तर) चढ़ाया जाए और इसके बाहरी भाग पर ध्यान पूर्वक चूने की पुताई की जाए ॥ ८७-८८ ॥

भित्तिष्वथ[2] विलिप्तासु परिमृष्टासु सर्वतः ॥ ८८ ॥
समासु जातशोभासु चित्रकर्म प्रयोजयेत्[3]।

दीवारों पर पलस्तर हो जाने और (उनकी) घिसाई, घुटाई आदि हो जाने से चिकनी और समतल बन जाने के बाद इन भित्तियों पर चित्र रचना करवायी जाए ॥ ८८-८९ ॥

चित्रकर्मणि चालेख्याः पुरुषाः स्त्रीजनास्तथा ॥ ८९ ॥
लताबन्धाश्च कर्त्तव्याश्चरितश्चात्मभोगजम्।

अंकित किये जाने वाले चित्रों में लताबन्ध[1] तथा अन्य विलास क्रीडाओं वाले स्त्री पुरुषों के कार्य प्रदर्शित करने वाले चित्र रहें ॥८९-९०॥

है। अभिनव-गुप्त ने इस विषय में कई व्याख्याकारों के मन्तव्य उपस्थित किये हैं और इस प्रकार इस स्थल को विचारणीय कोटि में रख दिया है। निश्चय ही 'द्विभूमि' का अर्थ 'दो फर्श' उचित होगा।

१. 'लताबन्ध' या 'लतावेष्टन' संभोग के प्रकार हैं। 'आत्मभोगजम्' का अर्थ है स्त्री-पुरुषों की विलास क्रीड़ा या स्वयं के आनन्द से उत्पन्न होने वाले चरित। (चित्रकर्म 'अजन्ता' के चित्रों में आज भी देखा जा सकता है)।

---

१. तथैवस्य कुर्याद् बाह्ये प्रयत्नतः—घ०।
२. भित्तिष्वपि च लिप्तासु—ग०। ३. प्रवर्तयेत्—ग०।

एवं विकृष्टं कर्तव्यं नाट्यवेश्म प्रयोक्तृभिः ॥ ९० ॥

विकृष्ट [आयताकार] नाट्यगृह की इसी प्रकार प्रयोक्ताजन रचना करें ॥

चतुरस्र नाट्य-गृह का स्वरूप—

पुनरेव[1] हि वक्ष्यामि चतुरस्रस्य लक्षणम् ।
समन्ततश्च[2] कर्तव्या हस्ता द्वात्रिंशदेव हि ॥ ९१ ॥
शुभभूमिविभागस्थो नाट्यज्ञैर्नाट्यमण्डपः ।

अब मैं 'चतुरस्र' नाट्यगृह का लक्षण बतलाता हूँ—नाट्य के विज्ञाता पुरुषों के द्वारा शुद्ध भूमि पर विभाग पूर्वक अवस्थित चतुरस्र नाट्यगृह चारों ओर (चारों भुजाओं में) ३२ हाथ के प्रमाण का (चौकोन) बनाया जाना चाहिए ॥ ९१–९२ ॥

यो विधिः पूर्वमुक्तस्तु लक्षणं मङ्गलानि च ॥ ९२ ॥
विकृष्टे[3] तान्यशेषाणि चतुरस्रेऽपि कारयेत् ।

विकृष्ट नाट्यगृह के विषय में जो विधियाँ, लक्षण तथा मांगलिक विधि-विधान बतलाए गये हैं वे सभी चतुरस्र नाट्यगृह में भी (निर्माण आदि के अवसर पर सम्पन्न) किये जाएँ ॥ ९२–९३ ॥

चतुरस्रं समं कृत्वा सूत्रेण प्रविभज्य च ॥ ९३ ॥
बाह्यतः सर्वतः कार्या भित्तिः श्लिष्टेष्टका दृढा ।

चतुरस्र नाट्यगृह के क्षेत्र का समान विभाग कर तथा उसे सूत से [चारों ओर समान ३२ × ३२ हाथ] नापते हुए उसके बाहरी भाग से सटी हुई ईटों की दृढ़ दीवार उठा दी जाए ॥ ९३ ॥

तत्राभ्यन्तरतः कार्याः रङ्गपीठोपरि[4] स्थिताः ।
दश प्रयोक्तृभिः स्तम्भाः शस्ताः मण्डपधारणे ॥ ९४ ॥

इसमें (रंगपीठ में) भीतर की ओर दिशा के विचार के अनुसार

---

१. अतः परं प्रवक्ष्यामि—ग० । २. समन्ततस्तु कर्तव्यो—ग० ।
३. चतुरस्रस्य तान्येव कारयेन्नाट्यवेश्मनः—ग० ।
४. रङ्गपीठे तथा दिशम्—घ० ।

निर्माता गण दस स्तम्भों को खड़ा करें जो इस मण्डप को सम्हालने में सक्षम हों[1] ॥ ९४ ॥

स्तम्भानां बाह्यतश्चापि सोपानाकृतिपीठकम् ।
इष्टका-दारुभिः कार्यं प्रेक्षकाणां निवेशनम् ॥ ९५ ॥

स्तम्भों से बाहर की ओर प्रेक्षकों के बैठने के लिए ईटों तथा लकड़ियों द्वारा सीढ़ियों के आकार में पीठक (आसन) बनाना चाहिए[2] ॥ ९५ ॥

हस्तप्रमाणैरुत्सेधैर्भूमिभागसमुत्थितैः ।
रङ्गपीठावलोक्यश्च[1] कुर्यादासनजं[2] विधिम् ॥ ९६ ॥

धरातल से एक हाथ ऊपर उठती हुई सीढ़ियों जैसी दर्शकों के लिए ऐसी बैठकें बनवाई जाएँ जहाँ से रंगपीठ भलीभाँति दिखलायी दे ॥ ९६ ॥

षडन्यानन्तरं[3] चैव पुनः स्तम्भान्यथादिशम् ।
विधिना स्थापयेत्तज्ज्ञो[4] दृढान्मण्डपधारणे ॥ ९७ ॥

और फिर विज्ञाता शिल्पी उचित दिशाओं में (प्रत्येक दिशाओं में) अन्तर देते हुए मण्डप को धारण करने में समर्थ छः दृढ़ स्तम्भों को लगावे ।

अष्टौ स्तम्भान्पुनश्चैव तेषामुपरि कल्पयेत् ।[5]
विद्धास्यमष्टहस्तं[6] च पीठं तेषु ततो न्यसेत् ॥ ९८ ॥

---

१. मूल से इन दस स्तम्भों की स्थिति स्पष्ट नहीं होती । अभिनवभारती का विवेचन भी उलझा हुआ है । अतएव इसका तात्पर्य वैसा ही होना चाहिए जैसा कि हमारा 'मानचित्र' है । (इसका विशेष विवेचन प्रस्तावना में भी देखिये) ।

२. 'सोपानाकृतिपीठकम्' का आशय है आसनों की प्रथम पंक्ति पृथ्वी से ऊँची हो, फिर क्रमशः एक दूसरे से ऊँची रखी जाएँ । ये कितनी ऊँची हों इसका विवेचन नहीं मिलता है पर संभवतः ये आठ इञ्च तक रखी जा सकती हैं ।

१. रङ्गपीठविलोक्यं च—ग० । २. दासनिकं—ग० ।
३. षडन्यान् सुन्दरान् दद्यात्—ग० । ४. धारयेत्—ग० ।
५. कारयेत्—ग० । ६. संस्थाप्यश्च पुनः पीठमष्टहस्तप्रमाणतः—ग० ।

इसके पश्चात इनके ऊपर आठ खम्भे रखे। इनके ऊपर विधे हुए मुँह वाले आठ हाथों के शहतीरों (पीठ) को रखा जाए और इन शहतीरों के मुँह एक दूसरे में लगे हुए (विद्धास्य[1]) रहें ॥ ९८ ॥

तत्र स्तम्भाः प्रदातव्यास्तज्ज्ञैर्मण्डपधारणे।
धारणीधारणास्ते[1] च शालस्त्रीभिरलङ्कृताः ॥ ९९ ॥

विज्ञशिल्पी इसकी छत को धारण करने के लिये और शहतीर को सम्हालने के लिए खड़े किये जाने वाले मजबूत खम्भों को काष्ठ पुतलियों आदि से अलंकृत करते हुए लगावें[2] ॥ ९९ ॥

नेपथ्यगृहकश्चैव ततः कार्यं प्रयत्नतः[2]।
द्वारश्चैकं भवेत्तत्र[3] रंगपीठ-प्रवेशने[4] ॥ १०० ॥

फिर [रङ्गपीठ के पीछे ८ × ३२ हाथ के भूखण्ड पर] नेपथ्यगृह की प्रयत्न पूर्वक रचना की जाए। इसमें रङ्गपीठ पर खुलने वाले एक जैसे (दो) द्वार रखना चाहिए ॥ १०० ॥

जनप्रवेशनं चान्यदाभिमुख्येन कारयेत्।
रङ्गस्याभिमुखं कार्यं द्वितीयं द्वारमेव तु ॥ १०१ ॥

रंगमंच के सामने वाले भाग में प्रेक्षकों के प्रवेशार्थ एक (अन्य) द्वार बनवाना चाहिये और नटों के प्रवेशार्थ निर्मित द्वार का रंगमंच के सम्मुख मुँह रहना चाहिये ॥ १०१ ॥

---

१. विद्धास्य का अर्थ है—बिंधे मुख वाले या रंगमंच की ओर मुखवाले।

२. शालस्त्री, शालभंजी या शालभञ्जिका स्त्रियों की प्रतिमा को कहते हैं। शालस्त्री की प्रतिमा के साथ वृक्ष या लता-वेष्ठित दिखलाया जाता था। ये स्तम्भों के शीर्ष (ब्रकेट) पर उत्कीर्ण की जाती थीं। शालभंजिका का एक अर्थ वेश्या भी है। कुछ भी हो अभिनवगुप्त द्वारा जो 'कान्ताप्रतिकृतयः काष्ठमय्यः' अर्थ दिया गया है वही उचित है। धारणी का अर्थ है-शहतीर; क्योंकि धारण का स्तम्भ अर्थ होता है।

---

१. धारणीधारितास्ते च—ग०। २. प्रयोक्तृभिः—घ०।
३. भवेत्तस्य—ग०। ४. रङ्गपीठप्रवेशनम् क०, ग०।

अष्टहस्तं तु कर्तव्यं रंगपीठं प्रमाणतः।
चतुरस्रं समतलं वेदिकासमलङ्कृतम् ॥ १०२ ॥

चतुरस्र नाट्यगृह का रंगपीठ आठ हाथ का चौकोन, (८×८) समतल और वेदिका से युक्त रंगपीठ के प्रमाणानुसार सुन्दर रूप में बनाया जाए ॥ १०२ ॥

पूर्वप्रमाण-निर्दिष्टा कर्तव्या मत्तवारणी।
चतुःस्तम्भसमायुक्ता वेदिकायास्तु पार्श्वतः ॥ १०३ ॥

वेदिका की (दोनों) बाजुओं में पूर्व निर्दिष्ट प्रमाण तथा विधि के अनुसार चार खम्भों से युक्त 'मत्तवारणी' का निर्माण किया जाए ॥ १०३ ॥

समुन्नतं समं चैव रंगशीर्षं[1] तु कारयेत्।
विकृष्टे[2] तून्नतं कार्यं चतुरश्रे समं तथा ॥ १०४ ॥

रंगपीठ की अपेक्षा ऊँचा और समतल [बराबर भेद से] (दो प्रकार का रंगशीर्ष बनाया जाता है। विकृष्ट में वेदिका से ऊँचा तथा चतुरस्र में समान एवं समतल रंगशीर्ष बनाया जाए ॥ १०४ ॥

एवमेतेन विधिना चतुरश्रं गृहं भवेत्।
अतः[3] परं प्रवक्ष्यामि त्र्यश्रगेहस्य लक्षणम् ॥ १०५ ॥

चतुरस्र नाट्यगृह की यही विधि है। अब मैं त्र्यश्र नाट्यगृह का लक्षण बतलाता हूँ ॥ १०५ ॥

त्र्यश्र नाट्यगृह का स्वरूप—

त्र्यश्रं त्रिकोणं कर्तव्यं नाट्यवेश्म प्रयोक्तृभिः।
मध्ये त्रिकोणमेवास्य रंगपीठं तु कारयेत् ॥ १०६ ॥

नाट्यगृह निर्मातागण त्र्यस्र नाट्यगृह को त्रिकोणाकृति बनवाएँ और इसके बीच में बनने वाले रंगपीठ को भी त्रिकोणाकृति ही बनवाना चाहिए ॥

---

१. रङ्गपीठं—ग०। २. विकृष्टेरुन्नतं—क; विकृष्टेस्तून्नतं—ख०, विकृष्टेऽप्युन्नतं—ग०। ३. त्र्यश्रस्य मण्डपस्यापि सम्प्रवक्ष्यामि लक्षणम्—ग०।

द्वारं[1] तेनैव कोणेन कर्तव्यं तस्य वेश्मनः ।
द्वितीयञ्चैव कर्तव्यं रङ्गपीठस्य पृष्ठतः ॥ १०७ ॥

नाट्यगृह का प्रवेश द्वार इसी कोण में निर्माण करना चाहिए तथा रंगपीठ के पीछे दूसरा द्वार (पात्रों के प्रवेश आदि के लिए जो कि नेपथ्य से हों) भी ऐसा ही बनवाना चाहिए ॥ १०७ ॥

विधिर्यश्चतुरश्रस्य भित्तिस्तम्भसमाश्रयः ।
स तु सर्वः प्रयोक्तव्यः त्र्यश्रस्यापि प्रयोक्तृभि ॥ १०८ ॥

भित्ति तथा स्तम्भों के विषय में जो विधि चतुरस्र नाट्यगृह के लिये कही गई वही निर्मातागण त्र्यस्र के लिये भी प्रयोग में लाएँ[1] ॥ १०८ ॥

एवमेतेन विधिना कार्या[2] नाट्यगृहा बुधैः ।
पुनरेषां[3] प्रवक्ष्यामि पूजामेव यथाविधि ॥ १०९ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे प्रेक्षागृहलक्षणं नाम द्वितीयोऽध्यायः ।



बुद्धिमानों के द्वारा इसी प्रकार इन नाट्यगृहों की रचना की जाए । अब मैं (अगले अध्याय में) इनकी पूजा का विधि-विधान कहूँगा ॥ १०९ ॥

भरत मुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र की प्रदीप व्याख्या का 'प्रेक्षागृह-लक्षण' नामक द्वितीय अध्याय संपूर्ण ॥२॥

---

१. विकृष्ट तथा चतुरस्र नाट्यगृहों की तरह 'त्र्यस्र' नाट्यगृह में स्तम्भों तथा भित्तियों का विधान कैसा हो, यह स्पष्ट नहीं होता । इसका आशय इतना ही है कि दोनों नाट्यगृहों की स्थिति देखकर 'त्र्यस्र' के अनुकूल स्तम्भों तथा भित्तियों का ऐसा विधान किया जाय जो उपयुक्त हो । यह सभी शिल्पिकों पर छोड़ दिया था, ऐसा प्रतीत होता है । 'त्र्यस्र' नाट्यगृह में मत्तवारणी नहीं होती, ऐसा कुछ विवेचक-विद्वानों का मन्तव्य है परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से ऐसा संभव नहीं लगता । (देखिये त्र्यस्र प्रेक्षागृह का मानचित्र) ।

१. द्वारमेकेन कोणेन कर्तव्यं तु प्रवेशने—घ० ।
२. कार्यं नाट्यगृहं—ग० ।
३. अतः ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि पूजामेषां यथाविधि—ग० ।

अथ तृतीयोऽध्यायः

सर्वलक्षणसम्पन्ने कृते नाट्यगृहे शुभे।
गावो वसेयुः सप्ताहं सह जप्यपरैर्द्विजैः ॥ १ ॥

इस प्रकार सभी लक्षणों से युक्त शुभ नाट्यगृह के निर्माण हो चुकने के उपरान्त उसमें जपकर्ता ब्राह्मणों के साथ गौएँ एक सप्ताह तक निवास करें ॥

रंगमंच की प्रतिष्ठा (या संस्कार)—

ततोऽधिवासयेद्वेश्म रङ्गपीठं तथैव च।
मन्त्रपूतेन तोयेन प्रोक्षिताङ्गो निशागमे ॥ २ ॥
यथास्थानान्तरगतो दीक्षितः प्रयतः शुचि।
त्रिरात्रोपोषितो भूत्वा नाट्याचार्योऽहताम्बरः[1] ॥ ३ ॥

तब नाट्याचार्य रात्रि को आगमन बेला में अपने शरीर को मन्त्रोच्चारण द्वारा पवित्र जल से प्रोक्षित कर, अपने घर के अतिरिक्त अन्य स्थान पर रहकर दीक्षित, (संयतेन्द्रिय) और पवित्र होकर तीन रात्रि पर्यन्त उपवास रखते हुए नवीन वस्त्र धारण कर नाट्यगृह तथा रंगपीठ को देअताओं से अधिवासित करवाए ॥ २–३ ॥

नमस्कृत्य महादेवं सर्वलोकोद्भवं[2] भवम्।
पद्मयोनिं सुरगुरुं[3] विष्णुमिन्द्रं गुहं तथा ॥ ४ ॥
सरस्वतीं च लक्ष्मीं च सिद्धिं मेधां धृतिं[4] स्मृतिम्।
सोमं[5] सूर्यं च मरुतो लोकपालांस्तथाश्विनौ ॥ ५ ॥

१. नायकोऽहतवस्त्रधृक्—ख०। २. सर्वलोकोद्भवोद्भवम्—ख०; सर्वलोकेश्वरं भवम्—ग०। ३. जगतिपतामहञ्चैव—क, ख०।
४. स्मृतिं मतिम्—घ०। ५. सेन्दुं—ग०।

मित्रमग्निं सुरान्वर्णान्[1] रुद्रान्कालं कलिं तथा ।
मृत्युं च नियतिं चैव कालदण्डं तथैव च ॥ ६ ॥
विष्णुप्रहरणं चैव नागराजं च[2] वासुकिम् ।
वज्रं विद्युत्समुद्रांश्च गन्धर्वाप्सरसो मुनीन् ॥ ७ ॥
भूतान् पिशाचान् यक्षांश्च गुह्यकांश्च महेश्वरान्[3] ।
असुरान्नाट्यविघ्नांश्च तथाऽन्यान्दैत्यराक्षसान् ॥ ८ ॥

तथा नाट्यकुमारीश्च महाग्रामण्यमेव च ।
यक्षांश्च गुह्यकांश्चैव भूतसङ्घांस्तथैव च ॥ ९ ॥
एतांश्चान्यांश्च राजर्षीन्प्रणिपत्य[4] कृताञ्जलिः ।
यथास्थानान्तरगतान्समावाह्य[5] ततो वदेत् ॥ १० ॥

भवद्भिर्नो[6] निशायान्तु कर्तव्यः सम्परिग्रहः ।
साहाय्यश्चैव दातव्यमस्मिन्नाट्ये सहानुगैः ॥ ११ ॥

तब सम्पूर्ण लोकों के स्वामी भगवान् शिव, पद्म से जन्म लेने वाले ब्रह्मा जी, देवगुरु बृहस्पति, भगवान् विष्णु, इन्द्र तथा कार्तिकेय, सरस्वती, लक्ष्मी, सिद्धि, मेधा, धृति, मति, सोम (चन्द्र), सूर्य, मरुत, लोकपाल, अश्विनीकुमार, मित्र, अग्नि, स्वर, वर्ण[1], रुद्रों (एकादश रुद्रों), काल, कलि, मृत्यु, नियति, कालदण्ड, विष्णु के प्रहरण (सुदर्शनचक्र), नागराज, गरुड़, वज्र, विद्युत, समुद्र, गन्धर्व, अप्सराएँ, मुनि, भूत, पिशाच, यक्ष,

---

१. 'वर्ण शब्द का प्रयोग देवों के मध्य में होने से इसका अर्थ होगा वर्णों के नियामक अधिकारी देवगण। यहाँ वर्ण शब्द चातुर्वर्ण्य का बोधक नहीं हो सकता ।

२. 'यक्ष' और गुह्यक शब्दों को महाकवि कालिदास ने अपने मेघदूत में अभिन्न मानते हुये प्रयुक्त किया है । (दे० पूर्व० मेघ० श्लो १ तथा ५)

---

१. स्वरान्—ख० । २. खगेश्वरम्—ग० । ३. महोरगान्—ग० ।
४. देवर्षीन् प्रणिपत्य—क०, ख०, घ० ।
५. यथास्थानस्थितान् देवान् निमन्त्र्यैतद्वचो वदेत्—घ० ।
६. भगवद्भिः—ख० ।

गुह्यक, महासर्पगण, असुर, नाट्यविघ्नों तथा अन्य दैत्यों और राक्षसों, नाट्यकुमारियों, महाग्रामणी[1] तथा अपने-अपने स्वतंत्र स्थानों पर स्थित अन्य राजर्षिगण को (आवाहन कर हाथ जोड़कर) प्रणाम करते हुए तथा अपने-अपने योग्य स्थान पर स्थित देवगण को आमन्त्रित करते हुए इस प्रकार निवेदन करे—हे भगवन् ! आप सभी के द्वारा आज रात्रि में हम रक्षण में लिये जाएँ तथा हमारे 'नाट्यकर्म' में आप अपने अनुचरों सहित सहायता प्रदान करें ॥ ४-११ ॥

जर्जरपूजनविधान—

सम्पूज्य सर्वानेकत्र[1] कुतपं सम्प्रयुज्य च ।
जर्जराय प्रयुञ्जीत पूजां नाट्यप्रसिद्धये ॥ १२ ॥

तब सभी (देवताओं) का एक साथ पूजन कर वाद्यों का प्रयोग करे और तब नाट्य की सफलता (प्रसिद्धि) के लिये जर्जर की पूजा करे ॥ १२ ॥

त्वं महेन्द्रप्रहरण सर्वदानवसूदन ।
निर्मितस्सर्वदेवैश्च सर्वविघ्ननिबर्हणः ॥ १३ ॥
नृपस्य[2] विजयं देहि रिपूणाञ्च पराजयम् ।
गोब्राह्मणशिवञ्चै नाट्यस्य च विवर्द्धनम् ॥ १४ ॥

हे जर्जर ! तू इन्द्र का शस्त्र है एवं सभी दानवों का नाशक है । सभी देवगण द्वारा तू विघ्नों का निवारक बनाया गया है । तू हमारे राजा को विजय तथा शत्रुओं को पराजय प्रदान कर और तू गौ तथा ब्राह्मणों का हितकारी और 'नाट्यकर्म' का संवर्द्धनकारी हो ॥ १३-१४ ॥

एवं कृत्वा यथान्यायमुपास्यं[3] नाट्यमण्डपे ।
निशायान्तु प्रभातायां पूजनं प्रक्रमेदिह ॥ १५ ॥

---

१. गणों का या ग्राम का मुख्यनेता । आचार्य अभिनवगुप्त ने इसका अर्थ गणपति किया है । (महाग्रामणी = गणपतिः) परन्तु यहाँ इसका अर्थ गण-मुख्य या ग्राममुख्य ही ग्राह्य है, गणपतिदेवता नहीं ।

---

१. देवताः सर्वाः—ग० । २. नृपस्य विजयं शंस—ख० ।
३. मुषित्वा—ग० ।

इस प्रकार नियमानुसार पूजन विधान सम्पन्न कर तथा रात्रि में नाट्य-मण्डप में निवास करते हुए (रात्रि के उपरान्त) प्रातः काल हो जाने पर बुद्धिमान नाट्याचार्य (आमन्त्रित देवों का) पूजनकार्य प्रारम्भ करे ॥ १५॥

आर्द्रायां वा मघायां वा याम्ये पूर्वेषु[1] वा त्रिषु ।
आश्लेषामूलयोर्वापि कर्तव्यं रङ्गपूजनम् ॥ १६ ॥
आचार्येण तु युक्तेन[2] शुचिना दीक्षितेन च ।
रङ्गस्योद्योतनं[3] कार्यं देवतानाञ्च पूजनम् ॥ १७ ॥

यह रंगपूजन आर्द्रा, मघा, याम्या, तीनों पूर्वा (पूर्वा फाल्गुनी, पूर्वाषाढ़ा तथा पूर्वाभाद्रपदा) नक्षत्रों अथवा आश्लेषा या मूल नक्षत्रों के समय किया जाए। एकाग्रमन वाले, पवित्र एवं व्रत में दीक्षित नाट्याचार्य के द्वारा रंगस्थल का उद्यापन करते हुए देवताओं का पूजन करना चाहिए।

देवगण की स्थापना—

दिनान्ते दारुणे घोरे मुहूर्त्ते भूतदैवते[4] ।
आचम्य तु यथान्यायं देवता[5] वै निवेशयेत् ॥ १८ ॥
रक्ताः प्रतिसराः[6] सूत्रं रक्तगन्धाश्च पूजिताः ।
रक्तास्सुमनसश्चैव यच्च रक्तं फलं भवेत् ॥ १९ ॥
यवैस्सिद्धार्थकैर्लाजैरक्षतैः शालितण्डुलैः[7] ।
नागपुष्पस्य चूर्णेन वितुषाभिः प्रियङ्गुभिः ॥ २० ॥
एतैर्द्रव्यैर्युतं कुर्यात् देवतानां निवेशनम् ।

दिन के अन्त में आने वाले घोर एवं दारुण नामक मुहूर्त में (जिसके अधिदेवता भूत होते हैं) आचार्य को नियमानुसार आचमन करते हुए देवताओं की स्थापना करनी चाहिए। इस (दैवपूजन) में लालरंग के ही सूत्र कंकण तथा उत्तम प्रकार का रक्तवर्ण का चन्दन, रक्तवर्ण के पुष्प तथा इसी वर्ण के फल को लेना

---

१. पूर्वासु च त्रिषु—ख० । २. सुयुक्तेन—ग० । ३. रङ्गस्योद्यापनं—ग० ।
४. यमदैवते—क० । ५. दैवतानि—ग० । ६. प्रतिसरास्तत्र—घ० ।
७. लाज—ग० ।

चाहिए। जौ, सरसों, खीलें, धानों के अक्षत, नागपुष्प की जड़ तथा छिलके निकाले हुए प्रियंगु[1] फल (चम्पक)—इन द्रव्यों के साथ देवताओं को आसीन करना चाहिए ॥ १८-२१ ॥

देवगणों के स्थापनार्थ मण्डल-निर्माण विधि—

आलिखेन्मण्डलं पूर्वं यथास्थानं यथाविधि ॥ २१ ॥
समन्ततश्च कर्तव्यं हस्ताः षोडश मण्डलम् ।
द्वाराणि चात्र कुर्वीत विधानेन चतुर्दिशम् ॥ २२ ॥
मध्ये चैवात्र कर्तव्ये द्वे रेखे तिर्यगूर्ध्वगे ।
तयोः कक्ष्याविभागेन दैवतानि निवेशयेत् ॥ २३ ॥
पद्मोपविष्टं ब्रह्माणं तस्य मध्ये निवेशयेत् ।
आदौ निवेश्यो भगवान्सार्धं भूतगणैः शिवः ॥ २४ ॥
नारायणो महेन्द्रश्च स्कन्दा[1]र्कावश्विनौ शशी ।
सरस्वती च लक्ष्मीश्च श्रद्धा मेधा च पूर्वतः ॥ २५ ॥
पूर्वदक्षिणतो वह्निर्निवेश्यः स्वाहया सह ।
विश्वेदेवाः सगन्धर्वा रुद्राश्च[2] ऋषयस्तथा ॥ २६ ॥
दक्षिणेन निवेश्यस्तु यमो मित्रश्च सानुगः ।
पितॄन्पिशाचानुरगान् गुह्यकांश्च निवेशयेत् ॥ २७ ॥
नैरृत्यां राक्षसांश्चैव भूतानि[3] च निवेशयेत् ।
पश्चिमायां समुद्रांश्च वरुणं यादसां पतिम् ॥ २८ ॥
वायव्यां वै दिशि तथा सप्त वायून्निवेशयेत् ।
तत्रैव[4] विनिवेश्यस्तु गरुडः पक्षिभिः सह ॥ २९ ॥

---

१. यहाँ 'प्रियंगु' का अर्थ लतापरक नहीं है किन्तु इसका अर्थ होगा नागपुष्प का फल या उसका चूर्ण जो कि केशर जैसा होता है।

---

१. स्कन्दः सूर्योऽश्विनौ—क, ख० । २. सर्वगणाः—ख, सर्पगणा—क० ।
३. सर्वभूतान्—घ० । ४. निवेशयेच्च तत्रैव गरुडं पक्षिभिः सह—घ० ।

उत्तरस्यां दिशि तथा धनदं सन्निवेशयेत् ।
नाट्यस्य मातृश्च तथा यक्षानथ सगुह्यकान् ॥ ३० ॥
तथैवोत्तरपूर्वायां [1]नन्दिनं च गणेश्वरान् ।
ब्रह्मर्षिभूतसंघांश्च यथाभागं निवेशयेत् ॥ ३१ ॥

सर्व प्रथम इन देवगणों के बैठाने के लिए यथास्थान विधिपूर्वक मण्डल बनाना चाहिये। यह मण्डल १६ हाथ[1] (बालिस्त) लंबा-चौड़ा होना चाहिए तथा विधानपूर्वक इसमें चारों ओर द्वार रखे जाने चाहिए; इसके मध्य में दो तिरछी रेखाएँ पूर्व पश्चिम तथा उत्तर दक्षिण जाने वाली बनाई जानी चाहिए; तथा इन रेखाओं से निर्मित कोष्ठकों (कोठों, कक्ष्यों) में विभागपूर्वक देवगण की स्थापना की जाए।

इस मण्डल के मध्यभाग में कमल पर आसीन ब्रह्मा को स्थापित करे फिर सर्व प्रथम भूतगणों के साथ भगवान शिव को पूर्व दिशा में स्थापित करे। (फिर) इसी दिशा में नारायण, महेन्द्र, कार्तिकेय, सूर्य, अश्विनीकुमार, चन्द्रमा, सरस्वती, लक्ष्मी, श्रद्धा तथा मेधा की स्थापना करे। दक्षिणपूर्व दिशा (कोण) में स्वाहा के साथ अग्नि, विश्वेदेवा, गन्धर्व, रुद्र तथा ऋषियों की स्थापना करे। दक्षिण दिशा में यम, अपने अनुचरों सहित मित्र, पितरगण, पिशाच, सर्पगण तथा गुह्यकों को स्थापित्त किया जाए। नैर्ऋत्य कोण में राक्षस तथा भूतों को स्थापित करे। पश्चिम दिशा में जल के अधिपति वरुण देव तथा समुद्रों को स्थापित करें। उत्तर पश्चिम (वायव्य-दिशा) में सातपवनों को तथा उन्हीं के पास पक्षियों के साथ गरुड़देव की स्थापना करे। उत्तर दिशा में कुबेर की भली भाँति

---

१. हस्तशब्द द्वारा यहाँ 'हस्तताल' लिया गया है। हस्तताल का लक्षण है—अंगूठे और बीच की अंगुली को विपरीत दिशाओं में फैलाने पर होने वाली दोनों सिरों की दूरी। इसे ताल या 'हस्तताल' भी कहते हैं। यहाँ इस अर्थ के बिना स्वीकार किये मंच का विस्तार व्यवस्थित नहीं हो सकता। (हस्तताल के लक्षण के लिये देखिये—संगीतरत्नाकर अ० ७, पृष्ठ १०४६, आ० आश्रम सं०, पूना)।

---

१. नन्दाद्यांश्च—क०।

स्थापना करे तथा वहीं मातृकाओं और गुह्यकों के साथ यज्ञों की भी स्थापना करे। इसी प्रकार उत्तरपूर्व दिशा में (ईशान में) नन्दी, गणेश्वर, ब्रह्मर्षि तथा भूतों के संघों की उनके यथायोग्य उचित स्थानों पर स्थापित करे ॥ २१-३१ ॥

स्तम्भे सनत्कुमारं तु दक्षिणे दक्षमेव च।
ग्रामण्यमुत्तरे स्तम्भे पूजार्थं[1] सन्निवेशयेत् ॥ ३२ ॥
अनेनैव विधानेन यथास्थानं यथाविधि।
[2]वर्णरूपान्विताःसर्वा देवताः सन्निवेशयेत् ॥ ३३ ॥
स्थाने स्थाने यथान्यायं विनिवेश्य तु देवताः।
तासां प्रकुर्वीत ततः पूजनन्तु यथार्हतः ॥ ३४ ॥

(पूजा के लिए) (पूर्व दिशा के स्तम्भ में) सनत्कुमार की, दक्षिण स्तम्भ में दक्ष की तथा उत्तर स्तम्भ में गणेश की स्थापना करे। इसी विधान के अनुसार विधिपूर्वक उचित स्थान पर सब देवताओं को अपने अपने वर्ण तथा स्वरूप के अनुसार स्थापित करे। फिर यथास्थान देवगण की स्थापना कर चुकने के उपरान्त उनका यथायोग्य पूजन प्रारम्भ करे ॥ ३२-३४ ॥

देवगण का पूजन—

[3]देवताभ्यश्च दातव्यं सितमाल्यानुलेपनम्।
गन्धर्ववह्निसूर्येभ्यो रक्तमाल्यानुलेपनम् ॥ ३५ ॥
गन्धं माल्यञ्च धूपञ्च यथावदनुपूर्वशः।
दत्त्वा ततः प्रकुर्वीत बलिं पूजां[4] यथाविधि ॥ ३६ ॥

देवताओं को श्वेतवर्ण[1] की मालाएँ (पुष्प) तथा चन्दन प्रदान करना

---

१. 'शुभ्र'। यहाँ पवित्र तथा श्रेष्ठवस्तु का प्रतीक मानकर प्रयुक्त किया गया (प्रतीत होता) है।

---

१. पश्चिमे स्कन्दमेव च—घ०।
२. सुप्रसादानि सर्वाणि दैवतानि निवेशयेत्—ख०।
३. दैवतेभ्यस्तु—ग०। ४. बलिपूजां—ग०।

चाहिए। गन्धर्व, अग्नि तथा सूर्य को रक्तवर्ण[1] की मालाएँ और चन्दन प्रदान किया जाना चाहिए। सभी देवगण को क्रमशः यथायोग्य गन्ध, मालाएँ तथा धूप अर्पण कर फिर उन्हें विधिपूर्वक पूजा तथा बलि प्रदान करे॥३५-३६॥

[1]ब्रह्माणं मधुपर्केण पायसेन सरस्वतीम्।
शिवविष्णुमहेन्द्राद्या सम्पूज्या मोदकैरथ ॥ ३७ ॥
घृतौदनेन [2]हुतभुक्सोमार्कौ तु गुडोदनैः।
विश्वेदेवाः सगन्धर्वा मुनयो मधुपायसैः ॥ ३८ ॥
यममित्रौ च [3]सम्पूज्यावपूपैर्मोदकैस्तथा।
पितॄन् पिशाचानुरगान् सर्पिःक्षीरेण तर्पयेत् ॥ ३९ ॥
[4]पक्वान्नेन तु मांसेन सुरासीधुफलासवैः।
अर्चयेद् भूतसङ्घांश्च चणकैः पललाप्लुतैः ॥ ४० ॥
अनेनैव विधानेन सम्पूज्या मत्तवारणी।
[5]पक्वामेन तु मांसेन सम्पूज्या रक्षसां गणाः ॥ ४१ ॥
सुरामांसप्रदानेन [6]दानवान् प्रतिपूजयेत्।
शेषान् देवगणान् तज्ज्ञः सापूपोत्कारिकोदनैः ॥ ४२ ॥
मत्स्यैश्च पिष्टभक्ष्यैश्च सागरान् सरितस्तथा।
[7]सम्पूज्य वरुणश्चापि दातव्यं घृतपायसम् ॥ ४३ ॥
नानामूलफलैश्चापि मुनीन्सम्प्रतिपूजयेत्।
वायूंश्च पक्षिणश्चैव [8]विचित्रैर्भक्ष्यभोजनैः ॥ ४४ ॥

---

१. 'रक्तवर्ण को शक्ति का प्रतीक समझना चाहिये।

१. द्रुहिणं—ग०। २. वह्निश्च—ग०। ३. समभ्यर्च्यौ—ग०। ४. मोदकैः सूपमिश्रितैः—ग०। ५. पक्वामकेन—ग० घ०। ६. विधिना—ग०। ७. अभ्यर्च्य—ग० घ०। ८. विविधैः—ग० घ०।

मातृर्नाट्यस्य[1] खर्वास्ता धनदं च सहानुगैः।
अपूपैर्लो[2]पिकामिश्रैर्भक्ष्यभोज्यैश्च पूजयेत्[3] ॥ ४५ ॥
एवमेषां बलिः कार्यो नानाभोजनसंश्रयः।

ब्रह्मा का मधुपर्क द्वारा, सरस्वती का पायस (खीर) से और शिव, विष्णु तथा महेन्द्र आदि देवताओं का मोदकों के द्वारा पूजन करे। घी और भात से अग्नि का, गुड़ और भात से सूर्य तथा चन्द्रमा का गन्धर्वों सहित विश्वेदेवा तथा मुनिगण का मधु और पायस से पूजन करे। यम तथा मित्र की पूजा मालपुओं तथा मोदकों से की जानी चाहिए। पितरगण पिशाच तथा सर्पों का घी तथा दूध से पूजन करना चाहिए। भूतगणों की अर्चना पकान्न, मांस, मदिरा तथा शीरे की मदिरा, फलों के आसव, तथा मांस से सने चनों के द्वारा की जाय और इसी विधि से 'मत्तवारणी' का भी पूजन किया जाना चाहिए।

मछली से युक्त पक्वान्न द्वारा राक्षस गणों का पूजन किया जाना चाहिए तथा सुरा और मांस प्रदान पूर्वक दानवों का पूजन करना चाहिए।

पूजा विधि के ज्ञाता शेष देवगण की मालपूओं, लपसी[1] तथा भात से पूजा करें। सागर और सरिताओं को मछलियों और पीठी से बने भोजन से पूजें। वरुण देव का पूजन कर उन्हें घृत और खीर प्रदान करना चाहिए। मुनिगण की अनेक प्रकार के कन्द-मूल तथा फलों से पूजा करे। वायु तथा पक्षियों को विविध भक्ष्य तथा भोजन के द्वारा पूजें। नाट्य की सभी मातृकाओं तथा (अपने) अनुचरगण सहित कुबेर की पूओं तथा लपसी मिश्रित भक्ष्य भोजन पदार्थों से पूजा करे। इसी प्रकार अनेक प्रकार के भोजनों से भी इन देवताओं को बलि दी जानी चाहिए ॥ ३७–४५ ॥

देवताओं को बलि प्रदान करने के मन्त्र—

पुनर्मन्त्रविधानेन बलिकर्म च[4] वक्ष्यते ॥ ४६ ॥

---

१. 'लोपिका' शब्द के कई पाठान्तर मिलते हैं। यथा—लोचिता, लोपिका, लेपिका तथा लिपिका। इसका अर्थ है लपसी या लूची।

---

१. नाट्यस्य च तथा मातृः—घ०।
२. लाजिकामिश्रैः—क; लेपिकामिश्रैः—ख०।
३. प्रयत्नतः—घ०। ४. प्रवक्ष्यते—घ०।

देवदेव महाभाग [1]सर्वलोकपितामह ।
मन्त्रपूतमिमं सर्वं प्रतिगृह्णीष्व[2] मे बलिम् ॥ ४७ ॥
देवदेव महादेव गणेश त्रिपुरान्तक ।
प्रगृह्यतां बलिर्देव मन्त्रपूतो मयोद्यतः ॥ ४८ ॥
महादेव महायोगिन्देवदेव सुरोत्तम ।
संप्रगृह्य बलिं देव रक्ष विघ्नात्सदोत्थितात् ॥ ४९ ॥
नारायणामितगते पद्मनाभ सुरोत्तम ।
प्रगृह्यतां बलिर्देव मन्त्रपूतो[3] मयार्पितः ॥ ५० ॥
पुरन्दरामरपते वज्रपाणे शतक्रतो ।
प्रगृह्यतां बलिर्देव विधिमन्त्रपुरस्कृतः ॥ ५१ ॥
देवसेनापते स्कन्द भगवन् शङ्करप्रिय ।
बलिः प्रीतेन मनसा षण्मुख प्रतिगृह्यताम् ॥ ५२ ॥
देवि देवि महाभागे सरस्वति हरिप्रिये ।
प्रगृह्यतां बलिर्मातर्मया भक्त्या समर्पितः ॥ ५३ ॥
नानानिमित्तसम्भूताः पौलस्त्याः सर्व एव तु ।
राक्षसेन्द्रा महासत्त्वाः प्रतिगृह्णीत[4] मे बलिम् ॥ ५४ ॥

अब मैं मन्त्र विधान सहित इनके बलि कर्म को कहता हूँ ।

ब्रह्मा के लिए मंत्र—

हे देवों के महानुभाव पितामह ब्रह्माजी, मन्त्रों से पवित्र इस मेरी बलि को आप कृपया ग्रहण कीजिये ।

शिव का मन्त्र—

हे देवाधिदेव, गण के अधीश्वर तथा त्रिपुरहन्ता महादेव, हे

१. पद्मयोने पितामह—ग० । २. बलिं देव गृहाण नः—घ० ।
३. मन्त्रसंस्कारसंस्कृतः—घ० ।
४. प्रतिगृह्णन्त्विमं बलिम्—ग०, बलिः समुपगृह्यताम्—घ० ।

महायोगी, देवश्रेष्ठ, शिव ! इस बलि को आप स्वीकार करें और हे देव, सभा में उत्पन्न होने वाले विघ्नों से आप हमारी रक्षा कीजिए ।

हे देव, मेरे मंत्रों से पवित्र इस प्रस्तुत बलि को आप ग्रहण करें ।

विष्णु का मन्त्र—

हे असीम गतिवाले, पद्मनाभ, हे देवों में श्रेष्ठ देव विष्णु, मेरे द्वारा अर्पित मंत्रों से पवित्र इस बलि को ग्रहण कीजिए ।

इन्द्र का मन्त्र—

हे देवों के स्वामी, वज्रहस्त, पुरन्दर, हे शतक्रतु इन्द्रदेव, विधिवत् मन्त्रों के सहित दी जाने वाली इस बलि को ग्रहण कीजिए ।

स्कन्द का मन्त्र—

हे देवताओं के स्वामी, शंकर के प्रिय पुत्र भगवान् कार्तिकेय, हे षण्मुख आप प्रसन्न मन से इस बलि को—जो प्रस्तुत है—ग्रहण कीजिए ।

सरस्वती का मन्त्र—

हे देवताओं की पूजनीय देवी सरस्वती, हे हरिप्रिये, माता ! आप मेरे द्वारा भक्तिपूर्वक समर्पित इस बलि को ग्रहण कीजिए ।

राक्षसगण का मन्त्र —

अनेक कारणों से उद्भूत पौलस्त्य के वंशज हे राक्षस श्रेष्ठों, आप महासत्त्व हैं, आप मेरे द्वारा अर्पित बलि को ग्रहण करें ॥ ४६–५४ ॥

लक्ष्मीः सिद्धिर्मतिर्मेधा सर्वलोकनमस्कृताः ।
मन्त्रपूतमिमं देव्यः प्रतिगृह्णन्तु मे बलिम् ॥ ५५ ॥
सर्वभूतानुभावज्ञ लोकजीवन मारुत ।
प्रगृह्यतां बलिर्देव मन्त्रपूतो मयोद्यतः ॥ ५६ ॥

देवियों का मन्त्र—

सभी संसार की तथा प्रजाजन की वन्दनीय हे लक्ष्मी, सिद्धि, मति एवं मेधा नामक देवियों, आप मन्त्रों द्वारा पवित्र इस बलि को स्वीकार करें ।

पवन का मन्त्र—

हे पवनदेव, आप सभी भूतों के प्रभाव या शक्तियों के ज्ञाता हो और लोक के जीवन हो अतः आप मेरे द्वारा अर्पित मन्त्रपूत इस बलि को ग्रहण करें ॥ ५५–५६ ॥

देववक्त्र सुरश्रेष्ठ धूमकेतो हुताशन।
भक्त्या समुद्यतो देव बलिः सम्प्रतिगृह्यताम् ॥ ५७ ॥
सर्वग्रहाणां प्रवर तेजोराशे दिवाकर।
भक्त्या मयोद्यतो देव बलिः सम्प्रतिगृह्यताम् ॥ ५८ ॥
सर्वग्रहपते सोम द्विजराज जगत्प्रिय।
प्रगृह्यतामेष बलिर्मन्त्रपूतो मयोद्यतः ॥ ५९ ॥
महागणेश्वराः सर्वे नन्दीश्वरपुरोगमाः।
प्रगृह्यतां बलिर्भक्त्या[1] मया सम्प्रति चोदितः ॥ ६० ॥
नमः पितृभ्यस्सर्वेभ्यः प्रतिगृह्णन्त्विमं बलिम्।

अग्नि का मन्त्र—

हे देवताओं के मुख स्वरूप, देवश्रेष्ठ, अग्निदेव, आपकी धूम्र ही ध्वजा है तथा आप हुत पदार्थ के सेवनकर्त्ता हैं—आपको यह बलि अर्पित है; इसे आप ग्रहण कीजिए।

सूर्य का मन्त्र—

हे सभी ग्रहों में श्रेष्ठ, तेजोराशि, सूर्य! आप मेरे द्वारा अर्पित बलि को ग्रहण कीजिए।

चन्द्र का मन्त्र—

हे सभी ग्रहों के अधिपति चन्द्रदेव, हे द्विजराज, हे जगत् के प्रिय देव, मन्त्रों से पवित्र मेरे द्वारा प्रस्तुत इस बलि को आप ग्रहण कीजिए।

गणेश और नन्दी का मन्त्र—

जिनमें नन्दी प्रमुख है ऐसे हे महागणेश्वरों, भक्ति भाव से प्रस्तुत इस बलि को आप ग्रहण कीजिये—यह आपके ही लिये प्रेरित होकर प्रस्तुत की गई है।

---

१. प्रतिगृह्णन्त्विमं भक्त्या बलिं सम्यङ्मयोदितम्—घ०।

पितृ का मन्त्र—

सभी पितरों को नमस्कार, आप इस बलि को स्वीकार करें ॥ ५७–६० ॥

भूतेभ्यश्च नमो नित्यं येषामेष बलिः प्रियः ।
कामपाल नमो नित्यं यस्यायं ते विधिः[1] कृतः ॥ ६१ ॥
नारदस्तुम्बुरुश्चैव विश्वावसुपुरोगमाः ।
प्रतिगृह्णन्तु मे सर्वे गन्धर्वा बलिमुद्यतम् ॥ ६२ ॥
यमो मित्रश्च भगवानीश्वरौ लोकपूजितौ ।
इमम्मे प्रतिगृह्णीतां बलिं मन्त्रपुरस्कृतम् ॥ ६३ ॥
रसातलगतेभ्यश्च[2] पन्नगेभ्यो नमो नमः ।
दिशन्तु सिद्धिं नाट्यस्य पूजिताः [3]पापनाशनाः ॥ ६४ ॥
सर्वाम्भसां पतिर्देवो वरुणो हंसवाहनः ।
पूजितः प्रीतिमानस्तु ससमुद्र—नदीनदः ॥ ६५ ॥

भूतगण का मन्त्र—

भूतों को सदा नमस्कार हो, जिनको यह बलि प्रिय है ।

बलदेव या शिव का मन्त्र—

हे कामपाल, आपको नित्य नमस्कार, आपके लिये यह बलि प्रस्तुत की गई है ॥ ६१ ॥

गन्धर्व का मन्त्र—

नारद, तुम्बुरु तथा विश्वावसु जिनमें प्रमुख हैं ऐसे सभी गन्धर्वगण, आप मेरे द्वारा प्रस्तुत बलि को ग्रहण करें ॥ ६२ ॥

यम तथा मित्र का मन्त्र—

सब लोकों के द्वारा पूजित भगवान यम तथा मित्र, मेरे द्वारा मन्त्रों से प्रस्तुत की गई इस बलि को आप ग्रहण करें ॥ ६३ ॥

---

१. बलिः—घ० । २. रसातलचरेभ्यश्च—ग० घ० ।
३. पवनाशनाः—ग० ।

नाग का मन्त्र—

पृथ्वी के नीचले भाग (रसातल) में स्थित सर्पों को बारंबार प्रणाम। हे पवन के भक्षक नागगण, पूजित होकर आप नाट्य में सिद्धि प्रदान करें।

वरुण का मन्त्र—

हंसवाहन के समस्त जलप्रदेश के अधिपति भगवान वरुण, आप (मेरे द्वारा) पूजित होकर समस्त समुद्रों, नदियों और नदों से युक्त होकर मुझ पर प्रसन्न हों ॥ ६५ ॥

वैनतेय महासत्त्व सर्वपक्षिपते विभो।
प्रगृह्यतां बलिर्देव मन्त्रपूतो मयोद्यतः ॥ ६६ ॥

धनाध्यक्षो यक्षपतिर्लोकपालो धनेश्वरः।
[1]सगुह्यकस्सयक्षश्च प्रतिगृह्णातु मे बलिम् ॥ ६७ ॥

नमोऽस्तु नाट्यमातृभ्यो ब्राह्म्यादिभ्यो नमो नमः।
सुमुखीभिः प्रसन्नाभिर्बलिस्संप्रतिगृह्यताम् ॥ ६८ ॥

रुद्रप्रहरणं चैव प्रतिगृह्णातु मे बलिम्।
विष्णुप्रहरणं चैव विष्णुभक्त्या मयोद्यतम् ॥ ६९ ॥

तथा कृतान्तः कालश्च [2]सर्वप्राणधनेश्वरः।
मृत्युश्च नियतिश्चैव प्रतिगृह्णातु मे बलिम् ॥ ७० ॥

याश्चास्यां मत्तवारण्यां संश्रिता वास्तुदेवताः।
मन्त्रपूतमिमं सम्यक्प्रतिगृह्णन्तु मे बलिम् ॥ ७१ ॥

[3]अन्येऽपि ये देवगणाः दिशो दश समाश्रिताः।
दिव्यान्तरिक्षभौमाश्च तेभ्यश्चायं बलिः कृतः ॥ ७२ ॥

---

१. सगुह्यकैः सयक्षैश्च—ग०।
२. सर्वप्राणिवशेश्वरौ—ग०, सर्वप्राणिवधेश्वरौ—घ०।
३. अन्ये ये देवगन्धर्वाः—ग०।

गरुड का मन्त्र—

हे परमबलशाली, सर्वपक्षिगण के स्वामी, महात्मन् विनतापुत्र गरुड़देव, आप मेरे द्वारा प्रस्तुत इस मन्त्र से पवित्र बलि को ग्रहण कीजिये।

कुबेर का मन्त्र—

हे धन के अधिपति, यक्षों के स्वामी, उत्तरदिशा के लोकपाल भगवान कुबेर, आप यक्षों तथा गुह्यकों के साथ प्रस्तुत की गई बलि को ग्रहण कीजिए ॥ ६७ ॥

नाट्यमातृकाओं का मन्त्र—

उन ब्राह्मी आदि मातृकाओं को (जो नाट्यमातृकाएँ हैं) मेरा बार बार प्रणाम। ये सुन्दर मुखवाली प्रसन्न मातृकाएँ मेरे द्वारा अर्पित इस बलि को आप ग्रहण करें।

त्रिशूल का मन्त्र—

हे रुद्र के शस्त्र, तुम मेरे द्वारा अर्पित इस (सभी) बलि को ग्रहण करो।

सुदर्शन का मन्त्र—

हे विष्णु के शस्त्र, विष्णु की भक्ति रखते हुए मैं यह बलि प्रस्तुत करता हूँ (आप) इसे स्वीकार करें ॥ ६९ ॥

काल तथा कृतान्त का मन्त्र—

सभी प्राणियों के प्राणरूपी धन के स्वामी हे कृतान्त तथा काल, मृत्यु तथा नियति देव, आप मेरे द्वारा अर्पित इस बलि को स्वीकार करें ॥ ७० ॥

तथा जो वस्तु-देवता इस मत्तवारणी में स्थित है ये भी मन्त्रों से पवित्र इस बलि को स्वीकार करें ॥ ७१ ॥

इसके अतिरिक्त अन्य वे देवताओं के समूह जो दशों दिशाओं में स्थित है और जो स्वर्ग, अन्तरिक्ष तथा भूमि प्रदेशों में निवास करते हों उन सभी के लिए यह बलि प्रस्तुत है ॥ ७२ ॥

कुम्भ-स्थापन—

कुम्भं सलिलसम्पूर्णं [1]पुण्यमालापुरस्कृतम्।
स्थापयेद्रङ्गमध्ये तु सुवर्णञ्चात्र दापयेत् ॥ ७३ ॥

---

१. पर्णमाला—ग०।

आतोद्यानि तु सर्वाणि कृत्वा वस्त्रोत्तराणि तु ।
गन्धैर्माल्यैश्च धूपैश्च भक्ष्यैर्भोज्यैश्च पूजयेत् ॥ ७४ ॥

जल से परिपूर्ण एक मिट्टी का घड़ा पत्तों की माला से सजाकर रंगमंच के मध्यस्थान पर स्थापित करे तथा उसमें थोड़ा सा सुवर्ण रखे ॥ ७३ ॥

और सभी वाद्यों को वस्त्रों से ढँककर फिर उनकी सुगन्धितमालाओं, धूप तथा भोज्य वस्तुओं से पूजन करे ॥ ७४ ॥

जर्जर-पूजन—

पूजयित्वा तु सर्वाणि दैवतानि यथाक्रमम् ।
जर्जरस्त्वभिसंपूज्यः स्यात्ततो विघ्नजर्जरः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार सभी देवगण का क्रमशः पूजन करने के उपरान्त जर्जर का पूजन करे जिससे विघ्नों का नाश हो ॥ ७५ ॥

श्वेतं शिरसि वस्त्रं स्यान्नीलं रौद्रे च पर्वणि ।
विष्णुपर्वणि वै पीतं रक्तं स्कन्दस्य पर्वणि ॥ ७६ ॥
[1]मृडपर्वणि चित्रं तु देयं वस्त्रं हितार्थिना[2] ।
सदृशश्च प्रदातव्यं [3]धूपमाल्यानुलेपनम् ॥ ७७ ॥

अपने कल्याण की कामना रखने वाले व्यक्ति के द्वारा इस जर्जर के सिर पर श्वेत वस्त्र, रुद्र की पौरी पर नीला वस्त्र, विष्णु की पौरी पर पीला वस्त्र, स्कन्द की पौरी पर रक्त वस्त्र तथा नीचे की पौरी पर अनेक रंगोवाला चितकबरा वस्त्र बाँधना चाहिए और उन्हीं के सदृश ही धूप, माला तथा चन्दन आदि पदार्थ भी प्रस्तुत करना चाहिए ॥ ७६–७७ ॥

सर्वमेवं विधिं कृत्वा गन्धमाल्यानुलेपनैः ।
विघ्नजर्जरार्थन्तु जर्जरन्त्वभिमन्त्रयेत् ॥ ७८ ॥

---

१. मूलपर्वणि—ग० । २. हितार्थिनाम्—ग० ।
३. माल्यधूपानुलेपनम्—ग० ।

इस प्रकार धूप, माला तथा चन्दन (अनुलेपन) के अर्पण द्वारा सभी विधियों को पूर्ण करने के उपरान्त विघ्नों को नष्ट करने के लिए 'जर्जर' को अभिमन्त्रित करें ॥ ७८ ॥

[1]अत्र विघ्नविनाशार्थं पितामहमुखैस्सुरैः ।
निर्मितस्त्वं महावीर्यो वज्रसारो महातनुः ॥ ७९ ॥

विघ्नों को शान्त करने के लिये ब्रह्मा के साथ प्रमुख रूप में रहने वाले देवगणों ने हे जर्जर ! तुम्हे परम सुदृढ़, वज्र के समान कठोर तथा विशाल शरीरवाला बनाया है ॥ ७९ ॥

शिरस्ते रक्षतु ब्रह्मा सर्वदेवगणैः सह ।
द्वितीयश्च हरः पर्व तृतीयश्च जनार्दनः ॥ ८० ॥
चतुर्थश्च कुमारस्ते पञ्चमं पन्नगोत्तमः ।
नित्यं सर्वेऽपि पान्तु त्वां सुरार्थे[2] च शिवो भव ॥ ८१ ॥

सब देवताओं सहित ब्रह्माजी तुम्हारें शरीर की रक्षा करें । दूसरे पर्व की रक्षा भगवान् शिव; तीसरे की भगवान विष्णु, चौथे की कुमार कार्तिकेय तथा पाँचवें की श्रेष्ठ नारायण रक्षा करे । वे सभी देव तुम्हारी रक्षा करें और तुम इन देवगणों को मंगलकारी होओ ॥ ८०–८१ ॥

नक्षत्रेऽभिजिति त्वं[3] हि प्रसूतोऽहितसूदन[4] ।
जयश्चाभ्युदयश्चैव पार्थिवस्य[5] समावह ॥ ८२ ॥

हे शत्रुओं के नाशकर्ता जर्जर, तुम अभिजित नक्षत्र में उत्पन्न हुए हो अतः तुम हमारे राजा को जय तथा अभ्युदय प्रदान करो ॥ ८२ ॥

होम विधि—

जर्जरं पूजयित्वैवं बलिं सर्वं निवेद्य च ।
अग्नौ होमं ततः कुर्यान्मन्त्राहुतिपुरस्कृतम् ॥ ८३ ॥

१. विघ्नानां शमनार्थं हि देवैर्ब्रह्मपुरोगमैः—ग० । २. सुरास्त्वञ्च—ग० ।
३. श्रेष्ठे जातस्त्वं रिपुसूदनः—घ० । ४. रिपुसूदन—ग० ।
५. पार्थिवाय प्रयच्छ नः—ग० ।

इस प्रकार जर्जर का पूजन कर एवं उसे बलि प्रस्तुत करने के उपरान्त मन्त्र तथा आहुतियों के साथ अग्नि में हवन कार्य करे ॥ ८३ ॥

हुताश[1] एव दीप्ताभिरुल्काभिः परिमार्जनम् ।
नृपतेर्नर्तकीनाञ्च कुर्याद्दीप्त्यभिवर्द्धनम् ॥ ८४ ॥

इसी अग्नि से जलाई जाने वाली मशाल को राजा तथा नर्तकी के दीप्तिवर्धन हेतु चारों ओर घुमाए ॥ ८४ ॥

अभिद्योत्य सहातोद्यैर्नृपतिं नर्तकीस्तथा ।
मन्त्रपूतेन तोयेन पुनरभ्युक्ष्य तान् वदेत् ॥ ८५ ॥

महाकुले प्रसूताः स्थ गुणौघैश्चाप्यलङ्कृताः ।
यद्वो जन्म गुणोपेतं तद्वो भवतु नित्यशः ॥ ८६ ॥

और समस्त वाद्यों के साथ राजा तथा नर्तकियों को प्रकाशित कर फिर मन्त्रों से पवित्र जल से उनका प्रोक्षण करे। तदनन्तर उन्हें इस प्रकार कहे—आप सभी श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न और समस्त गुणों से युक्त हैं अतएव आपको अपने जन्म तथा और गुणों द्वारा जो प्राप्ति हुई है वह सदा वैसी ही बनी रहे ॥ ८७ ॥

एवमुक्त्वा ततो वाक्यं नृपतेर्भूतये बुधः ।
नाट्ययोगप्रसिद्ध्यर्थमाशिषस्सम्प्रयोजयेत् ॥ ८७ ॥

बुद्धिमान पुरुष इस प्रकार राजा को समृद्धि (या प्रसन्नता) के वचनों को कहने के पश्चात् नाट्य-प्रयोग (अभिनय) की प्रसिद्धि के लिये इस प्रकार आशीर्वचन कहे ॥ ८७ ॥

सरस्वती धृतिर्मेधा ह्रीः श्रीर्लक्ष्मीस्स्मृतिर्मतिः[2] ।
पान्तु वो मातरः सौम्यास्सिद्धिदाश्च[3] भवन्तु वः ॥ ८८ ॥

देवी सरस्वती, धृति, मेधा, ह्री, श्री, लक्ष्मी, स्मृति, मति, सभी मातृकाएँ आपकी रक्षा करें और आपके लिए सिद्धि को प्रदान करनेवाली हों ॥ ८८ ॥

---

१. हुत्वा स एव—ख, ग० । २. धृतिर्मतिः—ख० । ३. सर्वाः—ग० ।

घट-भेदन—

होमं कृत्वा यथान्यायं हविर्मन्त्रपुरस्कृतम् ।
भिन्द्यात्कुम्भं ततश्चैव नाट्याचार्यः प्रयत्नतः ॥ ८९ ॥

विधिवत् हवि तथा मन्त्रों के द्वारा होम को समाप्त कर फिर नाट्याचार्य प्रयत्नपूर्वक रंगमंच पर स्थित कुम्भ को फोड़ दे ॥ ८९ ॥

अभिन्ने तु भवेत्कुम्भे स्वामिनः शत्रुतो भयम् ।
भिन्ने[1] चैव तु विज्ञेयः स्वामिनः शत्रुसंक्षयः ॥ ९० ॥

इस कुम्भ के न फूटने पर राजा को शत्रु से भय उत्पन्न होता है तथा कुम्भ के टूट जाने पर स्वामी के शत्रुओं का विनाश हो जाता है ॥ ९० ॥

रंग-प्रदीपन—

भिन्ने कुम्भे ततश्चैव [2]नाट्याचार्यः प्रयत्नतः ।
प्रगृह्य दीपिकां दीप्तां सर्वं रंगं प्रदीपयेत् ॥ ९१ ॥

इस प्रकार इस घट के फूट जाने पर नाट्याचार्य प्रयत्नपूर्वक जलता हुआ दीपक लेकर सम्पूर्ण रंगस्थल को प्रकाशित करे ॥ ९१ ॥

क्ष्वेडितैः स्फोटितैश्चैव वल्गितैश्च प्रधावितैः[3] ।
रङ्गमध्ये तु तां दीप्तां सशब्दां सम्प्रयोजयेत् ॥ ९२ ॥

वह उस दीपक को लेकर अतिशय शब्द एवं सिंहनाद करते हुए, अंगुलियों को घुमाते या मरोड़ते हुए, कूदते और दौड़ते हुए इसकी प्रभा को सारे रंगमंच पर घुमा दे ॥ ९२ ॥

शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैर्मृदङ्गपणवैस्तथा ।
सर्वातोद्यैः प्रणदितैः रङ्गे[4] युद्धानि कारयेत् ॥ ९३ ॥

---

१. भवेद्भिन्ने तु—ख० । २. नाट्याचार्योऽप्यपेतभीः—घ० ।
३. वल्गितैर्विप्रधावितैः—ख० । ४. रङ्गयुद्धानि—ख० ।

फिर शंख और दुन्दुभिवाद्य के निर्घोष तथा मृदंग और पणव वाद्यों के बजाने और सभी वाद्यों का वादन करते हुए रंगभूमि पर युद्ध की आयोजना करे।

तत्र छिन्नं च भिन्नं च दारितं च सशोणितम्।
कृत्तं[1] प्रदीप्तमायस्तं निमित्तं सिद्धिलक्षणम्॥ ९४॥

यदि इस युद्ध में योद्धाओं का कटा, फटा, चिरा या काटा हुआ घाव रक्त से चमकीला या बड़ा हो जाए तो यह बड़ा शुभ शकुन माना जाता है और यह सिद्धि का सूचक होता है॥ ९४॥

रंग-प्रतिष्ठा से शुभ-प्राप्ति तथा रंग-पूजन का माहात्म्य—

सम्यगिष्टस्तु रङ्गो वै स्वामिनः शुभमावहेत्।
[2]पुरस्याबालवृद्धस्य तथा जनपदस्य च॥ ९५॥

विधिपूर्वक पूजन किया हुआ 'रंगमञ्च' राजा को शुभदाता होता है तथा इसी प्रकार यह नगर के बालकों, बूढ़ों तथा जनपद के लिये भी कल्याणप्रद होता है॥ ९५॥

दुरिष्टस्तु तथा रङ्गो दैवतैर्दुरधिष्ठितः।
नाट्यविध्वंसनं कुर्यान्नृपस्य च तथाऽशुभम्॥ ९६॥

तथा रंगमञ्च की विधिवत् पूजना न की जाने पर तथा देवगण के ठीक तरह से अधिष्ठित न होने पर नाट्य का विध्वंस तथा राजा का अशुभ भी हो जाता है॥ ९६॥

[3]यस्त्वेवं विधिमुत्सृज्य यथेष्टं सम्प्रयोजयेत्।
प्राप्नोत्यपचयं शीघ्रं तिर्यग्योनिश्च गच्छति॥ ९७॥

जो व्यक्ति इस प्रकार की विधि को त्याग कर यथेष्ट (स्वच्छन्द होकर) अभिनयादि का मञ्च पर प्रयोग करता है वह शीघ्र ही अवनति प्राप्त करता है॥ ९७॥

---

१. क्षतं प्रदीप्तमायस्तं—क०। २. पुरस्य बालवृद्धस्य—ख०।
३. य एवं—ख०।

यज्ञेन सम्मितं[1] ह्येतद्रङ्गदैवतपूजनम् ।
अपूजयित्वा रङ्गन्तु नैव प्रेक्षां प्रयोजयेत् ॥ ९८ ॥

रंगस्थ देवगण का यह पूजन वैदिक यज्ञ के समान होता है अतएव बिना रंगपूजन किये प्रेक्षा (रूपक या खेल) का प्रदर्शन या अभिनय नहीं करना चाहिए ॥ ९८ ॥

पूजिताः पूजयन्त्येते मानिता मानयन्ति च ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन कर्तव्यं रङ्गपूजनम् ॥ ९९ ॥

रंगस्थल के (प्रतिष्ठापित) देवगण पूजे जाने पर पूज्य बनाते हैं तथा मानित होने पर उन्हें भी सम्मान प्राप्त करवाते हैं। अतएव सभी प्रयत्नों के साथ रंग का पूजन किया जाना चाहिए ॥ ९९ ॥

न तथाशु[2] दहत्यग्निः प्रभञ्जनसमीरितः ।
यथा ह्यपप्रयोगस्तु प्रयुक्तो दहति क्षणात् ॥ १०० ॥

आँधी से प्रेरित अग्नि भी उतनी शीघ्रता से नहीं जलती जितनी (शीघ्रता से) दूषित विधि के द्वारा किया गया नाट्यप्रयोग क्षणमात्र में प्रयोक्ता को ध्वस्त कर देता है ॥ १०० ॥

शास्त्रज्ञेन विनीतेन शुचिना दीक्षितेन च ।
नाट्याचार्येण [3]शान्तेन कर्तव्यं रङ्गपूजनम् ॥ १०१ ॥

इसलिए शास्त्र के ज्ञाता, विनम्र, पवित्र, व्रत की दीक्षा ग्रहण करने वाले तथा शान्त स्वभाव वाले नाट्याचार्य के द्वारा रंगमञ्च का पूजन किया जाना चाहिए ॥ १०१ ॥

स्थानभ्रष्टन्तु यो दद्याद् बलिमुद्विग्नमानसः ।
मन्त्रहीनो यथा होता प्रायश्चित्ती भवेत्तु सः ॥ १०२ ॥

१. सम्मतं—ख० । २. तथा प्रदहत्यग्निः—क० । ३. सार्द्धञ्च—क० ।

जो मनुष्य को चित्त के उद्वेग के कारण अयोग्य स्थान में बलि प्रदान कर देता है वह मन्त्रहीन आहुति देने वाले होता के समान प्रायश्चित्त का भागी होता है ॥ १०२ ॥

[1]इत्ययं यो विधिर्दृष्टो रङ्गदैवतपूजने।
नवे नाट्यगृहे [2]कार्यः प्रेक्षायाञ्च प्रयोक्तृभिः ॥ १०३ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे रङ्गदैवतपूजनं नाम
तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ।



इस प्रकार रंगदैवत पूजन की जो विधि बतलाई गई है, उसे प्रयोक्तागण नये नाट्यगृह के निर्माण तथा प्रदर्शन हेतु अभिनयादि प्रस्तुत किये जाने के अवसर पर अवश्य प्रयुक्त करें ॥ १०३ ॥

भरतमुनिप्रणीत नाट्यशास्त्र की प्रदीपव्याख्या का 'रंगदैवतपूजन' नामक तृतीय अध्याय सम्पूर्ण ।



१. एवमेव विधि— ग० । २. कार्यं प्रेक्षायान्तु—ग० ।

अथ चतुर्थोऽध्यायः

एवं तु पूजनं कृत्वा मया प्रोक्तः पितामहः।
आज्ञापय विभो[1] क्षिप्रं कः प्रयोगः प्रयुज्यताम् ॥ १ ॥

इस प्रकार विधिवत् पूजन करने के उपरान्त मैंने पितामह ब्रह्मा से कहा—हे प्रभो ! आप शीघ्र आज्ञा दीजिए कि किस नाटक को खेला जाए (या मैं किस रचना को प्रयोग रूप में उपस्थित करूँ !) ॥ १ ॥

ततोऽस्म्युक्तो भगवता योजयामृतमन्थनम् ।
एतदुत्साहजननं सुरप्रीतिकरं तथा[2] ॥ २ ॥

तब (मुझे) पितामह ब्रह्मा बोले—हे वत्स, [1]अमृतमन्थन का संयोजन करो। (क्योंकि) यह देवगणों को प्रिय है और उनके उत्साह को बढ़ाने वाला है ॥ २ ॥

योऽयं समवकारस्तु[3] धर्मकामार्थसाधकः ।
मया प्राग्ग्रथितो[4] विद्वन्स प्रयोगः प्रयुज्यताम् ॥ ३ ॥

हे विद्वन् ! मैंने जिस समवकार की रचना की है वह धर्म, काम तथा अर्थ का साधक है। आप उसी 'नाट्य' का अब प्रयोग करें ॥ ३ ॥

तस्मिन्समवकारे तु प्रयुक्ते देवदानवाः ।
हृष्टाः समभवन्सर्वे कर्मभावानुदर्शनात् ॥ ४ ॥

---

१. 'अमृतमन्थन' का वृत्तान्त पुराणों में अतिशय प्रसिद्ध है। अनेक पुराणों में यह कथा है (दे० श्रीमद्भागवत तथा म० भा० प० १, अध्या० १७–१६ तथा विष्णु० पु० अं० १ इत्यादि)

---

१. प्रभो—ग०। २. महत्—ग०। ३. समस्तकार्यस्य—ख०। ४. प्रग्रथितो—घ०।

इस समवकार[1] के प्रस्तुत किये जाने पर देवता तथा दैत्यगण (अपने) कर्म (अभिनय आदि) तथा भावों (विचारों, कल्पनाओं) को देखकर प्रसन्न हुए ॥ ४ ॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य मामाहाम्बुजसम्भवः ।
नाट्यं सन्दर्शयामोऽद्य त्रिनेत्राय महात्मने ॥ ५ ॥

फिर किसी समय मुझसे कमलयोनि भगवान् ब्रह्माजी बोले—हम (अपने) इसी नाट्य को अब महात्मा शंकर के सम्मुख प्रस्तुत करेंगे ॥ ५)

ततः सार्धं सुरैर्गत्वा वृषभाङ्कनिवेशनम् ।
समभ्यर्च्य[1] शिवं पश्चादुवाचेदं पितामहः ॥ ६ ॥
मया समवकारस्तु योऽयं सृष्टः सुरोत्तम ।
श्रवणे दर्शने चास्य प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ ७ ॥

तब पितामह ब्रह्मा देवगणों के साथ भगवान शिव के निवास स्थान पर जाकर और भगवान शिव की विधिवत् अर्चना कर (फिर) उनसे बोले । हे देवाधिदेव ! मैंने जिस समवकार की रचना की है उसे सुनने तथा देखने की कृपा कीजिये ॥ ६–७ ॥

पश्याम इति देवेशो द्रुहिणं वाक्यमब्रवीत् ।
ततो मामाह भगवान् सज्जो भव महामते ॥ ८ ॥

भगवान शंकर ने ब्रह्माजी से कहा—'हम इसे अवश्य देखेंगे'। तब भगवान पितामह मुझ (भरत) से बोले—हे मुने ! इस प्रयोग के प्रदर्शन की तैयारी कीजिए ॥ ८ ॥

ततो हिमवतः पृष्ठे नानानगसमाकुले ।
बहुभूतगणाकीर्णे[2] रम्यकन्दरनिर्झरे ॥ ९ ॥

---

१. समवकार तथा 'डिम'—रूपकों के भेद । इनके लक्षण ना० शा० अ० २० में है । 'त्रिपुरदाह'—भगवान शिव ने त्रिपुर दैत्य की तीनों नगरियों को भस्म कर उसका संहार किया था और इसी कारण वे 'त्रिपुरान्तक' कहलाए ।

---

१. अभ्यर्च्य च—ग० । २. बहुचूतद्रुमाकीर्णे—ख० ।

पूर्वरङ्गे कृते पूर्वं तत्रायं द्विजसत्तमाः ।
तथा त्रिपुरदाहश्च डिमसंज्ञः प्रयोजितः ॥ १० ॥

हे श्रेष्ठ मुनिगण ! तब उस हिमालय पर्वत के प्रदेश पर —जो अनेक पर्वतों से घिरा हुआ था, जिसमें अनेक भूतगण विद्यमान थे तथा जो सुरम्य कन्दराओं और सोतों से युक्त था। वहाँ मैंने पूर्वरंग विधान के पश्चात् इस अमृतमन्थन समवकार तथा त्रिपुरदाह नामक डिम[1] का अभिनय (प्रयोग) प्रस्तुत किया ॥ ९–१० ॥

ततो भूतगणाः हृष्टाः कर्मभावानुकीर्तनात् ।
महादेवश्च सुप्रीतः पितामहमथाब्रवीत् ॥ ११ ॥

तब सभी भूतगण कार्य तथा भावों के अभिनय (प्रयोग) को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और भगवान् शिव भी अतिशय सन्तुष्ट होकर पितामह ब्रह्माजी से बोले ॥ ११ ॥

अहो नाट्यमिदं सम्यक्त्वया [1]सृष्टं महामते ।
यशस्यं च शुभार्थं च पुण्यं बुद्धिविवर्धनम् ॥ १२ ॥

हे महामते ! यह नाट्य प्रयोग आपने बहुत ही श्रेष्ठ निर्माण किया है जो यशःप्रदाता, शुभ अर्थों का साधक, पवित्र और बुद्धि का संवर्धक है ॥१२॥

मयापीदं स्मृतं नृत्यं[2] सन्ध्याकालेषु नृत्यता ।
नानाकरणसंयुक्तैरङ्गहारैर्विभूषितम् ॥ १३ ॥
पूर्वरङ्गविधावस्मिन् त्वया सम्यक्प्रयोज्यताम्[3] ।

सन्ध्या के समय नृत्य करते हुए जब मैंने नृत्य का निर्माण किया तब मैंने इसे (नृत्य को) अंगहारों[1] से—जो करणों से मिलकर निर्मित

---

१. अंगहार का अर्थ होता है शरीर का हलन चलन। आचार्य अभिनव-गुप्त ने अंगहार पद की व्याख्या इस प्रकार की है—"अंगानां देशान्तरे समुचिते

१. दृष्टं—ख० । २. नृत्तं—ग० । ३. प्रयुज्यताम्—ग० ।

होते हैं—युक्त करते हुए और भी सुन्दर बनाया है। तुम इन अंगहारों का 'नाटक' की पूर्वरंगविधि में प्रयोग करो ॥ १३ ॥

पूर्वरंग के दो प्रकार—

वर्धमानकयोगेषु[1] गीतेष्वासारितेषु च ॥ १४ ॥
महागीतेषु चैवार्थान् सम्यगेवाभिनेष्यसि ।
यश्चायं पूर्वरङ्गस्तु त्वया शुद्धः प्रयोजितः ॥ १५ ॥
[2]एभिर्विमिश्रितश्चायं चित्रो नाम भविष्यति ।

वर्धमानक, आसारित, गीत और महागीत (के योग या सम्बन्ध) की अवस्था में (इसके) भावों को ठीक प्रकार से अभिनय कर सकोगे। आपने जो पूर्वरंग प्रयुक्त किया वह शुद्ध पूर्वरंग है पर जब ये वर्धमानक आदि इसमें संसक्त होंगे तो इनके मिश्रण हो जाने से इस (पूर्वरंग) का 'चित्र पूर्वरङ्ग' नाम हो जाएगा ॥ १४–१६ ॥

अंगहार—

श्रुत्वा महेश्वरवचः प्रत्युक्तस्तु[3] स्वयंभुवा ॥ १६ ॥
प्रयोगमङ्गहाराणामाचक्ष्व सुरसत्तम ।
ततस्तण्डुं समाहूय प्रोक्तवान् भुवनेश्वरः[4] ॥ १७ ॥
प्रयोगमङ्गहाराणां आचक्ष्व[5] भरताय वै ।

महेश्वर के वचनों को सुन ब्रह्माजी बोले हे देवाधिदेव, आप 'अंगहारों' के विषय में बतलाइये।

प्रापणप्रकारोऽङ्गहारः। हरस्य चायं हारः प्रयोगः। अंगनिर्वर्त्यो हारोऽङ्गहारः (अभि० भार० Vol. I. पृ० ६१)। अर्थात् वह प्रधान नृत्यप्रकार जो संक्षिप्त (छोटे) करणों के द्वारा निष्पन्न होता हो, अङ्गहार है।

---

१. योगेन—घ० २. एतद्धि—क०। ३. प्रयुक्तश्च—ग०।
४. सुरसत्तमः—घ०। ५. भरतायोपदिश्यताम्—क०।

तब (त्रिभुवनाधिपति भगवान्) शिव ने तण्डु को बुलाकर कहा— 'भरतमुनि ' को अंगहारों का विधान बतला दीजिये ॥ १६–१७ ॥

ततो वै[1] तण्डुसम्प्रोक्तांस्त्वङ्गहारान् महात्मना ॥ १८ ॥
[2]नानाकरणसंयुक्तान् व्याख्यास्यामि सरेचकान् ।

तब (महामना) तण्डु के द्वारा मुझे जो करणों तथा रेचकों से युक्त अंगहार बतलाए गये अब मैं उनकी व्याख्या करूँगा ॥ १८–१९ ॥

स्थिरहस्तोऽङ्गहारस्तु तथा पर्यस्तकः स्मृतः ॥ १९ ॥
सूचीविद्धस्तथा चैव ह्यपविद्धस्तथैव च ।
आक्षिप्तकस्तु विज्ञेयस्तथा चोद्घट्टितस्स्मृतः ॥ २० ॥
विष्कम्भश्चैव सम्प्रोक्तस्तथा चैवापराजितः ।
विष्कम्भापसृतश्चैव मत्ताक्रीडस्तथैव च ॥ २१ ॥
स्वस्तिको रेचितश्चैव पार्श्वस्वस्तिक एव च ।
[3]वृश्चिकापसृतः प्रोक्तो [4]भ्रमरश्च तथापरः ॥ २२ ॥
मत्तस्खलितकश्चैव मदाद्विलसितस्तथा ।
गतिमण्डलको[5] ज्ञेयः परिच्छिन्नस्तथैव च ॥ २३ ॥
[6]परिवृत्तरेचितः स्यात्तथा वैशाखरेचितः ।
परावृत्तोऽथ विज्ञेयस्तथा चैवाप्यलातकः ॥ २४ ॥
पार्श्वच्छेदोऽथ सम्प्रोक्तो विद्युद्भ्रान्तस्तथैव च ।
ऊरूद्वृत्तस्तथा चैव स्यादालीढस्तथैव च ॥ २५ ॥
रेचितश्चापि विज्ञेयस्तथैवाच्छुरितः स्मृतः ।
आक्षिप्तरेचितश्चैव सम्भ्रान्तश्च तथापरः ॥ २६ ॥

---

१. ततो ये तण्डुना प्रोक्तास्त्वङ्गहारा महात्मना—ख०, घ० ।
२. तान्वः—घ० । ३. वृश्चिकश्चैव सम्प्रोक्तो—घ० ।
४. चमरश्च—ग० । ५. गतिमण्डलोऽथ—ग० ।
६. रेचितोऽथ—ग० ।

[1]अपसर्पस्तु विज्ञेयस्तथा चार्धनिकुट्टकः ।
द्वात्रिंशदेते सम्प्रोक्ता अंगहारास्तु नामतः ॥ २७ ॥

अंगहार[1] बत्तीस होते हैं :—(१) स्थिरहस्त, (२) पर्यस्तक, (३) सूचीविद्ध, (४) अपविद्ध, (५) आक्षिप्तक, (६) उद्घट्टित, (७) विष्कम्भ, (८) अपराजित, (९) विष्कम्भापसृत, (१०) मत्ताक्रीड, (११) स्वस्तिकरेचित, (१२) पार्श्वस्वस्तिक, (१३) वृश्चिकापसृत, (१४) भ्रमर, (१५) मत्तस्खलित, (१६) मदविलासित, (१७) गतिमण्डल, (१८) परिच्छिन्न, (१९) परिवृत्तरेचित, (२०) वैशाखरेचित, (२१) परावृत्त, (२२) अलातक, (२३) पार्श्वच्छेद (२४) विद्युद्भ्रान्त, (२५) ऊरूद्वृत्त, (२६) आलीढ, (२७) रेचित, (२८) आच्छुरित, (२९) आक्षिप्तरेचित, (३०) सम्भ्रान्त, (३१) अपसर्प (अपसर्पित) तथा (३२) अर्धनिकुट्टक ॥ १९–२७ ॥

अंगहारों की योजना—

एतेषां[2] तु प्रवक्ष्यामि प्रयोगं करणाश्रयम् ।
हस्तपादप्रचारश्च यथा योज्यः प्रयोक्तृभिः ॥ २८ ॥
अङ्गहारेषु वक्ष्यामि करणेषु[3] च वै द्विजाः ।
सर्वेषामङ्गहाराणां निष्पत्तिः [4]करणैर्यतः ॥ २९ ॥
[5]तान्यतः सम्प्रवक्ष्यामि नामत कर्मतस्तथाः ।

अब मैं इन अङ्गहारों[1] का करणों पर निर्भर रहने वाला प्रयोग (योजना) बतलाता हूँ; इसके अतिरिक्त (हे द्विजश्रेष्ठ मुनिगण आपको) यह भी बतलाता हूँ कि अंगहार तथा करणों में हस्त तथा पैरों की गतियाँ (हलन-चलन) किस प्रकार रखनी चाहिए ।

---

१. 'अंगहारों का विशेष वर्णन इसी अध्याय में आगे दिया जा रहा है ।

---

१. अपसर्पितोऽथ—ग० ।
२. एषाञ्चैव प्रवक्ष्यामि प्रयोगं करणाश्रितम्—ग०, घ० ।
३. तथाहं द्विजसत्तमाः—ग०, घ० । ४. करणैर्भवेत्—ग० ।
५. तान्यहं—ग० ।

सभी अंगहार करणों के द्वारा निष्पन्न होते हैं इसलिये (सर्वप्रथम) इन करणों के नाम (तथा उनके स्वरूप) बतलाता हूँ ॥ २८–३० ॥

[1]करण—

हस्तपादसमायोगो नृत्यस्य करणं भवेत् ॥ ३० ॥

द्वे नृत्तकरणे चैव भवतो नृत्तमातृका ।

द्वाभ्यां त्रिचतुराभिर्वाप्यङ्गहारस्तु मातृभिः ॥ ३१ ॥

त्रिभिः[1] कलापको ज्ञेयः चतुर्भिः मण्डकस्तथा[2] ।

पञ्चैव करणानि स्युः सङ्घातक इति स्मृतः ॥ ३२ ॥

षड्भिर्वा सप्तभिर्वापि अष्टभिर्नवभिस्तथा ।

करणैरिह संयुक्ता अङ्गहाराः प्रकीर्तिताः ॥ ३३ ॥

एतेषामिह[3] वक्ष्यामि हस्तपादविकल्पनम् ।

नृत्य में हस्त तथा पादों के मिलकर हलन चलन करने को 'करण'[2] कहते हैं। दो करणों (के संयोग) से एक मातृका बनती है और दो, तीन या चार मातृकाओं से एक अंगहार बनता है। तीन करणों के द्वारा एक कलापक तथा चार से एक मण्डल (षण्डक) बनता है और पाँच करणों से संघातक। इस प्रकार से अंगहार छः, सात, आठ, तथा नौ करणों के मेल से बनते हैं। अब इनके हाथ तथा पैरों की गति से बनने वाले स्वरूपों (भेदों) को बतलाता हूँ ॥ ३०–३४ ॥

तलपुष्पपुटं पूर्वं वर्त्तितं वलितोरु[4] च ॥ ३४ ॥

अपविद्धं समनखं लीनं स्वस्तिकरेचितम् ।

मण्डल-स्वस्तिकं चैव निकुट्टकमथापि च ॥ ३५ ॥

---

१. 'करण'—अंगभूतनृत्य प्रकारों के नाम ।

---

१. त्रिभिः कलापकञ्चैव—ख० । २. षण्डकं भवेत्—क० ।
३. एतेषामेव—ख० । ४. चलितोरु च—ग० ।

तथैवार्धनिकुट्टं च कटिच्छिन्नं तथैव च।
अर्धरेचितकं चैव वक्षःस्वस्तिकमेव ॥ ३६ ॥

उन्मत्तं स्वस्तिकं चैव पृष्ठस्वस्तिकमेव च।
दिक्स्वस्तिकमलातं च तथा चैव कटीसमम् ॥ ३७ ॥

आक्षिप्तरेचितं चैव विक्षिप्ताक्षिप्तकं तथा।
अर्धस्वस्तिकमुद्दिष्टमञ्चितं च तथापरम् ॥ ३८ ॥

भुजङ्गत्रासितं प्रोक्तम् ऊर्ध्वजानु तथैव च।
निकुञ्चितं च मत्तल्लि त्वर्धमत्तल्लि चैव हि ॥ ३९ ॥

स्याद्रेचकनिकुट्टं च तथा पादापविद्धकम्।
[1]वलितं घूर्णितं चैव ललितं च तथापरम् ॥ ४० ॥

दण्डपक्षं तथा चैव भुजङ्गत्रस्तरेचितम्।
नूपुरं चैव सम्प्रोक्तं तथा वैशाखरेचितम् ॥ ४१ ॥

भ्रमरं चतुरं चैव भुजङ्गाञ्चितमेव च।
दण्डरेचितकं चैव तथा [2]वृश्चिककुट्टितम् ॥ ४२ ॥

कटिभ्रान्तं तथा चैव लतावृश्चिकमेव च।
छिन्नं च करणं प्रोक्तं तथा वृश्चिकरेचितम्[3] ॥ ४३ ॥

वृश्चिकं व्यंसितं चैव तथा पार्श्वनिकुट्टकम्।
ललाटतिलकं क्रान्तं कुञ्चितं चक्रमण्डलम ॥ ४४ ॥

उरोमण्डलमाक्षिप्तं तथा तलविलासितम्।
अर्गलं चापि विक्षिप्तमावृत्तं दोलपादकम् ॥ ४५ ॥

विवृत्तं विनिवृत्तं च पार्श्वक्रान्तं निशुम्भितम्।
विद्युद्भ्रान्तमतिक्रान्तं विवर्तितकमेव च ॥ ४६ ॥

---

१. घूर्णितञ्चैव वलितं—ग०। २. वृश्चिककुट्टनम्—ख०।
३. पार्श्वनिकुट्टनम्—ग०

गजक्रीडितकं चैव तलसंस्फोटितं तथा ।
गरुडप्लुतकं चैव गण्डसूचि तथापरम् ॥ ४७ ॥
परिवृत्तं समुद्दिष्टं पार्श्वजानु तथैव च ।
[1]गृध्रावलीनिकं चैव सन्नतं सूच्यथापि च ॥ ४८ ॥
अर्धसूचीति करणं सूचीविद्धं तथैव च ।
अपक्रान्तं च सम्प्रोक्तं मयूरललितं तथा ॥ ४९ ॥
सर्पितं दण्डपादं च हरिणप्लुतमेव च ।
प्रेङ्खोलितं नितम्बं च स्खलितं करिहस्तकम् ॥ ५० ॥
[2]प्रसर्पितकमुद्दिष्टं सिंहविक्रीडितं तथा ।
सिंहाकर्षितमुद्वृत्तं [3]तथोपसृतमेव च ॥ ५१ ॥
[4]तलसङ्घट्टितं चैव जनितं चावहित्थकम् ।
[5]निवेशमेलकाक्रीडमूरूद्वृत्तं तथैव च ॥ ५२ ॥
मदस्खलितकं चैव विष्णुक्रान्तमथापि च ।
सम्भ्रान्तमथ विष्कम्भमुद्घट्टितमथापि च ॥ ५३ ॥
वृषभक्रीडितं चैव लोलितं च तथापरम् ।
नागापसर्पितं चैव शकटास्यं तथैव च ॥ ५४ ॥
[6]गङ्गावतरणं चैवेत्युक्तमष्टधिकं शतम् ।
अष्टोत्तरशतं ह्येतत्करणानां मयोदितम् ॥ ५५ ॥

करण[1] एक सौ आठ हैं—(१) तलपुष्पपुट, (२) वर्तित, (३) वलितोरु, (४) अपविद्ध, (५) समनख, (६) लीन, (७) स्वस्तिक-

---

१. 'करणों' का उपयोग सामान्य तथा विस्तृत रूप से नृत्य प्रयोग में तो किया ही जाता है, परन्तु कभी-कभी अभिनय के मध्य वचन वाले समय की पूर्ति (In the acting fill up its gaps) के लिये भी किया जाता है । इसके

---

१. गृद्धावलीनकं—ग० । २. सर्मापतं समुद्दिष्टम्—घ० ।
३. तथापसृत—घ० । ४. तलघट्टितकं—ख० ।
५. निवेशं मौलिकाक्रीडं—ग० । ६. रङ्गा—ख० ।

रेचित, (८) मण्डलस्वस्तिक, (९) निकुट्टक, (१०) अर्धनिकुट्ट, (११) कटिछिन्न, (१२) अर्धरेचित, (१३) वक्षः स्वस्तिक, (१४) उन्मत्त, (१५) स्वस्तिक, (१६) पृष्ठस्वस्तिक, (१७) दिक्स्वस्तिक, (१८) अलात, (१९) कटीसम, (२०) आक्षिप्तरेचित, (२१) विक्षिप्ताक्षिप्तक, (२२) अर्धस्वस्तिक, (२३) अञ्चित, (२४) भुजंगत्रासित, (२५) ऊर्ध्वजानु, (२६) निकुञ्चित, (२७) मत्तल्लि, (२८) अर्धमत्तल्लि, (२९) रेचकनिकुट्ट, (३०) पादापविद्धक, (३१) वलित, (३२) घूर्णित, (३३) ललित, (३४) दण्डपक्ष, (३५) भुजंगत्रस्तरेचित, (३६) नूपुर, (३७) वैशाखरेचित, (३८) भ्रमर, (३९) चतुर, (४०) भुजंगाचिंतक, (४१) दण्डरेचितक (दण्डकरेचित) (४२) वृश्चिककुट्टित, (४३) कटिभ्रान्त, (४४) लतावृश्चिक, (४५) छिन्न, (४६) वृश्चिकरेचित, (४७) वृश्चिक, (४८) व्यंसित, (४९) पार्श्वनिकुट्टकम् (५०) ललाटतिलक, (५१) क्रान्त (कान्त), (५२) कुंचित, (५३) चक्रमंडल, (५४) उरोमण्डल, (५५) आक्षिप्त (५६) तलविलासित, (५७) अर्गल, (५८) विक्षिप्त, (५९) आवृत्त, (६०) दोलपादक, (६१) विवृत्त, (६२) विनिवृत्त, (६३) पार्श्वक्रान्त, (६४) निशुम्भित, (६५) विद्युद्भ्रान्त, (६६) अतिक्रान्त, (६७) विवर्तितक, (६८) गजक्रीडित, (६९) तलसंस्फोटित, (७०) गरुड़प्लुतक, (७१) गण्डसूची, (७२) परिवृत्त, (७३) पार्श्वजानु, (७४) गृध्रावलीनक, (७५) सन्नत, (७६) सूची, (७७) अर्धसूची, (७८) सूचीविद्ध, (७९) अपक्रान्त, (८०) मयूरललित, (८१) सर्पित, (८२) दण्डपाद, (८३) हरिणप्लुत, (८४) प्रेंखोलित, (८५) नितम्ब, (८६) स्खलित, (८७) करिहस्तक, (८८) प्रसर्पितक, (८९) सिंहविक्रीडित, (९०) सिंहकर्षित, (९१) उद्वृत्त, (९२) उपसृत, (९३) तलसंघट्टित, (९४) जनित, (९५) अवहित्थक, (९६) निवेश, (९७) एलकाक्रीडित, (–क्रीड), (९८) उरूद्वृत्त, (९९) मदस्खलितक, (१००) विष्णुक्रान्त, (१०१) सम्भ्रान्त, (१०२) विष्कम्भ, (१०३) उद्घट्टित, (१०४)

अतिरिक्त आचार्य अभिनव गुप्त के मत में शस्त्रादि युद्ध बाहुयुद्ध तथा नृत्य सौष्ठव के लिये भी करणों का व्यवहार होता है (द्रष्ट०–अभिनव भारती I. पृ० ९४)

वृषभक्रीडित, (१०५) लोलितक, (१०६) नागापसर्पित, (१०७) शकटास्य, तथा (१०८) गंगावतरण। इस प्रकार मैंने १०८ करण बतलाए ॥३४–५५॥

करणों की योजना—

नृत्ते[1] युद्धे नियुद्धे च तथा गतिपरिक्रमे।
गतिप्रचारे वक्ष्यामि युद्धचारीविकल्पनम् ॥ ५६ ॥
यत्र तत्रापि संयोज्यमाचार्यैर्नाट्यशक्तितः।

इन करणों की नृत्य, युद्ध, बाहुयुद्ध तथा युद्ध के समय रखी जाने वाली पैरों की गति (चारी[1]) का गतिप्रचाराध्याय में वर्णन करूँगा। आचार्यगण इन करणों की योजना नाट्य की सामर्थ्य के अनुसार (जहाँ तक हो) उचित प्रकार से करें ॥ ५६–५७ ॥

प्रायेण करणे कार्यो वामो वक्षःस्थितः करः ॥ ५७ ॥
चरणस्यानुगश्चापि दक्षिणस्तु भवेत्करः।

(प्रायः) करण में बायाँहाथ छाती पर तथा दाहिना हाथ दाहिने चरण का अनुसर्त्ता (या दाहिने पैर की स्थिति के अनुसार) होना चाहिए ॥

हस्तपादप्रचारं तु कटिपार्श्वोरुसंयुतम् ॥ ५८ ॥
उरः पृष्ठोदरोपेतं वक्ष्यमाणं[2] निबोधत।

अब मैं आपको हाथपैरों की उन गतियों का—जो नृत्य में कटि, कोख, पिण्डलियाँ, वक्षःस्थल, पीठ तथा उदर से सम्बद्ध होकर रहती है—वर्णन करूँगा ॥ ५८–५९ ॥

यानि स्थानानि याश्चार्यो [3]नृत्तहस्तास्तथैव च ॥ ५९ ॥
सा मातृकेति विज्ञेया तद्योगात्करणं भवेत्।

स्थान, [1]चारियाँ तथा [2]नृत्तहस्त जो भी (पहिले या आगे) कहे गये

---

१. चारी का वर्णन नाट्यशास्त्र के ११ वें अध्याय में है।

२. नृत्तहस्त तथा हस्तों का वर्णन नाट्यशास्त्र के ९ वें अध्याय, स्थानों का वर्णन ११ वें में और मण्डलों का १२ वें अध्याय में है।

---

१. नृत्ये—क०। २. नृत्तमार्गे—ग०। ३. व्यायामे गदितानि वै—घ०

हैं—वे मातृकाएँ कहलाते हैं और इनके (संयोजन या) मिलने से 'करण' बनते हैं ॥ ५९–६० ॥

[कटीकर्णसमा[1] यत्र कोर्परांसशिरस्तथा ॥ ६० ॥
समुन्नतमुरश्चैव[2] सौष्ठवं नाम तद्भवेत् ।]

(जहाँ कमर तथा कान समान स्थिति वाले हों, मस्तक तथा बाजू भी ऐसे ही हों और छाती ऊँची उठाई जाए तो यह 'सौष्ठव' कहलाता है—(यह सौष्ठव) सभी करणों में सौन्दर्याधान की दृष्टि से संयोजित करना चाहिए) ॥ ६०–६१ ॥

करणों के लक्षण—

वामे पुष्पपुटः[3] पार्श्वे पादोऽग्रतलसञ्चरः ॥ ६१ ॥
तथा च सन्नतं पार्श्वं तलपुष्पपुटं भवेत् ।

बायीं ओर 'पुष्पपुट' हस्त तथा 'अग्रतलसंचर' पैर रखते हुए यदि कोख को सन्नत (नत, झुकी हुई) रखे तो 'तलपुष्पपुट' करण कहलाता है ॥६१–६२॥

कुञ्चितौ मणिबन्धे तु व्यावृत्तपरिवर्तितौ ॥ ६२ ॥
हस्तौ निपतितौ चोर्वोर्वर्तितं करणं तु तत् ।

यदि 'व्यावृत्त' तथा 'परिवर्तित' हस्तों को कलाई पर झुके हुए रखे और फिर हाथों को दोनों जंघाओं पर रख दे तो 'वर्तित' (या वर्तितक) करण कहलाता है ॥ ६२–६३ ॥

शुकतुण्डौ यदा हस्तौ व्यावृत्तपरिवर्तितौ ॥ ६३ ॥
ऊरू च वलितौ यस्मिन्वलितोरुकमुच्यते ।

यदि शुकतुण्ड मुद्रावाले हाथ व्यावृत्त और परिवर्तित हों और जघाएँ 'वलित' मुद्रा रखी जाए तो 'बलितोरू' करण कहलाता है ॥ ६३ ॥

---

१. करौ कर्णसमौ यत्र कर्पूराङ्गशिरस्तथा—ग०, कटिजानु समं यत्र कूर्परांसशिरस्तथा—घ० । २. मुखश्चैव—ग० ३. पुष्पपुटं—ग० ।

आवर्त्य[1] शुकतुण्डाख्यमूरुपृष्ठे निपातयेत् ॥ ६४ ॥
वामहस्तश्च वक्षःस्थो ह्यपविद्धं तु तद्भवेत् ।

यदि दाहिने हाथ को शुकतुण्ड (मुद्रा) में करते हुए दाहिनी जंघा पर रखा जाए और बायाँ हाथ वक्षःस्थल पर रहे तो 'अपविद्ध' करण कहलाता है ॥ ६४–६५ ॥

श्लिष्टौ समनखौ पादौ करौ चापि प्रलम्बितौ ॥ ६५ ॥
देहः स्वभाविको यत्र भवेत्समनखं तु तत् ।

यदि दोनों पैर समनख[1] अवस्था में एक दूसरे को छूते हुए रखे जाएँ, दोनों हाथों को लम्बे करते हुए नीचे की ओर हिलते हुए रखें और शरीर अपनी स्वभाविक अवस्था में रहे तो 'समनख' नामक करण होता है ॥ ६५–६६ ॥

पताकाञ्जलि वक्षःस्थं प्रसारितशिरोधरम् ॥ ६६ ॥
[2]निहञ्चितांसकूटं च तल्लीनं करणं स्मृतम् ।

यदि दो 'पताक' मुद्रा युक्त हाथों को वक्षःस्थल 'अंजलि' मुद्रा में रखें, गर्दन ऊँची (उठाई जाए) और कन्धे झुके हुए हों तो 'लीन' नामक करण होता है ॥ ६६–६७ ॥

स्वस्तिकौ रेचिताविद्धौ विश्लिष्टौ कटिसंश्रितौ[3] ॥ ६७ ॥
यत्र तत्करणं ज्ञेयं बुधैः स्वस्तिकरेचितम् ।

यदि 'रेचित' तथा 'आविद्ध' मुद्रा वाले हाथों को मिलाते हुए 'स्वस्तिक' बनाएँ फिर उन्हें हटा कर कटि पर रख लिया जाए तो 'स्वस्तिरेचित' करण होता है ॥ ६७–६८ ॥

स्वस्तिकौ तु करौ कृत्वा प्राङ्मुखोर्ध्वतलौ समौ ॥ ६८ ॥
तथा च मण्डलं स्थानं मण्डलस्वस्तिकं तु तत् ।

---

१. 'समनख' पाद का लक्षण नाटचशास्त्र में तथा अन्यत्र उपलब्ध नहीं है ।

---

१. आवृत्य—ग० । २. निकुञ्चितांसकूटं—ख० ।
३. संस्थितौ—घ० ।

यदि हाथों को संयुक्त कर (उन्हें) घुमाते हुए 'स्वस्तिक' मुद्रा में रखें—हाथों के तले सामने तथा ऊपर की ओर (सामान रूप से) घूमते हुए रखें और शरीर को मण्डल स्थान में रखें तो 'मण्डलस्वस्तिक' करण कहलाता है ॥ ६८–६९ ॥

निकुट्टितौ यदा हस्तौ स्वबाहुशिरसोऽन्तरे ॥ ६९ ॥
पादौ निकुट्टितौ चैव ज्ञेयं तत्तु निकुट्टकम् ।

यदि भुजा और मस्तक के बीच हाथों को [1]'निकुट्टित' हथा पैरों को भी 'निकुट्टित' दशा में रखे तो 'निकुट्टक' करण कहलाता है ॥॥६९–७०॥

अञ्चितौ बाहुशिरसि[1] हस्तस्त्वभिमुखाङ्गुलिः ॥ ७० ॥
निकुञ्चितार्धयोगेन भवेदर्धनिकुट्टकम् ।

यदि अञ्चित (अलपल्लव[2] मुद्रा वाले) हाथों को (बाहु के) सामने की ओर करें तथा पिंडलियों को ऊपर और नीचे की ओर झुकाएँ तो 'अर्धनिकुट्टक' करण कहलाता है ॥ ७०–७१ ॥

पर्यायशः कटिश्छिन्ना बाहू शिरसि पल्लवौ ॥ ७१ ॥
पुनःपुनश्च करणं कटिच्छिन्नं तु तद्भवेत् ।

यदि 'कटि' क्रमशः 'छिन्न' मुद्रा में और दोनों हाथ क्रमशः 'पल्लव' मुद्रा में मस्तक पर रखे जाएँ । और यह (विधान) बार-बार करें तो इसे 'कटिच्छिन्न' करण कहते हैं ॥ ७१–७२ ॥

अपविद्धकरः सूच्या पादश्चैव निकुट्टितः ॥ ७२ ॥
सन्नतं यत्र पार्श्वं च तद्भवेदर्धरेचितम् ।

---

१. भरताचार्य के अतिरिक्त 'निकुट्टक' या 'निकुट्टन' का कोहल प्रणीत लक्षण भी अ० भा० में दिया है—यथा—'उन्नमनं विवलनं स्यादंगस्य निकुट्टनम्' (अर्थः—अवयवों को ऊपर तथा नीचे की ओर ले जाना 'निकुट्टन' कहलाता है ।)

२. 'अंचित' का अभिनवगुप्ताचार्य ने अलपल्लवमुद्रायुक्त अर्थ किया है । यहाँ तदनुसार ही अर्थ दिया गया है ।

---

१. बाहुशिरसी—घ० ।

तलपुष्पपुटम् ।



(पृ० ९४, श्लो० ६१)

वर्तितम् ।



(पृ० ९४, श्लो० ६२)

वलितोरुकम् ।



(पृ० ९४, श्लो० ६३)

अपविद्धम् ।



(पृ० ९५, श्लो० ६४)

समनखम् ।



(पृ० ९५, श्लो० ६५)

लीनम् ।



(पृ० ९५, श्लो० ६६)

स्वस्तिकरेचितम् ।



(पृ० ९५, श्लो० ६७)

मण्डलस्वस्तिकम् ।



(पृ० ९५, श्लो० ६८)

कटिच्छिन्नम ।



(पृ० ९६, श्लो० ७१)

अर्द्धरेचितम् ।



(पृ० ९६, श्लो० ७२)

वक्षःस्वस्तिकम् ।



(पृ० ९७, श्लो० ७३)

उन्मत्तकम् ।



(पृ० ९७, श्लो० ७४)

स्वस्तिकम् ।



(पृ० ९७, श्लो० ७५)

पृष्ठस्वस्तिकम् ।



(पृ० ९७, श्लो० ७६)

दिक्स्वस्तिकम् ।



(पृ० ९७, श्लो० ७७)

अलातकम् ।



(पृ० ९८, श्लो० ७८)

कटीसमम् ।



(पृ० ९८, श्लो० ७९)

आक्षिप्तरेचितम् ।



(पृ० ९८, श्लो० ८०)

विक्षिप्ताक्षिप्तकम् ।



(पृ० ९८, श्लो० ८१)

अर्धस्वस्तिकम् ।



(पृ० ९८, श्लो० ८२)

अञ्चितम् ।



(पृ० ९९, श्लो० ८३)

भुजङ्गत्रासितम् ।



(पृ० ९९, श्लो० ८४)

ऊर्ध्वजानु ।



(पृ० ९९, श्लो० ८५)

निकुञ्चितम् ।



(पृ० ९९, श्लो० ८६)

मत्तल्लि ।



(पृ० ९९, श्लो० ८७)

अर्धमत्तल्लि ।



(पृ० १००, श्लो० ८८)

रेचितनिकुट्टितम् ।



(पृ० १००, श्लो० ८९)

पादापविद्धकम् ।



(पृ० १००, श्लो० ९०)

वलितम् ।



(पृ० १००, श्लो० ९१)

घूर्णितम् ।



(पृ० १००, श्लो० ९२)

ललितम् ।



(पृ० १०१, श्लो० ९३)

दण्डपक्षम् ।



(पृ० १०१, श्लो० ९४)

भुजङ्गत्रस्तरेचितम् ।



(पृ० १०१, श्लो० ९५)

नूपुरम् ।



(पृ० १०१, श्लो० ९६)

वैशाखरेचितम् ।



(पृ० १०१, श्लो० ९७)

भ्रमरकम् ।



(पृ० १०२, श्लो० ९८)

चतुरम् ।



(पृ० १०२, श्लो० ९९)

भुजङ्गाञ्चितकम् ।



(पृ० १०२, श्लो० १००)

दण्डकरेचितम् ।



(पृ० १०२, श्लो० १०१)

वृश्चिककुट्टितम् ।



(पृ० १०२, श्लो० १०२)

कटिभ्रान्तम् ।



(पृ० १०३, श्लो० १०३)

लतावृश्चिकम् ।



(पृ० १०३, श्लो० १०४)

छिन्नम् ।



(पृ० १०३, श्लो० १०५)

वृश्चिकरेचितम् ।



(पृ० १०३; श्लो० १०६)

वृश्चिकम् ।



(पृ० १०३, श्लो० १०७)

व्यंसितम् ।



(पृ० १०४, श्लो० १०८)

पार्श्वनिकुट्टकम् ।



(पृ० १०४, श्लो० १०९)

ललाटतिलकम् ।



(पृ० १०४, श्लो० ११०)

क्रान्तकम् ।



(पृ० १०४, श्लो० १११)

चक्रमण्डलम् ।



(पृ० १०५, श्लो० ११३)

आक्षिप्तम् ।



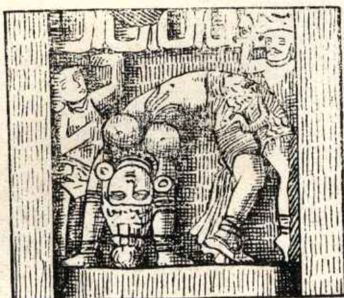
(पृ० १०५, श्लो० ११५)

तलविलासितम् ।



(पृ० १०५, श्लो० ११६)

अर्गलम् ।



(पृ० १०५, श्लो० ११७)

विक्षिप्तम् ।



(पृ० १०६, श्लो० ११८)

आवर्तम् ।



(पृ० १०६, श्लो० ११९)

दोलापादम् ।



(पृ० १०६, श्लो० १२०)

विवृत्तम् ।



(पृ० १०६, श्लो० १२१)

पार्श्वक्रान्तम् ।



(पृ० १०६, श्लो० १२३)

विद्युद्भ्रान्तम् ।



(पृ० १०७, श्लो० १२५)

अतिक्रान्तम् ।



(पृ० १०७, श्लो० १२६)

विवर्तितकम् ।



(पृ० १०७, श्लो० १२७)

गजक्रीडितकम् ।



(पृ० १०७, श्लो० १२८)

तलसंस्फोटितम् ।



(पृ० १०८, श्लो० १२९)

गण्डसूची ।



(पृं० १०८, श्लो० १३१)

पार्श्वजानु ।



(पृ० १०८, श्लो० १३३)

गृध्रावलीनकम् ।



(पृ० १०९, श्लो० १३४)

सन्नतम् ।



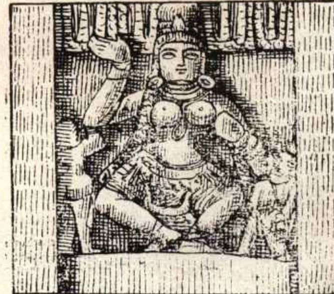
(पृ० १०९, श्लो० १३५)

सूची ।



(पृ० १०९, श्लो० १३६)

अर्धसूची ।



(पृ० १०९, श्लो० १३७)

सूचीविद्धम् ।



(पृ० १०९, श्लो० १३८)

अपक्रान्तम् ।



(पृ० ११०, श्लो० १३९)

मयूरललितम् ।



(पृ० ११०, श्लो० १४०)

सर्पितम् ।



(पृ० ११०, श्लो० १४१)

हरिणप्लुतम् ।



(पृ० ११०, श्लो० १४३)

प्रेङ्खोलितम ।



(पृ० १११, श्लो० १४४)

नितम्बम् ।



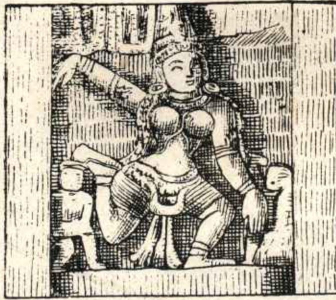
(पृ० १११, श्लो० १४५)

करिहस्तम् ।



(पृ० १११, श्लो० १४७)

सिंहाकर्षितकम् ।



(पृ० ११२, श्लो० १५०)

उद्वृत्तम् ।



(पृ० ११२, श्लो० १५१)

उपसृतकम् ।



(पृ० ११२, श्लो० १५२)

अवहित्थकम् ।



(पृ० ११३, श्लो० १५५)

एलकाक्रीडितम् ।



(पृ० ११३, श्लो० १५७)

ऊरूद्वृत्तम् ।



(पृ० ११३, श्लो० १५८)

मदस्खलितकम् ।



(पृ० ११४, श्लो० १५९)

विष्णुक्रान्तम् ।



(पृ० ११४, श्लो० १६०)

विष्कम्भम् ।



(पृ० ११४, श्लो० १६२)

उद्वृत्तितम् ।



(पृ० ११४, श्लो० १६३)

वृषभक्रीडितम् ।



(पृ० ११५, श्लो० १६४)

लोलितम् ।



(पृ० ११५, श्लो० १६५)

नागापसर्पितम् ।



(पृ० ११५, श्लो० १६६)

शकटास्यम् ।



(पृ० ११५, श्लो० १६७)

गङ्गावतरणम् ।



(पृ० ११६, श्लो० १६८)



[फलक १–१६, पुरातत्त्वविभाग, भारतसरकार के सौजन्य से

यदि हाथ [1]'सूचीमुखं' मुद्रा में यथेच्छ डोलाए, पैरों को क्रमशः ऊपर नीचे हिलता हुआ (गतिशील) और कोख को 'तन' मुद्रा में रखे तो 'अर्धरेचित' करण कहलाता है ॥ ७२-७३ ॥

स्वस्तिकौ चरणौ यत्र करौ वक्षस्थ[1]-रेचितौ ॥ ७३ ॥
निकुञ्चितं तथा वक्षो वक्षस्स्वस्तिकमेव तत् ।

यदि दोनों पैर परस्पर 'स्वस्तिक' दशा में रखे। दोनों हाथ 'रेचित' करते हुए उन्हें 'वक्षःस्थल' तक (झुकाते हुए) लाए, फिर वक्षःस्थल भी झुकाले तो (यह) 'वक्षःस्वस्तिक' करण कहलाता है ॥ ७३-७४ ॥

अञ्चितेन तु पादेन रेचितौ तु करौ यदा ॥ ७४ ॥
उन्मत्तं करणं तत्तु विज्ञेयं [2]नृत्तकोविदैः ।

यदि (दोनों) पैर अंचित और (दोनों) हाथ 'रेचित' दशा में हों तो नृत्यशास्त्र के विज्ञाता इसे 'उन्मत्त' करण कहते है ॥ ७४-७५ ॥

हस्ताभ्यामथ[3] पादाभ्यां भवतः स्वस्तिकौ यदा ॥ ७५ ॥
तत्स्वस्तिकमिति प्रोक्तं करणं करणार्थिभिः ।

यदि दोनों हाथ और पैर 'स्वस्तिक' मुद्रा में हों तो करण के अभिनेता इने 'स्वस्तिक' करण जाने ॥ ७५-७६ ॥

विक्षिप्ताक्षिप्तबाहुभ्यां स्वस्तिकौ चरणौ यदा ॥ ७६ ॥
अपक्रान्तार्धसूचिभ्यां तत् पृष्ठस्वस्तिकं भवेत् ।

यदि दोनों बाहु ऊपर (विक्षेप) तथा नीचे की ओर झटके के साथ (आक्षेप) 'स्वस्तिक' मुद्रा में किये जाएँ, तथा दोनों पैर 'अपक्रान्ता' और 'अर्धसूची' चारियों के साथ 'स्वस्तिक' बनाएँ तो वह 'पृष्ठस्वस्तिक' करण कहलाता है ॥ ७६-७७ ॥

पार्श्वयोरग्रतश्चैव यत्र [4]श्लिष्टः करो भवेत् ॥ ७७ ॥
स्वस्तिकौ हस्तपादाभ्यां तद्दिक्स्वस्तिकमुच्यते ।

---

१. 'अपविद्ध' का अभिनवगुप्त द्वारा किया हुआ अर्थ 'सूचीमुख' है।

---

१. वक्षसि—घ० । २. नटयकोविदैः—क; नृत्यकोविदैः—ख० ।
३. उभाभ्यां हस्तपादाभ्यां—घ० ।
४. श्लिष्टकृतो—क; श्लिष्टः कृतो—ग; श्लिष्टः गतो—घ० ।

यदि कोख तथा सामने की ओर स्पर्शकर घूमते हुए दोनों हाथ-पैर 'स्वस्तिक' मुद्रा में रहें तो 'दिक्स्वस्तिक' करण कहलाता है ॥ ७७–७८ ॥

अलातं चरणं कृत्वा व्यंसयेद्दक्षिणं करम् ॥ ७८ ॥

[1]ऊर्ध्वजानुक्रमश्चैव अलातकमिति स्मृतम् ।

यदि 'आलात' चारी करते हुए सीधे हाथ को कन्धे के बराबर से नीचे उतारे, फिर 'ऊर्ध्वजानु' चारी को (क्रमशः दोनों-हाथ पैरों से) सम्पादित करे तो 'आलात' करण कहलाता है ॥ ७८–७९ ॥

स्वस्तिकापसृतः पादः करौ नाभिकटिस्थितौ ॥ ७९ ॥

पार्श्वमुद्वाहितं चैव करणं तत्कटीसमम् ।

यदि पैर 'स्वस्तिक' करण के पश्चात् पृथक् रखे, दोनों हाथ नाभि तथा कटि पर रखे और कोख 'उद्वाहित' चेष्टा में रखे हो तो 'कटीसम' करण कहलाता है ॥ ७९–८० ॥

हस्तो हृदि भवेद्वामः सव्यश्चाक्षिप्तरेचितः ॥ ८० ॥

रेचितश्चापविद्धश्च तत् स्यादाक्षिप्तरेचितम् ।

यदि बायाँ हाथ हृदय पर और सीधा 'रेचित' मुद्रा युक्त कर ऊपर तथा कोनों में उछाला जाए । फिर दोनों हाथ 'रेचित' तथा 'अपविद्ध' (चक्राकार) मुद्रा में रखे तो 'आक्षिप्तरेचित' करण कहलाता है ॥ ८०–८१ ॥

विक्षिप्तं हस्तपादन्तु तस्यैवाक्षेपणं पुनः ॥ ८१ ॥

यत्र तत्करणं ज्ञेयं विक्षिप्ताक्षिप्तकं द्विजाः ।

यदि हाथ और पैर ऊपर उछाले जाएँ (विक्षिप्त) तथा फिर उन्हें नीचे पटका जाए (आक्षिप्त) तो हे मुनियों ! 'विक्षिप्ताक्षिप्तक' करण कहलाता है ॥ ८१–८२ ॥

स्वस्तिकौ चरणौ कृत्वा करिहस्तश्च दक्षिणम् ॥ ८२ ॥

वक्षःस्थाने तथा वाममर्धस्वस्तिकमादिशेत् ।

यदि दोनों पैर 'स्वस्तिक', सीधा हाथ 'करिहस्त' (मुद्रा में) और बायाँ हाथ वक्षःस्थल पर (कटकामुख मुद्रा में) स्थित रहे तो 'अर्ध-स्वस्तिक' करण कहलाता है ।

---

१. ऊर्ध्वजानुक्रमं कुर्याद्—ख० ।

व्यावृत्तपरिवृत्तस्तु स एव तु करो यदा ॥ ८३ ॥
अञ्चितो नासिकाग्रे तु तदञ्चितमुदाहृतम् ।

यदि 'अर्धस्वस्तिक' करण की अवस्था में 'करिहस्त' मुद्रा वाला हाथ क्रमशः व्यावृत्त (चक्राकार घुमाव में) तथा परिवृत्त (दूसरी ओर घुमाते हुए) रखा जाए और फिर उसे 'नासिका' के अग्रभाग की ओर झुका लिया जाए तो 'अंचित' करण कहलाता है ॥ ८३–८४ ॥

कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य त्र्यस्रमुरुं विवर्तयेत् ॥ ८४ ॥
कटिजानु विवृत्तं[1] च भुजङ्गत्रासितं भवेत् ।

यदि 'कुंचित' मुद्रा के पैरों को ऊपर उछाला जाए, उसको तिरछा घुमा दिया जाय और कटि और जंघा भी उसी क्रम से घुमाव लें तो 'भुजंगत्रासित' करण होता है ॥ ८४–८५ ॥

कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य जानुमूर्ध्वं[2] प्रसारयेत् ॥ ८५ ॥
प्रयोगवशगौ हस्तावूर्ध्वजानु प्रकीर्तितम् ।

यदि 'कुंचित' पाद को ऊपर उछाला जाए, जानु (घुटने) को ऊपर की ओर (छाती के बराबर) फैलाया जाए तथा दोनों हाथ नृत्य के प्रयोग के (ताल, नाद आदि के) अनुकूल रखे जाएँ तो 'उर्ध्वजानु' करण होता है ॥ ८५–८६ ॥

करणं वृश्चिकं कृत्वा करं पार्श्वे निकुञ्चयेत् ॥ ८६ ॥
नासाग्रे दक्षिणं चैव ज्ञेयं तद्धि निकुञ्चितम् ।

यदि 'वृश्चिक' करण में पैरों को रखकर हाथ को कोख की ओर झुका ले (या सिकुड़ा ले) तथा सीधे हाथ को नाक की नोक के अग्रभाग पर झुका कर रखे तो 'निकुंचित' करण होता है ॥ ८६–८७ ॥

वामदक्षिणपादाभ्यां घूर्णमानोपसर्पणैः ॥ ८७ ॥
उद्वेष्टितापविद्धैश्च हस्तैर्मत्तल्ल्युदाहृतम् ।

यदि बाएँ तथा सीधे पैरों के द्वारा एक चक्करदार घुमाव लेकर फिर उसे पृथ्वी पर पटका जाए, दोनों नृत्य करते हुए हाथ उद्वेष्टित और अपविद्ध

---

१. कटिजानू विवर्त्तौ च—ख०; कटिजानु निवृत्तौ च—घ० ।
२. जानुस्तनसमं न्यसेत्—ख०; जानुहस्तं समं न्यसेत्—घ० ।

गति (हलचल) को प्रदर्शित करें तो वह 'मत्तल्ली' करण कहलाता है ॥ ८७-८८ ॥

स्खलितापसृतौ पादौ वामहस्तश्च रेचितः ॥ ८८ ॥
सव्यहस्तः कटिस्थः स्यादर्धमत्तल्लि तत्स्मृतम्[1] ।

यदि पैरों को 'स्खलित' करण में पीछे की ओर हटा लिया जाए, बाएँ हाथ को 'रेचित' करे और दाहिना हाथ कटि पर रख ले तो 'अर्द्धमत्तली' करण होता है ।

रेचितो[2] दक्षिणो हस्तः पादः सव्यो निकुट्टितः ॥ ८९ ॥
दोला चैव भवेद्वामस्तद्रेचितनिकुट्टितम्[3] ।

यदि सीधा हाथ 'रेचित', दाहिना पैर उद्घट्टित और बायाँ हाथ 'दोला' मुद्रा में रखा जाए तो 'रेचित-निकुट्टित' करण कहलाता है ॥ ८९-९० ॥

कार्यौ नाभितटे हस्तौ प्राङ्मुखौ खटकामुखौ ॥ ९० ॥
सूचीविद्धावपक्रान्तौ पादौ पादापविद्धके ।

यदि दोनों हाथ 'कटकामुख' मुद्रा में नाभी के समीप हथेलियों को सामने की ओर करते हुए रखे जाएँ और दोनों पैर 'सूची' (सूचीविद्ध) तथा 'अपक्रान्ता' चारी से युक्त हों तो 'पादापविद्धक' करण कहलाता है ॥९०-९१॥

अपविद्धो भवेद्धस्तः सूचीपादस्तथैव च ॥ ९१ ॥
तथा त्रिकं विवृत्तं च वलितं नाम तद्भवेत् ।

यदि हाथ 'अपविद्ध' मुद्रा में, पैर 'सूची' चारी में (तथा 'भ्रांमरी' चारी में) और त्रिक (अपने अधोभाग सहित पीठ के भाग) को घुमा दिया जाय तो 'वलित' करण हो जाता है ॥ ९१-९२ ॥

[4]वर्तिताघूर्णितः सव्यो हस्तो वामश्च दोलितः ॥ ९२ ॥
स्वस्तिकापसृतः पादः करणं घूर्णितं तु[5] तत् ।

यदि दाहिना हाथ 'वलित' (करिहस्त) मुद्रा में घुमाया जाए और

---

१. मत्तल्लिमादिशेत्—ग० । २. कुञ्चितो—क० ।
३. रेचकनिकुट्टितम्—ग० । ४. वर्तितो घूर्णितः—घ० ।
५. हि तत्—क० ।

बायाँ हाथ 'दोला' मुद्रा में घुमाए, दोनों पैर 'स्वस्तिक' दशा में रखकर परस्पर एक दूसरे से दूर (अपसृत) कर लिये जाएँ तो 'घूर्णित' नामक करण कहलाता है ॥ ९२-९३ ॥

करिहस्तो भवेद्वामो [1]दक्षिणश्चापवर्तितः ॥ ९३ ॥
बहुशः कुट्टितः पादो ज्ञेयं तल्ललितं बुधैः ।

यदि बायाँ हाथ 'करिहस्त' मुद्रा में और सीधा हाथ अपवर्तित (दशा) में एक ओर घुमाया जाए और दोनों पैर ऊपर नीचे कई बार पटके जाएँ तो 'ललित' करण जानना चाहिये ॥ ९३-९४ ॥

[2]ऊर्ध्वजानु विधायाथ तस्योपरि लतां न्यसेत् ॥ ९४ ॥
दण्डपक्षं तु तत्प्रोक्तं करणं नृत्तवेदिभिः ।

यदि 'ऊर्ध्वजानु' चारी को प्रदर्शित कर दोनों 'लता' मुद्राओं वाले हाथों को घुटने पर रखे तो नृत्तवेत्ताजन इस करण को 'दण्डपक्ष' कहते हैं ॥ ९४-९५ ॥

भुजङ्गत्रासितं कृत्वा यत्रोभावपि रेचितो ॥ ९५ ॥
वामपार्श्वस्थितौ हस्तौ भुजङ्गत्रस्तरेचितम् ।

यदि 'भुजंगत्रासित' चारी को प्रदर्शित कर दोनों हाथों को 'रेचित' मुद्रा में रख उन्हें बाएँ कोख की ओर मोड़ ले तो इस करण को 'भुजंग-त्रस्तरेचित' कहते हैं ॥ ९५-९६ ॥

त्रिकं सुवलितं कृत्वा लतारेचितकौ करौ ॥ ९६ ॥
नूपुरश्च[3] तथा पादः करणे नूपुरे न्यसेत् ।

यदि 'त्रिक' को आकर्षक पद्धति से ('भ्रमरी चारी' की दशा में) घुमाया जाए, दोनों हाथ 'लता' तथा 'रेचित' मुद्रा से युक्त हों और पैरों द्वारा 'नूपुरपादचारी' का प्रदर्शन हो तो उसे 'नूपुर' करण कहते हैं ॥९६-२७॥

रेचितौ हस्तपादौ च [4]कटी ग्रीवा च रेचिता ॥ ९७ ॥
वैशाखस्थानकेनैतद्भवेद्वैशाखरेचितम् ।

यदि हाथ और पैर 'रेचित' मुद्रा में तथा इसी प्रकार कटि और ग्रीवा

---

१. दक्षिणश्च विवर्तितः—घ० । २. ऊर्ध्वं जानु निधायाथ—ग० ।
३. नूपुरं च तथा पादं—घ० । ४. कटिग्रीवौ च रेचितौ—घ० ।

भी रेचित दशा में हो एवं शेष (सम्पूर्ण) अंग 'वैशाखस्थान में रहें तो इस करण को 'वैशाखरेचित' कहते है ॥ ९७–९८ ॥

आक्षिप्तः स्वस्तिकः पादः करौ चोद्वेष्टितौ तथा ॥ ९८ ॥
त्रिकस्य वलनाच्चैव[1] ज्ञेयं भ्रमरकं तु तत् ।

यदि 'स्वस्तिक' पादों को 'आक्षिप्त' चारी में रखकर हाथों को 'उद्वेष्टित' अवस्था में रखें (चक्राकार घुमाते हुए) और त्रिक को चारों ओर (भ्रमरी चारी के अनुसार) घुमाए तो 'भ्रमरक' करण हो जाता है ॥९८-९९॥

अञ्चितः स्यात्करो वामः सव्यश्चतुर एव च ॥ ९९ ॥
दक्षिणः कुट्टितः पादः चतुरं तत् प्रकीर्तितम् ।

यदि बायाँ हाथ 'अंचित' मुद्रा में, दायाँ हाथ 'चतुर' में और दायाँ पैर 'कुट्टित' (उद्घट्टित) मुद्रा में हों तो 'चतुर' करण हो जाता है ॥

भुजङ्गत्रासितः पादो दक्षिणो रेचितः करः ॥ १०० ॥
लताख्यश्च करो वामो भुजङ्गाञ्चितकं भवेत् ।

यदि पैर 'भुजंगत्रासित' चारी में, दाहिना हाथ 'रेचित' मुद्रा में तथा बायाँ हाथ 'लता' मुद्रा में रहे तो 'भुजंगाञ्चित' (नामक) करण होता है ॥

विक्षिप्तं हस्तपादं तु समन्ताद्यत्र दण्डवत् ॥ १०१ ॥
रेच्यते तद्धि करणं ज्ञेयं दण्डकरेचितम् ।

यदि हाथ और पैरों को सीधे दण्ड के समान चारों ओर झटके से सीधा करे फिर हाथ और पैरों को 'रेचित' मुद्रा में रख ले तो 'दण्डक-रेचितक' करण कहलाता है ॥ १०१–१०२ ॥

वृश्चिकं चरणं[2] कृत्वा द्वावप्यथ निकुट्टितौ ॥ १०२ ॥
विधातव्यौ करौ तत्तु[3] ज्ञेयं वृश्चिककुट्टितम् ।

यदि 'वृश्चिक' करण प्रदर्शित कर दोनों हाथों को 'निकुट्टित' (क्रिया से सम्पन्न) करे तो 'वृश्चिक-कुट्टित' करण होता है ॥ १०२–१०३ ॥

---

१. वलनं चैव—ख० । २. करणं—क० । ३. तद्धि—ग० ।

सूचीं [1]कृत्वापविद्धं च दक्षिणं चरणं न्यसेत् ॥ १०३ ॥
रेचिता च कटिर्यत्र कटिभ्रान्तं तदुच्यते ।

यदि पैर 'सूची' चारी में करके बायाँ पैर 'अपविद्ध' मुद्रा में रखे तथा कटि 'रेचित' (चारों ओर घूमती हुई) रखी जाय तो 'कटिभ्रान्त' करण कहलाता है ॥ १०३–१०४ ॥

अञ्चितः पृष्ठतः पादः कुञ्चितोर्ध्वतलाङ्गुलिः ॥ १०४ ॥
लताख्यश्च करो वामस्तल्लतावृश्चिकं भवेत् ।

यदि एक पैर 'अंचित' मुद्रा में पीछे की ओर घुमाया रखा जाए तथा बायाँ हाथ 'लता' मुद्रा से युक्त हो और उसका पंजा और अंगुलियाँ सिकुड़ी हुई और ऊपर की ओर रखी जाएँ तो वह 'लतावृश्चिक' करण होता है ॥ १०४–१०५ ॥

अलपद्मः कटीदेशे छिन्ना पर्यायशः कटी ॥ १०५ ॥
वैशाखस्थानकेनेह तच्छिन्नं करणं भवेत् ।

यदि 'अलपद्म' मुद्रावाले हाथ कटि पर रखे जाएँ, कटि 'च्छिन्न' मुद्रा में रहे और क्रमशः इस मुद्रा में स्थित नर्तक शेष अंगको 'वैशाखस्थान' में रखे तो 'छिन्न' करण कहलाता है ॥ १०५–१०६ ॥

वृश्चिकं चरणं कृत्वा स्वस्तिकौ च करावुभौ ॥ १०६ ॥
रेचितौ[2] विप्रकीर्णौ च करौ वृश्चिकरेचितम् ।

यदि 'वृश्चिक' चरण को प्रदर्शित कर दोनों हाथों को 'स्वस्तिक' मुद्रा में रख कर 'रेचित' और विप्रकीर्ण करे तो वह करण 'वृश्चिकरेचित' कहलाता है ॥ १०६–१०७ ॥

बाहुशीर्षाञ्चितौ हस्तौ पादः पृष्ठाञ्चितस्तथा ॥ १०७ ॥
दूरसन्नतपृष्ठं च वृश्चिकं तत्पकीर्तितम् ।

यदि दोनों हाथ झुके हुए और कन्धों पर रखें हो, पैर झुका हुआ और

---

१. दत्वाप—ख० । २. रेचितापसृतौ चैव—ग०, घ० ।

पीठ के पीछे की ओर घूमते हुए रखा जाए और पीठ 'नत' (झुकी हुई) मुद्रा में हो तो उस करुण को 'वृश्चिक' कहते हैं ॥ १०७–१०८ ॥

आलीढस्थानके[1] यत्र करौ वक्षसि रेचितौ ॥ १०८ ॥
ऊर्ध्वाधोविप्रकीर्णौ च व्यंसितं[2] करणं तु तत् ।

यदि 'आलीढस्थान' के प्रदर्शन के साथ दोनों हाथों को वक्षस्थल पर 'रेचित' मुद्रा में रखे जो ऊपर और नीचे की ओर हिलते हुए ('विप्रकीर्ण' मुद्रा में) रहें तो वह करण 'व्यंसित' कहलाता है ॥ १०८–१०९ ॥

हस्तौ तु स्वस्तिकौ पार्श्वे तथा पादो निकुट्टितः ॥ १०९ ॥
यत्र तत्करणं ज्ञेयं बुधैः पार्श्वनिकुट्टितम्[3] ।

यदि 'स्वस्तिक' मुद्रावाले दोनों हाथ दोनों बाजू (कोख में) रखे जाएँ एवं पैर 'निकुट्टित' हो तो बुधजन उसे 'पार्श्वनिकुट्टित' जाने ॥ १०९–११० ॥

वृश्चिकं चरणं कृत्वा पादस्याङ्गुष्ठकेन तु ॥ ११० ॥
ललाटे तिलकं कुर्याल्ललाटतिलकन्तु तत् ।

यदि 'वृश्चिक' चरण के प्रदर्शन के बाद पैर के अंगूठे को ललाट तक ले जाकर उससे तिलक अंकित करने का भाव प्रदर्शित करे तो उसे 'ललाटतिलक' करण जानों ॥ ११०–१११ ॥

पृष्ठतः कुञ्चितं कृत्वा व्यतिक्रान्तक्रमं[4] ततः ॥ १११ ॥
आक्षिप्तौ च करौ कार्यौ क्रान्तके करणे द्विजाः ।

यदि एक पैर को 'कुंचित' कर पीछे की ओर तथा 'अतिक्रान्ता' चारी में चारों ओर घुमाते हुए रखे और दोनों हाथों को नीचे की ओर पटके (आक्षिप्त) (या झटके से फेंकें) तो वह करण 'क्रान्तक' कहलाता है ॥ १११–११२ ॥

आद्यः पादो[5] नतः कार्यः सव्यहस्तश्च कुञ्चितः ॥ ११२ ॥
उत्तानो वामपार्श्वस्थ[6]स्तत्कुञ्चितमुदाहृतम् ।

यदि पैर को पहले झुकाकर 'अंचित' मुद्रा में दाहिने हाथ को कुंचित

---

१. आलीढं स्थानकं—ख० । २. तद्विदुर्बुधाः—घ० ।
३. निकुट्टकम्—घ० । ४. कुर्यादतिक्रान्तं समन्ततः—ग० ।
५. पादोऽञ्चितः—ग० । ६. पार्श्वश्च—घ० ।

रखे जो बायीं कोख पर ऊपर की ओर पंजे वाला होकर रखा जाय तो वह 'कुंचित' करण कहलाता है ॥ ११२-११३ ॥

प्रलम्बिताभ्यां बाहुभ्यां यद्गात्रेणानतेन च ॥ ११३ ॥
अभ्यन्तरापविद्धः[1] स्यात्तज्ज्ञेयं चक्रमण्डलम् ।

यदि अपविद्ध (अड्डिता) चारी के अन्दर शरीर को झुका कर सीधी झूलती हुई भुजाओं से युक्त रखे तो वह करण 'चक्रमंडल' कहलाता है ॥

स्वस्तिकापसृतौ पादावपविद्धक्रमौ यदा ॥ ११४ ॥
उरोमण्डलकौ हस्तावुरोमण्डलकन्तु तत् ।

यदि 'स्वस्तिक' दशा में दोनों पैर आगे बढ़ा कर फिर 'अपविद्ध' चारी का प्रयोग करे और दोनों हाथों को 'उरोमण्डल' मुद्रा में रखे तो 'उरोमण्डल' करण कहलाता है ॥ ११४-११५ ॥

आक्षिप्तं हस्तपादं च क्रियते यत्र वेगतः ॥ ११५ ॥
आक्षिप्तं नाम करणं विज्ञेयं तद् द्विजोत्तमाः[2] ।

यदि वेग से हाथ और पैरों को झटका-पटका जाए तो हे मुनियों वह 'आक्षिप्त' करण कहलाता है ॥ ११५-११६ ॥

ऊर्ध्वाङ्गुलितलः पादः पार्श्वेणोर्ध्वं प्रसारितः ॥ ११६ ॥
प्रकुर्यादञ्चिततलौ हस्तौ तलविलासिते ।

यदि पैर अपने तलवे और अंगुलियों सहित ऊपर की ओर एक ओर (पार्श्व) से फैलाया जाए (या उठाया जाए) और हाथों के दोनों तले (पंजे) सिकुड़े हुए रखे जाएँ तो 'तलविलसित' करण होगा ॥११६-११७॥

पृष्ठतः प्रसृतः पादो द्वौ तालावर्द्धमेव[3] च ॥ ११७ ॥
तस्यैव[4] चानुगो हस्तः पुरतस्त्वर्गलं तु तत् ।

यदि पैर पीछे की ओर हटाकर ढाई ताल तक (२ ॥ ताल तक) रखे तथा हाथ भी पैर के अनुसार सामने की ओर घूमते हुए रखे जाएँ तो अ[illegible] ' करण जानों ॥ ११७-११८ ॥

---

१. अभ्यन्तरापविद्धा—ग० । २. द्विजर्षभाः—घ० ।
३. तलावूर्द्धमेव च—ग० । ४. तस्यैवानुगतो हस्तः—घ० ।

विक्षिप्तं हस्तपादं च पृष्ठतः पार्श्वतोऽपि[1] वा ॥ ११८ ॥
एकमार्गगतं यत्र तद्विक्षिप्तमुदाहृतम् ।

यदि हाथ तथा पैरों को पीछे तथा दोनों बगलों की ओर एक साथ एक दूसरे का अनुसरण करते हुए (झटके से) फेकें तो उसे 'विक्षिप्त' करण जानों ॥ ११९-१२० ॥

प्रसार्य कुञ्चितं पादं पुनरावर्तयेत् द्रुतम् ॥ ११९ ॥
प्रयोगवशगौ हस्तौ तदावर्तं[2] मुदाहृतम् ।

यछि 'कुंचित' पाद को फैला कर शीघ्रता से लौटा ले और दोनों हाथों को प्रयोग के अनुसार रखते हुए तेज गति से घुमाव ले तो 'आवर्त्त' करण जानो ॥

कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य पार्श्वात्पार्श्वं तु दोलयेत् ॥ १२० ॥
प्रयोगवशगौ हस्तौ दोलापादं[3] तदुच्यते ।

यदि 'कुंचित' पाद को ऊपर उठाकर दोनों ओर क्रमशः झुलाए और दोनों हाथों को (यदि) इसी प्रक्रिया के अनुसार गतिशील रखे तो 'दोलापद' करण जानों ॥ १२०-१२१ ॥

आक्षिप्तं हस्तपादञ्च त्रिकञ्चैव विवर्तयेत्[4] ॥ १२१ ॥
रेचितौ च तथा हस्तौ विवृत्ते करणे द्विजाः ।

'हे मुनिजन, यदि दोनों हाथ और पैरों को बाहर की ओर उछाला देकर 'त्रिक' को एक गोल चक्कर देते हुए हाथों को 'रेचित' मुद्रा में रखे तो उसे 'विवृत्त' करण जानों ॥ १२१-१२२ ॥

सूचीविद्धं विधायाथ त्रिकन्तु विनिवर्तयेत् ॥ १२२ ॥
करौ तु रेचितौ कार्यौ विनिवृत्ते द्विजोत्तमाः ।

यदि 'सूचीविध' चारी का प्रयोग करने के उपरान्त त्रिक की एक गोल घुमाव दे और हाथों के 'रेचित' मुद्रा में रखे तो उसे 'विनिवृत्त' करण जानों ।

पार्श्वक्रान्तक्रमङ्कृत्वा[5] पुरस्तादथ पातयेत् ॥ १२३ ॥
प्रयोगवशगौ हस्तौ पार्श्वक्रान्तन्तदुच्यते[6] ।

---

१. तोऽथवा—ग० । २. तदावृत्त—घ० । ३. दोलपादं—ग० ।
४. त्रिकन्तु विनिवर्तितम्—ख०; विवर्तितम्—ग० ।
५. पाश्र्वजानुक्रमं—ग० । ६. पाश्र्वक्रान्तमुदाहृतम्—घ० ।

यदि 'पार्श्वक्रान्त' चारी का प्रयोग कर पैरों को आगे की ओर (भूमि पर) पटके तथा हाथों को नृत्य-प्रयोग के अनुसार सामाने की ओर संचलित करे तो उसे 'पार्श्वक्रान्त' करण कहते हैं ॥ १२३-१२४ ॥

पृष्ठतः कुञ्चितः[1] पादो वक्षश्चैव समुन्नतम् ॥ १२४ ॥
तिलके च करः स्थाप्यस्तन्निस्तम्भित[2]मुच्यते ।

यदि एक पैर पीछे की ओर सिकुड़ाकर ले जाए तथा छाती को ऊँची उठाकर रखे। हाथ को तिलक लगाने की चेष्टा में ललाट प्रदेश तक ले जाए तो उसे 'निस्तम्भित' करण कहते हैं ॥ १२४-१२५ ॥

पृष्ठतो वलितम्पादं शिरोघृष्टम्प्रसारयेत् ॥ १२५ ॥
सर्वतो[3] मण्डलाविद्धं विद्युद्भ्रान्तन्तदुच्यते ।

यदि पैर को पीछे की ओर घुमाकर मस्तक से लगते हुए रखे, दोनों हाथों को 'मंडलाविद्ध' दशा में संचालित करे तो विद्युद्भ्रान्त' करण कहलाता है ॥ १२५-१२६ ॥

अतिक्रान्तक्रमङ्कृत्वा पुरस्तात् सम्प्रसारयेत् ॥ १२६ ॥
प्रयोगवशगौ हस्तावतिक्रान्ते प्रकीर्तितौ ।

यदि 'अतिक्रान्त' चारी का प्रदर्शन करने के उपरान्त दोनों हाथों को नृत्य-प्रयोग के अनुसार सम्मुख फैला दे तो 'अतिक्रान्त' करण जानों ॥

आक्षिप्तं हस्तपादञ्च त्रिकञ्चैव विवर्तितम् ॥ १२७ ॥
द्वितीयो[4] रेचितो हस्तो विवर्तितकमेव तत् ।

यदि एक हाथ और पैर को ऊपर की ओर उछाला देकर त्रिक को एक गोल घुमाव दे और दूसरे हाथ को 'रेचित' मुद्रा में रखे तो 'विवर्तितक' करण कहलाता है ॥ १२७-१२८ ॥

कर्णेऽञ्चितः करो वामो लताहस्तश्च दक्षिणः ॥ १२८ ॥
दोलापादस्तथा चैव गजक्रीडितकं[5] भवेत् ।

यदि बायाँ हाथ बायें कान के समीप सिकुड़ा कर ले जाए और सीधा

१. कुञ्चितौ पादौ—घ० २. निसुम्भित—ग०; निशुम्भित—घ० ।
३. हस्तौ च मण्डलाविद्धौ—ग० । ४. पुनश्च रेचयेद्धस्तं—ग० ।
५. गजक्रीडितके—ग० ।

हाथ 'लता' मुद्रा में और पैरों को 'दोलापाद' चारी में रखे तो 'गजक्रीड़ितक' करण होता है ॥ १२८-१२९ ।

द्रुतमुत्क्षिप्य चरणं पुरस्तादथ पातयेत् ॥ १२९ ॥
तलसंस्फोटितौ हस्तौ तलसंस्फोटिते मतौ[1] ।

यदि एक पैर को जल्दी से ऊपर उठाकर सम्मुख पटके, दोनों हाथों को 'तल संस्फोटित' मुद्रा में रखे तो वह 'तलसंस्फोटित' करण कहलाता है ॥

पृष्ठप्रसारितः पादः लतारेचितकौ करौ ॥ १३० ॥
समुन्नतं[2] शिरश्चैव गरुडप्लुतकं भवेत् ।

यदि पैर पीछे की ओर फैलाकर दोनों हाथों (दायें-बाएँ) क्रमशः 'लता' तथा 'रेचित' मुद्रा में रखे और मस्तक को ऊपर तान ले तो 'गरुडप्लुतक' करण कहलाता है ॥ १३०-१३१ ॥

सूचीपादो[3] नतं पार्श्वमेको वक्षःस्थितः करः ॥ १३१ ॥
द्वितीयश्चाञ्चितो गण्डे गण्डसूची तदुच्यते ।

यदि पैर 'सूची' में, कोख झुकी हुई, एक हाथ वक्षःस्थल पर और दूसरा 'अंचित' मुद्रा में कपोल प्रदेश का स्पर्श करते हुए हो तो 'गण्डसूची' करण कहते हैं ॥ १३१-१३२ ॥

ऊर्ध्वापवेष्टितौ[4] हस्तौ सूचीपादो विवर्तितः ॥ १३२ ॥
परिवृत्तत्रिकं चैव परिवृत्तं तदुच्यते ।

यदि दोनों हाथ 'अपवेष्टित' मुद्रा में ऊपर उठाए जाएँ, पैर 'सूची' और त्रिक को 'भ्रमरी चारी' के लक्षण में घुमाया जाए तो 'परिवृत्त' करण कहलाता है ॥ १३२-१३३ ॥

एकः समस्थितः पाद ऊरुपृष्ठे[5] स्थितोऽपरः ॥ १३३ ॥
मुष्टिहस्तश्च वक्षःस्थः पार्श्वजानु तदुच्यते ।

यदि एक पैर 'समपाद' चारी में और दूसरा उसी के उरु भाग पर

१. स्मृतौ—ग० । २. समुन्नतमुरश्चैव—घ० ।
३. सूचीपादोन्नतं—ख०; ग० ।
४. ऊर्ध्वाविचेष्टितौ—ग०; ऊर्ध्वाववेष्टितौ—थ० ।
५. ऊरुपार्श्वस्थितः परः ग०; ऊरुपार्श्वे स्थितोऽपरः—घ० ।

(पीछे की ओर) रखा हो तथा 'मुष्टि' मुद्रा में एक हाथ वक्ष स्थल पर रखे तो 'पार्श्वजानु' करण कहते हैं ॥ १३३–१३४ ॥

पृष्ठप्रसारितः पादः किञ्चिदञ्चितजानुकः ॥ १३४ ॥
यत्र प्रसारितौ बाहू तत्स्याद् गृध्रावलीकनम् ।

यदि एक पैर पीछे की ओर फैला कर (उसके) घुटने को थोड़ा झुकाया जाए तथा दोनों हाथों को सामने फैलावे तो उसे 'गृध्रावलीनक' करण कहते हैं ॥ १३४–१३५ ॥

उत्प्लुत्य चरणौ कार्यावग्रतः स्वस्तिकस्थितौ ॥ १३५ ॥
सन्नतौ च तथा हस्तौ सन्नतं तदुदाहृतम् ।

यदि एक उछाल लेकर दोनों पैरों को स्वस्तिक बना सामने की ओर रखे और दोनों हाथ 'सन्नत' (दोला) मुद्रा में रखे तो उसे 'सन्नत' करण कहते हैं ॥ १३५–१३६ ॥

कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य कुर्यादग्रस्थितं भुवि ॥ १३६ ॥
प्रयोगवशगौ हस्तौ सा[1] सूची परिकीर्तिता ।

यदि 'कुंचित' पाद को उठाकर उसे आगे की ओर (भूमि पर) रख दे और दोनों हाथों को नृत्य-प्रयोग के अनुसार (ताललय के अनुसार) रखे तो 'सूची' करण कहते हैं ॥ १३६–१३७ ॥

अलपद्मः[2] शिरोहस्तः[3] सूचीपादश्च दक्षिणः ॥ १३७ ॥
यत्र तत्करणं ज्ञेयमर्धसूचिति नामतः ।

यदि अलपद्म मुद्रा वाले हाथ को सिर तक ले जाए और सीधा पैर 'सूची' को प्रदर्शित करे तो 'अर्धसूची' करण जानें ॥ १३७–१३८ ॥

पादसूच्यां यदा पादो[4] द्वितीयस्तु प्रविध्यते[5] ॥ १३८ ॥
कटिवक्षः[6]स्थितौ हस्तौ सूचीविद्धं तदुच्यते ।

यदि एक पैर 'सूची' करण बतलाए हुए दूसरे पैर की एड़ी से सटा हो

१. तत्सूचि—ग० । २. वामः पादः शिरोदेशे—ग० ।
३. शिरोद्देशे–घ० ४. पादौ—ग० ।
५. प्रपीडयते—घ० । ६. देश—ख० ।

दोनों हाथ क्रमशः कटि तथा वक्षःस्थल पर स्थापित किये जाएँ तो उसे 'सूचीविद्ध' करण जानों ॥ १३८–१३६ ॥

कृत्वोरुवलितं पादमपक्रान्तक्रमं न्यसेत् ॥ १३९ ॥
प्रयोगवशगौ हस्तावपक्रान्तं तदुच्यते ।

यदि जंघा (उरु) को 'वलित' करने के उपरान्त चरणों से 'अपक्रान्त' चारी का प्रदर्शन किया जाए तथा दोनों हाथों को नृत्य-प्रयोग के अनुसार रखे तो 'अपक्रान्त' करण कहते हैं ॥ १३९–१४० ॥

वृश्चिकं चरणं[1] कृत्वा रेचितौ च तथा करौ ॥ १४० ॥
तथा त्रिकं विवृत्तं च मयूरललितं भवेत् ।

यदि 'वृश्चिक' करण को प्रदर्शित कर, दोनों हाथों को 'रेचित' तथा त्रिक को (भ्रमरी चारी के लक्षणानुसार) एक गोल घुमाव दे तो 'मयूरललित' करण जानो ॥ १४०–१४१ ॥

आञ्चितापसृतौ[2] पादौ शिरश्च परिवाहितम् ॥ १४१ ॥
रेचितौ च तथा[3] हस्तौ तत्सर्पितमुदाहृतम् ।

यदि 'अंचित' दशा में दोनों पैरों को हटाया जाए, मस्तक 'परिवाहित' मुद्रा में तथा दोनों हाथ 'रेचित' मुद्रा में रखे तो 'सर्पित' करण कहलाता है ॥

नूपुरं चरणं कृत्वा दण्डपादं प्रसारयेत् ॥ १४२ ॥
क्षिप्राविद्धकरं[4] चैव दण्डपादं तदुच्यते ।

यदि चरण 'नूपुर' चारी के बाद 'दण्डपाद' चारी का प्रदर्शन करे, हाथ को शीघ्रता से 'आविद्ध' में प्रदर्शित करता चले तो 'दण्डपाद' करण कहलाता है ॥ १४२–१४३ ॥

अतिक्रान्तक्रमं[5] कृत्वा समुत्प्लुत्य निपातयेत्[6] ॥ १४३ ॥
जङ्घाञ्चितोपरि क्षिप्ता तद्विद्याद्धरिणप्लुतम् ।

यदि अतिक्रान्त चारी को प्रदर्शित कर एक उछाल ले फिर ठहर

---

१. करणं—ग० । २. अन्तरापसृतौ—क०, ख० ।
३. करौ यत्र—घ० । ४. क्षिप्तविद्ध—ख०; क्षिप्रविद्ध—ग०, घ० ।
५. अतिक्रान्तं क्रमं—घ० । ६. निवर्तयेत्—ग० ।

जाए और फिर एक जंघा सिकुड़ा (अंचित) कर ऊपर उछाली जाए तो उसे 'हरिणप्लुत' करण कहते हैं ॥ १४३–१४४ ॥

दोलापादक्रमं कृत्वा समुत्प्लुत्य निपातयेत् ॥ १४४ ॥
परिवृत्तं त्रिकं चैव[1] तत्प्रेङ्खोलितमुच्यते ।

यदि दोलापाद चारी का प्रदर्शन कर एक उछाल लेकर चरण को नीचे पटके और त्रिक को एक घुमाव (भ्रमरी चारी के लक्षणानुसार) दे दे और फिर स्थिर हो जाए तो 'प्रेंखोलित' करण कहते हैं ॥ १४४–१४५ ॥

भुजावूर्ध्वविनिष्क्रान्तौ हस्तौ चाभिमुखाङ्गुली ॥ १४५ ॥
बद्धा चारी तथा चैव नितम्बे करणे भवेत् ।

यदि दोनों भुजाओं को सिर के ऊपर उठाए और हाथों की अंगुलियों को सामने की ओर रखते हुए 'बद्धा' चारी को पैरों से प्रदर्शित करे तो 'नितम्ब' करण जानो ॥ १४५–१४६ ॥

दोलापादक्रमं कृत्वा हस्तौ तदनुगावुभौ ॥ १४६ ॥
रेचितौ घूर्णितौ वापि स्खलितं करणं भवेत् ।

यदि पैरों से 'दोलापाद' चारी का प्रदर्शन कर 'रेचित' मुद्रावाले हाथों का नाट्यप्रयोग के अनुसार चारी ओर घुमा दे तो 'स्खलित' करण कहते हैं ॥

एको[2] वक्षःस्थितो हस्तः प्रोद्वेष्टिततलोऽपरः ॥ १४७ ॥
अञ्चितश्चरणश्चैव प्रयोज्यः करिहस्तके ।

यदि बायाँ हाथ वक्षःस्थल पर (और) दूसरे (दाहिने) हाथ की हथेली प्रोद्वेष्टित (क्रिया वाली) हो तथा पैर 'अंचित' मुद्रा में रखा जाए तो वह करण 'करिहस्त' कहलाता है ॥ १४७–१४८ ॥

एकस्तु रेचितो हस्तो लताख्यस्तु[3] तथा परः ॥ १४८ ॥
प्रसर्पिततलौ[4] पादौ प्रसर्पितकमेव तत् ।

यदि एक हाथ रेचित दूसरा लता मुद्रा में और पैर 'तलसंचर

---

१. चैतत् तत्प्रेङ्खो—घ० । २. वामो वक्षःस्थितो—ग० ।
३. लतास्यश्च—घ० । ४. संसर्पिततलौ—ग० ।

(पैर के तलवों का घिसते हुए आगे बढ़ना) हों तो उसे 'प्रसर्पितक' करण कहते हैं ॥ १४८–१४९ ॥

अलातं[1] च पुरः कृत्वा द्वितीयश्च द्रुतक्रमम् ॥ १४९ ॥
हस्तौ पादानुगौ चापि सिंहविक्रीडिते स्मृतौ ।

यदि 'अलात' चारी के प्रदर्शन के उपरान्त दूसरे पैर की द्रुत गति करते हुए हाथों को पैरों की गति के अनुसार रखे तो 'सिंहविक्रीडित' करण जानों ॥ १४९–१५० ॥

पृष्ठप्रसर्पितः पादस्तथा[2] हस्तौ निकुञ्चितौ ॥ १५० ॥
पुनस्तथैव[3] कर्तव्यौ सिंहाकर्षितके द्विजाः ।

यदि (एक) पैर पीछे की ओर हटाया जाए, हाथ सिकुड़ा (या झुका) कर शरीर एक गोल घुमाव ले जो सामने और पीछे की ओर सिकुड़ने वाला हो–तो इसे 'सिंहाकर्षितक' करण जानों ॥ १५०–१५१ ॥

आक्षिप्तहस्तमाक्षिप्तदेहमाक्षिप्तपादकम्[4] ॥ १५१ ॥
उद्वृत्तगात्रमित्येतदुद्वृत्तं करणं स्मृतम् ।

यदि हाथ, पैर और शरीर को ऊपर झटके से उछाला जाए (आक्षिप्त) गिर 'उद्वृत्त' चारी में शरीर स्थित रखे तो 'उद्वृत्त' करण जानो ॥१५२-१५२॥

आक्षिप्तश्चरणश्चैको हस्तौ[5] तस्यैव चानुगौ ॥ १५२ ॥
आनतं च तथा गात्रं तथोपसृतकं भवेत् ।

यदि पैरों से 'आक्षिप्त' चारी का प्रदर्शन कर हाथों को उसी (की स्थिति) के अनुसार रखे और शरीर को झुका ले तो इस करण को 'उपसृतक' कहते हैं ।

दोलापादक्रमं कृत्वा तलसङ्घट्टितौ करौ ॥ १५३ ॥
रेचयेच्च करं वामं तलसङ्घट्टिते सदा[6] ।

---

१. अलातकं पुरस्कृत्वा—ग० । २. कुञ्चितावर्तितौ करौ—ग० ।
३. पुनस्तथैव—घ० । ४. माक्षिप्तपादमाक्षिप्तदेहकम्—ग० ।
५. हस्तस्यैव वशानुगः—ख० । ६. तथा—ग० ।

यदि 'दोलापाद' चारी को प्रदर्शित करने के उपरान्त दोनों हाथों के तलों को एक दूसरे से मलते हुए रखे; फिर बायाँ हाथ 'रेचित' मुद्रा में रखे तो 'तलसंघट्टित' करण कहते हैं ॥ १५३–१५४ ॥

एको वक्षःस्थितो हस्तो द्वितीयश्च प्रलम्बितः ॥ १५४ ॥
तलाग्रसंस्थितः पादो जनिते करणे भवेत् ।

यदि एक हाथ को छाती पर तथा दूसरा झूलता हुआ रख कर एक पैर से अग्रतलसंचर (जनिता) चारी का प्रदर्शन करे तो 'जनित' करण होता है ॥ १५४–१५५ ॥

जनितं करणं कृत्वा हस्तौ चाभिमुखाङ्गुली ॥ १५५ ॥
शनैर्निपतितौ चैव ज्ञेयं तदवहित्थकम्[1] ।

यदि 'जनित' करण को प्रदर्शित कर दोनों हाथों को एक दूसरे के सामने अंगुलियों वाले बताकर धीरे धीरे नीचे की ओर ले जाए तो वह 'अवहित्थक' करण हो जाता है ॥ १५५–१५६ ॥

करौ वक्षःस्थितौ कार्यावुरो निर्भुग्नमेव च ॥ १५६ ॥
मण्डलस्थानकं चैव निवेशं[2] करणं तु तत् ।

यदि दोनों हाथों को 'निर्भुग्न' वक्षःस्थल पर रखकर 'मण्डलस्थानक' का प्रदर्शन करे तो उसे 'निवेश' करण कहते हैं ॥ १५६–१५७ ॥

तलसञ्चरपादाभ्यामुत्प्लुत्य पतनं[3] भवेत् ॥ १५७ ॥
संनतं वलितं गात्रमेलकाक्रीडितं तु तत् ।

यदि 'तलसंचर' (अग्रतलसंचर) पाद से एक उछाला लेकर भूमि पर आए तथा शरीर को संकुचित करते हुए घुमाए तो उसे 'एलकाक्रीडित' करण जानो ॥ १५८–१५८ ॥

करमावृत्तकरणमूरुपृष्ठेऽञ्चितं न्यसेत् ॥ १५८ ॥
जङ्घाञ्चिता तथोद्वृत्ता ह्यूरूद्वृत्तं[4] तु तद्भवेत् ।

---

१. तत्तु बहिस्त्रिकम्—ख० । २. निवेशकरणं—ख०, ग० ।
३. पतनं तु यत्—ग० । ४. तदूरुवृत्तमुच्यते—ग० ।

यदि हाथ को आवृत्त (व्यावर्तित) दशा में रखे फिर उसे झुका कर ऊरु के पृष्ठभाग पर रखे और जंघा को 'अंचित' तथा 'उद्वृत्त' (मुद्रा तथा गति में) रखे तो 'उद्वृत्त' करण कहते हैं ॥ १५८–१५९ ॥

करौ प्रलम्बितौ कार्यौ शिरश्च परिवाहितम् ॥ १५९ ॥
पादौ च वलिताविद्धौ मदस्खलितके द्विजाः ।

यदि दोनों हाथों को नीचे की ओर हिलाते हुए रखे, मस्तक को 'परिवाहित' मुद्रा में और सीधे तथा बायें पैर 'वलित' हो 'आविद्ध' चारी को प्रदर्शित करे तो उसे 'मदस्खलितक' नामक करण कहते हैं ।

पुरः प्रसारितः[1] पादः कुञ्चितो गगनोन्मुखः[2] ॥ १६० ॥
करौ च रेचितौ यत्र विष्णुक्रान्तं तदुच्यते ।

यदि पैर आगे की ओर फैलाकर ऊपर ले जाते हुए सिकुड़ाए तथा दोनों हाथों को रेचित मुद्रा में रखे तो वह करण 'विष्णुक्रान्त' कहलाता है ॥ १६०–१६१ ॥

करमावर्तितं कृत्वा ह्यूरूपृष्ठे निकुञ्चयेत् ॥ १६१ ॥
ऊरुश्चैव तथाविद्धः सम्भ्रान्तं करणं तु तत् ।

यदि हाथ जो व्यावर्तित (आवर्तित) मुद्रा (या गति) के साथ उरू पर सिकुड़ाते हुए रखे तथा ऊरू को आविद्धा चारी से युक्त रखे तो उसे 'सम्भ्रान्त' करण कहते हैं ॥ १६१–१६२ ॥

अपविद्धः करः सूच्या पादश्चैव निकुट्टितः ॥ १६२ ॥
वक्षःस्थश्च करो वामो विष्कम्भे करणे भवेत् ।

यदि हाथ 'अपविद्ध' मुद्रा में और पैर सूची चारी से युक्त होकर 'निकुट्टित' (झुकी हुई) दशा को प्रदर्शित करे और बायाँ हाथ छाती पर रखे तो वह 'विष्कम्भ' करण कहलाता है ॥ १६२–१६३ ॥

पादावुद्घट्टितौ कार्यौ तलसङ्घट्टितौ करौ ॥ १६३ ॥
नतश्च[3] पार्श्वं कर्तव्यं बुधैरूद्घट्टिते सदा ।

---

१. प्रसर्पितः—ख० । २. गमनोन्मुखः—घ० ।
३. नितम्बपार्श्वं—ख०, नितम्बपार्श्वे—ग० ।

यदि दोनों पैरों को 'उद्घट्टिता' चारी तथा हाथों को 'तलसंघट्टित' मुद्रा में रख कर (दोनों ओर रखे) कोख को झुका ले तो 'उद्घट्टित' करण होता है ॥ १६३–१६४ ॥

प्रयुज्यालातकं पूर्वं[1] हस्तौ चापि हि रेचयेत् ॥ १६४ ॥
कुञ्चितावञ्चितौ चैव वृषभक्रीडिते सदा[2] ।

यदि 'अलात' चारी को प्रदर्शित कर फिर दोनों हाथों को रेचित मुद्रा में रखे फिर इन्हें (क्रमशः) 'कुंचित' और 'अंचित' मुद्रा में रखे तो 'वृषभक्रीडित' करण कहलाता है ॥ १६४–१६५ ॥

रेचितावञ्चितौ हस्तौ लोलितं वर्त्तितं शिरः ॥ १६५ ॥
उभयोः पार्श्वयोर्यत्र [3]तल्लोलितमुदाहृतम् ।

यदि दोनों हाथ अंचित हाथ (दोनों ओर) 'रेचित' मुद्रा में रखे जाएँ तथा मस्तक को 'लोलित' और 'वर्तित' मुद्रा में तो इसे 'लोलित' करण जानो ॥ १६५–१६६ ॥

स्वस्तिकापसृतौ[4] पादौ शिरश्च परिवाहितम् ॥ १६६ ॥
रेचितौ[5] च तथा हस्तौ स्यातां नागापसर्पिते ।

यदि दोनों पैरों को स्वतिक दशा में पीछे की ओर हटाया जाए, मस्तक 'परिवाहित' मुद्रा में तथा हाथ रेचित मुद्रा में रहे तो 'नागसर्पित' करण होता है ॥ १६६–१६७ ॥

निषण्णाङ्गस्तु चरणं प्रसार्य तलसञ्चरम् ॥ १६७ ॥
उद्वाहितमुरः[6] कृत्वा शकटास्यं प्रयोजयेत् ।

यदि स्थिर बैठकर तलसंचर चारी में पैर को फैलाए तथा वक्षस्थल को 'उद्वाहित' दशा में रखे तो उसे 'शकटास्य' करण कहते हैं ॥

१. पादं हस्तौ द्वावपि रेचितौ—ग०, घ० । २. स्मृतौ—ग० ।
३. ज्ञेयं लोलितकं बुधैः—ग०, घ० ।
४. स्खलितासर्पितौ पादौ तथा हस्तौ च रेचितौ—ग०, घ० ।
५. परिवाहितं शिरश्चैव कुर्यान्नागापसर्पिते—ग० । ६. उद्घाटित—ख० ।

ऊर्ध्वाङ्गुलितलौ[1] पादौ त्रिपताकावधोमुखौ ॥ १६८ ॥
हस्तौ शिरस्सन्नतञ्च गङ्गावतरणन्त्विति[2] ।

यदि दोनों पैर अपने तले और उङ्गलियों को ऊपर की ओर उठाते हुए रखे जाएँ, दोनों हाथों को पृथ्वी पर त्रिपताक मुद्रा में नीचे की ओर पंजे टिकाकर रखे तथा मस्तक को 'सन्नत' मुद्रा वाला रखे (जिसमें कमर बिलकुल मुड़ जाय) तो उस करण को 'गंगावतरण' कहते हैं ॥१६८–१६९॥

अष्टोत्तरशतं ह्येतत् करणानां मयोदितम् ॥ १६९ ॥

इस प्रकार मैंने (इन) एक सौ आठ करणों को बतलाया ॥ १६९ ॥

अंगहारों[1] के लक्षण—

अतः परं प्रवक्ष्यामि ह्यङ्गहारविकल्पनम् ।

अब मैं अंगहारों के लक्षण कहता हूँ ।

स्थिरहस्त—

प्रसार्योत्क्षिप्य च करौ समपादं प्रयोजयेत् ॥ १७० ॥
व्यंसितापसृतं सव्यं हस्तमूर्ध्वं[3] प्रसारयेत् ।
प्रत्यालीढं ततः[4] कुर्यात्तथैव निकुट्टकम् ॥ १७२ ॥
ऊरूद्वृत्तं ततः कुर्यादाक्षितं स्वस्तिकं ततः ।
नितम्बं करिहस्तं च कटिच्छिन्नं च योगतः ॥ १७२ ॥
स्थिरहस्तो भवेदेष त्वङ्गहारो हरप्रियः ।

दोनों हाथों को ऊपर की ओर फैला कर उत्क्षिप्त करे तथा 'समपाद' स्थान का प्रदर्शन करे, बायें हाथ को ऊपर की ओर 'व्यंसित' तथा 'अपव्यंसित' अवस्था में फैलाए (अर्थात् उसे कँधे से ऊपर तक ले आए) फिर प्रत्या-

१. अंगहार मुख्यतः करणों के समूहों से बनता है ।

१. तलः पादः—ख० । २. रंगावतरणं–क०, गंगावतरणञ्च तत्—ग० ।
३. ऊध्वं हस्तं—ग० । ४. कृत्वा तथैव च निकु० घ० ।
५. करिहस्तश्च—ग० । ६. तथैव च—ग० ।

लीढ़ में स्थित होकर निकुट्टित, उरूद्वृत्त, आक्षिप्त, स्वस्तिक, नितम्ब, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों को (क्रमशः) प्रदर्शित करे तो 'स्थिरहस्त' नामक अंगहार बन जाता है। यह भगवान शिव को बड़ा प्रिय है ॥ १७०-१७३ ॥

पर्यस्तक—

तलपुष्पापविद्धे[1] द्वे वर्तितं सन्निकुट्टकम् ॥ १७३ ॥
[[2]प्रत्यालीढं ततः कृत्वा तथैव च निकुट्टकम्]
ऊरूद्वृत्तं[3] तथाक्षिप्तमुरोमण्डलमेव च ।
नितम्बं करिहस्तं च कटिच्छिन्नं ततैव च ॥ १७४ ॥
एष पर्यस्तको नाम ह्यङ्गहारो हरोद्भवः ।

यदि तलपुष्पपुट, अपविद्ध तथा वर्तित एवं निकुट्टित करणों को क्रमशः प्रदर्शित कर फिर (प्रत्यालीढ़ तथा निकुट्टक का तथा) ऊरूद्वृत्त, आक्षिप्त, उरोमण्डल, नितम्ब, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों को प्रदर्शित करे तो 'पर्यस्तक' नामक अंगहार बन जाता है। यह भगवान शंकर से उत्पन्न हुआ है ॥ १७३-१७५ ॥

सूचीविद्ध—

अलपल्लवसूचीं च कृत्वा विक्षिप्तमेव च ॥ १७५ ॥
आवर्तितं ततः कुर्यात्तथैव च निकुट्टकम् ।
ऊरूद्वृत्तं तथाक्षिप्तमुरोमण्डलमेव[4] च ॥ १७६ ॥
करिहस्तं कटिच्छिन्नं सूचीविद्धो भवेदयम् ।

हाथों से अलपल्लव तथा सूची (मुख) मुद्राओं के प्रदर्शन के उपरान्त—जो कि क्रमशः की जाती हों—फिर विक्षिप्त, आवर्तित, निकुट्टक, ऊरूद्वृत्त, आक्षिप्त, उरोमण्डल, करिहस्त तथा कटिच्चिन्न करणों के कमशः प्रदर्शन करने पर 'सूचीविद्ध' अंगहार होता है ॥ १७५-१७७ ॥

---

१. तलपुष्पापविद्धे च वर्तितं सम्प्रसारयेत्—ग०, घ० ।
२. एतत्पद्यार्धं क० ग० पुस्तकयोः नास्ति ।
३. एतत् पद्यं ग०—पुस्तके नास्ति । ४. उरोमण्डलकं तथा—ग० ।

अपविद्ध—

अपविद्धं तु करणं सूचीविद्धं तथैव[1] च ॥ १७७ ॥
उद्वेष्टितेन हस्तेन त्रिकं तु परिवर्तयेत् ।
उरोमण्डलकौ हस्तौ कटिच्छिन्नं तथैव च ॥ १७८ ॥
अपविद्धोऽङ्गहारश्च[2] विज्ञेयोऽयं प्रयोक्तृभिः ।

(सर्वप्रथम) अपविद्ध तथा सूचीविद्ध करणों का प्रदर्शन कर फिर हाथों से उद्वेष्टित करण का प्रदर्शन करे जो हाथों तथा त्रिक को एक घुमाव देते हुए हो फिर उरोमण्डल मुद्रा में 'हस्तों' को स्थित कर कटिच्छिन्न करण का प्रदर्शन करे तो 'अपविद्ध' नामक अंगहार होता है । (इसे नाट्य-प्रयोक्ताजन समझें) ॥ १७७–१७९ ॥

आक्षिप्तक—

करणं नूपुरं कृत्वा विक्षिप्तालातके पुनः ॥ १७९ ॥
पुनराक्षिप्तकं[3] कुर्यादुरोमण्डलकं तथा ।
नितम्बं करिहस्तं च कटिच्छिन्नं तथैव च ॥ १८० ॥
आक्षिप्तकः[4] स विज्ञेयो ह्यङ्गहारः प्रयोक्तृभिः ।

(सर्वप्रथम) 'नूपुर' करण का प्रदर्शन करे फिर विक्षिप्त, अलातक, आक्षिप्त, उरोमण्डल, नितम्ब, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों का क्रमशः प्रदर्शन करे तो 'आक्षिप्तक' अंगहार होता है ॥ १७९–१८१ ॥

उद्धट्टित—

उद्वेष्टितापविद्धस्तु करः पादो निकुट्टितः ॥ १८१ ॥
पुनस्तेनैव योगेन वामपार्श्वं भवेदथ ।
उरोमण्डलकौ हस्तौ नितम्बं करिहस्तकम्[5] ॥ १८२ ॥

---

१. पुनर्भवेत्—ग० ।
२. अपविद्धाङ्गहारस्तु विज्ञेयस्तत्प्रयोक्तृभिः—ग० घ० ।
३. पुरा विक्षिप्तकं—क० । ४. आक्षिप्तकस्तु—ग० ।
५. नितम्बः करिहस्तकः—ग० घ० ।

कर्तव्यं स-कटिच्छिन्नं नृत्ते तूद्धट्टिते सदा[1],[2] ॥ १८३ ॥

यदि दाहिने हाथ को उद्वेष्टित तथा अपविद्ध हस्त मुद्राओं में दाहिने पैर को 'निकुट्टक' (मुद्रा) में बायें, दायें प्रदर्शित करते हुए दोनों हाथों को उरोमण्डल मुद्रा में रखे—फिर नितम्ब, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों का (क्रमशः) प्रदर्शन करे तो 'उद्धट्टित' अंगहार कहलाता है ॥१८१–१८३॥

विष्कम्भ—

पर्यायोद्वेष्टितौ[3] हस्तौ पादौ चैव निकुट्टितौ ॥ १८४ ॥
कुञ्चितावञ्चितौ चैव ह्यूरूद्वृत्तं तथैव च ।
चतुरस्रं करं कृत्वा पादेन च निकुट्टिकम् ॥ १८५ ॥
भुजङ्गत्रासितं[4] चैव करं चोद्वेष्टितं पुनः ।
परिच्छिन्नं च कर्तव्यं त्रिकं भ्रमरकेण तु ॥ १८६ ॥
करिहस्तं कटिच्छिन्नं विष्कम्भे[5] परिकीर्तिम् ।

यदि दोनों हाथ क्रमशः उद्वेष्टित और पैर निकुट्टक मुद्रा में रखकर फिर सिकुड़ा और घुमा लिये जाएँ, (फिर) ऊरूद्वृत्त करण का प्रदर्शन करते हुए हाथों को चतुरस्र और पैरों को निकुट्टक मुद्रा में रखे, (फिर) भुजंगत्रासित करण हाथों को उद्वेष्टित मुद्रा में रखे। तब 'छिन्न' और 'भ्रमरक' करणों का प्रदर्शन करते हुए त्रिक को घुमाए और फिर करिहस्त और कटिच्छिन्न करणों का प्रदर्शन करे तो 'विष्कम्भ' नामक अंगहार होता है ॥ १८४–१८६ ॥

अपराजित—

दण्डपादं करञ्चैव विक्षिप्याक्षिप्य चैव हि ॥ १८७ ॥
व्यंसितं वामहस्तञ्च सह पादेन सर्पयेत् ।

१. कर्तव्यः स कटिच्छेदो—ग० । २. बुधैः—ग० ।
३. पर्यायाद्वेष्टितौ—ख० । ४. भुजङ्गत्रासकं—ग०, घ० ।
५. विष्कम्भः परिकीर्तितः—ग० ।

निकुट्टकद्वयं[1] कार्यमाक्षिप्तं मण्डलोरसि[2] ॥ १८८ ॥
करिहस्तं[3] कटिच्छिन्नं कर्तव्यमपराजिते ।

यदि 'दण्डपाद' करण के प्रदर्शन के बाद हाथों को विक्षिप्त और आक्षिप्त क्रिया से युक्त रखे। फिर व्याक्षिप्त (व्यंसित) करण का प्रदर्शन करे जिसमें बायाँ हाथ पैर के अनुसार (साथ साथ) गतिशील रहे। (फिर भुजंगत्रासित करण का प्रदर्शन करे और हाथ उद्वेष्टित मुद्रा में रखे) फिर चातुर्यपूर्ण दो निकुट्टक (निकुट्टकों तथा अर्धनिकुट्टक), आक्षिप्त, उरोमण्डल, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों का क्रमशः प्रदर्शन करे तो इसे 'अपराजित' अंगहार जानो ॥ १८७–१८९ ॥

विष्कम्भापसृत—

कुट्टितं करणं[4] कृत्वा भुजङ्गत्रासितं तथा ॥ १८९ ॥
रेचितेन तु हस्तेन पताकं[5] हस्तमादिशेत् ।
आक्षिप्तकं प्रयुञ्जीत ह्युरो-मण्डलकं तथा ॥ १९० ॥
लताख्यं सकटिच्छिन्नं[6] विष्कम्भापसृते भवेत् ।

यदि कुट्टित और भुजंगत्रासित करणों को प्रदर्शित कर फिर रेचित हस्त के द्वारा 'पताक' मुद्रा का प्रदर्शन करे। फिर क्रमशः आक्षिप्तक, उरोमण्डल करणों का तथा लताहस्त में कटिच्छिन्न करण का प्रदर्शन करे तो 'विष्कम्भापसृत' अंगहार होता है ॥ १८९–१९१ ॥

मत्ताक्रीड—

त्रिकं सुवलितं[7] कृत्वा नूपुरं[8] करणं तथा ॥ १९१ ॥
भुजङ्गत्रासितं सव्यं तथा[9] वैशाखरेचितम् ।

---

१. अनयोर्मध्ये—चतुरश्रं करं कृत्वा पादेन च निकुट्टकम् । भुजङ्गत्रासितञ्चैव करं चोद्वेष्टितं पुनः ।। इति पद्यमधिकं ख—पुस्तके ।
२. मण्डलोरसा—ग० । ३. करिहस्तः कटिच्छेदः कर्तव्यस्त्वपराजिते–ग०
४. करणे—घ० । ५. पताकाहस्त—ग०, घ० ।
६. सकटिच्छेदं—ग० घ० । ७. तु वलितं—ग० ।
८. चरणं तथा—घ० । ९. चरणञ्चैव रेचितम्—ग० ।

आक्षिप्तकं ततः कृत्वा परिच्छिन्नं तथैव च ॥ १९२ ॥
बाह्यभ्रमरकं कुर्यादुरोमण्डलमेव च ।
नितम्बं करिहस्तं च कटिच्छिन्नं तथैव च ॥
मत्ताक्रीडो भवेदेष ह्यङ्गहारो हरप्रियः[1] ।

यदि त्रिक को एक सुन्दर घुमाव देते हुए 'नूपुर' करण का प्रदर्शन करे (फिर) भुजंगत्रासित तथा वैशाखरेचित करणों का प्रदर्शन करे। फिर क्रमशः ध्यानपूर्वक (या चतुराई से) आक्षिप्त, छिन्न, बाह्यभ्रमरक, उरोमण्डल, नितम्ब, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों को 'प्रदर्शित' करे तो भगवान् शिव को प्रिय लगने वाला 'मत्ताक्रीड' नामक अंगहार होता है ॥ १९१–१९४ ॥

स्वस्तिकरेचित—

रेचितं हस्तपादं च कृत्वा वृश्चिकमेव च ॥ १९४ ॥
पुनस्तेनैव योगेन वृश्चिकं सम्प्रयोजयेत् ।
निकुट्टकं तथा चैव सव्यासव्यकृतं[2] क्रमात् ॥ १९५ ॥
लताख्यः सकटिच्छेदो भवेत् स्वस्तिकरेचिते ।

यदि हाथ और पैरों को रेचित मुद्रा में रखकर वृश्चिक करण का प्रदर्शन करे और इसी करण की हाथ और पैरों की क्रियाओं के योग द्वारा आवृत्ति करे। फिर निकुट्टक करण का क्रमशः सीधे और बाँए अंगों से प्रदर्शन करे। और फिर कटिच्छेद करण का लता हस्त के साथ प्रदर्शन करे तो 'स्वस्तिकरेचित' नामक अंगहार होता है ॥ १९४–१९६ ॥

पार्श्वस्वस्तिक—

[3]पार्श्वस्वस्तिकपादौ च कार्यं त्वर्धनिकुट्टकम् ॥ १९६ ॥
द्वितीयस्य च पार्श्वस्य विधिः [4]स्यादयमेव हि ।

---

१. हरिप्रियः क; भवेत् प्रियः—ग०, भवप्रियः—घ० ।

२. कृतै क्रमैः—ग० । ३. पार्श्वे तु स्वस्तिकं बुद्धा कार्यं त्वथ निकुट्टकम् । ४. स्यादेष एव हि—ग० ।

ततश्च करमावर्त्य[1] ह्यूरूपृष्ठे निपातयेत् ॥ १९७ ॥
उरूद्वृत्तं ततः कुर्यादाक्षिप्तं पुनरेव हि ।
नितम्बं करिहस्तं च कटिच्छिन्नं तथैव च ॥ १९८ ॥
पार्श्वस्वस्तिक इत्येष ह्यङ्गहारः प्रकीर्तितः ।

यदि एक पार्श्व से 'दिक् स्वस्तिक' और फिर अर्धनिकुट्टक का प्रदर्शन कर इन्हें ही दूसरे पार्श्व से पुनः आवृत्त करे। फिर हाथ को आवृत्त (व्यावृत्त) मुद्रा में रखकर कटि प्रदेश पर स्थापित करे और क्रमशः उरूद्वृत्त, आक्षिप्त, नितम्ब, करिहस्त और कटिछिन्न करणों का प्रदर्शन (तत्परता पूर्वक) करे तो 'पार्श्वस्वस्तिक अंगहार होता है ॥१९६-१९९॥

वृश्चिकापसृत—

वृश्चिकं करणं कृत्वा लताख्यं हस्तमेव च ॥ १९९ ॥
तमेव च करं भूयो नासाग्रे सन्निकुञ्चयेत्[2] ।
तमेवोद्वेष्टितं कृत्वा नितम्बं परिवर्तयेत्[3] ॥ २०० ॥
करिहस्तं [4]कटिछिन्नं वृश्चिकापसृते भवेत् ।

यदि वृश्चिक करण का प्रदर्शन कर हाथ को लता मुद्रा में रखे फिर उसी मुद्रा (से युक्त हाथ) को नासिका के बराबर ले जाकर झुका ले (सिकुड़ा ले) फिर वही हाथ उद्वेष्टित मुद्रा में (अर्थात् हिलते हुए 'उद्वेष्टित' प्रकार में) रखकर कमर का गोल घुमाव लें। फिर क्रमशः (तत्परतापूर्वक) करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों को प्रदर्शित करे तो 'वृश्चिकापसृत' करण होता है ॥ १९९-२०१ ॥

भ्रमर—

कृत्वा नूपुरपादं तु तथाक्षिप्तकमेव च ॥ २०१ ॥
[5]कटिच्छिन्नं च कर्तव्यं सूचीपादं तथैव च ।

---

१. मावृत्य—ग० । २. सन्निवेशयेत्—ग० । ३. मथ वर्तयेत्—ग० ।
४. कटिच्छेदं वृश्चिके सम्प्रयोजयेत्—ग० । ५. परिच्छिन्नं—ग० ।

नितम्बं[1] करिहस्तं चाप्युरोमण्डलकं तथा ॥ २०२ ॥
कटिछिन्नं[2] ततश्चैव भ्रमरः स तु संज्ञितः ।

यदि नूपुरपाद चारी के बाद आक्षिप्तक, कटिच्छिन्न, सूचीपाद, नितम्ब, करिहस्त, उरोमण्डल और कटिच्छिन्न करणों का क्रमशः प्रदर्शन करे तो यह अंगहार 'भ्रमर' कहलाता है ॥ २०१–२०३ ॥

मत्तस्खलितक—

मत्तल्लिकरणं कृत्वा करमावर्त्य[3] दक्षिणम् ॥ २०३ ॥
कपोलस्य प्रदेशे तु कार्यं[4] सम्यङ्निकुञ्चितम् ।
अपविद्धं द्रुतं[5] चैव तलसंस्फोटसंयुतम्[6] ॥ २०४ ॥
करिहस्तं[7] कटिच्छिन्नं मत्तस्खलितके भवेत् ।

यदि मत्तल्लि करण को प्रदर्शित कर दाहिने हाथ को एक गोल घुमाव देकर तथा फिर उसे झुका कर कपोल प्रदेश के बराबर रख दे । फिर क्रमशः अपविद्ध, तलसंस्फोटित, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों का प्रदर्शन करे तो वह 'मत्तस्खलितक' अंगहार होता ॥ २०३–२०५ ॥

मदविलसित—

दोलैः करैः प्रचलितैः स्वस्तिकापसृतैः पदैः ॥ २०५ ॥
अञ्चितैर्वलितैर्हस्तैस्तलसङ्घट्टितैस्तथा ।
निकुट्टितं च कर्तव्यमूरूद्वृत्तं तथैव च ॥ २०६ ॥
करिहस्तं कटिच्छिन्नं मदाद्विलसिते भवेत् ।

यदि हिलते हुए दोनों हाथों को दोला मुद्रा में और पैरों को स्वस्तिकापसृत करे सथा हाथों को अंचित, वलित और तलसंघट्टित मुद्रा में स्थित करे। फिर तत्परतापूर्वक क्रमशः निकुट्टक, उरूद्वृत्त, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों को प्रदर्शित करे तो 'मदविलसित' नामक अंगहार होता है ॥२०५–२०७॥

---

१. नितम्बः करिहस्तश्च उरो—ग० । २. कटिच्छेदं—ग० ।
३. मावृत्य—घ० । ४. कर्तव्यं तु निकुञ्चितम्—ग० ।
५. तथा—ग० । ६. स्फोटितं तथा—ग० ।
७. करिहस्तः कटिच्छेदो—ग० ।

गतिमण्डल—

मण्डलं[1] स्थानकं कृत्वा तथा हस्तौ च रेचितौ ॥ २०७ ॥
उद्वट्टितेन पादेन मत्तल्लिकरणं[2] भवेत्।
आक्षिप्तं करणं चैव ह्युरोमण्डलमेव च ॥ २०८ ॥
कटिच्छिन्नं[3] तथा चैव भवेत्तु गतिमण्डले।

यदि मण्डलस्थान का प्रदर्शन कर दोनों हाथों को रेचित मुद्रा में और पैरों को उद्वट्टित मुद्रा में रखे। फिर क्रमशः मत्तल्लि, आक्षिप्त, उरोमण्डल और कटिच्छिन्न करणों का प्रदर्शन करे तो 'गतिमण्डल' नामक अंगहार होता है ॥ २०७–२०९ ॥

परिच्छिन्न—

समपादं प्रयुज्याथ परिच्छिन्नं[4] त्वनन्तरम् ॥ २०९ ॥
आविद्धेन तु पादेन बाह्यभ्रमरकं तथा।
[5]वामसूच्या त्वतिक्रान्तं भुजङ्गत्रासितं तथा[6] ॥ २१० ॥
करिहस्तं कटिच्छिन्नं परिच्छिन्ने विधीयते।

यदि समपाद स्थान को प्रदर्शित कर फिर 'परिच्छिन्न' करण का प्रदर्शन करे और फिर आविद्ध पैर के द्वारा बाह्यभ्रमरक (भ्रमरी, (घुमाव) या चारी) का प्रदर्शन करें और बायें पैर से सूची चारी के द्वारा अर्धसूची करण का फिर क्रमशः अतिक्रान्त, भुजंगत्रासित, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों का प्रदर्शन करे तो 'परिच्छिन्न' नामक अंगहार होता है ॥ २०९–२११ ॥

परिवृत्तक-रेचित—

शिरसस्तूपरि स्थाप्यौ स्वस्तिकौ विच्युतौ[7] करौ ॥ २११ ॥
ततः सव्यं करं चापि गात्रमानम्य रेचयेत्।

---

१. मण्डलस्थानकं—ख० । २. मत्तल्ली—ग० । ३. कटिच्छेदं—ग० ।
४. परिच्छन्नस्त्वन—ग० । ५. वामं—ग० ।
६. इतः प्रभृति श्लोकत्रयं ग०—पुस्तके नास्ति । ७. विधुतौ—ख० ।

पुनरुत्थापयेत्तत्र गात्रमुन्नम्य [1]रेचितम् ॥ २१२ ॥
लताख्यौ च करौ कृत्वा वृश्चिकं सम्प्रयोजयेत् ।
रेचितं करिहस्तं च भुजङ्गत्रासितं तथा ॥ २१३ ॥
आक्षिप्तकं प्रयुञ्जीत स्वस्तिकं पादमेव[2] च ।
[3]पराङ्मुखविधिर्भूय[4] एवमेव भवेदिह ॥ २१४ ॥
करिहस्तं[5] कटिच्छिन्नं परिवृत्तकरेचिते ।

दोनों हाथों को मस्तक पर स्वस्तिक मुद्रा में ढीले रखते हुए स्थापित करे, फिर बायाँ हाथ रेचित करते हुए शरीर को झुका ले, फिर शरीर को ऊपर की ओर तान कर हाथ को रेचित मुद्रा में रखे और पुनः दोनों हाथों के द्वारा लता मुद्रा का प्रदर्शन करे। फिर क्रमशः वृश्चिक, रेचित, करिहस्त, भुजङ्गत्रासित और आक्षिप्तक करणों का प्रदर्शन करे। फिर स्वस्तिक पाद को रखते हुए उक्त विधान को पुनः उलटे घुमाव के साथ आवृत्त करे। और अन्त में करिहस्त और कटिच्छिन्न करणों का प्रदर्शन करे तो 'परिवृत्तक-रेचित' नामक अंगहार होता है ॥ २११-२१५ ॥

वैशाखरेचित—

रेचितौ सहगात्रेण ह्यपविद्धौ करौ यदा[6] ॥ २१५ ॥
पुनस्तेनैव देशेन गात्रमुन्नम्य रेचयेत् ।
कुर्यान्नूपुरपादञ्च[7] भुजङ्गत्रासितं तथा ॥ २१६ ॥
रेचितं मण्डलञ्चैव बाहुशीर्षे[8] निकुञ्चयेत् ।
ऊरूद्वृत्तं तथाक्षिप्तमुरोमण्डलमेव च ॥ २१७ ॥
करिहस्तं कटिच्छिन्नं कुर्याद्वैशाखरेचिते ।

यदि शरीर के साथ दोनों हाथों को रेचित कर 'अपविद्ध' मुद्रा में रखे फिर शरीर को झुकाते हुए उसी प्रकार पुनः आवृत्त कर दे फिर 'नूपुर

१. रेचयेत्—ख० । २. पदमेव—ग० । ३. पराङ्मुखौ विधि—घ० ।
४. भूयादेव—ग० । ५. करिहस्तः कटिच्छेदः—ग०; कटिच्छेदं—घ० ।
६. तथा—घ० । ७. कार्यं—ग० । ८. बाहुशीर्षं—ग० ।

तथा भुजङ्गत्रासित रेचित एवं मण्डलस्वस्तिक करणों का प्रदर्शन करे और बाहु तथा मस्तक को सिकुड़ाने के पश्चात् ऊरूद्वृत्त, आक्षिप्तक, उरोमण्डल, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों का प्रदर्शन करे तो 'वैशाखरेचित' नामक अंगहार होता है ॥ २१५-२१८ ॥

परावृत्त—

आद्यं तु जनितं कृत्वा पादमेकं प्रसारयेत् ॥ २१८ ॥

तथैवालातकं[1] कुर्यात् त्रिकं तु परिवर्तयेत् ।

अञ्चितं वामहस्तं च गण्डदेशे निकुट्टयेत् ॥ २१९ ॥

कटिच्छिन्नं तथा चैव परावृत्ते[2] प्रयोजयेत् ।

सर्वप्रथम 'जनित' करण को प्रदर्शित कर एक पैर को आगे बढ़ाए (या फैलाए), फिर 'अलात' करण का प्रदर्शन कर त्रिक को (भ्रमरी चारी में) घुमा दे, फिर बाएँ हाथ को झुकाकर गण्डस्थल पर कुट्टन करे और कटिच्छिन्न करण का प्रदर्शन करे तो 'परावृत्त' नामक अंगहार होता है ॥ २१८-२२० ॥

अलातक—

स्वस्तिकं करणं कृत्वा व्यंसितौ च करौ पुनः[3] ॥ २२० ॥

अलातकं प्रयुञ्जीत ह्यूर्ध्वजानु निकुञ्चितम् ।

अर्धसूची[4] च विक्षिप्तमुद्वृत्ताक्षिप्तके तथा ॥ २२१ ॥

करिहस्तं कटिच्छिन्नमङ्गहारे ह्यलातके ।

यदि 'स्वस्तिक' करण को प्रदर्शित कर दोनों हाथों को व्यंसित (अर्थात् दोनों हाथों को रेचित) रखे फिर क्रमशः अलातक, ऊर्ध्वजानु, निकुंचित, अर्धसूची, विक्षिप्त, उद्वृत्त, आक्षिप्त, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों का प्रदर्शन करे तो 'अलातक' नामक अंगहार होता है ॥ २२०-२२२ ॥

१. तथैवालातकं—ग० । २. परावृत्तं—ग० ।
३. ततः—ग० । ४. अर्धसूचीव—ग० ।

पार्श्वच्छेद—

निकुट्य वक्षसि करावूर्ध्वजानु प्रयोजयेत् ॥ २२२ ॥
आक्षिप्तं[1] स्वस्तिकं कृत्वा त्रिकं तु परिवर्तयेत् ।
उरोमण्डलकौ हस्तौ नितम्बं[2] करिहस्तकम् ॥ २२३ ॥
कटिच्छिन्नं[3] तथा चैव पार्श्वच्छेदे विधीयते ।

यदि 'निकुट्टित' मुद्रा वाले हाथों को वक्षःस्थल पर रखे तथा ऊर्ध्वजानु, आक्षिप्त तथा स्वस्तिक करणों को प्रदर्शित कर त्रिक को एक घुमाव दे दे (भ्रमरी चारी को प्रदर्शित करे) और फिर क्रमशः उरोमण्डल, नितम्ब, करिहस्त और कटिच्छिन्न करणों को प्रदर्शित करे तो 'पार्श्वच्छेद' नामक अंगहार होता है ॥ २२२-२२४ ॥

विद्युद्भ्रान्त—

[4]सूचीवामपदं दद्याद्विद्युद्भ्रान्तं च दक्षिणम् ॥ २२४ ॥
दक्षिणेन पुनः सूची विद्युद्भ्रान्तं च वामतः ।
परिच्छिन्नं तथा चैव त्रिकञ्च[5] परिवर्तयेत् ॥ २२५ ॥
लताख्यं सकटिच्छिन्नं[6] विद्युद्भ्रान्तश्च स स्मृतः ।

पहिले बाएँ पैर द्वारा 'सूची' चारी का प्रदर्शन कर दाहिने पैर द्वारा 'विद्युद्भ्रान्त' करण का प्रदर्शन करे फिर दाहिने पैर द्वारा 'सूची' चारी और बायें पैर द्वारा 'विद्युभ्रान्त' करण को प्रदर्शित करे। फिर 'छिन्न' करण को प्रदर्शित कर त्रिक को घुमाव दे दे और इसके पश्चात् तलाहस्त के साथ लतावृश्चिक और बाद में कटिच्छिन्न करण को प्रदर्शित करे तो 'विद्युद्-भ्रान्त' नामक अंगहार होता है ॥

उद्वृत्तक—

कृत्वा नूपुरपादं तु सव्यवामौ प्रलम्बितौ ॥ २२६ ॥
करौ पार्श्वे ततस्ताभ्यां विक्षिप्तं सम्प्रयोजयेत् ।

---

१. आक्षिप्तस्वस्तिकं—क० । २. नितम्बकरिहस्तकः—ग० ।
३. कटिच्छेदः—ग० । ४. सूचीं—ग० ।
५. ह्यतिक्रान्तश्च वामकम्—क० । ६. सकटिच्छेदं—ग० ।

ताभ्यां सूची तथा चैव त्रिकं तु परिवर्तयेत् ॥ २२७ ॥
लताख्यं सकटिच्छिन्नं[1] कुर्यादुद्वृत्तके सदा ।

यदि 'नूपुरपाद' चारी को दाहिने और बाएँ हाथ को (क्रमशः)झुलाते हुए प्रदर्शित करे, फिर दोनों हाथों को वैसे ही प्रदर्शित कर 'विक्षित' करण को प्रदर्शित करे, फिर वैसे ही हाथों से 'सूची' करण को प्रदर्शित करे और त्रिक को एक घुमाव दे दे (अर्थात् 'भ्रमरी' चारी का प्रदर्शन करे) फिर लता (लतावृश्चिक) तथा कटिच्छिन्न करणों का प्रदर्शन करे तो 'उद्वृत्तक' नामक अंगहार होता है ॥ २२६-२२८ ॥

आलीढ़—

आलीढव्यंसितौ हस्तौ बाहुशीर्षे निकुट्टयेत् ॥ २२९ ॥
नूपुरश्चरणो वामस्तथालातश्च दक्षिणः ।
तेनैवाक्षिप्तकं कुर्यादुरोमण्डलकौ करौ ॥ २२९ ॥
करिहस्तं कटिच्छिन्न[2]मालीढे सम्प्रयोजयेत् ।

यदि 'आलीढ़' स्थान के साथ 'व्यंसित' करण को प्रदर्शित करते हुए दोनों हाथों को बाहुओं के कोनों पर पीटे (या फटकारे), फिर बायें पैर से 'नूपुर' करण को तथा दाहिने से 'अलात' करण को प्रदर्शित करे और उसी के द्वारा फिर 'आक्षिप्तक' करण भी प्रदर्शित किया जाए। तत्पश्चात् दोनों हाथों द्वारा 'उरोमण्डल' मुद्राओं को प्रदर्शित करते हुए करिहस्त और कटिच्छिन्न करणों को प्रदर्शित करे तो 'आलीढ़' नामक अंगहार होता है।

रेचित—

हस्तं तु रेचितं कृत्वा पार्श्वमानस्य रेचयेत् ॥ २३० ॥
पुनस्तेनैव योगेन गात्रमानम्य[3] रेचयेत् ।
रेचितं[4] करणं [5]कार्यमुरोमण्डलमेव च ॥ २३१ ॥

---

१. सकटिच्छेदं—ग० । २. कटिच्छेद—ग० । ३. मुन्नम्य—ग० ।
४. अनयोर्मध्ये–कार्यं नूपुरपादश्च भुजङ्गत्रासितं तथा—इति पद्यार्धमधिकं ग०—पुस्तके । ५. कुर्यादुरोमण्डल—घ० ।

कटिच्छिन्नं[1] तु कर्तव्यमङ्गहारे तु रेचिते ।

यदि 'रेचित' हस्त को (किसी एक) बाजू में ले जाकर 'रेचित' अवस्था में नमाए फिर उसी 'रेचित' अवस्था में सारे शरीर को नमाते हुए प्रदर्शित करे और (नूपुरपाद, भुजंगत्रासित, रेचित, उरोमण्डल और कटिच्छिन्न करणों को प्रदर्शित करे—पाठान्तर के अनुसार अर्थ) फिर रेचित, उरोमण्डल तथा कटिच्छिन्न करणों को प्रदर्शित करे तो 'रेचित' नामक अंगहार होता है ॥ २३०–२३२ ॥

आच्छुरित—

नूपुरं चरणं[2] कृत्वा त्रिकं तु परिवर्तयेत् ॥ २३२ ॥
व्यंसितेन तु हस्तेन त्रिकमेव[3] [4]विवर्तयेत् ।
पदं[5] चालातकं कृत्वा सूचीमत्रैव[6] योजयेत् ॥ २३३ ॥
करिहस्तं कटिच्छिन्नं[7] कुर्यादाच्छुरिते सदा[8] ।

यदि 'नूपुर' करण को प्रदर्शित कर त्रिक को एक घुमाव दे दे और फिर 'व्यंसित' करण का प्रदर्शन कर त्रिक को एक चक्कर दे, फिर बाएँ पैर से 'अलातक' करण को प्रदर्शित कर सूची, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों को प्रदर्शित करे तो 'आच्छुरित' नामक अंगहार होता है ॥ २३२–२३४ ॥

आक्षिप्तरेचित—

रेचितौ स्वस्तिकौ पादौ रेचितौ स्वस्तिकौ करौ ॥ २३४ ॥
कृत्वा विश्लेषमेवं तु तेनैव विधिना पुनः ।
पुनरुत्क्षेपणं चैव रेचितैरेव कारयेत् ॥ २३५ ॥
उद्वृत्ताक्षिप्तके चैव ह्युरोमण्डलमेव च ।
नितम्बं करिहस्तं च कटिच्छिन्नं तथैव च ॥ २३६ ॥

१. कटिच्छेदः—ग० । २. करणं—ग० । ३. त्रिकञ्चैव—ग० ।
४. निवर्तयेत्—ग० । ५. वामं—ग० । ६. तत्रैव—ग० ।
७. कटिच्छेदं—ग० । ८. तथा—ग० ।

आक्षिप्तरेचितो[1] ह्येष करणानां विधिः स्मृतः ।

यदि दोनों स्वस्तिक पाद 'रेचित' हो तथा इसी प्रकार स्वस्तिक हाथ भी (रेचित) रहे और फिर वे 'रेचित' क्रिया के द्वारा ही पृथक् हों और फिर रेचित क्रिया के द्वारा उन्हें ऊपर की ओर उछाला जाए; फिर उद्वृत्त, आक्षिप्तक, उरोमण्डल, नितम्ब, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों को क्रमशः प्रदर्शित करे तो 'आक्षिप्तरेचित' नामक अंगहार होता है ॥ २३४–२३७ ॥

सम्भ्रान्त—

विक्षिप्तं[2] करणं कृत्वा हस्तपादं मुखानुगम् ॥ २३७ ॥
वामसूचीसहकृतं[3] विक्षिपेद्वामकं करम् ।
वक्षःस्थाने[4] भवेत्सव्यो वलितं त्रिकमेव च ॥ २३८ ॥
नूपुराक्षिप्तके चैव ह्यर्धस्वस्तिकमेव च ।
नितम्बं करिहस्तं च [5]ह्युरोमण्डलकं तथा ॥ २३९ ॥
कटिच्छिन्नं[6] च कर्तव्यं सम्भ्रान्ते नृत्तयोक्तृभिः ।

यदि विक्षिप्त करण को प्रदर्शित कर दोनों हाथ और पैरों को मुख की अनुगामिनी स्थित में रखते हुए बाएँ हाथ को 'सूची' मुद्रा में विक्षिप्त करे तथा दाहिने हाथ को वक्षःस्थल पर रख ले फिर त्रिक को (भ्रमरीचारी में) एक घुमाव दे । फिर क्रमशः नूपुर, आक्षिप्तक, अर्धस्वस्तिक, नितम्ब, करिहस्त, उरोमण्डल तथा कटिच्छिन्न करणों का प्रदर्शन करे तो 'सम्भ्रान्त' नामक अंगहार होता है ॥ २३७–२४० ॥

अपसर्पितक—

अपक्रान्तक्रमं कृत्वा व्यंसितं हस्तमेव च ॥ २४० ॥
कुर्यादुद्वेष्टितं चैव ह्यर्धसूचीं तथैव च ।

---

१. रेचकेष्वेषः—ग० । २. विक्षिप्तकरणं—ख० ।
३. सूचीकरं—ख० । ४. वक्षस्थं च—ग० ।
५. स्यादुरोमण्डलं तथा—ग० । ६. कटिच्छेदश्च कर्तव्यः—ग० ।

विक्षिप्तं सकटिच्छिन्न[1]मुद्‌वृत्ताक्षिप्तके तथा ॥ २४१ ॥
करिहस्तं कटिच्छिन्नं कर्तव्यमपसर्पिते ।

यदि 'अपक्रान्त' करण को प्रदर्शित करते हुए 'व्यंसित' करण को केवल हाथों से प्रदर्शित करे तथा हाथों को 'उद्वेष्टित' मुद्रा में कम्पित करते हुए फिर 'अर्धसूची' विक्षिप्त, कटिच्छिन्न, उद्‌वृत्त, आक्षिप्तक, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों को प्रदर्शित करे तो 'अपसर्पितक' (अपसर्पतिकं) नामक अंगहार होता है ॥ २४०–२४२ ॥

अर्धनिकुट्टक—

कृत्वा नूपुरपादं च द्रुतमाक्षिप्य च क्रमम् ॥ २४२ ॥
पादस्य चानुगौ हस्तौ त्रिकं च परिवर्तयेत् ।
निकुट्य करपादं चाप्युरोमण्डलकं पुनः ॥ २४३ ॥
करिहस्तं[2] कटिच्छिन्नं कार्यमर्धनिकुट्टके ।
द्वात्रिंशदेते सम्प्रोक्ता ह्यङ्गहारा[3] द्विजोत्तमाः ॥ २४४ ॥

यदि 'नूपुरपाद' चारी को शीघ्रता से (वेग से) प्रदर्शित करे और हाथों को पैर की गति के अनुसार रखते हुए त्रिक को (भ्रमरी चारी में) घुमाव दे दे, फिर हाथों और पैरों को 'निकुट्टन' क्रिया से युक्त रखकर क्रमशः उरोमण्डल, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों को प्रदर्शित करे तो 'अर्धनिकुट्टक' नामक अंगहार होता है। हे मुनियों, इस प्रकार मैंने ये बत्तीस अंगहार आपको बतलाए ॥ २४२-२४४ ॥

रेचक—

चतुरो रेचकांश्चापि[4] गदतो मे निबोधत ।
पादरेचक एकः स्यात् द्वितीयः कटिरेचकः ॥ २४५ ॥
कररेचकस्तृतीयस्तु चतुर्थः कण्ठरेचकः ।

१. सकटिच्छेद—ग० । २. करिहस्तः कटिच्छेदः कार्यस्त्वर्धनिकुट्टके—ग० ।
३. स्त्वङ्गहारा—घ० । ४. श्चैव—घ० ।

अब मैं आपको चार रेचक बतलाता हूँ। इन्हें भी आप मुझसे जानिये। इन रेचकों में प्रथम पादरेचक, द्वितीय कटिरेचक, तृतीय हस्तरेचक तथा चतुर्थ ग्रीवारेचक कहलाता है ॥ २४५-२४६ ॥

रेचिताख्यः पृथग्भावे वलने चाभिधीयते ॥ २४६ ॥
उद्वाहनात्पृथग्भावाद् वलनाच्चापि[1] रेचकः।

यह 'रेचक' पृथक्-पृथक् (या स्वतन्त्र रूप में) एक गोल घुमाव लेने के अर्थ में प्रयुक्त (या अभिहित) होता है। या इसे 'रेचक' इसलिए भी कहते हैं कि यह ऊपर की ओर (उठाव लेकर) गतिशील होता है या पृथक्-पृथक् चाल से गतिशील रहता है ॥ २४६-२४७ ॥

पादरेचक—

पार्श्वात्पार्श्वे तु गमनं स्खलितैश्चलितैः पदैः ॥ २४७ ॥
विविधैश्चैव पादस्य पादरेचक उच्यते।

यदि स्खलित गति वाले या दो भिन्न गतियाँ वाले पैरों को एक बाजू से दूसरी बाजू की ओर विभिन्न गतियों द्वारा चलाया जाए तो इसे 'पादरेचक' जानिये ॥ २४७-२४८ ॥

कटिरेचक—

त्रिकस्योद्वर्तनं चैव कटीवलनमेव[2] च ॥ २४८ ॥
तथाऽपसर्पणं चैव कटिरेचक उच्यते।

यदि त्रिक को ऊपर की ओर उठाया जाए या कटि को एक चक्कर दे दिया जाए और फिर उसे पीछे की ओर हटा दिया जाए तो इसे 'कटिरेचक' जानिये ॥ २४८ ॥

हस्तरेचक—

उद्वर्तनं[3] परिक्षेपो विक्षेपः[4] परिवर्तनम् ॥ २४९ ॥
विसर्पणं च हस्तस्य हस्तरेचक उच्यते।

---

१. चलनाच्चापि—ख०, घ०। २. कटीचलनमे—ग०।
३. उद्वर्तनः—ख०। ४. विक्षेपपरिवर्तनम्—घ०।

हाथों का ऊपर की ओर उठाना, फेंकना (परिक्षेपः), सम्मुख करना, गोल चक्करदार घुमाव लेना तथा पीछे की ओर हटाना (विसर्पणम्) 'हस्तरेचक' कहलाता है ॥ २४९-२५० ॥

ग्रीवारेचक—

उद्वाहनं सन्नमनं तथा पार्श्वस्य[1] सन्नतिः ॥ २५० ॥
भ्रमणं चापि विज्ञेयो ग्रीवाया रेचको बुधैः ।

ग्रीवा का ऊपर की ओर तानना, (या उठाना) झुकाना, या उसे बाजू से झुका लेना, घुमाव लेना (या गतिशील होना—भ्रमणं) 'ग्रीवारेचक' कहलाता है ॥ २५०-२५१ ॥

रेचकैरङ्गहारैश्च नृत्यन्तं वीक्ष्य शङ्करम् ॥ २५१ ॥
सुकुमारप्रयोगेण नृत्यतिस्म[2] च पार्वती ।
मृदङ्गभेरीपटहै[3]र्भाण्डडिण्डिमगोमुखैः ॥ २५२ ॥
पणवैर्दर्दुरैश्चैव[4] सर्वातोद्यैः प्रवादितैः[5] ।
दक्षयज्ञे विनिहते सन्ध्याकाले महेश्वरः ॥ २५३ ॥
नानाङ्गहारैः प्रानृत्यल्लयतालवशानुगैः[6] ।

इन रेचक तथा अंगहारों से युक्त शिव को नृत्य करते देख पार्वती ने भी सुकुमार प्रयोगों से युक्त एक नृत्य किया। और इस नृत्य की मृदंग भेरी, पटह, भाण्ड, डिण्डिम, गोमुख, पणव तथा दर्दुर नामक वाद्यों द्वारा संगत की गई। ऐसा होने पर दक्ष के यज्ञ के ध्वंस के पश्चात् किसी सन्ध्या में भगवान शिव ने अनेक लय तथा ताल के अनुसार (गतिशील अनेक) अंगहारों से युक्त होकर नृत्य किया ॥ २५१-२५४ ॥

पिण्डीबन्धांस्ततो[7] दृष्ट्वा नन्दिभद्रमुखा गणाः ॥ २५४ ॥

---

१. पार्श्वश्च—ख० । २. नृत्यन्ती चैव पार्वतीम्—ख० ।
३. झञ्झा—ख० । ४. दर्दुराद्यैश्च नानातोद्यैः—घ० ।
५. प्रमादितैः—ख० । ६. तालवशानुगम्—ख० ।
७. डिण्डिमभ्रान्तितो—ग० ।

चक्रुस्ते[1] नाम पिण्डीनां बन्धमासां[2] सलक्षणम् ।

तब नन्दी तथा भद्रमुख प्रभृति गणों ने पिण्डीबन्धों को (जो कि इस प्रकार के नृत्य में विद्यमान थे) देखकर उनके लक्षण तथा नाम रख लिये ।

पिण्डीबन्ध-नाम तथा स्वरूप—

ईश्वरस्येश्वरी[3] पिण्डी नन्दिनश्चापि पट्टसी[4] ॥ २५५ ॥
चण्डिकाया भवेत्पिण्डी तथा वै सिंहवाहिनी ।
तार्क्ष्यपिण्डी भवेद्विष्णोः पद्मपिण्डी स्वयंभुव ॥ २५६ ॥
शक्रस्यैरावती पिण्डी झषपिण्डी[5] तु मान्मथी ।
शिखिपिण्डी कुमारस्य रूपपिण्डी[6] भवेच्छ्रियः ॥ २५७ ॥
धारापिण्डी च जाह्नव्याः पाशपिण्डी यमस्य च ।
वारुणी च नदीपिण्डी याक्षी स्याद्धनदस्य तु ॥ २५८ ॥
हलपिण्डी बलस्यापि सर्पपिण्डी तु भोगिनाम् ।
गाणेश्वरी महापिण्डी दक्षयज्ञविमर्दिनी ॥ २५९ ॥
त्रिशूलाकृतिसंस्थाना रौद्री स्यादन्धकद्विषः[7] ।
एवमन्यास्वपि तथा दैवतासु तथाक्रमम् ॥ २६० ॥
ध्वजभूताः[8] प्रयोक्तव्या पिण्डीबन्धाः सुचिह्निताः ।

ये पिण्डीबन्ध—जिनके नाम विभिन्न देवगण तथा देवियों के नाम पर रखे गए–इस प्रकार हैं—ईश्वर की पिण्डी का नाम ईश्वरी, नन्दी की पट्टसी चण्डिका की (पिण्डी) सिंहवाहिनी, विष्णु की तार्क्ष्य, स्वयंभू (ब्रह्मा) की पद्म, शक्र की ऐरावती, मन्मथ (काम) की झष, कुमार (स्कन्द) की शिखी, श्री की रूप (उलूक ?), जाह्नवी की धारा, यम की पाश, वरुण

१. चक्रुर्नामानि—घ० । २. बन्धांश्चैव सलक्षणान्—ग० ।
३. ऐश्वरी वृषपिण्डी च—ग० । ४. पादसी—ग० ।
५. झषा स्यान्मन्मथस्य तु—ख; उरुपिण्डी तू मान्मथी—ग० ।
६. उलूपिण्डी—घ० । ७. अन्तकद्विषः—ग० । ८. वज्रभूताः—घ० ।

की नदी, कुबेर की याक्षी, बलराम की हली (हलपिण्डी); भोगियों की सर्प, गणों की दक्षयज्ञविमर्दिनी नामक महापिण्डी तथा भगवान शंकर की जिनके द्वारा अन्धकासुर का विनाश किया गया—उनके त्रिशूल की आकृति (या चिह्न) से अंकित रौद्री नामक पिण्डी होती है। इसी प्रकार अन्य (अवशिष्ट) देवों तथा देवियों की पिण्डियाँ भी उनके अपने चिह्नों से चिह्नित एवं उनके नाम के अनुसार रहना चाहिए ॥ २५६–२६१ ॥

ताण्डव का उद्भव—

रेचका अङ्गहाराश्च पिण्डीबन्धास्तथैव च ॥ २६१ ॥
सृष्ट्वा भगवता दत्तास्तण्डवे[1] मुनये तदा।
तेनापि हि ततः सम्यग्गानभाण्डसमन्वितः ॥ २६२ ॥
[2]नृत्तप्रयोगः सृष्टो यः स ताण्डव इति स्मृतः।

इस प्रकार भगवान शिव ने रेचक, अंगहार तथा पिण्डीबन्धों के सृजन कार्य को पूर्ण करने के पश्चात् उन्हें तण्डु मुनि को प्रदान कर दिया। तब उन तण्डु मुनि ने (उन्हें) गान तथा भाण्डवाद्य, (वाद्य तथा गीत) से (ठीक प्रकार से) संयुक्त कर जिस नृत्त प्रयोग की सर्जना की वह 'ताण्डव' नाम से प्रसिद्ध हुआ (तण्डु के द्वारा उद्भावित होने के कारण उसकी प्रसिद्धि ताण्डव नाम से हुई) ॥ २६१–२६३ ॥

नृत्त का स्वरूव तथा उपयोगिता—

ऋषय ऊचुः–यदा प्राप्त्यर्थमर्थानां तज्ज्ञैरभिनयः कृतः ॥ २६३ ॥
[3]कस्मान्नृत्तं कृतं ह्येतत्कं स्वभावमपेक्षते।
न गीतकार्थसम्बद्धं[4] न चाप्यर्थस्य भावकम् ॥ २६४ ॥
कस्मान्नृत्तं कृतं ह्येतद्गीतेष्वासारितेषु च।

ऋषिगण का प्रश्न—

जब अर्थों के (गीत तथा संवाद के—जो कि रूपक में अवस्थित रहते

१. स्ताण्डिने—ग०। २. नृत्य—ग०।
३. तस्मान्नृत्तं—ख०, तस्मान्नृत्ते कृते—ग०। ४. सम्बद्धो—ग०।

हैं) उपयोग के लिए (तज्ज्ञ) विद्वानों ने 'अभिनय' की सृष्टि (या स्थापना कर दी तो इस 'नृत्य' की सर्जना किस उद्देश्य की, पूर्ति के लिए की गई ? तथा इसकी प्रकृति (स्वरूप, स्थिति या लक्षण) किस प्रकार की रखी गई ?

इस नृत्त की 'आसारित' गीतों से सम्बद्ध करते हुए रचना क्यों की गई ? क्योंकि यह न तो गीतों से तथा न ही उनके प्रतिपाद्य अर्थों (संवादों) से ही सम्बद्ध है ।। २६३-२६५ ।।

भरत उवाच—

अत्रोच्यते न खल्वर्थं कंचिन्नृत्तमपेक्षते ।। २६५ ।।
किं तु शोभां प्रजनयेदिति[1] नृत्तं प्रवर्तितम् ।

प्रायेण सर्वलोकस्य नृत्तमिष्टं स्वभावतः ।। २६६ ।।
मङ्गल्यमिति कृत्वा च नृत्तमेतत्प्रकीर्तितम् ।

विवाहप्रसवावाहप्रमोदाभ्युदयादिषु ।। २६७ ।।
विनोदकरणं[2] चेति नृत्तमेतत्प्रवर्तितम्[3] ।

भरत मुनि ने (प्रश्नों के उत्तर में) कहा—इस विषय में जो आशंकाएँ हैं उनके विषय में बतलाया जा रहा है । यह जो कहा गया कि 'नृत्त' किसी अर्थ विशेष की अभिव्यक्ति की उपयोगिता से रहित है—यह ठीक है; किन्तु इसे शोभा की सृष्टि के हेतु भी संयोजित किया जाता है ।

प्रायः सभी मनुष्य की स्वाभाविक तौर पर 'नृत्त' इष्ट है तथा यह मंगलप्रद भी है इसीलिए इसका कथन (सृजन) किया है ।

यह 'नृत्त' विवाह, पुत्रजन्म, जामाता की बारात में उपस्थिति के अवसर पर और विजयप्राप्ति के उपलक्ष में किये जाने वाले आमोद-प्रमोद के लिये ही बनाया गया है ।। २६५-२६८ ।।

१. जनयतीत्यतो नृत्तमिदं स्मृतम्—ग० । २. कारणं—ख० ।
३. प्रकीर्तितम्—ग० ।

अतश्चैव प्रतिक्षेपाद्भूतसङ्घैः[1] प्रवर्तिताः[2] ॥ २६८ ॥
ये गीतकादौ युज्यन्ते सम्यङ्नृत्तविभागकाः ।

अतएव भूत गण (के समुदाय) ने संयोजित (इसमें) प्रतिक्षेपों[1] की प्रशंसा की (या प्रवर्तना की)—जो नृत्त का ठीक प्रकार से विभाजन कर गीत के प्रारंभ में—प्रयुक्त किये जाते हैं ॥ २६८–२६९ ॥

देवेन चापि[3] सम्प्रोक्तस्तण्डुस्ताण्डवपूर्वकम् ॥ २६९ ॥
गीतप्रयोगमाश्रित्य नृत्तमेतत्प्रवर्त्यताम्[4] ।
प्रायेण ताण्डवविधिर्देवस्तुत्याश्रयो भवेत् ॥ २७० ॥
सुकुमारप्रयोगश्च शृङ्गाररससम्भवः ।

भगवान शंकर ने भी इस ताण्डव को तण्डु को बतलाते हुए कहा कि इसका गीतों से सम्बद्ध करते हुए ही प्रयोग किया जाए ।

प्रायः ताण्डव (नृत्त) देवताओं की वन्दना हेतु ही किया जाता है परन्तु यह शृंगाररस से युक्त तथा उससे उद्‌भूत सुकुमार भावों के प्रयोग से सम्बद्ध (भी) हो सकता है ॥ २६९–२७१ ॥

ताण्डव की वर्धमानक के साथ योजना (एवं प्रयोग विधि)

तस्य [5]तण्डुप्रयुक्तस्य ताण्डवस्य विधिक्रियाम् ॥ २७१ ॥

---

१. प्रतिक्षेप का लक्षण नाटचशास्त्र में उपलब्ध नहीं होता । आचार्य अभि० ने बतलाया है कि अतिशय स्तुति से युक्त गीत विशेष का नाम ही प्रतिक्षेप है । अन्य आचार्यों का मत है कि गीत की समाप्ति पर प्रयुक्त किये जाने वाले 'छन्दक' आदि की नृत्त में विचित्रता उत्पन्न करने के लिये यथारुचि प्रतिक्षिप्ति (स्थापना) की जाने (इसी कारण अंगभूत होने) से प्रतिक्षेप कहलाते हैं ।

(प्रचुरस्तुतियुक्तो गीतिविशेषः,प्रतिक्षेपः । अन्ये तु गीतान्ते प्रयोज्यच्छन्दकादय एव नृत्तवैचित्र्याश्रया यथारुचि प्रतिक्षिप्यमानाङ्गकाः प्रतिक्षेपाः । (अभि० भारती) पृ० १८२, Vol. I., G. O. S. Baroda Edi.)

---

१. भुजासङ्घैः—ख०; प्रतिक्षेपभूतसङ्घैः—घ० । २. प्रकीर्तिताः—ग० । ३. वापि—ग० । ४. प्रनृत्यताम्—ग० । ५. ताण्डचप्रयु—ग० ।

वर्धमानकमासाद्य संप्रवक्ष्यामि लक्षणम् ।
कलानां वृद्धिमासाद्य ह्यक्षराणां च वर्धनात् ॥ २७२ ॥
लयस्य[1] वर्धनाच्चापि वर्धमानकमुच्यते ।

अब मैं तण्डुमुनि द्वारा अभिहित ताण्डव की, वर्धमानक के (लक्षण के) साथ संयोजन विधि या लक्षण बतलाता हूँ । (क्योंकि) यह कला, (मात्रा) लय तथा अक्षरों की वृद्धि करता है इसी कारण यह 'वर्धमानक' कहलाता है ॥ २७१–२७३ ॥

आसारित—

कृत्वा कुतपविन्यासं यथावद् द्विजसत्तमाः ॥ २७३ ॥
आसारितप्रयोगस्तु ततः कार्यः प्रयोक्तृभिः ।
तत्र तूपोहनं[2] कृत्वा तन्त्रीगान[3]समन्वितम् ॥ २७४ ॥
कार्यः प्रवेशो नर्तक्या भाण्डवाद्यसमन्वितः ।

हे मुनियों, यथोपयुक्त संगीत वाद्यों (कुतपों) की स्थापना करने (व्यावस्था करने) के पश्चात् (सूत्रधार) 'आसारित' का प्रयोग करे ।

तब वीणा तथा गीत से युक्त उपोहन का प्रयोग करने के उपरान्त— नर्तकी को रंगमंच पर प्रवेश करना चाहिए जो भाण्ड (अवनद्ध) वाद्य के वादन के साथ (ताल से युक्त) हो ॥ २७३–२७५ ॥

विशुद्धकरणायां तु जात्यां वाद्यं प्रयोजयेत् ॥ २७५ ॥
गत्या[4] वाद्यानुसारिण्यां[5] तस्याश्चारीं प्रयोजयेत् ।
वैशाखस्थान[6]केनेह सर्वरेचकचारिणी ॥ २७६ ॥

इस समय प्रयुक्त संगीत विशुद्ध करणों और जातियों से युक्त हो तथा

१. वर्धनान्नर्तकीनाञ्च—ख; लक्ष्यस्य बन्धनाच्चापि—ग० ।
२. चोपोहनं—ग० । ३. तन्त्रीभाण्ड—ग० । ४. गीत्या—ग० ।
५. वाद्यानुसर्पिण्या—ग० । ६. वैशाखस्तालकेनेह—ग० ।

साथ में वाद्य का वादन भी किया जाए। फिर वाद्य (ताल) के अनुसार गति प्रदर्शित करते हुए (यह) नर्तकी चारी को प्रदर्शित करे (प्रयुक्त करे)।

(वह) नर्तकी 'वैशाखस्थान' के द्वारा सभी (चारों प्रकार के) रेचकों से युक्त गति को प्रदर्शित करती हुई अंजलि में पुष्पों को धारण कर मंच पर प्रवेश करे ॥ २७५–२७६ ॥

पुष्पाञ्जलिधरा भूत्वा प्रविशेद्रङ्गमण्डपम्।
पुष्पाञ्जलिं विसृज्याथ रङ्गपीठं परीत्य च ॥ २७७ ॥
प्रणम्य देवताभ्यश्च ततोऽभिनयमाचरेत्।

(देवगण हेतु) और गोल चक्कर लगाते हुए अपने हाथों से उसे रंगमंच पर विकीर्ण कर देवताओं को प्रणाम करे और फिर विभिन्न गीत एवं मुद्राओं के प्रदर्शन के साथ अभिनय प्रारम्भ करे ॥ २७७–२७८ ॥

यत्राभिनेयं गीतं स्यात्तत्र वाद्यं न योजयेत् ॥ २७८ ॥
अङ्गहारप्रयोगे तु भाण्डवाद्यं विधीयते[1]।

जब अभिनय को किसी गीत के अनुसार प्रदर्शित किया जा रहा हो तब उसके साथ वाद्य (संगीत) की योजना (संगत) नहीं की जानी चाहिए, किन्तु अंगहारों के प्रयोग की दशा में भाण्डवाद्य (अवनद्धवाद्य, मृदंग या भाण्ड) की योजना (अवश्य) की जाए ॥ २७८–२७९ ॥

समं रक्तं विभक्तं च स्फुटं शुद्धप्रहारजम् ॥ २७९ ॥
नृत्ताङ्गग्राहि वाद्यज्ञैर्वाद्यं योज्यं तु ताण्डवे।

ताण्डव में जिस वाद्य की योजना की जाए वह वाद्य सम, रक्त, विभक्त तथा स्फुट हो और स्पष्ट प्रहारों के कारण शुद्ध ताल को उत्पन्न करते हुए नृत्त के विभागों को यथोचित रूप से बतलाता हो ॥ २७९–२८० ॥

प्रयुज्य गीतवाद्ये[2] तु निष्क्रामेन्नर्तकी ततः ॥ २८० ॥
अनेनैव विधानेन प्रविशन्त्यपराः पृथक्[3]।

१. प्रयोजयेत्—ग०। २. गीतमेवं—ग०। ३. पुनः—ग०।

अन्याश्चानुक्रमेणाथ पिण्डीं बध्नन्ति या:[1] स्त्रियः ॥ २८१ ॥
तावत्पर्यस्तकः[2] कार्यो यावत् पिण्डी न बध्यते ।
पिण्डीं बध्वा ततः सर्वा निष्क्रामेयुः स्त्रियस्तु ताः ॥ २८२ ॥

इस प्रकार गीत का वाद्यों के साथ प्रदर्शन कर नर्तकी रंगमंच से निष्क्रमण करे और फिर इसी प्रकार अन्य (उसी के समान) नर्तकियों मंच पर प्रविष्ट हों ।

ये नर्तकियाँ क्रमशः (इसी) विधान के अनुसार तब तक 'पिण्डीबन्ध' की रचना (या प्रदर्शन) न करें जब तक सभी (क्रमशः) अपना प्रदर्शन (पूरा) नहीं करतीं । इसके पश्चात् वे 'पर्यस्तक' को प्रदर्शित करना प्रारंभ कर दें और 'पिण्डीबन्ध' के (प्रयोग के) पूर्ण हो जाने के उपरान्त ये नर्तकियाँ भी मंच से निष्क्रमण करें ॥ २८०–२८२ ॥

पिण्डीबन्धेषु वाद्यं तु कर्तव्यमिह वादकैः ।
पर्यस्तकप्रमाणेन चित्रौघकरणान्वितम् ॥ २८३ ॥

तत्रोपवहनं[3] भूयः कार्यं पूर्ववदेव हि ।
ततश्चासारितं भूयो गायनं तु प्रयोजयेत् ॥ २८४ ॥

पूर्वेणैव विधानेन प्रविशेच्चापि नर्तकी ।
गीतकार्थं[4] त्वभिनयेद् द्वितीयासारितस्य तु ॥ २८५ ॥
तदेव च पुनर्वस्तु नृत्तेनापि प्रदर्शयेत् ।

इन पिण्डीबन्धों के मंच पर प्रदर्शन के अवसर पर वादकों द्वारा वाद्यों का ऐसा वादन किया जाए जो अनेक या विचित्र ओघ तथा करणों से युक्त हो और जो 'पर्यस्तक' के समय प्रयुक्त वाद्य वादन जैसा (स्वरूपवाला) रहता हो ।

तब पुनः पूर्ववत् 'उपोहन' का प्रयोग किया जाए और पुनः 'आसारित'

---

१. ताः—ग० । २. पर्यस्ततः—ग०
३. अथोपवहनं—ग० । ४. गीतकार्थप्रयोगश्च—ग०; गीतकार्थं प्रयोजयेत्—घ० ।

का भी (प्रयोग हो)। एक 'गीत' की भी पुनः योजना की जाए और एक नर्तकी पूर्ववत् मंच पर प्रविष्ट हो और वह उस गाए जाने वाले गीत की विषय वस्तु को—जो द्वितीय आसारित प्रयोग के अवसर पर गायी गयी थी—उपयुक्त नृत्य (की मुद्राओं) के (प्रदर्शन) द्वारा अभिनीत करे।

आसारिते[1] समाप्ते तु निष्क्रामेन्नर्तकी ततः ॥ २८६ ॥
पूर्ववत्प्रविशन्त्यन्याः[2] प्रयोगः स्यात्स एव हि।
एवं पदे पदे कार्यो विधिरासारितस्य तु ॥ २८७ ॥
भाण्डवाद्यकृते[3] चैव तथा गानकृतेऽपि[4] च।
[5]एका तु प्रथमं योज्या द्वे द्वितीयं तथैव च ॥ २८८ ॥
तिस्रो यस्तु तृतीयं तु चतस्रस्तु चतुर्थकम्।

इस प्रकार 'आसारित' विधि को पूर्ण कर वह नर्तकी मंच से चली जाए।

तब पूर्ववत् अन्यनर्तकियाँ मंच पर प्रविष्ट हों और इसी प्रकार यही 'नृत्त प्रयोग' पुनः प्रदर्शित करें।

इस प्रकार प्रत्येक पद-गति पर 'आसारित' प्रयोग की विधि का अनुसरण किया जाए। (भाण्ड) वाद्य के वादक तथा गीत के गायक भी इसी का अनुसरण करें। पहिले गीत का एक पाद एक बार गाया जाए। दूसरा पाद (पदवस्तु) दो बार, तीसरा तीन बार तथा चौथा चार बार गाया जाए ॥ २८६-२८८ ॥

पिण्डीनां विधयश्चैव चत्वारः सम्प्रकीर्तिताः ॥ २८९ ॥
पिण्डी श्रृङ्खलिकाचैव[6] लताबन्धोऽथ भेद्यकः।

'पिण्डी' के चार प्रकार होते हैं—यथा—पिण्डी, शृङ्खलिका, लताबन्ध तथा भेद्यक ॥ २८९ ॥

---

१. आसारितसमाप्तौ च—घ०। २. प्रविशेच्चान्याः—ग०।
३. वाद्यकृतश्चैव—ग०। ४. गानकृतोऽपि च—ग०।
५. एकान्तु प्रथमं कुर्याद् द्वे द्वितीयन्तु वस्तुकम्—ग०।
६. शृंखलिता—ग०।

पिण्डीबन्धस्तु पिण्डत्वाद्गुल्मः शृङ्खलिका भवेत् ॥ २९० ॥
[1]जालोपनद्धा च लता सनृत्तो भेद्यकः स्मृतः ।

इसका 'पिण्डी' या पिण्डीबन्ध' नाम (इसके) पिण्डीभूत होने के कारण (अर्थानुसारी रखा गया) है । गुल्म (गुच्छा समूह) होने से, 'शृंखलिका' परस्पर जाल जैसा गूँथा होने से 'लताबन्ध' तथा 'भेद्यक' नृत्त से युक्त वह प्रकार है जिसमें सभी नर्तकियाँ एक दूसरे से पृथक् हो जाएँ ।

पिण्डीबन्धः कनिष्ठे तु शृङ्खला तु लयान्तरे ॥ २९१ ॥
मध्यमे च लताबन्धो ज्येष्ठे चैवाथ भेद्यकः ।

पिण्डीबन्ध का प्रयोग कनिष्ठ (प्रथम या छोटे) आसारित में, शृङ्खला का प्रयोग लय के मध्य में, लताबन्ध का प्रयोग मध्य स्थिति या मध्यम आसारित में और 'भेद्यक' का प्रयोग ज्येष्ठ आसारित में किया जाए ॥२९१॥

पिण्डीनां द्विविधा योनिर्यन्त्रं[2] भद्रासनं तथा ॥ २९२ ॥
शिक्षायोगस्तथा[3] चैव प्रयोक्तव्यः प्रयोक्तृभिः[4] ।
एवं प्रयोगः कर्तव्यो वर्धमाने तपोधनाः ॥ २९३ ॥

'पिण्डी' का मूल उद्भव दो प्रकार से है—एक यन्त्र तथा दूसरा भद्रासन । इनकी (प्रयोक्तागण द्वारा) विधिवत् शिक्षा ली जानी चाहिए और तब (इनका) प्रयोग करना चाहिए ।

हे मुनियों, 'वर्धमानक' का भी प्रयोक्ताजन इसी प्रकार (शिक्षण लेकर प्रयोग) करें ॥ २९२–२९३ ॥

छन्दक-गीत-विधि तथा लक्षण—

गीतानां छन्दकानाञ्च भूयो वक्ष्यामहं विधिम् ।
यानि वस्तुनिबद्धानि यानि चाङ्गकृतानि तु ॥ २९४ ॥
गीतानि तेषां वक्ष्यामि प्रयोगं नृत्यवाद्ययोः[5] ।
तत्रावतरणं कार्यं नर्तक्याः सार्वभाण्डिकम् ॥ २९५ ॥

---

१. तालोपनद्धा—ग० । २. यज्ञं—ग० ।
३. शिक्षा कार्यास्तथा—ग० । ४. प्रयोक्तृभिः—ग० । ५. नृत्त—ग० ।

क्षेपप्रतिक्षेपकृतं[1] भाण्डोपोहनसंस्कृतम्[2] ।
प्रथमं त्वभिनेयं स्याद् गीतके सर्ववस्तुकम्[3] ॥ २९६ ॥
तदेव च पुनर्वस्तु नृत्तेनापि प्रदर्शयेत् ।

अब मैं पुनः गीत तथा छन्दकों की लक्षण विधियाँ कहता हूँ । इस विधि में जो गीत विषय वस्तु से ठीक प्रकार से आवद्ध हैं और जो अंगों से भी आबद्ध हैं (अब) उनका नृत्त तथा वाद्यों के साथ होने वाला प्रयोग बतलाता हूँ । (इन) गीत के प्रयोग के समय नर्तकी का प्रवेश करवाना चाहिये और (तब) सभी वाद्यों (भाण्ड आदि अवनद्ध वाद्यों) का वादन हो और (सभी) तन्तुवाद्य क्षेप तथा प्रति-क्षेप से युक्त रखते हुए बजाए जाएँ । सर्वप्रथम गीत की समग्र विषयवस्तु को मुद्राओं द्वारा अभिनीत किया जाए और फिर वही (गीत की) विषय विषय वस्तु नृत्त के माध्यम द्वारा प्रदर्शित की जाए ।

यो विधिः पूर्वमुक्तस्तु [4]नृत्ताभिनयवादिते ॥ २९७ ॥
आसारितविधौ स स्याद् गीतानां वस्तुकेष्वपि ।
[5]एवं वस्तुनिबद्धानां गीतकानां विधिः स्मृतः ॥ २९८ ॥

नृत्त, अभिनय, संगीत तथा वाद्य वादन की जो विधि पहिले बतलाई गई है वही आसारित विधि गीतों तथा विषयवस्तु के प्रयोग में भी लागू होगी । इस प्रकार मैंने विषय वस्तु से निबद्ध गीतों की विधि का निरूपण किया ।

शृणुताङ्गनिबद्धनां गीतानामपि लक्षणम् ।
य एव [6]वास्तुकविधिर्नृत्ताभिनयवादिते ॥ २९९ ॥
[7]तमेवाङ्गनिबद्धेषु च्छन्दकेष्वपि योजयेत् ।

अब अंगों में ग्रथित गीत का विधान सुनिये । जो (लक्षण या) विधियाँ (नियम) विषय वस्तु के साथ नृत्त, अभिनय तथा वादन में प्रयुक्त हुई उन्हें ही अंगों में निबद्ध च्छन्दकों में भी संयोजित करना चाहिए ।

---

१. छेदप्रति—ग० । २. तन्त्रीगानसमन्वितम्—ख० ।
३. सर्ववस्तु तत्—घ० । ४. वृत्ताभिनय—ग० । ५. एष—ग० ।
६. वस्तुषु विधिः—ख० ।
७. स एव सर्वः कर्तव्यः छन्दकेषु प्रयोक्तृभिः—ग० ।

वाद्यं गुर्वक्षरकृतं तथाल्पाक्षरमेव च ॥ ३०० ॥
मुखे[1] सोपोहनं कुर्याद् वर्णानां विप्रकर्षतः[2] ।

मुख तथा उपोहन (क्रिया) में 'वाद्यवादन' गुरु तथा लघु अक्षरों के भेद को पृथक् निदर्शित करने वाला रहे। जिससे वर्णों का व्यवधान स्पष्ट परिलक्षित हो। (अथवा जैसे वर्णों के व्यवधान द्वारा अल्प तथा गुरु अक्षरों के भेद स्पष्ट दिखाई दें इस प्रकार वाद्यवादन किया जाए)।

यदा गीतिवशादङ्ग[3] भूयो भूयो निवर्तते ॥ ३०१ ॥
तत्राद्यमभिनेयं स्याच्छेषं नृत्तेन योजयेत् ।

जब गीत के प्रयोग के कारण उसके कुछ अंगों की बार-बार आवृत्ति हो तो उसके प्रथम (अभिहित) भाग को मुद्राओं के द्वारा अभिनीत करे और शेष भाग को नृत्त के माध्यम द्वारा (अनुदर्शित या) प्रदर्शित करे।

[4]यदा गीतिवशादङ्गं भूयो भूयो निवर्तते ॥ ३०२ ॥
त्रिपाणिलयसंयुक्तं तत्र वाद्यं प्रयोजयेत् ।
यथा लयस्तथा वाद्यं कर्तव्यमिह[5] वादकैः ॥ ३०३ ॥

और जब गीत के प्रयोग के समय कुछ अंगों की आवृत्ति हो तो उसकी वाद्य संगीत के द्वारा भी संगत की जाए—जो कि तीन प्रकार के पाणि (सम, अर्ध तथा उपरिपाणि) तथा त्रिविधलय (द्रुत, मध्य तथा विलम्बित) की विधियों के अनुसार संयोजित हो तथा वादकों के द्वारा वाद्यों को लयानुसारी रखना चाहिए ॥ ३०२–३०३ ॥

तत्त्वश्चानुगतश्चापि ओघश्च करणान्वितम् ।
स्थिरे तत्त्वं प्रयोक्तव्यं मध्ये चानुगतं भवेत् ॥ ३०४ ॥
भूयश्चौघः[6] प्रयोक्तव्यस्त्वेष वाद्यगतो विधिः ।
छन्दोगीतकमासाद्य त्वङ्गानि परिवर्तयेत् ॥ ३०५ ॥

---

१. मुखे सोपोहने—ग० । २. विप्रकर्षकः—ग० ।
३. गीतवशा—ग० । ४. एतत्पद्यार्धं ग०—पुस्तकेऽधिकम् ।
५. कर्तव्यन्त्वङ्गसंश्रयम्—ख० । ६. द्रुते चौघः—घ० ।

एष कार्यो विधिर्नित्यं[1] नृत्ताभिनयवादिते।
यानि वस्तुनिबद्धानि तेषामन्ते ग्रहो भवेत्॥ ३०६॥

अङ्गानान्तु परावृत्तावादावेव ग्रहो मतः।
एवमेष विधिः कार्यो गीतेष्वासारितेष्वपि॥ ३०७॥

(वाद्यसंगीत में) तत्त्व, अनुगत तथा ओघ करणों से युक्त रखे जाते हैं। इनमें तत्त्व का प्रयोग विलम्बित (स्थिर) लय में, अनुगत का मध्यलय में तथा ओघ का द्रुतलय में करना चाहिए। यहाँ यही वाद्यों का नियम है जिसे प्रयुक्त करना चाहिए। जब गीत के (विभिन्न) अंग छन्दक की अवस्था में हो तो उनको कई बार दुहराया जाय। यह आवर्तन का नियम नृत्त, अभिनय तथा वादन में समान रूप से रहता है। यदि गीत एक (ही) वस्तु (पद्य) में निबद्ध हो तो उनके अन्त में ग्रह (वाद्यों का (विशिष्ट) वादन) का संयोजन (आवश्यक रूप में) रखा जाए; परन्तु अंगों की (बड़े गीतों के अवयवों की) आवृत्ति के होने की स्थिति में यह ग्रह उनकी आवृत्ति के प्रारंभिक भाग में ही रहना चाहिए। और इसी प्रकार यही नियम आसारित गीतों में भी प्रयुक्त करना चाहिए॥ ३०४–३०७॥

सुकुमार नृत्त-स्वरूप एवं विधि—

देवस्तुत्याश्रयं ह्येतत् सुकुमारं निबोधत।
स्त्रीपुंसयोस्तु संलापो यस्तु कामसमुद्भवः।
तज्ज्ञेयं सुकुमारं[2] हि शृङ्गाररससम्भवम्॥ ३०८॥

अब देवताओं की वन्दना से सम्बद्ध 'सुकुमार' नृत्त को बतलाता हूँ। सुकुमार नृत्त शृङ्गार रस से युक्त होता है, उसमें स्त्रियों तथा पुरुषों (नायक तथा नायिका) के प्रणयाभिभूत अवस्था वाले ऐसे कथोपकथन रहते हैं जो कि स्मर-प्रेरित दशा में उद्भूत होते हों॥ ३०८॥

यस्यां यस्यामवस्थायां नृत्तं योज्यं प्रयोक्तृभिः।
तत्सर्वं[3] सम्प्रवक्ष्यामि तच्च मे शृणुत द्विजाः॥ ३०९॥

१. नृत्यनृत्ताभिनय–ग०। २. स्वक्रतारम्भि–ग०। ३. सर्वंगीतकसम्बद्धं–ग०।

हे मुनियों, अब मैं आपको उन अवसर तथा स्थितियों को बतलाता हूँ जहाँ (प्रयोक्ता गण द्वारा) की गीत के साथ योजना की जाती है।

नृत्त के अवसर—

अङ्गवस्तुनिवृत्तौ तु तथा वर्णनिवृत्तिषु।
तथा चाभ्युदयस्थाने नृत्तं तज्ज्ञः प्रयोजयेत् ॥ ३१० ॥

नाट्यवेत्ताजन जब गीत की या वर्णों[1] की विषय वस्तु के अंगों में अत्यन्त समीपतर स्थिति हो या किसी पात्र के अभ्युदय का (रूपकों की कथावस्तु में) अवसर हो तो (इन अवसरों पर) 'नृत्त' की योजना की जाए ॥३१०॥

यत्तु सन्दृश्यते किञ्चिद्दम्पत्योर्मदनाश्रयम्।
नृत्तं तत्र[1] प्रयोक्तव्यं प्रहर्षार्थं[2] गुणोद्भवम् ॥ ३११ ॥

तथा जहाँ नायक-नायिका (दम्पति) का प्रणयाश्रित सामीप्य हो तो उनके अतिशय हर्ष (आनन्द) को प्रस्तुत करने के लिये (या उनके आनन्दार्थ) 'नृत्त' की योजना की जाए ॥ ३११ ॥

यत्र सन्निहिते दृश्ये ऋतुकालादिदर्शनम्।
गीतकार्थाभिसम्बद्धं नृत्तं तत्रापि चेष्यते ॥ ३१२ ॥

रूपक के उस दृश्य में जहाँ नायक नायिका के समीप हो, मन भावन ऋतु या अनुकूल समय दिखाई दे (जो कि आह्लादप्रद हो) तब गीत के अर्थ के प्रदर्शक (या अर्थ से सम्बद्ध) 'नृत्त' की योजना करना चाहिये ॥ ३१२ ॥

नृत्तों के निषिद्ध प्रदेश—

खण्डिता विप्रलब्धा वा कलहान्तरितापि वा।
यस्मिन्नङ्गे तु युवतिर्न नृत्तं तत्र योजयेत् ॥ ३१३ ॥

जिस अंग में (रूपक के विभाग या प्रदेश में जहाँ खण्डिता,[2]

---

१. वर्ण तथा गीत का स्वरूप नाट्यशास्त्र के २९ वें अध्याय में (२९–३२) दिया गया है।

२. खण्डिता आदि नायिकाओं का निरूपण नाट्यशास्त्र के २४ वें अध्याय में है।

---

१. यत्र—ग०। २. पुरषार्थं—ख०।

विप्रलब्धा या कलहान्तरिता नायिका, नायक से नियुक्त हो गई हो तब 'नृत्त' की योजना नहीं करनी चाहिए ॥ ३१३ ॥

[1]सखीप्रवृत्ते संलापे तथासन्निहिते प्रिये।
नहि नृत्तं प्रयोक्तव्यं यस्या वा प्रोषितः प्रियः ॥ ३१४ ॥

यदि दो सखियों का संवाद चल रहा हो, नायिका के समीप प्रियतम न हो या प्रोषित हो तो 'नृत्त' की योजना नहीं की जानी चाहिए ॥ ३१४ ॥

दूत्याश्रयं यदा तु स्याद् ऋतुकालादिदर्शनम्।
औत्सुक्यचिन्तासम्बद्धं न[2] नृत्तं तत्र योजयेत् ॥ ३१५ ॥

यदि दूती के द्वारा ऋतु या समय का वर्णन किया जा रहा हो और औत्सुक्य या चिन्ता युक्त अवस्था का (इन वर्णनों से) अनुभव किया जा रहा हो तो 'नृत्त' की योजना नहीं करनी चाहिए ॥ ३१५ ॥

नृत्त की योजना के (उपयुक्त) अवसर एवं प्रदेश—

यस्मिन्नङ्गे प्रसादं[3] तु गृह्णीयान्नायिका क्रमात्।
ततः प्रभृति नृत्तं तु शेषेष्वङ्गेषु योजयेत् ॥ ३१६ ॥

किन्तु रूपक के किसी विभाग (कथा वस्तु के विभाग से तात्पर्य है) में नायिका को हर्ष की उपलब्धि हो तो (उस प्रसंग में) 'नृत्त' की योजना की जाए जो कि उस स्थिति की पूर्णता तक प्रदर्शित होता रहे ॥ ३१६ ॥

देवस्तुत्याश्रयकृतं यदङ्गं तु भवेदथ[4]।
महेश्वरैरङ्गहारैरुद्धतैस्तत्प्रयोजयेत् ॥ ३१७ ॥

यदि रूपक का कोई विभाग देवताओं की प्रार्थना से संबद्ध हो तो वहाँ महेश्वर द्वारा निर्दिशित उद्धत या आवेगपूर्ण अंगहारों से युक्त 'नृत्त' का संयोजन किया जाए ॥ ३१७ ॥

---

१. सम्प्रवृत्तेऽथ—ग०। २. नृत्तं तत्र प्रयोजयेत्—ग०।
३. प्रयोगं—क०। ४. भवेदिह—ग०।

यत्तु[1] शृङ्गारसंबद्धं गानं स्त्रीपुरुषाश्रयम् ।
देवीकृतैरङ्गहारैर्ललितैस्तत्प्रयोजयेत्[2] ॥ ३१८ ॥

जहाँ स्त्री तथा पुरुष पात्रों का शृङ्गाररस से संबद्ध या प्रणयात्मक सहगान हो वहाँ भगवती पार्वती के द्वारा रचित ललित अंगहारों से पूर्ण 'नृत्त' की योजना की जाए ॥ ३१८ ॥

अवनद्ध वाद्यों का वादन—

चतुष्पदा नर्कुटके खञ्जके परिगीतके ।
विधानं सम्प्रवक्ष्यामि भाण्डवाद्यविधिं प्रति ॥ ३१९ ॥

अब मैं अवनद्ध वाद्यान्तर्गत भाण्डवाद्य (मृदङ्ग आदि) वादन के नियमों को बतलाता हूँ जिनका अनुसरण चतुष्पदा[1] नर्कुटक, खंजक तथा परिगीतक नामक गीतों की संगत में होता है ॥ ३१९ ॥

खञ्ज-नर्कुटसंयुक्ता भवेद्या तु चतुष्पदा ।
पादान्ते सन्निपाते तु तस्या भाण्डग्रहो भवेत् ॥ ३२० ॥

जो चतुष्पदा खंजक तथा नर्कुटक (श्रेणी के गीत) से युक्त हो, जो सन्निपात ग्रह सहित हो तो उसके अन्तिम पद के स्थापन के अवसर पर (ध्रुवा के खंजक तथा नर्कुटक नामक प्रकारों के एक चरण समाप्त होने पर) वाद्य-वादन आरम्भ होना चाहिए ॥ ३२२ ॥

या ध्रुवा छन्दसा युक्ता समपादा समाक्षरा ।
तस्याः पादावसाने तु प्रदेशिन्या ग्रहो भवेत् ॥ ३२१ ॥

जो 'ध्रुवा' (अपने) छन्द के लक्षणानुसार, वर्णों में समता तथा पैरों

---

१. चतुष्पदा तथा नर्कुटक का विशेष वर्णन नाट्यशास्त्र के ३१।५११, ३२।३०४ तथा खञ्जक और परिगीतक का वर्णन नाट्यशास्त्र ३१।५१२, ३२। ४३४ में देखिये ।

---

१. यत्र—ग० ।   २. देवैः कृतेः—ग० ।

की डगों में सम हों, तो उसके (गान के) प्रथमपाद की समाप्ति पर प्रादेशिनी अंगुली के द्वारा वाद्यवादन होना चाहिए ॥ ३२१ ॥

कृत्वैकं परिवर्तं तु गानस्याभिनयस्य[1] च ।
पुनः पादनिवृत्तिं तु भाण्डवाद्येन[2] योजयेत् ॥ ३२२ ॥

(इस प्रकार वाद्यों के वादन से युक्त एक बार ध्रुवागीत के गाये जाने पर जो कि बतलाया गया है) जब वही गीत पुनः उचित अभिनय (या मुद्राओं) के प्रदर्शन के साथ आवृत्त किया जाए, इसके बाद फिर इसी गीत को गाया जाए और अभिनय के प्रदर्शन के साथ-साथ जब इस गीत का अन्तिम पाद गाया जा रहा हो तो वाद्यवादन प्रारंभ करे ॥ ३२२ ॥

अङ्गवस्तुनिवृत्तौ[3] तु वर्णान्तरनिवृत्तिषु ।
तथोपस्थापने चैव भाण्डवाद्यं प्रयोजयेत् ॥ ३२३ ॥

जब गीत के विषय (वस्तु) तथा अंगों की समाप्ति हो या उसकी रचना पूर्ण हो जाए तथा उपोहन (या उपस्थापन दशा) किया हों तो (उस समय) भाण्डवाद्य का संयोजन किया जाए ॥ ३२३ ॥

येऽपि चान्तरमार्गास्स्युः तन्त्रीवाक्करणैः[4] कृताः ।
तेषु सूची प्रयोक्तव्या भाण्डेन सह ताण्डवे ॥ ३२४ ॥

जो तन्त्रीवाद्यों, शब्द-रचना तथा करणों में अवस्थित 'अन्तरमार्ग'[1] हो तो उनकी प्रयोग-दिशा में 'ताण्डव' के साथ 'सूचीचारी' को भाण्डवाद्य के वादन के साथ प्रदर्शित किया जाए ॥ ३२४ ॥

महेश्वरस्य चरितं य इदं सम्प्रयोजयेत् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा शिवलोकं स गच्छति ॥ ३२५ ॥

---

१. स्वरों के साथ अन्तर्वर्त्ती अल्प स्वरों की जो संगति विचित्रता उत्पन्न करने के लिये की जाती है उसे 'अन्तर्मार्ग' कहते हैं। इसका प्रयोग वीणा, कण्ठस्वर तथा नृत्त के करणों के द्वारा किया जाता है।

---

१. स्याभिनये पुनः—ग० । २. भाण्डवाद्यं नियोजयेत्—ग० ।
३. निवृत्तेन—घ० । ४. तन्त्र्या वा—ग० ।

इस प्रकार महेश्वर शिव के द्वारा निर्मित इस 'ताण्डव' का जो प्रयोग करता है वह सभी पापों से रहित (शुद्ध) हो शिव लोक प्राप्त करता है।

एवमेष विधिः सृष्टस्ताण्डवस्य प्रयोगतः।
भूयः किं कथ्यतामन्य[1]न्नाट्यवेदविधिं प्रति॥ ३२८॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे ताण्डवलक्षणं नाम चतुर्थोऽध्यायः।

'ताण्डव' की यही प्रयोग विधि है जो भगवान शिव के द्वारा निर्मित हुआ है। हे मुनियौ, अब आपको नाट्यवेद के और किन प्रकारों को बतलाऊँ॥ ३२८॥

भरतनाट्यशास्त्र की प्रदीप–व्याख्या का 'ताण्डव लक्षण'
नामक चतुर्थ अध्याय समाप्त।

१. कथ्यतां विप्राः—ग०।

पञ्चमोऽध्यायः

पूर्वरंग विधान

(भरत से) मुनि जन का पूर्वरंग के विषय में प्रश्न—

भरतस्य वचः श्रुत्वा नाट्यसन्तानकारणम् ।
पुनरेवाब्रुवन्वाक्यमृषयो हृष्टमानसाः ॥ १ ॥
यथा नाट्यस्य जन्मेदं[1] जर्जरस्य च सम्भवः ।
विघ्नानां शमनं चैव देवतानां च पूजनम् ॥ २ ॥
तदस्माभिः[2] श्रुतं सर्वं गृहीत्वा चावधारितम् ।
निखिलेन यथातत्त्वमिच्छामो वेदितुं पुनः ॥ ३ ॥
पूर्वरङ्गं महातेजः[3] सर्वलक्षणसंयुतम् ।
यथा बुद्ध्यामहे ब्रह्मंस्तथा व्याख्यातुमर्हसि ॥ ४ ॥

नाट्य विषयक वर्णन को जारी रखने वाले आचार्य भरत से पुनः प्रसन्नमन ऋषि (गण) बोले—हे मुनि, हमने आप से नाट्य का उद्भव, जर्जर की उत्पत्ति, नाट्य-विघ्नों का शमन तथा देवताओं की (रंगमंच पर होने वाली) पूजा का विधान सुना तथा समझा। अब हम पूर्वरंग का उसके समस्त भेद-प्रभेद तथा लक्षणों से युक्त स्वरूप जानना चाहते हैं। कृपया अब आप हमें सुगमतापूर्वक उसे इस प्रकार समझाएँ जिससे हमें उसका ज्ञान हो जाए ॥ १–४ ॥

मुनि का प्रत्युत्तर—

तेषां तु वचनं श्रुत्वा मुनीनां भरतो मुनिः ।
प्रत्युवाच पुनर्वाक्यं[4] पूर्वरङ्गविधिं प्रति ॥ ५ ॥

---

१. वै जन्म—ग० ।   २. त्वत्तः श्रुतं गृहीतश्च—ग० ।
३. महातेजाः—क० ।   ४. ततो वाक्यं—क० ।

पूर्वरङ्गं महाभागा गदतो मे निबोधत।
पादभागाः कलाश्चैव परिवर्तास्तथैव च ॥ ६ ॥

मुनियों के वचन सुन भरत-मुनि 'पूर्वरंग विधान' के विषय में बोले—हे महाभाग, मैं आपको पूर्वरंग तथा उससे सम्बद्ध पादभाग[1] कलाएँ[2] तथा पादपरिवर्तों[3] (पैरों का गोल चक्कर में गतिशील रखना) को भी बतलाता हूँ। आप इन सभी को अब सुनिये ॥ ५–६ ॥

पूर्वरंग—लक्षण—

यस्माद्रङ्गे[1] प्रयोगोऽयं पूर्वमेव प्रयुज्यते।
तस्मादयं पूर्वरङ्गो विज्ञेयो द्विजसत्तमाः ॥ ७ ॥

---

१. पादभाग मात्राओं के संयोग से निर्मित होता है। संगतीरत्नाकर ने चित्र; वार्तिक, दक्षिण तथा ध्रुव मार्ग में क्रमशः एक, दो, चार तथा आठ मात्राओं से एक पादभाग का निर्माण बतलाया है। (द्र० सं० रत्ना० ताला०) पदभाग का विशेष विवरण ना० शा० अध्या० ३१–३०८, ३०९ पर भी द्रष्टव्य।

२. कला—पाँच निमेष के बराबर समय 'कला' कहलाता है। (एक निमेष के बराबर समय को नाट्यप्रयोग में 'कला' नहीं माना जाता, वह केवल ज्योतिष आदि शास्त्रों में मान्य है) कला का लक्षण ना० शा० अ० ३१।४, ५ पर द्रष्टव्य। अभिनवगुप्ताचार्य का मत है कि यहाँ कला शब्द से निष्कामादि सात भेदों वाले 'ताल' को कला समझना चाहिए। अर्थात् ताल का मात्राकाल 'कला' है। गीत, वाद्य, एवं नृत्य को लघु, गुरु, प्लुत से युक्त सशब्द एवं निश्शब्द क्रिया द्वारा परिमित करने वाला समय 'ताल' कहलाता है। इसे ही 'कला' कहते हैं। ('अत्र कलाशब्देन सप्तविधा तालकला निष्कामादिरुच्यते। तया समस्तो मानात्मकस्तालमार्गो गृहीतः'। (अ० भा० Vol I. पृ० २०९)

३. परिवर्त—पादभाग आदि से युक्त ताल की आवृत्ति या उसका बार-बार दुहराते हुए प्रयोग करना 'परिवर्त' कहलाता है। (परिवर्त का लक्षण इसी अध्याय में ५।२३, २४ तथा ६५–८९ पर भी देखिये।)

---

१. रङ्गप्रयोगोऽयं—ग०।

क्योंकि यह रंगमंच (रंग) पर नाट्य प्रयोग के समय सर्वप्रथम किया जाता है अतएव इसे पूर्वरंग कहते हैं ॥ ७ ॥

पूर्वरंग[1] *के विभाग (अंग)—*

अस्याङ्गानि तु कार्याणि यथावदनुपूर्वशः ।
तन्त्रीभाण्डसमायोगैः पाठ्ययोगकृतैस्तथा ॥ ८ ॥
प्रत्याहारोऽवतरणं तथा ह्यारम्भ एव च ।
आश्रावणा वक्त्रपाणिस्तथा च परिघट्टना ॥ ९ ॥
सङ्घोटना ततः कार्या [1]मार्गासारितमेव च ।
[2]ज्येष्ठमध्यकनिष्ठानि तथैवासारितानि च ॥ १० ॥
एतानि तु बहिर्गीतान्यन्तर्यवनिकागतैः ।
प्रयोक्तृभिः प्रयोज्यानि तन्त्रीभाण्डकृतानि च ॥ ११ ॥

विधिवत् प्रयुक्त किये जाने वाले पूर्वरंग के अंग वीणा (तन्त्री),

---

१. पूर्वरंग शब्द की व्युत्पत्ति को पूर्वो रंगे इति पूर्वरंगः, ऐसा या तो 'सुप्सुपा' समास करना चाहिए या राजदन्तादित्वात् परनिपात । नाट्य-प्रयोग के पूर्व ही उसके सफलतापूर्वक पूर्ण होने के लिये किये जाने वाले सम्पूर्णकार्य-कलाप 'पूर्वरंग' में समाविष्ट है । जैसे तन्तु, तुरी वेमा के बिना पट का निर्माण नहीं होता वैसे ही प्रत्याहारादि अंगों के पूर्ण प्रयोग से गायन आदि सम्पूर्ण साधन जुटने पर 'नाटचप्रयोग' सफल हो सकता है । इसलिए 'पूर्वरंग' का अर्थ है—प्रयोग के पूर्व होने वाले आवश्यक कार्य । श्री हर्ष के मत में रंग शब्द का अर्थ तौर्यत्रिक है और नाटचांग प्रयोग का वही पूर्व अंग होने से पूर्वश्चासौ रंगः ऐसा समास उचित है । पर अभिनवगुप्ताचार्य ने इस व्याख्या पर आपत्ति करते हुए कहा कि यह कोई मंडप के एक देश जैसा भाग नहीं किन्तु धूप आदि के लगाने से देवतातुष्टि के समान लौकिक-अलौकिक फलशाली कार्य होने से यहाँ 'पूर्वो रंगे' इति पूर्वरङ्गः इस प्रकार के व्याख्यान का ही औचित्य है । (अभि० भा०)

---

१. मार्गोत्सारित—ग० ।
२. ज्येष्ठ-मध्यक-निष्ठा च तथैवासारितक्रिया'—ग० ।

भाण्ड (मृदंग) तथा संवाद (पाठ्य) के साथ क्रमशः प्रयुक्त किये जाने चाहिए। वे अंग हैं—प्रत्याहार, अवतरण, आरम्भ, आश्रावणा वक्त्रपाणि, परिघट्टना, संघोटना, मार्गासारित तथा ज्येष्ठ, मध्यम एवं कनिष्ठ आसारित। ये 'बहिर्गीत' यवनिका के पीछे स्थित पुरुषों के द्वारा (नाट्य प्रयोग के अवसर पर) वीणा तथा भाण्डवाद्य की संगत के साथ प्रस्तुत किये जाएँ॥ ८–११॥

ततः[1] सर्वैस्तु कुतुपैः संयुक्तानीह कारयेत्।
विघट्य[2] वै यवनिकां नृत्तपाठ्यकृतानि तु॥ १२॥
गीतानां[3] मद्रकादीनामेकं योज्यं तु गीतकम्।
वर्द्धमानमथापीह ताण्डवं यत्र युज्यते॥ १३॥
ततश्चोत्थापनं कार्यं परिवर्तनमेव[4] च।
नान्दी शुष्कावकृष्टा[5] च रङ्गद्वारं तथैव च॥ १४॥
चारी चैव ततः कार्या महाचारी तथैव च।
त्रिकं[6] प्ररोचना चापि पूर्वरङ्गे भवन्ति हि॥ १५॥

फिर 'यवनिका' को हटा कर नृत्त तथा पाठ्य (संवादों) का संयुक्त प्रयोग वाद्यों के वादन के साथ किया जाए 'मद्रक'[2] (लक्षण के) गीतों में से एक गीत का या जब 'ताण्डव' की योजना की जाए तो 'वर्धमानक'

---

१. बहिर्गीत—नाटचप्रयोग में यवनिका को हटाने के बाद जिनके गायक दृश्य न हों वे गीत अथवा नाट्यवस्तु के अन्तर्गत न आनेवाले 'गीत' 'बहिर्गीत' कहलाते हैं।

२. मद्रक तथा वर्धमानक के लक्षण ना० शा० अध्याय २९ तथा ३१ में देखिये। मद्रक—(एक) गीत विशेष। वर्धमानक—वह गीत जो नृत्य के साथ गाया जाता है।

---

१. ततश्च सर्वकुतपैर्युक्तान्यन्यानि कारयेत्—ग०, घ०।
२. विघाटच—ग०। ३. मुद्रका—ग०।
४. परिवर्तक—ग०। ५. शुष्कापकृष्टा—ग०।
६. त्रिगतं प्ररोचना—क०।

(जाति के) गीतों में एक गीत का संयोजन किया जाए और फिर क्रमशः (पूर्वरंग में) उत्थापन[1], परिवर्तन, नान्दी, शुष्कापकृष्टा, रंगद्वार, चारी, महाचारी, त्रिक तथा प्ररोचना का प्रयोग किया जाए ॥ १२-१५ ॥

एतान्यङ्गानि कार्याणि पूर्वरङ्गविधौ द्विजाः[1] ।
एतेषां[2] लक्षणमहं व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः ॥ १६ ॥

'पूर्वरंग' में इन अंगों का अवश्य प्रयोग करना चाहिए। अब मैं क्रमशः इनके लक्षण बतलाता हूँ ॥ १६ ॥

कुतपस्य च विन्यासः प्रत्याहार इति स्मृतः ।

प्रत्याहार[2]—वाद्य यन्त्रों का उचित या निर्धारित स्थान पर व्यवस्थित स्थापन 'प्रत्याहार' कहलाता है।

तथावतरणं प्रोक्तं गायकानां निवेशनम् ॥ १७ ॥

---

१. उत्थापन आदि के स्वरूप इसी अध्याय में बतलाये हैं (द्र० ना० शा० ५।२२-२७) ।

२. प्रत्याहार—वाद्ययन्त्रों की उचित स्थान पर योजना (व्यवस्था) करना। अभिनवगुप्तपादाचार्य के अनुसार गायक वादकों को अपने वाद्यों के साथ बिठाने की व्यवस्था करवाना, उनको उचित या निर्धारित स्थान पर आसीन करवाना। इसका क्रम यह है कि नेपथ्यगृह के द्वार पर पूर्व की ओर मुँह करके मृदंगवादक (मार्दङ्गिक), उसकी बायीं ओर दो पणव (ढोल जैसे वाद्य के) वादक, रंगपीठ के दाहिनी ओर उत्तर की ओर मुँह किये हुए गायक तथा इसी के आगे दक्षिण की ओर मुंह किये हुए गायिकाएँ बैठती हैं। गायकों के बायीं ओर बाँसुरी वादक (वैणिक) बैठता है। इस प्रकार वाद्यवादकों का निर्धारित स्थान ग्रहण करना 'प्रत्याहार' है। 'प्रत्याहार' तथा 'अवतरण' में विभेद यह है कि प्रत्याहार में केवल वाद्यवादक स्थान ग्रहण करते हैं तथा 'अवतरण' में गायक और गायिकाएँ अपना निर्धारित स्थान ग्रहण करते हैं। कुछ आचार्यों के मत में उपवेशन का अर्थ बैठना न मानकर स्थान और स्वरों का परिग्रह (संयोग या मेल मिलाप) ही 'अवतरण' है।

---

१. पूर्वरङ्गे द्विजोत्तमाः—क० । २. तेषान्तु—क० ।

अवतरण—गायक तथा गायिकाओं को अपने निर्धारित स्थान पर बैठाना 'अवतरण' कहलाता है ॥ १७ ॥

परिगीतक्रियारम्भः आरम्भ इति कीर्तितः ।

आरम्भ[1]—गान क्रिया (के) हेतु कण्ठ द्वारा (आलाप आदि का) आरम्भ करना 'आरम्भ' कहलाता है ।

आतोद्यरञ्जनार्थस्तु भवेदाश्रावणाविधिः ॥ १८ ॥

आश्रावणा[2]—वादन के पूर्व वाद्यों की (वादन हेतु उचित) व्यवस्थापूर्वक (स्थिति के अनुसार) एकरूपता लाना 'आश्रावण' कहलाता है ॥ १८ ॥

वाद्यवृत्तिविभागार्थं वक्त्रपाणिर्विधीयते ॥ १८ ॥

वक्त्रपाणि[3]—वाद्यों का विभिन्न वृत्तियों (या स्थितियों) का वादन

---

१. आरम्भ—परिगीत प्रक्रिया अर्थात् आलाप का आरम्भ करना। अभिनव का कथन है कि बिना आलाप के त्रिसाम आदि गानों का प्रयोग कैसे संभव होगा इस आशंका का उत्तर यह है कि यहाँ विभिन्न अंगों का जो विवेचन है उसे क्रमिक न माना जाय। ये अंग दृष्टान्त के लिये ही दिये गये हैं। अतएव पहिले रंजकवर्ग (अर्थात् स्वरों) को आलाप रूप में प्रस्तुत करने के बाद ही उपरंजक (गीत) की प्रधानता होती है। अतएव स्वरों का और गीत में बिम्ब भाव होता है। इसी का अनुसन्धान करना (अर्थात् स्वरों का निश्चित क्रम में आलाप) आरम्भ है। आलाप में कण्ठ स्वरों का प्रयोग होता है।

२. आश्रावणा—आलाप के साथ वाद्ययन्त्रों के स्वरों को एकरूपता लाना अर्थात् आलाप की वाद्यों से संगत 'आश्रावणा' है। अभिनवगुप्ताचार्य ने वाद्ययन्त्रों की ध्वनियों में ताल-लय के विषय या सम्बन्ध में मान (प्रमाण, कालमान) की दृष्टि से अवलोकन करना या सामञ्जस्य स्थापित करना आश्रावणा माना है। आशय यह है कि गान के आलापस्वरों की संगत करते हुए वाद्ययन्त्रों की ध्वनियों की परीक्षा करना कि वे गाये जाने वाले गीत के अनुसार उचित स्थान पर मिल कर संगत कर रहे हैं या नहीं ? ऐसा करने से (कण्ठ तथा वाद्यों के) स्वरों में सन्तुलन स्थापित हो जाता है।

३. वक्त्रपाणि—वक्त्रे का अर्थ है आरम्भ तथा पाणि का अर्थ है हाथ की अंगुलियाँ। अर्थात् जिसमें हाथ की उँगलियों का वाद्यों के वादनार्थ संचालन

की दशा में ध्यान से पुनः (विभाग ज्ञान हेतु) सुनना 'वक्त्रपाणि' कहलाता है।

तन्त्र्योजः[1] करणार्थं तु भवेच्च परिघट्टना ॥ १९ ॥

[1]परिघट्टना—वीणा आदि तन्तुवाद्यों का वादन हेतु आस्फालन (या सारणा) 'परिघट्टना' कहलाता है ॥ १९ ॥

तथा पाणिविभागार्थं भवेत् संघोटनाविधिः।

[2]संघोटना—हाथों से वाद्यों (तालवाद्यों-अवनद्ध वाद्यों या भाण्डादि) पर प्रहार कर उन्हें फिर से (ठीक करने पर) सुनना 'संघोटना' कहलाता है।

तन्त्रीभाण्डसमायोगान्मार्गो[2] सारितमिष्यते ॥ २० ॥

होता है वह 'वक्त्रपाणि'। अभिनव के अनुसार मुखज श्वास से बजने वाले वेणु आदि (सुषिर) वाद्यों से संगत करते हुए उनके स्वरूप का अनुसन्धान कर दक्षिण आदि वृत्तियों के विभाग को ध्यान से सुनना या उनका अन्वेषण कर परीक्षा करना 'वक्त्रपाणि' है।

१. परिघट्टना—तन्त्रीवाद्य की ज्या के घट्टन या वर्णन के द्वारा वृत्तियों के विभागों में शुष्क अक्षर प्रयोग (गत या धुन) का अन्वेषण या सारणा करना 'परिघट्टना' है। अर्थात् स्वरों का वह प्रयोग जो अर्थहीन या शुष्काक्षर प्रयोग है या शुद्धस्वरमूलक प्रयोग करना भी 'शुष्काक्षर' कहलाता है। तन्त्री को स्वर में बजाने के लिये उँगलियों का घटन या चालन आवश्यक है तथा उसे गतिशाली (ओजपूर्ण) बनाने के लिये इस चालन क्रिया को और तीव्र कर देना 'परिघट्टना' है।

२. संघोटना—वीणा वाद्य में अवनद्ध जैसे तालात्मक अन्य वाद्यों के साथ संगत बैठाने या उस पर निर्भर होने के लिये संवादी स्वरों के अनुसंधान आदि के द्वारा पंचप्रहारों का योग करते हुए सुनना। (पंचप्रहारों आदि के प्रयोग का विवरण नाट्यशास्त्र अध्याय २९ तथा ३३ में द्रष्टव्य)।

---

१. तन्त्रेजः कर—ग०। २. मार्गोत्सारित—ग०।

[1]मार्गासारित—वीणा तथा भाण्ड (अवनद्ध) वाद्यों की समवेत (मिश्रित) ध्वनि का प्रयोग 'मार्गासारित' कहलाता है ॥ २० ॥

[1]कलापातविभागार्थं भवेदासारितक्रिया ।

[2]आसारित—कला या मात्रा के (जिसका ताल में प्रमुख उपयोग रहता है) विभाग हेतु होने वाली वाद्यवादन क्रिया 'आसारित कहलाती है ।

कीर्तनाद्देवतानां च ज्ञेयो गीतविधिस्तथा ॥ २१ ॥

गीतविधि—देवताओं के कीर्ति विस्तार या प्रशंसा में प्रस्तुत किये गए गान 'गीतविधि कहलाते हैं ॥ २१ ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि ह्युत्थापनविधिक्रियाम् ।
यस्मादुत्थापयन्त्यत्र[2] प्रयोगं नान्दिपाठकाः ।
पूर्वमेव तु रङ्गेऽस्मिंस्तमादुत्थापनं स्मृतम् ॥ २२ ॥

[3]उत्थापना—अब मैं 'उत्थापन विधि' का कार्य बतलाता हूँ । क्योंकि

---

१. मार्गासारित—तन्त्री (वीणा) आदि ततवाद्यों के साथ-साथ पुष्कर, भाण्ड आदि अवनद्ध वाद्यों का प्रयोग या वादन 'मार्गासारित' कहलाता है । अभिनवगुप्त के अनुसार बाँसुरी के शारीर स्वरों (कण्ठ स्वरों) के साथ वीणा (आदि काष्ठनिर्मित) ततः वाद्यों के सम्मिलित स्वरों को उठाना तथा इसके पश्चात् अवनद्ध वाद्य (पुष्कर, भाण्ड आदि) के द्वारा उसका अनुवर्तन या अनुकरण होना । अर्थात् वाद्य यन्त्रों के सम्बन्धी मार्गों का पुष्कर आदि वाद्यों के द्वारा संगत या अनुसरण करना 'मार्गासारित' है ।

२. आसारित—शम्या आदि क्रियाओं के द्वारा कलाओं के पात या पतन काल की गिनती करना (जिससे विभाग स्पष्ट हो जाए) 'आसारित' कहलाता है । 'प्रत्यहार' से लेकर 'आसारित' पर्यन्त अंगों की योजना यवनिका के अन्दर सम्पन्न की जाती है । इन प्रयोगों के सम्पन्न करने के पश्चात् ('बहिर्गीत' के अन्तर्गत) बाहर की ओर 'गीतविधि' आदि की योजना की जाती है ।

३. उत्थापना—अभिनवगुप्तपाद ने 'उत्थापना' शब्द की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या करते हुए बतलाया कि प्रत्याहार आदि जो अब तक प्रयोग सम्पन्न

---

१. कालपात—क०, ग०; कलापाठ—क०; कलाभाग—क० ।
२. दुत्थापयन्त्यादौ—घ० ।

यह (विधि) नान्दी-पाठकों के द्वारा सर्वप्रथम रंगमंच पर कार्य प्रारंभ करवाती है इसलिये इसे 'उत्थापना कहते हैं। (उत्थापना' सर्वप्रथम मंच पर किया जाने वाला प्रयोग है) ॥ २२ ॥

यस्माच्च लोकपालानां परिवृत्य चतुर्दिशम् ।
वन्दनानि प्रकुर्वन्ति तस्माच्च[1] परिवर्तनम् ॥ २३ ॥

परिवर्तन—(पूर्व आदि दिशाओं के अधिपति) लोकपालों की चारों ओर घूमकर वंदना करना 'परिवर्तन' कहलाता है ॥ २३ ॥

आशीर्वचनसंयुक्ता नित्यं यस्मात्प्रयुज्यते ।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥ २४ ॥

[1]नान्दी—क्योंकि इसमें देव, द्विज तथा भूपालों की आशीर्वचन समन्वित स्तुति की जाती है अतएव इसे 'नान्दी' संज्ञा दी गई ॥ २४ ॥

नान्दीपादानामन्तरेषु चित्रे पूर्वरङ्गे वर्धमानं प्रयोज्यं प्रागुक्तलक्षणम् । अन्ये तु—गीतकप्रयोगादनन्तरं शुद्धे चित्रे पूर्वरङ्गे वर्धमानप्रयोगमिच्छन्ति ।

किये गये उन्हें रंगमञ्च पर फल स्वरूप के निरूपक पाठच आदि वाचिक अभिनय के द्वारा उत्थापित या विकसित (प्रस्फुटित) करना 'उत्थापना' है। उत्थापन नामक अंग में एक कल का पाठ सहित प्रयोग होता है।

१. नान्दी—नान्दी के लक्षण में आशीर्वचन का तात्पर्य है कि इसमें प्रार्थना भी होती है तथा अभ्यर्थना भी। नित्यम् से तात्पर्य है कि नान्दी का प्रयोग अनिवार्य है। उत्थापन आदि का भिन्न रूप में भी प्रयोग हो सकता है परन्तु 'नान्दी' का पाठ लक्षणानुसारी रहेगा। नान्दी में देवता, ब्राह्मण तथा राजा के अतिरिक्त अर्थपति तथा अन्य संरक्षकवर्गों का भी आशीर्वचन प्रयुक्त किया जाय यह आदि शब्द से लिया जा सकता है। ('नान्दी' का उदाहरण आदि से युक्त विवरण ना० शा० ५।१०६, १०७ पर पुनः द्रष्टव्य) नाटचशास्त्र के अन्य आचार्यों ने नान्दी के भिन्न-भिन्न लक्षण दिये हैं जो विस्तार भय से यहाँ नहीं दिये गये।

---

१. तस्मात्तु—ग०। २. एष गद्यभागः ग०—पुस्तके नास्ति।

नान्दी पाठ के अवसर पर उसके पादों के मध्य में चित्रपूर्वरंग हो तो 'वर्धमानक' का प्रयोग करना चाहिए जिसका लक्षण बतलाया जा चुका है। कुछ आचार्य गीतक के प्रयोग के पश्चात् शुद्ध तथा चित्र पूर्वरंग में 'वर्धमानक' का प्रयोग करने के पक्ष में है।

[1]शुष्कावकृष्टा-ध्रुवा—

अत्र[1] शुष्काक्षरैरेव ह्यवकृष्टा ध्रुवा यतः।
तस्माच्छुष्कावकृष्टेयं जर्जरश्लोकदर्शिका ॥ २५ ॥

जब 'अवकृष्टा' ध्रुवा का अर्थहीन ध्वनि में (अक्षरमात्र के प्रतिध्वनन या कर्षण द्वारा) संयोजन किया जाता है तो इसे 'शुष्कावकृष्टा ध्रुवा' कहते हैं। यह जर्जर श्लोक के अवसर पर प्रस्तुत की जाती है। (अथवा इसका जर्जरश्लोक पाठ के अवसर पर प्रयोग किया जाता है) ॥ २५ ॥

यस्मादभिनयस्त्वत्र प्रथमं ह्यवतार्यते।
रङ्गद्वारमतो ज्ञेयं वागङ्गाभिनयात्मकम् ॥ २६ ॥

[2]रंगद्वार—क्योंकि सर्वप्रथम वाचिक व आंगिक अभिनय की अवतारणा यहीं से (प्रारंभ) होती है, अतएव शब्द तथा अंगों के

---

१. शुष्कावकृष्टध्रुवा का स्वरूप ना० शा० ५।११३–११५ पर दिया गया है। जब अवकृष्टा ध्रुवा में शुष्काक्षरों अर्थात् अक्षरमात्र या अर्थहीन ध्वनियों की योजना की जाती है तो इससे ताल मात्रा आदि की पूर्ति हो जाती है। इस ध्रुवा में जर्जरश्लोक का निर्देश प्राप्त होता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने अन्य विद्वानों के मतानुसार एक ही ध्रुवा में शुष्क तथा अवकृष्ट धर्मों के एक साथ गुण आ जाने से इसे 'शुष्कावकृष्टा' होना बतलाया। परन्तु दूसरे आचार्यों के मत से इसमें दोनों धर्मों का अन्तर्भाव होना ही 'शुष्कावकृष्टा' बनना है। कारिका के 'अत्र' तथा 'इयं' पद से 'शुष्का' तथा 'अवकृष्टा' के लक्षणों का संकेत किया गया है।

२. रंगद्वार में नाटचकथावस्तु के अभिनय का प्रारंभ होता है और जिस रूपक का अभिनय इष्ट है उस रूपक के द्वार अर्थात् प्रारंभिक अंग के समान संक्षिप्त रूप में रूपक के प्रयोजन का पाठरूप में अभिनय किया जाता है

---

१. यत्र—ग०।

(वाचिक तथा आंगिक) अभिनय से संयुक्त इस अंग को 'रंगद्वार' कहते हैं ॥ २६ ॥

शृङ्गारस्य प्रचरणाच्चारी सम्परिकीर्तिता ।
रौद्रप्रचरणाच्चापि महाचारीति कीर्तिता ॥ २० ॥

[1]चारी तथा महाचारी—शृङ्गार रस के भावों को गति द्वारा प्रदर्शित करना 'चारी' तथा रौद्ररस के भावों को गति द्वारा प्रस्तुत करना 'महाचारी' कहलाता है ॥ २७ ॥

विदूषकः सूत्रधारस्तथा वै पारिपार्श्वकः ।
यत्र कुर्वन्ति सञ्जल्पं तच्चापि[1] त्रिगतं मतम्[2] ॥ २८ ॥

[2]त्रिगत—(तीन पात्रों का संभाषण) जहाँ सूत्रधार, पारिपार्श्विक तथा विदूषक का पारस्परिक 'आलाप' हो वह 'त्रिगत' कहलाता है ॥ २८ ॥

उपक्षेपेण काव्यस्य हेतुयुक्तिसमाश्रया[3] ।
सिद्धेनामन्त्रणा या तु विज्ञेया सा प्ररोचना ॥ २९ ॥

जो आगे प्रस्तुत होने वाले रूपक का द्वार या आरंभ जैसा होने से 'रंगद्वार' कहलाता है (अभि० भा० Vil. I. पृ० २१९)

१. चारी-महाचारी—जिन कोमल अंगहारों तथा चारियों के प्रयोग से भगवती पार्वती के साथ शंकर के शृङ्गारप्रधान चरित्र की अभिव्यक्ति होती हो उसे 'चारी' कहा जाता है । इसमें शृङ्गारात्मक स्तुति की प्रमुखता रहती है । इसी प्रकार त्रिपुरवध से सम्बद्ध रौद्ररसप्रधान चरित्र का जब काव्यात्मक गान होता है और उद्धत अंगहारों के द्वारा उसी की अभिव्यक्ति की जाती है तो उसे 'महाचारी' समझना चाहिए । (अभि० भा०)

२. त्रिगत—तीन पात्रों का पारस्परिक संवाद; जिसमें भविष्य में घटित होने वाले विषयों का संकेत रहता है । ये विषय या सूचना देने की विधियाँ अनेक हो सकती हैं, इसी तथ्य को 'त्रि' शब्द से संकेतित करते हुए तीन पात्रों के अधीन बतलाया गया है । (अभि० भा०)

---

१. तत्रापि—ग० । २. स्मृतम्—ग० । ३. व्युपक्रिया—ख० ।

[1]प्ररोचना—यदि सूत्रधार या नाट्यविशेषज्ञ द्वारा रूपक के कार्यों का हेतु तथा युक्ति की सहायता लेकर सिद्धसदृश कथन किया जाय तो (उसे) 'प्ररोचना' कहते हैं ॥ २९ ॥

बहिर्गीत (लक्षण, उत्पत्ति तथा कारण)—

अतः परं प्रवक्ष्यामि ह्याश्रावणविधिक्रियाम् ।
बहिर्गीतविधौ सम्यगुत्पत्तिं कारणं[1] तथा ॥ ३० ॥

अब मैं 'आश्रावण' (विधि) के विषय में बतलाता हूँ जो (कि) 'बहिर्गीतविधि' में होती है, साथ ही मैं इसकी उत्पत्ति तथा कारण भी बतलाता हूँ ॥ ३० ॥

चित्रदक्षिणवृत्ते[2] तु सप्तरूपे प्रकीर्तिता[3] ।
सोपोहने सनिर्गीते देवस्तुत्यभिनन्दिते ॥ ३१ ॥
नारदाद्यैस्तु गन्धर्वैः सभायां देवदानवाः ।
निर्गीतं श्राविताः सम्यग्लयतालसमन्वितम् ॥ ३२ ॥

जब नारद मुनि आदि वाद्यविशारदों और गन्धर्वों के द्वारा चित्र[2] और दक्षिणमार्ग से युक्त, सप्तरूप समन्वित उपोहन क्रिया और निर्गीत के साथ देवताओं की स्तुतियों से प्रशस्त स्वरूप वाले तथा लय और

---

१. प्ररोचना—अभिनव के अनुसार नाटचवस्तु के फलरूप में जो सिद्ध करना इष्ट है उसको उद्देश्य के साथ व्यंजित करना 'प्ररोचना' है। यह मुख्यवस्तु को स्थापित करने से सामाजिकों के मन में कौतूहल तथा आकर्षण (प्रीति) को उत्पन्न करती है। प्ररोचना का विवरण ना० शा० ५।१४१–१४२ पर भी द्रष्टव्य।

२. चित्र, दक्षिण तथा वार्तिक ये तीन मार्ग हैं। यहाँ सप्तरूप का आशय है मद्रक आदि सात गीतों का विधान। निर्गीत अर्थात् बहिर्गीत। उपोहन से गीत की प्रवृत्ति होती है तथा वह स्थायी स्वराश्रित बनता है। इस विषय का विस्तार ना० शा० अध्याय ३१ पर पुनः द्रष्टव्य है।

---

१. करणं—ग०, घ०। २. चित्तदक्षिणवृत्तौ—ग०, घ०।
३. प्रवर्तिते–ग०, घ०।

ताल के उचित मेल से युक्त उस निर्गीत (गीत की धुन) को देवता और दानवों की सभा में सुनाया गया ॥ ३१–३२ ॥

दैत्य तथा राक्षसों का क्षोभ—

तच्छ्रुत्वा तु सुखं[1] गानं देवस्तुत्यभिनन्दितम् ।
अभवन्क्षुभिताः सर्वे मात्सर्याद्दैत्यराक्षसाः ॥ ३३ ॥

तब इस सुखप्रद तथा देवों की स्तुति और अभिनन्दन से युक्त गीत को सुनकर सभी दैत्य तथा राक्षसगण क्षुब्ध हो गए ॥ ३३ ॥

सम्प्रधार्य च तेऽन्योन्यमित्यवोचन्नवस्थिताः ।
निर्गीतं तु सवादित्रमिदं गृह्णीमहे वयम् ॥ ३४ ॥
सप्तरूपेण सन्तुष्टा देवाः कर्मानुकीर्तनम् ।
वयं[2] गृह्णीम निर्गीतं तुष्यामोऽत्रैव सर्वदा[3] ॥ ३५ ॥
ते तत्र तुष्टा दैत्यास्तु साधयन्ति पुनः पुनः ।

तब दैत्य गण परस्पर विचार करते हुए बोले—हम वाद्यों से समन्वित इस 'निर्गीत'[1] से प्रसन्न हैं तथा इसे ही ग्रहण करेंगे। जो सप्तरूपों[2] से युक्त 'गीत' हैं और इन देवगणों के कर्मों के अनुवादक हैं—उनसे देवगण ही प्रसन्न हों व उन्हें श्रवण करते रहें। हम इस 'निर्गीत' को ही ले लेते हैं और इसी से संतुष्ट हैं। इस प्रकार तुष्ट दैत्यों ने निर्गीत को ले लिया और इसकी 'साधना' (एवं प्रयोग) करने लगे ॥ ३३–३६ ॥

---

१. निर्गीत में सार्थक शब्द नहीं होते परन्तु ताल आदि से युक्त धुन के होने से देवगण ने इसमें अपनी प्रशंसा की कल्पना की तथा प्रसन्न हो गये और देवगण के प्रतिद्वन्द्वी होने से राक्षस क्षुब्द हो गये (यह आशय है)।

२. सप्तरूप—सप्तरूप हैं विस्तार, व्यञ्जना, आविद्ध, करण, संज्ञा, धातु तथा वाद्य। ये (तालों के) सात प्रभेद ही सप्तरूप है। इनका स्वरूप ना० शा० अ० ३१ पर पर भी द्रष्टव्य।

---

१. समं—ग०; शुभं—घ०। २. एवं—ग०। ३. बै वयम्—ग०।

निर्गीत[1] के निवारणार्थ देवताओं की नारद से भेंट—

रुष्टाश्चापि ततो देवाः प्रत्यभाषन्त नारदम् ॥ ३६ ॥
एते तुष्यन्ति निर्गीते दानवाः सह राक्षसैः ।
प्रणश्यतु प्रयोगोऽयं कथं वा[1] मन्यते भवान् ॥ ३७ ॥

तब देवगण इस बात से रुष्ट हो पुनः नारद मुनि से बोले—हे मुने, ये दानव तथा राक्षसगण केवल निर्गीत से ही सन्तुष्ट हैं तथा अन्य वस्तु (जैसे कि 'गीत' आदि) को नहीं चाहते। अतएव हम इस निर्गीत-प्रयोग को नष्ट करना चाहते हैं। आपका इसमें क्या विचार है ॥ ३६–३७ ॥

नारद द्वारा देवगण को आश्वासन—

देवानां वचनं श्रुत्वा नारदो वाक्यमब्रवीत् ।
धातुवाद्याश्रयकृतं निर्गीतं मा प्रणश्यतु ॥ ३८ ॥
किन्तूपोहनसंयुक्तं धातुवाद्यविभूषितम् ।
भविष्यतीदं निर्गीतं सप्तरू[2]पविधानतः ॥ ३९ ॥
निर्गीतेनावबद्धाश्च[3] दैत्यदानवराक्षसाः ।
न क्षोभं न विघातश्च करिष्यन्तीह तोषिताः ॥ ४० ॥

देवताओं के इन वचनों को सुन नारद बोले—'निर्गीत' जो कि (विस्तार आदि) धातुवाद्यों के आश्रित हैं, नष्ट नहीं होना चाहिए। किन्तु यही उपोहन (क्रिया) तथा धातु वाद्यों से युक्त होकर सप्तरूपों को विधिवत् धारण करेगा और दैत्य तथा दानव गण इस 'निर्गीत' (के आकर्षण) से आवद्ध रहने के कारण क्षोभ तथा विघात को (नाट्य-प्रयोग के अवसर पर) नहीं करने पायेंगे[2] ॥ ३८–४० ॥

---

१. निर्गीत—जो केवल वाद्यों की धुन (Tuning) हो।

२. यह निर्गीत के धातुवाद्याश्रित प्रयोग को देवगण के प्रिय गीत के सप्तरूप विधान से संयुक्त कर 'बहिर्गीत' की संज्ञा दी गयी। इस प्रकार नारदमुनि ने निर्गीत तथा सप्तरूप गीतों के मिश्रण से दोनों पक्षों को प्रसन्न करने का उपक्रम किया यही प्रतीत होता है।

---

१. वै—ग०। २. सप्तरूपे—ख०। ३. बंद्धास्तु—ग०।

एवं निर्गीतमेतत्तु[1] दैत्यानां स्पर्द्धया द्विजाः ।
देवानां बहुमानेन [2]बहिर्गीतमिति स्मृतम् ॥ ४१ ॥

हे मुनिजन, इस प्रकार यही 'निर्गीत' जो दैत्यों के वृथाभिमान की शान्ति हेतु निर्मित किया गया जब देवगण द्वारा सम्मान अर्जित करेगा तो 'बहीर्गीत' कहलाने लगेगा ॥ ४१ ॥

धातुभिश्चित्रवीणायां गुरुलघ्वक्षरान्वितम् ।
वर्णालङ्कारसंयुक्तं प्रयोक्तव्यं बुधैरथ ॥ ४२ ॥

इस (निर्गीत) का धातुतन्तुओं से युक्त [1]चित्रवीणा पर निपुण वादकों द्वारा वर्ण, अलंकारों तथा गुरु एवं लघु वर्णों (अक्षरों) से युक्त प्रयोग किया जाए ॥ ४२ ॥

निर्गीतं गीयते यस्मादपदं वर्णयोजनात् ।
असूयया च देवानां बहिर्गीतमिदं स्मृतम् ॥ ४३ ॥

यह शब्द या पद रहित केवल निरर्थक वर्णों की योजना से गाये जाने के कारण 'निर्गीत' कहलाता है और यही देवगणों की असन्तुष्टि के कारण 'बहिर्गीत' भी कहलाता है ॥ ४३ ॥

निर्गीत (या बहिर्गीत) से देवगण आदि का सन्तुष्ट होना—

निर्गीतं यन्मया प्रोक्तं सप्तरूपसमन्वितम् ।
उत्थापनादिकं यच्च तस्य कारणमुच्यते ॥ ४४ ॥

जो 'निर्गीत' का स्वरूप सप्त-रूपों से युक्त मैंने बतलाया तथा उत्थापनादि का जो मैंने अभिधान किया; अब मैं उसका कारण बतलाता हूँ ॥ ४४ ॥

---

१. चित्रवीणा—'नाटचोपरञ्जनार्था या वीणा सा' (अभि० भा०) अर्थात् जो साततन्त्री की तथा नाटचप्रयोग के अवसर पर परमोपयोगी हो ऐसी वीणा आजकल प्रचलित 'विचित्रवीणा' (जिसका दक्षिण में बहुत प्रचार है) इसके योग्य प्राचीन स्वरूप को लिए हुए नहीं होगी, यह सहज ही कल्पना होती है। चित्रवीणा का स्वर गम्भीर होता था तथा पर्याप्त अभ्यास द्वारा ही उसमें दक्षता अर्जित की जा सकती है। क्योंकि यह अंगुली द्वारा बजायी जाती थी। जो एक तम्बूरे जैसा ही होना लगती है।

---

१. भवन्तु—ग० । २. बहु—ग० । ३. मिदं—ग० ।

[प्रत्याहारे[1] यातुधानाः प्रीयन्ते सह पन्नगैः ।
तुष्यन्त्यप्सरसस्तत्र कृतेऽवतरणे द्विजाः ॥
तुष्यन्त्यपि च गन्धर्वा आरम्भे सम्प्रयोजिते ॥]

आश्रावणायां युक्तायां दैत्यास्तुष्यन्ति नित्यशः ।
वक्त्रपाणौ कृते चैव नित्यं तुष्यन्ति दानवाः ॥ ४५ ॥

परिघट्टनया[2] तुष्टा युक्तायां रक्षसां गणः ।
सङ्घोटनक्रियायां च तुष्यन्त्यपि च गुह्यकाः ॥ ४६ ॥

मार्गासारितमासाद्य तुष्टा[3] यक्षा भवन्ति हि ।
गीतकेषु प्रयुक्तेषु देवास्तुष्यन्ति नित्यशः ॥ ४७ ॥

वर्धमाने[4] प्रयुक्ते तु रुद्रस्तुष्यति सानुगः ।
तथा चोत्थापने युक्ते ब्रह्मा तुष्टो भवेदिह ॥ ४८ ॥

तुष्यन्ति लोकपालाश्च प्रयुक्ते परिवर्तने ।
नान्दीप्रयोगेऽथ कृते प्रीतो भवति चन्द्रमाः ॥ ४९ ॥

युक्तायामवकृष्टायां प्रीता नागा भवन्ति हि ।
तथा शुष्कावकृष्टायां[5] प्रीतः पितृगणो भवेत् ॥ ५० ॥

रङ्गद्वारे प्रयुक्ते तु विष्णुः प्रीतो भवेदिह ।
जर्जरस्य प्रयोगे तु तुष्टा विघ्नविनायकाः ॥ ५१ ॥

तथा चार्यां प्रयुक्तायामुमा तुष्टा भवेदिह ।
महाचार्यां प्रयुक्तायां तुष्टो भूतगणो भवेत् ॥ ५२ ॥

(प्रत्याहार के प्रयोग से राक्षसगण सर्पों सहित प्रसन्न होते हैं, 'अवतारणा' द्वारा अप्सराएँ प्रसन्न होती हैं तथा 'आरम्भ' के विधिवत् प्रयोग करने से 'गन्धर्व' प्रसन्न होते हैं) 'आश्रावणा' के प्रयोग से सदा

१. एतत् सार्धपद्यम् ग०, ख०—पुस्तकयोर्नास्ति ।
२. परिघट्टनायां—घ० ।
३. प्रीता—ग० ।
४. वर्धमानप्रयुक्तेषु—ग० ।
५. ॰मपकृष्टायां—ग० ।

दैत्यगण प्रसन्न होते हैं। 'वक्त्रपाणि' के द्वारा सदा दानव तथा 'परिघट्टना' के प्रयोग द्वारा राक्षस (पुनः) प्रसन्न होते हैं। संघोटन' क्रिया के प्रयोग करने पर गुह्यक प्रसन्न होते हैं। 'मार्गासारित' के प्रयोग से 'यक्ष' प्रसन्न होते हैं। गीतों के प्रयोग से देवता होते हैं। 'वर्धमान (क)' के प्रयोग से अनुचरों सहित 'रुद्रदेव' प्रसन्न होते हैं। 'उत्थापना' के प्रयोग से 'ब्रह्मा' प्रसन्न होते हैं और 'परिवर्तन' के प्रयोग से लोकपाल आनन्दित होते हैं। 'नान्दी' के प्रयोग से 'चन्द्रदेव' प्रसन्न होते हैं। 'अवकृष्टा' (ध्रुवा) के प्रयोग से 'नाग' प्रसन्न होते हैं तथा 'शुष्कावकृष्टा' ध्रुवा के प्रयोग से पितरगण प्रसन्न होते हैं। रंगद्वार' के प्रयोग से 'विष्णु' तथा जर्जर (उत्सव) के प्रयोग से विघ्नों को नष्ट करने वाला नेतृवर्ग (विघ्नविनायकाः=विघ्नों के विनेता गणेश) प्रसन्न हो जाते हैं। 'चारी' के प्रयोग से उमा देवी प्रसन्न होती हैं तथा 'महाचारी' के प्रयोग से 'भूतगण' सन्तुष्ट हो जाते हैं ॥ ४५–५२ ॥

प्रत्याहारादि[1] चार्यन्तमेतद्दैवतपूजनम् ।
पूर्वरङ्गे मया ख्यातं तथा चाङ्गविकल्पनम् ॥ ५३ ॥

इस प्रकार प्रत्याहार से प्रारंभ होकर महाचारी में समाप्त (पूर्ण) होने वाले पूर्वरंग के विभिन्न अंग और देवताओं की पूजन-विधि मैंने आपको बतलाई ॥ ५३ ॥

देवस्तुष्यति[2] यो येन यस्य यन्मनसः प्रियम् ।
तत्तथा पूर्वरङ्गे तु मया प्रोक्तं द्विजोत्तमाः ॥ ५४ ॥

हे मुनियों, इस पूर्वरंग की विधि का वर्णन करते समय देवताओं की जिन अंगों से तुष्टि होती है तथा देवगण जो अंग प्रिय है उन (सभी पूर्व रंग के) अंगों को मैंने यहाँ बतला दिया है ॥ ५५ ॥

सर्वदैवतपूजार्हं सर्वदैवतपूजनम् ।
धर्म्यं[3] यशस्यमायुष्यं पूर्वरङ्गप्रवर्तनम् ॥ ५५ ॥

---

१. आश्रावणादि—ख० । २. येन तुष्यति यो देवः—ख० ।
३. घन्यं—क० ।

जिसमें सभी देवगण की पूजा की जाती है ऐसी पूर्वरंग की यह विधि प्रेक्षकों तथा नाट्यप्रयोक्ताओं को धर्म, यश तथा दीर्घायु को देने वाली (होती) हैं ॥ ५५ ॥

दैत्यदानवतुष्ट्यर्थं सर्वेषाञ्च दिवौकसाम् ।
निर्गीतानि सगीतानि पूर्वरङ्गकृतानि तु ॥ ५६ ॥

इस पूर्वरंग में विहित निर्गीत तथा सगीत का प्रयोग दैत्यों को जितना प्रसन्न करते हैं देवगण भी उससे उतने ही सन्तुष्ट हो जाते हैं ॥५६॥

या[1] विद्या यानि शिल्पानि या गतिर्यच्च चेष्टितम् ।
लोकालोकस्य जगतस्तदस्मिन्नाटकाश्रये ॥ ५७ ॥

इस जगत में जो विद्याएँ, शिल्प, गतियाँ तथा चेष्टाएँ हैं तथा जो भी प्राणियों के तथा जड़-प्रकृति के स्वरूप हैं वे सभी नाट्याश्रित होकर (इस) पूर्वरंग में स्थित (रहते) हैं ॥ ५७ ॥

निर्गीतानां सगीतानां वर्धमानस्य चैव हि ।
ध्रुवाविधाने वक्ष्यामि लक्षणं कर्म चैव हि ॥ ५८ ॥

आपको मैं इसमें आये हुए निर्गीत, सगीत तथा वर्धमानक के लक्षण तथा प्रयोग को ध्रुवाविधान के (अ० २९, ३१ में) समय (ध्रुवाध्याय ३२ में नहीं) बतलाऊँगा ॥ ५८ ॥

शुद्धपूर्वरंग में गीत-विधान—

प्रयुज्य गीतकविधिं वर्धमानमथापि[2] च ।
गीतकान्ते ततश्चापि कार्या ह्युत्थापनी ध्रुवा ॥ ५९ ॥

[1]गीतों की विधि तथा वर्धमानक के प्रयोग पश्चात् 'उत्थापनी' ध्रुवा का प्रयोग किया जाए ॥ ५९ ॥

१. गीत तथा वर्धमानक आदि ध्रुवा विधान के अन्तर्गत आते हैं जिनका विशद विवेचन ना० शा० अ० ३१ तथा ३२ में किया गया है।

१. पद्यमेतत् ख०—पुस्तके नास्ति। २. तथैव च—ग०।

[1]उत्थापनी ध्रुवा—

आदौ द्वे च चतुर्थश्चाप्यष्टमैकादशे तथा।
गुर्वक्षराणि जानीयात्पादे ह्येकादशाक्षरे ॥ ६० ॥
चतुष्पदा भवेत्सा तु चतुरस्रा[1] तथैव च।
चतुर्भिस्सन्निपातैश्च त्रिलया त्रियतिस्तथा ॥ ६१ ॥
परिवर्ताश्च चत्वारः पाणयस्त्रय एव च।
जात्या[2] चैव हि विश्लोकास्तांश्च तालेन योजयेत् ॥ ६२ ॥

इस ध्रुवा[2] के पाद में एकादश अक्षर होते हैं (और) उसमें आदि के दो, चौथा तथा ग्यारहवाँ अक्षर गुरु होता है। इसके चार पाद होते हैं तथा इसकी चतुरस्र[3] ताल (चौताल) होती है। इसमें चार सन्निपात तथा तीन प्रकार की (द्रुत, मध्य तथा विलम्बित) लय होती है। यह तीन यतियों (समा, स्रोतोवहा व गोपुच्छा) से युक्त होती है। इसमें चार [4]परिवर्त (पादभागादि युक्त ताल का दुहराना) और तीन पाणि[5] (सम, अवर तथा उपरि पाणि) होते हैं। इसमें जातिवृत्त (मात्रावृत्त)

१. उत्थापनी ध्रुवा का उल्लेख तथा विवरण 'पूर्वरंग' में उपयोगी होने से उसका लक्षण भी यहीं दे दिया गया है। इसका विशेष विवरण ध्रुवाध्याय (ना० अ० ३२) में नहीं है।

२. इस ध्रुवा का लक्षणानुसार क्रम इस प्रकार है—SSI SII IS IISI

३. चतुरस्रताल अर्थात् चच्चत्पुट ताल में। सन्निपात सशब्दा क्रिया का एक भेद है जिसमें दोनों हाथों से ताली बजाकर ताल दी जाती है। ताल क्रिया के बीच में रखा गया विश्राम लय कहलाता है। लय के तीन प्रकार होते हैं–द्रुत, मध्य तथा विलम्बित। लय के प्रयोग के नियम को यति कहते हैं। यति भी तीन हैं—समा, स्रोतोवहा तथा गोपुच्छा। इनका विशेष विवरण तथा लक्षण ना० शा० अ० ३१।३८, ३९, ३१।४, ३१।५३२–५३७ तथा ३२।१४६ पर द्रष्टव्य।

४. परिवर्त कहते हैं गानक्रिया की (पादभाग आदि से युक्त ताल की) आवृत्ति या दुहराने को; इसके चार प्रकार होते हैं।

५. ताल के साथ तीन ग्रह या पाणि का प्रयोग होता है जिनके नाम हैं समपाणि (समग्रह), अवरपाणि (अतीतग्रह) तथा उपरिपाणि (अनागतग्रह।

१. चतुरस्रे—ग०। २. जात्यां—ग०।

में विश्लोक[1] छन्द होता है और उसी प्रकार का चतुरस्र ताल (चौताल) प्रयुक्त किया जाता है ॥ ५९–६२ ॥

शम्या[1] तु द्विकला कार्या तालो द्विकल एव च ।
पुनश्चैककला शम्या सन्निपातः कलात्रयम् ॥ ६३ ॥

इसमें होने वाली ताल[2] की (यथाक्रम) जो योजना है उसमें दो कला की प्रमाणवाली शम्या, फिर दो कला की ताल, फिर एक कला की शम्या तथा अंत में तीन कला का सन्निपात होता है ॥ ६३ ॥

प्रथम परिवर्त—

एवमष्टकलः कार्यः सन्निपातो विचक्षणैः ।
चत्वारः सन्निपाताश्च परिवर्तस्य[2] उच्यते ॥ ६४ ॥

इस प्रकार विज्ञातागण (एक) सन्निपात को आठ कलाओं वाला जानें तथा इन चार सन्निपातों से एक 'परिवर्त' बनता है ॥ ६४ ॥

पूर्वं स्थितलयः[3] कार्यः परिवर्तो विचक्षणैः ।
तृतीये सन्निपाते तु तस्य भाण्डग्रहो भवेत् ॥ ६५ ॥

नाट्यवेत्ताजन इस प्रथम परिवर्तक (जो कि पूर्वरंग में होता है) को विलम्बित लय तथा (स्थितलय) में प्रयुक्त करें तथा तीसरे सन्निपात के समय इस परिवर्त में भाण्डवाद्य (अवनद्धवाद्य संभवतः मृदंग) का ग्रहण (वादन या आरम्भ) किया जाए ॥ ६५ ॥

द्वितीय परिवर्त—

एकस्मिन्परिवर्ते तु गते प्राप्ते द्वितीयके ।
कार्यं मध्यलये[4] तज्ज्ञैः सूत्रधारप्रवेशनम् ॥ ६६ ॥

---

१. विश्लोका वृत्त का लक्षण ना० शा० ३२।१४६ पर द्रष्टव्य ।

२. ताल, कला, सन्निपात तथा शम्या के लक्षण ना० शा० अध्याय ३१। ६–११, ३८, ३९, तथा ४० पर भी द्रष्टव्य ।

---

१. शम्पा—क० । २. परिवर्तः स—ख । ३. स्थितिलयः—ग० ।
४. मध्यलयं—ग० ।

प्रथम 'परिवर्त' के हो चुकने तथा द्वितीय परिवर्तन के प्रदर्शन के प्रारम्भ (काल) में लय को मध्यगति में प्रयुक्त करें (तथा) उसी समय मंच पर सूत्रधार का अपने दो[1] परिपार्श्विकों के साथ प्रवेश करवाया जाय ॥

पुष्पाञ्जलिं[1] समादाय रक्षामङ्गलसंस्कृताः ।
शुद्धवस्त्राः सुमनसस्तथा चाद्भुतदृष्टयः ॥ ६७ ॥
स्थानन्तु वैष्णवं कृत्वा सौष्ठवाङ्गपुरस्कृतम् ।
दीक्षिताः शुचयश्चैव प्रविशेयुः समं त्रयः ॥ ६८ ॥

ये तीनों रंगमंच पर एक साथ ही प्रवेश करें । इनकी हस्ताञ्जलियाँ पुष्पों से आपूरित हों—वे विघ्नों की समाप्ति तथा आत्मरक्षार्थ रक्षासूत्र, मंगलसूत्र तथा शुद्धवस्त्रों को धारण किये हों । उनके वस्त्र शुद्ध श्वेतवर्ण के हों । वे पुष्पों से युक्त अंजलि, अद्भुत-दृष्टि (ना० शा० अ० ८।४८) तथा वैष्णवस्थान (ना० ११।५०–५२) से युक्त हों, उनका शरीर 'सौष्ठव' शाली हो और वे (नाट्य कर्मरूपी पुण्यानुष्ठान हेतु) दीक्षित हों ॥

भृङ्गारजर्जरधरौ भवेतां पारिपार्श्विकौ[2] ।
मध्ये तु सूत्रभृत्ताभ्यां वृत्तः पञ्चपदीं व्रजेत् ॥ ६९ ॥
पदानि पञ्च गच्छेयुर्ब्रह्मणो यजनेच्छया ।
पादानाञ्चापि विक्षेपं व्याख्यास्यामि यथाक्रमम् ॥ ७० ॥

इन दो पारिपार्श्विकों में से एक भृङ्गार (सोने की सुराही) तथा दूसरा [2]जर्जर को लिए हुए हो और इन दोनों के मध्य 'सूत्रधार' हो जो इन दोनों के साथ पाँच डग भरते हुए आगे बढ़े ।

---

१. इन दो में एक पात्र विदूषक की भूमिका का 'त्रिगत' में निर्वाह करता है । (देखिये आगे ५।१३७–१४१ पर भी)

२. जर्जर का विवरण ना० शा० ३।७३ पर भी द्रष्टव्य ।

---

१. पुष्पाञ्जली—ग० । २. पारिपार्श्वकौ—ख० ।

३. ख पुस्तके श्लोकार्धस्यास्य स्थाने—'सूचीं वामपदं दद्याद् विक्षेपं दक्षिणस्य च' इति वर्तते ।

पाँच डग भरकर आगे आना ब्रह्मदेव के पूजनार्थ किया जाता है। अब इन पाँचों डगों के क्रमशः स्थापन का विधान बतलाता हूँ ॥६९–७०॥

[1]त्रितालान्तरविष्कम्भमुत्क्षिपेच्चरणं शनैः।

पार्श्वोत्थानोत्थितं चैव तन्मध्ये पातयेत्पुनः ॥ ७१ ॥

वे अपने पैर तीन[1] ताल के अन्तर से धीरे-धीरे ऊपर की ओर उठाएँ—जो कि प्रत्येक की अपने दिशा की ओर (बगल की ओर) हो— तथा उन्हें (इस प्रकार उठाने के बाद) फिर उसी अन्तर से भूमि पर टिकाए ॥ ७१ ॥

एवं पञ्चपदीं[2] कृत्वा[3] सूत्रधारः सहेतरैः[4]।

सूचीं वामपदं दद्याद्विक्षेपं दक्षिणेन च ॥ ७२ ॥

(कथित विधानानुसार) इस प्रकार पाँच डगों को भरकर अपने साथियों सहित सूत्रधार 'सूची' चारी का प्रदर्शन करे जो कि बाएँ पैर से हो, फिर दाहिने पैर द्वारा 'विक्षेप' का प्रदर्शन करें ॥ ७२ ॥

पुष्पाञ्जल्यपवर्गश्च कार्यो ब्राह्मेऽथ मण्डले।

रङ्गपीठस्य[5] मध्ये तु स्वयं ब्रह्मा प्रतिष्ठतः ॥ ७३ ॥

(फिर) सूत्रधार 'ब्राह्ममंडल' (ब्रह्मा द्वारा अधिष्ठित प्रदेश या रंगमंच के मध्यभाग) पर पुष्पाञ्जलि अर्पित करे। क्योंकि रंगपीठ के मध्यभाग में स्वयं ब्रह्मदेव स्थित रहते हैं ॥ ७३ ॥

ततः सललितैर्हस्तैरभिवन्द्य[6] पितामहम्।

वन्दनान्यथ[7] कार्याणि त्रीणि हस्तेन भूतले ॥ ७४ ॥

कालप्रकर्षहेतोश्च पातानां प्रविभागतः।

---

१. ताल—एक कालविभाग। ताल का विशेष विवरण ३१ वें अध्याय में देखिये। ताल दूरी को भी कहते हैं जिसका प्रमाण है मध्यमा उंगली की नोक से कलाई तक की लंबाई की जो एक बालिश्त होता है।

---

१. त्रिकाला—ग०। २. विष्णुपदीं—ख०। ३. गत्वा—ग०।
४. सहेतरः—ख०। ५. श्लोकार्धमेतत् क० पुस्तके नास्ति।
६. अभिवन्द्यः पितामहः—घ०।
७. अभिवादनानि कार्याणि—घ०।

फिर वह ब्रह्मा की विनीत भाव व ललित[1] हस्त मुद्रा से वन्दना करे। यह वन्दना पृथ्वी पर हाथों को तीन बार स्पर्श करते हुए की जाए और इस समय (उसके) पाद-विक्षेप[2] काल का विभाग बतलाते हुए रखे जाएँ ॥

सूत्रधारप्रवेशाद्यो वन्दनाभिनयानुगः ॥ ७५ ॥
द्वितीयः परिवर्तस्तु कार्यो मध्यलयाश्रितः।

इस प्रकार (इस) द्वितीय परिवर्त को मध्यमलय में प्रयुक्त करे जो सूत्र-धार के प्रवेश से आरंभ होता है तथा ब्रह्म-देव की वन्दना पर समाप्त होता है। (तथा जिसमें वन्दना तथा ललित मुद्रा का उपयोग किया गया है) ॥

तृतीय वरिवर्त—

ततः[1] परं तृतीये तु मण्डलस्य[2] प्रदक्षिणम् ॥ ७६ ॥
भवेदाचमनं चैव जर्जरग्रहणं तथा।
उत्थाय मण्डलात्तूर्णं दक्षिणं पदमुद्धरेत् ॥ ७७ ॥
वैधं[3] तेनैव कुर्वीत विक्षेपं वामकेन च।
पुनश्च दक्षिणं पादं पार्श्वसंस्थं समुद्धरेत् ॥ ७८ ॥
ततश्च वामवेधस्तु विक्षेपो दक्षिणस्य च।
इत्यनेन प्रकारेण[4] सम्यक्कृत्वा प्रदक्षिणम् ॥ ७९ ॥
भृङ्गारभृतमाहूय[5] शौचश्चापि समाचरेत्।
यथान्यायं तु कर्तव्या तेन ह्याचमनक्रिया ॥ ८० ॥
आत्मप्रोक्षणमेवाद्भिः कर्तव्यं तु यथाक्रमम्।

---

१. ललित हस्तचेष्टा नृत्तहस्त का प्रकार है जिसमें दो अलपल्लव हाथ को मस्तक पर संचालित किया जाता है। (ललित का लक्षण ना० शा० ६।२०६ पर भी द्रष्टव्य।)

२. पादविक्षेप=चरण का रखना, गिराना या झुकाना। अर्थात् सूत्रधार के द्वारा पृथवी पर अपने चरणों को तालमात्रा के प्रमाण से विभाजित करते हुए रखना।

---

१. अतः—ग०। २. मण्डपस्य—ग०। ३. तेनैव वेधं—ग०।
४. विधानेन—घ०। ५. भृङ्गारधार—ग०, घ०।

फिर तीसरे परिवर्त में सूत्रधार 'ब्राह्ममण्डल' की प्रदक्षिणा करे, आचमन करे और 'जर्जर' का ग्रहण करे। (जिसका विधान इस प्रकार है) सर्वप्रथम वह ब्रह्मा के मण्डल से शीघ्रता से उठकर अपने दाहिने पैर को उठाए, उसी से सूची का[1] (वेध) प्रदर्शन करे तथा बाएँ पैर से 'विक्षेप' का, फिर दाहिने पैर को (अपनी) कोख की ओर [2]उठाए और बाएँ पैर से सूची प्रदर्शन करे और फिर दाहिने पैर द्वारा 'विक्षेप' का। इस प्रकार विधानानुसार कर चुकने पर सूत्रधार भृङ्गार धारण करने वाले एक पारिपार्श्वक को[3] बुलाकर उस भृङ्गार (पात्र) के जल से (हाथ-पैरों को स्पर्श करते हुए) स्वयं को पवित्र करे और फिर विधानानुसार आचमन कर उसी जल का अपने ऊपर प्रोक्षण करे ॥ ७६–८० ॥

प्रयत्नकृतशौचेन सूत्रधारेण यत्नतः ॥ ८१ ॥
सन्निपातसमं[1] ग्राह्यो जर्जरो विघ्नजर्जरः।
प्रदक्षिणाद्यो विज्ञेयो जर्जरग्रहणान्तकः ॥ ८२ ॥
तृतीयः परिवर्तस्तु विज्ञेयो वै द्रुते लये।

इस प्रकार प्रयत्नपूर्वक पवित्र होकर सूत्रधार प्रयत्न पूर्वक उस

---

१. यहाँ वामवेध का अर्थ 'सूची' चारी किया गया है। सूचीचारी का लक्षण ना० शा० ११।३४ पर द्रष्टव्य। वेध का अर्थ अभिनवगुप्ताचार्य ने दूसरे पैर को एड़ी के पीछे पटकना लिया है (वेधमिति द्वितीयपादपार्ष्णिपृष्ठे पातनम् अ० भा० Vol. I. पृ० २३१)।

२. दाहिने पैर को कोख की ओर उठाना पार्श्वक्रान्ता चारी हो जाता है। पार्श्वक्रान्ता का लक्षण ना० शा० ११।३२ पर है जिसके अनुसार पैर ऊपर उठाया जाकर जानु को वक्षःस्थल के बराबर रखते हैं और फिर उसे एक पार्श्व में एड़ी पर पटकते हैं।

३. आचार्य अभिनगुप्त का मत है कि भृंगारधारी पारिपार्श्विक को प्रदक्षिणा के अवसर पर तथा परिवर्त के अवसर पर चुपचाप (तूष्णींभावेन) स्थित रहना चाहिये।

---

१. सन्निपाते समं—ख०।

'जर्जर' का ग्रहण करे जो कि विघ्नों को जर्जरित कर देता है। यह 'जर्जर' ग्रहण तृतीय परिवर्त के अन्तिम सन्निपात[१] के प्रारंभ में ही कर लेना चाहिए। सूत्रधार द्वारा (ब्राह्ममण्डल की) प्रदक्षिणा से प्रारंभ होकर जर्जर ग्रहण तक किया जाने वाला यह तृतीय परिवर्त 'द्रुतलय' में किया जाए ॥ ८१–८२ ॥

चतुर्थ परिवर्त—

गृहीत्वा जर्जरं त्वष्टौ[1] कला जप्यं प्रयोजयेत् ॥ ८३ ॥
वामवेधं ततः कुर्याद् विक्षेपं दक्षिणस्य च।
ततः पञ्चपदोश्चैव गच्छेत्तु कुतपोन्मुखः ॥ ८४ ॥
[वामवेधस्तु[2] तत्रापि विक्षेपो दक्षिणस्य तु।]
जर्जरग्रहणाद्योऽयं कुतपाभिमुखान्तकः ॥ ८५ ॥
चतुर्थः परिवर्तस्तु कार्यो[3] द्रुतलये पुनः।

जर्जर ग्रहण करने के पश्चात् वह आठ कला[२] तक (मन्त्र का) जप करे और फिर बाएँ पैर को आगे चढ़ाकर 'सूची' (चारी) का प्रदर्शन करे और (इसके पश्चात्) दाहिने पैर से वही विक्षेप प्रदर्शित करे (अथवा दाहिने पैर द्वारा विक्षेप का प्रदर्शन करे) फिर संगीत-वाद्यों के स्थान की ओर पाँच डग चले और इसके पश्चात् [वह पुनः बाएँ पैर से सूची और दाहिने से विक्षेप को प्रदर्शित करे।] यह चतुर्थ परिवर्त जर्जर-ग्रहण से प्ररंभ होकर कुतपों के अभिमुख जाने तक किया जाता है तथा इसमें 'द्रुतलय' रहती है ॥ ८३–८५ ॥

---

१. अर्थात् जिस समय सूत्रधार तृतीय परिवर्त को सम्पन्न करे उस समय उसी के साथ उत्थापनी ध्रुवा का (तीसरा परिवर्त) गान चलता है जिसे द्रुतलय में करना चाहिए और इस तीसरे परिवर्त का अन्तिम सन्निपात जर्जर-ग्रहण के समय चलना चाहिये।

२. कला—तालमान के अनुसार पाँच निमेष का काल लघु या एक मात्रा के बराबर होता है और दो लघु या मात्राओं की एक 'कला' होती है।

---

१. चाष्टौ—ख०; ग०। २. पद्यार्थमेतत्—ख पु० गपुस्तके च नास्ति।
३. विज्ञेयो वै द्रुते लये—घ०।

करपादनिपातास्तु भवन्त्यत्र तु षोडश ॥ ८६ ॥
त्र्यश्रे द्वादशपातास्तु[1] भवन्ति करपादयोः[2] ।
वन्दनान्यथ कार्याणि त्रीणि हस्तेन भूतले ॥ ८७ ॥
आत्मप्रोक्षणमद्भिश्च त्र्यश्रेनैव विधीयते ।
एवमुत्थापनं कार्यं ततस्तु परिवर्तनम् ॥ ८८ ॥

इस चतुरर्थ परिवर्त में हाथ तथा पैरों का हलन-चलन सोलह निपात का होता है तथा त्र्यश्र के हलन-चलन में बारह निपात माने गये हैं। फिर वह पृथ्वी का स्पर्श करते हुए तीन बार वेदना करें। इसके (तृतीय परिर्वत के) पूर्व में यह (प्रोक्षणादि) कार्य नहीं किया जाता है। इस प्रकार 'उत्थापना' ध्रुवा हो जाने पर फिर 'परिवर्तनी' ध्रुवा का आरंभ करना चाहिए ॥८६-८८॥

परिवर्तनी ध्रुवा—

चतुरश्रं[3] लये मध्ये सन्निपातैरथाष्टभिः ।
यस्यां लघूनि सर्वाणि केवलं नैधनं[4] गुरु ॥ ८८ ॥
भवेदतिजगत्यान्तु सा ध्रुवा परिवर्तनी ।
वार्तिकेन[5] तु मार्गेण वाद्येनानुगतेन च ॥ ८९ ॥
ललितैः पादविन्यासैर्वन्द्याद्देवान्[6] यथादिशम् ।
द्विकलं पादपतनं पादचार्यां[7] गतं भवेत् ॥ ९० ॥
एकैकस्यां दिशि तथा सन्निपातद्वयं भवेत् ।
वामपादेन वेधस्तु कर्तव्यो नृत्तयोक्तृभिः ।
द्वितालान्तरविष्कम्भो[8] विक्षेपो दक्षिणस्य च ॥ ९१ ॥

यह परिवर्तनी ध्रुवा चतुरस्रताल, मध्यलय तथा आठ सन्निपातों से युक्त होती है। इसमें अतिजगती-जाति (एकादशाक्षर जाति का छन्द)

---

१. तु द्वादशपदा—ग० । २. करपादजाः—ग० । ३. चतुरस्रे—ग० ।
४. निधनं—ग० । ५. वामकेन—ग० । ६. वन्द्या देवा—ग० ।
७. पादचर्यां विधीयते—ग० । ८. विष्टम्भो—ग० ।

रहती है, अन्तिम वर्ण गुरु होता है तथा चारों पादों में शेष सभी वर्ण लघु रहते हैं।

(इस परिवर्तनी ध्रुवा की गान-वेला में) सूत्रधार वार्तिक-मार्ग[1] से वाद्य ध्वनि तथा ताल के अनुसार ललित-पाद विन्यास करते हुए यथाक्रम दिशाओं को नमस्कार करे।

इस उपर्युक्त पादविन्यास (पादचारी) में सूत्रधार का प्रत्येक डग दो कला के प्रमाण वाला होना चाहिए तथा प्रत्येक दिशा की ओर रखा गया गति का समय दो सन्निपात का (प्रमाणवाला) होता है। नृत्त के संयोजक विद्वान् इसके पश्चात् बाएँ पैर द्वारा सूची का प्रयोग करे तथा दाहिने पैर से विक्षेप का जो कि दो ताल के अन्तर रखी जानी चाहिए ॥ ८८–९१ ॥

दिग्वन्दन—

ततः पञ्चपदीं गच्छेदतिक्रान्तैः पदैरथ।
ततोऽभिवादनं कुर्याद्देवतानां यथादिशम् ॥ ९२ ॥
वन्देत प्रथमं पूर्वां दिशं शक्राधिदैवताम्।
द्वितीयां दक्षिणामाशां वन्देत यमदैवताम् ॥ ९३ ॥
वन्देत पश्चिमामाशां ततो वरुणदैवताम्।
चतुर्थीमुत्तरामाशां वन्देत धनदाश्रयाम् ॥ ९४ ॥

(वह) फिर 'अतिक्रान्ता'[2] चारी में पाँच डग भरे और यथा-क्रम दिशाओं के अनुसार देवगण का अभिवादन करे। वह सर्वप्रथम इन्द्र से अधिष्ठित पूर्व दिशा का अभिवादन करे फिर दूसरी दिशा (दक्षिण) का—जो कि यमदेव के द्वारा अधिष्ठित है—अभिवादन करे।

इसके पश्चात् वह वरुण देव की दिशा (पश्चिम) का अभिवादन करे तथा चौथी बार कुबेर से अधिष्ठित उत्तर दिशा की वन्दना करे ॥९२–९४॥

१. वार्तिकमार्ग—तीन मार्गों में अन्यतम मार्ग जिसमें एक पदभाग (कला) का चार मात्राओं से निर्माण होता हो [परिवर्तिनी ध्रुवा के सम्पादन काल में वाद्यवादन के साथ सूत्रधार को डग भरना होता है यह इस विवरण से स्पष्ट ही है।

२. अतिक्रान्ताचारी—का स्वरूप ना० शा० १०।३० पर द्रष्टव्य।

दिशां तु वन्दनं कृत्वा वामवेधं प्रयोजयेत् ।
दक्षिणेन च कर्तव्यं विक्षेपपरिवर्तनम् ॥ ९५ ॥

दिशाओं की वन्दना के पश्चात् यह बाएँ पैर से सूची (वेध) का तथा दाहिने से विक्षेप का प्रदर्शन करे और फिर उसी पैर से एक परिवर्तन (गोल घुमाव) ले ले ॥ ९५ ॥

प्राङ्मुखस्तु ततः कुर्यात्पुरुषस्त्रीनपुंसकैः ।
त्रिपद्या[1] सूत्रभृद्रु[2]द्रब्रह्मोपेन्द्राभिवादनम्[3] ॥ ९६ ॥

फिर वह पूर्व दिशा की ओर मुख करे और पुरुष, स्त्री तथा नपुंसक लक्षणों वाले चरणों से क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव की वन्दना करे ॥९३॥

दक्षिणं तु पदं पुंसो वामं स्त्रीणां[4] प्रकीर्तितम् ।
पुनर्दक्षिणमेव[5] स्यान्नाभ्युत्क्षिप्तं नपुंसकम् ॥ ९७ ॥

वन्देत पौरुषेणेशं स्त्रीपदेन जनार्दनम् ।
नपुंसकपदेनापि तथैवाम्बुजसम्भवम् ॥ ९८ ॥

दाहिना पैर पुरुष-पाद, बायाँ हाथ स्त्री-पाद तथा जो पैर अधिक ऊँचा न उठाया जाए वह दाहिना पैर नपुंसक-पाद कहलाता है ॥ ९७ ॥

पुरुष-पाद द्वारा शिव की, स्त्री पाद से विष्णु की और नपुंसकपाद से ब्रह्मा की वन्दना की जाती है ॥ ९८ ॥

[[6]यस्यां लघूनि कार्याणि केवलं नैधनं गुरु ।
पादे त्वतिजगत्यां हि सा ध्रुवा परिवर्तनी ॥]

[जिस अतिजगती छन्द के पाद में केवल अन्त गुरु और शेष लघु रहे उसे परिवर्तनी ध्रुवा समझना चाहिये]

---

१. त्रिपाद्या—ग०, त्रिपदैः—घ० । २. सूत्रधृक्—ग० ।
३. वन्दनम्—ग० । ४. स्त्रीपदमुच्यते—ख ।
५. दक्षिणन्तु पदं ज्ञेयं—ग० । ६. पद्यमेतत् क पुस्तके नास्ति ।

चतुर्थपात्र प्रवेश—

परिवर्तनमेवं स्यात्तस्यान्ते प्रविशेत्ततः।
चतुर्थकारः[1] पुष्पाणि प्रगृह्य विधिपूर्वकम् ॥ ९९ ॥

'परिवर्तिनी ध्रुवा' इसी प्रकार सम्पन्न की जाए तथा उसके समाप्त हो जाने पर फिर एक चौथा-पात्र (चतुर्थकारः) पुष्पांजलि लिए हुए मंच पर प्रवेश करे ॥ ९९ ॥

यथावत्तेन कर्तव्यं पूजनं जर्जरस्य तु।
कुतपस्य[2] च सर्वस्य सूत्रधारस्य चैव हि ॥ १०० ॥

(फिर) वह जर्जर का विधिवत् पूजन करे तथा सभी वाद्य और सूत्रधार का भी पूजन करे ॥ १०० ॥

तस्य भाण्डसमः[3] कार्यस्तज्ज्ञैः गति[4]परिक्रमः।
न तत्र गानं कर्त्तव्यं तत्र स्तोभ-क्रिया भवेत् ॥ १०१ ॥

पूजा के समय इसकी वाद्यानुसारी गति रखी जाए। (अवनद्ध वाद्यानुसारी का तात्पर्य यह है कि वह ताल के अनुसार गति रखे)। इस समय किसी गीत का गान न किया जाए केवल वाद्यवादन ही रहे और गान भी केवल अर्थहीन अक्षरों ([1]स्तोभाक्षरों) का ही (यथा थिल्लाना आदि का) होना चाहिए ॥ १०१ ॥

अवकृष्टा ध्रुवा-गान—

चतुर्थकारः[5] पूजान्तु स कृत्वान्तर्हितो भवेत्।
ततो गेयावकृष्टा तु चतुरस्रा स्थिता ध्रुवा ॥ १०२ ॥

इस प्रकार पूजा सम्पन्न कर चुकने पर वह चतुर्थपात्र रंगमंच से

---

१. स्तोभाक्षर या स्तोभक्रिया का अर्थ होता है शुष्काक्षरों का गान।

---

१. चतुष्प्रकार—ग०। २. भाण्डस्यैव—ग०।
३. गतः—ग०। ४. गीति—ग०।
५. चतुष्प्रकारपूजां तु निष्क्रामेत् सम्प्रयुज्य हि—ग०।

प्रस्थान करे। तदन्तर 'अवकृष्टा'[1] ध्रुवा का चतुरस्रताल तथा विलम्बित (स्थित) लय में गान किया जावे ॥ १०२ ॥

गुरुप्राया तु सा कार्या तथा चैवावपाणिका।
स्थायिवर्णाश्रयोपेता कलाष्टक-विनिर्मिता ॥ १०३ ॥

इस 'अवकृष्टा' ध्रुवा में सभी वर्ण गुरु होते हैं तथा यह स्थायी[2] वर्णों (स्थिर तथा सम स्वर का स्थायी वर्ण अभिधान है जो ना० शा० २९।१९ पर बतलाया गया है) पर आश्रित रहती है। यह आठ कलाओं (द्विकला तथा चंचत्पुट (२ + ६ = ८) से निर्मित तथा अवपाणिक[3] ताल से युक्त होती है ॥ १०३ ॥

चतुर्थं[1] पञ्चमञ्चैव सप्तमं चाष्टमं तथा।
लघूनि पादे पङ्क्त्यान्तु सावकृष्टा ध्रुवा स्मृता ॥ १०४ ॥

अवकृष्टा ध्रुवा गीत चार पादों तथा दस अक्षरों वाली (पंक्ति जाति की) होती हैं, जिसमें चतुर्थ, पंचम, सप्तम तथा अष्टम वर्ण लघु होता है ॥ १०४ ॥

नान्दी—

सूत्रधार पठेत्तत्र[2] मध्यमं स्वरमाश्रितः।
नान्दी पदैर्द्वादशभिरष्टाभिर्वाप्यलङ्कृताम् ॥ १०५ ॥

इसके पश्चात् सूत्रधार मध्यम स्वर से नान्दी पाठ करे। यह नान्दी आठ या बारह पद[4] वाली होनी चाहिए ॥ १०५ ॥

---

१. ध्रुवाओं का विशेष स्वरूप ना० शा० ३२।१५४–१५६ पर देखिये।

२. स्थायीवर्ण का लक्षण ना० शा० २९।१९ पर भी देखिये।

३. अवपाणि या अवरपाणि ताल का एक प्रकार होता है।

४. नान्दी के 'पद' के विषय में अनेक व्याख्याएँ हैं जिनमें कुछ विद्वान् श्लोक या पद्य के अवयव सुबन्त या तिङन्त को, दूसरे श्लोक-पाद को तथा अन्य विद्वान उनके अवान्तर स्वरूप वाक्य को पाद शब्द से अभिहित करते हैं।

---

१. श्लोकोऽयं ग—पुस्तके नास्ति। २. पठेन्नान्दीं—ग०।

नान्दी का उदाहरण :—

नमोऽस्तु सर्वदेवेभ्यो द्विजातिभ्यः शुभं तथा।
जितं सोमेन वै राज्ञा शिवं[1] गोब्राह्मणाय च ॥ १०६ ॥

देवताओं को नमस्कार हो, ब्राह्मणों का कल्याण हो, सोम (रूप) राजा की विजय हो तथा गो-ब्राह्मणों का शुभ हो।

ब्रह्मोत्तरं तथैवास्तु हता ब्रह्मद्विषस्तथा।
प्रशास्त्विमां महाराजः पृथिवीं च ससागराम् ॥ १०७ ॥

ब्राह्मणों की निरन्तर (विद्याओं में) उन्नति हो, ब्राह्मणों के शत्रुओं का क्षय हो तथा हमारे महाराज सागरों से घिरी पृथ्वी पर शासन करें ॥ १०७ ॥

राष्ट्रं[2] प्रवर्धतां चैव रङ्गस्याशा[3] समृद्धयतु।
प्रेक्षाकर्तुर्महान्धर्मो भवतु ब्रह्मभावितः ॥ १०८ ॥

यह राज्य सदा फले फूले और उन्नति करे, इस रंगमंच की आशाओं को (संभावनाओं, योजनाओं, प्रयोगों इत्यादि की) समृद्धि हो तथा इस प्रेक्षा-कारक[1] (अपनी ओर से समस्त व्यय कर जनरंजनार्थ नाट्य का आयोजन करने वाले) सज्जन को वेदों में वर्णित धर्म की प्राप्ति हो ॥१०८॥

काव्यकर्तुर्यशश्चास्तु धर्मश्चापि[3] प्रवर्धताम्।
इज्यया चानया नित्यं प्रीयन्तां देवता इति ॥ १०९ ॥

---

१. प्रेक्षाकार या प्रेक्षाकर्तृ शब्द का अर्थ है अर्थपति जो खेल या नाटक पर होने वाली सारी अर्थव्यवस्था को बहन कर सामान्य जनता के मनोरंजनार्थ नाटक करवाते हैं। यह अर्थपति ही कर सकते हैं अतएव उनका भी यहाँ निवेश मंगलकामना-हेतु किया गया है। प्रेक्षाकर्तृ का दूसरा अर्थ है 'प्रेक्षां करोति कारयति अथवा प्रेक्षायाः कारः कर्तृ वा' तदनुसार नाट्यप्रदर्शन को निर्देशन आदि द्वारा प्रस्तुत करने वाला सूत्रधार भी प्रेक्षाकार हो सकता है जिसकी यहाँ मंगलकामना इष्ट है।

---

१. आरोग्यं भोग एव च०—ग०। २. राज्यं—ग०।
३. रङ्गश्चायं समृध्यताम्—ग०।

इस नाटक (आदि दृश्यकाव्य) के निर्माता कवि को यश मिले तथा उसका धर्म भी (गुण, अदृष्ट पुण्य) विस्तृत हो और इस काव्यात्मक यज्ञ के अनुष्ठान से सदा देवगण भी प्रसन्न होते रहें ॥ १०९ ॥

नान्दीपदान्तरेष्वेषु ह्येवमस्त्विति नित्यशः ।
वदेतां[1] सम्यगुक्ताभिर्वाग्मिनौ पारिपार्श्विकौ ॥ ११० ॥

इस प्रकार के विषयवाली किसी एक (सलक्षणा) नान्दी के पद्य पाठ के अनन्तर दोनों पारिपार्श्विक स्पष्ट तथा उच्च स्वर से (उक्त भावना के अनुमोदन हेतु) 'ऐसा ही हो' शब्द का उच्चारण करें ॥ ११० ॥

शुष्कावकृष्टा ध्रुवा—

एवं नान्दी विधातव्या यथावल्लक्षणान्विता[2] ।
ततश्शुष्कावकृष्टा स्याज्जर्जरश्लोक-दर्शिका ॥ १११ ॥

इसी प्रकार लक्षणानुसार 'नान्दी' का प्रयोग करना चाहिए और फिर जर्जर की स्तुति को निदर्शित करने वाली 'शुष्कावकृष्टा' ध्रुवा का गान किया जाए ॥ १११ ॥

नव गुर्वक्षराण्यादौ षड्लघूनि गुरुत्रयम् ।
[3]शुष्कावकृष्टा तु भवेत्कला ह्यष्टौ प्रमाणतः ॥ ११२ ॥

इस 'शुष्कावकृष्टा' ध्रुवा में आदि के ९ वर्ण गुरु फिर ६ वर्ण लघु तथा अन्तिम ३ वर्ण गुरु होते हैं। इसका आठ कला का (समयगत) परिमाण होता है ॥ ११२ ॥

शुष्कावकृष्टा[1] का उदाहरण—

दिग्ले दिग्ले[4] झण्टू झण्टू ।
जम्बुकपलितक ते ते चाम् ॥ ११३ ॥

---

१. शुष्कावकृष्टा का इसी अध्याय में प्रयोग निर्देश (५।१४) दिया जा चुका है। यहाँ इसका स्वरूप तथा उदाहरण दिया गया है। इसका स्वरूप इस प्रकार होगा SSSSSSSSSI।।।।।SSS (दिग्ले दिग्ले झण्टू झण्टू जम्बुकपलितक ते ते चाम्।)
S S S S S S S S S I I I I I I S S S

---

१. दन्देतां—ख० । २. यथोक्ता लक्षणैर्मया—ग० ।
३. कलाश्चाष्टौ प्रमाणेन पादे ह्यष्टादशाक्षरे—क, पादैर्ह्यष्टादशाक्षरैः—ग० ।
४. झण्डे झण्डे दिग्ले—ग० ।

रंगद्वार—

कृत्वा शुष्कावकृष्टां तु यथावद्‌द्विजसत्तमाः ।
ततः श्लोकं पठेदेकं गम्भीरस्वरसंयुतम् ॥ ११४ ॥
देवस्तोत्रं पुरस्कृत्य यस्य पूजा प्रवर्तते ।
राज्ञो[1] वा यत्र भक्तिः स्यादथवा ब्राह्मणस्तवम्[2] ॥ ११५ ॥

हे श्रेष्ठमुनिजन, शुष्कावकृष्टा ध्रुवा के गान के पश्चात् वह (सूत्रधार) गम्भीर स्वर से एक श्लोक का पाठ करे। यह श्लोक किसी देवता की स्तुति वाला, या जिसके उपलक्ष में नाट्य प्रदर्शन का संयोजन हो उस देव से सम्बन्धित हो या फिर जिस राजा के प्रति प्रजा का अनुराग हो उसकी ओर या फिर ब्राह्मणों की स्तुति का संकेत करने वाला होना चाहिए ॥ ११४–११५ ॥

गदित्वा[3] जर्जरश्लोकं रङ्गद्वारे च यत्स्मृतम् ।
पठेदन्यं पुनः श्लोकं जर्जरस्य प्रकाशनम्[4] ॥ ११६ ॥

रंगद्वार के अन्तर्गत इस प्रकार जर्जर श्लोक के पाठ के पश्चात् वह पुनः जर्जर के यश प्रकाशक एक दूसरे श्लोक का पाठ करे ॥ ११६ ॥

चारी—

जर्जरं नमयित्वा[5] तु ततश्चारीं प्रयोजयेत् ।
पारिपार्श्विकयोश्च स्यात्पश्चिमेनापसर्पणम् ॥ ११७ ॥

इसके उपरान्त जर्जर को प्रणाम किया जाए और फिर 'चारी' का

'शुष्कावकृष्टा' ध्रुवा का जर्जर को लक्ष्य कर उसकी कीर्ति विस्तार हेतु गाना होता है। भरत ने इन ध्रुवाओं की छन्दःशास्त्र तथा संगीत दोनों की दृष्टि से व्याख्या की है। प्रथम छन्दःशास्त्र के अनुसार गुरु, लघु का निर्देश किया गया है तथा बाद में संगीत के अनुसार कला का प्रमाण बतलाया है।

---

१. राज्ञो भक्तिश्च यत्र । २. ब्राह्मणस्तवः—ख०, ग० ।
३. नान्दित्वा—ग० । ४. विनाशनम्—क०, विनामनम्—घ० ।
५. मानयित्वा—ग० ।

प्रदर्शन शुरु करे। तभी पश्चिम की ओर से दोनों पारिपार्श्विक रंगमंच से निष्क्रमण कर जाएँ ॥ ११७ ॥

[1]अड्डिता ध्रुवा—

अड्डिता चात्र[1] कर्तव्या ध्रुवा मध्यलयान्विता[2]।
चतुर्भिः सन्निपातैश्च चतुरश्रा[3] प्रमाणतः ॥ ११८ ॥

इसके उपरान्त 'अड्डिता' ध्रुवा का मध्यलय, चतुरस्रताल (चौताल) तथा चार सन्निपातों से युक्त गान (प्रयोग) आरंभ हो जाए ॥ ११८ ॥

आद्यमन्त्यं चतुर्थं पञ्चमं च तथा गुरु।
[4]यस्यां ह्रस्वानि शेषाणि सा ज्ञेया त्वड्डिता बुधैः ॥ ११९ ॥

इस [2]अड्डिता ध्रुवा में प्रथम, पंचम तथा अन्तिम वर्ण गुरु तथा शेष वर्ण ह्रस्व होते हैं तथा इसके चारों पादों में बारह वर्ण होते हैं ॥ ११९ ॥

---

१. अड्डिता ध्रुवा का लक्षण नाट्य शा० ५।१२१ में तथा ३।१०, ३।७५ पर भी देखिये।

२. अड्डिता—अड्डिता ध्रुवा का प्रयोग चारी के साथ होता है। अभिनव गुप्त ने बतलाया कि इसका प्रयोग कुछ आचार्य रंगद्वार में चारी के साथ मानते हैं और अन्य रंगद्वार के सान्निध्य के कारण रंगद्वार में 'अवकृष्टा' का प्रयोग मान्य करते हैं (अड्डिता का नहीं या अड्डिता को भी अवकृष्टा ही मानते हैं)। तीसरे विद्वान् रंगद्वार में ध्रुवा का प्रयोग ही स्वीकार नहीं करते हैं। (अभि० भा Vol. I, पृ० २३६) अड्डिता का अन्य स्वरूप अभिनवगुप्त ने इस प्रकार बतलाया :—

'आद्यं चतुर्थं दशममष्टमैकादशे तथा।
गुरूणि दोधके या स्यादड्डिता नाम सा स्मृता ॥' इति।

अर्थात् दोधकवृत्त से पाद में जब प्रथम, चतुर्थ, अष्टम, दशम और एकादश संख्या के अक्षर गुरु तथा शेष अक्षर लघु रहें तो उसे 'अड्डिता' ध्रुवा समझना चाहिए। (यह लक्षण भरत से भिन्न है। यहाँ भिन्नता यह है कि भरत के मत से 'अड्डिता' जाति है तथा अन्य आचार्य के मत से (जो अभिनव ने उद्धृत किया है) वह 'वृत्त' होती है।

---

१. चानुकर्तव्या–ग०। २. मध्यलयाश्रिता—ग०। ३. चतुरस्रं–ग०।
४. यस्यां तु जागते पादे सा भवेदड्डिता ध्रुवा—ग०, घ०।

अस्या प्रयोगं वक्ष्यामि यथा पूर्वं महेश्वरः।
सहोमया क्रीडितवान्नानाभावविचेष्टितैः ॥ १२० ॥

और प्राचीन काल में भगवान शिव ने पार्वती के साथ क्रीड़ा करते हुए जिस प्रकार अनेक भाव तथा चेष्टाओं की सृष्टि के द्वारा इस ध्रुवा का प्रयोग किया था अब मैं उसे बतलाता हूँ ॥ १२० ॥

कृत्वाऽवहित्थं स्थानं तु वामं चाधोमुखं भुजम्।
[1]चतुरश्रमुरः कार्यमञ्चितश्चापि मस्तकः ॥ १२१ ॥
नाभिप्रदेशे विन्यस्य जर्जरं च तुलाधृतम्[2]।
वामपल्लवहस्तेन पादैस्तालान्तरस्थितैः[3] ॥ १२२ ॥
गच्छेत्पञ्चपदीं चैव सविलासाङ्गचेष्टितैः।
वामवेधस्तु कर्तव्यो विक्षेपो दक्षिणस्य[4] च ॥ १२३ ॥
शृङ्गाररससंयुक्तां पठेदार्यां विचक्षणः।
चारीश्लोकं गदित्वा[5] तु कृत्वा च परिवर्तनम् ॥ १२४ ॥
तैरेव च पदैः कार्यं [6]पश्चिमेनापसर्पणम्।
[7]पारिपार्श्विकहस्ते तु न्यस्य जर्जरमुत्तमम् ॥ १२५ ॥
महाचारीं ततश्चैव प्रयुञ्जीत यथाविधि।

सर्व प्रथम सूत्रधार अवहित्य[1] स्थान को प्रदर्शित करे और बायीं भुजा को नीचे की ओर झुका कर वक्षस्थल को चतुरस्र तथा मस्तक को अंचित

---

१. अविहत्थस्थान—यह स्थान स्त्रीस्थानक माना जाता है। इसका लक्षण ना० शा० १३।१६४, १६५ पर द्रष्टव्य। अवहित्थस्थान में लताहस्त का अधोमुख स्थापन नाभिप्रदेश पर जर्जर को सन्तुलित करना है। जैसा कि यहाँ विवरण से स्पष्ट है।

---

१. एतत्पद्यार्ध—ग० पुस्तके नास्ति। २. तुलाधृतम्—ख०, ग०।
३. पादान्तरोत्थितैः—क०। ४. दक्षिणेन तु—ग०।
५. गदित्वा–ग०। ६. प्राङ्मुखेना–ग०। ७. पारिपार्श्विकयोर्हस्ते–ग०।

चेष्टा में रखे और नाभि स्थान पर संतुलित जर्जर को लिये हुए पाँच कदम आगे चले। वह अपने बाएँ हाथ से 'पल्लव' मुद्रा का प्रदर्शन करे, चलने के समय प्रत्येक कदम एक ताल के अन्तर से रखता जाए तथा अपने अवयवों को विलासयुक्त गति या चेष्टा में रखे। फिर वह बाएँ पैर द्वारा सूची (वेध) का तथा दाहिने पैर द्वारा विक्षेप का प्रदर्शन करे। तदुपरान्त विचक्षण सूत्रधार (एक) आर्या का पाठ करे जो शृङ्गार रस को प्रकट करती हो। पुनः वह चारी श्लोक का पाठ करे और एक परिवर्तन (गोल घुमाव) लेने के उपरान्त उन्हीं पूर्व वर्णित प्रकारों से जैसे वह यहाँ तक आया था (पश्चिमाभिमुख होकर) पीछे की ओर उसी तरह लौट जाए। फिर पारिपार्श्विक के हाथ में (उस श्रेष्ठ) 'जर्जर' को देकर वह यथाविधि 'महाचारी' का प्रयोग करे ॥ १२१–१२६ ॥

महाचारी—

चतुरश्रा ध्रुवा तत्र द्रुतलयान्विता[1] ॥ १२६ ॥
चतुर्भिस्सन्निपातैश्च कला ह्यष्टौ प्रमाणतः ।
आद्यं चतुर्थमन्त्यं च सप्तमं दशमं गुरु ॥ १२७ ॥
लघु शेषं ध्रुवा[2] योगे त्रैष्टुभे चरणे तथा ।

इस चारी में ध्रुवा गीत चतुरस्र ताल तथा द्रुतलय से युक्त होता है। इसमें चार सन्निपात और आठ कलाएँ होती हैं। इस ध्रुवा का प्रत्येक पाद एकादशाक्षर का होता है जिसमें प्रथम, चतुर्थ, सप्तम, दशम तथा अन्तिम वर्ण गुरु होता है; एवं शेष वर्ण लघु होते हैं ॥ १२६–१२८ ॥

चतुरस्रा ध्रुवा का उदाहरण—

[3]पादतलाहतिपातितशैलं
क्षोभितभूतसमग्रसमुद्रम् ।

---

१. यह चतुरस्रा ध्रुवा का उदाहरण है। इसके एकादशाक्षरपाद का क्रम इस प्रकार होगा :—पादतलाहतिपातितशैलम् ।
S I I S I I S I I SS

---

१. द्रुतलयाश्रया—ग० । २. ध्रुवापादे चतुर्विंशतिके भवेत्—क० ।
३. पादतलाहत—घ० ।

ताण्डवनृत्तमिदं प्रलयान्ते
पातु[1] जगत्सुखदायि हरस्य ॥ १२९ ॥

प्रलय काल के पश्चात् संसार को सुखप्रदाता भगवान शिव का वह 'ताण्डव नृत्य'—जिसमें पैर के तले की ठोकर से पर्वत विच्छिन्न होकर लुढ़क गये हैं और सम्पूर्ण समुद्र तथा उसमें स्थित प्राणियों को जिसने विक्षुब्ध कर दिया है—आपकी रक्षा करे ॥ १२९ ॥

भाण्डोन्मुखेन कर्तव्यं पादविक्षेपणं ततः ।
सूचीं कृत्वा[2] पुनः कुर्याद्विक्षेपपरिवर्तनम् ॥ १३० ॥

तब वह अपने कदम भरता हुआ भाण्डवाद्य तक जाए और फिर सूची[1] (चारी) का प्रदर्शन करे तथा पुनः 'विक्षेप' के द्वारा परिवर्तित हो जाए ॥ १३० ॥

अतिक्रान्तैः सललितैः पादैर्द्रुतलयान्वितैः[3] ।
त्रितालान्तरमुत्क्षेपैर्गच्छेत्पञ्चपदीं ततः ॥ १३१ ॥
तत्रापि[4] वामवेधस्तु विक्षेपो दक्षिणस्य च ।
तैरेव[5] च पदैः कार्यं प्राङ्मुखेनापसर्पणम् ॥ १३२ ॥
पुनः पदानि त्रीण्येव गच्छेत्प्राङ्मुख एव तु ।
ततश्च वामवेधः स्याद्विक्षेपो दक्षिणस्य च ॥ १३३ ॥

फिर वह अतिक्रान्ता-चारी में ललित गति से चलते हुए द्रुत लय में तीन ताल के अन्तर से उठाये जाने वाले पैरों से पाँच कदम चले और पुनः वह 'सूची (वेध) चारी का बाएँ पैर से प्रथम और दाहिने से बाद में प्रदर्शन करे, फिर इन्हीं पैरों की गतियों (जो कि ऊपर

---

१. वाद्ययन्त्र तथा उनके वादक पीछे की ओर स्थित रहते हैं अतः सूत्रधार को पीछे की ओर हटना पड़ता है और फिर सूची चारी का प्रयोग कर पैरों को विक्षेप मुद्रा से आगे बढ़ाते हुए घूमने का यहाँ आशय प्रकट किया गया है ।

---

१. पातु हरस्य सदा सुखदायि—घ० ।
२. दत्वा—ग० । ३. लयाश्रितैः—ग० ।
४. पद्यार्धमिदं प्रक्षिप्तं ख—पु० । ५. तत्रैव—ख० ।

वर्णित हैं) से सामने की ओर (पूर्व की ओर) मुख रखते हुए पीछे की ओर हटे पुनः सम्मुख तीन कदम आगे बढ़े और फिर वह 'सूची' चारी का बाएँ पैर द्वारा तथा 'विक्षेप' का दाहिने पैर द्वारा प्रदर्शन करे ॥

ततो रौद्ररसं श्लोकं पादसंहरणं[1] पठेत् ।
तस्यान्ते तु त्रिपद्याथ व्याहरेत्पारिपार्श्विकौ ॥ १३४ ॥
तयोरागमने कार्यं गानं नर्कुटकं बुधैः ।
[तत्रापि[2] वामवेधस्तु विक्षेपो दक्षिणस्य च ।]

वह पुनः एक रौद्र-रस प्रचुर श्लोक का पाठ करे जिसमें समास (प्रयोग) के कारण पाद[1] (परस्पर) सम्मिलित हो गए हों। इसके पश्चात् तीन कदम आगे बढ़ते हुए वह अपने दो पारिपार्श्विकों को बुलाए। जब ये दोनों पारिपार्श्विक आ रहे हों उस समय 'नर्कुटक'[2] ध्रुवा का गान किया जाए (तथा इस ध्रुवागान के समय वह बाएँ पैर से सूची (चारी) तथा दाहिने से विक्षेप का प्रदर्शन करे) ॥ १३४-१३५ ॥

त्रिगत—

तथा च भारतीभेदे त्रिगतं सम्प्रयोजयेत् ॥ १३५ ॥
विदूषकस्त्वेकपदे सूत्रधारस्मितावहाम् ।
असम्बद्धकथाप्रायां कुर्यात्कथनिकां ततः[3] ॥ १३६ ॥

---

१. पादसंहरण मूल में 'रौद्ररस' का विशेषण है जैसा कि अभि० गु० ने भी माना है—यथा पादानां च संहरणं समासयोजनयैक्यं यत्रेत्योजः प्रधानत्वं दर्शितम्' (अ० भा० पृ० २४४) । श्री म० म० घोष इसका अर्थ करते हैं—पैर को एक साथ उठाते हुए जो यहाँ असंगत लगता है।

२. नर्कुटक ध्रुवा का लक्षण ना० शा० ३२।२८० पर द्रष्टव्य । यह नर्कुटक ध्रुवा तीनों मिलकर गाते हैं या तीनों के साथ २ आने के समय गान-मंडली द्वारा भी गायी जा सकती है।

---

१. पदसंहरणं—ग० । २. पद्यार्धमेतत्—क०, ख० पुस्तके च नास्ति । ३. तथा—ग० ।

इसके उपरान्त भारती वृत्ति में 'त्रिगत' (तीन पात्रों के संभाषण) की संयोजना करे। इस (त्रिगत) में अकस्मात् आकर विदूषक सूत्रधार को मुस्कराहट पैदा कर देने वाली असम्बद्ध बातों में संभाषण करे (कथनिका)॥

वितण्डां गण्डसंयुक्तां नालिकांश्च[1] प्रयोजयेत्।
कस्तिष्ठति जितं केनेत्यादिकाव्यप्ररूपिणीम्॥ १३७॥

इस संभाषण में वह कुछ विवादात्मक ([1]वितण्डा) विषय पर–जो एक खुरबुरापन लिए हो (गण्ड या आकस्मिक रूप में विहित) या जो किसी

---

१. वितण्डा—नालिका तथा गण्ड के लक्षण वीथ्यंग के अन्तर्गत असत्प्रलाप' नालिका तथा गण्ड हैं।

असत्प्रलाप का लक्षण है—'हितावह वचन का कथनमात्र जिसे सुनकर भी उसका आशय मूर्खतावश मश्वस्थ श्रोता ग्रहण न करे।' जैसे :—

सर्वथा योऽक्षविजयी सुरासेवनतत्परः।
तस्यार्थानां सुखानाञ्च समृद्धिः करगामिनी। (अभि० Vol ii पृ० ४५६)

इसका अर्थ होगा—

जो सदा जुए के पासों से विजय प्राप्त करता है, सुरा-सेवन में व्यस्त है उसे धन तथा सुखों की सम्पन्नता हाथ में स्थित रहती है (क्योंकि वह पासों से विजय हस्तकौशल द्वारा ही प्राप्त करता है)।

किन्तु इसका दूसरा प्रतिपाद्य अर्थ है—'कि जो अपनी इन्द्रियों पर संयम रखता है (अक्षविजयी) देवताओं की भक्ति में तत्पर है उसे अर्थ और सुखों की प्राप्ति एवं वृद्धि सदा प्राप्य है।

नलिका का स्वरूप है—'ऐसी प्रपञ्चपूर्ण वचनावली का परिहासपूर्ण भाव से अभिधान करना जो प्रहेलिका के समान गूढ़ अर्थ भी अपने में समाविष्ट करे। जैसे—

हस्ते कर्णस्य का शक्तिः क्षसमध्यगतोऽस्ति कः।
परैः किमधितिष्ठतो न वाच्याः शत्रिणो हताः॥

अर्थ—कर्ण के हाथ में कौन शक्ति है ? (उत्तर–वासवदत्ता) 'क्ष' और 'स' के बीच कौन है ? (उत्तर–'ह' कार) कहाँ शत्रुओं से मारे जाने पर भी

---

१. नामिका—ग०।

प्रहेलिका (नालिका) में इस प्रकार के प्रश्न करता हो:—'कौन है ? किसने जीता ?" आदि—नाटक की कथावस्तु को आगे बढ़ाने वाले प्रश्नों का प्रयोग करें। (पर इसमें अरोचक एवं अनपेक्षित विषयों का समावेश नहीं किया जाए) ॥ १३७ ॥

पारिपार्श्विकसञ्जल्पो[1] विदूषकविरूपितः[2] ।
स्थापितः सूत्रधारेण त्रिगतं[3] सम्प्रयुज्यते ॥ १३९ ॥

इस त्रिगत में पारिपार्श्विक की ठीक बातें विदूषक द्वारा सदोष बतलाई जाएँ तथा उसका (पारिपार्श्विक का) सूत्रधार भी समर्थन करे ॥ १३८ ॥

प्ररोचना—

प्ररोचना च कर्तव्या सिद्धेनोपनिमन्त्रणा[4] ।
रङ्गसिद्धौ पुनः कार्यं काव्यवस्तुनिरूपणम् ॥ १३९ ॥

योद्धा निन्दनीय नहीं होते ? (उत्तर—'रण') में इस प्रकार इस पद्य के द्वारा 'वासवदत्ताहरण' नामक रूपक या घटना की सूचना देने से 'नालिका' है ।

गण्ड का स्वरूप है—एक व्यक्ति के द्वारा एक पक्ष में प्रयुक्त वचन का अन्य व्यक्ति के द्वारा अन्यार्थ में ले लेना। यह गण्ड उक्तिगण्ड, द्वयर्थगण्ड वाक्यगण्ड तथा लेशगण्ड के प्रभेद से अनेक प्रकार का होता है। जैसे—

जातोऽन्यत्र च योऽन्यत्र वर्द्धितो मधुसम्भवः ।
परपुष्टः स कृष्णोऽयं मारयत्यनिवारितः ॥

अर्थ—जो एक स्थान में उत्पन्न होकर दूसरे स्थान में पोषित हुआ है, जो मधु (वसन्त) में उत्पन्न [माधव] है, जिसका वर्ण काला है [कृष्ण] और जो परपुष्ट (कोकिल, दूसरे के द्वारा पालित] है वह न रोकने पर मारक [काम के समान] होता है।

यहाँ उत्कण्ठिता नायिका के द्वारा कोकिल को सम्बोधित कर कहे गये वचन हैं जिसका कंस ने दूसरा ही आशय समझा। अतएव यह गण्ड का उदाहरण है। (गण्ड के अन्य प्रभेदों के लक्षण तथा उदाहरण नाटकलक्षणरत्नकोश में द्रष्टव्य)। वितण्डा, नालिका गण्ड आदि का वचनविन्यास कूट होता है जिसमें व्यङ्ग्य के साथ नाटकीय कथा वस्तु की योजना का संकेत भी मिल जाता है।

---

१. पद्यमेतत् ग—पुस्तके नास्ति। २. विदूषकविदूषितः—घ०।
३. त्रिगते। ४. सिद्धेनोपनिमन्त्रणम्—क०, ख०।

इसके पश्चात् सूत्रधार प्रेक्षकगण को आमन्त्रित करते हुए प्ररोचना को प्रस्तुत करे तथा प्रयोग की सिद्धि-हेतु (खेले जाने वाले) नाटक आदि की विषय-वस्तु का निरूपण करे ॥ १३९ ॥

सर्वमेव विधिं कृत्वा सूचीवेधकृतैरथ।
पादैरनाविद्धगतैर्निष्क्रामेयुः समं त्रयः ॥ १४० ॥

इन सभी विधानों के (विधिवत्) पूर्ण हो जाने पर तीनों पात्र सूची चारी का प्रदर्शन करे और फिर 'आविद्ध' चारी के अतिरिक्त किसी भी चारी (के लक्षणवाली चाल) में रंगमंच से निष्क्रमण कर जाए ॥ १४० ॥

एवमेष[1] प्रयोक्तव्यः पूर्वरङ्गो यथाविधि।
चतुरश्रो द्विजश्रेष्ठास्त्र्यश्रं[2] वापि निबोधत ॥ १४१ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ, इस प्रकार विधिवत् इस चतुरस्र पूर्वरंग का प्रयोग करना चाहिए। अब मैं त्र्यस्र पूर्वरंग बतलाता हूँ ॥ १४१ ॥

त्र्यस्रपूर्वरङ्ग—

अयमेव प्रयोगः स्यादङ्गान्येतानि चैव हि।
तालप्रमाणं[3] संक्षिप्तं केवलं तु विशेषकृत् ॥ १४२ ॥

इस त्र्यस्र पूर्वरंग को भी चतुरस्र के (प्रयोग के) समान ही जानों, इसके भी उतने ही अंग होते हैं केवल इसकी विशेषता ताल के प्रमाणों का संक्षेप करना ही है ॥ १४२ ॥

शम्या[4] तु द्विकला कार्या तालो ह्येककलस्तथा।
पुनश्चैककला शम्या सन्निपातः कलाद्वयम् ॥ १४३ ॥

१. मेव—ग०। २. त्र्यश्रश्चापि—ग०, त्र्यस्रं वा विनिबोधत—ख०।
३. विक्षिप्तं—ग०। ४. शम्याकृद्विकलः कार्यः—ग०।

इसमें शम्या[1] दो कला की तथा ताल[2] एक कला की, पुनः शम्या एक कला की तथा सन्निपात[3] दो कला के प्रमाण वाला होता है ॥ १४३ ॥

अनेन हि प्रमाणेन कलातालल्लयान्वितः ।
कर्तव्यः पूर्वरङ्गस्तु त्र्यश्रोऽप्युत्थापनादिकः ॥ १४४ ॥

कला ताल तथा लय युक्त काल-प्रमाण के द्वारा 'त्र्यस्र पूर्वरंग' का इसी प्रकार प्रयोग करना चाहिए जिसमें उत्थापना आदि अंग वैसे ही (चतुरस्र के समान) रखे गए हों ॥ १४४ ॥

आद्यं चतुर्थं दशममष्टमं नैधनं गुरु ।
यस्यास्तु[1] जागते पादे सा त्र्यश्रोत्थापिनी ध्रुवा ॥ १४५ ॥

'त्र्यस्र' पूर्वरंग में होने वाली 'उत्थापना' ध्रुवा में 'जगती' छन्द के पाद में (द्वादशाक्षर पाद में) प्रथम, चतुर्थ, अष्टम, दशम तथा अन्तिम वर्ण गुरु होता है ॥ १४५ ॥

वाद्यं गतिप्रचारश्च ध्रुवा तालस्तथैव च ।
संक्षिप्तान्यत्र[2] कार्याणि त्र्यश्रे[3] नृत्तप्रवेदिभिः ॥ १४६ ॥

नृत्त के विज्ञातागण इस त्र्यस्र पूर्वरंग में वाद्य, गतिप्रचार, ध्रुवागीत तथा तालों का संक्षेप में ही प्रयोग करें ॥ १४६ ॥

---

१. शम्या कहते हैं दाहिने हाथ से ताली बजाना । इसमें दो कला समय लगता है तथा यह शब्दा क्रिया के अन्तर्गत मानी जाती है । यह एक हाथ से होने वाली क्रिया कहलाती है तथा इसका काल दो गुरु मात्रा या २० निमेष होता है ।

२. कला—गुरु मात्रा के काल में होने वाली सशब्दा क्रिया । भरत ने पाँच निमेष का काल लघु ताल और दो लघु ताल का एक गुरु ताल माना है । अतः कला १० निमेष की होती है ।

३. सन्निपात—दोनों हाथों से ताली बजाना सन्निपात कहलाता है । इसका समय भी कला (आदि) से नियमित होता है । इसका विशेष विवरण ना० शा० अ० २९ तथा ३१ पर द्रष्टव्य ।

---

१. जायत—ग० । २. त्येव—ग० । ३. त्र्यश्रनृत्त—क० ।

वाद्यगीतप्रमाणेन कुर्यादङ्गविचेष्टितम्[1]।
विस्तीर्णमथ सङ्क्षिप्तं द्विप्रमाणविनिर्मितम् ॥ १४७ ॥

और वाद्य तथा गीत के अनुसार अंगों का अभिनय बतलाना चाहिए जो संक्षिप्त तथा विस्तीर्ण दोनों प्रकार का हो ॥ १४७ ॥

हस्तपादप्रचारस्तु द्विकलः परिकीर्तितः।
चतुरस्रे परिक्रान्ते पाताः स्युः षोडशैव तु ॥ १४८ ॥
त्र्यस्रे द्वादश पातास्तु भवन्ति करपादयोः[2]।
एतत्प्रमाणं विज्ञेयमुभयोः पूर्वरङ्गयोः ॥ १४९ ॥

इसमें हाथ और पैरों की हलचल का समय दो कलाओं (के प्रमाण) का होता है। चतुरस्रपूर्वरंग के प्रत्येक परिवर्त में हाथ तथा पैरों का परिवर्तन सोलह बार होता है जब कि त्र्यस्रपूर्वरंग में यह परिवर्त बारह बार किया जाता है। इस प्रकार दोनों पूर्वरंगों में स्थित परिवर्त की संख्या—जो कि हस्त तथा पादों की होती है—बतलाई गई ॥१४८-१४९॥

केवलं परिवर्ते तु गमने त्रिपदी भवेत्।
दिग्वन्दने पञ्चपदीं चतुरस्रे विधीयते ॥ १५० ॥

किन्तु (त्र्यस्र पूर्वरंग) [1]परिवर्त की दशा में पैरों को तीन कदम आगे बढ़ाया जाता है जब कि चतुरस्र के दिग्वन्दन में पाँच कदम आगे बढ़ाया जाता है (तथा यही चतुरस्र पूर्वरंग से त्र्यस्र की विशेषता है) ॥ १५० ॥

आचार्यबुद्ध्या कर्तव्यस्त्र्यश्रस्तालप्रमाणतः[3]।
तस्मान्न लक्षणं प्रोक्तं पुनरुक्तं भवेद्यतः ॥ १५१ ॥

---

१. परिवर्त—चारों दिशाओं में घूम घूम कर प्रत्येक दिशा के अधिपति (लोकपालों) की वन्दना करना परिवर्त कहलाता है। (ना० शा० ५।२३)

---

१. कृतिविचे—ग० गतिविचे—घ०। २. करपादजाः—ग०।
३. त्र्यस्रस्तज्ज्ञैः प्रमा—ख०।

त्र्यस्र पूर्वरंग ताल के कालप्रमाणानुसार तथा आचार्य बुद्धि द्वारा अनुमोदित स्वरूप में रहना चाहिए। पृथक् से इसका लक्षण इसलिए नहीं दिया गया है क्योंकि ऐसा करने पर पुनरुक्ति होती ॥ १५१ ॥

एवमेष प्रयोक्तव्यः पूर्वरङ्गो द्विजोत्तमाः।
त्र्यस्रश्च चतुरस्रश्च शुद्धो भारत्युपाश्रयः ॥ १५२ ॥

हे मुनिजन, इस प्रकार मैंने आपको भारती[1] वृत्ति के आश्रित रहने पर त्र्यस्र तथा चतुरस्र के शुद्ध पूर्वरंग का प्रयोग बतलाया। इसका इसी (वर्णित) विधि से प्रयोग करना चाहिए ॥ १५२ ॥

चित्रपूर्वरंग—

एवं तावदयं शुद्धः पूर्वरङ्गो मयोदितः।
चित्रत्वमस्य वक्ष्यामि यथाकार्यं प्रयोक्तृभिः ॥ १५३ ॥

इस प्रकार मैंने यहाँ तक शुद्ध पूर्वरंग का विधान बतलाया अब इसी को 'चित्र' स्वरूप में (इनमें से किसी एक को) प्रयोग करने का उपाय बतलाता हूँ ॥ १५३ ॥

वृत्ते[1] ह्युत्थापने विप्राः कृते च परिवर्तने।
[2]चतुर्थकारदत्ताभिः सुमनोभिरलङ्कृते ॥ १५४ ॥
उदात्तगानैर्गन्धर्वैः परिगीते[3] प्रमाणतः।
देवदुन्दुभयश्चैव निनदेयुर्भृशं ततः ॥ १५५ ॥

'उत्थापनी' ध्रुवा के प्रदर्शित हो जाने, 'परिवर्तन' में 'चतुर्थपात्र' के (मंच पर) प्रविष्ट होकर पुष्पों को प्रदान कर चुकने और संगीत-निपुण

---

१. त्र्यस्र तथा चतुरस्र पूर्वरङ्ग भारतीवृत्ति के आश्रित होने पर शुद्ध होते हैं। भारती शब्द वृत्ति है अतः उसका सम्बन्ध वाचिक अभिनय से रहता है। पूर्वरंग में भारतीवृत्ति का उपयोग प्ररोचना, वीथि आदि में किया जाता है इसी कारण यहाँ पूर्वरंग को केवल भारतीवृत्ति के आश्रित होने पर शुद्ध कहा गया है।

---

१. नृत्ये—ख०। २. चतुष्प्रकारः—ग०। ३. परिगीतैः—ग०

गन्धर्व जन द्वारा लक्षणयुक्त उदात्तगीतों के गाये जाने पर बार बार देव-दुन्दुभियों का नाद करना चाहिए ॥ १५४-१५५ ॥

शुद्धाः[1] कुसुममालाभिर्विकिरेयुः समन्ततः ।
अङ्गहारैश्च देव्यस्ता उपनृत्येयुरग्रतः ॥ १५६ ॥

(और इस प्रकार चित्र पूर्वरंग के प्रारंभ हो जाने पर) फिर श्वेत वर्ण की कुसुममालाओं को रंगमंच पर चारों ओर बिखेरते हुए देवियों का देश धारण किये हुए नर्तकियाँ प्रवेश करें जो अंगहारों को प्रदर्शित करती हुई सामने नृत्य करें ॥ १५६ ॥

यस्ताण्डवविधिः प्रोक्तो नृत्ते पिण्डीसमन्वितः[2] ।
रेचकैरङ्गहारैश्च न्यासोपन्याससंयुतः ॥ १५७ ॥
नान्दीपदानां मध्ये तु एकैकस्मिन्पृथक्पृथक् ।
प्रयोक्तव्यो विधिः[3] सम्यक् चित्रभावमभीप्सुभिः ॥ १५८ ॥

नृत्त प्रकरण में पिण्डीबन्ध, रेचक तथा अङ्गहारों के न्यास[1] तथा अपन्यास[2] के प्रयोग सहित जो ताण्डवविधि बतलाई गयी है उसका चित्रपूर्व रङ्ग के रूप में विधान करने की इच्छा वाले कुशलनाट्याचार्य नान्दी के एक एक पदों के मध्य में पृथक् पृथक् ठीक प्रयोग करें ॥ १५७-१५८ ॥

एवं कृत्वा यथान्यायं शुद्धं चित्रं प्रयत्नतः ।
ततः परं प्रयुञ्जीत नाटकं लक्षणान्वितम् ॥ १५९ ॥

इस प्रकार शुद्ध तथा चित्र पूर्वरंग का (जो भी प्रासंगिक हो) प्रयत्न पूर्वक प्रयोग करने के पश्चात् लक्षणों से युक्त नाटक का प्रयोग प्रारंभ करना चाहिए ॥ १५९ ॥

---

१. न्यास—जिस स्वर पर 'अंग' अर्थात् गीत, वाद्य या नृत्त का एक प्रबन्ध समाप्त हो जाए उसे 'न्यास' कहा जाता है ।

२. अपन्यास—वह स्वर जिस पर 'अंग' का मध्यभाग पूर्ण या समाप्त होता हो ।

---

१. सिद्धाः—क, ख० २. समन्ततः—ख० । ३. बुधैः—क० ।

ततस्त्वन्तर्हिताः सर्वा भवेयुर्दिव्ययोषितः ।

निष्क्रान्तासु च सर्वासु नर्तकीषु ततः परम् ॥ १६० ॥

पूर्वरङ्गे प्रयोक्तव्यमङ्गजातमतः परम् ।

एवं शुद्धो भवेच्चित्रः पूर्वरङ्गो विधानतः ॥ १६१ ॥

फिर ये नर्तकी-देवियाँ रंगमंच से नृत्य प्रदर्शन के पश्चात् चली जाएँ। और उन देवी नर्तकियों के रंगमंच से चले जाने के बाद 'पूर्वरंग' के शेष अङ्गों का प्रयोग पूर्ण किया जाय। इस विधान से शुद्ध पूर्वरंग 'चित्र पूर्वरंग' बन जाता है ॥ १६०-१६१ ॥

कार्यो नातिप्रसङ्गोऽत्र नृत्तगीतविधिं प्रति ।

गीते वाद्ये च नृत्ते च प्रवृत्तेऽतिप्रसङ्गतः ॥ १६२ ॥

खेदो भवेत्प्रयोक्तॄणां प्रेक्षकाणां तथैव च ।

खिन्नानां रसभावेषु स्पष्टता नोपजायते ॥ १६३ ॥

ततः शेषप्रयोगस्तु न रागजनको भवेत् ।

परन्तु इन पूर्वरंगों में (जो किसी भी स्वरूप वाले हो) अधिक[1] गीत तथा नृत्य (नृत्त विधि) की योजना नहीं करना चाहिए। क्योंकि यदि

---

१. पूर्वरङ्ग के इन प्रकारों में आचार्य अभिनवगुप्त ने सोलह अङ्गों का क्रम बतलाया है। यथा—उत्थापन, परिवर्तन, अवकृष्टागान, नान्दीपाठ, शुष्कावकृष्टा, जर्जरश्लोक, ध्रुवा, रङ्गद्वार, अड्डिता, आर्यापाठ, ध्रुवा, रौद्रश्लोक पाठ, नर्कुटक, त्रिगत तथा प्ररोचना। त्र्यस्र में भी ये सोलह अङ्ग रहते हैं तथा नान्दी के पदों के मध्यवर्ती समय में नृत्त भी होता है। यदि इसके अतिरिक्त अङ्गों का प्रयोग और अधिक विलम्ब तक चले तो उससे प्रस्तुत किये जाने वाले 'नाट्य' को देखने का उत्साह दर्शकों में घटने लगेगा अतः अधिक विस्तार नहीं किया जाए (तथा प्रारम्भ में ही प्रयोग के विगड़ जाने से आगे अच्छी तैयारी से भी नाट्य प्रयोग प्रस्तुत किया जाय तो भी इष्ट लाभ सरल नहीं होता।)

१. गीतनृत्यविधि—ग०।

ये गीत तथा नृत्य देर तक चलते रहेंगे तो प्रयोक्तागण को थकाने तथा प्रेक्षकों को उबा देने वाले होंगे, फिर खिन्न व्यक्तियों (अभिनेता तथा प्रेक्षक वर्ग) को रस तथा भावों की स्पष्टतापूर्वक प्रतिपत्ति नहीं होगी और इस प्रकार आगे प्रस्तुत किये जाने वाले नाट्य प्रयोग की रंजकता न रह पाएगी ॥ १६२–१६३ ॥

[लक्षणेन[1] विना बाह्यलक्षणाद्विस्तृतं भवेत् ॥
लोकशास्त्रानुसारेण. तस्मान्नाट्यं प्रवर्तते ।]

[शास्त्रलक्षणहीन होने पर 'नाटक' लोकलक्षण मात्र से भी प्रसिद्ध हो जाता है इसलिये शास्त्र तथा लोक (दोनों) लक्षण के अनुसार 'नाट्य' का पवर्तन किया जाए ।]

त्र्यस्रं वा चतुरस्रं वा शुद्धं चित्रमथापि वा ॥ १६४ ॥
प्रयुज्य रङ्गान्निष्क्रामेत् सूत्रधारः सहानुगः ।

त्र्यस्र, चतरस्र, शुद्ध तथा चित्र किसी प्रकार के पूर्वरंग का प्रयोग करने के उपरान्त सूत्रधार अपने दोनों परिपार्श्वकों के साथ रंगमंच से चला जाए ॥ १६४ ॥

आश्रावणा[1]—

देवपार्थिवरङ्गाणामाशीर्वचनसंयुताम् ॥ १६५ ॥
कवेर्नामगुणोपेतां वस्तूपक्षेपरूपिकाम् ।
लघुवर्णपदोपेतां वृत्तैश्चित्रैरलङ्कृताम् ॥ १६६ ॥
अन्तर्यवनिकासंस्थः कुर्यादाश्रावणां ततः ।
आश्रावणावसाने च नान्दीं कृत्वा स सूत्रधृत् ॥ १६७ ॥
पुनः प्रविश्य रङ्गं तु कुर्यात्प्रस्तावनां ततः ।

फिर वह सूत्रधार (स्थापक) 'आश्रावणा' का प्रयोग करे । यह आश्रावणा देवता, भूप तथा रंग के आशीर्वचन से युक्त होती है । इसमें

---

१. आश्रावणा' का यह वर्णन कुछ पुस्तकों में नहीं मिलता है ।

---

१. श्लोकोऽयं ग०—पुस्तके नास्ति ।

नाटक के रचयिता कवि का नाम तथा उसके गुणों का वर्णन रहता है तथा यह कथावस्तु की प्रतीति की उत्पादक होती है। इसमें लघुवर्ण के पद रहते हैं तथा अनेक वृत्त (छन्द या घटनाएँ) रहती हैं। वह सर्वप्रथम इस आश्रावणा को यवनिका के अन्दर स्थित रहकर सम्पन्न करे और आश्रावणा के पश्चात् (सूत्रधार) पुनः नान्दी को भी सम्पन्न करे और तदनन्तर वह मंच पर आकर प्रस्तावना को प्रस्तुत करे ॥ १६५-१६७ ॥

[1]प्रस्तावना—

प्रयुज्य विधिनैवन्तु पूर्वरङ्गं प्रयोगतः[1] ॥ १६८ ॥

स्थापकः प्रविशेत्तत्र सूत्रधारगुणाकृति ।

इस प्रकार वर्णित विधि के अनुसार 'पूर्वरंग' का प्रयोग हो चुकने पर सूत्रधार के समान गुण एवं आकृति वाला स्थापक[1] रंगमंच पर प्रवेश करे ॥ १६८ ॥

---

१. 'स्थापक' को अभिनवगुप्ताचार्य सूत्रधार ही बतलाते हैं–'सूत्रधार एवं स्थापक : (अभि० भाव० अ० ५, पृ० २५०) धनंजय ने 'दशरूपक' (३।२) में बतलाया कि पूर्वरंग के विधान के बाद सूत्रधार रंगमंच से चला जाए। शारदातनय ने (भावप्रकाशन में) भी यही विवरण दिया है (दे० भा० प्र० ०२८) । साहित्यदर्पण में विश्वनाथ कविराज ने भी ऐसे ही विचार प्रकट किया हैं (सा० द० ६।२६)। उपर्युक्त सभी आचार्य 'नाट्यशास्त्र' के आधार पर यहाँ एक मत हैं। अति प्राचीन काल में धार्मिक अनुष्ठान के सम्पन्न करने पर सूत्रधार का प्रयोजन पूर्ण हो जाता था तथा प्रदर्शन की पूर्वपीठिका बन जाती थी। बाद में होने वाले नाट्य प्रदर्शन का कार्य अन्य सहायक व्यक्ति देखते थे जिनमें एक स्थापक भी होता था। पर यह व्यवस्था आगे नहीं चली और तब सूत्रधार या स्थापक में से किसी एक के द्वारा यह कार्य सम्पन्न होने लगा। भास अपने नाटक सूत्रधार द्वारा प्रस्तावना के उपक्रम से ही प्रारम्भ किये जो उस समय का एक नवीन आदर्श था तथा बाण ने भी अपने हर्षचरित में 'सूत्रधार-कृतारम्भैः' के द्वारा उल्लेख किया है। परन्तु कालान्तर में एक सूत्रधार ही सब कार्य सम्पन्न करने लगा था जिनका साहित्यदर्पण में उल्लेख (आता) है।

स्थानन्तु वैष्णवं कृत्वा सौष्ठवाङ्गपुरस्कृतम् ॥ १६९ ॥
प्रविश्य रङ्गं तैरेव सूत्रधारपदैर्व्रजेत्[1] ।

वह वैष्णवस्थान[1] को सौष्ठव[2] युक्त शरीरावयवों से प्रदर्शित करते हुए मञ्च पर प्रवेश करे तथा (वैसी ही) सूत्रधार सदृश चारी में पाँच कदम आगे चले ॥ १६९ ॥

स्थापकस्य प्रवेशे तु कर्तव्यार्थानुगा ध्रुवा ॥ १७० ॥
त्र्यस्रा[2] वा चतुरस्रा वा तज्ज्ञैर्मध्यलयान्विता ।

स्थापक के मंच पर प्रवेश के समय अर्थानुगामिनी ध्रुवा का गान किया जाए और यह गान त्र्यस्र या चतुरस्र ताल में मध्यलय में रखना चाहिए ॥

कुर्यादनन्तरं चारीं देवब्राह्मणशंसिनीम् ॥ १७१ ॥
सुवाक्यमधुरैः श्लोकैर्नानाभावरसान्वितैः ।

इसके पश्चात् वह देवता तथा ब्राह्मणों में भक्ति की सूचक 'चारी' को अनेक भाव तथा रसों से युक्त, मधुर वाक्य वाले सुन्दर श्लोकों के द्वारा प्रस्तुत करे ॥ १७१ ॥

प्रसाद्य रङ्गं विधिवत् कवेर्नाम[3] च कीर्तयेत् ॥ १७२ ॥
प्रस्तावनां ततः कुर्यात् काव्यप्रख्यापनाश्रयाम् ।

---

१. वैष्णस्थान का लक्षण ना० शा० १०।५०-५१ पर है। इनमें खड़े होने की स्थिति में दोनों पैर ढाई ताल के अन्तर से रखे जाते हैं, यहाँ एक पैर सम (सीधा) रहता है तथा दूसरा टेढ़ा रखा जाता है।

२. सौष्ठव का लक्षण ना० शा० ११।८६ पर द्रष्टव्य। इसमें शरीर स्थिर, सीधा और समस्थिति में रहता है।

३. अभिनवगुप्त ने 'अन्तरचारी' पाठ को भी व्याख्या की है। अर्थात् अपने (स्थान के) अतिरिक्त एक अन्य 'चारी' श्लोक का पाठ करना। अर्थात् इस समय शृङ्गार या वीररस प्रधान देवस्तुति (आदि) के विषय वाले एक और श्लोक का पाठ किया जाए।

---

१. पदं...ग०। २. चतुरस्राऽथवा त्र्यस्रा तज्ज्ञैर्मध्यलयान्विता–घ०।
३. र्नामानुकीर्तयेत्—घ०।

(इस प्रकार) रंगस्थ प्रेक्षकों का मनोरंजन कर चुकने पर वह नाटक लेखक (कवि) का नाम घोषित करे और फिर नाटक की कथावस्तु को निदर्शित करने वाली 'प्रस्तावना' का प्रारम्भ करे ॥ १७२ ॥

उद्घात्यकादि[1] कर्तव्यं काव्योपक्षेपणाश्रयम् ॥ १७३ ॥

दिव्ये दिव्याश्रयो भूत्वा मानुषे मानुषाश्रयः ।
दिव्यमानुषसंयोगे दिव्यो वा मानुषोऽपि वा ॥ १७४ ॥

मुखबीजानुसदृशं नानामार्गसमाश्रयम् ।
नानाविधैरुपक्षेपैः काव्योपक्षेपणं भवेत् ॥ १७५ ॥

प्रस्ताव्यैवं तु निष्कामेत् काव्यप्रस्तावको[2] द्विजः ।
एवमेष प्रयोक्तव्यः पूर्वरङ्गो यथाविधि ॥ १७६ ॥

दृश्य काव्य के अर्थों की सूचक उद्घात्यक आदि (प्रस्तावनाओं के विभेदों) का प्रयोग करना चाहिए। यदि नाटक का (कथावस्तु का) विषय दिव्य-चरित हो तो वह दिव्यवेश, मानव-चरित हो तो मानुष-वेश तथा दिव्य एवं मानवों के संकीर्ण चरित होने पर दिव्य–मानुष-वेश में से किसी एक को धारण करे और अनेक प्रकार से (वह) नाटक के प्रतिपाद्य मुख[1] तथा बीज के सूचक अनेक मार्ग का आश्रय लेकर सूचना दे। यह कार्य (प्रस्तुत किये जाने वाले अभिनेय काव्य का संकेत) अनेक-विध उपक्षेपों (सन्दर्भों) द्वारा किया जाता है। इस प्रकार काव्य (दृश्य काव्य) की प्रस्तावना (करने) के पश्चात् वह स्थापक (द्विज) रंगमञ्च से प्रस्थान करे। इसी प्रकार विधिवत् (इस) पूर्वरंग का प्रयोग करना चाहिए ॥ १७३–१७६ ॥

---

१. मुखसन्धि, बीज तथा अर्थप्रकृति के लक्षण ना० शा० अध्याय २१।३९ तथा २१।२२ पर द्रष्टव्य। पूर्वरंग में सूत्रधार प्रस्तावना का सम्पादन कर मंच से चला जाता है पर वह सामाजिकों में मुखसन्धि का प्रयोग द्वारा बीज का आधान करते हुए उनकी अनुकूलता अर्जित करता है (तथा 'नाट्यप्रयोग' के प्रति कौतूहल की सृष्टि भी कर देता है)

---

१. पद्यार्धमेतत् ग—पुस्तके नास्ति। १. काव्यप्रास्तावकस्ततः—ख०।

पूर्वरंग का महत्त्व—

य इमं पूर्वरङ्गं तु विधिनैव प्रयोजयेत् ।
नाशुभं प्राप्नुयात्किञ्चित्स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ १७७ ॥

जो भी नाट्यप्रयोक्ता इस 'पूर्वरंग' का (इस वर्णित) विधान के अनुसार प्रयोग करेंगे, वे किसी भी अनिष्ट को प्राप्त नहीं करेंगे तथा (अन्त में) स्वर्गलोक को प्राप्त करेंगे ॥ १७७ ॥

यश्चापि विधिमुत्सृज्य यथेष्टं संप्रयोजयेत् ।
प्राप्नोत्यपचयं घोरं तिर्यग्योनिं च गच्छति ॥ १७८ ॥

और जो नाट्य प्रयोक्ता इस विधि का अतिक्रमण कर यथेष्ट विधि से पूर्वरंग का आचरण करेगा वह अतिशय हानि प्राप्त करेगा तथा पशुयोनि में जन्म लेगा ॥ १७८ ॥

न यथाग्निः प्रदहति प्रभञ्जनसमीरितः ।
यथा ह्यपप्रयोगस्तु प्रयुक्तो दहति क्षणात् ॥ १७९ ॥

वायु से प्रेरित अग्नि भी उतना शीघ्र फैल कर किसी वस्तु को भस्म नहीं कर सकती जितना त्रुटिपूर्ण नाट्यविधान; क्यों कि यह तो प्रयोग त्रुटि के होने पर तत्काल ही प्रयोक्ता को नष्ट[1] कर देता है ॥ १७९ ॥

इत्येषोऽवन्तिपाञ्चालदाक्षिणात्यान्ध्रमागधैः[1] ।
कर्तव्यः पूर्वरङ्गस्तु द्विप्रमाणविनिर्मितः ॥ १८० ॥

दो प्रमाण एवं विस्तार वाला (त्र्यस्र तथा चतुरस्र प्रकारों से निर्मित) यह पूर्वरंग अवन्ती, पांचाल, दाक्षिणात्य, आन्ध्र तथा मगध देशवासियों द्वारा प्रयोग किया जाए ॥ १८० ॥

---

१. 'नाटच' जैसे जटिल प्रयोग को सा व
सारा परिश्रम व्यर्थ हो जाएगा । यहाँ अ
क हो सकती है ।

---

१. इत्येवावन्ति पाञ्चालदाक्षिणात्योढ्र मागधैः—ग० ।

एष वः कथितो विप्राः पूर्वरङ्गाश्रितो विधिः।
भूयः किं कथ्यतां सम्यङ्नाट्यवेदविधिं प्रति ॥ १८१ ॥

हे मुनियों, इस प्रकार मैंने आपको 'पूर्वरंग' से सम्बद्ध सभी विधियाँ बतलाई। अब आपको इस नाट्यवेद से सम्बन्धित और कौन-सा विषय बतलाऊँ ॥ १८१ ॥

पुनश्चित्रे तथा मिश्रे शुद्धे चैव ब्रवीम्यहम्।
यथा योज्या ध्रुवाः पञ्च तथा वक्ष्यामि तत्त्वतः ॥ १८२ ॥

अब मैं चित्र,[1] मिश्र तथा शुद्ध पूर्वरंग में होने वाली पाँच ध्रुवाओं के संयोजन की तात्विक विधि बतलाता हूँ ॥ १८२ ॥

आदावुत्थापनी[2] कार्या परिवर्तस्तथा भवेत्।
[3]अवकृष्टाड्डिता चैव विक्षिप्ता चैव पञ्चमी ॥ १८३ ॥

एवं पञ्च ध्रुवा ज्ञेया उपोहनसमन्विताः।
कर्तव्यास्तु प्रयत्नेन पूर्वरङ्गे प्रयोक्तृभिः ॥ १८४ ॥

इन पाँच ध्रुवाओं में सर्व प्रथम उत्थापनी ध्रुवा होती है फिर परिवर्तिनी, अवकृष्टा, अड्डिता और विक्षिप्ता ध्रुवाएँ की जाती हैं।

'उपोहन'[2] विधान से सम्बद्ध ये ही पाँच ध्रुवाएँ हैं जिनका 'पूर्वरंग' में प्रयत्न पूर्वक प्रयोग करना चाहिए ॥ १८३–१८४ ॥

---

१. 'पुनश्चित्र' इत्यादि से अध्यायान्त तक के श्लोक भरत के नहीं है किन्तु अन्य आचार्यों (कोहल आदि) द्वारा विषय पूर्ति की दृष्टि से यहाँ दिए गए हैं। इसी दृष्टि से इन सभी श्लोकों का व्याख्यान दिया जा रहा है क्योंकि नाट्यशास्त्र की अनेक प्रतियों तथा संस्करणों में यहीं ये श्लोक प्राप्त (होते) हैं।

२. उपोहन—वस्तु या गीत (जिसे आजकल चीज, कहते हैं) के प्रयोग

---

१. इतःप्रभृतिसमाप्ति यावत् श्लोकः प्रक्षिप्ताः।
२. उत्थापिनी तथा कार्या परिवर्ता तथा भवेत्—ग०।
३. अपकृष्टा सिता—ग०।

अतः परं प्रवक्ष्यामि ह्युपोहनविधिक्रियाम् ।
अत्थापनस्याष्टकलं परिवर्त्तस्य षट्कलम् ॥ १८५ ॥

अवकृष्टं[1] पुनः कार्यं कलाभिः पञ्चभिर्युतम् ।
ध्रुवायामङ्कितायाश्च चतुष्कलमथापि च ॥ १८६ ॥

क्षिप्तायाश्चैव[2] विज्ञेयं कलात्रयसमन्वितम् ।
एवं ह्युपोहनानान्तु प्रमाणं समुदाहृतम् ॥ १८७ ॥

गुरुलाघवसंयुक्तं कलातालसमन्वितम् ।
पूर्वरङ्गं सदा ज्ञेयं चित्रमार्गे[3] ह्युपोहनम् ॥ १८८ ॥

चित्रे चैत्राः कला ज्ञेया मिश्रे वार्तिकमाश्रिताः ।
शुद्धे दक्षिणमार्गेण प्रयोक्तव्याः प्रयोक्तृभिः ॥ १८९ ॥

अब मैं 'उपोहन (के प्रयोग को) विधि बतलाता हूँ । उत्थापनी-ध्रुवा में आठ कला, परिवर्तनी में छः कला, अवकृष्टा में पाँच कला, अङ्किता में चार कला तथा विक्षिप्ता ध्रुवा में तीन-कला का प्रमाण उपोहन विधि में माना गया है । यह उपोहन-विधान गुरु तथा लघु (अक्षरों) वाला और कला तथा ताल से युक्त होता है । [1]चित्र-मार्ग में उपोहन का

के पूर्व या वस्तु और कलिका के बीच स्वर तथा कला (ताल या काल विशेष) के नियमन के लिये किया जाने वाला आलाप । यह उपोहन केवल शुष्काक्षरों के द्वारा किया जाता है अर्थात् इससे गीत के सार्थक पदों का गान नहीं होता । आचार्य भरत ने तालाध्याय में 'उपोह्यन्ते स्वराः येन यस्माद् गीतं प्रवर्तते । तस्मादुपोहनं प्रोक्तं शुष्काक्षरसमन्वितम्' । (ना० शा० ३१।१३८) अर्थात् प्रारंभ में स्थापित स्थायीस्वर का आलाप आदि करना जिससे गीत का प्रारंभ होता हो, तो केवल ऐसा वर्णालाप का (अक्षरों का) गान 'उपोहन' कहलाता है ।

१. चित्र, वार्तिक तथा दक्षिण मार्ग के लक्षण ना० शा० के २९ तथा ३१ में विस्तार से दिये गए हैं ।

---

१. अपकृष्टं—ग० । २. विक्षिप्तञ्चैव—घ० । ३. चित्रार्गे—ख० ।

यही विधान होता है। चित्र पूर्वरंग में चित्र-मार्ग के अनुसार, मिश्र पूर्वरंग में वार्तिक-मार्ग के अनुसार तथा शुद्ध पूर्वरंग में दक्षिण मार्ग के अनुसार नाट्यचार्यों के द्वारा कलाएँ रखी जाएँ ॥ १८५-१८९ ॥

चतस्रो गीतयः कार्या मागधी ह्यर्धमागधी।
संभाविता तथा चैव पृथुला च प्रकीर्तिता ॥ १९० ॥
मागधी त्वथ कर्तव्या त्वथवा त्वर्धमागधी।
पूर्वरङ्गे भवेच्चित्रे चित्रमार्गसमाश्रिता[1] ॥ १९१ ॥
यथा मिश्रस्तु योक्तव्यः पूर्वरङ्गे भवेदिह।
मिश्रे सम्भाविता कार्या तदा वार्तिकमाश्रिता ॥ १९२ ॥
शुद्धे च पृथुला कार्या दक्षिणं मार्गमाश्रिता।

इनमें चार गीतियों का प्रयोग किया जाता है। इस गीतियों के नाम हैं—मागधी, अर्धमागधी, संभाविता तथा पृथुला। इसमें चित्र[1] पूर्वरंग में (जो चित्र मार्ग के अनुसार होता है) मागधी और अर्धमागधी गीति रखी जाए। मिश्र पूर्वरंग (जो मार्ग के अनुसार होता है) में सम्भाविता गीतिका तथा शुद्धपूर्वरङ्ग (जो दक्षिण मार्ग के अनुसार है)—में पृथुलागीति[2] का प्रयोग रहना चाहिए ॥ १९०-१९२ ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि गुरुलाघवतः[2] क्रियाम् ॥ १९३ ॥
उपोहनक्रियायां तु यथायोज्यं प्रयोक्तृभिः।

---

१. गीति का स्वरूप—जो छन्द, अक्षर आदि के लक्षणानुसार रहने पर संगति के अनुकूल वर्ण तथा अलङ्कारों को भी रखे वह गीति कहलाती है। इसके मागधी आदि प्रकार होते हैं जिनका विस्तृत वर्णन ना० शा० के २९ वें अध्याय में किया गया है।

२. गीति का प्रयोग पूर्वरंग में ही केवल नहीं होता किन्तु नाट्य में भी किया जाता है। भरत-मुनि ने (ना० शा० ३१ में) 'गानयोगे चतस्रस्तु योज्यः सर्वत्र गायनैः' के द्वारा नाट्य तथा संगीत की योजना के अवसर पर भी गीति का प्रयोग करने का निर्देश किया है।

---

१. चित्रमार्गे च मागधी—ग०। २. गुरुलघ्वक्षरक्रियाम्—घ०।

दिग्ले दिग्ले पुनः कार्यमन्ते झण्टुं सदा बुधैः ॥ १९४ ॥
मध्ये लघ्वक्षराणि स्युः षोडशैव तु नित्यशः ।
एवं ह्युपोहनं कृत्वा तथा वस्तु समाचरेत् ॥ १९५ ॥

अब मैं उपोहन (विधान) में गुरु तथा लघु मात्राओं के द्वारा होने वाली क्रियाविधि बतलाता हूँ। इसमें आरम्भ में दिग्ले, दिग्ले तथा अन्त में झण्टुं झण्टुं किया जाता है तथा मध्य में सोलह अक्षर रखे जाते हैं। इसी प्रकार उपोहन-विधि करने के उपरान्त फिर वस्तु (गीत) का आरंभ करना चाहिए ॥ १९३-१९५ ॥

उत्थापन्यां प्रयोगेऽस्मिन् कलाकालसमन्वितम् ।
अक्षराणां कलायास्तु गुरुलाघवमेव च ॥ १९६ ॥
पूर्वं तु कथितं यस्मात्तस्मान्नाभिहितं भवेत् ॥ १९७ ॥

'उत्थापनी' ध्रुवा में अक्षरों और कलाओं के गुरुलाघव प्रकार को—जो कला तथा समय के अनुसार किया जाता है [1]पूर्व में बतलाया जा चुका है अतएव पुनः यहाँ नहीं दिया जा रहा है ॥ १९६-१९७ ॥

यथा—

देवं विभुं त्रिभुवनाधिपतिं कैलासपर्वतगुहाभिरतम् ।
शैलेन्द्रराजतनयादयितं मूर्ध्ना नतोऽस्मि पुरनाश-करम् ॥

जैसे—मैं त्रिभुवन के स्वामी परमश्रेष्ठ देव शिवजी को प्रणाम करता हूँ जो कैलास पर्वत की कन्दराओं में रमण करते हैं, पार्वती जी के अतिशय प्रिय हैं तथा त्रिपुरासुर के नाशक हैं ॥ १९८ ॥

---

१. उत्थापनीध्रुवा का लक्षण ना० शा० ५।६० पर बतलाया जा चुका है।

२. इन उदाहरण में गुरु लघु अक्षरों का क्रम इस प्रकार है :—

देवं विभुं त्रिभुवनाधिपतिं
S S I S I I I S I I S

---

१. त्रिपुरान्तकरम्—ग० ।

एवमुत्थापनी[1] कार्या पूर्वरङ्गप्रयोक्तृभिः[2]।
अतोऽन्यत्परिवर्ताया लक्षणं संविधीयते ॥ १९९ ॥

पूर्वरंग के प्रस्तुत कर्त्ता इसी विधि से उत्थापनी ध्रुवा का प्रयोग करें। अब आगे 'परिवर्तिनी' ध्रुवा का लक्षण बतलाया जाएगा ॥ १९९ ॥

अस्यास्तूपोहनं कार्यं षट्कलं परिसङ्ख्यया।
आदौ दिग्ले द्विरुक्तस्तु[3] अन्ते झण्टुं सदा भवेत् ॥ २०० ॥

मध्ये लघ्वक्षराण्येव द्वादशैव प्रयोजयेत्।
वस्तुनोऽत्र प्रवक्ष्यामि गुरुलघ्वक्षरक्रमम् ॥ २०१ ॥

इस परिवर्तिनी ध्रुवा में छः कलाओं की उपोहन क्रिया होती है। इसमें दो बार आदि में दिग्ले और अन्त में झण्टु होता है और मध्य में द्वादश लघु अक्षरों का निवेश किया जाता है। अब इसमें विद्यमान वस्तु[1] (गीतक) की गुरु तथा लघु अक्षरों की क्रमविधि बतलाता हूँ ॥ २००–२०१ ॥

द्वे चादौ[4] च चतुर्थं च अष्टमं दशमं तथा।
चतुर्दशं पञ्चदशं पादे गुर्वक्षराणि तु ॥ २०२ ॥

सा ध्रुवा परिवर्ताख्या त्रिलया त्रियतिस्तथा।
परिवर्तास्तु चत्वारः पाणयस्त्रयः एव च ॥ २०३ ॥

चतुर्भिस्सन्निपातैस्तु द्वात्रिंशत्कलिकान्विता।
पूर्वरङ्गे प्रयोक्तव्यः परिवर्तः प्रयोक्तृभिः ॥ २०४ ॥

जिसके एक पाद में आदि के दो अक्षर तथा चतुर्थ, अष्टम, दशम, चतुर्दश एवं पञ्चदशाक्षरर गुरु होते हैं तो उसे परिवर्ता ध्रुवा समझना

---

१. नाटचप्रयोग के अतिरिक्त अपरान्तक आदि सात प्रकार की गीति वस्तु कहलाती है। वस्तु के सात प्रकार तथा उनका स्वरूप ना० शा० अध्याय ३१ में बतलाया गया है !

---

१. एवमुक्त्वा परीकार्या—ग०। २. पूर्वरङ्गे—घ०।
३. त्रिरुक्तस्तु—ग०। ४. द्वौ पादौ—ग०।

चाहिए। इसमें तीन[1] लय, तीन यति, चार परिवर्त और तीन पाणि होते हैं। इस परिवर्ता ध्रुवा को चार सन्निपातों के तथा बत्तीस कलाओं के साथ पूर्वरंग में प्रयुक्त करना चाहिए ॥ २०२-२०४ ॥

यथा—

चन्द्रार्धभूषणजटं वरं[1] वृषभकेतुं[2]
कैलासपर्वतनिवासिनं[3] सुरवरिष्ठम्।
शैलाधिराजतनयाप्रियं प्रमथनाथं
मूर्ध्ना नतोऽस्मि त्रिपुरान्तकं परमयोगिनम्[4] ॥२०५॥

जैसे[2]—मैं उन परमयोगि त्रिपुरारि भगवान शिव को साष्टांग प्रणाम करता हूँ जो जटा और चन्द्र के भूषण धारण करते हैं, वृषभ ही जिनका चिह्न है, कैलास पर्वत पर निवास करते हैं, देवताओं में श्रेष्ठतम हैं, पार्वती के अतिशय प्रिय हैं तथा गणों के अधिपति हैं ॥ २०५ ॥

अवकृष्टा ध्रुवा

अवकृष्टामिदानीं[5] तु कथ्यमानां निबोधत।
अस्यास्तूपोहनं कार्यं कलाभिः पञ्चभिर्युतम् ॥ २०६ ॥
दिग्ले दिग्ले पुनश्चान्ते[6] झण्टुमस्य प्रयोजयेत्।
अष्टावेव तु कार्याणि मध्ये लघ्वक्षराणि तु ॥ २०७ ॥
तृतीयं चैव षष्ठं तु नवमैकादशे तथा।
पादे पञ्चदशं चैव षोडशं च भवेद्गुरु ॥ २०८ ॥

---

१. लय, यति, पाणि, तथा परिवर्त आदि के लक्षण नाट्य शा० अध्याय ३१ में देखिये।

२. परिवर्तिनी ध्रुवा के उदाहरण में मात्राओं की गणना इस प्रकार है:-

चन्द्रार्धभूषणजटं वरं वृषभकेतुं
S S I S I I I S I I I S S

---

१. परं—ग०। २. वृषकेतनम्—ग०। ३. निवासं—ग०।
४. परमयोगिम्—घ०। ५. अपकृष्टा—ग०। ६. पुनश्चायं—ग०।

अब 'अवकृष्टा' ध्रुवा का स्वरूप सुनिये। इससे पाँच कलाओं से उपोहनविधान किया जाए। प्रारम्भ में दिग्ले दिग्ले तथा अन्त में झण्टु का प्रयोग रहना चाहिए तथा मध्यवर्ती लघु अक्षरों की संख्या आठ रखनी चाहिए। इसमें (एक) पाद में तृतीय, षष्ठ, नवम, एकादश, पंचदश और षोडशाक्षर गुरु होता है ॥ २०६–२०८ ॥

अष्टषष्टिगणैः[1] [2]पातैरवकृष्टविधिर्बुधाः।
चतुर्भिः सन्निपातैश्च पाणिभिस्त्रिभिरेव च ॥ २०९ ॥

इस अवकृष्टा के पादों में अड़सठ (६८) पात[1] भाग होते हैं जो चार सन्निपात तथा तीन पाणि के द्वारा किये जाते हैं ॥ २०९ ॥

यथा—

वरदं सगणं[3] त्रिपुरान्तकं[4] वृषभकेतुम्।
गजचर्मपटं विषमेक्षणं भुवननाथम् ॥
भुजगाभरणं[5] जगतां हितं भुवनयोनिम्।
प्रणतोऽस्मि भवन्तमुमापतिं त्वसितकण्ठम् ॥ २१० ॥

जैसे[2]—मैं उन वरद गौरीपति नीलकंठ भगवान शिव को प्रणाम करता हूँ जो प्रमथगणों से युक्त हैं, त्रिपुर के संहर्ता हैं, वृषभासन तथा गजचर्म को धारण किये हैं, त्रिनेत्र और विश्वाधिपति हैं, सर्पों के भूषण धारण करते हैं, विश्व के कल्याण कर्ता एवं संसार के उत्पत्ति कर्ता हैं ॥ २१० ॥

---

१. पातभाग कला आदि का स्वरूप नाट्यशास्त्र के ३१ वें अध्याय (तालाध्याय) में देखिये। पात का अर्थ है सशब्दा क्रिया। इसी में सन्निपात तथा पाणि का प्रयोग होता है।

२. अवकृष्टा ध्रुवा में मात्राओं की गणना का निम्न क्रम है :—
वरदं सगणं त्रिपुरान्तकं वृषभकेतुं
IIS IIS IISIS IIISS

---

१. अष्टषष्ठगुणै ग०, अष्टषष्ठगणैः—घ०। २. पादैः—ग०।
३. सहगणं—ग०। ४. त्रिपुरान्तकरं—ग०। ५. भुजङ्गाभरणं ग०।

अड्डिता-ध्रुवा—

तृतीयश्चैव षष्ठश्च गुरुपादे त्रयोदशम् ।
चतुर्गुणसमायुक्ता सा कार्या त्वड्डिता[1]ध्रुवा ॥ २१२ ॥
तत्राप्युपोहनं कार्यं चतुष्कलसमन्वितम् ।
अड्डितायाः प्रयोगज्ञैरन्ते झण्टुं विभूषितम् ॥ २१३ ॥
दिग्ले दिग्ले ततश्चैव कार्यमन्ते[2] सदा बुधैः ।
चत्वार्येव तु कार्याणि मध्ये[3] लघ्वक्षराणि तु ॥ २१४ ॥

'अड्डिता' ध्रुवा में त्रयोदशाक्षर पाद के तृतीय तथा षष्ठ अक्षर गुरु रखे जाएँ तथा यह चार[1] गुणों से युक्त हों। इसमें चार कलाओं से उपोहन-विधि की जानी चाहिए; अन्त में झण्टु तथा प्रारम्भ में दिग्ले दिग्ले रखा जाए तथा मध्य में चार अक्षर लघु रहने चाहिए ॥ २१२–२१४ ॥

यथा[2]—

प्रवरं वरदं प्रणमत[4] सततम् ।
गजचर्मपटं मुनिजनसहितम्[5] ॥
उमया सहितं भुजगवलयिनम् ।
प्रणतोऽस्मि शिवं त्रिभुवनमहितम्[6] ॥ २१५ ॥

---

१. अड्डिताध्रुवा में चार गुण होते हैं। इनमें प्रथम गुण है चार कलाओं की उपोहनविधि, दूसरा है अन्त में झण्टु अर्थात् शुष्काक्षर का प्रयोग, तीसरा है (आरंभ में) दिग्ले-दिग्ले अर्थात् चार गुरु अक्षरों का प्रयोग और चौथा है मध्य में चार लघु अक्षरों का विधान। ये ही चार गुण मूल लक्षण में वर्णित हैं।

२. अड्डिताध्रुवा में मात्राओं का क्रम इस प्रकार है :—

प्रवरं वरदं प्रणमत सततं
ऽ।ऽ।।ऽ।।।।।।ऽ

---

१. त्वड्डिका—ग० । २. कार्यं मानं—ग० ।
३. मध्यलघ्वक्षराणि तु—ग० । ४. प्रमथगणपतिम्—घ० ।
५. मुनिजनमहितम्—घ० ; ६. त्रिभुवनसहितम्—क० ।

जैसे—मैं सदा उन शिव को प्रणाम करता हूँ जो देवाधिदेव तथा सदा प्रसन्न होकर वर देने वाले हैं, प्रथमगण के अधिपति हैं, गजचर्म (को) धारण करने वाले, मुनिजन से युक्त, पार्वती से सुशोभित, सर्पों के वलय-धारी तथा त्रैलोक्यवन्ति हैं ॥ २१५ ॥

प्रयोज्या त्वड्डिता ह्येवं पूर्वरङ्गे यथार्थतः :

अतः परं प्रवक्ष्यामि विक्षिप्तायास्तु लक्षणम् ॥ २१६ ॥

पूर्वरंग में अड्डिता का प्रयोग इसी विधि से किया जाए। अब मैं 'विक्षिप्ता' ध्रुवा का स्वरूप बतलाता हूँ ॥ २१६ ॥

विक्षिप्ता ध्रुवा—

तृतीयश्चैव षष्ठश्च नवमं दशमं तथा।

गुर्वक्षराणि पादे तु यस्यां विक्षिप्तका तु सा ॥ २१७ ॥

दिग्लैस्त्रिभिर्गुणैर्युक्ताः पातास्तस्य[1] भवन्ति हि।

त्रिकलं चापि निर्दिष्टमुपोहनमतः परम् ॥ २१८ ॥

दिग्ले दिग्ले पुनः कार्यमन्ते झण्टुं प्रयोक्तृभिः।

लघ्वक्षरैर्विहीनं तु विक्षिप्तोपोहनं भवेत् ॥ २१९ ॥

जिसके पाद में तीसरा, छठा, नवम तथा दशम अक्षर गुरु हों उसे 'विक्षिप्ता'[2] ध्रुवा जानों। इसमें दिग्ले प्रयोग के तीन गुणों से युक्त पात होते हैं और इसमें तीन कलाएँ होती हैं। इसके बाद उपोहनविधि होती है जिसमें आरम्भ में दिग्ले दिग्ले तथा अन्त में झण्टु का प्रयोग किया जाता है और इसमें उपोहन में लघु अक्षर नहीं रखे जाते ॥

---

१. इस विक्षिप्ताध्रुवा में तीन गुण हैं—दिग्ले का तीन बार पात अर्थात् सशब्दा क्रिया का प्रयोग, तीन कलाओं के अनन्तर उपोहन का प्रयोग, आरम्भ में दिग्ले-दिग्ले और अन्त में झण्टुं जैसे शुष्काक्षरों :का प्रयोग तथा लघु अक्षरों के प्रयोग का निषेध।

२. 'विक्षिप्तता' ध्रुवा में मात्राओं का क्रम इस प्रकार है :—

त्रिपुरान्तकरं बहुलीलं

। । S । । S । । S S

---

१. पादास्तस्य—घ०।

यथा—

त्रिपुरान्तकरं बहुलीलं, उमया सहितं बहुरूपम् ।
भुजगाभरणं त्रिपुरान्तं,[1]प्रणमामि सदा परमीशम् ॥ २२० ॥

जैसे—मैं सदा उन परमेश्वर शिव को प्रणाम करता हूँ जो त्रिपुरासुर के नाशक, अनेक-विध नृत्य-गीतादिलीला के विधाता, अनेक स्वरूप धारण करने वाले, पार्वती-सहित हैं, जिसके सर्पों के आभरण हैं और जो त्रिपुर दैत्य के संहारक हैं ॥ २२० ॥

एवं सर्वा ध्रुवाः कार्या युग्मौजकृतगीतकाः[2] ।
आचार्यबुद्ध्या कर्तव्या पूर्वरङ्गे यथाविधि ॥ २२१ ॥

एवं वः कथितं सम्यक्पूर्वरङ्गं त्रिधा मया ।
किमन्यत्संप्रवक्ष्यामि भूयोऽभीष्टं द्विजोत्तमाः ॥ २२२ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे पूर्वरङ्गविधानं

नाम पञ्चमोऽध्यायः ।

इसी कथित विधि अनुसार[1] चतुरस्र तथा त्र्यस्र ताल वाली ये ध्रुवाएँ प्रयुक्त की जानी चाहिएँ और पूर्वरंग में इनका प्रयोग आचार्य-बुद्धि के अनुसार विधिवत् रहना चाहिए ॥ २२१ ॥

हे मुनिजन, तीनों प्रकार के पूर्वरंग का स्वरूप इस प्रकार मैंने बतलाया। अब आगे किस अभीष्ट वस्तु का वर्णन लक्षण आदि से किया जाए ॥२२२॥

भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र में 'पूर्वरंग-विधान' नामक
पाचवाँ अध्याय सम्पूर्ण ।



---

१. युग्म शब्द चतुरस्र ताल तथा ओज त्र्यस्र ताल का वाचक शब्द है। (तदनुसार ही यहाँ अर्थ किया गया है)।

---

१. त्रिपुरान्तकं—ग० । २. गीतिका—ग०, घ० ।
३. पूर्वरङ्गत्रिधा—ग० । ४. यद्वोऽभीष्टं—ग० ।

षष्ठोऽध्याय

मुनिजन का भरत से प्रश्न—

पूर्वरङ्गविधिं श्रुत्वा पुनराहुर्महर्षयः[1] ।
भरतं[2] मुनयः सर्वे प्रश्नान्पञ्चभिधत्स्व नः ॥ १ ॥

इस प्रकार पूर्वरंग विधि का श्रवण कर चुकने पर महर्षि गण पुनः 'भरत' से जिज्ञासापूर्वक बोले—हे मुने, आप हमारे पाँच प्रश्नों[1] का उत्तर दीजिए ।

ये रसा इति पठ्यन्ते नाट्ये नाट्यविचक्षणैः ।
रसत्वं केन वै तेषामेतदाख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥

नाट्य-कला के मर्मज्ञ नाट्य में जिसे 'रस' कहते हैं वह क्यों 'रस' कहलाता है ? इसका कारण बतलाने की कृपा करें[2] ॥ २ ॥

---

१. नाट्यशास्त्र के प्रथमाध्याय में भी मुनियों ने नाट्य की उत्पत्ति, उसके प्रयोजन, विस्तार, विभाग या अङ्ग तथा प्रयोग के स्वरूप जानने की इच्छा से पाँच प्रश्न किये थे जिनका कुछ विवरण देते हुए उनका समाधान पिछले पाँच अध्यायों में दिखलाया जा चुका है । और इन्हीं प्रश्नों का विस्तार से व्याख्यान समग्र नाट्यशास्त्र में है भी तथापि यहाँ जो पाँच प्रश्न पूछे गये हैं वे उपर्युक्त (पाँच) प्रश्नों से भिन्न हैं । इनमें प्रथम प्रश्न है-रसों का रसत्व किस प्रकार उत्पन्न होता है ? (अर्थात् इन्हें रस क्यों कहा जाता है); दूसरा प्रश्न है—भाव क्या है और वे क्या करते हैं ?; तीसरा प्रश्न है—संग्रह किसे कहते हैं; चौथा है—कारिका का लक्षण क्या है और पाँचवा प्रश्न है—निरुक्त (अर्थात् उद्देश्य, लक्षण और परीक्षा का लक्षणगत निर्वचन) का क्या स्वरूप है ।

२. नाट्य के जिन चार अङ्गों (पाठ्य, गीत, अभिनय तथा रस) का प्रथम अध्याय में [का १७ में] निदर्शन है इनमें चौथे अङ्ग रस का स्वरूप स्पष्ट नहीं हुआ । क्योंकि लोकप्रचलन में रसेन्द्रिय से ग्राह्य गुण को रस

---

१. महत्तमाः—ग० घ० । २. मुनयो भरतं सर्वे पञ्च प्रश्नान् ब्रवीहि नः—ग० ।

भावाश्चैव कथं प्रोक्ताः किं वा ते भावयन्त्यपि ।
संग्रहं कारिका चैव निरुक्तं चैव तत्त्वतः ॥ ३ ॥

और भाव क्यों कहे गये हैं और वे किसे 'भावित' करते[1] हैं ? उसके अतिरिक्त संग्रह[2], कारिका तथा निरुक्त को भी बतलाइये क्योंकि इन्हीं से भाव आदि का परिज्ञान किया जाता है ।

भरत का प्रत्युत्तर—

तेषां तु वचनं श्रुत्वा मुनीनां भरतो मुनिः ।
प्रत्युवाच पुनर्वाक्यं रसाभावविकल्पनम् ॥ ४ ॥

मुनिगण के इन वचनों को सुन कर भरतमुनि रस तथा भावों की विशेषता बतलाते हुए पुनः बोले[3] ॥ ५ ॥

अहं वः कथयिष्यामि निखिलेन तपोधनाः ।
संग्रहं कारिकां[1] चैव निरुक्तं च यथाक्रमम्[2] ॥ ५ ॥

कहा जाता है । ऐसी दशा में नाट्यांगों में आनेवाले रस का शृङ्गारादि शब्द के साथ प्रयोग करने पर उसमें रसत्व कैसे होगा यह जिज्ञासा रह जाती है । इसी जिज्ञासा को यहाँ प्रथम प्रश्न के द्वारा उपस्थित किया जा रहा है ।

१. अभिनव का कथन है कि मूल में 'भावाश्चैव' इत्यादि के द्वारा भावों के विषय में चार प्रश्न होते हैं जिनमें 'कथं प्रोक्ताः' से एक प्रश्न तथा 'किं वा ते भावयन्ति' के द्वारा दूसरा प्रश्न शब्दतः अभिहित किया गया है और भावशब्दगत व्युत्पत्ति-विषयक दो प्रश्न 'किं भवन्तीति भावाः' अथवा 'भावयन्तीति भावाः' अर्थाक्षिप्त हैं [इस प्रकार से चार प्रश्न हैं ।]

२. संग्रह का अर्थ है उद्देश्य, कारिका का अर्थ लक्षण तथा निरुक्त शब्द का अर्थ परीक्षा है ।

३. क्रमानुसार प्राप्त होने तथा मुनिजन द्वारा पूछे जाने पर रस का निरूपण करने के लिये भरत मुनि बोले यह सूचित करने के लिये मूल में 'पुनः' शब्द का प्रयोग किया गया है ।

---

१. कारिकाश्चैव—क० । २. यथाविधि—क० ।

न शक्यमस्य[1] नाट्यस्य गन्तुमन्तं कथञ्चन ।
कस्माद्बहुत्वाज्ज्ञानानां शिल्पानां वाप्यनन्ततः ॥ ६ ॥
एकस्यापि न वै शक्यस्त्वन्तो ज्ञानार्णवस्य हि ।
गन्तुं किं[2] पुनरन्येषां ज्ञानानामर्थतत्त्वतः ॥ ७ ॥

हे मुनिजन, मैं आपको विस्तारपूर्वक क्रमशः संग्रह, कारिका तथा निरुक्त के विषय में बतलाता हूँ ॥ ५ ॥

इस 'नाट्य-विद्या' का किसी प्रकार अन्त (निश्चयात्मक ज्ञान) पाना संभव नहीं है; क्योंकि ज्ञान[1] तथा शिल्पों का (जो कि इस 'नाट्य' से सम्बद्ध हैं) कोई अन्त नहीं है ॥ ६ ॥

जब इनमें से किसी एक (अंगभूत) विषय का ही सामग्र्येण ज्ञान संभव नहीं जो समुद्र के समान विस्तीर्ण हैं, तब फिर सभी ज्ञानों के तात्त्विक आशय तथा उनके समग्र तत्वों के अन्तिम छोर तक पहुँचना कैसे संभव हो सकता है ॥ ७ ॥

किन्त्वल्पसूत्र-ग्रन्थार्थं[3]मनुमानप्रसाधकम् ।
नाट्यस्यास्य प्रवक्ष्यामि रसभावादिसंग्रहम् ॥ ८ ॥

मैं आपको 'नाट्य' के रस तथा भाव के (संग्राहक) संग्रह[2] को

---

१. यहाँ ज्ञान पद से व्याकरण आदि शास्त्र तथा शिल्पशब्द से चित्रकला, पुस्तकादि कला का ग्रहण है। इन ज्ञान और शिल्प का कोई अन्त नहीं है।

२. रस तथा भाव के संग्रह अर्थात् उद्देश्य को—जिसके द्वारा प्रतिपाद्य विषय को संक्षिप्त कर ग्रहण किया जाता है —यह नाममात्र के कथन से संक्षिप्त होकर उद्देश (जिसका लक्षण हो उस) के धर्मी को निश्चित करता हुआ अनुमान का प्रकृष्ट साधक होता है अर्थात् उद्देश अनुमान का महत्त्व-पूर्ण साधक बन कर रहता है। इस उद्देश या संग्रह के द्वारा हेतु का आश्रय अर्थात् पक्ष का निश्चय हो जाता है और यह आश्रयासिद्धि नामक हेत्वाभास का निराकरण कर अनुमान के पक्षधर्मता रूप मुख्य अङ्ग को पुष्ट कर अनुमान का प्रकृष्ट साधक बन जाता है। (अ० भा०)

---

१. शक्यमन्तं—ग०; शक्यमिह—घ० । २. किमुत सर्वेषां—घ० ।
३. गूढ़ार्थं—ग० ।

बतलाता हूँ जो अल्प परिमाण वाला, सूत्र भूत अर्थों वाला तथा अनुमान से सिद्ध होने वाला है ॥ ८ ॥

संग्रह आदि के लक्षण—

विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां सूत्रभाष्ययोः ।
निबन्धो यः समासेन संग्रहं तं विदुर्बुधाः ॥ ९ ॥

सूत्र[1] तथा भाष्य के विस्तारपूर्वक निरूपित अर्थों का जो संक्षिप्त निबन्धन (ग्रथन) है, विद्वानों के मत में वही 'संग्रह' कहलाता है ॥ ९ ॥

रसा भावा ह्यभिनयाः धर्मिवृत्तिप्रवृत्तयः[1] ।
सिद्धिः स्वरास्तथातोद्यं गानं रङ्गश्च संग्रहः ॥ १० ॥

रस, भाव, अभिनय, धर्मी (नाट्य तथा लोक), वृत्ति, प्रवृत्ति, सिद्धि, स्वर, आतोद्य, गान तथा रंग ये 'संग्रह'[2] कहलाते हैं ॥ १० ॥

[[2]उपचारस्तथा विप्रा मण्डपाश्चेति सर्वशः ।
त्रयोदशविधो ह्येष ह्यादिष्टो नाट्यसंग्रहः ॥ ११ ॥]

[और हे मुनियों, यह संग्रह तेरह भेदों[3] वाला कहा गया है । इसके शेष प्रकार हैं उपचार तथा मंडप ।]

---

१. कारिका में आये हुए 'सूत्र' पद का अर्थ है लक्षण और उस लक्षण की स्पष्टीकरणरूपा परीक्षा 'भाष्य' कहलाती है ।

२. 'संग्रह' के ११ अङ्ग इस कारिका में दिये गये हैं । आचार्य अभिनवगुप्ताचार्य ने अपनी व्याख्या में बतलाया कि भरताचार्य सम्मत अङ्ग केवल पाँच हैं [जिनमें आङ्गिक, वाचिक तथा आहार्य (तीन प्रकार का) अभिनय तथा गान और वाद्य मिलकर नाट्य के पाँच अङ्ग हो जाते हैं] एकादश अङ्ग कोहलाचार्य के मत में (होते) हैं [भरत के मत में नहीं] पर यहाँ कारिका में कोहल द्वारा निर्दिष्ट क्रम को बदल दिया गया है ।

३. संग्रह के ये त्रयोदश अङ्ग किसी अन्य परम्परा से लेकर यहाँ समाविष्ट कर दिये गये प्रतीत होते हैं तथा अन्य नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों से समर्थित न होने से प्रक्षिप्त हैं ।

---

१. धर्मी वृत्तिप्रवृत्तयः—क० । २. पद्यमिदं ग पुस्तके नास्ति ।

अल्पाभिधानेनार्थो यः समासेनोच्यते बुधैः ।
सूत्रतः सा तु विज्ञेया कारिकार्थप्रदर्शिनी[1] ॥ १२ ॥

जब किसी अर्थ का संक्षेप में परिमित शब्दों में (सूत्र रूप में) कथन किया जाए तो अर्थों की संक्षेप में बोधिका उक्ति को 'कारिका'[1] कहते हैं ॥

नानानामाश्रयोत्पन्नं निघण्टुं निगमान्वितम्[2] ।
धात्वर्थहेतुसंयुक्तं नानासिद्धान्तसाधितम् ॥ १३ ॥

जो अनेकविध संज्ञा के आश्रय से (अर्थात् सुबंतों से) उत्पन्न हो (और) कोश तथा व्याकरण के नियम के अनुकूल हो, जिसमें मूल धातु में निहित अर्थ सहेतु विद्यमान हो तथा जो अनेक प्रकार के सिद्धान्तों

---

१. अभिनवगुप्ताचार्य ने लक्षणरूप अर्थ, उस लक्षण के वाचकसूत्र तथा उसके संक्षिप्त अर्थ के विवरण स्वरूप श्लोक सभी को 'कारिका' माना है। [अर्थात् सूत्र, उसके अर्थ को प्रतिपादन करने वाले श्लोक तथा उसका प्रतिपाद्य-विषय या लक्षण इन तीनों को 'कारिका' समझना चाहिये ।] पदार्थ के स्वरूप का बोध 'कारिका' के द्वारा होता है अर्थात् लक्षण को ही कारिका कहते हैं । उस लक्षणरूप तत्त्वार्थ को निदर्शन करने से उपचार के द्वारा श्लोक (पद्य) भी 'कारिका' कहलाते हैं । इस प्रकार कारिका के भेद (प्रकार) होते हैं । सूत्रात्मक तथा श्लोकात्मक । कारिका के द्वारा पद्यात्मक रूप के द्वारा सूत्ररूपेण प्राप्त लक्षणरूपी अर्थ का कथन होता है जो स्वल्पशब्दों के द्वारा निरूपित होने पर लक्षणीय अर्थ का अन्य धर्मियों से विभेद कराने वाले लक्षणरूप प्रकर्ष को प्रकाशित कराने वाला धर्म है ।

इस प्रकार अभिप्राय यह हुआ कि उद्दिष्टार्थ का अन्य धर्मियों से विभेदक धर्म 'लक्षण' है । यह पहिले सूत्र के द्वारा किया जाता है फिर शङ्का समाधान के द्वारा उसी सूत्र के व्याख्यानात्मक प्रकार से श्लोकरूप कारिका के द्वारा प्रतिपादित होता है । इन दोनों [सूत्र और श्लोक] का प्रतिपाद्य विषय लक्षण होता है । यह लक्षण श्लोक के द्वारा प्रतिपादित अर्थ होकर, 'कारिका' कहलाता है । (अ० भा०)

---

१. प्रयोगिनी—ग० । २. निघण्टुनिगमान्वितम्—ख० ।

(आक्षेप तथा प्रतिसमाधानों) से (परीक्षापूर्वक) साधित हो तो उसे 'निरुक्त' समझना चाहिए ॥ १३ ॥

स्थापितोऽर्थो[1] भवेद्यत्र समासेनार्थसूचकः[2] ।
धात्वर्थवचनेनेह निरुक्तं तत्प्रचक्षते ॥ १४ ॥

और जब किसी संज्ञा का अर्थ धातु के अर्थ का अनुसरण करता हो, तथा (प्रकृति प्रत्यय के संयोग द्वारा) प्रख्यात अर्थ (प्रतीत होने वाला या कथित अर्थ) संक्षेप में अपने आशय को प्रकट कर दे तो उसे (भी) 'निरुक्त'[1] कहा जाता हैं ॥ १४ ॥

---

१. निरुक्त का प्रयोजन है साररूप संक्षेप के द्वारा अर्थ का निश्चय करना। समास अर्थात् संक्षेप से अनेक लक्ष्यार्थों के भेद से भिन्न लक्षणीयार्थ का सूचक जो लक्षण रूप अर्थ हो वही आक्षेप प्रतिसमाधान रूप वाला [खण्डनमण्ड-नात्मा] (जिस वस्तु के होने पर स्थापित किया जाए वह परीक्षात्मक स्वरूप वाला) 'निरुक्त' होता है। अर्थात् आक्षेप और प्रतिसमाधान के द्वारा लक्षण की परीक्षात्मक व्याख्या करना 'निरुक्त' है।

निरुक्त के द्वारा लक्षण की स्थापना कैसे की जाती है इसका प्रतिपादन १३ वें श्लोक में है। इसमें क्रियाविशेषणों के द्वारा आक्षेप-प्रतिसमाधान प्रकार बतलाते हैं—नानाप्रकार के जो नाम (सुबन्त शब्द) उनके आश्रय से उत्पन्न अर्थात् आक्षेप-प्रतिसमाधान की जिसमें उत्पत्ति हो वह निरुक्त [अर्थात् सुबन्त पदों की इदमित्थं द्वारा परीक्षा करना] कहलाता है। प्रश्न—नाम (सुबन्त) पदों में आक्षेप और प्रतिसमाधान कैसे होता है? उत्तर—निघण्टु अर्थात् शब्दकोश के द्वारा तथा निगम (शब्द-शास्त्र) के द्वारा। शब्दकोश के द्वारा रूढ़ि शब्दों की और निगम के द्वारा शब्दों के यौगिक या योगरूढ़ शब्दों की प्रकृतिप्रत्यय के विभाग द्वारा विवेचना होती है लक्षण वाक्य में (जो) धात्वर्थ अर्थात् क्रिया और क्रिया के निमित्तभूत कारकों का संयोग या विचार जहाँ स्थापना के लिये लिया जाए वह भी निरुक्त (होता) है। इसमें लक्षण-वाक्य में पहिले शब्द परीक्षा के अन्र्गत आक्षेप (प्रश्न) किया जाता है कि यह

---

१. साधितो—क०। २. सूचकम्—ग०।

संग्रहो यो मया प्रोक्तः समासेन द्विजोत्तमाः ।
विस्तरं तस्य वक्ष्यामि सनिरुक्तं सकारिकम् ॥ १५ ॥

हे मुनिजन, मैंने संक्षेप में जो संग्रह (उद्देश) बतलाया उसे ही अब विस्तार (विभाग)[1] पूर्वक लक्षण (कारिका) तथा परीक्षा (निरुक्त) द्वारा बतलाता हूँ ॥ १५ ॥

रसों की संख्या तथा संज्ञा—

शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥ १६ ॥

अर्थ इस विशेष अर्थ में कैसे प्रयुक्त हुआ । फिर इस प्रकार यह शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ ऐसा विवेचना करते हुए उत्तर देना प्रतिसमाधान कहलाता है ।

निर्वचनात्मा निरुक्त चार प्रकार का होता है (१) प्रतिपादिक या नाम के द्वारा । जैसे उलूखल शब्द की 'उर्ध्वं' 'खमस्योलूखलः [जिसके ऊपर आकाश है वह] व्याख्या । (२) धातु के द्वारा । जैसे 'रस्यते इति रसः' यहाँ रस्यते क्रिया पद से निर्वचन किया गया है । (३) नाम और धातु के द्वारा जैसे—'पिशितमश्नातीति पिशाचः' [यहाँ पिशित शब्द और अश्नाति क्रिया के द्वारा निर्वचन किया गया है] तथा (४) सङ्केत के द्वारा । इस चतुर्थ प्रकार के तीन भेद हैं—(१) लौकिक शब्द जैसे भू सत्तायम् । (२) वैदिक शब्द जैसे दीधीङ् धातु दीप्ति और देवन (पासों से क्रीड़ा करना) अर्थ में प्रयुक्त होता है । (दीधीङ् आदि पाँच धातु वेद में ही प्रयुक्त होते हैं अतः यह वैदिक संकेत है) । तथा (३) पारिभाषिक शब्द—जैसे गान्धर्ववेद में गीतविशेष के अर्थ में पठित 'ओवेणक' शब्द । [ऐसे शब्द प्रत्येक शास्त्र के पार्षद् या अङ्गरूप में परिभाषित संकेत होते हैं पाणिनि के वृद्ध घि टि जैसे आदि संकेत] । (अ० भा०)

१. विस्तार या विभाग के द्वारा ही संग्रह (उद्देश) बतलाया जाता है और यह विभाग उद्देश्यान्तर्गत ही (होता) है । उद्देश, लक्षण और परीक्षा या संग्रह, कारिका और निरुक्त रूप त्रिविध शास्त्रप्रवृत्ति का विभाग केवल विस्तार करता है । अतएव विभाग पृथक् नहीं है उसका अन्तर्भाव उद्देश में ही होता है । यही आचार्य भरत तथा अभिनवगुप्ताचार्य को इष्ट है । (अ० भा०)

नाट्य[1] में स्वीकृत रस आठ हैं—(१) शृङ्गार, (२) हास्य, (३) करुण, (४) रौद्र, (५) वीर, (६) भयानक, (७) बीभत्स तथा (८) अद्भुत ॥ १६ ॥

---

१. नट के द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले अभिनय के प्रभाव से प्रत्यक्षवत् प्रतीयमान, एकाग्रमन की निश्चलता के कारण अनुभव किया जाने वाला और नाटक (या काव्य) विशेष से प्रकाशित होने वाला अर्थ 'नाटच' कहलाता है। यह नाटच आलम्बन तथा उद्दीपन विभावों के असंख्य होने के कारण अनन्त विभावादि रूप है, किन्तु समस्त विभागों के ज्ञान में पर्यवसित होने तथा उस ज्ञान का उपभोक्ता में पर्यवसान होने से और भोक्ताओं के भोक्ता (नायक) में पर्यसान होने से नायक की (रत्यादि रूप) स्थायीभावात्मक चित्तवृत्ति भी 'नाटच' है। अर्थात् 'रस' ही 'नाटच' है एवं नाटच की सामग्र्येण उपलब्धि रस में ही होती है।

नाटक के अन्तर्गत प्रयुक्त प्रधानचित्तवृत्तिरूप नायक की एक चित्तवृत्ति मेरे हैं या दूसरे के हैं इस प्रकार के भाव से रहित होकर लौकिक गीतों के गेयपदादि लास्य के दस अंग से युक्त और स्वीकृतलक्षणसम्पन्न गुण, अलंकार, गीत-वाद्य आदि के संयोग द्वारा अतिशय मनोहारित्व को प्राप्त होकर काव्य की महिमा एवं नट के द्वारा अनुष्ठित प्रयोग-परम्परा एवं अभ्यास विशेष के प्रभाव से साधारणीकरण की भूमि प्राप्तकर नायक की अपनी चित्तवृत्ति सामाजिकों को भी अपनी सीमा में समाविष्ट करा देती है और नायक तथा सामाजिक की चित्तवृत्ति के तादात्म्य [अभेद] होने के कारण ही अनुमान, आगम रूप परीक्षात्मक एवं इन्द्रिय-सन्निकर्ष के बिना ही उत्पन्न होने वाले योगिप्रत्यक्ष से उत्पन्न रसादि का अनुभव न करने वाले [तटस्थ] प्रमाता एवं प्रमेय से विलक्षण एवं लौकिक चित्तवृत्ति से भिन्न रूप में प्रतीत होने वाली नायक के अपने परिमित स्वरूप के आश्रय से प्रतीत न होने के कारण लौकिक अङ्गना आदि से उत्पन्न अपनी रति और शोक के समान अन्य चित्तवृत्ति को उत्पन्न करने में अक्षम होने से निर्बाध अनुभूति के विश्रान्ति स्वरूप आस्वादन नामक व्यापार के द्वारा गृहीत होने से 'रस' शब्द से अभिहित होती है।

अतएव जिस नाटचरस की अभिव्यक्ति होती है, वह मुख्यभूत महारस है यह (१) स्फोट के समान असत्यभूत अथवा (२) अन्विताभिधान के समान उपायात्मक सत्यरूप या (३) अभिहितान्वय के समान—प्रधानरस

एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना।
पुनश्च भावान्वक्ष्यामि स्थायिसञ्चारिसत्त्वजान् ॥ १७ ॥

समुदायरूप है। यहाँ इस प्रकार के अन्य रस प्रधानरस के अंश रूप में अवस्थित से दिखाई देते और वर्णन किये जाते हैं। (अर्थात् स्फोट सिद्धान्त के अनुसार वर्ण, पद और वाक्य अखण्ड हैं और वाक्य में पदों की और पदों में वर्णों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। अखण्ड पदों को 'पदस्फोट' तथा अखण्ड वाक्य को 'वाक्यस्फोट' कहा जाता है तथा यह स्फोट ही अर्थबोधक होता है। इसका आशय यही कि नाट्य में रस की प्रतीति अखण्डाभिव्यक्तिरूप में ही होती है वाक्य तथा पद के समान उसमें अवयवों की प्रतीति असत्य कल्पना होगी। इस प्रकार अन्विताभिधानवाद का अभिप्राय यह है कि वाक्यार्थ बोध में (पदों का अभिहित होने के बाद अन्वय नहीं होता किन्तु) पदों के द्वारा अन्वित अर्थ ही अभिहित होता है। अतः अन्वित पदार्थ की ही प्रतीति होने से पदार्थ ही सत्य है उनकी अलग २ स्थिति उपायमात्र है। निष्कर्ष यह कि नाट्य रस के साथ अन्य रसों की स्थिति उपायभूत सत्य के समान है। अभिहितान्वयवाद में पदार्थों का बोध पहिले होकर उनके समुदाय रूप से वाक्यार्थ का बोध होता है। इसी तरह नाट्य रस के अन्तर्गत अन्य सब रसों की स्थिति पदार्थों के समान अङ्गभूत (गौण होती) है और ये प्रधानरस का बोध समुदाय रूप में करवाते हैं)। (अ० भा०)

अभिनवगुप्त के मत में रस नौ हैं। अतएव 'बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव' ऐसा पाठ है। परन्तु नाटक में जो शान्तरस को नहीं मानते उनके मत में 'अष्टौ रसः' पाठ माना गया है। भरत ने आठ रसों को नाट्य में मान्यता दी थी। नाट्यशास्त्र के इस भरतोक्त क्रम का अभिनवगुप्ताचार्य ने बड़े ही सुन्दर रूप में उपपादन किया है। यथा—भरत द्वारा शृङ्गार रस को प्रथम स्थान देने का कारण है उसका जाति सकल सामान्य होना। उसके प्रति सभी का आकर्षण रहना और उसका अत्यन्त परिचित होना। इसी कारण प्रायः सभी आचार्यों ने उसकी प्रधानता मानी है। शृङ्गार का अनुसर्ता होने से 'हास्य' द्वितीय स्थान पर है। शृङ्गार-निरपेक्ष तथा हास्य के प्रतिकूल होने से 'करुण'

ये आठ रस महामना ब्रह्मा के द्वारा कहे गए हैं। अब मैं आपको स्थायी[1] संचारी तथा सात्विक भावों को बतलाता हूँ ॥ १७ ॥

स्थायी भाव—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।

जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः ॥ १८ ॥

ये (आठ) स्थायी भाव हैं—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा तथा विस्मय[2] ॥ १८ ॥

का तीसरा स्थान है। करुण से उत्पन्न (अर्थात् मूल में करुण होने) से रौद्र का चतुर्थ स्थान है। (क्योंकि यह अर्थ प्रधान है) पांचवाँ है बीभत्स। यह धर्म प्रधान है और धर्म अर्थ का मूल है। वीरों का कार्य भयार्तजन को अभय प्रदान करना होता है अतएव छठाँ भयानक रस है। भय के विभावों से निर्मित बीभत्स का सातवाँ स्थान है। तथा आठवाँ अद्भुत है क्योंकि वीरता के परिणाम-भूत विस्मय (कार्य) से 'अद्भुत' प्रतीत होता ही है। इस प्रकार आठ रस त्रिवर्गात्मक हैं तथा प्रवृत्ति धर्म से सम्बद्ध हैं इसी कारण ये 'नाट्य' में उपयोगी रस हैं क्योंकि नाट्य स्वयं त्रिवर्गसाधक (आचार्यगण मानते) हैं। निवृत्ति धर्म से सम्बद्ध नवाँ रस शान्त है जो उभय धर्मोपयोगी तथा मोक्षफलक होता है और इसी कारण इसका तत्त्वज्ञान से उत्पन्न 'निर्वेद' स्थायी माना जाता है। (अ० भा०)

१. रस का अनुभव विभावादि के द्वारा होने के कारण रस के बाद स्थायी, संचारी तथा सात्विक भावों का वर्णन [उद्देश्य रूप में कथन] यहाँ अवसर प्राप्त है। इनमें भी लौकिक रत्यादि रूप चित्तवृत्ति के परिचय के बिना कवि या अभिनेता रस के साथ सम्बद्ध विभावादि को उपस्थित करने में असमर्थ होते हैं अतएव भावों के वर्णन में सर्वप्रथम स्थायी भाव का निर्देश किया गया। (अ० भा०)

२. (शान्त रस मानने पर) स्थायीभावों के पाठ को 'जुगुप्साविस्मय-शमाः' मान कर इस शान्तरस का 'शम' स्थायीभाव कुछ विद्वान् मानते हैं। अन्य विद्वान् शान्तरस का स्थायीभाव 'उत्साह' या 'जुगुप्सा' मानते हैं तथा कुछ विद्वान् सभी स्थायीभाव शान्त के स्थायी हो सकते हैं अतः उसके विशेष स्थायीभाव का पृथक् उल्लेख आवश्यक नहीं मानते। (परन्तु वास्तव

संचारी भाव—

निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथासूयामदश्रमाः ।
आलस्यश्चैव दैन्यश्च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः ॥ १९ ॥
व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा ।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च ॥ २० ॥
सुप्तं [1]विबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता ।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥ २१ ॥
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः ॥ २२ ॥

तैंतीस[1] संचारी भाव (इस प्रकार) हैं । (१) निर्वेद, (२) ग्लानि, (३) शंका, (४) असूया, (५) मद, (६) श्रम, (७) आलस्य, (८) दैन्य, (९) चिन्ता, (१०) मोह, (११) स्मृति, (१२) धृति, (१३) व्रीडा, (१४) चपलता, (१५) हर्ष, (१६) आवेग, (१७) जडता, (१८) गर्व, (१९) विषाद, (२०) औत्सुक्य, (२१) निद्रा, (२२) अपस्मार, (२३) सुप्त, (२४) प्रबोध, (२५) आमर्ष, (२६)

में) तत्वज्ञान से उत्पन्न 'निर्वेद' [वैराग्य] इसका स्थायी भाव है । निर्वेद में स्थायी भाव तथा संचारी भाव के (दोनों के) धर्म रहते हैं । इसी बात को संकेतित करने के लिये व्यभिचारी भावों की गणना में इसे प्रथम स्थान दिया है, जबकि यह अमंगल स्वरूप है और इसीलिये भरत ने स्थायी भावों की संख्या की गणना में संख्या का निर्देश नहीं किया । ये स्थायी भाव भिन्न रसों की व्यभिचारित्व को प्राप्त कर लेते हैं । [अर्थात् स्थायी भाव भी अन्य रसों में संचारी भाव वन जाते हैं] [अ० भा०]

१. संचारी भाव ३३ ही होते हैं और ये ही व्यभिचारिभाव हैं । इसी नियम को निर्दशित करने के लिये मूलकारिका में 'त्रयस्त्रिंशत्' तथा 'अमी' पद दिये गये हैं । नाट्य में इन्हीं भावों का प्रयोग इष्ट है ।

---

१. प्रबोधो—ग० ।

अवहित्था, (२७) उग्रता, (२८) मति, (२९) व्याधि, (३०) उन्माद, (३१) मरण, (३२) त्रास तथा (३३) वितर्क ।

सात्विक भाव—

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गो[1]ऽथ वेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलयः इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ॥ २३ ॥

स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु तथा प्रलय नामक आठ सात्विक[1] भाव हैं ॥ २३ ॥

नाट्याश्रित अभिनय प्रकार—

आङ्गिको वाचिकश्चैव ह्याहार्यः सात्त्विकस्था ।
चत्वारोऽभिनया ह्येते विज्ञेया[2] नाट्यसंश्रयाः ॥ २४ ॥

नाट्याश्रित अभिनय के चार प्रकार हैं। (१) आंगिक[2], (२) वाचिक, (३) आहार्य तथा (४) सात्विक ॥ २४ ॥

---

१. सात्विक भावों के द्वारा संचारी या व्यभिचारी भावों की अभिव्यक्ति में या अभिनय द्वारा उनके प्रस्तुतीकरण में सहायता प्राप्त होती है। इसी कारण संचारी भावों के उल्लेख के बाद ही सात्विक भावों का उद्देशरूप में कथन किया गया। अभिनवगुप्ताचार्य के अनुसार सात्विक भाव में व्यभिचारी भावों के तथा अभिनय के धर्म होते हैं इसलिये इनका अभिनय कला से सीधा सम्बन्ध होता है परन्तु ये अभिनय (आदि के (ही) भेद नहीं होने) से भिन्न होते हैं।

२. आङ्गिक-अभिनय का कार्य शरीर के द्वारा नाटचशास्त्र में अभिहित लक्षणों से कार्य सम्पादन करना है। वाचिक का कार्य है विभिन्न रसभावपूर्ण नाटच रचना या शब्दावली का उच्चारण करना या बोलना (संवादों का पाठन)। आहार्य का कार्य है नेपथ्यरचना (साजसज्जा) करना तथा सात्विक का कार्य है चेहरे पर प्रकट होने वाले आन्तरिक भावों के सभिव्यंजक स्वेद आदि का प्रस्तुतीकरण। अभिनवगुप्त का मत है इन चार अभिनयों में वेष-भूषा रूप आहार्य अभिनय की साक्षात्कार बुद्धि के उपयोग में अन्तरंगता

---

१. स्वरसादोऽ—ग०, घ०।

२. येषु नाटचं प्रतिष्ठितम्—क०; विज्ञेया नाटचकर्मणि—ख०।

धर्मी—

लोकधर्मी नाट्यधर्मी धर्मीति द्विविधः[1] स्मृतः।

दो धर्मी होते हैं—लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी[1]।

चार वृत्तियाँ—

भारती सात्त्वती चैव कैशिक्यारभटी तथा ॥ २५ ॥
चतस्रो वृत्तयो ह्येता यासु नाट्यं प्रतिष्ठितम्।

तथा (१) भारती, (२) सात्त्वती, (३) कैशिकी और (४) आरभटी नामक चार वृत्तियाँ[2] हैं जिन पर नाट्य-प्रयोग निर्भर है।

सूचित होती है अतः यह उपयोगिता की दृष्टि से महत्वपूर्ण (माना जाता) है। कारिका में आये हुए 'नाटचसंश्रया' पद का अभिप्राय यह है कि लोक में सहज परिचित होने के कारण इसका चाहे उपयोग न भी हो किन्तु नाटच-प्रयोग में यह (आहार्य अभिनय) प्राणस्वरूप होता है। (आङ्गिक अभिनय का विस्तृत विवरण ना० शा० अध्याय ८ से १२, वाचिक का विवरण ना० शा० अ० १५–१७, आहार्य अभिनय का विवरण ना० शा० अध्याय २३,२४ तथा सात्वि अभिनय का विवरण ना० शा० अ० २३, २४ में है)।

१. धर्मी का अर्थ है स्वभाव या परम्परानुकूल कार्य। जब अभिनय लौकिक उपयोगी तथा प्रतिष्ठित सामयिक परम्पराओं [धर्मों] का अनुगमन करता है तो इस आधार पर उसे लोकधर्मी तथा नाटचधर्मी कहा जाता है। अभिनय के अनुगामी होने से धर्मियों का उल्लेख अभिनय-कथन के बाद किया गया। संक्षेप में लोक के सहज जीवन का अनुकरण करने वाला अभिनय किया जाए तो उसे लोकधर्मी तथा शास्त्रीय पद्धति से जब स्त्रीपात्र पुरुष का या पुरुषपात्र स्त्रीपात्र का रूपधारण कर अभिनय करे तो उसे नाटचधर्मी कहते हैं। लोकधर्मी और नाटचधर्मी का लक्षण ना० शा० अध्या० १।४ में (७०–७४) द्रष्टव्य।

२. वृत्तियों का सम्बन्ध अभिनय की पद्धति से रहता है अभिनय अभि-नेतव्य के बिना सम्भव नहीं है। रूपकों के दस प्रकारों को विविध शैलियों में प्रस्तुत करने के कारण वृत्तियों का रूपकों से सम्बन्ध होने से ये वृत्तियाँ रूपकों की उपकारक हैं। (अ० भा०)

---

१. धर्मी तु द्विविधा स्मृता–।

प्रवृत्तियाँ—

आवन्ती दाक्षिणात्या च तथा चैवोढ्रमागधी ॥ २६ ॥

पाञ्चाली[1] मध्यमा चेति विज्ञेयास्तु प्रवृत्तयः ।

(१) आवन्ती, (२) दक्षिणात्या, (३) औढ्रमागधी, (४) पांचाली तथा (५) मध्यमा को प्रवृत्तियाँ[1] जानों ।

सिद्धियाँ—

दैविकी[2] मानुषी चैव सिद्धिः स्याद् द्विविधैव तु ॥ २७ ॥

नाट्य प्रयोग में प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ[2] दो प्रकार की होती हैं (१) दैवी तथा (२) मानुषी ॥ २७ ॥

स्वर[3]—

शारीराश्चैव वैणाश्च सप्त षड्जादयः स्वराः ।

[[3]निषादर्षभगान्धारमध्यपञ्चमधैवताः ॥]

षड्जादि सात स्वरों के शारीर तथा वैणव भेद से दो प्रकार (वर्ग) होते हैं । (सात स्वरों के नाम हैं :—निषाद, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत तथा षड्ज)

---

१. प्रवृत्तियाँ—देश के आधार पर होने से इनका उल्लेख वृत्तियों के पश्चात् किया गया । इन प्रवृत्तियों का सम्बन्ध विविध प्रदेशों से रहता है ।

२. अभिनय की परिसमाप्ति सिद्धि में होने से प्रवृत्तियों के बाद सिद्धियाँ कही गयीं । (सिद्धियों का वर्णन ना० शा० अध्याय २७ पर द्रष्टव्य ।)

३. पाठ्य या वाचिकअभिनय में स्वर का विवरण दिया गया है तथा इसी के गीत आदि प्रकार हैं अतः स्वर का पाठ्य तथा गान में अन्तर्भाव हो सकता है परन्तु स्वरों का स्वतन्त्र ग्रहण करने का अभिप्राय है कि केवल स्वरों के प्रयोग से भी नाट्यप्रयोग में सौन्दर्य परिलक्षित हो जाता है जो अन्तरालाप के नाम से प्रसिद्ध है । अतएव अन्तरालाप के ग्रहणार्थ यहाँ स्वरों का उद्देश्य-कथन में पृथक् ग्रहण किया गया । (अ० भा०)

---

१. पाञ्चाल मध्यमा चैव ज्ञेया नाट्यप्रवृत्तयः—ग०, घ० ।

२. देवीति—क० ।   ३. एतत्पद्यार्धं ग—पुस्तके नास्ति ।

आतोद्य प्रकार—

ततं चैवावनद्धं च घनं सुषिरमेव च ॥ २८ ॥
चतुर्विधं च विज्ञेयमातोद्यं लक्षणान्वितम् ।

आतोद्य[1] (वाद्यवृन्द) के चार प्रकार होते हैं—यथा (१) तत[2], (२) अवनद्ध, (३) घन तथा (४) सुषिर ॥ २८–२९ ॥

ततं तन्त्रीगतं ज्ञेयमवनद्धन्तु पौष्करम् ॥ २९ ॥
घनस्तु तालो विज्ञेयः सुषिरो वंश एव च ।

---

१. आतोद्य–'आतुद्यते इति आतोद्यम्' इस व्युपत्ति के अनुसार वाद्यों को आतोद्य कहा जाता है; क्योंकि ये हाथ आदि से ताडित होते हैं। वाद्य-यन्त्रों के केवल चार ही प्रकार नहीं होते, वे अनन्त हो सकते हैं; परन्तु लक्षणों से युक्त वाद्यों के चार प्रकार या कोटियाँ ही होगीं। लोकवाद्यों के प्रकार अनन्त होने से उन्ही से शास्त्रीय वाद्यों की चार कोटियों का यहाँ विभेद दिखलाया गया है अतएव मल्लक, पट फलक, ज्वालामुख तथा पक्षवाद्य (खंजरी) जैसे अभिनय के समय प्रचलित लोकवाद्यों का शास्त्रीय वाद्यों में अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। (अ० भा०)।

स्वर तथा आतोद्यविधान का विवरण ना० शा० अध्याय २८ पर भी द्रष्टव्य।

२. वीणा आदि में तन्तुवाद्यों के माध्यम से स्वर निकाला जाने से वे तत वाद्य कहलाते हैं। चर्मविष्टित वाद्य 'अवनद्ध' कहलाते हैं। इन्हें मेघ के अनुकरण पर बजाये जाने के कारण 'पौष्कर' भी कहा जाता है। पुष्करावर्तक मेघ के देवता हैं। उनके द्वारा अधिष्ठित होनेवाला, कमल पत्र के आकार वाला चमड़े से मढ़ा हुआ (मृदंग आदि) वाद्य 'पौष्कर' कहलाता है। काल की समता के लिए तालानुसारी पीटा जाने वाला वाद्य 'घन' कहलाता है, यह ताल की समता की दृष्टि से बजाया जाता है। काँसे से निर्मित घण्टा, घडियाल, झाँझ आदि वाद्य ताल देने में अनुपम प्रमाण वाले माने जाते हैं और ये स्वर एवं वर्णों के उत्पादक होते हैं, अतः इन्हें 'ताल' कहा गया है। छिद्र युक्त वाद्य 'सुषिर' कहलाते हैं। काहल आदि वाद्य सुषिर वाद्य नहीं हैं यह बतलाने के लिये कारिका में 'वंश एव च' कहा गया है :

तत उस वाद्य को कहते हैं जिसमें तार हों, पीटा जाने वाला तथा चारों ओर मढ़ा हुआ पुष्कर वाद्य 'अवनद्ध' कहलाता है, तालोपयोगी मजीरा आदि ठोंककर बजने वाले वाद्य 'घन' तथा बासुरी आदि फूँक कर बजने वाले वाद्य 'सुषिर' कहलाते हैं।

ध्रुवागान के पाँच प्रकार—

प्रवेशाक्षेपनिष्क्रामप्रासादिकमथान्तरम्[1] ॥ ३० ॥
गानं पञ्चविधं ज्ञेयं ध्रुवायोगसमन्वितम् ।

'ध्रुवा[1] के संयोग से होने वाला गायन पाँच प्रकार का होता है—यथा—(१) प्रवेश (२) आक्षेप (३) निष्काम (४) प्रसादिक तथा (५) आन्तर।

चतुरस्रो विकृष्टश्च रङ्गस्त्र्यस्रश्च कीर्तितः ॥ ३१ ॥

मण्डप[2] या प्रेक्षागृह के तीन प्रकार हैं—(१) चतुरस्र (२) विकृष्ट तथा (३) त्र्यस्र।

---

१. गान के पाँच प्रकारों में जो पात्रों के मञ्च पर प्रवेश करते समय उनके भाव; प्रकृति तथा अवस्था आदि का सूचक गान गाया जाए वह 'प्रवेशक' गान कहलाता है। प्रविष्ट हुए पात्र की आन्तरिक चित्तवृत्ति को सामाजिकों के प्रति प्रकट करने लिये जो गीत गाया जाता है वह 'प्रासादिक' गान कहलाता है। प्रकृत रस से भिन्न रस का आक्षेप करवाने वाला 'आक्षेप गान' कहलाता है और पात्र के रङ्गमञ्च से निष्क्रमण करते समय गाया जाने वाला 'निष्क्राम गान' कहलाता है। ध्रुवा कहते हैं गीत के आधारभूत निर्धारित पदसमूह को ['ध्रुवा गीत्याधारो नियतः पदसमूहः' अभि०]। ध्रुवा में योग अर्थात् सम्बन्ध होने के कारण (लोक) साधारण गानरूप गान्धर्व संगीत से इस गान का प्रधानतायुक्त या विशेषगान होने के कारण (ही) यहाँ स्वतः विभेद (हो जाता) है।

२. पात्रों की गतियों (आना, जाना आदि क्रियाओं) में, अभिनयों में तथा गायन और वादन में प्रेक्षागृह की उपयोगिता होती है और मण्डप अपने श्रेणी विभाग (रंगशीर्ष, रंगपीठ, नेपथ्यगृह आदि रूपों) के द्वारा पात्रों के अभिनय आदि कार्यों का उपकारक होता है। अभिनवगुप्त कहते हैं कि रंग

---

१. प्रासारिकमथा परम्—ग०।

एवमेषोऽल्पसूत्रार्थो निर्दिष्टो[1] नाट्यसंग्रहः।
अतः परं प्रवक्ष्यामि सूत्रग्रन्थविकल्पनम्॥ ३२॥

इस प्रकार मैंने आपको संक्षेप में (सूत्र रूप में) समस्त 'नाट्य' विषयक संग्रह बतलाया (जो कि संक्षिप्त या सूत्रात्मक प्रकार से है) अब मैं सूत्र[1] (लक्षण) तथा ग्रन्थ (भाष्य) द्वारा विषयों का विवरण प्रारम्भ करता हूँ।

रस-निरूपण—

तत्र रसानेव तावदादावभिव्याख्यामः।
न हि रसादृते कश्चिदर्थः[2] प्रवर्तते।
तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।

सर्वप्रथम[2] हम रसों की ही (विशेष) व्याख्या करेंगे। क्योंकि रस के बिना (अन्य नाट्यांग रूप) अर्थ की प्रवृति नहीं[3] होती। (इसलिए प्रथम उसे ही बतलाते हैं) **विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों के** *संयोग से रस निष्पन्न होता है।*

के अन्तर्गत श्रेणीविभाग (अर्थात् रंगशीर्ष, नेपथ्य आदि के) आ जाने से यहाँ कक्ष्याविभाग का पृथक् कथन नहीं किया गया। (तथा कक्ष्याविभाग का विषय ना० शा० अध्याय १३ में विस्तार से दिये जाने से भी यहाँ कथन नहीं किया गया है।)

१. संग्रह में नाट्याङ्गों का सूत्ररूप (संक्षेप) में (उद्देश्य तथा विभाग दो रूपों में) कथन करने के बाद और कारिका के द्वारा सूत्ररूप में कथन हो चुकने पर अब यहाँ 'सूत्र' रूप में अभिहित नाट्यांगों की लक्षण तथा भाष्य रूप में व्याख्या की जाएगी। 'ग्रन्थ' भाष्य है उनके द्वारा होने वाला विकल्पन 'निरुक्त' है। इससे आक्षेप-समाधानरूपा 'परीक्षा' की प्रतीज्ञा की गयी है।

२. मूल के 'तावत्' पद क्रम का सूचक है तथा 'अभिव्याख्यास्यामः' का अर्थ है विभज्य (अलग अलग करके) व्याख्यान करना।

३. रस को प्रथम स्थान देने के लिये मूल में 'नहि' पद दिया गया है। क्योंकि रस के बिना विभावादि अर्थ व्याख्येय रूप से बुद्धि में नहीं आ (सक) ते हैं और रस से बिना आनन्दपूर्वक कृत्यों में प्रवृत्ति तथा अकृत्यों से निवृत्ति

---

१. व्यादिष्टो—ग०। २. कश्चिदप्यर्थः—ग०।

अभिनवभारती[1]—

एवं क्रमहेतुमभिधाय रसविषयं लक्षणसूत्रमाह—"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।" अत्र भट्टलोल्लटप्रभृतयस्तावदेवं व्याचख्युः—विभावादिभिः संयोगोऽर्थात् स्थायिनस्ततो रसनिष्पत्तिः। तत्र विभावश्चित्तवृत्तेः स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम्। अनुभावाश्च न रसजन्या अत्र विवक्षिताः, तेषां रसकारणत्वेन गणनानर्हत्वात्, अपि तु भावानामेव। येऽनुभावा

रूप उपदेश या ज्ञान रूप प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती तथा (इस) रस के (ही) प्रति आदर बुद्धि रखने वाले और केवल रसनात्मक प्रतीति में आनन्द का अनुभव करने वाले सामाजिक रस से भिन्न भाव आदि का स्पष्टतः ग्रहण नहीं करते हैं। और क्योंकि स्थायीभाव के रूप में समस्त अचेतन वर्ग की विभावादि रूप अन्य प्रतीतियों (चित्तवृत्तियों) से उपकृत प्रधान चित्तवृत्ति के अन्तर्गत रूप से ही अचेतन विभावादि वर्ग की प्रतीति होती है तथा व्याख्यात, नट एवं सामाजिक की दृष्टि से (भी) रस की प्रधानता स्वीकृत है अतएव इन सभी कारणों से यहाँ रस का अभिधान सर्वप्रथम किया गया है। यहाँ रस के एकवचन में प्रयोग करने का आशय यह है कि समस्त नाटक में सूत्ररूप से स्थित रहने वाला प्रधान रस एक ही होता है और उसी के अन्तर्गत अवान्तर रस रूप विभाग होते हैं। ये विभाग उस प्रधानरस के आश्रित या मुखापेक्षी होते हैं।

रसनिष्पत्तिः—

१. नाट्यशास्त्र (के मूल) में 'निष्पत्ति' तथा 'संयोग' शब्दों का स्पष्ट व्याख्यान या लक्षण नहीं दिया गया और न ही रस-लक्षण में स्थायी भाव का समावेश किया गया। इसी कारण 'नाट्य-शास्त्र' की परवर्ती व्याख्याओं को विभिन्न मत प्रस्तुत करने का अवसर मिल गया तथा इसी कारण भटलोल्लट, श्रीशंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्ताचार्य ने नाट्य-शास्त्र पर अपनी मान्यताओं का निर्वचन प्रस्तुत किया। 'रसनिष्पत्ति' पर इन्हीं विभिन्न आचार्यों की मान्यताओं का आपेक्षित वर्णन देने की दृष्टि से हम यहाँ अभिनव भारती के मूल अंश और उसके अविकल अनुवाद को भी दे रहे हैं।

(सम्पा०)

व्यभिचारिणश्च चित्तवृत्त्यात्मकत्वात् यद्यपि न सहभाविनः स्थायिना, तथापि वासनात्मतेह तस्य विवक्षिता। दृष्टान्तेऽपि व्यञ्जनादिमध्ये कस्यचिद्वासनात्मकता स्थायिवदन्यस्योद्भूतता व्यभिचारिवत्। तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः। स्थायी [भव] त्वनुपचितः। स चोभयोरपि मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्येऽनुकर्तरि च नटे रामादिरूपतानुसन्धानबलाद् इति।

इस प्रकार उद्देश्य में क्रम (रखने) के कारण को बतला कर अब रस विषयक लक्षण का सूत्ररूप में अभिधान कहते हैं 'तत्र' इत्यादि से।

'उनमें विभाव अनुभाव तथा संचारी (व्यभिचारि) भावों के संयोग से रस की उत्पत्ति होती है।'

उत्पत्तिवाद—

भट्टलोल्लट *आदि ने इस सूत्र की व्याख्या इस प्रकार की है— विभावादि के साथ जो स्थायीभाव का संयोग होता है उसी से रसनिष्पत्ति (अर्थात् उत्पत्ति) होती है। उनमें स्थायीभाव रूप चित्तवृत्ति की उत्पत्ति में विभाव कारण होते हैं। अनुभाव शब्द से यहाँ रसजन्य कटाक्षादि स्वरूप अनुभाव नहीं लिये गये हैं क्योंकि उनकी गणना रस के कारणों में नहीं की जाती है किन्तु भावों की ही की जाती है। और जो अनुभाव और व्यभिचारिभाव चित्तवृत्ति स्वरूप होने के कारण यद्यपि (एक ही क्षण में) स्थायीभाव के साथ नहीं रह सकते किन्तु यहाँ रत्यादि स्थायीभाव के साथ वासना (संस्कार) रूप में निर्वेदादि व्यभिचारी भाव रह सकते हैं, यह स्पष्ट है।*

रस के उत्पादन हेतु भरत द्वारा दिये गये दृष्टान्त में भी व्यंजन आदि के बीच में किसी की स्थायीभाव के समान वासनात्मक (अनुद्भूत) और कुछ की व्यभिचारिभाव के समान उद्भूत रूप में स्थिति होती है इसीलिये विभाव, अनुभाव आदि से परिपुष्ट किया हुआ स्थायीभाव ही रस है। केवल स्थायीभाव परिपुष्ट नहीं होता और वह दोनों [अनुकर्त्ता और अनुकार्य) में रहता है। मुख्यरूप से वह अनुकार्य

रामादि में तथा रामादिरूपता की प्रतीति करवाने के कारण गौण रूप में अनुकर्ता [नट] में भी अनुसन्धान के बल से अवस्थित रहता है।

चिरन्तनानां चायमेव पक्षः। तथा हि दण्डिना स्वालङ्कारलक्षणेऽभ्यधायि। 'रतिः शृङ्गारतां गता रूपबाहुल्ययोगेने' ति (काव्यादर्शे २-२८१)। 'अधिरुह्य परां कोटिं कोपो रौद्रात्मतां गतः' (का० दर्श० २-२८३) इत्यादि च।

एतन्नेति श्रीशङ्कुकः। विभावाद्ययोगे स्थायिनो लिङ्गाभावेनावगत्यनुपपत्तेर्भावानां पूर्वमभिधेयताप्रसङ्गात्, स्थितदशायां लक्षणान्तरवैयर्थ्यात्, मन्दतरतममाध्यस्थ्याद्यानन्त्यापत्तेः हास्यरसे षोढात्वाभावप्राप्तेः, कामावस्थासु दशस्वसङ्ख्यरसभावादिप्रसङ्गात्, शोकस्य प्रथमं तीव्रत्वं कालात्तु मान्द्यदर्शनं क्रोधोत्साहरतीनाममर्षस्थैर्यसेवाविपर्यये ह्रासदर्शनमिति विपर्ययस्य दृश्यमानत्वाच्च। तस्माद्धेतुभिर्विभावाख्यैः कार्यैश्चानुभावात्मभिः सहचारिरूपैश्च व्यभिचारिभिः प्रयत्नार्जिततया कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैरनुकर्तृस्थत्वेन लिङ्गबलतः प्रतीयमानः स्थायिभावो मुख्यरामादिगतस्थाय्यनुकरणरूपः, अनुकरणरूपत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः।

दण्डी आदि प्राचीन आचार्यों का भी यही मत है। इसीलिये दण्डी ने अपने काव्यादर्श नामक अलङ्कार-ग्रन्थ में कहा है कि—'रूपबाहुल्य (उपचय) के कारण 'रति' (स्थायीभाव) शृङ्गार रस को प्राप्त कर जाती है' तथा 'अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त होने पर क्रोध [स्थायी भाव] रौद्ररसरूपता को प्राप्त करता है।' इत्यादि भी।

अनुमितिवादः—

यह सिद्धान्त [अर्थात् उपचित रत्यादि स्थायीभाव को रस मान लेना] ठीक नहीं है। **श्रीशङ्कुक** का कहना है कि विभावादि के योग के

बिना [या उसके अभाव में] स्थायीभाव के अनुमापक हेतु के न होने के कारण स्थायीभाव की प्रतीति नहीं हो सकती और यदि शब्द से स्थायीभाव की परोक्ष प्रतीति मानें तो विभावादि के प्रयोग के पूर्व भावों को अभिधेय मानना पड़ेगा तथा विभावादि के प्रयोग के पूर्व भी रस की स्थिति [या रस की विद्यमानता] को मानें तो अन्य लक्षणों की आवश्यकता ही न रहेगी, और यदि [रत्यादि स्थायीभाव की मात्रा में न्यूनाधिक्य या तारतम्य को सम्भव मानें तो] रस में मन्द, मन्दतर, मध्यम आदि अनन्त भेद होने लगेंगे। और हास्यरस में स्थायी के तारतम्य से जो छः भेद किये गये हैं उन छः भेदों का अभाव प्राप्त होने लगेगा; और यदि स्थायी के तारतम्य से रसभेद मानें तो काम की दस अवस्थाओं में असंख्य रस भाव मानने पड़ेंगे; और शोकादि स्थायीभावों में आरम्भ में शोक तीव्र होता है और बाद में क्रमशः मन्द होता जाता है तथा क्रोध, उत्साह और रति आदि स्थायी भावों में अमर्ष, स्थैर्य और सेवा आदि पोषक सामग्री के अभाव में ह्रास दिखाई देता है। इसलिये उपचय के स्थान पर उपचय रूपी विपर्यय के प्राप्त होने के कारण उपचित स्थायीभाव रस होता है यह कथन उचित नहीं है।

और इसीलिये कारण रूप विभावों, कार्य रूप अनुभावों तथा सहकारी रूप निर्वेदादि व्यभिचारिभावों के द्वारा (नट के अपने अभ्यास, शिक्षा आदि रूप में) प्रयत्न से उत्पन्न होने के कारण कृत्रिम होने पर भी कृत्रिम से न प्रतीत होने वाले [कारण, कार्य, सहकारीरूप विभावादि से] कारण या चिह्न की सामर्थ्य द्वारा अनुकर्त्ता [नट] में स्थित रूप के द्वारा अनुमान से प्रतीत होने वाला मुख्य [अनुकार्य] राम में विद्यमान रहने वाला रत्यादि स्थायीभाव का यह अनुकरणरूप होता है तथा इसी अनुकरणरूप होने के कारण ही यह स्थायीभाव उससे भिन्न नाम के द्वारा व्यवहृत होता है। यही भिन्न नाम से व्यवहार किया जाने वाला पदार्थ 'रस' है।

विभावा हि काव्यबलानुसन्धेयाः, अनुभावाः शिक्षातः, व्यभिचारिणः कृत्रिमनिजानुभावार्जनबलात्, स्थायी तु काव्यबलादपि

नानुसन्धेयः। रतिः शोक इत्यादयो हि शब्दा रत्यादिकमभिधेयी-कुर्वन्त्यभिधानत्वेन, न तु वाचिकाभिनयरूपतयावगमयन्ति।

न हि वागेव वाचिकं, अपि तु तया निर्वृत्तं, अङ्गैरिवाङ्गिकम्। तेन—

'विवृद्धात्माप्यगाधोऽपि दुरन्तोऽपि महानपि।
बाडवनेव जलधिः शोकः क्रोधेन पीयते' इति,

तथा—

'शोकेन कृतस्तम्भः तथा स्थितो योऽनवस्थिताक्रन्दैः।
हृदयस्फुटनभयार्तै रक्षितुमभ्यर्थ्यते सचिवैः'

इत्येवमादौ न शोकोऽभिनेयोऽपि त्वभिधेयः।

'भाति पतितो लिखन्त्यास्तस्या वाष्पाम्बुशीकरकणौघः।
स्वेदोद्गम इव करतलसंस्पर्शादेष मे वपुषि। (रत्ना २–११)

इत्यनेन तु वाक्येन स्वार्थमभिदधतोदयनगतः सुखात्मा रति-स्थायी (यि ?) भावोऽभिनीयते न तूच्यते। अवगमनशक्तिर्ह्यभि-नयनं, वाचकत्वादन्या। अत एव स्थायिपदं सूत्रे भिन्नविभक्ति-कमपि नोक्तम्। तेन रतिरनुक्रियमाणा शृङ्गार इति तदात्मकत्वं तत्प्रभवत्वञ्च युक्तम्।

विभावों का काव्य के द्वारा, अनुभावों का शिक्षा के द्वारा तथा व्यभिचारिभावों का अपने कृत्रिम अनुभावों के द्वारा अनुसन्धान (प्रतीति) होता है, परन्तु स्थायीभाव काव्य-बल से भी प्रतीत नहीं होता। रति, शोक आदि शब्द रति तथा शोक आदि विषयों का अभिधा शक्ति के द्वारा [परोक्षरूप में] कथन करते हैं, वाचिक अभिनय के रूप में उनको बोधित नहीं करते।

क्योंकि वाणी का नाम वाचिक अभिनय नहीं होता किन्तु उस वाणी

के द्वारा किया जाने वाला अभिनय वाचिक कहलाता है। जैसे अंगों से किया जाने वाला अभिनय आङ्गिक होता है। अतएव

जैसे अतिशय बढ़े हुए, अगाध तथा अनन्त होने पर भी समुद्र को वाडवाग्नि पी जाती है उसी प्रकार (अतिशय बढ़े हुए, अगाध तथा अनन्त होने पर भी) शोक को क्रोध नष्ट कर देता है।

यहाँ, तथा—

शोक के कारण चेष्टाहीन एवं निरन्तर क्रन्दन करते हुए ऐसा पड़ा हुआ है कि कहीं इसका हृदय न विदीर्ण हो जाए, इस आशंका से भयभीत मन्त्री केवल उसके संरक्षण की (ईश्वर से) प्रार्थना कर रहे हैं।

इत्यादि उपर्युक्त उदाहरणों में शोक अभिनेय नहीं है, किन्तु यहाँ वह स्वशब्द वाच्य होने से अभिधेय है। (परन्तु)—

चित्र-निर्माण की वेला में उस चित्र पर उसके आँसुओं के जो कण गिरे वे उसके हस्तस्पर्श के द्वारा मेरे शरीर में आए हुए स्वेद के समान शोभित हो रहे हैं। (र० २।११)

इस पद्य से उसके वाच्यार्थ से भिन्न उदयनगत सुखस्वरूपा रति स्थायीभाव का यहाँ अभिनय किया जा रहा है, शब्द से अभिहित मात्र नहीं किया जा रहा। शब्द की वाचकशक्ति से भिन्न बोध करवाने वाली अन्य शक्ति अभिनय है। इसीलिये स्थायीभाव की प्रतीति अभिनय के द्वारा होने से विभाव-अनुभाव आदि के साथ सूत्र में स्थायीभाव का भिन्नविभक्ति में भी प्रयोग नहीं किया गया है [आशय यह कि उपचित स्थायीभाव रस नहीं होता, अनुक्रियमाण स्थायीभाव ही रसत्व को प्राप्त करता है] और इसीलिये अनुक्रियमाण रति ही शृङ्गाररस होती है। अतएव उसका स्थायीभावरूप (तदात्मकत्व) और स्थायीभावमूलक (दोनों) होना (तत्प्रभवत्व) उचित है।

अर्थक्रियापि मिथ्याज्ञानदृष्टा—

'मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः।

मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति' इति।

न चात्र नर्तक एव सुखीति प्रतिपत्तिः। नाप्ययमेव राम इति, न चाप्ययं न सुखीति, नापि रामः स्याद्वा न वायमिति, न

चापि तत्सदृश इति। किन्तु सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणा चित्रतुरगादिन्यायेन यः सुखी रामः, असावयमिति प्रतीतिरस्तीति। तदाह—

'प्रतिभाति न सन्देहो न तत्त्वं न विपर्ययः।
धीरसावयमित्यस्ति नासावेवायमित्यपि॥
विरुद्धबुद्धिसम्भेदादविवेचितसंप्लवः।
युक्त्या पर्यनुयुज्येत स्फुरन्ननुभवः कया॥' इति।

तदिदमप्यन्तस्तत्त्वशून्यं न विमर्दक्षममित्युपाध्यायाः। तथा हि— अनुकरणरूपो रस इति यदुच्यते तत्किं सामाजिकप्रतीत्यभिप्रायेण, उत नटाभिप्रायेण। किं वा वस्तुवृत्तिविवेचकव्याख्यातृबुद्धिसमवलम्बनेन, यथाहुर्व्याख्यातारः खल्वेवं विवेचयन्तीति'। अथ भरतमुनिवचनानुसारेण ?

मिथ्याज्ञान से भी (रसास्वादादि रूप) अर्थ को व्यक्त करने वाली क्रिया या फल-प्राप्ति देखी जा सकती है। (जैसे—)

मणि और प्रदीप के समान प्रभा को देखकर और उसे मणि समझ कर लेने के लिये दौड़ने वाले दो व्यक्तियों में मिथ्याज्ञान के समान होने पर भी फलप्राप्ति [अर्थक्रिया] में भेद पाया जाता है।

और यहाँ नर्तक ही सुखी है यह प्रतीति नहीं होती और न यही राम है इस प्रकार की प्रतीति भी नहीं होती, न यह सुखी नहीं है यह प्रतीति होती है और नहीं यह राम है या नहीं इस प्रकार की और नहीं यह उसके समान है इस प्रकार की प्रतीति होती है। किन्तु सम्यक्, मिथ्या, संशय तथा सादृश्य (इन) रूप समस्त प्रतीतियों से विलक्षण (भिन्न प्रकार की) 'जो सुखी राम है वह यह है' इस प्रकार की प्रतीति होती है। जैसा कि निम्न दो कारिकाओं में बतलाया भी गया है :—

न सन्देह की प्रतीति होती है, न यथार्थ स्थिति की और न भ्रान्ति की प्रतीति होती है। यही वह है ऐसी बुद्धि भी नहीं होती और यह

वह नहीं है ऐसा भी लगता है। इसलिये विरुद्ध प्रतीतियों के सम्मिश्रण के कारण पृथक् स्वरूप में भ्रम आदि का तात्त्विक निर्णय न होने के कारण उस पुरःस्फुरित अनुभव को कैसे भ्रम आदि कहा जाए यह निश्चय नहीं किया जा सकता है।

आचार्य भट्टतोत के मत से शंकुक का यह अनुकरणवाद सारहीन सिद्धान्त है जो परीक्षाकाल में टिक नहीं सकता। क्योंकि यदि रस को [शंकुक की तरह] अनुकरणरूप कहा जाए तो यह सामाजिक के अभिप्राय से कहा जा रहा है या नट के अभिप्राय से अथवा वस्तु तथा वृत्त का विवेचन करने वाले व्याख्याताओं के अभिप्राय से कहा जा रहा है?। कहा जाता है कि व्याख्याताजन रससूत्र की इस प्रकार विवेचना करते हैं। या फिर भरतमुनि के वचनों के अनुसार स्थायीभाव के अनुकरण को रस कहा जा रहा है?

आद्यः पक्षोऽसङ्गतः। किञ्चिद्धि प्रमाणेनोपलब्धं तदनुकरणमिति शक्यं वक्तुम्। यथा, 'एवमसौ सुरां पिबतीति' सुरापानानुकरणत्वेन पयःपानं प्रत्यक्षावलोकितं प्रतिभाति, इह च नटगतं किं तदुपलब्धं तदनुकरणतया भातीति चिन्त्यम्। तच्छरीरं, तन्निष्ठं प्रतिशीर्षकादि, रोमाञ्चकगद्गदकादिभुजाक्षेपवलनप्रभृति भ्रूक्षेपकटाक्षादिकं च न रतेश्चित्तवृत्तिरूपतयानुकारत्वेन कस्यचित् प्रतिभाति। जडत्वेन, भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वेन च ततोऽतिवैलक्षण्यात्। मुख्यामुख्यावलोकने च तदनुकरणप्रतिभासः। न च रामगतां रतिमुपलब्धपूर्विणः केचित्। एतेन 'रामानुकारी नटः' इत्यपि निरस्तः प्रवादः।

(इनमें उपाध्याय के अनुसार) यहाँ प्रथमपक्ष असंगत है। क्योंकि अनुकरण वह कहा जाता है जो किसी वस्तु के प्रमाण से गृहीत होता हो। जैसे 'इस प्रकार यह मदिरा पान करता है' कह कर कोई दूध पीता है तो यहाँ मदिरा-पान के अनुकरणरूप में दुग्धपान प्रत्यक्ष अवलोकित हो रहा है। पर यहाँ अभिनय के अन्तर्गत रस के प्रसंग में अभिनेता में ऐसी कौन

सी बात देखी जाती है जो प्रमाणरूप में उपलब्ध होने के कारण अनुकार्य के अनुकरणरूप में प्रतीत होती हो यह विचारणीय है। क्या उसका शरीर अथवा उसके शरीर पर स्थित मुखोटे (प्रतिशीर्षक) आदि अथवा रोमांच गद्गद आदि या भुजाक्षेप, वलन आदि और भ्रूकटाक्ष आदि रति आदि चित्तवृत्तिरूप स्थायीभाव के अनुकरणरूप में किसी को भासित नहीं हो सकते ? (प्रतिशीर्षक से कटाक्षादि पर्यन्त) सभी वस्तुओं तथा अनुभावों के जड़ होने से, दूसरों की इन्द्रियों से गृहीत होने तथा आधार की भिन्नता के कारण यह सब उन रत्यादि स्थायीभावों से विलक्षण हैं। दूसरे मुख्य [अनुकार्य] तथा अमुख्य [अनुकरण] का विचार कर दोनों को देखने पर यह इसका अनुकरण है, यह प्रतीत होता [प्रतिभासित होता] है। परन्तु यहाँ रामगत रति [मुख्य अनुकार्य रूप] का किसी सामाजिक ने प्रथम साक्षात्कार नहीं किया अतः नट राम का अनुकरण करता है यह मत [अनुकरणरूप न होने के कारण] निरस्त हो जाता है।

अथ नटगता चित्तवृत्तिरेव प्रतिपन्ना सती रत्यनुकारः शृङ्गार इत्युच्यते, तत्रापि किमात्मकत्वेन सा प्रतीयते इति चिन्त्यम्।

ननु प्रमदादिभिः कारणैः कटाक्षादिभिः कार्यैः धृत्यादिभिश्च सहचारिभिर्लिङ्गभूतैर्या लौकिकी कार्यरूपा सहचारिरूपा च चित्तवृत्तिः प्रतीतियोग्या, तदात्मकत्वेन सा नटचित्तवृत्तिः प्रतिभाति। हन्त ! तर्हि रत्याकारेणैव सा प्रतिपन्नेति दूरे रत्यनुकरणतावाचोयुक्तिः।

ननु ते विभावादयोऽनुकार्ये पारमार्थिकाः, इह त्वनुकर्त्तरि न तथेति विशेषः। अस्त्वेवम्; किन्तु ते हि विभावादयोऽतत्कारणातत्कार्यातत्सहचारिरूपा अपि काव्यशिक्षादिबलोपकल्पिताः कृत्रिमाः सन्तः किं कृत्रिमत्वेन सामाजिकैः गृह्यन्ते न वा? यदि गृह्यन्ते तदा तैः कथं रतेरवगतिः?

तब श्रीशङ्कुकपक्ष की ओर से यदि यह कहा जाए कि नटगत रत्यादि चित्तवृत्ति ही प्रतीत या ग्रहण होने पर रति का अनुकरणरूप शृङ्गार रस है तो उपाध्याय-पक्ष पूछता है कि किस रूप में उसकी प्रतीति स्वीकार की जाएगी इसका यहाँ विचार करना होगा।

और यदि यह कहा जाए कि प्रमदादि विभावरूप कारणों, कटाक्षादि अनुभावरूप कार्यों तथा धृति आदि व्यभिचारिभावरूप सहकारियों के चिह्नों [हेतुओं] से विभावादि कारणों से कार्यरूप, अनुभावादि कार्यों से कारणरूप तथा व्यभिचारीभाव के सहकारीरूप से जो लौकिक चित्तवृत्ति साक्षात्कार की योग्यता ले लेती है उसी रूप में नट की चित्तवृत्ति प्रेक्षकों को प्रतीत या प्रतिभासित होती है [और यही रत्यादि-प्रतीति रस है]। [यदि यही माना जाए तो] ऐसी स्थिति में रतिरूप में (ही) उसकी गृहीति न मान कर रति की अनुकृति के रूप में उसकी स्वीकृति का कथन कहाँ तक उपयुक्त होगा यही दुःख की बात है।

अच्छा, अनुकार्य में जो आलम्बन—उद्दीपन आदि विभाव उपस्थित होते हैं वे वास्तविक हैं किन्तु यहाँ प्रयोगकर्त्ता नट [अनुकर्त्ता] में वैसे (वास्तविक विभावादि) प्रतीत नहीं होते यही दोनों में भेद या वैशेष्य है। और यदि ऐसा मान भी लिया जाय तो वे विभाव आदि उस नटगत रति के विभाव [कारण], अनुभाव [कार्य] तथा व्यभिचारिभाव [सहकारी] न होते हुए भी काव्य तथा शिक्षा आदि से उपकल्पित होने के कारण वास्तविक विभावादि की अपेक्षा कृत्रिम होने पर सामाजिकों के द्वारा विभावादि के रूप में प्रतीत होते हैं अथवा नहीं? और यदि सामाजिक के द्वारा वे कृत्रिमरूप से ही ग्रहण किये जाते हैं तो उसे कृत्रिम साधनों से वास्तविक रति का उद्बोध कैसे हो सकता है?

नन्वत एव प्रतीयमाना रतिरनुकरणबुद्धेः कारणम्। तन्न। कारणान्तरप्रभवेषु हि कार्येषु सुशिक्षितेन तथा ज्ञाने वस्त्वन्तरस्यानुमानं तावद्युक्तम्। असुशिक्षितेन तु तस्यैव प्रसिद्धस्य कारणस्य। यथा वृश्चिकविशेषाद् गोमयस्यैवानुमानम्। तत्परं मिथ्याज्ञानम्।

यत्रापि लिङ्गज्ञानं मिथ्या तत्रापि न तदाभासानुमानमयुक्तम्। नहि बाष्पाद् धूमत्वेन ज्ञातादनुकारप्रतिभासमानादपि लिङ्गात् तदनुकारानुमानं युक्तम्। धूमानुकारत्वेन हि ज्ञायमानान्नीहारान्नाग्न्यनुकारा जपापुष्पप्रतीतिर्दृष्टा।

(और शंकुकपक्ष की ओर से पुनः कहा जा सकता है कि) इसलिये तो कृत्रिम साधनों से ज्ञात रति अनुकरणात्मक रत्यादि की बुद्धि का कारण होती है। [यह अनुकरणात्मक रति आदि की प्रतीति ही रस मानी जा सकती है]। यह ठीक नहीं है। (प्रसिद्ध कारणों से भिन्न) कारणों से उत्पन्न कार्यों में उनका ज्ञान होने पर उस विषय के विशेषज्ञ व्यक्ति के द्वारा दूसरी वस्तु का प्रसिद्ध कारणों को छोड़कर ठीक अनुमान करना उचित हो सकता है। पर साधारणपुरुष के द्वारा तो उसी प्रसिद्ध कारण का अनुमान किया जाता है। जैसे किसी विशेष बिच्छू को देखकर उसके कारणभूत विशेष गोबर का अनुमान करना। ऐसा करना सामान्य पुरुष के लिये मिथ्याज्ञान होगा।

और जहाँ धूलिपटल में धूमादि लिङ्ग का मिथ्याज्ञान होता है वहाँ भी अन्य वस्तु (अग्नि) का आभास मानना उचित नहीं। क्योंकि वाष्प के धूम के समान ज्ञात होने पर भी ज्ञात वस्तु से अनुकरण में समान लगने वाली वस्तु से उसके समान बनावटी वस्तु का अनुमान किया जाए तो यह अनुचित होगा। अथवा धूम के समान प्रतीत होने वाले कुहरे से अग्नि के समान आकार रहने के कारण अग्निवत् प्रतीत होने वाले जपापुष्प की प्रतीति अनुमिति हो जाए [तो यह भी अनुचित होगा]

नन्वक्रुद्धोऽपि नटः क्रुद्ध इव प्रतिभाति। सत्यम्। क्रुद्धेन सादृश्यं च भ्रुकुट्यादिभिः, गौरिव गवयेन मुखादिभिरिति। नैतावतानुकारः कश्चित्। चापि सामाजिकानां सादृश्यमतिरस्ति। सामाजिकानां च न भावशून्या नर्तके प्रतिपत्तिरित्युच्यते, अथ च तदनुकारप्रतिभास इति रिक्ता वाचोयुक्तिः।

यच्चोक्तं रामोऽयमित्यस्ति प्रतिपत्तिस्तदपि यदि तदात्वेति

निश्चितं तदुत्तरकालभाविबाधकवैधुर्याभावे कतं न तत्त्वज्ञानं स्यात्। बाधकसद्भावे वा कथं न मिथ्याज्ञानम्। वास्तवेन च वृत्तेन बाधकानुदयेऽपि मिथ्याज्ञानमेव स्यात्। तेन विरुद्धबुद्धि (द्वय) संभेदादित्यसत् नर्तकान्तरेऽपि च रामोऽयमिति प्रतिपत्तिरस्ति। ततश्च रामत्वं सामान्यरूपमित्यायातम्।

यच्चोच्यते विभावाः काव्यादनुसन्धीयन्ते, तदपि न विद्मः न हि ममेयं सीता काचिदिति स्वात्मीयत्वेन प्रतिपत्तिर्नटस्य। अथ सामाजिकस्य तथा प्रतीतियोग्याः क्रियन्त इत्येतदेवानुसन्धानमुच्यते, तर्हि स्थायिनि सुतरामनुसन्धानं स्यात्। तस्यैव हि मुख्यत्वेनास्मिन्नयमिति सामाजिकानां प्रतिपत्तिः।

(**पूर्व पक्ष**) क्रुद्ध न होने पर भी अभिनेता क्रुद्ध सा प्रतीत होता है। [अर्थात् वह स्वयं क्रुद्ध न होकर क्रुद्ध पुरुष के क्रोध का अनुकरण कर रहा है। इसीलिये रत्यादि के अनुकरण को रस माना जाता है] (**उत्तर पक्ष**) ठीक है। वह क्रुद्ध के सदृश प्रतीत होता है और यह सादृश्य भ्रुकुटि आदि के द्वारा होता है; जैसे गौ का नीलगाय के साथ मुखादि के द्वारा सादृश्य होता है। [परन्तु इस सादृश्य से अनुकरणात्मकत्व सिद्ध कैसे होगा?] और सामाजिक को राम के सादृश्य की वास्तव में प्रतीति (ही) नहीं होती है। परन्तू उनकी नट के विषय में भावावेश रहित प्रतीति नहीं मानी जा सकती है तो फिर उस रत्यादि के अनुकरण के प्रतिभास (प्रतीति) का अभिधान सारहीन है।

यदि यह कहा जाए कि 'यह राम है' ऐसी नट को देख कर प्रतीति होती है तो इस प्रतिपत्ति के उत्तरकाल में बाधक का अभाव होने से उसकी तात्त्विक प्रतीति क्यों नही मानी जाए? और बाध होने वर उसे मिथ्याज्ञान क्यों नहीं माना जाए? इसके अतिरिक्त वास्तविक दृष्टि से आख्यान वस्तु में बाधक के अनुपस्थित होने पर भी मिथ्या ज्ञान होगा। अतएव दो विरुद्ध बुद्धियों के सम्बन्ध के कारण यह कहना भी असंगत होगा। अन्य अभिनेता में भी 'यह राम है' इस प्रकार की प्रतिपत्ति होती है; अतः

रामत्व एक सामान्य रूप है यही सिद्ध होता है। [आशय यह है कि जैसे ब्राह्मणत्व एक सामान्यधर्म है और उससे युक्त सभी ब्राह्मण होते हैं इसी प्रकार 'रामत्व' विशिष्ट या वैयक्तिक धर्म होकर भी आदर्श-व्यक्तित्व के कारण सामान्य धर्म हो जाने से अनेक अभिनेताओं में 'रामत्व' की प्रतिपत्ति या भान हो सकता है।]

और जो यह कहा जाता है कि 'काव्य के द्वारा विभावों का (उपस्थापन या) अनुसन्धान किया जाता है यह भी प्रतीत नहीं होता। क्योंकि 'यह मेरी सीता है' ऐसी किसी नट को प्रतीति नहीं होती। यदि 'काव्य के द्वारा विभावादि सामाजिक की प्रतीति के योग्य बनाए जाते हैं और ऐसा करना ही अनुसन्धान होता है' ऐसा माना जाए तो उनकी अपेक्षा स्थायीभाव के विषय में वह अनुसन्धान और अधिक उचित होगा। क्योंकि इस स्थायीभाव के ही मुख्य होने से 'इस राम में यह रत्यादि स्थायीभाव हैं' ऐसी ही सामाजिकों को प्रतिपत्ति होती है [अतः रत्यादि को ही रस मानना उचित होगा इनके अनुकरण को नहीं।]

यत्तु वाग्वाचिकमित्यादिना भेदाभिधानसंरम्भगर्भमहीयानभिनयरूपताविवेकः कृतः स उत्तरत्र स्वावसरे (अ० १४) चर्चयिष्यते। तस्मात्सामाजिकप्रतीत्यनुसारेण स्थाय्यनुकरणं रस इत्यसत्।

न चापि नटस्येत्थं प्रतिपत्तिः 'रामं तच्चित्तवृत्तिं वानुकरोमी'ति। सदृशकरणं हि तावदनुकरणमनुपलब्धप्रकृतिना न शक्यं कर्तुम्। अथ पश्चात्करणमनुकरणम्, तल्लोकेऽप्यनुकरणात्मतातिप्रसक्ता।

अथ न नियतस्य कस्यचिदनुकारः, अपि तूत्तमप्रकृतेः शोकमनुकरोति। तर्हि केनेति चिन्त्यं न तावच्छोकेन, तस्य तदभावात्।

न चाश्रुपातादिना शोकस्यानुकारः तद्वैलक्षण्यादित्युक्तम्।

इयत्तु स्यात्–उत्तमप्रकृतेर्ये शोकानुभावाःताननुकरोमीति। तत्रापि कस्योत्तमप्रकृतेः यस्य कस्य चिदिति चेत्सोऽपि विशिष्टतां

विना कथं बुद्धावारोपयितुं शक्यः। य एवं रोदितीति चेत्स्वात्मापि मध्ये नटस्यानुप्रविष्ट इति गलितोऽनुकार्यानुकर्तृभावः।

और श्रीशङ्कुक महोदय ने जो वाग् और वाचिक का भेद प्रदर्शित करते हुए अपनी अभिनय की विशेषज्ञता को प्रस्तुत किया है उसकी हम आगे (अध्याय १४ में) यथावसर विवेचना करेंगें। अतएव सामाजिक की प्रतीति के अनुसार 'स्थायीभाव का अनुकरण रस कहलाता है' यह मानना ठीक नहीं है।

और न नट को इस प्रकार की प्रतिपत्ति (अनुभव, बोध) ही होती है कि मैं राम की चित्तवृत्तियों का अनुकरण कर रहा हूँ यदि सदृश करण अनुकरण है तो जिसे प्रकृति (अनुकार्य) का ज्ञान नहीं है वह उसका अनुकरण नहीं कर सकता। और यदि पश्चात् करण अनुकरण है तो लोक में वैसी अनुरणात्मकता अतिव्याप्ति-दोषग्रस्त हो जाएगी [अर्थात् लौकिक इत्यादि के अनुकरण को देखने पर भी रस की अनुभूति मानी जाने लगेगी]

और यदि यह कहा जाए कि अनुकरण किसी विशेष (नियत) व्यक्ति का न हो कर सामान्यतः उत्तम प्रकृति का होता है और नट अपने शोक से उत्तम प्रकृति के शोक का अनुकरण करता है तो यह किस साधन से अनुकरण करता है यह विचारणीय है। यदि यह कहा जाए कि नट शोक से अनुकरण करता है तो उसे वास्तव में कोई शोक नहीं होता [अनुकर्त्ता में शोक का अभाव है]। और वह अश्रुपात आदि से शोक का अनुकपण करता है यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि अनुकरण का स्वरूप विलक्षण होता है [अर्थात् शोक मानस चित्तवृत्ति भूत है और अश्रुपातादि दैहिक व्यापार है अतएव अश्रुपातादि से शोक भिन्न हो जाने से यहाँ स्वरूप गत विलक्षणता है]

केवल इतना कहा जा सकता है कि जो उत्तम प्रकृति के शोकगत अनुभाव हैं उनका 'मैं (नट) अनुकरण करता हूँ' ऐसी अभिनेता कल्पना कर सकता है। किन्तु इसमें भी वह किस उत्तम प्रकृति के शोक का अनुकरण करता है [यह निश्चित नहीं हैं] और 'जिस किसी के' ऐसा

कहा जाय तो यह भी विशेष के बिना समझना कठिन है। और यदि 'जो मुझ नट की तरह रोता है उसका मैं अनुकरण करता हूँ' ऐसा कहा जाए तो अनुकार्य की प्रतीति में नट का अपना स्वरूप भी समाविष्ट हो जाने से अनुकार्य और अनुकर्त्ता का भाव समाप्त होकर व्यर्थता प्राप्त कर लेता है।

किञ्च नटः शिक्षावशात्स्वविभावस्मरणाच्चित्तवृत्तिसाधारणीभावेन हृदयसंवादात्केवलमनुभावान्प्रदर्शयन् काव्यमुपचितकाकुप्रभृत्युपस्कारेण पठंश्चेष्टत इत्येतावन्मात्रेऽस्य प्रतीतिर्नत्वनुकारं वेदयते। कान्तवेषानुकारवद्धि न रामवेष्टितस्यानुकारः। एतच्च प्रथमाध्यायेऽपि दर्शितमस्माभिः।

नापि वस्तुवृत्तत्वानुसारेण तदनुकारत्वमनुसंवेद्यमानस्य वस्तुवृत्तत्वानुपपत्तेः। यच्च वस्तुवृत्तं तद्दर्शयिष्यामः।

न च मुनिवचनमेवंविधमस्ति क्वचित्स्थाय्यनुकरणं रस इति। नापि लिङ्गमत्रार्थे मुनेरुपलभ्यते प्रत्युत ध्रुवागानतालवैचित्र्य-लास्याङ्गोपजीवननिरूपणादिविपर्यये लिङ्गमिति सन्ध्यङ्गाध्यायान्ते वितनिष्यामः। 'सप्तद्वीपानुकरणम्' (ना० शा० १।११७) इत्यादि त्वन्यथापि शक्यगमनिकमिति। तदनुकारेऽपि च क नामान्तरं कान्तवेषगत्यनुकरणादौ।

और नट शिक्षा के तथा अपने विभावों के स्मरण द्वारा चित्तवृत्ति के साधारणीभाव के कारण हृदय की संवाद या एकरूपता से केवल अनुभावों का प्रदर्शन करता हुआ काव्य को अनुभावारूप उचित कण्ठध्वनि (काकु) के द्वारा उच्चारित करते हुए तदनुरूप चेष्टा करता है। केवल इतने अंश में यह प्रतीति सम्भव होती है पर यह प्रतीति अनुकरण का बोध तो नहीं करवाती। क्योंकि स्त्री के वेष के अनुकरण के समान राम की चेष्टाओं का अनुकरण नहीं हो सकता यह हमने प्रथमाध्याय में भी बतलाया है।

और न वस्तुवृत्त के अनुसार उन स्थायीभावों का अनुकरण हो सकता है। क्योंकि बाद में प्रतीत होने वाले स्थायीभावों का वृस्तुवृत्तत्व सिद्ध कैसे होगा ? जो वास्तव में वस्तुवृत्तत्व है उसे हम आगे दिखलाएँगें।

और न भरतमुनि के द्वारा ऐसा कहीं कहा गया कि 'स्थायीभाव का अनुकरण रस है'। और भरत द्वारा इस विषय में निर्दिष्ट आधार भी नहीं दिया गया जिसके आधार पर अनुमान किया जासके कि मुनि स्थायीभाप के अनुकरण को ही रस मानते हैं। इसके बजाय अभिनय के परिपोष के लिये ध्रुवा, गान, तालवैचित्र्य और लास्यांगों का निरूपण विपरीत पक्ष के समर्थन का अनुमापक बन जाता है इस बात को हम सन्ध्यङ्गों के अध्याय (ना० शा० अ० २१) के अन्त में विस्तार से दिखलाएँगे। प्रथम अध्याय में नाट्य को जो सप्तद्वीप का अनुकरण बतलाया है। उस अनुकरण की व्याख्या दूसरे प्रकार से होती है [स्थायीभाव के अनुकरण रूप में नहीं] और स्थायीभाव का अनुकरण मानने पर भी कान्ता आदि के वेश अथवा गति आदि के अनुकरण में नामान्तर की आवश्यकता कहाँ होगी [अर्थात् स्थायीभाव का अनुकरण मानने पर उसके लिये 'रस' इस दूसरे नाम का उप्रयोग कहाँ तक उचित होगा।]

यच्चोच्यते वर्णकैर्हरितालादिभिः संयुज्यमान एव गौरित्यादि। तत्र यद्यभिव्यज्यमान इत्यर्थोऽभिप्रेतस्तदसत्। न हि सिन्दूरादिभिः पारमार्थिको गौरभिव्यज्यते प्रदीपादिभिरिव, किन्तु तत्सदृशः समूहविशेषो निर्वर्त्यते। अतएव हि सिन्दूरादयो गवावयवसन्निवेश-सदृशेन सन्निवेशविशेषेणावस्थिता गोसदृगिति प्रतिभासस्य विषयः। नैवं विभावादिसमूहो रतिसदृशताप्रतिपत्तिग्राह्यः। तस्माद् भावानुकरणं रस इत्यसत्।

येन त्वभ्यधायि सुखदुःखजननशक्तियुक्ता विषयसामग्री बाह्यैव। साङ्ख्यदृशा सुखदुःखस्वभावो रसः। तस्याश्च सामग्र्यां दलस्थानीया विभावाः। संस्कारका अनुभावव्यभिचारिणः। स्था-यिनस्तु तत्सामग्रीजन्या आन्तराः सुखदुःखस्वभावा इति।

और जो यह कहा जाय कि जैसे चित्र में हरिताल आदि रंगों के तूलिका द्वारा सम्मिश्रण से गौ आदि की प्रतीति होती है उसी प्रकार विभावादि के मिश्रण या संयोग से रस की उत्पत्ति हो जाती है। और विभावादिक से भिन्न उसका 'रस' यह नया नाम भी हो जाता है। इसमें यदि अभिव्यज्यमान अर्थ अभिप्रेत हो तो वह ठीक नहीं है। क्योंकि सिन्दूर आदि रंगों से वास्तविक गौ की अभिव्यक्ति नहीं होती। जैसी प्रदीप के प्रकाश में वास्तविक गाय व्यक्त हो जाती है वैसी सिन्दूर आदि रंगों से उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती केवल गाय सदृश अंगों की रचना स्पष्ट होती है। और इसलिये चित्र में सिन्दूर आदि गाय के अवयवों के सन्निवेश के समान सन्निवेशविशेष के रूप में स्थित होकर 'यह आकृति गौ जैसी है' ऐसा भान (या प्रतीति का विषय) होता है। किन्तु इस प्रकार विभावादि-समूह रति के सदृश हैं यह ग्राह्य नहीं है [या इस ज्ञान से गृहीत नहीं होते हैं] अतएव इत्यादि स्थायीभावों का रस अनुकरण होता है यह मत ठीक नहीं।

और जो यह स्वीकार करता है कि सुख, दुःख मोह को उत्पन्न करने वाली शक्ति से युक्त विषय-सामग्री बाह्य ही होती है। सांख्य दर्शन के इस सिद्धान्तानुसार संसार के सभी पदार्थ त्रिगुणात्मक होने से रस भी सुख, दुःख, मोह स्वभाव वाला [त्रिगुणात्मक] माना जाए। और उस सामग्री में दाल के स्थानीय विभाव और उनके संस्कार करने वाले छौंक के समान अनुभाव और व्यभिचारिभाव हैं और विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव आदि सामग्री से उत्पन्न आन्तरिक सुख दुःख एवं मोहरूप (रत्यादि) स्थायीभाव हैं।

तेन 'स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्यामः' इत्यादावुपचारमङ्गीकुर्वता ग्रन्थविरोधं स्वयमेव बुध्यमानेन दूषणाविष्करणमौख्यात् प्रामाणिको जनः परिरक्षित इति किमस्योच्यते। यत्त्वन्यत् प्रतीतिवैषम्यप्रसङ्गादि तत् कियदत्रोच्यताम्।

और उससे 'स्थायी भावों को रसत्व प्राप्त करवाएँगे' इत्यादि मुनिवचन में उपचार [लक्षणा] मान कर रसग्रन्थ के साथ अपने विरोध

को स्वयं जान कर हमारे समान प्रामाणिकपुरुषों को दोषप्रदर्शन की मूर्खता से बचा लिया इसलिये उसे कितना धन्यवाद दें। और रसप्रतीति को सुख-दुःखमोहात्मक (त्रिगुण) मानने पर एक ही ज्ञान में विरुद्ध प्रतीतियों का मिश्रण हो जाने से प्रतीतिवैषम्यादि दोष (भी) होंगें। इसलिये रस को त्रिगुणात्मक मानने के विषय में और कितना अनौचित्य दिखलावें।

भट्टनायकस्त्वाह-रसो न प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते। स्वगतत्वेन हि प्रतीतौ करुणे दुःखित्वं स्यात्। न च सा प्रतीतिर्युक्ता सीतादेरविभावत्वात् स्वकान्तास्मृत्यसंवेदनात्। देवतादौ साधारणीकरणायोग्यत्वात् समुद्रलङ्घनादेरसाधारण्यात्।

न च तद्वतो रामस्य स्मृतिरनुपलब्धत्वात्। न च शब्दानुमानादिभ्यस्तत्प्रतीतौ लोकस्य सरसता प्रयुक्ता प्रत्यक्षादिव। नायकयुगलावभासे हि प्रत्युतलज्जा-जुगुप्सा-स्पृहादिस्वोचितवृत्त्यन्तरोदयः अव्यग्रतयाकाशरसत्वमपि स्यात्। तन्न प्रतीतिरनुभवस्मृत्यादिरूपा रसस्य युक्ता।

उत्पत्तावपि तुल्यमेतद्दूषणम्। शक्तिरूपत्वेन पूर्वं स्थितस्य पश्चादभिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यापत्तिः। स्वगतपरगतत्वादि च पूर्ववद् विकल्प्यम्।

तस्मात् काव्ये दोषाभावगुणालङ्कारमयत्वलक्षणेन, नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निविडनिजमोहसङ्कटतानिवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मना, अभिधातो द्वितीयेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्यबलाद्धृदि विस्तार-विकासलक्षणेन सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिविलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यत इति।

भुक्ति-वाद—

भरत के एक अन्य व्याख्यता **भट्टनायक** रससूत्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि–रस न तो प्रतीत होता है, न उत्पन्न होता है और न अभिव्यक्त होता है। स्वगत रूप से [अर्थात् सामाजिक द्वारा अपने में] रस की प्रतीति मानने पर करुणरस में सामाजिक को दुःख की प्रतीति होना चाहिये किन्तु यह प्रतीति उचित नहीं है। [दुःख के मूल कारण वास्तविक] सीता आदि के विभाव रूप में उपस्थित न होने के कारण, अपनी पत्नी आदि की नाट्य-प्रसंग में स्मृति न होने के कारण, देवता आदि के विभाव होने पर उनके साधारणीकरण के अयोग्य होने के कारण और हनुमान आदि के समान विभावों के द्वारा किये गये समुद्रलंघन आदि का साधारणीकरण असंभव होने से सामाजिक को स्वगत रूप में रस प्रतीति नहीं होती।

और उस रत्यादि से युक्त राम आदि विभावों की स्मृति ही होती है क्योंकि रत्यादियुक्त राम पूर्व में उपलब्ध नहीं है। शब्द और अनुमान प्रमाणों से उस (रस) की प्रतीति मानने पर प्रत्यक्षज्ञान के जैसी सरसता नहीं रहेगी। इसलिये शब्द या अनुमानप्रमाण से रस का ज्ञान नहीं होता] और प्रत्यक्ष रूप से सम्भोगादि में रत नायक-नायिका के युगल को देखने पर रस के स्थान पर लज्जा, जुगुप्सा, स्पृहा आदि दूसरे प्रकार की चित्तवृत्तियों का उदय हो जाने से अव्यग्रता या तन्मयता न होगी और ऐसा होने पर रस प्रतीति का आकाशरस (आकाशपुष्प) के समान अभाव हो जायगा। अतएव अनुभव, स्मृति आदि के रूप में रस की प्रतीति मानना ठीक नहीं।

और रस की उत्पत्ति मानने में भी ये सब दोष समान ही हैं [इस लिये रस की स्वगत या परगत उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती]। शक्तिरूप में पूर्वस्थित रस की विभाव-अनुभाव आदि के द्वारा बाद में अभिव्यक्ति मानने पर विषयों की वृद्धि आदि से रसानुभूति में न्यूनाधिक रूप तारतम्य होने लगेगा। और फिर पहले पक्ष के समान पुनः यह विचारणीय हो जायेगा कि रसाभिव्यक्ति सामाजिक को स्वगत रूप से होती है अथवा परगत रूप से।

अतएव काव्य में दोषाभाव तथा गुणालंकारमयत्व लक्षण के कारण और नाटक में चारप्रकार के अभिनय सामाजिक के अपने अन्तःस्थित समस्त मोह तथा संकट का निवारण करने वाले एवं विभावादि के साधारणीकरण रूप अभिधा शक्ति के पश्चात् द्वितीय अंश पर होने वाले भावकत्व व्यापार के द्वारा भाव्यमान [साधारणीकृत] होकर अनुभव तथा स्मृति आदि से भिन्न (विलक्षण) प्रकार के रजोगुण और तमोगुण के मिश्रण (अनुवेध) के वैचित्र्य बल के कारण वृद्धि, (द्रुति) विकास तथा विस्तार स्वरूप सत्त्वगुण के प्राधान्य द्वारा प्रकाशमान् आनन्दमय साक्षात्कार में विश्रान्त स्वरूप वाला एवं परब्रह्म के आस्वादन सदृश होकर यह रस भोजकत्व व्यापार के द्वारा [भोग] किया जाता है।

तत्र पूर्वपक्षोऽयं भट्टलोल्लट-पक्षानभ्युपगमादेव नाभ्युपगत इति तद्दूषणमनुत्थानोपहतमेव। प्रतीत्यादिव्यतिरिक्तश्च संसारे को भोग इति न विद्मः। रसनेति चेत्, सापि प्रतिपत्तिरेव। केवल-मुपायवैलक्षण्यान्नामान्तरं प्रतिपद्यताम्। दर्शनानुमितिश्रुत्युपमिति-प्रतिभानादिनामान्तरवत्।

निष्पादनाभिव्यक्तिद्वयानभ्युपगमे च नित्यो वा असद्वा रस इति तृतीया गतिः स्यात्। चाप्रतीतं वस्त्वस्ति व्यवहारे योग्यम्।

अथोच्यते—प्रतीतिरस्य भोगीकरणं तच्च रत्यादिस्वरूपं, तदस्तु तथापि न तावन्मात्रम्। यावन्तो हि रसास्तावन्त एव रसना (रसा ?) त्मनः प्रतीतयो भोगीकरणस्वभावाः। सत्त्वादिगुणानां चाङ्गाङ्गिवैचित्र्यमनन्तं कल्प्यमिति का त्रित्वेनैयत्ता—

भट्टनायक का यह मत पहले किये गये भट्टलोल्लट के पक्ष के खण्डन से ही खण्डित हो जाता है अतएव उनके मत के प्रत्याख्यान (खण्डन, निराकरण) की आवश्यकता नहीं रह जाती। इसके अतिरिक्त प्रतीति,

उत्पत्ति, अभिव्यक्ति के अतिरिक्त (भिन्न) संसार में भोग कौन पदार्थ हो सकता है [अर्थात् विषयवस्तु की प्रतीति अथवा उसके अनुभव को भोग कहते हैं परन्तु भट्टनायक जब रस की प्रतीति नहीं मानते तो उसका 'भोग' किस पदार्थ को माना जायेगा] यदि रसन (आस्वादन) ही भोग पद का अभिप्राय है तो यह रसना भी प्रतीति रूप ही है। केवल उपाय की विलक्षणता के कारण इसका भिन्न नाम रखा जा सकता है यह दूसरी बात है। जैसे साधन तथा प्रमाण भेद के कारण एक ही ज्ञान के प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान तथा प्रतिभान आदि भिन्न नाम दिये जा सकते हैं। और रस की उत्पत्ति तथा अभिव्यक्ति दोनों ही न मानने पर वह नित्य होगा अथवा असत्। इसके अतिरिक्त उसकी अन्य गति (तीसरी स्थित्ति) नहीं है, क्योंकि जिसकी प्रतीति न होती हो ऐसी कोई वस्तु व्यवहार के योग्य नहीं होती।

यदि यह कहा जाय कि रस की आन्तर प्रतीति ही भोगीकरण रूप है [उसका बाह्यरूप मान्य नहीं] और वह रत्यादि रूपा है। तो ऐसा मान लेने पर भी केवल वह नाट्यसम्बन्धी एक दोष ही तो रह नहीं जाता है [न तावन्मात्रम्]। जितने शृङ्गारकरुण आदि रस हैं उतने ही प्रकार की आस्वादन स्वभाववाली भोगात्मक प्रतीतियाँ हैं और उनके भी सत्त्व, रज, तम आदि के प्रधान-अप्रधानभागवत जो वैचित्र्य है उनके कारण रस के अनन्त भेद या व्यापारों की कल्पना करनी पड़ेगी तब अभिधा; भावकत्व तथा भोजकत्व रूप तीन व्यापारमात्र ही कैसे स्वीकार किये जा सकेंगे [या तीन व्यापार की सीमा कैसे रह पायेगी !]

अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकृतमेव च।
अभिधाधामतां याते शब्दार्थालङ्कृती ततः॥
भावनाभाव्य एषोऽपि शृङ्गारादिगणो मतः।
तद्भोगीकृतरूपेण व्याप्यते सिद्धिमन्नरैः[१]॥ १॥

यत् 'काव्येन भाव्यन्ते रसा' इत्युच्यते, तत्र विभावादिजनित-

१. सिद्धिमान्नरः इति ख पुस्तके पाठः।

चर्वणात्मकास्वादरूपप्रत्ययगोचरतापादनमेव यदि भावनं तदभ्युपगम्यत एव। यदुक्तम्—

"संवेदनाख्यया व्यङ्ग्य (स्व)परसंवित्तिगोचरः।
आस्वादनात्मानुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते॥" इति

तत्र व्यज्यमानतया व्यङ्ग्यो लक्ष्यते। अनुभवेन च तद्विषय इति मन्तव्यम्।

एक अभिधा, दूसरी भावना और तीसरी भोगीकृतरूपा शक्ति [अर्थात् भोजकत्व] ये तीन शब्द के व्यापार माने गये हैं। उनसे पहले शब्दार्थ और अलंकार अभिधा के विषय वाच्य रूप में उपस्थित हो जाते हैं। इसके बाद दूसरे (भावना नामक) व्यापार से साधारणीकरण द्वारा जो भावित होता है वह शृङ्गारादि-समूह भी भोगीकृत रूप में भावुक सामाजिक द्वारा विशेष रूप से अनुभव किया जाता है (आप्यते) या आस्वादित होता है।

यह जो कहा जाता है कि 'काव्य में रसों की भावना की जाती है।' उसमें यदि विभावादि से उत्पन्न चर्वणात्मक आस्वाद रूप प्रतीति को विषय बनाना ही यदि भावना है तो यह हमें भी स्वीकार्य है (पर इस प्रकार भावकत्व व्यापार की सिद्धि नहीं होती)। और जो यह कहा गया है कि :—

"संवेदनात्मक व्यङ्ग्य पर (प्रधान) संवित्ति (दूसरे व्यक्ति की प्रत्यक्ष प्रतीति) का विषय और आस्वादनरूप में साक्षात्कृत (अनुभव किया जाने वाला) रस काव्य का प्रयोजन है।"

इनमें व्यज्यमान रूप से व्यङ्ग्य का बोध होता है और अनुभव पद से (रस या व्यङ्ग्य का अनुभव या अर्थव्यञ्जनारूप से) उसी का विषय रस है यह बोध होता है (अतएव व्यञ्जना शक्ति के अतिरिक्त भोजकत्व व्यापार मानने की आवश्यकता नहीं।)

*अभिव्यक्तिवाद—

नन्वेवं कथं रसमास्ताम्। किं कुर्मः?

तो फिर ऐसी स्थिति में रसतत्त्व कहाँ रहेगा ? (कैसे सिद्ध होगा ?) । (और इस प्रकार खण्डन होने पर रसतत्त्व तथैव विद्यमान ही रहे तो फिर) हम क्या कर सकते हैं !

क्योंकि :—

आम्नायसिद्धे किमपूर्वमेतत् संविद्विकासेऽधिगतागमित्वम् ।
इत्थं स्वयं ग्राह्यमहार्हहेतुद्वन्द्वेन किं दूषयिता न लोकः ॥ [क]

ऊर्ध्वोर्ध्वमारुह्य यदर्थतत्त्वं धीः पश्यति श्रान्तिमवेदयन्ती ।
फलं तदाद्यैः परिकल्पितानां विवेकसोपानपरम्पराणाम् ॥ [ख]

चित्रं निरालम्बनमेव मन्ये प्रमेयसिद्धौ प्रथमावतारम् ।
तन्मार्गलाभे सति सेतुबन्धपुरप्रतिष्ठादि च विस्मयाय ॥ [ग]

तस्मात्सतामत्र न दूषितानि मतानि तान्येव तु शोधितानि ।
पूर्वप्रतिष्ठापितयोजनासु मूलप्रतिष्ठाफलमामनन्ति ॥ [घ]

यह शास्त्रसिद्ध (आम्नायसिद्ध) विषय की विवेचना के विषय में कोई नयी बात नहीं है (क्योंकि वैदिकसिद्धान्त का खण्डन करने से नित्य सिद्धान्तों का खण्डन तो नहीं होता किन्तु) बुद्धि का विकास होकर (प्रतिपाद्य) वस्तु का स्वरूप अधिकाधिक प्रामाणिक और स्पष्ट होता है । अन्यथा तर्क-वितर्क से विषय का स्पष्टीकरण न हो तो जो स्वतःप्रमाण रूप बहुमूल्य रस है उसके सम्बन्ध में विरोध करने से क्या लौकिक प्रमाण दूषित नहीं होगा ? [आशय यह कि स्वतःप्रमाण वेद का विरोधी प्रमाण ही शब्दात्मक स्वतःप्रमाण वेद के सामने बाधित या दूषित हो जायेगा ।] [क]

विवेचक विद्वानों की बुद्धि अधिकाधिक ऊँचे प्रदेशों पर आरोहण करने पर भी शान्ति का अनुभव नहीं करते हुए जिस अर्थतत्त्व का अन्वेषण करती है वही मुख्य है । और विवेक की प्रारम्भिक सीढ़ी परम्परागत रूप में (इसमें) सहायक होकर उस तत्त्व तक पहुँचाती है क्योंकि उनका ही यह परिणाम (फलम्) होता है । [ख]

यह आश्चर्य की बात है कि प्रमेय की सिद्धि में रचना का प्रथम आधार बिना किसी आलम्बन जैसा होता है; किन्तु एक बार आधार बन जाने पर ऊपर उनके पुलों की रचना या नगरों का निर्माण आश्चर्यजनक नहीं होता। [ग]

अतएव आरम्भ से ही प्राचीन आचार्यों के मतों में दूषण दिखला कर उनका खण्डन करना हमारा उद्देश्य नहीं है अपि तु विशेषपरीक्षा द्वारा उन्हें ही संशोधित किया गया है। इस प्रकार पूर्वाचार्यों द्वारा स्थापित मतों की विवेचना करने के कारण हमें भी मूलसिद्धान्त की स्थापना जैसा ही फल प्राप्त होता है। [अर्थात् पूर्वाचार्यों के व्याख्यान में रस-निष्पत्ति का सोपानवत् क्रमिक-विकास दृष्टिगत होने से उनका निदर्शन तथा विवेचन दोनों ही रस-सिद्धान्त की मौलिक स्थापना के आधार है।] [घ]

तद्युच्यतां परिशुद्धतत्त्वम्। उक्तमेव मुनिना न त्वपूर्वं किञ्चित्। तथाह्याह "काव्यार्थान् भावयन्ती" ति (अ-७) तत्काव्यार्थो रसः। तथा हि 'सत्रमासत' 'तामग्नौ प्रादादि' त्यादावर्थितादिलक्षितस्याधिकारिणः प्रतिपत्तिमात्राददतितीव्रप्ररोचितात्प्रथमप्रवृत्तादनन्तरमधिकेवोपात्तकालतिरस्कारेणैवास्ते प्रददातीत्यादिरूपासंक्रमणादिस्वभावा यथादर्शनंप्रति भावनाविधिनियोगादिभाषाभिर्व्यवहृता प्रतिपत्तिस्तथैव काव्यात्मकादपि शब्दादधिकारिणोऽधिकास्ति प्रतिपत्तिः।

अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदयः। तस्य च ''ग्रीवाभङ्गाभिराम''मिति (शाकु-अ-१।७) "उमापि नीलालके" ति (कुमा-३-६२) 'हरस्तु किञ्चि' (कुमा-३-६७) दित्यादिवाक्येभ्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तरं मानसी साक्षात्कारात्मिकापहसिततत्तद्वाक्योपात्तकालादिविभागा तावत्प्रतीतिरुपजायते।

तस्यां च यो मृगपोतकादिर्भाति तस्य विशेषरूपत्वाभावाद्भीत इति वासकस्यापारमार्थिकत्वाद्भयमेव परं देशकालाद्यनालिङ्गितं तत एव भीतोऽहं भीतोऽयं शत्रुर्वयस्यो मध्यस्थो वेत्यादिप्रत्ययेभ्यो दुःखसुखादिकृतभानादिबुद्ध्यन्तरोदयनियमवत्तया विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षणं निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्यं साक्षादिव हृदये निविशमानं चक्षुषोरिव विपरिवर्तमानं भयानको रसः। तथाविधे हि भये नात्मात्यन्तं तिरस्कृतो न विशेषत उल्लिखितः। एवं परोऽपि।

प्रश्न—तब फिर रस का परिशुद्ध या निर्दुष्ट तत्त्व (स्वरूप) क्या है ? उत्तर—यह तो भरतमुनि ने कह दिया है और वह कोई अपूर्व या नयी बात नहीं है जो कही जाय। जैसा कि भरतमुनि ने कहा भी है—'काव्य के अर्थों को (जो) प्रकाशित करते हैं।' और ये काव्यार्थ ही रस हैं।

जैसा कि ब्राह्मणग्रन्थों के 'वनस्पतयः सत्रमासत' 'प्रजापतिः आत्मनो वपामुदाखिदत् तामग्नौ प्रादात (तै० ब्रा० ।') ['वनस्पतियाँ आदि यज्ञ में बैठी' तथा 'प्रजापति ने अपनी चर्बी निकाली और उसे अग्नि में हवन कर डाला'] इत्यादि अर्थवाद वाक्यों में सामर्थ्यादि से लक्षित अधिकारी को मन्त्रों का आह्वान करते समय पहले तो अत्यन्त प्रशंसित सामान्य अर्थ की प्रतीति मात्र होती है पर उसके बाद वर्णित भूतकाल की उपेक्षा कर प्रत्यक्ष या वर्तमान अनुभव रूप में संक्रान्त होने वाली विधि नियोग आदि शब्दों के द्वारा व्यवहृत होने वाली भावना ही अधिक प्रतीत होती है। इसी प्रकार काव्यात्मक काव्य से भी अधिकारी सहृदय सामाजिक को प्रत्यक्ष सामान्य वाक्यार्थज्ञान मात्र से रसात्मक व्यङ्ग्यार्थ का अधिक या अतिरिक्त बोध हो जाता है।

(काव्यादि के प्रदेश में) निर्मल प्रतिभाशील हृदय वाला सामाजिक व्यक्ति अधिकारी माना जाता है। और उसे (शाकुन्तल के) 'ग्रीवाभङ्गाभिरामम्' और (कुमारसंभव के) 'उमापि नीलालक' तथा 'हरस्तु किञ्चित्' इत्यादि काव्यवाक्यों द्वारा वाक्यार्थ की प्रतीति के बाद उक्त प्रकार

के वाक्यों में गृहीत कालादि (देश-कालादि) के विभाग की उपेक्षा करने वाली मानसी साक्षात्कारात्मिका प्रतीति होती है। और उस प्रतीति में मृगशावक आदि का जो विषयरूप में भान होता है उसके साधारणीकरण हो जाने के कारण विशेषरूप के अभाव हो जाने से 'यह भीत है' ऐसी प्रतीति होती है और भय के उत्पादक (दुष्यन्तादि) के अवास्तविक होने से भय की देश-काल से असम्बद्ध प्रतीति होती है। और इसीलिये 'मैं भीत हूँ, यह भीत है अथवा यह शत्रु, मित्र या मध्यस्थ भीत है।' इत्यादि सुख-दुःख आदि की प्रतीति से नियमतः अन्य प्रतीति को उत्पन्न करने वाले विघ्नबहुल (लौकिक) ज्ञानों से भिन्न, निर्विघ्न बोध के द्वारा हृदय में साक्षात् प्रविष्ट होता हुआ सा और नेत्रों के सामने घूमता हुआ सा 'भयानकरस' आ जाता है। इस प्रकार के भय में सामाजिक की आत्मा न अत्यन्त उपेक्षित ही होती है और न विशेष रूप से उल्लिखित [अर्थात् संसक्त] ही रहती है [कि उनके भावावेश में चलने लगे] इसी प्रकार शृङ्गार के अन्य उदाहरण भी समझना चाहिए।

तत एव न परिमितमेव साधारण्यमपि तु विततं, व्याप्तिग्रह इव धूमाग्न्योर्भयकम्पयोरेव वा तदत्र साक्षात्कारायमाणत्वेन परिपोषिका नटादिसामग्री, यस्यां वस्तुसतां काव्यार्पितानां च देशकालमात्रादीनां नियमहेतूनामन्योन्यप्रतिबन्धबलादत्यन्तमपसरणे स एव साधारणीभावः सुतरां पुष्यति अत एव सर्वसामाजिकानामेकघनतैव प्रतिपत्तेः सुतरां रसपरिपोषाय सर्वेषामनादिवासनाचित्रीकृतचेतसां वासनासंवादात्। सा चाविघ्ना संवित्, चमत्कारस्तज्जोऽपि कम्पपुलकोल्लुकसनादिर्विकारश्चमत्कारः। यथः—

अज्जवि हरिणो चमक्कइकहाइं ण मंदरेण कलिआइं।
चंदकलाकंदलसच्छहाइं लच्छिए अंगाइं॥
[अद्यापि हरेः चमत्कृतिकराणि न मन्दरेण कलितानि।
चन्द्रकला-कन्दलसच्छायानि लक्ष्म्या अङ्गानि॥]

और फिर (विभावादि का उसी देश-काल में) साधारणीकरण परिमित नहीं होता अपि तु विस्तृत होता है। धूम और अग्नि के व्याप्तिग्रह (साहचर्य नियम) के समान भय और कम्प आदि के व्याप्तिग्रह समान विस्तार लिये होते हैं। जौर यहाँ साक्षात्कारात्मक रूप से नटादि सामग्री पोषण करने वाली होती है। जिसमें काव्यवस्तु में निबद्ध देश, काल तथा प्रमाता आदि को वास्तविक देश, काल आदि के नियामक कारणों के पारस्परिक बन्धन से अत्यन्त अलग कर देने पर साधारणीकरण व्यापार अत्यन्त पुष्ट हो जाता है। और इसीलिये अनादि वासना से चित्रित चित्त वाले समस्त सामाजिक सहृदयों की समान वासना हो जाने के कारण सभी को समान रस-प्रतीति होती है। यह विघ्नों से सर्वथा रहित आनन्दपरक चमत्कारात्मक प्रतीति होती है और उससे उत्पन्न होने वाले कम्प, रोमाञ्च तथा शरीर को उछाल कर कम्पित करना (उल्लुकसनम्) आदि अनुभावात्मक विकार भी चमत्कार कहलाते हैं। जैसे :—

आज भी मन्दराचल ने अपने स्पर्श से श्रीविष्णु के शरीर में चमत्कार उत्पन्न करने वाले चन्द्र की कला के समान लक्ष्मी के सुन्दर अंगों को नहीं पहचाना जान पड़ता है।

तथा हि स-चातृप्तिव्यतिरेकेणाच्छिन्नो भा (भो ?) गावेश इत्युच्यते। भुञ्जानस्याद्भुतभोगात्मस्पन्दाविष्टस्य च मनः करणं चमत्कार इति। स च साक्षात्कारभावो मनसाध्यवसायो वा सङ्कल्पो वा स्मृतिर्वा तथात्वेन स्फुरत्य (न्न ?) स्ति (स्तु ?)। यदाह—

यहाँ चमत्कार शब्द पुलकादि के लिये प्रयुक्त किया गया है और इससे निर्विघ्न बोध रूप अतृप्ति से भिन्न (अर्थात् पूर्णतृप्ति रूप) भावावेश [भोगावेश ?] उत्पन्न होता है। इस प्रकार भोगात्मक व्यापार में संलग्न मन का भोग करने वाले के अद्भुत व्यापार से (आविष्ट मन का) चमत्कृत हो उठना ही 'चमत्कार' है [जो सामान्य से भिन्न असाधारणात्मा होता है।] और चमत्कृत मानस की यह साक्षात्कारात्मक (रस) अनुभूति अध्यवसाय, संकल्प या स्मृति के रूप में प्रतीत होती है। जैसा कि निम्न पद्य में (कालिदास ने) कहा भी है :—

"रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि" (शाकु० ५।२)

इत्यादि, अत्र हि स्मरतीति या स्मृतिरुपदर्शिता सा न तार्किकप्रसिद्धा, पूर्वमेतस्यार्थस्यानुभूतत्वात् । अपि तु प्रतिभानापरपर्यायसाक्षात्कारस्वभावेयमिति । सर्वथा तावदेषास्ति प्रतीतिरास्वादात्मा, यस्यां रतिरेव भाति । तत एव विशेषान्तरानुपहितत्वात्सा रसनीया सती न लौकिकी न मिथ्या नानिर्वाच्या न लौकिकतुल्या न तदारोपादिरूपा ।

तथैव चोपचयावस्थासु देशाद्यनियन्त्रणादनुकारोऽ[प्यस्तु भावा]नुगामितया कारणाद् विषयसामग्र्यापि वा भवतु विज्ञानवादावलम्बनात्, सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः ।

रमणीय पदार्थों को देख अथवा मधुर शब्दों को सुनकर सुखी व्यक्ति भी उत्कण्ठित हो उठता है (जैसे किसी प्रिय जन से उसका विछोह हो गया हो) अतः यह निश्चय ही वासना रूप से अन्तःकरण में स्थित अज्ञातपूर्व पिछले जन्म के परिचय या मैत्री वाले अपने किसी सुहृद्जन का स्मरण करता है । (अभि० शा० अ० ५।२)

यहाँ कवि ने जिस स्मृति को 'स्मरति' पद से प्रदर्शित किया है वह नैयायिकों की 'ज्ञातविषय ज्ञानं स्मृतिः (अर्थात् पूर्वानुभवजन्य संस्कार से बोधित ज्ञान का स्मरण होना) नहीं है । क्योंकि पहले से इस अर्थ का अनुभव नहीं हुआ है [अतः मनोवैज्ञानिक स्मृति सम्भव नहीं ।] किन्तु यहाँ स्मरण शब्द प्रतिभान नामवाले प्रसिद्ध साक्षात्कारात्मक स्वभाव रूप अर्थ को ही प्रतीत करवाता है । और आस्वादन स्वरूपा यह ऐसी प्रतीति है जिसमें निर्विघ्न रूप से रति आदि भावों का ही भान होता है । अतएव अन्य

विशेष भेदक धर्मों से उपहित न होने के कारण आस्वादन के योग्य होकर भी वह न लौकिक, न मिथ्या, न अनिर्वचनीय और न लौकिक सदृश या उसके आरोपादि के रूप में यह काव्यात्मक अनुभव नहीं समझा जा सकता है।

इस प्रकार [विभावादि से उपचित स्थायीभाव को रस मानने वाले भट्टलोल्लट के मतानुसार] रत्यादि की उपचयावस्था में देशादि के अनियन्त्रित होने से अनुकरण भी भावानुगामी रूप में वैसा ही देशकाल से अनालिङ्गित होता है। तथा विज्ञानवाद का अवलम्बन करने से बाह्य विषय सामग्री [विभावानुभावादि] भी वैसी ही [देश काल से अस्पष्ट] हो जाती है। प्रत्येक अवस्था में आस्वादनात्मा एवं निर्बाध प्रतीति से ग्रहण किया हुआ भाव ही रस है।

तत्र विघ्नापसारका विभावप्रभृतयः। तथा हि–लोके सकलविघ्नविनिर्मुक्ता संवित्तिः। एवं चमत्कारनिर्वेशरसनास्वादनभोगसमापत्तिलयविश्रान्त्यादिशब्दैरभिधीयते। विघ्नाश्चास्यां (सप्त)। (१) प्रतिपत्तावयोग्यता सम्भावनाविरहो नाम, (२) स्वगतपरगतत्व नियमेन देशकालविशेषावेशः, (३) निजसुखादिवशीभावः, (४) प्रतीत्युपायवैकल्यम्, (५) स्फुटत्वाभावः, (६) अप्रधानता (७) संशययोगश्च।

इस प्रसङ्ग में विघ्नों को दूर करने वाले विभाव आदि होते हैं। जैसे लोक में विघ्नों से रहित जो प्रतीतियाँ हैं उन्हें चमत्कार, निर्वेश, रसन, आस्वादन, भोग, समापत्ति, लय तथा विश्रान्ति शब्दों से जाना जाता [कहा जाता है] है। इन रस प्रतीति में (ये) सात विघ्न होते हैं :— (१) ज्ञान या प्रतिपत्ति के अयोग्य होना अर्थात् (रस की) सम्भावना का अभाव, (२) स्वगत या परंगत रूप से देशकाल विशेष का आवेश [सम्बन्ध], (३) अपने निजी सुख-दुःखादि का वशवर्ती हो जाना, (४) प्रतीति के उपायों का अभाव, (५) स्पष्ट (स्फुट) प्रतीति का न होना, (६) अप्रधानता तथा (७) संशय का योग।

तथाहि—(१) संवेद्यमसम्भावयमानः संवेद्ये संविदं विनिवेशयितुमेव न (यो) शक्नोति का तत्र विश्रान्तिरिति प्रथमो विघ्नः। तदपसारणे हृदयसंवादो लोकसामान्यवस्तुविषयः। अलोक सामान्येषु तु चेष्टितेष्वखण्डितप्रसिद्धिजनितगाढ़ारूढ़प्रत्यय-प्रसरकारी प्रख्यातरामादिनामधेयपरिग्रहः [चोपायः]। अतएव निस्सामान्योत्कर्षोपदेशव्युत्पत्तिप्रयोजने नाटकादौ प्रख्यातवस्तुविषयत्वादि नियमेन निरुप्यते न तु प्रहसनादौ। तच्च स्वावसर एव वक्ष्याम इत्यास्तां तावत्।

(१) प्रतिपत्तावयोग्यता—

जैसे कि—ज्ञान के विषय को असम्भव समझने वाला व्यक्ति उस विषय में अपनी प्रतीति को निश्चित नहीं कर पाता है और बिना इस निश्चय के विश्रान्ति (आनन्दानुभूति) की सम्भावना कहाँ हो सकती है। इसलिये रसास्वाद का यह प्रथम विघ्न है।

उसके निराकरण का उपाय अन्य सामाजिकों के साथ लौकिक सामान्य वस्तुओं के विषय में हृदय का तदात्म्य है। (समुद्रवंधनादि) लोकोत्तर व्यापारों में [असम्भावना के निराकरण हेतु] परम्परागत प्रसिद्धि से होने वाले (बद्धमूल) विश्वास को परिपुष्ट करने वाले प्रख्यात आदि का अभिनेता में ग्रहण करना। इसीलिए लोकोत्तर उत्कर्ष के प्रदर्शन के द्वारा उपदेश तथा ज्ञान का प्रयोजन रखने वाले नाटकादि में नियमपूर्वक प्रख्यात विषय [नायक तथा वस्तु] आदि का निरूपण रखा जाता है [क्योंकि इन नाटकों में रसात्मक माध्यम से आदर्श की प्रतिष्ठा करना इष्ट होता है] इसके विपरीत प्रहसन आदि में प्रख्यात वस्तु या नायक ग्रहण न करके लोक सामान्य में प्रचलित कथानकों को प्रस्तुत किया जाता है। इनका निरूपण हम नाटक, प्रहसन आदि के लक्षणों के व्याख्यान स्थल (ना० शा० अ० २०) पर करेंगे अतएव यहाँ इसका विस्तार अपेक्षित है।

(२) स्वैकगतानाञ्च सुखदुःखसंविदामास्वादे यथासम्भवं तदपगमभीरुतया वा, तत्परिरक्षाव्यग्रतया वा, तत्सदृशार्जिजीविषया

वा, तज्जिहासया वा, तत्प्रचिख्यापयिषया वा, तद्गोपनेच्छया वा, प्रकारान्तरेण वा संवेदनान्तरसमुद्गम एव परमो विघ्नः।

(२) स्वगतपरगतत्वनियमेन देशकालविशेषावेशः—

जब सामाजिक अपने निजी-दुःख का अनुभव (आस्वादन) करने लगता है तो कभी उसके नष्ट होने के भय से, और कभी उसकी रक्षा के लिए व्यग्र होने से उसी की स्थिति जैसी स्थिति (जीवनेच्छा) प्रकट करता है। अथवा उसके (दुःख के) परित्याग की इच्छा से, अथवा उसे प्रकट करने की या छिपाने की इच्छा से अथवा अन्य किसी प्रकार से अन्य ज्ञानों (संवेदान्तर) के उत्पन्न होने से रसास्वाद में अतिशय विघ्न होता है। [अर्थात् ये विविध भावात्मक दशाएँ रसानुभूति में विघ्न उत्पन्न करती हैं]।

परगतत्वनियमभाजामपि सुखदुःखानां संवेदने नियमेन स्वात्मनि सुखदुःखमोहमाध्यस्थ्यादिसंविदन्तरोद्गमनसम्भावनादवश्यम्भावी विघ्नः। तदपाकरणे 'कार्यो नातिप्रसङ्गोऽत्र' (ना० शा० ५–१५८) इत्यादिना 'पूर्वरङ्गविधिं प्रति' इति पूर्वरङ्गानिगूहनेन 'नटी विदूषको वापि' (ना० शा० २२।३०) इति लक्षितप्रस्तावनावलोकनेन च यो नटरूपताधिगमस्तत्पुरस्सरः प्रतिशीर्षकादिना तत्प्रच्छादनप्रकारोऽभ्युपायः, अलौकिकभाषादि-भेद-लास्याङ्ग-रङ्गपीठ–मण्डप–कक्ष्यादिपरिग्रह-नाट्यधर्मि-सहितः। तस्मिन् हि सति अस्यैव अत्रैव एतर्ह्येव च सुखं दुःखं चेति न भवति। प्रतीतिस्वरूपनिह्नवात्, रूपान्तरस्य चारोपितस्य प्रतिभासंविद्विश्रान्तिवैकल्येन स्वरूपे विश्रान्त्यभावात्। सत्ये तदीयरूपनिह्नवमात्र एव पर्यवसानात्।

और यदि यह मान लिया जाए कि रस की स्थिति नटगत (अनुकार्यगत) है तो परगतत्व नियम से युक्त होने से उसके सुख दुःख आदि के संवेदन से सहृदय सामाजिक को भी अपने अन्दर निश्चय रूप से

सुख-दुःख मोह या मध्यस्थता का ज्ञान होगा; यह अन्यज्ञानात्मक स्वरूप रसानुभूति में विघ्न है।

इन विघ्नों के निराकरण के लिए नाट्यप्रयोग के विषय में 'कार्यो नातिप्रसङ्गोऽत्र' (ना० शा० ५।१५८) 'पूर्वरङ्गविधिं प्रति' इत्यादि से पूर्वरङ्ग के दर्शन एवं 'नटी विदूषको वापि' (ना० शा २२।३०) इत्यादि से लक्षित प्रस्तावना के अवलोकन से जो नटस्वरूप की प्रतीति होती है उसके साथ ही अभिनेता (अनुकार्य) की वेशभूषा के अनुरूप मुकुट आदि के द्वारा अलौकिक भाषादि के प्रकार, नृत्यादि (लास्य) के अंग, रङ्गपीठ तथा मण्डप के कक्षाविभागों आदि के परिग्रह रूप नाट्यधर्मी सहित नट के स्वरूप का आच्छादन करना भी एक उपाय है। और उसके होने पर इसी को यहाँ ही और इसी के द्वारा सुख या दुःख होता है यह नहीं कहा जा सकता है। (नट की) प्रतीति के स्वरूप का (मुकुट आदि से) आच्छादन होने से आरोपित रूपान्तर का प्रतिभा से उत्पन्न ज्ञान बना रहने से, अपने स्वरूप में विश्रान्ति का अभाव होने से और स्वरूप में विश्रान्ति होने पर नट के स्वरूपाच्छादन में ही समाप्त हो जाने से विघ्नों का निराकरण हो जाता है।

तथाहि—आसीनपाठ्यपुष्पगण्डिकादि लोके न दृष्टम्। न च तन्न किञ्चित् कथञ्चित् सम्भाव्यत्वादिति स एष सर्वो मुनिना साधारणीभावसिद्ध्या रसचर्वणोपयोगित्वेन परिकरबन्धः समाश्रित इति तत्रैव स्फुटीभविष्यतीति तदिह तावन्नोद्यमनीयम्। ततः स एष स्वपरनियतताविघ्नापसारणप्रकारो व्याख्यातः।

और आसीनपाठ्य तथा पुष्पगण्डिका आदि लोक में तो दिखाई नहीं देते। इससे वे नहीं होते यह बात नहीं है, क्योंकि उनकी नाट्य में किसी प्रकार सम्भावना तो हो ही सकती है। रसास्वादन के उपयोगी इन सभी कारणों को भरतमुनि ने साधारणीकरण की सिद्धि के द्वारा संग्रहीत कर दिया है यह बात यथास्थान स्पष्ट करेंगे अतएव यहाँ उसके विचार की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार यह स्वगत परगतत्व नियम से विघ्नों के निराकरण का भेद बतलाया गया।

(३) निजसुखादिविवशीभूतश्च कथं वस्त्वन्तरे संविदं विश्रामयेदिति तत्प्रत्यूहव्यपोहनाय प्रतिपदार्थनिष्ठैः साधारण्यमहिम्ना सकलभोग्यत्वसहिष्णुभिः, शब्दादिविषयमयीभिः (यै ?) आतोद्यगानविचित्रमण्डपपदविदग्धगणिकादिभिरुपरञ्जनं समाश्रितम् येनाहृदयोऽपिहृदयवैमल्यप्राप्त्या सहृदयीक्रियते। उक्तं हि "दृश्यं श्रव्यं च" (ना० शा० १।२२)

(४) किञ्च प्रतीत्युपायानामभावे कथं प्रतीतिभावः।

(५) अस्फुटप्रतीतिकारिशब्दलिङ्गसम्भवेऽपि न प्रतीतिर्विश्राम्यति स्फुटप्रतीतिरूपप्रत्यक्षोचितप्रत्ययसाकाङ्क्षत्वात्, यथाहुः—'सर्वा चेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपरेति' (न्या० सू० भा० १-३)। स्वसाक्षात्कृते आगमानुमानशतैरप्यनन्यथाभावस्य स्वसंवेदनात्। अलातचक्रादौ साक्षात्कारान्तरेणैव बलवता तत्प्रमित्यवधारणादिति लौकिकस्तावदयं क्रमः। तस्मात्तदुभयविघ्नविघातेऽभिनया लोकधर्मिवृत्तिप्रवृत्त्युपस्कृताः समभिषिच्यन्ते। अभिनयनं हि सशब्दलिङ्गव्यापार[वि]सदृशमेव प्रत्यक्षव्यापारकल्पमिति निश्चेष्यामः।

(३) निजसुखादिविवशीभावः—

जो पुरुष अपने निजी सुख दुःख से अक्रान्त हो जाता है वह अन्य वस्तु में अपना ध्यान कैसे लगा सकता है ? इसलिये रसानुभूति के इस विघ्न के निराकरण के लिये (नाटक आदि में) प्रत्येक पदार्थ में साधारणीकरण के प्रभाव की स्थिति रखी जाती है जिसके प्रभाव से सब भोग्य, शब्दादि विषयों से युक्त, विविध वाद्ययन्त्रों के प्रयोग, गायन एवं आश्चर्यकारी नृत्य आदि में निपुण नर्तकी आदि के द्वारा प्रस्तुत नृत्यादि प्रयोगों का आश्रय लेकर सामाजिक के मनोरंजन का आश्रय लिया जाता है। इससे शुष्क व्यक्ति भी हृदय की निर्मलता और सरसता प्राप्त कर सहृदय बन

जाता है। अतएव कहा है कि 'दृश्य और श्रव्य' दोनों काव्य के प्रकार रसास्वाद के उपाय हैं।

(४) प्रतीत्युपायवैकल्यम् तथा (५) स्फुटत्वाभावः—

(४) प्रतीति के उपायों के अभाव में प्रतीति कैसे हो सकेगी।

(५) और अस्पष्ट या परोक्ष प्रतीति के जनक शब्द और अनुमान के होने पर भी साक्षात्कारात्मक स्पष्ट (स्फुट) प्रतीति रूप प्रत्यक्ष की आकांक्षा होने के कारण उनसे उत्पन्न प्रतीति की विश्रान्ति नहीं होती। जैसा कि कहा भी है कि 'यह सारी प्रमिति (अनुभूति) प्रत्यक्ष परक है' (न्या० सू० १–३)। जिस वस्तु का स्वतः प्रत्यक्ष या साक्षात्कार होता है उसे सैकड़ों शब्द और अनुमान प्रमाण परिवर्तित नहीं कर सकते। और अलातचक्र आदि में प्रबल साक्षात्कारात्मक ज्ञान के कारण ही प्रतीति का लौकिक क्रम निश्चित होता है। अतएव दोनों से उत्पन्न विघ्नों के निराकरण के लिये लोकधर्मी, वृत्ति तथा प्रवृत्तियों से युक्त अभिनयों को रखा गया है। क्योंकि अभिनय शब्द तथा अनुमान प्रमाण से भिन्न प्रकार का प्रत्यक्ष—(जैसा) व्यापार है यह आगे निश्चय करेंगे।

(६) अप्रधाने च वस्तुनि कस्य संविद्विश्राम्यति। तस्यैव प्रत्ययस्य प्रधानान्तरं प्रत्यनुधावतः स्वात्मन्यविश्रान्तत्वात्। अतोऽप्रधानत्वं जडे विभावानुभाववर्गे व्यभिचारिनिचये च संविदात्मकेऽपि नियमेनान्यमुखसंप्रेक्षिणि संभवतीति तदतिरिक्तः स्थाय्येव तथा चर्वणापात्रम्।

तत्र पुरुषार्थनिष्ठाः काश्चित्संविद इति (एव) प्रधानम्। तद्यथा—रतिः कामतदनुषङ्गिधर्मार्थनिष्ठा। क्रोधस्तत्प्रधानेष्वर्थनिष्ठः कामधर्मपर्यवसितोऽप्युत्साहः, समस्तधर्मादिपर्यवसितस्तत्त्वज्ञानजनितनिर्वेदप्रायो विभावो मोक्षोपाय इति तावदेषां प्राधान्यम्।

(६) अप्रधानता—

अप्रधान वस्तु में किसकी अनुभूति विश्रान्त हो सकती है? और अप्रधान (प्रतीत) प्रधान की ओर अग्रसर होकर भी अपने आप में विश्रान्त

नहीं हो सकता है। [इसलिये रस की अनुभूति में अप्रधानता विघ्न है]। यह अप्रधानत्व अचेतन विभाव, अनुभाव के समुदाय में और ज्ञान-रूप होने पर भी नियमतः स्थायीभाव का मुँह जोहने वाले व्यभिचारिभाव से भी हो सकता है; अतएव इन विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों से अतिरिक्त स्थायीभाव ही चर्वणा के योग्य होता है।

उनमें पुरुषार्थ से सम्बद्ध होकर कुछेक ही रसानुभूति प्रधान हो जाती है। जैसे की रति स्थायीभाव काम-पुरुषार्थ से मुख्यरूप से तथा धर्म और अर्थ पुरुषार्थों से गौणरूप से सम्बद्ध होता हैं। क्रोध प्रधान रूप में अर्थ पुरुषार्थ से सम्बद्ध होता है और यद्यपि उत्साह स्थायी की परिसमाप्ति काम में होती है पर यह धर्म और अर्थ आदि सभी पुरुषार्थों से (भी) सम्बद्ध होता है। और तत्त्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद स्थायी और मुनि आदि विभावों वाले शान्त रस में मोक्ष पुरुषार्थ मुख्यरूप से सम्बद्ध होता है। इसलिये इन (रति, क्रोध, उत्साह और निर्वेद आदि) स्थायीभावों की प्रधानता होती है।

यद्यपि चैषामप्यन्योन्यं गुणभावोऽस्ति, तथापि तत्तत्प्रधाने रूपके तत्तत्प्रधानं भवतीति रूपकभेदपर्यायेण सर्वेषां प्राधान्यमेषां लक्ष्यते। अदूरभागाभिनिविष्टदृशस्त्वेकस्मिन्नपि रूपके पृथक्प्राधान्यम्।

और यद्यपि इन चारों स्थायीभावों का एक दूसरे के प्रति गौणभाव भी होता है पर [अर्थात् किसी एक नाटक में विभिन्न रसों की स्थिति में चारों स्थायीभावों की संयोजना की जा सकती है और ऐसी स्थिति में] प्राधान्य की दृष्टि से जो रस रूपकों में प्रधान होगा उसी रस को वहाँ प्रधानता रहेगी [क्योंकि समग्र नाटक में एक रस ही मुख्य होता है] इसलिए रूपकों के भेदों के अनुसार उनमें प्रधान रस की स्थिति कुछ आचार्य मानते हैं पर सूक्ष्मविवेचकों के लिए एक रूपक में भी इन स्थायीभावों की अलग-अलग प्रधानता भी हो सकती है।

तत्र सर्वेऽमी सुखप्रधानाः स्वसंविच्चर्वणरूपस्यैकघनस्य प्रकाशस्यानन्दसारत्वात्। तथा हि—एकघनशोकसंविच्चर्वणेऽपि लोके स्त्रीलोकस्य हृदयविश्रान्तिरन्तरायशून्यविश्रान्तिशरीरत्वात्,

अविश्रान्तिरूपतैव दुःखम्। तत एव कापिलैर्दुःखस्य चाञ्चल्यमेव प्राणत्वेनोक्तं रजोवृत्तितां वदद्भिरित्यानन्दरूपता सर्वरसानाम्। किन्तू-परञ्जकविषयवशात्तेषामपि किं नास्ति कटुकितास्पर्शोऽस्ति वीरस्येव स हि क्लेशसहिष्णुतादिप्राण एव। एवं रत्यादीनां प्राधान्यम्।

उनमें ये सभी रस सुखप्रधान होते हैं क्योंकि स्वसाक्षात्कारात्मक आस्वादस्वरूप ज्ञान आनन्दमय होता है। और शोकानुभव भी निर्विघ्न विश्रान्ति रूप अनुभूति के कारण आनन्दपरक होता है, क्योंकि मन की अविश्रान्ति ही दुःख है। इसलिये सांख्यदर्शन के आचार्यों ने दुःख को रजोगुण की वृत्ति बतला कर चञ्चलता (अविश्रान्ति को) दुःख का मूलतत्त्व (प्राण) माना है। अतएव सभी रसों में (हृदय विश्रान्ति की स्थिति होने के कारण) आनन्दरूपता ही है। **प्रश्न**–*किन्तु कुछ रसों में वीर रस के समान उपरंजक (मिश्रित) स्थिति के कारण दुःख का स्पर्श क्या नहीं होता?* **उत्तर**—*पर वीर रस में क्लेशसहिष्णुतादि प्रधान होती है। इसी कारण रति आदि स्थायीभाव वाले चारों रसों (शृङ्गार, वीर, रौद्र तथा शान्त) की अन्य रसों की अपेक्षा प्रधानता (होती) है।*

हासादीनां तु सातिशयं सकललोकसुलभविभावतयोपरञ्जक-त्वमिति न प्राधान्यम्। अत एवानुत्तमप्रकृतिषु बाहुल्येन न हासा-दयो भवन्ति। पामरप्रायः सर्वोऽपि हसति शोचति बिभेति परनिन्दा-माद्रियते अल्पमुखभाषित्वेन च सर्वत्र विस्मयते। रत्याद्यङ्गतया तु पुमर्थोपयोगित्वमपि स्यादेषाम्। एतद्गुणप्रधानभावाकृत एव च दशरूपकादिभेद इति वक्ष्यामः।

और हास आदि (हास्य, करुण बीभत्स, भयानक तथा अद्भुत) रसों की सर्वसाधारण में पाये जाने वाले विभावों के अधिक उपरंजक होने के कारण अप्रधानता होती है; इसीलिए उत्तम प्रकृति के पात्रों में हास आदि अधिकता से नहीं रखे जाते। तथा निम्न प्रकृति के सभी पात्र

[विशेषरूप से] हंसते हैं, शोक करते हैं, भयभीत होते हैं, दूसरों की निन्दा (भी) करते हैं और थोड़ा सुख प्राप्त करने की प्रकृति होने से (दूसरे के अधिक वैभव या सुख को देख कर) विस्मित भी होते हैं। अतः रति आदि के अङ्ग-रूप में इनकी पुरुषार्थ के प्रति उपयोगिता हो सकती है। इन रसों के गौण मुख्य भाव से ही रूपकों के दस भेद होते हैं इसे हम आगे [अध्याय ५० में] बतलाएँगे।

स्थायित्वञ्चैतावतामेव। जात एव हि जन्तु—रियतीभिः संविद्भिः परीतो भवति। तथाहि—"दुःखसंश्लेषविद्वेषी सुखास्वादनसादरः" इति न्यायेन सर्वो रिरंसया व्याप्तः स्वात्मन्युत्कर्षाभिमानितया परमुपहसन्नभीष्टवियोगसन्तप्तस्तद्धेतुषु कोपपरवशोऽशक्तौ च ततो भीरुः किञ्चिदार्जिजीषुरप्यनुचितवस्तु-विषयवैमुख्यात्मकतयाक्रान्तः किञ्चिदनभीष्टतयाऽभिमन्यमानस्तत्तत्स्वकर्तव्य-दर्शन-समुदित-विस्मयः किञ्चिच्च जिहासुरेव जायते।

स्थायीभाव—

स्थायीभाव इतने ही [अर्थात् नौ ही] होते हैं; क्योंकि प्राणी उत्पत्ति के साथ इतनी ही वासनाओं से युक्त होता है। जैसा कि कहा भी है कि—'दुःख की प्राप्ति से द्वेष करने वाला और सुख के आस्वादन में लीन' इस न्याय के अनुसार—(१) प्रत्येक व्यक्ति अपने आन्तरिक उत्कर्ष से प्राप्त रमण की इच्छा रखता है (इससे रति का स्थायी भाव प्रकट होता है) (२) वह दूसरे का उपहास करता है, (इससे हास का), (३) प्रिय के वियोग से दुःखी होता है (इससे शोक का), (४) उस (वियोग) के कारणों के प्रति क्रोध करता है (इससे क्रोध का), (५) शक्ति के अभाव में उनसे डरता है, (इससे भय का) (६) किसी की प्राप्ति की इच्छा करता है (इससे उत्साह का), (७) अनुचित विषय के प्रति घृणा से भर जाता हैं और किसी को अनभीष्ट सा मानता है, (इससे जुगुप्सा का) (८) आश्चर्य जनक अपने तथा दूसरों के कार्य देखकर विस्मित होता है (इससे विस्मय का) तथा (९) किसी के त्याग

करने की इच्छा करता है (इससे निर्वेद का स्थायीभावत्व प्रकट होता है)।

न ह्येतच्चित्तवृत्तिवासनाशून्यः प्राणी भवती। केवलं कस्यचित् काचिदधिकाचित्तवृत्तिः काचिदूना। कस्यचिदुचितविषयनियन्त्रिता कस्यचिदन्यथा। तत् काचिदेव पुमर्थोपयोगिनीत्युपदेश्याः तद्विभावकृतश्चोत्तमप्रकृत्यादिव्यवहारः।

इन चित्त वृत्तियों के संस्कारों से शून्य कोई प्राणी नहीं होता, केवल इतना ही अन्तर होता है कि किसी प्राणी में कोई चित्तवृत्ति अधिक मात्रा में होती है और किसी में कम। किसी की चित्तवृत्ति उचित विषय में नियन्त्रित होती है और किसी की इसके विरुद्ध विषय में। इसलिये कोई एक चित्तवृत्ति ही पुरुषार्थों में उपयोगी (उपयुक्त) होने से उपदेश के योग्य होती है और इन उपयुक्त चित्तवृत्तियों के विभाव के अनुसार नायकों की उत्तमादि प्रकृति का (निश्चय करके) व्यवहार प्रवृत्त होता है।

ये पुनरमी ग्लानिशङ्काप्रभृतयश्चित्तवृत्तिविशेषास्ते समुचितविभावाज्जन्ममध्येऽपि न भवन्त्येव। तथाहि—रसायनमुपयुक्तवतो मुनेर्ग्लान्यालस्यश्रमप्रभृतयो नोत्तिष्ठन्ति। यस्यापि भवन्ति विभावबलात्तस्यापि हेतुप्रक्षये क्षीयमाणाः संस्कारशेषतां तावत् नावश्यमनुबध्नन्ति। उत्साहादयस्तु सम्पादितस्वकर्त्तव्यतया प्रलीनकल्पा अपि संस्कारशेषतां नातिवर्तन्ते। कर्तव्यान्तरविषयोस्योत्साहादेरखण्डनात्।

यथाह पातञ्जलेः "न हि चैत्र एकस्यां स्त्रियां रक्त इत्यन्यासु विरक्तः" (पात० सू० व्यास० भा० २।४) इत्यादि।

और ये जो ग्लानि, शंका आदि विशेष प्रकार की चित्तवृत्तियाँ हैं वे अपने उपयुक्त विभावादि के अभाव के कारण जन्म लेने के अनन्तर शरीर में सदा विद्यमान नहीं रहतीं (किन्तु सदा उत्पन्न और विलीन होती रहती हैं)।

जैसे कि रसायन का सेवन करने वाले मुनियों में आलस्य, श्रम तथा ग्लानि आदि उत्पन्न नहीं होती। और विभावों का आश्रय से कुछ समय के लिये जिसमें उत्पन्न होने भी हैं तो कारण के दूर होने पर पुनः नष्ट हो जाते हैं, ये संस्कार रूप में निश्चित ही विद्यमान नहीं रहते। [अतः ये व्यभिचारिभाव हैं] (परन्तु) उत्साह आदि अपने कर्तव्य को पूर्ण करने के बाद विलीनप्राय हो जाने पर भी संस्काररूप से विद्यमान रह जाते हैं [अर्थात् वे निश्शेष नहीं होते] और विभिन्न कार्यों का विषय होने से (तत्तत्संबधों में स्थित रहने से) उत्साह (स्थायी) भाव की अखण्डता बनी रहती है।

जैसा कि पतञ्जलि के योगसूत्र—भाष्य में कहा भी है कि—चैत्र किसी एक स्त्री में अनुरक्त है इसका अभिप्राय यह नहीं कि वह अन्य स्त्रियों के प्रति विरक्त है" [अर्थात् अव्यक्त रूप से उनमें भी उसका अनुराग हो सकता है] इत्यादि।

तस्मात् स्थायीरूपचित्तवृत्तिसूत्रस्यूता एवामी व्यभिचारिणः स्वात्मानमुदयास्तमयवैचित्र्यशतसहस्रधर्माणं प्रतिलभमाना रक्त-नीलादिसूत्रस्यूतविरलभावोपलम्भनसम्भावितभङ्गीसहस्रगर्भस्फटिक-काचाभ्रकपद्मरागमरकतमहानीलादिमयगोलकवत् तस्मिन् सूत्रे स्वसंस्कारवैचित्र्यमनिवेशयन्तोऽपि तत्सूत्रकृतमुपकारसन्दर्भं बिभ्रतः स्वयञ्च विचित्रार्थस्थायिसूत्रञ्च विचित्रयन्तोऽन्तरान्तरा शुद्धमपि स्थायिसूत्रं प्रतिभासावकाशमुपनयन्तोऽपि पूर्वापरव्यभिचारिरत्न-च्छाया-शबलिमानमवश्यमानयन्तः प्रतिभासन्ते इति व्यभिचारिण उच्यन्ते।

संचारीभाव—

अतएव स्थायीभाव रूप चित्तवृत्ति के सूत्र में ग्रथित ये (ग्लानि आदि) व्यभिचारिभाव उत्पत्ति और लय होने की अनेक विचित्रताओं [विशिष्टताओं] से युक्त अपने स्वरूप को प्राप्त कर, लाल, नीले आदि वर्णों के सूत्रों में पिरोये हुए विरलभाव से प्राप्त होने के कारण सहस्रों विभेदों के सम्भव होने से स्फटिक, काच, अभ्रक, पद्मराग, मरकत तथा महानील

आदि मणियों के दोनों के समान उस (स्थायीभाव) सूत्र में अपने संस्कार गत वैचित्र्य का सन्निवेशन कराते हुए भी उस सूत्र के द्वारा किये जानेवाले अनेक उपकार के सन्दर्भ में स्वयं अपने को विचित्र अर्थों में व्यक्त कर उस स्थायीभावरूपी सूत्र को अनेक रूपों में प्रकट करते हुए और बीच-बीच में कहीं-कहीं उस शुद्ध स्थायीभावात्मक सूत्र को प्रकाशित होने का अवसर देते हुए भी पूर्वापर सम्बन्ध से व्यभिचारिभावरूपी रत्नों की प्रतिच्छवि से मिश्रित रूप दिखलाते हुए से प्रतीत (प्रतिभाषित) होते हैं तथा इसी कारण (वे) व्यभिचारिभाव कहलाते हैं।

तथा हि—ग्लानोऽयमित्युक्ते कुत इति हेतुप्रश्नेन स्थायी तस्य सूच्यते। न तु राम उत्साहशक्तिमानित्यत्र हेतुप्रश्नमाहुः। अतएव—विभावास्तत्रोद्बोधकाः सन्तः स्वरूपोपरञ्जकत्वं विदधाना रत्युत्साहादेरुचितत्वमात्रमावहन्ति। न तु तदभावे सर्वथैव ते निरुपाख्याः, वासनात्मना सर्वजन्तूनां तन्मयत्वेनोक्तत्वात्। व्यभिचारिणां तु स्वविभावाभावे नामापि नास्तीति। वितनिष्यते चैतद्यथायोगं व्याख्यावसरे। एवमप्रधानत्वनिरासः स्थायिनिरूपणायां "स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्याम (ना० शा० अ० ६) इत्यनया सामान्य-लक्षण शेषभूतया विशेषलक्षणनिष्ठया च मुनिना कृतः।

जैसे कि—'इसे ग्लानि हो रही है' ऐसा कहने पर भी प्रश्न उठता है कि उस की ग्लानि का विषय क्या हैं? और हेतु विषयक ऐसे प्रश्न की उपस्थिति से ही ग्लानि की अस्थायिता सूचित होने से 'व्यभिचारिभावत्व' संकेतित हो जाता है। किन्तु राम उत्साह शक्ति से युक्त है' ऐसा कहने पर (पूर्ववत्) हेतु विषयक प्रश्न उपस्थित नहीं होता [अतः उत्साह की स्थिति स्थायी है, व्यभिचारी भावों की नहीं] और इसीलिए विभावादि उन उत्साहादि स्थायीभावों के उद्बोधक होकर उनके स्वरूप को उपरंजित करते हुए रति, उत्साह आदि के उचित अनुचित रूप को निर्धारित करने वाले कारण बनते हैं।

किन्तु उनके [विभावादि के] अभाव में वे रत्यादि स्थायीभाव

सर्वथा असत् या लुप्त नहीं हो जाते। (क्योंकि विभावादि से) वासनारूप में रक्षित स्थायीभाव सभी प्राणियों में रहते (हुए जाग्रत हो जाते) हैं (यह कहा जा चुका है)। व्यभिचारि भावों का अपने विभावों की अनुपस्थिति में नाम भी नहीं रहता [वे तो स्थायीभाव की भूमिका पर ही अवतरित होते और अवस्थित रहते हैं] यह हम इनकी व्याख्या के अवसर पर प्रतिपादन करेगें। इस प्रकार स्थायी भावों के निरूपण के अवसर पर 'स्थायीभाव को रसरूपत्व प्राप्त करावेंगे' इस रस सामान्य के लक्षण के शेष भूत [अंगभूत] शृङ्गारादि रसों के विशेष लक्षणों के निरूपण द्वारा भरतमुनि ने 'अप्रधानत्व' रूप छठे विघ्न का निराकरण किया है।

(७) तत्रानुभावानां विभावानां व्यभिचारिणां च पृथक्स्थायिनि नियमो नास्ति वाष्पादेरानन्दाक्षिरोगादिजत्वदर्शनात्, व्याघ्रादेश्च क्रोधभयादिहेतुत्वात्, श्रमचिन्तादेरुत्साहभयाद्यनेकसहचरत्वविलोकनात् एवं संशयोदये शङ्कात्मकविघ्नशमनाय संयोग उपात्तः। सामग्री तु न व्यभिचारिणी। तथा हि—बन्धुविनाशो यत्र विभावः परिदेविताश्रुपातादिस्त्वनुभावः चिन्तादैन्यादिर्व्यभिचारी सोऽवश्यं शोक एवेति।

(७) संशयोगः—

स्थायीभावों के अन्तर्गत विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारियों का अलग-अलग रहने या प्रयोग का कोई नियम नहीं है। क्योंकि करुण रस के अनुभाव आँसू निकलना आदि है पर आँसू आँख के रोग से भी उत्पन्न होते (देखे जाते) हैं। इसी प्रकार व्याघ्र आदि विभाव रौद्ररस के स्थायीभाव क्रोध तथा भयानक रस के स्थायीभाव भय के भी हेतु देखे जाते हैं [अतएव व्याघ्रादि को देखकर रौद्र या भयानक रस की उत्पत्ति में सन्देह हो जाता है।] [इसी प्रकार] श्रम, चिन्ता आदि संचारी भाव उत्साह तथा भय आदि स्थायी भावों के साथ देखे जाते हैं [अतएव श्रमादि को देखकर उत्साह या भय (स्थायी) की उत्पत्ति में सन्देह हो जाता है]। अतएव संशय के आधार पर संशययोग रूप इस सातवें विघ्न के निराकरण के लिये भरतमुनि ने रससूत्र में 'संयोग शब्द का प्रयोग (ग्रहण)

किया है। क्योंकि विभाव, अनुभाव आदि पृथक्-पृथक् तो संशय जनक हो सकते हैं किन्तु उनकी समग्रता (सामग्री) अर्थात् संयोग संशयजनक नहीं होने से व्यभिचारी (दुष्ट) नहीं है [अर्थात् संयोगात्मक स्थिति संशयजनक नहीं होती]। उदाहरण के लिये यदि विभावरूप में बन्धु विनाश हो तो विलाप, रोदन आदि अनुभाव तथा चिन्ता, दैन्य आदि के व्यभिचारिभाव के रूप में रहने पर निश्चितरूप से इनके इस प्रकार के संयोग के द्वारा 'शोक' ही है यह माना जाएगा।

रस की विलक्षणता—

तत्र लोकव्यवहारे कार्यकारणसहचारात्मकलिङ्गदर्शने स्थाय्यात्मपरचित्तवृत्त्यनुमानाभ्यास एव पाटवादधुना तैरेवोद्यान-कटाक्षवृक्षादिभिर्लौकिकीं कारणत्वादिभुवमतिक्रान्तैर्विभावनानुभावना-समुपरञ्जकत्वमात्रप्राणैः, अतएवालौकिकविभावादिव्यपदेशभाग्भिः प्राच्यकारणादिरूपसंस्कारोपजीवनाख्यापनाय विभावादिनामधे-यव्यपदेश्यैर्भावाध्यायेऽपि वक्ष्यमाणस्वरूपभेदैर्गुणप्रधानतापर्यायेण सामाजिकधियि सम्यग्योगं सम्बन्धमैकाग्र्यं वाऽऽसादितवद्भिरलौ-किकनिर्विघ्नसंवेदनात्मकचर्वणागोचरतां नीतोऽर्थश्चर्व्यमाणतैकसारो न तु सिद्धस्वभावस्तात्कालिक एव न तु चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी स्थायिविलण एव रसः।

लोक व्यवहार के क्षेत्र में कार्य, कारण सहकारीरूप अनुमापक हेतुओं को देखकर रत्यादि रूप स्थायी भावात्मक, अन्य व्यक्ति की चित्तवृत्ति के अनुमान के अभ्यास की तीव्रता के कारण, उन्हीं उद्यान, कटाक्ष विलोकन आदि अनुभावों के द्वारा जो कि नाटक के कारणत्व का परित्याग कर विभावन, अनुभावन एवं उपरंजकत्व के स्वरूप को प्राप्त कर अलौकिक विभावादि नामों से कहे जाने वाले, कारणादि रूप पूर्व संस्कारों पर आधारित होने को व्यक्त करने के लिये विभावादि नाम से निर्दिष्ट किये जाने वालें और भावों से सम्बन्ध अध्याय में भी जिनका विवेचन है ऐसे

प्रकारों वाले, सामाजिक सहृदय की बुद्धि या हृदय में उचित प्रकार से संयोग या सामंजस्य प्राप्त करने के पश्चात् उसके द्वारा अलौकिक तथा निर्विघ्न, संवेदन रूप चर्वणा का विषय बनाये जानेवाले रत्यादि रूप अर्थ जिनका चर्वणा ही एक मात्र सार है न कि विद्यमान स्वरूपवाला अर्थात् चर्वण के काल में ही विद्यमान रहनेवाला और इसके अतिरिक्त समय में न रहनेवाला और स्थायीभाव से विलक्षण स्वरूप वाला ही 'रस होता है।

न तु यथा शङ्कुकादिभिरभ्यधायित, "स्थाय्येव विभावादि-प्रत्याय्यो रस्यमानत्वाद्रस उच्यत" इति। एवं हि लौकिकेऽपि किं न रसः, असतोऽपि हि यत्र रसनीयता स्यात्तत्र वस्तुसतः कथं न भविष्यति। तेन स्थायिप्रतितीरनुमितिरूपा वाच्या, न रसः। अत एव सूत्रे स्थायिग्रहणं न कृतम्। तत्प्रत्युत शल्यभूतं स्यात्। केवलमौचित्यादेवमुच्यते स्थायी रसीभूत इति।

औचित्यं तु तत्स्थायिगतत्वेन कारणादितया प्रसिद्धानामधुना चर्वणोपयोगितया विभावादित्वावलम्बनात्। तथा हि—लौकिक-चित्तवृत्त्यनुमाने का रसता। तेनालौकिकचमत्कारात्मा रसास्वादः स्मृत्यनुमानलौकिकस्वसंवेदन-विलक्षण एव।

और जैसा शङ्कुक ने बतलाया कि 'विभावादि के द्वारा प्रतीत कराया हुआ स्थायीभाव ही आस्वाद्यमानता को प्राप्त करने से 'रस' कहलाता है' संगत नहीं है। ऐसा मानने पर लौकिक जीवन (के अनुभवों) में भी रस व्यवहार या अनुभूति क्यों नहीं होगी? क्योंकि जब बिना उपस्थिति के रत्यादि की रसनीयता हो जाती है तो वास्तव में जहाँ रत्यादि स्थायी विद्यमान हों वहाँ (लौकिक पुरुष में) रस की स्थिति क्यों नहीं मानी जाएगी। इसलिये लोक में होने वाली स्थायीभाव की जो प्रतीति अनुमिति रूप में होती है यह रस नहीं कही जा सकती। (क्योंकि स्थायीभाव रस नहीं है) और इसी कारण रससूत्रकार भरतमुनि ने रस लक्षण में स्थायीभाव' का ग्रहण नहीं किया। यदि स्थायी पद का

सूत्र में ग्रहण किया जाता तो वह उलटा कष्टदायक (असङ्गत) हो जाता। केवल औचित्य निर्वाह की दृष्टि से ऐसा कहा जाता है कि 'स्थायिभाव रस हो गया है।'

उस स्थायीभाव के द्वारा कारण रूप से प्रसिद्ध और आस्वादन के समय उपयोगी होने के कारण इन विभावादि का स्थायी अवलम्बन करता है। इसी दृष्टि से स्थायीभाव के रस रूप में व्यक्त होने की स्वीकृति का औचित्य माना गया है। [अर्थात् रसास्वादन में स्थायीभाव के कारण रूप विभावादि उपकारक हैं अतः उनके संयोग से 'स्थायीभाव रस हो गया है' ऐसा औपचारिक प्रयोग किया जाता है] तब लौकिक जीवन की चित्तवृत्तियों के अनुमान द्वारा रसत्व कैसे स्वीकार किया जा सकता है ? [या रसत्व कहाँ से आ सकता है ?]। इसलिये अलौकिक चमत्कार स्वरूप रसास्वाद स्मृति, अनुमान तथा लौकिक प्रत्यक्षादि से भिन्न (विलक्षण) ही है (यह सिद्ध होता है)।

तथा हि—लौकिकेनानुमानेन संस्कृतः प्रमदादिना (दि न) ताटस्थ्येन प्रतिपद्यते। अपि तु हृदयसंवादात्मकसहृदयत्वबलात् पूर्णीभविष्यद्रसास्वादाङ्कुरीभावेनानुमान—स्मृत्यादिसोपानमारुह्येव तन्मयीभावोचितचर्वणाप्राणतया। न च सा चर्वणा प्राङ्मानान्तरात् येनाधुना स्मृतिः स्यात्। न चात्र लौकिकप्रत्यक्षादिप्रमाणव्यापारः किन्त्वलौकिकविभावादिसंयोग-बलोपनतैवेयं चर्वणा। सा च प्रत्यक्षानुमानागमोपमानादिलौकिकप्रमाणजनितरत्याद्यवबोधतः, तथा योगिप्रत्यक्षजनिततटस्थपरसंवित्तिज्ञानात्, सकलवैषयिकोपराग-शून्य-शुद्धपरयोगिगतस्वात्मानन्दैकघनानुभवाच्च विशिष्यते। एतेषां यथायोगमर्जनादिविघ्नान्तरोदयात् ताटस्थ्या-स्फुटत्व-विषयावेशवै-वश्येन च सौन्दर्यविरहात्।

क्योंकि—लौकिक जगत् में अनुनान की प्रक्रिया से संस्कृत सामाजिक नाटक आदि में प्रमदादि (आलम्बन विभवादि) को [लौकिक परगत रत्यादि

के समान] तटस्थभाव से स्वीकार (ग्रहण) नहीं करता, किन्तु हृदय-संवादात्मक सहृदयता के आधार पर अखण्डरसास्वाद के अंकुर रूप से, अनुमान, स्मृति आदि सोपानों की प्रक्रिया के अधिरोहण के बिना ही भाव की तन्मयता से प्राप्त आस्वाद्य के प्राणभूत चर्वणा के उत्पादक रूप से प्रमदादि (आलम्बन) विभावों का अनुभव करता है। और यह चर्वणा रसानुभव के पूर्व किसी प्रमाण से स्थित नहीं होती, जिससे उसे स्मृति कहा जाय। (तथा) इसमें लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणों का व्यापार भी नहीं होता क्योंकि अलौकिक विभावादि के संयोग से यह आस्वाद्यता वह प्राप्त करता है। और यह (रसचर्वणा) प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम तथा उपमान (आदि) लौकिक प्रमाणों से उत्पन्न रत्यादि के बोध से, तथा योगि प्रत्यक्ष से होनेवाले परसंवेदनात्मक तटस्थ ज्ञान से, और समस्त विषयों के प्रति वैराग्यसम्पन्न (असम्प्रज्ञात समाधि से स्थिति) परम-योगी में रहने वाले स्वसंवेद्य शुद्ध आत्मानन्द के अनुभव से विशिष्ट (विलक्षण) प्रकार वाला होता है। क्योंकि इनमें (प्रत्यक्षादि प्रमाणों तथा योगिप्रत्यक्षादि में) यथायोग्य अर्जनादि रूप विघ्नों के आ जाने से और ताटस्थ्य और अस्पष्टता की स्थिति में विषयावेश की विवशता के कारण आल्हादकत्व (सौन्दर्य) का अभाव हो जाता है। [और रसचर्वणा इन सभी से भिन्न (या विपरीत) प्रकार की होती है]।

अत्र तु स्वात्मैकगतत्वनियमासम्भवात् न विषयावेशावैवश्यम्। स्वात्मानुप्रवेशात् परगतत्वनियमाभावात् न ताटस्थ्यास्फुटत्वे। तद्विभावादिसाधारण्यवशसम्प्रबुद्धोचितनिजरत्यादिवासनावेशवशाच्च न विघ्नान्तरादीनां सम्भव इत्यवोचाम बहुशः। अतएव विभावादयो न निष्पत्तिहेतवो रसस्य, तद्बोधापगमेऽपि रससम्भवप्रसङ्गात्।

और यहाँ केवल अपने आप में रस के स्थित रहने के नियम के न होने से [परमयोगी के ज्ञान के समान] विषयावेष की विवशता नहीं रहती है, एवं अपनी आत्मा के सम्मिलित रहने से तथा परगतत्व का नियम न होने के कारण तटस्थता और अस्पष्ट प्रतीति भी नहीं होती, और उस रस के

विभावादि के साधारणीकरण की स्थिति में अपनी रत्यादि वासना के उचित रूप में उद्बुद्ध होने से अन्तर्वती अन्य (परोक्षत्वादि) विघ्नों की सम्भावना (भी) नहीं रहती है यह बात हम अनेक बार कह (ही) चुके हैं। अतएव विभावादि रसनिष्पत्ति के कारण (कारकहेतु) नहीं है; क्योंकि उनकी प्रतीति के बीत जाने पर भी रस की सम्भावना बनी रहती है।

नापि ज्ञप्तिहेतवः येन प्रमाणमध्ये पतेयुः सिद्धस्य कस्यचित् प्रमेयभूतस्य रसस्याभावात्। किं तर्ह्येतद्धि विभावादयः इति? अलौकिक एवायं चर्वणोपयोगी विभावादिव्यवहारः। क्वान्यत्रेत्थं दृष्टमिति चेत्? भूषणमेतदस्माकमलौकिकत्वसिद्धौ। पानकरसास्वादोऽपि किं गुडमरीचादिषु दृष्ट इति समानमेतत्।

और न विभावादि रस के ज्ञापक हेतु हैं जिससे कि उन्हें प्रमाणों में गिना जाए, क्योंकि पूर्वसिद्ध घट के समान रसादि की पूर्व विद्यमान सत्ता नहीं होती। (प्रश्न) तो फिर ये विभावादि क्या हैं ? (उत्तर) चर्वणा में उपयोगी रहने वाला विभावादि व्यापार अलौकिक होता है (अतः उसका लोकवत् ठीक से स्थिति-निर्देश नहीं बतलाया जा सकता है)।

इस प्रकार का पदार्थ संसार में कहाँ देखा जाय जो कार्य और ज्ञाप्य न हो ? यदि ऐसा प्रश्न करते हैं तो यह सांसारिक पदार्थों से भिन्नता का रहना रस की अलौकिकत्वसिद्धि के लिये भूषणभूत है। और ठण्डाई जैसे पानक-द्रव्य के स्वाद की विशिष्टता उसके अङ्गभूत गुड, कालीमिर्च अदि में कैसे देखी जा सकेगी ? यही बात यहाँ (रस के विषय में) भी समानता रखती है। [अर्थात् रसानुभव की विशिष्टता विभावादि की लौकिक स्थिति में नहीं देखी जा सकती है]

नन्वेवं रसोऽप्रमेयः स्यात्? एवं युक्तं भवितुमर्हति। रस्यतैकप्राणो ह्यसौ न प्रमेयादिस्वभावः। तर्हि सूत्रे निष्पत्तिरिति कथम्? नेयं रसस्यापि तु तद्विषयरसनायाः। तन्निष्पत्त्या तु यदि तदेकायत्तजीवितस्य रसस्य निष्पत्तिरुच्यते न कश्चिदत्र दोषः

तब तो यह प्रश्न उठेगा कि इस प्रकार रस प्रमेय नहीं रहता है? (उत्तर) हाँ, यह कहना भी ठीक हो सकता है; क्योंकि इसका प्राणतत्व रसमयता है और इस रूप में यह प्रमेय स्वीकार नही किया जा सकता।

(प्रश्न) तो फिर रससूत्र में दिये गये 'निष्पत्ति' (पद) से क्या अभिप्राय होगा? (उत्तर) भरतसूत्र में रस की निष्पत्ति नहीं कही गयी है, किन्तु उसके विषयभूत आस्वादन (रसना) की निष्पत्ति का उल्लेख किया गया है। और उस रसना विषयक निष्पत्ति से यदि केवल रसनाश्रित रस की निष्पत्ति का (उपचार द्वारा) अभिधान हो तो भी यह असंगत नहीं है।

सा च रसना न प्रमाणव्यापारो न कारकव्यापारः। स्वयं तु नाप्रामाणिकी स्वयं संवेदनसिद्धत्वात्। रसना च बोधरूपैव, किन्तु बोधान्तरेभ्यो लौकिकेभ्यो विलक्षणैव, उपायानां विभावादीनां लौकिकवैलक्षण्यात्। तेन विभावादिसंयोगाद्रसना यतो निष्पद्यतेऽतस्तथाविधरसनागोचरो लोकोत्तरोऽर्थो रस इति तात्पर्यं सूत्रस्य।

रस सम्बन्धी यह आस्वादन (रसना) न प्रमाणों का (अर्थात् ज्ञापक हेतु विषयक) व्यापार और न कारक हेतु विषयक व्यापार माना जा सकता है। और इसका साक्षात् अनुभव होने से स्वसंवेदनीयता हो जाने के कारण इसे असत्य या अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। आस्वादन (रसना) प्रतीति रूपा ही है किन्तु विभावादि लौकिक प्रमाणों [प्रत्यक्ष, अनुमान आदि] से विलक्षण होने से यह प्रतीति अन्य लौकिक ज्ञानों से भिन्न एवं विलक्षण है। यही आस्वादनस्वरूपरसना विभावादि के संयोग से निष्पन्न होने के कारण उस प्रकार की प्रतीति का विषय होकर लोकोत्तर अर्थ में रस्यमान होने के कारण 'रस' कहलाती है। यही 'निष्पत्ति' का तात्पर्य यहाँ स्वीकार किया जाएगा।

अयमत्र सङ्क्षेपः। मुकुटप्रतिशीर्षकादिना तावन्नटबुद्धिराच्छाद्यते। गाढप्राक्तनसंवित्संस्काराच्च काव्यबलानीयमानापि न तत्र रामधीर्विश्राम्यति। अत एवोभयदेशकालत्यागः। रोमाञ्चा-

दयश्च भूयसा रतिप्रतीतिकारितया दृष्टास्तथापि लौकिकदेशकाला-नियमेन तत्र रतिं गमयन्ति। यस्यां स्वात्मापि तद्वासनावत्वादनुप्रविष्टः अत एव न तटस्थतया रत्यवगमः। न च नियतकारणतया, येनार्जनाभिष्वङ्गादिसम्भावना, न च नियतपरात्मैकगततया येन दुखद्वेषाद्युदयस्तेन साधारणीभूता सन्तानवृत्तेरेकस्या एव वा संविदो गोचरभूता रतिः शृङ्गारः। साधारणीभावना च विभावादिभिरिति।

साधारणीकरण—

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि—मुकुट तथा चेहरे मुखौटे (प्रतिशीर्षक) आदि नेपथ्य विधान के कारण पहले नट विषयिणी बुद्धि आच्छादित की जाती है। और परम्परागत पूर्वकालिक ज्ञान, संस्कार तथा काव्य के द्वारा बलात् रामबुद्धि उसमें [नट में] स्थिर नहीं की जा सकती है। अतः नट और रामादि से सम्बद्ध देशकालादि का परित्याग हो जाता है। और यद्यपि व्यभिचारिभाव रत्यादि की प्रतीति करवाने वाले रूप में देखे जाते हैं किन्तु फिर भी वे (व्यभिचारी भाव तथा रोमाञ्चादि अनुभाव भी) देशकालादि के नियम के बिना रत्यादि की प्रतीति करवाते हैं; जिस प्रतीति में संस्कारयुक्त होने के कारण सहृदय की अपनी आत्मा भी आ जाती है। अतएव रत्यादि की तटस्थरूप से प्रतीति नहीं होती। और न निश्चित कारणों से होती है जिससे अर्जन विषयक आवेश आदि विघ्नों की सम्भावना हो। और न निश्चित रूप से उसकी परगत (नटगत) प्रतीति होती है जिससे दुःख, द्वेषादि की उत्पत्ति हो। इसलिये (क्षणिकतावादियों (बौद्धों) की तरह) साधारणीभूत चित्तवृत्तिप्रवाह की अथवा (स्थिरतावादियों या नैयायिकादि) की तरह) एक ही ज्ञान की विषयभूत प्रत्यक्षरूपा 'रति' ही शृङ्गाररस है। यह साधारणीकरण विभावादि के द्वारा सम्पन्न होता है।

तत्र विभावप्राधान्येन साधारणीभावो यथा—

"केलीकन्दलितस्य विभ्रममधो धुर्यं वपुस्ते दृशो-
भंङ्गीभङ्गुरकामकार्मुकमिदं भ्रूनर्मकर्मक्रमः।
आपातेऽपि विकारकारणमहो वक्त्राम्बुजन्मासवः
सत्यं सुन्दरि वेधसस्त्रिजगतीसारं त्वमेकाकृतिः" ॥

उनमें विभाव की प्रधानता के कारण साधारणीकरण का उदाहरण :—

हे सुन्दरी, (रति क्रीड़ा रूप) केलि से उत्पन्न विभ्रमरूप मधु को धारण करने वाला तुम्हारा शरीर है, तुम्हारी भौहों का परिहास विलास विशेष भंगी से टूटने वाला अनंग का धनुष है और तुम्हारे मुखकमल से उत्पन्न आसव केवल सूंघने के मात्र से (बिना पिये ही) विकार उत्पन्न करने वाला है। अतः तुम सचमुच तीनों लोकों में सारभूता ब्रह्मा की अप्रतिम रचना हो।

अत्र च विभावकृतं तत्सौन्दर्यं प्राधान्येन भाति। तदनुगतत्वेन केलीविभ्रमभङ्गुरनर्मवचोमहिम्ना चानुभाववर्गो, भङ्गीक्रमविकारादि-शब्दबलाच्च विभाववर्गः प्रतिभातीति। अत एव नास्फुटत्वाशङ्कात्र रत्यास्वादमये शृङ्गारे विधेया।

इसमें विभाव (नायिकारूप आलम्बन) की प्रधानता के कारण (उसका) सौन्दर्य व्यक्त हो रहा है। केलि, विभ्रम, भंगुर, नर्म आदि शब्दों द्वारा अनुभाव-वर्ग का और भंगी, क्रम, विकार आदि शब्दों की सामर्थ्य से व्यभिचारिभाव उसी विभाव के अनुगामी रूप में प्रतीत होते हैं। [अतः विभावरूप नायिका के सन्दर्भ में स्थायीभाव (रति) का सहज साधारणीकरण हो जाने के कारण] यहाँ रति आदि के आस्वाद्य शृङ्गारादि में अस्पष्टता की आशंका नहीं करना चाहिए।

अनुभावप्राधान्यं यथा शुद्धसारस्वतप्रवाहपवित्रसकलवाङ्मय-महार्णवपूर्णभावसम्पादनाद् द्विजराजस्येन्दुराजस्य—

"यद्विश्रम्य विलोकितेषु बहुशो निःस्थेमनी लोचने
यद्गात्राणि दरिद्रति प्रतिदिनं लूनाब्जिनीनालवत्।
दूर्वाकाण्डविडम्बकश्च निबिडो यत्पाण्डिमा गण्डयोः
कृष्णे यूनि सयौवनासु वनितास्वेषैव वेषस्थितिः॥" इति।

अनुभाव की प्रधानता के कारण साधारणीभाव का उदाहरण शुद्ध सरस्वती के प्रवाह से पवित्र समस्त वाङ्मयरूपी महार्णवा को अपनी कृतियों से परिपूर्ण करने वाले द्विजश्रेष्ठ उपाध्याय भट्टेन्दुराज का यह पद्य है :—

जो गोपियों की आँखे कहीं रुक कर देखने में स्थिर नहीं हो पा रही हैं एवं उनके अंग कटी हुई कमलिनी के मृणालदण्ड के समान प्रतिदिन क्षीण (और म्लान) होते जा रहे हैं और उनके कपोलों पर दूर्वा के समान जो गहरा पीलापन दिखाई दे रहा है वह सब कृष्ण के युवक होने और गोपाङ्गनाओं के युवती होने के कारण है। ऐसे समय उनके वेष की यही दशा होती है।

अत्र विश्रम्येति, बहुशः इति, प्रतिदिनमिति च पदसमर्पिता व्यभिचारिगणः कृष्ण इत्यादिपदार्पितश्च विभावो गुणत्वेन प्रतिभासते। विश्रान्तिलक्षणस्तम्भविलोकनवैचित्र्यगात्रतानवतारतम्यपुलकवैवर्ण्य-प्रभृतिस्त्वनुभावसञ्चयः प्रधानतया।

यहाँ 'विश्रम्य' 'बहुशः' तथा 'प्रतिदिन' पदों से व्यभिचारिभाव की प्रतीति होती है तथा कृष्ण पद से प्रतीति होने वाला विभाव है जो यहाँ अप्रधान रूप से व्यक्त हो रहा है। तथा विश्रान्तिरूप स्तब्धता, देखने की विचित्रता, शरीरगत कृशता का तारतम्यभाव, रोमाञ्च तथा विवर्णता आदि अनुभाव वर्ग प्रधान रूप यहाँ से प्रतीत हो रहा है।

व्यभिचारिणां तु प्राधान्यम् तद्विभावानुभावप्राधान्यकृतम्। तत्राद्यं यथा महाकवेः (अभिनव) कालिदासस्य (कलशकस्य)—

"आत्तमात्तमधिकान्तमुक्षितुं कातरा शफरशङ्किनी जहौ।
अञ्जलौ जलमधीरलोचना लोचनप्रतिशरीरलाञ्छितम्"॥

विभावों और अनुभावों के प्राधान्य से व्यभिचारि भावों का प्राधान्य कैसे हो जाता है [अर्थात् विभाव के प्राधान्य से व्यभिचारिभाव का प्राधान्य व्यक्त होना] इसका उदाहरण है (अभिनव) कालिदास (कलशक) का निम्न पद्य :—

वह चञ्चलनयना नायिका अपने प्रियतम पर फेंकने के लिये बार-बार हाथ में लिये हुए जल को अपने नायकों की छाया पड़ने से मछली की आशंका करती हुई छोड़ देती है।

इत्यत्र सुकुमारमुग्धप्रमदाजनभूषणभूतस्य व्यभिचारिवर्गस्य वितर्कत्रासशङ्कादेः प्राधान्यं, तद्विभावानां प्राधान्यात् सौन्दर्यातिशयकृतम्। आत्तमात्तमित्याद्यर्पितानुभाववर्गस्तु तदनुयायी। एवं द्वयप्राधान्ये चोदाहार्यम्। किन्तु समप्राधान्ये एव रसास्वादयोत्कर्षः।

यहाँ नायिका का सौन्दर्यगत सौकुमार्य और भोलापन उनके आभूषणभूत वितर्क, त्रास तथा शंका आदि व्यभिचारिभावों की प्राधान्यता को व्यक्त करता है जो कि विभाव के प्राधान्य से उनके सौन्दर्यातिशय के कारण प्रतीत हो रहा है। यहाँ 'आत्तम् आत्तम्' इत्यादि पदों से सूचित अनुभाव व्यभिचारिभावों के अनुगामी प्रतीत होते हैं। [ये उदाहरण विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों के पृथक् प्राधान्य के हैं] इसी प्रकार दो-दो की प्रधानता के उदाहरण भी समझना चाहिए। किन्तु दोनों की तुल्यप्रधानता में ही रसास्वाद का उत्कर्ष सम्पादित होता है

तच्च प्रबन्ध एव भवति। वस्तुतस्तु दशरूपक एव। यदाह वामनः–"सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः" (काव्यालं० सू० १–३–३०) "तद्विचित्रं चित्रपटवद्विशेषसाकल्यात्" (काव्यालं० सू० १–३–३१) इति। तद्रूपसमर्पणया तु प्रबन्धे भाषा-वेष-प्रवृत्त्यौचित्यादि-कल्पनात्। तदुपजीवनेन मुक्तके। तथा च तत्र सहृदयाः पूर्वापरमुचितं परिकल्प्य 'ईदगत्र वक्तास्मिन्नवसरे' इत्यादि बहुतरं पीठबन्धं रूपं विदधते।

और वह समप्राधान्य जनित रसोत्कर्ष 'प्रबन्धकाव्य' में ही होता है और (केवल) काव्य में ही क्यों, वह इसकी अपेक्षा वास्तव में दशरूपकों [नाटकादि] में ही होता है। जैसा कि **वामन** *ने अपने ग्रन्थ में कहा है कि–'प्रबन्धकाव्यों में दशरूपक ही श्रेष्ठ होते हैं' [का० सू० १–३–३०] 'क्योंकि वे चित्रपट के समान समस्त विशेषताओं से युक्त रहते हैं' [का० सू० १–३–३१]। प्रबन्धकाव्यों में (नाटकादि) रूपक के समान*

भाषा, वेष, प्रवृत्ति के औचित्य की कल्पना द्वारा (रसानुभूति होती है) और उस प्रबन्ध-काव्य के आश्रित होने से मुक्तक-काव्यों में रसानुभूति संभव हो जाती है। क्योंकि उसमें सामाजिक (सहृदय) पुरुष मुक्तक-काव्य के सम्बन्ध में 'यह इस प्रकार का वक्ता है' इत्यादि पूर्वापर कल्पनाएँ कर के प्रसंग के अनुकूल बहुत-सी भूमिकाएँ बना डालते हैं।

तेन ये काव्याभ्यासप्राक्तनपुण्यादिहेतुबलादिभिः सहृदयास्तेषां परिमितविभावाद्युन्मीलनेऽपि परिस्फुट एव साक्षात्कारकल्पः काव्यार्थः स्फुरति। अत एव तेषां काव्यमेव प्रीतिव्युत्पत्तिकृत्, अनपेक्षितनाट्यानामपि। तेषामपि तु नाट्ये 'निपतिताः स्फुरिताः शशिरश्मयः' इति न्यायेन सुतरां निर्मलीकरणम्। अहृदयानाञ्च तदेव नैर्मल्याधायि, यत्र पतिता गीतवाद्यगणिकादयो न व्यसनितायै पर्यवस्यन्ति नित्योपकरणात्।

इसलिये जो सहृदय पुरुष काव्य के अभ्यास तथा पूर्वजन के संस्कार से परिमार्जित हैं उन्हें मुक्तक काव्य में सीमित (परिमित) रूप से व्यक्त विभावादि अधिक प्रत्यक्ष, स्पष्ट (व्यापक) तथा साक्षात्कारात्मक हो-जाते हैं, जिससे काव्यार्थ [रस] की प्रतीति निर्बाध होती है। इसलिये नाट्य की अपेक्षा न रखने वाले सहृदयों (सामाजिकों) के लिये काव्य ही रसप्रतीति और व्युत्पत्ति का कारण [या देने वाला] होता है। और ऐसे सहृदयों के द्वारा 'दर्पण पर गिरने वाली चन्द्र किरणों से जैसे उसका प्रकाश बढ़ जाता है' इसी तरह नाट्य का रसानुभव और भी अधिक निर्मलरूप में ग्रहण किया जाता है। और उन असहृदयों के लिये भी (वही) नाट्य नैर्मल्य का [अर्थात् सहृदयत्व का] आधान करने वाला होता है जिन्हें नित्य प्रयोग के कारण अभ्यास रखने पर गीत, वाद्य तथा गणिका के नृत्य आदि कलाएँ व्यसन रूप नहीं बन जाती हों।

तत्र च नटो ध्यायिनामिव ध्यानपदम्। नहि तत्र 'अयमेव सिन्दूरादिमयो वासुदेवः' इति स्मरणीयप्रतिपत्तिः, अपि तु

तदुपायद्वारेणातिस्फुटीभूतसङ्कल्पगोचरो देवताविशेषो ध्यायिनां फलकृत्। तद्वन्नाट्यप्रक्रियाद्वारोदितातिस्फुटाध्यवसायविषयितो नियतदेशकालाद्यस्पष्टविधिस्थानीयोऽर्थो 'अत इदं फलम्' इति व्युत्पत्तिं वितरति। यत्र दृश्येऽभिनयादौ चित्तवृत्त्यादौ वा न बाधकोदयः। सम्यग्ज्ञानभूतमेवेदं पूर्णम्। तेन राम इत्येव प्रतीतिः, न त्वयं न रामो, अन्योऽयमिति। स्फुटीकरिष्यते चैतदग्रतः।

उस नाट्य में नट की स्थिति उसी प्रकार है जैसे ध्यान करने वालों के लिये ध्यान का स्थान (मूर्ति) होता है। यहाँ 'ये सिन्दूर आदि से युक्त वासुदेव हैं' इस रूप में स्मरणीय (इष्टदेव) की प्रतीति नहीं होती है किन्तु उस मूर्तिरूप उपाय के द्वारा देवताविषयक ध्यान स्पष्टतः संकल्प का विषय होकर फलसिद्धि का कारक होता है। इसी प्रकार नाट्य की कलात्मक प्रक्रिया के द्वारा जो ज्ञान अत्यन्त स्पष्ट रूप से उदित होता है वह निश्चयात्मक होकर देशकाल की सीमा के स्पर्श से मुक्त होकर अर्थ की व्यञ्जना के द्वारा परिणाम या फल का विधि-स्थानीय अर्थ अर्थात् 'इस कर्म का यह फल होता है' ऐसा ज्ञान करवाता है। नाट्याभिनय के देखने से सामाजिक की चित्तवृत्ति में प्रत्यक्षादि से उत्पन्न बाधाएँ नहीं आतीं, अतः यह ज्ञान पूर्ण या सम्यक् ज्ञान ही कहलाता है। अतएव यहाँ 'अभिनेता राम है' केवल इस बात की ही प्रतीति होती है 'यह राम नहीं है' या 'यह राम से अन्य (अभिनेता) है' ऐसी प्रतीति नहीं होती। इसे हम आगे चल कर और अधिक स्पष्ट करेंगे।

(नाट्यशास्त्र-गद्यांश) को[1] दृष्टान्तः। अत्राह—यथाहि नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिर्भवति[2]। यथा हि—गुडादि-

---

१. को वा दृष्टान्त इति चेत्—उच्यते—ग०।

२. तथा नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः। यथा गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरोषधीभिश्च षड्रसा निवर्त्यन्ते एवं नानाभावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति—ग० घ०।

भिर्द्रव्यैश्चौषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते तथा नानाभावोपगता[1] अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति ।

प्रश्न—क्या इस विषय में (कोई समानता निदर्शक) दृष्टान्त हो सकता है ? उत्तर—हाँ। जैसे गुड आदि पदार्थों, भाजियों तथा (अन्य) जीरक, हल्दी आदि औषधियों से युक्त व्यञ्जन द्वारा छः प्रकार के (लौकिक) रस निष्पन्न, (सम्पन्न आस्वादित) होते हैं। ठीक उसी तरह अनेक भावों से युक्त स्थायीभाव 'रसत्व' की प्राप्ति कर लेते हैं।

(अभिनवभारती-) तत्रालौकिकोऽयमर्थो न दृष्टान्तमन्तरेण हृदयङ्गमो भवेदित्याशयेनाह—को दृष्टान्त इति। बहुनां संयोगादपूर्वो रस उत्पद्यमानः क दृष्ट इत्यर्थः ।

रस के अलौकिकत्व को बिना दृष्टान्त के ठीक तरह से समझा नहीं जा सकता है इस आशय से भरतमुनि कहते हैं कि—इसमें क्या दृष्टान्त है इत्यादि। अभिप्राय है कि विविध पदार्थों के संयोग से रस की उत्पत्ति कहाँ देखी गयी ? [या उसकी उत्पत्ति का प्रमाण क्या है ?]

अत्र प्रश्ने भाष्येण प्रतिवचनमाह यथेत्यादिनाप्नुवन्तीत्यन्तेन। व्यञ्जनमुपसेचनद्रव्यम् । तच्च नानातिक्तमधुरचुक्रादिभेदाद् दधिकाञ्जिकादिओषधयश्चिञ्चागोधूमदलहरिद्रादयः। द्रव्यं गुडादि। एषां पाकक्रमेण सम्यग्योजनारूपात्कुशलसम्पाद्यात्संयोगात् षाडवादय इति लोकप्रसिद्धेभ्यः परस्परविविक्तेभ्यो मधुरतिक्ताम्ललवणकटुकषायेभ्यो मिश्रेभ्यश्च विलक्षणः षाडवशब्दवाच्यः तत्प्रधाना बहुतरा रसनयोग्याः क्रियन्ते। तथैव नानाभूतैर्विभावादिभिरुप समीपं प्रत्यक्षकल्पतां गता लोकापेक्षया ये स्थायिनो भावास्ते रस्यमानतैकजीवनं रसत्वं तत्र प्रतिपद्यन्ते ।

इस प्रश्न का भरतमुनि ने अपने भाष्य [मूल में प्रस्तुत वार्तिक भूत गद्यभाग] के द्वारा उत्तर दिया है—'यथा' से लेकर 'आप्नुवन्ति' तक के भाग से। व्यञ्जन का अर्थ है उपसेचन पदार्थ। और यह पदार्थ तिक्त, मधुर, खट्टा आदि भेदों से तथा

---

१. भावोपहिता—घ० ।

दधि, काँजी आदि प्रकारों से अनेक प्रकार का होता है। औषधियों से तात्पर्य है इमली, गेहूँ, दाल, हल्दी आदि पदार्थ। द्रव्य हैं गुड आदि। इन सबको कुशल पाचक भली प्रकार मिलाकर 'संयोग' की स्थिति निर्माण करता है। इस तैयार किये गये (षाडव) पेय में लोकप्रसिद्ध मधुर, तिक्त, खट्टा, नमकीन, कडवा और कसेला आदि का अलग-अलग स्वाद नहीं होता उनके मिश्रण से एक मिश्रित या भिन्न स्वाद का ग्रहण होता है और षाडवप्रधान बहुत से आस्वाद्य पदार्थ बन जाते हैं। इसी प्रकार अनेक प्रकार के विभावादि के द्वारा 'उप' समीपता को प्राप्त अर्थात् उत्पन्न होकर प्रत्यक्षकल्पता को प्राप्त हुए रूप में, लौकिक सन्दर्भ में या लौकिक भावों की अपेक्षा से जो स्थायीभाव हैं वे अपने रसमयतारूप प्राणतत्त्व के साथ नाटकादि में रसत्व को प्राप्त करते हैं।

एतदुक्तं भवति। पाकरूपया सम्यग्योजनया तावदलौकिको रसो जायते। तत्र च प्रधानत्वेन जलस्य रसाभिव्यञ्जकत्वमिति व्यञ्जनं विभावस्थानीयं चिञ्चाहरिद्राद्यनुभावप्रायम्। द्रव्याणि तु गुडादि, तदीयचुक्रादिरसविलक्षणमधुरादियोगाद्व्यभिचारिकल्पं स्वात्मनि तदुपजीवनेन च परत्र च स्व-रस-सङ्क्रमणया वैचित्र्याधायकत्वात्।

इसका आशय यह है कि—पाचन रूप सम्यक् संयोग के द्वारा षाडवादि रूप लौकिक रस की उत्पत्ति होती है। और इस प्रकार के पदार्थों में प्रधानरूप में रस को अभिव्यञ्जक जल होता है इसलिये उपसेचन रूप व्यञ्जन के काव्य में विभाव स्थानीय मानना चाहिए। और इमली आदि औषधियों को काव्य में अनुभाव स्थानीय समझना चाहिए। गुड आदि जो द्रव्य हैं उनके साथ खट्टे आदि रस से विलक्षण (भिन्न) मधुरादि रस के योग होने से उन्हें व्यभिचारिभावों के स्थान पर समझना चाहिए। और वे (गुडादि द्रव्य) अपने आन्तरिक स्वाद के साथ अन्य द्रव्यों में अपने रस के संक्रमण द्वारा विचित्रता का आधान करने से व्यभिचारिभाव के समान माने जा सकते हैं।

अत्र तु स्थायिकल्पस्तन्मिश्रणासमयभावी रसविशेषो विभाव-

कल्पव्यञ्जननितो मन्तव्यः। स हि लौकिकः। अयन्तु कुशलैक-निवर्त्यस्तद्विदां रसनीयो भवति। तेनान्नस्येत्यध्याहारो न युक्तः। यथा हि दार्ष्टान्तिकसूत्रे स्थायिग्रहणं शल्यकल्पमिति त्रयमेवोपात्तं तथा दृष्टान्तेऽपि त्रयस्यैवोपादानं युक्तम्।

परन्तु यहाँ लौकिक रसों के प्रसंग में यह कहा जा सकता है कि मिश्रणकाल में अलग-अलग द्रव्यादि में न रहने वाला रसविशेष विभाव सदृश व्यञ्जन से उत्पन्न समझना चाहिए। यह लौकिक रस है। यह लौकिक रस कुशल पाचकों द्वारा उत्पन्न किया जाकर उसके विज्ञाता जन के द्वारा आस्वादनीय होता है। इसलिये यहाँ 'अन्न' पद का अध्याहार करना उचित नहीं है। इस लौकिक रस की प्रक्रिया को यहाँ दृष्टान्त रूप में उपस्थित किया गया है और दार्ष्टान्तिक काव्यरस की प्रक्रिया के द्वारा इसकी पुष्टि की गयी है अतएव जैसे दार्ष्टान्तिक में स्थायीभाव का ग्रहण बाधक होता है इसीलिये उसको छोड़ कर विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव इन तीन को ही ग्रहण किया गया है इसी प्रकार दृष्टान्त में भी अन्य को छोड़ कर व्यञ्जन रूप जल आदि विभवास्थानीय, इमली आ अनुभवस्थानीय तथा गुड आदि को व्यभिचारिभाव के स्थानीय ग्रहण करते हुए तीनों को ही ग्रहण करना उचित है।

(नाट्यशास्त्र-गद्यांश) अत्राह—रस इति कः पदार्थः ? उच्यते—आस्वाद्यमानत्वात्। कथमास्वाद्यते[1] रसः ? यथा हि नानाव्यञ्जन-संस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधि-गच्छन्ति, तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायि-भावानास्वादयन्ति। सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति[2] तस्मान्नाट्यरसाः इति व्याख्याताः।

प्रश्न[1]—रस कौन पदार्थ है ? (अर्थात् रस को रस कहने में क्या

---

१. 'रस यह कौन पदार्थ है' इत्यादि के द्वारा यहाँ सूत्र के लक्षणपद की व्याख्या के लिये आक्षेप (प्रश्न) किया गया है। रस शब्द की प्रसिद्धि या शक्ति मधुरादि

---

१. कथमास्वाद्यो—ग०। २. अयं भागः ग—पुस्तके नास्ति।

कारण है)? उत्तर—यह आस्वाद्य (होने वाला)[1]—पदार्थ है। प्रश्न—रस का आस्वादन कैसे किया जाता है? उत्तर—जैसे पुरुष सुसंस्कृत (शुद्धता से निर्मित) अनेक व्यञ्जनों का भोजन करते हुए मधुर आदि

रस, पारद, विषय, सार, जलसंस्कार, अभिनिवेश (आग्रह), काढ़ा, देह, धातु का सार आदि अर्थों में है। यह इसके अतिरिक्त अर्थों में प्रसिद्ध नहीं है पर प्रस्तुत प्रसङ्ग में शृंगारादि अर्थ में प्रयुक्त होनेवाले रस शब्द का क्या अर्थ है और उसका क्या प्रवृत्तिनिमित्त है? यहाँ यह शब्द अपने विशिष्ट अर्थ का नियमन कैसे करता है और प्रयोक्ता की इस विशिष्ट अर्थ को ग्रहण करने में या उस अर्थ का ज्ञान करने में कैसे प्रवृत्ति होती है? प्रस्तुत प्रश्न के ये सभी अभिप्राय हैं। यहाँ प्रश्नवाक्य में प्रयुक्त 'अर्थ' शब्द प्रवृत्तिनिमित्त का ग्राहक है। [अ० भा०]

१. रस शब्द की शृङ्गारादि के लिये प्रवृत्तिनिमित्तता को बतलाने के लिये भरतमुनि ने 'आस्वाद्यमानत्वात्' कहकर उत्तर दिया। इस प्रकार प्रवृत्ति के हेतु पर जो प्रश्न किया गया था उसका हेतुसूचक पञ्चमी विभक्ति के द्वारा उत्तर दिया गया है। अतएव रस शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त आस्वादन किया है (यह तात्पर्य स्पष्ट हो जाता है)।

आगे रस के प्रवृत्ति निमित्त पर आक्षेप करने के लिए पुनः कहा गया कि 'इसका आस्वादन कैसे किया जाता है'? क्योंकि लोक में रसनेन्द्रिय से प्राप्त ज्ञान को 'आस्वादन' कहते हैं और शृङ्गार आदि का ज्ञान तो रसनेन्द्रिय से होता नहीं। तब उसे आस्वादन कैसे कहा जा सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि यहाँ प्रयुक्त 'यथा' शब्द इस बात का सूचक है कि यह औपचारिक क्रिया का आश्रय लेकर सादृश्य को व्यक्त करने के लिये कहा गया है।

भोग्य, भोक्ता तथा फल की स्थिति सादृश्य के अनुसार होती है। जैसे नाना व्यंजन-द्रव्यों से संस्कृत अन्न की आस्वाद्यता का अनुभव एकाग्रचित्त से आस्वादन करने वाले पुरुष को होता है और इस आस्वादन का फल प्रसन्नता, तृप्ति, जीवन, पुष्टि, बल आरोग्यादि प्राप्त होता है। इसी प्रकार अभिनय के द्वारा व्यक्त होने वाले रस के विषय में जान लेना चाहिए। स्थायी भाव की रस रूप में आस्वाद्यता, (भोग्य) एकाग्र चित्त और तन्मय हुए सामाजिक में आस्वादयितृत्व (भोक्ता) तथा आनन्दप्रधान धर्मादि के ज्ञान

(उसमें विद्यमान) रसों का आस्वादन कर प्रसन्न होते हैं; वैसे ही अनेक भावों (संचारियों) से अभिव्यक्त, वाणी (वाचिक) से, शरीरावयव से (आंगिक) तथा सत्व (सात्विक) से युक्त 'स्थायी' भाव का सहृदय प्रेक्षक आस्वादन करते हैं, तथा उसे ग्रहण कर आमोदित होते हैं। इस प्रकार 'नाट्य' में विद्यमान तथा अनुभूत रसों की व्याख्या की गयी।

अत्रानुवंश्यौ श्लोकौ भवतः—

यथा बहुद्रव्ययुतैर्व्यञ्जनैर्बहुभिर्युतम् ।
आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्तं भक्तिविदो[1] जनाः ॥ ३३ ॥
भावाभिनयसंबद्धान्स्थायिभावांस्तथा[2] बुधा ।
आस्वादयन्ति मनसा तन्मान्नाट्यरसाः स्मृताः ॥ ३४ ॥

इस विषय के निदर्शक (संग्रह-स्वरूप) परम्परा प्राप्त दो श्लोक

एवं नैपुण्य आदि की प्राप्ति को यहाँ फल कहा गया है। अतएव कर्त्ता, कर्म तथा फल के सादृश्य के कारण विभावादि से उत्पन्न प्रतीति-विशेष यहाँ आस्वादन क्रिया के रूप में वर्णित है।

यहाँ कुछ व्याख्याताओं ने व्यंजनादि के आस्वादन और रसप्रतीति के सादृश्य में दोष बतलाया है। उनके मत में अन्नादि के आस्वादन में तीन अवान्तर विभाग होते हैं—(१) आत्मा [आस्वादयिता]; (२) रसना [आस्वादक इन्द्रिय, आस्वादनक्रिया] तथा (३) मन। और यहाँ रस के विषय में केवल [एक] आस्वादन मात्र है। यही दोनों स्थलों में वैषम्य है। इन्हीं व्याख्याताओं ने इस विषमता के परिहारार्थ युक्ति दी है कि यहाँ आत्मा ही स्थानान्तरिक होकर मनःस्थानीय हो जाता है और मन रसस्थानीय होता है। आचार्य अभिनव का मत है कि यह तर्कना व्यर्थ है क्योंकि यहाँ भरतमुनि को रसोत्पत्ति में उपचार या सादृश्य का प्रधानरूप से प्रतिपादन मात्र अभीष्ट है।

---

१. भुक्तं भुक्तविदो—ग०।
२. भावाभिनयसंयुक्ताः स्थायिभावास्ततो—ग०, घ०।

(आनुवंश्य श्लोक[1]) भी है—जैसे भोजन के रस-वेत्ता अनेक[2] पदार्थों से युक्त व्यजनों का आस्वादन करते हैं उसी प्रकार अनेक भाव[3] तथा अभिनय से युक्त स्थायीभावों का सहृदय-जन मानस-आस्वादन करते हैं। इसीलिये ये स्थायीभाव नाट्य-रचनाओं में 'रस' कहलाते हैं ॥ ३३–३४ ॥

---

१. आनुवंश्य श्लोक—भरत के पूर्ववर्ती आचार्यों के वचन हैं जो शिष्य तथा आचार्यों की परम्परा में चले आ रहे थे। भरत ने सूत्रार्थ—भूतं [संक्षेप में अर्थ के प्रतिपादक होने से] इन श्लोकों को भी 'कारिका' मान कर गृहीत किया है।

२. यहाँ 'बहुद्रव्ययुतैः' पद से द्रव्य के रूप में गुडादि भेदों का ग्रहण किया गया है। बहुत से व्यंजन कहने से उपसेचन द्रव्य दधि, काँजी आदि का ग्रहण इष्ट है। इस प्रकार यहाँ विभावों के भेद से रसभेद की बात सूचित की गई है। 'भुञ्जानाः आस्वादयन्ति' के द्वारा जिह्वा के भक्षणरूप व्यापार से अधिक मानसिक व्यापार दिखलाया गया है। यह आस्वादन रसना का व्यापार न होकर मानस व्यापार है और वह मानस व्यापार स्वरूप आस्वादन शृङ्गारादि रसों के अनुभव में पूर्णतः विद्यमान रहता है। अतएव शृङ्गारादि शब्द का प्रयोग मुख्यरूप से भी किया जा सकता है किन्तु लौकिक व्यवहार में रसना व्यापार के बाद आस्वादन के अनुभव होने से यहाँ शृंगारादि के विषय में आस्वादन का प्रयोग औपचारिक है।

३. प्रस्तुत कारिका में 'भाव' शब्द का प्रयोग विभाव तथा व्यभिचारिभाव के शुद्ध स्वरूप के प्रकट या ज्ञापित करवाने के लिये किया गया है। यहाँ 'अभिनय' शब्द से अनुभावों का ग्रहण है और भावों से अनुभावों को अभिनय रूप होने से प्राधान्य प्राप्त करने के कारण अलग बतलाया गया है। उनसे अच्छी तरह 'संबद्ध' अर्थात् हृदय की एकरूपता और तन्मयता प्राप्त करने वाला जो 'बुध' या प्रमाता वह अपने हृदय में स्थायीभाव को सभी ओर से साधारणीभाव के द्वारा अभिन्न अनुभव करता है। इस कारण उसे साधारणीकरण के द्वारा अनिर्वचनीय रूप में स्थायीभावों की निर्बाध प्रतीति होती है क्योंकि इन्द्रियों से बोध होने पर विघ्नों की संभावना हो सकती है किन्तु मानस आस्वादन के कारण बाधा की संभावना नहीं रहती। इस समय स्वगत या परगत भेद से शून्य प्रमाता होता है अत, स्वगतादि भेद के द्वारा होने

रस तथा भावों का सम्बन्ध

अत्राह—किं रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरुताहो भावेभ्यो रसानामिति। [1]उच्यते—केषांचिन्मतं परस्परसंबन्धादेषामभिनिष्पत्तिरिति[2]। तन्न। कस्मात्? दृश्यते हि भावेभ्यो रसानामभिनिर्वृत्तिर्न तु रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरिति।

भवन्ति [3]चात्र श्लोकाः—

(वृत्ति) प्रश्न[1]—क्या रस से भावों की उत्पत्ति होती है अथवा भावों से रसों की? उत्तर—बतलाते हैं। कुछ आचार्यों का मत है कि ये

वाले विघ्न भी नहीं होते जिससे रसप्रतीति में विघ्न आवें। यह आस्वादन लौकिक विषय के आस्वादन और अनुभव से रहित होता है और योगिप्रत्यक्ष से भिन्न एक विलक्षण प्रकार की सुख-दुखात्मक स्थिति वाला होता है। यह आस्वादन (चर्वण) अनुभूत्यात्मक विलक्षणता में आह्लादात्मक होता है तथा यह विभावादि से उद्बुद्ध स्थायीभाव से प्राप्त होता है। इसका वे ही सहृदय ('बुध') आस्वादन करते हैं–जो लौकिक प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में चेष्टा तथा चित्तवृत्तियों के सामञ्जस्य का ज्ञान रखते हों। ये ही विभाव, अनुभाव तथा संचारीभावों के द्वारा रस प्रतीति को ग्रहण करने के अधिकारी हैं। अतएव 'नाट्य' अर्थात् विभावादि के समुदाय रूप से व्यक्त होने वाले 'रस' अथवा नाटचरूप रस ही 'नाटचरस' कहलाते हैं। इसका भाव यह भी हो सकता है कि रससमुदाय रूप ही 'नाटच' है। [अ० भा०]

१. अभिनेता में स्थित रसों से सामाजिक में भावों की उत्पत्ति माने जाने पर नट के द्वारा करुणरस के अभिनय से सामाजिक में शोक स्थायीभाव के उद्बुद्ध होने पर करुणरस की पुष्टि या प्रतीति होती है। अतः अभिनेता द्वारा प्रथम रसाभिनय के द्वारा समाजिकगत शोकादि स्थायीभाव की और फिर सामाजिक भाव की पुष्टि से सामाजिकगत रस की उत्पत्ति होती है। इसलिये क्या रस से भाव उत्पन्न होता है अथवा भाव से रस, यह सन्देह होता है

---

१. मिति केषाञ्चिन्मतम्–क०; अत्रोयते–ग०। २. मभिनिर्वृतिरिति–ग०।
३. वंश्ये—क; तत्र—ग०।

पारस्परिक सम्बन्ध द्वारा उत्पन्न होते हैं। परन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं, क्योंकि भावों से रसों की उत्पत्ति देखी जाती है रसों से भावों की नहीं।

(और इस सन्देह के कारण ही प्रस्तुत प्रश्न की प्रवृत्ति हुई)। इसके अतिरिक्त तीसरा पक्ष यह भी है कि कालभेद से एक की दूसरे से उत्पत्ति होती है [आशय यह कि पहिले नटगत रस के अभिनय से भाव की उत्पत्ति होती है और बाद में सामाजिकगत भाव से सामाजिकगत रस की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार कालभेद हो जाता है]। अथवा पहिले अनुकर्त्ता (नट) में अथवा अनुकार्य (रामादि) में भाव की उत्पत्ति होती है और फिर इस भाव के उपचित होने पर उससे (अनुकार्य या अनुकर्त्ता में) रस की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार रस से भाव, भाव से रस तथा एक दूसरे से परस्पर दोनों की उत्पत्ति होने से तीन मत बन जाते हैं। (इनमें उपचितरत्यादि को रस मानने वाले भट्टलोल्लट के मत का पहिले खण्डन किया जा चुका है।) यहाँ (नाट्यशास्त्र के दूसरे व्याख्याकार) श्रीशङ्कुक का कथन है कि अनुकर्त्ता के अभिनय में सामाजिक को रसों के आस्वादन रूप में अनुकार्यगत रत्यादि भावों की जो प्रतीति होती है वही सामाजिक में प्रवृत्तरस को उत्पन्न करती है। अतः भरत के द्वारा मान्यसिद्धान्तों के अनुसार यह (भावों से रस की उत्पत्ति का) दूसरा पक्ष है। इन्हीं दोनों मतों से तीसरा मत भी बन जाता है।

पर (शङ्कुक का) यह कथन दोषपूर्ण है क्योंकि सामाजिक को अनुकार्य तथा अनुकर्त्ता के विभेद का ज्ञान नहीं होता और शङ्कुक के अभिमत ('रत्यादि तथा अनुकरण रस है' इस) अनुकरणवाद का खण्डन किया जा चुका है।

अतएव इस पंक्ति की व्याख्या इस प्रकार होती है : क्या रसों में भावों की उत्पत्ति होती है, अथवा उसका विपर्यय है; या दोनों एक दूसरे को उत्पन्न करते हैं—ये तीन प्रश्न हैं। इन तीनों में विभावादिकों से रस की उत्पत्ति होती है यह कहा जा चुका है और यह दूसरा पक्ष पहिले ही स्वीकृत हो चुका है, [अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा (व्यभिचारि) भावों से रस की उत्पत्ति होती है] जो मुख्य पक्ष है।

इस पर श्री शंकुक की आपत्ति है कि—यह कैसे हो सकता है? क्योंकि लोक में विभाव, अनुभाव आदि नहीं होते, वहाँ (लोक में) तो उन्हें केवल कारण कार्य या अवस्था रूप ही माना जाताता है। यदि यह कहो कि वे ही

इस विषय में ये (परम्परा प्राप्त) श्लोक भी (कहे गए) हैं—

नानाभिनयसम्बद्धान्भावयन्ति[1] रसानिमान् ।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः ॥ ३५ ॥

नाट्यप्रयोक्ता[1] जन उन्हे 'भाव' जाने, क्योंकि ये अनेक अभिनयों सें सम्बद्ध (अनेक रसों) को भावित (उनकी मूलस्थिति को धारण) करते हैं ॥

नानाद्रव्यैर्बहुविधैर्व्यञ्जनं भाव्यते यथा ।
एवं भावा भावयन्ति रसानभिनयैः सह ॥ ३६ ॥

जैसे[2] अनेक प्रकारों तथा प्रभूत सामग्री से व्यञ्जनों का भावन

नाट्य आदि में प्रयुक्त होने पर आस्वादन में उपयोगी होने से विभावादि रूप को प्राप्त हो जाते हैं तो फिर यह मानना होगा कि रस की कृपा से ही विभावादि होते हैं । और यदि यह कहो कि उन विभावादि के प्रसाद से रस की निष्पत्ति होती है तो अन्योन्याश्रय दोष हो जाता है, क्योंकि विभावादि व्यवहार रस के कारण होता है और विभावादि से रस की उत्पत्ति होती है । इसी प्रकार 'भावों से रस की उत्पत्ति होती है' इस स्वीकृत सिद्धान्त पर भी शंकुक के ये ही आक्षेप हैं कि एक दूसरे पर रहने वाले कार्य नहीं हो सकते । इसी के उत्तर में यहाँ भरतमुनि ने कहा है कि प्रमदादि विभावादि की प्रतीति ही रसास्वाद को उत्पन्न करती है अतएव रसों से भावों की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु भावों से रसोत्पत्ति होती है ।

१. नानाभिनय—भावशब्द (के अर्थ) का निर्वचन करने से यही बात युक्तिसंगत लगती है कि भावों से रस की उत्पत्ति होती है । यही 'नानाभिनय' आदि कारिका से यहाँ कहा गया हैं । इस प्रकार के रसों से सम्बद्ध अर्थात् हृदयंगम होने वाले रसों को जो 'भावयन्ति' अर्थात् उत्पन्न करते हैं, अतः ये भाव हैं ।

२. नानाद्रव्यै—अनेक द्रव्यों के योग से जो व्यक्त होता है वह व्यञ्जन कहलाता है—इस व्युत्पत्ति के अनुसार यहाँ अनुपान-(ठंडाई) रस का अभिप्राय व्यञ्जन शब्द से अभिप्रेत है । 'बहुविध' पद व्यञ्जन का उपलक्षण है । [अर्थात् जैसे अनेक द्रव्यों का अनुपात आस्वादन में व्यञ्जनरूप है, उसी प्रकार विविध भावों का संयोग प्रतीति रूप में रस है ।] द्रव्यों का यही बहुविधत्व

---

१. सम्बन्धान्—ग० ।

(निर्माण, आस्वादन) किया जाता है वैसे ही भाव विभिन्न अभिनयों के द्वारा रसों को भावित करते हैं ॥ ३६ ॥

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः ।

परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत् ॥ ३७ ॥

रस[1] भावहीन नहीं होता तथा रसहीन भाव नहीं होता, इनके पारस्परिक सम्बद्ध के सहारे से अभिनय में सिद्धि दिखाई देती है ॥ ३७ ॥

व्यञ्जनौषधिसंयोगो[1] यथाऽन्नं स्वादुतां नयेत् ।

एवं भावा रसाश्चैव भावयन्ति परस्परम् ॥३८ ॥

जैसे[2] बिना औषधि (हल्दी, मसाला आदि) के संमिश्रण के व्यञ्जन स्वादु नही बनता इसी प्रकार रस एवं भाव परस्पर सम्मिश्रित होकर

अथवा 'अभिनयैः' का 'बहुविधैः' विशेषण है, क्योंकि अभिनयों के अन्तर्गत भावों का बहुविधत्व परिलक्षित होता है, परन्तु ठंडाई आदि पेय द्रव्यों में अनेक द्रव्यों को मिलाकर एक रस बनाने के कारण 'बहुबिधत्व' नहीं है इसलिये उसे व्यञ्जन का उपलक्षण कहा गया ।

१. न भाव-हीनो—यह सिद्ध है कि "भाव के बिना रस नहीं होता है" क्योंकि इसीसे भरत का कथन 'भावो से रस उत्पन्न होते है' प्रतिपादित होता है; परन्तु यहाँ तो 'भावों रसवर्जितः' भी कहा गया है । तब इसका अभिप्राय यह है कि लोक में रस के बिना विभावादिका व्यवहार नहीं होता । और इस पर उत्तर दिया गया हैं कि उन दोनों के पारस्परिक योग से होनेवाली सिद्धि अभिनय में होती है । क्योंकि अभिनय में रस का अनुभव होने पर उसके सहायक होने से कारणादि विभाव कहलाते हैं; इसलिये इन दोनों के योग से अभिनय की सिद्धि होना उचित ही है और दोनों का संयोग प्रयोजनीय है, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष भी नहीं रहेगा (जिसे अगले पद्य की व्याख्या में और स्पष्टतः बतला रहे हैं) ।

२. व्यञ्जनौषधि—प्रस्तुत प्रसंग को उदाहरण के द्वारा बतलाते हैं—जैसे व्यञ्जन (कांजी आदि द्रव्य) तथा औषधियों का संयोग तथा उसका व्यञ्जन रूप

---

१. संयोगो यथान्नं स्वादुतां नयेत्—ग० ।

मनोरंजन या आह्लाद के साधन बनते हैं (या एक दूसरे को भावित करते हैं) ॥ ३८ ॥

यथा बीजाद्भवेद् वृक्षो वृक्षात् पुष्पं फलं यथा।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिताः ॥ ३९ ॥

जैसे[1] बीज से वृक्ष और फिर क्रमशः उससे पुष्प तथा फल उत्पन होते हैं; वैसे ही रस मूल है, उसी पर भावों की स्थिति अवस्थित है ॥ ३९ ॥

में आस्वादन, ये (दोनों) क्रमशः कर्त्ता और कर्म रूप में स्थित होकर जैसे कर्मभूत एक दूसरे को परस्पर सुस्वादु बनाते हैं, इसी प्रकार रस तथा भाव कर्त्तारूप में स्थित होकर कर्मभूत एक दूसरे को भावित कराते हैं। अर्थात् भाव रसों को निष्पन्न या भावित करते हैं और रस भावों को भावित करते हैं (भाव बनाते हैं अर्थात् भावपद से कथन करने योग्य बनाते हैं)।

यहाँ इसका अभिप्राय यह है कि एक विषय में एक क्रिया होने पर अन्योन्याश्रय दोष होता है किन्तु क्रियाभेद होने पर नहीं, जैसे प्रस्तुत प्रसंग में दधि कांजी आदि उपसेचन द्रव्य के संयोग से अन्न में अम्लादि रस उत्पन्न होता है, पर ऐसा नहीं कि आधारभूत अन्न से व्यञ्जन को आस्वादन के योग्य बनाया जाता हो। इसी प्रकार भावों के द्वारा स्थायीभाव की रस्यमानता होती है और रसों के द्वारा कारणादि रूपों [सीता, रामादि] को विभाव पद से अभिहित किया जाता है (अतः यहाँ क्रियाभेद के कारण अन्योन्याश्रय नहीं)। जैसे पट की अपेक्षा से तन्तु 'कारण कहे जाते हैं और तन्तु की अपेक्षा से 'पट' कार्य कहलाता है तो अन्योन्याश्रय दोष नहीं होता इसी प्रकार यहाँ भी क्रियाभेद के कारण अन्योन्याश्रय दोष नहीं है ऐसा समझना चाहिए।

१. यथा बीजाद्—यदि भावों से उत्पन्न रसों को स्वीकार किया जाए तो आपने यह कैसे कहा कि 'न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते' अतएव पहिले उन्हीं का कथन करना उद्देश्य है, यह कथन कैसे सिद्ध होता है—इस आशंका के समाधानार्थ प्रस्तुतपद्य 'यथा बीजाद्' इत्यादि कहा गया है। जैसे बीज वृक्ष के मूल में कारणरूप होकर स्थित होता है इसी प्रकार रस काव्य के मूल में स्थित रहता है, अतएव उसी के द्वारा आनन्दास्वादपूर्वक प्रवृत्ति निवृत्ति का ज्ञान होता है। इसी कारण रस का व्याख्यान सर्वप्रथम करने

चार मूल रसों से आठ रसों का उद्गम—

तदेषां रसानामुत्पत्तिवर्णदैवतनिदर्शनान्यभिव्याख्यास्यामः। तेषामुत्पत्तिहेतवश्चत्वारो रसाः। तद्यथा—शृङ्गारो रौद्रो वीरो बीभत्स इति। अत्र—

योग्य है। कवि के मानस में साधारणीभूत रससंवितमूलक काव्य के द्वारा अभिनेता भी अभिनय प्रस्तुत करता है। यह कविगतसंवित् ही वास्तव में मूलभूत रस है। उसी के वशीभूत सामाजिक को अन्वयव्यतिरेक के द्वारा बाद में दिभावादि की प्रतीति होती है। अतएव मूल (बीज) स्थान पर कविगत रस भावादि का कारण है। काव्यगत उद्भावना में कवि सामाजिक के समान है जिसका समर्थन ध्वन्यालोककार के निम्न कथन से होता है। 'शृङ्गारी चेत् कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्' (ध्व० ३।४२) [यदि कवि 'शृङ्गारी है तो सारा जगत् रसमय है] इत्यादि। बीजस्थानीय उसी रस से वृक्षस्थानीय काव्य उत्पन्न होता है; जिसमें पुष्प-स्थानीय अभिनयादिरूप (नट का) व्यापार है तथा फलस्थानीय (सामाजिक का) रसास्वाद है। इसीलिये सामाजिक के लिये काव्यजगत् रसमय होता है। प्रस्तुत रसप्रसंग में विज्ञानवाद, द्वैतवाद, स्फोटवाद, सत्कार्यवाद तथा अद्वैतवाद के आधार पर रस की व्याख्या करने वाले आचार्यों के सिद्धान्तों का जो वर्णन हुआ है उसे विस्तार से जानने के लिए उन्हीं ग्रन्थों में देखना चाहिए, अनुपयोगी होने से उनके सिद्धान्तों की हम यहाँ चर्चा नहीं करना चाहते क्योंकि रस की व्याख्या में उनकी उपयोगिता नहीं है। [अर्थात् दार्शनिक मतों का प्रयोग रसनिष्पत्ति में अधिक सहायक नहीं है]।

दूसरे व्याख्याता इस श्लोक की अन्य प्रकार से व्याख्या करते हैं वे कहते हैं कि बीज स्थानीय भाव से रसरूप वृक्ष उत्पन्न होता है, जिसमें अभिनय रूप पुष्प से सुन्दरता को प्राप्त रसरूप वृक्ष से प्रतीति रूप भाव ही फल स्थानीय भोग को प्राप्त करता है। यह व्याख्या प्रकरण के विरुद्ध है क्योंकि यहाँ इस प्रकार मानने पर आदि और अन्त में भाव आ जाता है जो सम्भव नहीं है।

इस प्रकार 'भाव से रस की उत्पत्ति ही सिद्धान्तपक्ष है परन्तु अभिप्राय वैचित्र्य की दृष्टि से किसी स्तर पर तीनों पक्ष कथञ्चित् संगत माने जा सकते हैं।

शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः ॥ ४० ॥

(इति) अतएव (अब) इन रसों की उत्पत्ति, वर्ण, देवता (तथा इनके उदाहरणों) का वर्णन करते हैं। इन रसों की उत्पत्ति[1] के हेतु (स्रोतभूत) रस चार हैं। यथा—शृङ्गार, रौद्र वीर तथा बीभत्स।

इनमें शृङ्गार[2] से हास्य की, रौद्र से करुण की, वीर से अद्भुत की तथा बीभत्स से भयानक रस की उत्पत्ति होती है ॥ ४० ॥

---

१. उद्दिष्टलक्षण और विभक्त (कर) व्याख्या किये गये रस की परीक्षा द्वारा परिष्कृत सामान्यलक्षण को बतला कर अब उत्पत्ति आदि के द्वारा विशेष लक्षण कथन करने के लिये 'तदेषाम्' इत्यादि से पुनः कहते हैं :—

उत्पादकों [अन्य रसों को उत्पन्न करने वाले] तथा उत्पाद्यों [शृंगारादि रस से उत्पन्न हास्यादि रस] का एक दूसरे से भेद होने से दोनों का विशेष-लक्षण होता है। उत्पादकों का उत्पादकत्व दूसरे उत्पादकों से विलक्षण होता है और वह उत्पाद्य के कारण ही होता है। इसी प्रकार उत्पाद्यरसों की विशिष्टता अपने उत्पादक रसों पर आधारित है और इसी कारण इनमें अन्तर रहता है।

यहाँ 'निदर्शन' पद से शृंगारादि नाम अभिप्रेत है। निश्चयेन दर्शनम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार निश्चय से दर्शन का उपायत्व उत्पत्ति आदि में संगत नहीं होता इसलिये उनसे भिन्न (विलक्षण) होने के कारण विभावादि का संयोग 'विशेष-निदर्शन' है। रसों के जितने भी ऊत्पाद्य उत्पादक भाव सम्बन्धी भेद हो सकते हैं, वे सब इन्हीं चार प्रकारों से सूचित किये गये हैं।

२. चार मुख्य रसों से चार (गौण) रसों की उत्पत्ति का आशय है उनके विभावों द्वारा इन रसों की उत्पत्ति (या पुष्टि) होना। किन्तु यह निश्चय नहीं है कि इसके अतिरिक्त विभावों से (इन) रसों की उत्पत्ति नहीं हो सकती, वीर (तथा वात्सल्य) रस के विभाव से भी हास्यरस की उत्पत्ति हो जाती है। अतएव उत्पत्ति का विशेष अर्थ लेकर उसमें तन्मूलक शब्द जोड़ना चाहिए। इससे यह अर्थ होगा कि हास्य शृङ्गार मूलक होता है इत्यादि।

शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्यस्तु[1] प्रकीर्तितः।
[2]रौद्रस्यैव च यत् कर्म स ज्ञेयः करुणो रसः॥ ४१॥
वीरस्यापि च यत्कर्म सोऽद्भुतः परिकीर्तितः।
बीभत्सदर्शनं यच्च ज्ञेयः स तु भयानकः॥ ४२॥

शृङ्गार[1] का अनुकरण करने वाली प्रवृत्ति (अनुकृति) 'हास्य' कही जाती है, रौद्र का कर्म करुण, वीर का कार्य अद्भुत तथा बीभत्स वस्तु या उसे देखने का कार्य भयानक 'रस' समझना चाहिए॥ ४१–४२॥

अथ वर्णाः

श्यामो भवति[3] शृङ्गारः सितो हास्यः प्रकीर्तितः।
कपोतः करुणश्चैव रक्तो रौद्रः प्रकीर्तितः॥ ४३॥

---

१. शृङ्गार की जो अनुकृति है वह हास्य है ऐसा कहा जाता है अर्थात् शृङ्गारानुकृति रूप विभावों वाला हास्य-रस उत्पन्न होता है। जैसे शृंगार प्रथमरस है तो शृंगाररस से युक्त अनुकरणभूत 'हास्य' (द्वितीय रस) हुआ यहाँ यही अभिप्राय है। तथा रौद्ररस का जो कार्य अर्थात् वधादि रूप फल है वह करुण है। वीररस का सम्यक् अर्थात् अव्यवहित जो फल है वह 'अद्भुत' रस है। मूलस्थ 'परिकीर्तितः' का आशय है सब ओर से कीर्ति, यश, प्रताप आदि के कारण उत्पन्न होनेवाला वीररस। अर्थात् वीररस से महापुरुषों की यश, प्रताप, कीर्ति चारों ओर फैलती है जो विस्मय का कारण होती है। और 'अपि' शब्द से शृंगार भी वीर का अव्यवहित फल होता है यह सूचित किया है। यहाँ जो 'बिभत्सदर्शन होता है वह भयानक होता है' कह कर बीभत्स तथा भयानक के अभेद का जो प्रयोग किया गया है वह औपचारिक है तथा इस उपचार का फल है दोनों के सहभाव का ज्ञान होना।

यहाँ शृङ्गारादि चार रस हास्यादि चार रसों की उत्पत्ति के कारण कहे गये हैं वे यथायोग्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप पुरुषार्थ चतुष्टय से व्याप्त हैं और सौन्दर्यातिशय के (भी) जनक हैं।

---

१. स हास्य इति संज्ञितः—ग० ध०। २. रौद्रस्यापि—ग०।
३. भवेत्तु—ग०, भवेत् स तु—घ०।

गौरो वीरस्तु विज्ञेयः कृष्णश्चैव[1] भयानकः ।
नीलवर्णस्तु बीभत्सः पीतश्चैवाद्भुतः स्मृतः ॥ ४४ ॥

रसों के वर्ण[1]

शृङ्गार रस का श्यामवर्ण (नीला), हास्य का सफेद, करुण का कपोत (घटेरिया) रौद्र का लाल, वीर का गौर (चमकीला सफेद), भयानक का काला, बीभत्स का नीला तथा अद्भुत का पीला वर्ण होता है ॥

अथाधिदैवतानि[2]

शृङ्गारो विष्णुदैवत्यो हास्यः प्रथमदैवतः ।
रौद्रो रुद्राधिदैवत्यः करुणो यमदैवतः ॥ ४५ ॥
बीभत्सस्य महाकालः कालदेवो भयानकः ।
वीरो महेन्द्रदेवः स्यादद्भुतो ब्रह्मदैवतः ॥ ४६ ॥

रसों[2] *के अधिकारी देवता—*

शृङ्गार रस के अधिकारी देवता विष्णु (कामदेव), हास्यरस के प्रमथ

---

१. रसों के वर्णों का कथन (उनकी) पूजा आदि के अवसर पर उसके ध्यान करने में उपयोगी है । अन्य व्याख्याकारों का मत है कि पात्रों के मुँह रंगने में इन निर्दिष्ट वर्णों की उपयोगिता है । शान्त रस का वर्णन मूल कारिका में नहीं बतलाया गया अतएव नवरसवादियों के मत में मूल के अन्तिम चरण का पाठ 'स्वच्छपीतौ शमाद्भुतौ' होगा । उनके अनुसार शान्तरस का पीतवर्ण माना गया है ।

२. तत्तत् रस की सिद्धि के लिए उस उस देवता के पूजन को बतलाने के लिये रसों के अधिकारी देवताओं का निरूपण किया गया है । यहाँ विष्णु का अर्थ कामदेव है अर्थात् कामदेव रूपी विष्णु शृंगाररस का अधिदेवता है । प्रमथ शिव के क्रीडा करने वाले गणों को हास्यरस का देवता माना गया है । तीनों लोकों के संहार कर्त्ता रुद्र रौद्ररस के देवता हैं । रुद्र की प्रेरणा से प्रेरित यम प्राणियों का वध करता है जिसके सम्पादन होने पर करुणरस उत्पन्न होता है अतः करुण के यम देवता हैं । बीभत्सरस के महाकाल अधिष्ठातृ देव हैं जो बीभत्स के श्मशान, कंकाल आदि विभावों का सेवन करते हैं । वीररस का

---

१. कृष्णश्चापि—घ० । २. अथ दैवतानि—ग० ।

गण, रौद्ररस के रुद्रदेव, करुण रस के यम, बीभत्स रस के महाकाल, भयानक रस के काल, वीर रस के महेन्द्र तथा अद्भुत रस के ब्रह्मा हैं ॥

एवमेतेषां रसानामुत्पत्तिवर्णदैवतान्यभिव्याख्यातानि । [एषां तु] इदानीं विभावानुभावव्यभिचारिसंयुक्तानां लक्षणनिदर्शनान्यभिव्याख्यास्यामः । स्थायिभावांश्च रसानामनुक्रमिष्याम[1] इति ।

(वृत्ति) इस प्रकार रसों की उत्पत्ति, वर्ण तथा अधिकारी देवताओं का वर्णन किया गया । अब विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव से युक्त होने पर इनके लक्षण तथा उदाहरण (सामान्य तथा विशेष) बतलाता हूँ[1] । तथा यहाँ रसों के स्थायि-भावों का भी (इस सन्दर्भ में) निदर्शन किया जायगा ।

देवता महेन्द्र है, महेन्द्र शब्द से त्रैलोक्य के स्वामी का ग्रहण होता है । अद्भुत-रस का देवता ब्रह्मा है क्योंकि ब्रह्मा अचिन्त्य प्रकारों के आश्चर्यजनक पदार्थों का रचयिता है । शान्तरस को मानने वाले आचार्यों के मत में 'बुद्धः शान्तेऽब्जजोऽद्भुते' पाठ रखा जाता है । उनके मत में बुद्धदेव जो परोपकार में रत तथा ज्ञानी है वे ही शान्तरस के अधिदेवता हैं ।

१. रसों के विशेष लक्षण कहने के लिये ग्रन्थकार 'इदानीम्' इत्यादि से प्रस्ताव बनाते हैं । विशेष लक्षण सजातीय से अन्तर बतलाने के लिये होता हैं क्योंकि विजातीय से भिन्न हुए बिना सजातीय का ज्ञान नहीं होता और 'विजातीय का स्पष्टीकरण सामान्यलक्षण के बिना सम्भव नहीं होता अतएव विभावानुभाव' इत्यादि के द्वारा संयोगरूप रस सामान्य-लक्षण दिया गया ।

लक्षणरूप जो निदर्शन अर्थात् विशेषलक्षण का यहाँ भरत ने जो प्रस्ताव किया है वह प्रत्येक रस के विशेषलक्षण कथनार्थ है । अथवा सामान्यलक्षण के उदाहरण विशेष लक्षण के कथनार्थ होते हैं क्योंकि प्रत्येक सामान्य का पर्यवसान किसी विशेषलक्षण में ही होता है और उसके विना सामान्यलक्षण स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

---

१. रसत्वमुपनेष्यामः क; ग० ।

(अथ शृङ्गाररसप्रकरणम्)

तत्र शृङ्गारो नाम रतिस्थायिभावप्रभव उज्ज्वलवेषात्मकः। यथा—यत्किञ्चिल्लोके शुचि मेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृङ्गारेणोपमीयते[1]। यस्तावदुज्ज्वलवेषः स शृङ्गारवानित्युच्यते। यथा च गोत्रकुलाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेशसिद्धानि पुंसां नामानि भवन्ति तथैवैषां रसानां भावानाञ्च नाट्याश्रितानाञ्चार्थानामाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेशसिद्धानि नामानि भवन्ति। एवमेष[2] आचारसिद्धो हृद्योज्ज्वलवेषात्मकत्वाच्छृङ्गारो रस इति।

जो स्थायीभाव (लोक में) सामान्यतः चित्तवृत्तिरूप होते हैं और अनेकविध काव्य नाटच में प्रयोजकों के अनेकविध व्यापारों से बोधित होने वाले होते हैं उन्हें भी विश्रान्ति के एकान्तधाम रसत्व को प्राप्त करवाने की व्याख्या की जाएगी। क्योंकि कवियों और अभिनेताओं के द्वारा स्थायीभाव यथोचित विभावों के प्रस्तुतीकरण के द्वारा रसत्व को प्राप्त करवाए जाते हैं। जैसा ध्वन्यालोककार के निम्न पद्य में कहा गया है :—

'या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित्कवीनां नवा,
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती।
ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं,
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन त्वद्भक्तितुल्यं सुखम् ॥"

अर्थ—हे समुद्रशायिम् विष्णो, रसों के आस्वादन के लिये प्रयत्नवान् कवियों की जो अपूर्व (नवीन) दृष्टि है और परिनिष्ठित अर्थ को प्रकाशित करने वाले विद्वानों की जो वैपश्चिती दृष्टि है उन दोनों के द्वारा इस विश्व को अहर्निश देखते-देखते हम श्रान्त हो चुके परन्तु आपकी भक्ति जैसा सुख अन्यत्र कहीं भी प्राप्त नहीं हो पाया। (ध्व० ३।४३)

इस पद्य में 'नवा' शब्द से कवियों की अपूर्व दृष्टि का अभिधान किया गया है। अभिनेताओं के रचनाकार कवियों के आश्रित होने से उनमें अपूर्व या नवीन दृष्टि नहीं होती जो अपूर्व अर्थ का अवलोकन या आस्वादन कर सके,

---

१. अनुमीयते—ग०। २. तदेवमेव गुर्वाचारसिद्धो हृद्योज्ज्वलवेषात्मकः—ग०।

शृंगार-रस-प्रकरण[1]

(गद्य भाग) इनमें शृङ्गार रस 'रति' नामक स्थायी भाव से उत्पन्न होता है । प्रवृत्त होता है) तथा यह उज्ज्वल वेषात्मक (स्वरूप का

वह तो कवि को ही होती है । अतएव कवि तथा उन पर आश्रित अभिनेता के समान हम भी रसों के आस्वादनार्थ जिस प्रकार विभाव आदि की संयोजना कर रसत्व को प्राप्त कराते हैं वैसा ही वर्णन करेंगे । इस प्रकार लक्षणरूपग्रन्थ का फल [रसास्वाद] बतलाया गया ।

१ शृंगाररस–प्रकरण

इन रसों में सर्व प्रथम काम के पुरुषार्थरूपी फल होने और समस्त प्राणिजात के हृदयसंवादी होने के कारण कामप्रधान शृङ्गाररस का लक्षण 'तत्र' से लेकर 'उज्ज्वलवेषात्मक' तक से बतलाते हैं । यहाँ तत्र पद क्रम के निश्चयार्थ प्रयुक्त है अथवा 'ऐसा होने पर' इस अर्थ में रखा गया है । इस सूत्र के भाष्य से जिस लक्ष्यपद की प्रतीति होती है उसका नाम 'शृङ्गार' है । उसी की 'यत् किञ्चित्' से व्याख्या की गयी है । वस्तु के सौन्दर्य आदि से मण्डित 'शृङ्गार' होता है उसी के साथ मूलग्रन्थ में शुचि, मेध्य आदि की समानता दर्शायी गयी है । और इसीलिये उज्ज्वलवेषात्मा के लिये शृङ्गार शब्द प्रयुक्त किया गया है । यहाँ उपमान और उपमेय [अर्थात् उज्ज्वलवेष और शृङ्गार] में विषयगत विशेष विभेद की प्रतीति नहीं होने से अभेद मानकर इस प्रकार का व्यवहार होता है । अतएव आस्वादन की जाने वाली रति ही मुख्यरूप से 'शृङ्गार' शब्द का अर्थ होती है एवं रति के आस्वादक सामाजिक के द्वारा रति के उपभोग में विशेषरूप से आसक्त नायकादि को 'शृंगारी' कहा जाता है ।

परन्तु उस रति के उत्पादक विभावादि में (आसक्त) सामाजिक पुरुष (में शृंगार) की जो व्यवसनिता (लगाव, आकर्षण) पायी जाती है वह रसास्वादन अवस्था लोक में विद्यमान होकर भी चिरकाल तक स्थिर नहीं रहती है । अतः आस्वाद्यमान रति शृंगार शब्द से गृहीत है और उस रति के आस्वादन में यथोचित विभावादि का उपयोग किया जाता है । शास्त्र में अनिषिद्ध, अनिन्दित, सुष्पष्ट एवं मनोहारी शब्द से शृङ्गार के अभिधान करने (का मुख्य रूप में) और शृङ्गार से उपमा देने का (गौणरूप से) यही कारण है ।

होता) है । संसार में जो शुभ, पवित्र, उज्ज्वल (तेज सम्पन्न) तथा दर्शनीय हो वह 'शृंगार के द्वारा निर्दशित (उपमा दिया हुआ) होता है । उदाहरणार्थ—जो व्यक्ति उज्ज्वल (ललित) वेशधारी होता है उसे शृङ्गारी कहा जाता है । जैसे गोत्र[1], कुल तथा आचार के अनुसार तथा आप्त पुरुष

और यही बात मूलग्रन्थ में 'उपमीयते' पद से कही है। अर्थात् इन वस्तुओं की विभाव आदि रूप में रस प्रतीति के अन्तर्गत उपयोगिता बोधित या लक्षित होती है। यह लक्षित होना 'यस्तावत्' इत्यादि से दिखलाया गया है। अवधारणार्थक 'तावत्' शब्द के द्वारा शृङ्गार का मुख्य वाच्यार्थ उज्ज्वलवेष में गृहीत नहीं है अतएव उज्ज्वल वेषधारी शृङ्गारवान् होता है इत्यादि प्रयोगों में शृंगार शब्द का उज्ज्वलवेष में औपचारिक प्रयोग किया गया है। मुख्यरूप से शृंगार शब्द के प्रयोग का प्रयोजन बतलाने के लिए—'यथा च' इत्यादि (भरत ने) कहा है ।

१. यहाँ 'गोत्र' शब्द का अर्थ पितृकुलपरम्परा तथा 'कुल' शब्द का अर्थ मातृकुलपरम्परा है। 'आचार' का अर्थ है व्यवहार। किसी पुरुष या स्त्री का जो नाम पितृ या मातृकुल परम्परा के आधार पर या व्यवहार को दृष्टिगत करते हुए रखा जाता है वही नाम लोक-व्यवहार में प्रसिद्ध हो जाता है। इसके अतिरिक्त जो गुरुजन पुरुषादि के नाम रखते हैं वे भी प्रसिद्ध होकर प्रचलित हो जाते हैं ।

इसी प्रकार रस आदि के नाम प्राचीन ब्रह्मा आदि आप्त पुरुषों के द्वारा रख रये हैं या शास्त्रवेत्ताओं के द्वारा व्यवहार में लाये गये हैं; शृङ्गार आदि नाम भी इसी व्यवहाराश्रित प्रकार पर समझना चाहिए। और वह आचार अर्थात् व्यवहार से इसी रूप में लोक में प्रसिद्ध है। यथा अपने उज्ज्वलवेषादि के कारण यह शब्द लौकिक प्रसंग में भी प्रयुक्त होने लगता है। शास्त्रों में प्रयुक्त होने वाले विशिष्ट शब्द भी वृद्धजनों के द्वारा व्यवहार किये जाने पर लोक में प्रसिद्ध होकर उपचार से भिन्न अर्थों में (भी) प्रयुक्त किये जाते हैं। जैसे—'यह सांख्य का पुरुष कुछ नहीं करता' 'उसने मेरे लिये इस पूर्वरंग की निर्मिति कर डाली' तथा 'इन दोनों में महत्ता इसकी अधिक है' इत्यादि वाक्यों में प्रयुक्त 'पुरुष' 'पूर्वरंग' तथा 'महत्' शब्द क्रमशः सांख्य, नाटचशास्त्र तथा वैशेषिक दर्शनशास्त्र के विशेषशब्द हैं

के उपदेश द्वारा मनुष्यों का नामकरण किया जाता है; वैसे ही रस, भाव तथा अन्य नाट्याश्रित पदार्थों के व्यवहाराश्रित एवं परम्परा प्राप्त (आप्त पुरुष द्वारा उपदिष्ट) नाम होते हैं। (अतएव) अनेक आचार व्यवहार से सम्पन्न यह रस मनोहारी तथा ललित-वेश वाला होने के कारण (आप्तोपदेश तथा व्यवहारसिद्ध दोनों रूप में) सुधार कहलाता है।

स च स्त्रीपुरुषहेतुक[1] उत्तमयुवप्रकृतिः[2]। तस्य द्वे अधिष्ठाने

परन्तु इनका लौकिक प्रयोग भी अन्यार्थ में होता है। इसी प्रकार शृङ्गारादि शब्दों का विशिष्ट प्रयोग रस के विषय में मुख्य (रूप से होता) है और हृदयहारी उज्ज्वलवेषादि रूप लौकिक अर्थ में औपचारिक है।

'शृङ्गार' शब्द की व्युत्पत्ति में मत्वर्थीय 'आरकन्' का विधान नहीं है क्योंकि 'शृङ्गवृन्दाभ्यामारकन्' वार्तिक से आरकन् प्रत्यय करने पर शृङ्गार शब्द निष्पन्न होता है वृन्दारकशब्द के समान। अतएव 'शृङ्गार' शब्द उणादि से (निष्पन्न या) निपातित है।

अब 'रतिस्थायीप्रभवः' में आये हुए 'रतिस्थायी' आदि शब्द को 'स च' इत्यादि से स्पष्ट करते हैं। स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध के आधार पर 'यह इसकी स्त्री है' इस प्रकार के वाक्य में अभिलाषा तथा सम्भोग विषयक लौकिकबुद्धि का ग्रहण होता है। यह स्थायीभावस्वरूपा रति अभिलाषा मात्र (कामावस्था में विद्यमान रहने वाली) व्यभिचारि भावस्वरूपा रति से भिन्न होती है और आरंभ से लेकर फलाप्राप्ति की अवस्था तक रहने वाली और परिपूर्ण सुखरूपी फलप्रदायिनी रति होकर (इस) शृंगार रस का कारण मानी जाती है। कवि लौकिक रति की वासना से युक्त होकर विभावादि को इस प्रकार प्रस्तुत करता है और अभिनेता उसको इस प्रकार नाट्य में (अभिनयादि के द्वारा) अनुभव करवाता है कि रति के आस्वादन होने पर शृंगार-रस का अनुभव होने लगता है। शृङ्गार की अनुभूति में (सामाजिक) का पूर्वकालीन संस्कार उपयोगी होता है यह कहा जा चुका है। इसी आधार पर इस सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि परमार्थतः रतिक्रीडा की स्थिति कामियों में ही होती है, क्योंकि उन्हीं में कामसुख की धारा विश्रान्ति लेती है। अन्य सामाजिक आदि को तो कवि के द्वारा वर्णित ऋतु, माल्य आदि (उद्दीपन

---

१ स्त्रीपुंस—ग०। २. उत्तमयुवति—ग०।

सम्भोगो विप्रलम्भश्च। तत्र सम्भोगस्तावदृतु-माल्यानुलेपनालङ्कारे-

---

विभावों के) विषय की मानसिक उद्भावना होती है और इसी उद्भावना के द्वारा वर्णित विभावों से तादात्म्य स्थापित करते हुए अभेद रूप में वे रसास्वाद करते हैं। अनुभुति के प्रधान होने से यह 'संवित्' (प्रतीति) ही प्रमुख है और अनुभूति के अतिरिक्त अन्य जडों के भोग्य होने से 'अनुभूति' ही रसस्वरूपा है। जैसा कि कहा भी है : 'श्वासायासविडम्बनैव वपुषि प्राणाः पुनर्जानकी' 'प्रश्वास व श्वास की आवागमन प्रक्रिया तो विडम्बना मात्र है (पर) वास्तविक प्राण तो जानकी [विषयक रति] ही है' (अर्थात् विभावादि श्वास-प्रश्वास की तरह शरीर धारण में सहायक है परन्तु रति ही प्राणस्वरूप होने से स्थायी है)।

कुछ व्याख्याकारों ने अनुकार्य तथा सामाजिक के भिन्न व्यक्ति होने से आधार भेद हो जाने के कारण अनुकार्य के अनुभवों की सामाजिक को प्रतीति कैसे होगी ? ऐसी आशंका की है। यह अज्ञानमूलक है। क्योंकि दोनों में स्थित रति एक ही है और अन्योन्य अनुभव के आधार पर (अर्थात् परस्पर तादात्म्य या साधारणीकरण के द्वारा) परस्पर अभेद रहता है [अर्थात् अनुकार्य तथा सामाजिक-निष्ट रति अभिन्न या एक होती है]। इसी कारण भरत ने श्रृंगार रस को 'उत्तमयुवप्रकृतिः' कहा है। यहाँ उत्तम पुरुष और उत्तम स्त्री दोनों मिलकर दो उत्तम हुए। इसी प्रकार एक युवक पुरुष और एक युवती स्त्री मिलकर दो युवक [युवानौ] हुए। 'उत्तमश्च उत्तमा च उत्तमौ तथा 'युवा च युवती च युवानौ' इन द्वन्द्व समासों में एकशेष होकर 'उत्तमौ च तौ युवानौ इति उत्तमयुवानौ, तौ प्रकृतिर्यस्य इति 'उत्तमयुवप्रकृतिः' ऐसी व्याख्या होती है। यहाँ उत्तम युव शब्द से उन दोनों स्त्री-पुरुषों की संवेदनशक्ति का संकेत दिया गया है शारीरिकसौष्ठव (उत्तमता) का नहीं, क्योंकि उत्तमत्वरूप विशेष धर्म चैतन्य का होता है (वही विशेष धर्म माना जाता है) और वह उसका यौवनावस्था सम्पन्न शरीर सर्वत्र युवक व्यवहार के अनुरूप होने से उस रति का कारण उत्तमयुवक होता है। और वही रति-संवित् आस्वादन योग्य होने से श्रृंगाररस हो जाती है। स्त्री-पुरुष के उत्तम न होने पर रति स्थिर नहीं होती तथा इसी प्रकार युवक न होने पर भी। अतएव ऐसी दशा में वह रति संवित्

ध्जनविषयवरभवनोपभोगोपवनगमनानुभवनश्रवणदर्शनक्रीडालीलादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।

नहीं कहला सकती क्योंकि उन दोनों में वियोग की सम्भावना हो सकती है । और शृंगाररस का प्राण ही संयोग (या वियोग का अभाव) युक्त रति संवित् होती है । (अर्थात् स्थायी भाव और रसप्रतीति परस्पर एक दूसरे को अनुप्राणित करती है यही यहाँ व्याख्यान किया गया है) ।

'वेष' उसे कहते हैं जो चित्तवृत्ति को व्याप्त करता है और अपनी प्रतीति द्वारा रसरूप में संक्रान्त होता है वह विभाव तथा अनुभाव रूप 'वेष होता है और जो व्यभिचारीभाव रत्यादि स्थायीभाव में व्याप्त हो जाते हैं वे भी 'वेष' हैं । उन्हीं के उत्कृष्ट प्रकार के प्रयोग को यहाँ उज्ज्वल शब्द से संकेतित किया गया है ।

रससूत्र में जिन विभावादि का संकेत से निरूपण किया था अब उनकी विभाग पूर्वक व्याख्या करने के अभिप्राय से 'शृंगाररस की दो अवस्थाओं का 'तस्य द्वे' इत्यादि से भेद बतलाते हैं ।

'अधिष्ठाने' का अर्थ है अवस्थाएँ । अवस्था शृङ्गाररूप में अवस्थित रहती है इसलिए 'अवस्था' है । अतएव गो के शाबलेयत्व [दुरंगापन] और बाहुलेयत्व (बहुरंगापन) के समान ये दो अवस्थाएँ दो भेद नहीं हैं । प्रस्तुत दोनों दशाओं में रति का ही आस्वादन होता है और आस्वाद्यमान रूप शृङ्गारस होता है ।

जैसा कि कालिदास के (मेघदूत के) निम्न पद्य में है :—

एतस्मान्मां कुशलिनमभिज्ञानदानाद्विदित्वा
मा कौलीनादसितनयने मय्यविश्वासिनी भूः ।
स्नेहानाहुः किमपि विरहध्वंसिनस्ते त्वभोगा-
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशी भवन्ति ।। [मेघ० २।३५]

[हे श्यामलनयने, मेघ से दिये गये समाचारों से मैं कुशल पूर्वक हूँ ऐसा समझकर लोकप्रवाद से मेरे (जीवन के) प्रति अविश्वासिनी मत बन जाना । विरह से प्रेम का ह्रास हो जाता है यह बात लोग यों ही कहते हैं परन्तु भोग अभाव में प्रियजन के प्रति तृष्णा बढ़ जाने से प्रणय और भी गहरा हो जाता है ।]

तस्य नयनचातुरीभ्रूक्षेपकटाक्षसञ्चारललितमधुराङ्गहारवाक्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

यहाँ वियोगावस्था में प्रेम के विकास का कथन है।

इसीलिये सम्भोगावस्था में विप्रलम्भ की सम्भावना से भय रहता है और विप्रलम्भ में सम्भोग की कामना बनी रहती है। इतना ही [अर्थात् सम्भोग तथा विप्रलम्भ ही] शृङ्गाररस का क्षेत्र या स्वरूप है। विप्रलम्भ शृंगार के जो अभिलाष, ईर्ष्या, प्रयास आदि पाँच प्रकार हैं उनका रति की स्थिरता के कारण (भोग के अभाव में भी) इन्हीं शृङ्गार के भेदों में अन्तर्भाव हो जाता है। अतएव प्रेम होने पर तथा भोग के न होने पर भी सम्भोगशृङ्गार आदि का व्यवहार उपचार के द्वारा किया जाता है और दोनों दशाओं के मिश्रण से अतिशय चमत्कार उत्पन्न होता है। जैसा अमरुक के निम्न पद्य में :—

एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्यतो-
रन्योन्यं हृदयस्थितेऽप्यनुनये संरक्षतोर्गौरवम्।
दम्पत्योः शनकैरपाङ्गवलनान्मिश्रीभवच्चक्षुषो-
र्भग्नो मानकलिः सहासरभसव्यासक्तकण्ठग्रहम्॥ (अ० श० २३)

[पारस्परिक कलह के कारण एक ही शय्या पर मुँह फेर कर लेटे हुए, पारस्परिक उत्तर प्रत्युत्तर न देने से खिन्न दोनों के हृदयों में एक दूसरे को मना लेने की इच्छा रहने पर भी अपने गौरव की रक्षा करने वाले दम्पति के धीरे-धीरे कनखियों के चलाने से (दोनों की) आँखें मिल जाने पर हँसकर एक दूसरे के गले लग जाने से मान क्रीड़ा भंग हो गयी।

प्रस्तुत उदाहरण में ईर्ष्या-विप्रलम्भ और सम्भोग के मिलन से दम्पति के विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों के द्वारा अतिशयता के साथ शृङ्गाररस की अनुभूति (होती) है।

अतएव श्रीशंकुक आदि ने जो आशंका की है कि पुरूरवा को उन्मादावस्था के समय और वत्सराज उदयन की तपस्या के समय विप्रलम्भ शृङ्गार में भी अनुज्ज्वल वेष पाया जाता है। यह संगत होगा? परन्तु इनकी यह शंका वस्त्रालंकारादि रूप भोग के रस होने ये अनुचित है और जैसे स्नानादि

---

१. चातुर्य—ग०।

व्यभिचारिणश्चत्रासालस्यौग्र्यजुगुप्सावर्जाः। विप्रलम्भकृतस्तु निर्वेदग्लानिशङ्कासूयाश्रमचिन्तौत्सुक्यनिद्रासुप्तस्वप्नविबोधव्याध्युन्मादापस्मारजाड्य [मोह] मरणादिभिरनुभावैरभिनेतव्यः ॥

अवस्था उज्ज्वल होने पर भी रस नहीं होती, इसी प्रकार अनुज्ज्वल वस्त्रालङ्कारादि न रस होते और न रस में बाधक ही होते हैं। और शंकुक ने ही इस आशंका का जो यह उत्तर दिया कि उज्ज्वलवेष के न रहने पर भी उदयन आदि उत्तम रति का परित्याग नहीं करते अतः वहाँ शृङ्गार रस रहता है यह भी असंगत है क्योंकि इससे शंका का परिहार नहीं होता यहाँ यह शंका तो नहीं है कि उज्ज्वल वेष न रहने पर शृंगार क्यों रहता है ? और यदि यह शंका मान भी ली जाए तो क्या दोष है ? और यह प्रश्न करें तो आप कुछ भी कह लें किन्तु भरत मुनि ने यह कहा है कि शृंगार उज्ज्वलवेष वाला होता है, पर इसके विपरीत होने पर शृंगार नहीं होता ऐसा तो नहीं कहा [अतएव 'वेष' का तात्पर्य वस्त्रादि नहीं है]।

सम्भोग तथा विप्रलम्भ अवस्थाओं में पहिले सम्भोग दशा को 'तत्र' इत्यादि से बतलाते हैं। इसमें परस्पर स्त्री-पुरुष विभाव (अर्थात् आलम्बन विभाव) होते हैं और ऋतु आदि उनके उत्कर्षाधान में उपयोगी होने से उद्दीपन विभाव होते हैं क्योंकि उत्तम प्रकृति में अवसर के अनुकूल न होने पर रति का उदय नहीं होता।

ऋतु से वसन्त आदि ऋतुएँ, माल्य से कुसुम की मालाएँ, अंगराग आदि अनुलेपन पदार्थ ये सभी काम के उद्दीपक हैं। अंगद आदि अलङ्कार और विदूषक आदि इष्टजन से नायक नायिका की उत्तम प्रकृति के परिचायक हैं। विषय का अर्थ है गीत आदि। उनके अन्तर्गत माल्यादि का निवेश हो सकता था किन्तु इनके प्राधान्य द्योतनार्थ अलग ग्रहण किया गया है। वरभवन अर्थात् महल आदि। यह प्रदेश विशेष का उपलक्षण है। इनका उपभोग शृंगार के अन्तर्गत मान्य है। उपवन में जाना, अनुभव या श्रवण करना अथवा महल आदि में बैठकर श्रवण आदि करना यह संकल्पादि का उपलक्षण है। क्रीडा का अर्थ जलावगाहन करना आदि है। लीला अर्थात् लोकवृत्ति या चेष्टाओं का अनुकरण करना। इसके अतिरिक्त आदि ग्रहण से हंसमिथुन, चित्र एवं

यह रस उत्तम प्रकृति (उदात्तप्रकृति या स्वरूप) के नायक तथा नायिका को लेकर (पारस्परिक अनुराग द्वारा) अपने स्वरूप को प्रकट

कलाकौशल के अवलोकन आदि को लिया जा सकता है। ये सभी शृङ्गार रस के विभाव समझना चाहिए। अभिनय के अन्तर्गत इन सभी के आयोजित होने पर पूर्ण रूप में उत्तम प्रकृति में रति का उदय होता है।

रसनीयता को प्रत्यक्षरूप में अभिव्यक्त करने के लिये नेत्रों के चातुर्य इत्यादि के द्वारा अभिनय करना चाहिए। क्योंकि उनके द्वारा रस को आस्वादन के योग्य बनाया जाता है। इसलिये उन नयन चातुर्य आदि को अभिनय और क्रियाओं को अनुभाव कहा जाता है। क्योंकि वे ही आभिमुख्य नयन और अनुभावन स्वरूप हैं। रस को आस्वादन में समर्थ बनाना उद्दीपन विभाव है। अतएव अनुभाव और उद्दीपन के अभाव में केवल विभावादि वर्णन के प्रमुख रूप से रहने पर (श्रव्य) काव्य में दृश्य के समान चमत्कार की प्रतीति नहीं होती क्योंकि उनमें नाट्य के समान आस्वादन नहीं होता।

यह नयन चातुर्य आदि से कान्ता दृष्टि (ना० शा० ८।४१) का तात्पर्य लक्षणा से बोधित होता है। भ्रूक्षेप से 'चतुर' नामक भ्रू अभिनय (८।१२१) का तथा नेत्रों के घुमाने से कटाक्ष के द्वारा ताराकर्म (८।१००) का बोध होता है। आङ्गिक अभिनय में नयन चातुर्य, भौहों का कटाक्ष युक्त परिचालन और ललित अर्थात् मन्दगति से उचित अवसर पर अंगों की चेष्टाएँ आती हैं और ललित तथा सुकुमार अर्थ वाले श्रवणमधुर वाक्यों का उच्चारण वाचिक अभिनयान्तर्गत है। अतएव यहाँ इन आङ्गिक और वाचिक उपाङ्गों से होनेवाले अभिनयों को सूचित किया गया है। इसी से सामान्याभिनयाध्याय (अ० २४) में कहे गये चेष्टा तथा अलङ्कारों का भी ग्रहण हो जाता है। अतएव ललित तथा मधुर शब्दों की चेष्टा तथा अलङ्कार का वाचक मानना उचित नहीं है। आदि शब्द से मुखराग, रोमाञ्च आदि सात्विक भावों का समावेश होता है और मूल में नयनचेष्टा आदि को अनुभावात्मक कहकर उनको क्रियात्मक स्थिति में स्वीकार कर उनकी तटस्थता या उदासीनता का निषेध किया गया है और आभिमुख्यनयन (रूप अभिनय) के कथन से अनुकार्य या अनुकर्त्तागत रसप्रतीति की विश्रान्ति रूप आशंका का परिहार किया गया है।

करता है। इसके दो (मुख्य, मूल) विभेद हैं—(१) संयोग तथा (२) विप्रलम्भ। इनमें संयोग—(सम्भोग) शृंगार ऋतु, पुष्पमालाओं तथा अलंकारों के धारण, इष्टजन का साहचर्य, विषय या अर्थ, सुन्दर

आलस्य, उग्रता और जुगुप्सा के अतिरिक्त शेष तीस व्यभिचारी भाव शृङ्गाररस में प्रयुक्त होते हैं। मूल में 'अस्य' से संभोग तथा विप्रलंभ नामक दशाओं वाले 'शृंगाररस' से अभिप्राय है। जुगुप्सा बीभत्सरस का स्थायीभाव है और उसके शृङ्गाररस में निषेध के द्वारा न्यायसिद्ध स्थायीभावों का भी अन्यरसों में व्यभिचारिभावत्व सिद्ध होता है। और यहाँ जो आलस्य का निषेध किया गया है वह प्रमदा आदि विभावों के विषय में रहने वाले आलस्य का निषेध है इसका आशय यह नहीं कि आलस्य मात्र का निषेध किया गया अतएव 'वपुरलसलसब्दाहुलक्ष्म्याः' (वे० सं० १।२) ['अलस बाहु से युक्त लक्ष्मी का शरीर'] और 'कतिचिदहानि वपुरभूत् केवलमलसेक्षणं तस्याः' (विक्र० व० ५।६) ['उसका शरीर कुछ दिनों तक अलसाई आँखों से युक्त रहा'] इस प्रकार के वर्णनों में जो आलस्य को स्वीकार किया गया है वह निर्दोष है। काव्य नाटयादि में विभावादि के पूर्वनिर्द्धारित क्रम का ही ग्रहण करना चाहिए क्योंकि प्रथमोत्पन्न वस्तु स्थिर होती है और यह स्थिरवस्तु अपने अनुभाव आदि सहायक (परिवार) का संगठन करती है, और यही (रस) प्रतीति का क्रम है।

इन निर्दिष्ट तीस व्यभिचारिभावों में निर्वेद आदि सम्भोग शृंगार में व्यभिचारिभाव नहीं होने से उन्हें शृङ्गार में व्यभिचारिभाव कैसे निर्दिष्ट किया गया ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि विप्रलम्भशृङ्गार में उनका प्रयोग किया जाता है। यही बात आगे 'विप्रलम्भकृत' इत्यादि से भरतमुनि ने कही हैं यहाँ 'तु' शब्द सम्भोग की अपेक्षा विप्रलम्भ के विशिष्ट प्रकार की सूचना दे रहा है। और वह भेद यह है कि निर्वेदादि व्यभिचारिभावों की विप्रलम्भ के प्रतिपादक वाक्य के साथ एकवाक्यता होने से विप्रलम्भ से सम्बन्ध दुःखप्रधान निर्वेदादि को और शृंगार में वर्जित आलस्य की अवस्था को छोड़कर अन्य सभी सुख प्रधान धृति आदि व्यभिचारियों के द्वारा सम्भोग शृङ्गार का प्रदर्शन होता है। सम्भोग तथा विप्रलम्भ शृंगार में एक का दूसरे पर अंशतः आश्रित रहना अपरिहार्य है इसी बात को सूचित करने के मूल में 'अस्य' पद का अस्पष्ट प्रयोग किया गया है।

भवन का उपभोग, उद्यानगमन विहरण तथा अनुभव करने, (प्रिय जन के दर्शन, श्रवण तथा क्रीड़ा लीला आदि (विभावों के संयोग) से उद्भूत होता है। इसका अभिनय (रंगमंच पर प्रस्तुतीकरण) नयन-चातुर्य, भ्रूविक्षेप, कटाक्ष संचार, मधुर तथा ललित अंगों के परिचालन, मधुर शब्दों तथा ऐसी ही अन्य वस्तु के द्वारा किया जाता है। इसमें

शृङ्गार रस के अन्तर्गत इन दोनों प्रकारों का आस्वादन मिश्रित हो जाता है जिसे (मिश्रित रसास्वाद को) कालिदास ने रघुवंश में श्रीराम के अपने कर्म और पूर्वावस्था के वर्णन को करते हुए प्रस्तुत किया है। [आशय यह है कि रघुवंश के त्रयोदशसर्ग में विमान से लौटते हुए श्रीराम ने गत जीवन की विविध दशाओं और प्रदेशों को श्रीसीता को बतलाते हुए जो वर्णन किये हैं उनमें सम्भोग तथा विप्रलम्भ शृङ्गार की व्यामिश्र प्रतीति होती है]। और निद्रा के अन्तर्गत होने पर स्वप्न को मिश्रित प्रतीति करवाने के कारण प्रधान होने से व्यभिचारिभावों में पृथक् स्वरूप में स्वीकृत किया है। जैसे 'क्व नीलकण्ठ व्रजसी' (कु० सं० ५:५४) [हे नीलकण्ठ, तुम मुझे छोड़कर कहाँ जा रहे हो ?] इसमें तथा "सिवणवए" इत्यादि में और 'आहूतोऽपि सहायैः' इत्यादि उदाहरणों में सम्भोग तथा विप्रलम्भ की मिश्रित प्रतीति ही प्राणस्वरूप है।

सम्भोग दशा में विभावादि के समीप होने के कारण और के अभाव रूप होने से 'विबोध' भी व्यभिचारिभाव है। सम्भोग शृंगार में सुरतश्रम के कारण यद्यपि निद्रा आदि उत्पन्न होती है पर उससे रति में कोई वैचित्र्य की स्थिति निर्माण नहीं होती अतः सम्भोग में इसे अनुभाव नहीं माना जा सकता है परन्तु विप्रलम्भ शृंगार में निद्रा के आधिक्य से रति भावना विशिष्ट होने से उसे अनुभाव माना गया है।

काव्य या नाटक में उन्माद, अपस्मार और व्याधि का अत्यन्त कुत्सित अवस्था में प्रयोग नहीं दिखलाना चाहिए। प्राचीन आचार्यों का मत है कि इनकी कुत्सित दशा (मृत्यु के) सम्भव होने पर भी प्रदर्शित न की जाए। आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार जीवन की इस कुत्सित अवस्था में जहाँ जीवन निन्दनीय हो जाता है—रति की अवस्था का ही विच्छेद हो जाता है क्योंकि इसका देह द्वारा उपभोग ही सार होता है और कुत्सित दशा के

त्रास, आलस्य, उग्रता तथा जुगुप्सा नामक संचारी भावों को छोड़कर शेष सभी प्रयुक्त किए जाते हैं। शृंगार के विप्रलम्भ (नामक भेद) का अभिनय निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, चिन्ता, औत्सुक्य, निद्रा, स्वप्न, बिब्बोक, व्याधि, उन्माद, अपस्मार, जाड्य तथा मरण [मोह] आदि संचारी भावों द्वारा किया जाता है।

प्रदर्शन करने पर शृङ्गार का क्षेत्र ही समाप्त हो जाता है। अतः मरण संचारी का वर्णन इष्ट भी हो तो सम्भावना मात्र का या जिसमें शीघ्र पुनर्मिलन हो जाए ऐसे मरण का वर्णन करना चाहिए जिससे शोक की दशा को उत्पन्न होने का अवसर न मिले (अन्यथा करुणरस की अवतारणा हो जाएगी)।

अन्य व्याख्याकारों का इस विषय में यह मत है कि मरण (व्यभिचारिभाव) से जीवन की समाप्ति अभिप्रेत नहीं है, किन्तु इससे प्राणत्याग कर्तृत्व रूप चैतन्यावस्था का ही ग्रहण इष्ट है। यह भावदशा सम्बन्ध तथा अवसर के अनुसार व्यभिचारिभाव के रूप में समझना चाहिए [अर्थात् विप्रलम्भदशा में प्राणत्याग के लिये उद्यत होने के वर्णन में 'मरण' संचारी का विनियोजन हो सकता है] जिसके उदाहरण काव्यादि में अनेक मिल सकते हैं।

आदि शब्द से भरतमुनि ने दैन्य, मोह आदि का समाहार किया है। ये व्यभिचारिभाव अपने अनुभावों के द्वारा अनुभूत होकर विप्रलम्भ की प्रतीति करवाते हैं। इसीलिये मुनि ने (यहाँ) 'अनुभावैः' पद का प्रयोग किया है।

अन्य आचार्य आदि शब्द को करुणावाचक मानकर विप्रलम्भ शृङ्गार में उसके अनुभावों को प्रधानरूप से प्रस्तुत करने का समर्थन करते हैं तो अन्य पक्ष के आचार्य आदि शब्द को 'एकशेष' मानकर दोनों पक्षों को मान्य करते हैं।

विप्रलम्भ में आशा के दूरगामी होने पर छलना स्वीकार्य रहती है पर सम्भोग शृङ्गार में उपचार से उसका विरहात्मक फल ग्रहण किया जाता है क्योंकि रतिदशा में प्रेमी-प्रेमिका परस्पर प्रवंचना नहीं करते, इसी कारण शृङ्गार में विरह के द्वारा सौन्दर्य को बतलाते हुए भरतमुनि ने यह सूचित किया है कि बिना विरह के शृंगाररस का प्रयोग न काव्य में और न नाटक में हृदयग्राही हो सकता है। इसीलिये सम्भोग शृङ्गार के अन्तर्गत मीठे स्वाद की निरन्तर एकरसता के परिहारार्थ गोत्रस्खलन आदि से उत्पन्न ईर्ष्या या अन्य कारणों से उत्पन्न (विप्रलम्भ के कारण भूत) कलह के द्वारा विषम दशा

अत्राह—यद्येवं रतिप्रभवः श्रृङ्गारः, कथमस्य करुणाश्रयिणो भावा भवन्ति ? अत्रोच्यते—पूर्वमेवाभिहितं सम्भोगविप्रलम्भकृतः श्रृङ्गार इति। वैशिकशास्त्रकारैश्च[1] दशावस्थोऽभिहितः। ताश्च[2] सामान्याभिनये वक्ष्यामः।

यहाँ[1] प्रश्न हो सकता है कि यदि शृङ्गार रति (भाव) से उद्भूत है

की कविगण सृष्टि करते हैं (जिससे एकरसता के कारण वैरस्य का परिहार होता है और चमत्कार बना रहता है) क्योंकि वात्स्यायन ने 'काम को विपरीतकारी' (का० सू० २।७।१) कहा है और भरतमुनि ने भी 'यद्वामाभिनवेशित्व' (ना० शा० २४।२०७) कहकर अपनी वात्स्यायन से सहमति दिखलायी है।

व्यभिचारिभाव अस्थिर होते हैं और बिजली के चमकने और विलुप्त होने के समान हैं और ये स्थायीभाव रूपी सूत्र की निरन्तरता में प्रकट और लुप्त होकर सौन्दर्याभिवृद्धि करते हैं। यद्यपि स्थायीभाव भी स्थिर नहीं होते फिर भी संस्काररूप से तथा धारावाही सजातीय प्रवाह रूप से स्थिर माने जाते हैं परन्तु व्यभिचारिभाव इस रूप में कुछ देर तक भी स्थिर नहीं रहते और वे अपने संस्कारों को स्थायीभाव के संस्कार में लीन कर उसी को पुष्ट करते हैं। यहाँ इसी रूप में इनका निरूपण किया है।

१. सम्भोग तथा विप्रलम्भ श्रृङ्गार के प्रतिपादक पूर्वोक्त वाक्यों की एकवाक्यता से दोनों दशाओं में वर्तमान श्रृङ्गार का जो स्वरूप बतलाया गया उसे और स्पष्ट करने के लिये भरतमुनि 'अत्राह' इत्यादि से पूर्वपक्ष उद्भावित करते हैं। (करुणरसे आश्रयणं विद्यते येषां भूम्ना इति) करुण रस में जिनका अधिकतर आश्रय रहता है ऐसा 'करुणाश्रयिण' पद का विग्रह करना चाहिए।

पूर्वपक्षी के द्वारा अप्रामाण्य की आशंका के परिहारार्थ मुनि 'वैशिक' इत्यादि से काम शास्त्रकारों का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। वैशिक शब्द का विग्रह है "वेशः वेश्यावर्गः करणं प्रयोजनं वास्य शास्त्रस्य तद् वैशिकं कामशास्त्रम्" (अर्थात् वेश शब्द का अर्थ है वेश्यावर्ग और कारण का अर्थ है

---

१. वैशिकशास्त्रैः—ग०। २. ताश्चावस्थाः—ग०।

तो फिर इसके करुण रसाश्रित (निर्वेद, ग्लानि आदि) सञ्चारी भाव क्यों माने गये ? (उत्तर) पहिले ही बतलाया जा चुका है कि शृंगार के संयोग तथा विप्रलम्भ दो भेद होते है। वैशिक (वात्स्यायन आदि काम) शास्त्रकारों ने इन विप्रलम्भ की दस अवस्थाएँ बतलाई हैं जिन्हें हम सामान्याभिनय-निरूपण के अवसर पर (ना०, शा० अ० २४ में) बतलाएँगे।

सम्भोगात्मक प्रयोजन। यह जिस शास्त्र में हो उसे वैशिक या कामशास्त्र कहते हैं) इन कामशास्त्रकारों ने (भी शृङ्गाररस को अभिलाष से लेकर मरण पर्यन्त दस अवस्थाओं वाला बतलाया है। वैशिक का विस्तृत विवरण ना० शा० अध्याय २५ में स्वयं भरत ने किया है]।

अवस्थापद से विप्रलम्भ के अलग-अलग प्रकारों का निराकरण किया गया है। अतएव चिन्ता आदि को रतिस्थायी के व्यभिचारिभाव माना गया है और 'च' के प्रयोग से इस बात का संकेत दिया है कि नायक-नायिका मिलन की आस्था से युक्त होकर रतिस्थायी के अन्तर्गत विप्रलम्भशृंगार की अंगभूत दस अवस्थाओं का अनुभव करते हैं।

करुण और विप्रलम्भशृङ्गार (दोनों) में एक ही प्रकार के (समान) व्यभिचारिभावों का प्रयोग होने पर करुण का विप्रलम्भ से भेद कैसे स्पष्ट होगा इस आशंका के परिहारार्थ 'करुणस्तु' इत्यादि से भरतमुनि कहते हैं।

अधम प्रकृति के स्त्री-पुरुषों में स्थायीभाव की स्थिति नहीं होने से विप्रलम्भशृङ्गार नहीं होता और आलम्बन आदि विभावसामग्री के न होने पर भी रत्यादि स्थायीभाव की स्थिति नहीं होती (अत एव) अधम पुरुष का अपनी (प्रेयसी या) स्त्री के साथ स्थायी सम्बन्ध न रहने से वियोगावस्था में रतिस्थायी भी नहीं रहता अतः विप्रलम्भ शृंगार नहीं होता किन्तु उनमें शोक स्थायी भाव वाला करुणरस हो सकता है (अतः करुणरस विप्रलम्भ से भिन्न है)।

पर उत्तरप्रकृति के स्त्री-पुरुषों में रति के विपरीत शोक स्थायी भाव करुणरस में होता है अतः करुण का विप्रलम्भ से भेद करने के लिये मूल में 'निरपेक्षभावः' विशेषण दिया है। इसका आशय यह है कि बन्धुजन आदि के विषय में (विप्रलम्भ शृङ्गार में) रति (स्थायी) होने पर अपेक्षा (आशा) बनी रहती है अतः वह सापेक्ष है, परन्तु करुण में प्रिय की मृत्यु हो जाने से

करुण तथा शृंगार रस के पारस्परिक विभेद—

करुणस्तु [1]शापक्लेशविनिपतितेष्टजनविभवनाशवधबन्धसमुत्थो[2] निरपेक्षभावः

औत्सुक्यचिन्तासमुत्थः सापेक्षभावो विप्रलम्भकृतः। एवमन्यः करुणोऽन्यश्च विप्रलम्भ इति। एवमेव सर्वभावसंयुक्तः शृङ्गारो भवति।

आशा के न रहने से उसे 'निरपेक्षभावः' कहा है। आशा का उल्लेख महाकवि कालिदास ने भी मेघदूत में किया है। यथा—'आशाबन्धः कुसुमसदृशः प्रायशो ह्यङ्गनानाम्' इत्यादि (मे० पू०। १०) (अर्थात् स्त्रियों का आशा बन्धन सूत्र प्रायः कुसुम के समान कोमल होता है।)

सापेक्षभाव से रहित अर्थात् निरपेक्षभाव रूप करुण-रस होता है। इस निरपेक्षभाव की उत्पत्ति शाप के कष्ट में पड़े हुए प्रियजन के विभवनाश, वध या बन्धन आदि से होती है। उत्तम प्रकृति के व्यक्तियों के द्वारा शाप की अवस्था प्राप्त करने पर उसके प्रतीकार का कोई मार्ग नहीं रहता अतः उनके लिये वह केवल शोकोदय का ही कारण बनता है यह बात भी इसी से सूचित की गयी है; क्योंकि प्रतीकार की सम्भावना बनी रहने पर वह उत्साह या क्रोध का विभाव बन कर वीर या रौद्ररस की उत्पत्ति का कारण हो सकता था।

और विक्रमोर्वशीय में करुण की अपेक्षा विप्रलम्भ की अवस्था को रखने के लिये उर्वशी में शापवश स्वर्ग चले जाने पर भी पुरूरवा के शोक को हटाने के लिये कालिदास ने उर्वशी को शाप प्राप्ति का पुरूरवा को पता न लगने (पाए इस प्रकार) का उल्लेख किया है। इस प्रकार करुण तथा विप्रलम्भ शृङ्गार के विभावों तथा स्थायीभावों में अन्तर स्पष्ट है और करुणरस में जो निर्वेदादि व्यभिचारिभाव होते हैं वे रतिभाव से असम्बद्ध निरपेक्ष शोकस्वरूप होने से भिन्न हैं। इसलिये भी यहाँ 'करुण' को 'निरपेक्षभावः' कहा गया है।

(इस प्रकार प्रस्तुत प्रसंग में) करुण रस के स्वरूप को कहने के उपरान्त विप्रलम्भ में उसका अन्तर स्पष्ट करने के लिए 'औत्सुक्यचिन्ता' इत्यादि के

---

१. विनिपातनेष्टजनविप्रयोग—ग०। २. बन्धनसमुत्थो—ग०।

करुण रस में शाप तथा क्लेश में पड़ने से वियुक्त प्रिय या इष्ट व्यक्ति के रहने, विभव नाश, वध तथा बन्धन (के समान रूप में दोनों में) प्राप्त होने पर भी वह रति से निरपेक्ष रहता है और विप्रलम्भ शृंगार में (ये ही) औत्सुक्य तथा चिन्ता से उत्पन्न होकर, रति से सापेक्ष भाव रखते हुए स्थित रखते हैं। इसी कारण विप्रलम्भ रस और करुण रस एक दूसरे से पार्थक्य रहते हैं। यह शृङ्गार रस सभी (कथित) अनुभावों, भावों (आदि) से युक्त होता है।

अपि च—

सुखप्रायेष्टसम्पन्न ऋतुमाल्यादिसेवकः।
पुरुषः प्रमदायुक्तः शृङ्गार इति संज्ञितः॥ ४७॥

कहा भी है कि—शृङ्गार तभी कहलाता है जब वह सुख-बहुल प्रियजनों से युक्त हो, ऋतु तथा माल्यादि उद्दीपक पदार्थों के द्वारा मनो-

---

द्वारा उसकी योजना करते हैं। यहाँ 'चिन्ता' शब्द निर्वेदादि समस्त व्यभिचारिभावों का उपलक्षण है। औत्सुक्यप्रधान चिन्ता आदि व्यभिचारिभावों से विप्रलम्भ की उत्पत्ति होती है। अतः औत्सुक्य तथा चिन्ता के कारण विप्रलम्भ शृङ्गार में रतिभाव सापेक्ष होता है और वह सापेक्षता रतिभाव से रहती है इसी कारण सम्भोग तथा विप्रलम्भ शृंगार के विभाव तथा स्थायीभाव समान होते हैं। औत्सुक्य का अर्थ होता है विषय के प्रति उन्मुख होना और यह विषय (आलम्बन) के नष्ट हो जाने पर नहीं रह सकती है (क्योंकि आलम्बन के नाश के साथ विप्रलम्भ शृङ्गार की स्थिति कैसे रह सकेगी !) अतएव समस्त भावों से युक्त शृङ्गाररस एक ही होता है। इस प्रकार परीक्षा करके उसके फल का यहाँ उपसंहार किया गया है।

इस प्रकार परीक्षा के पश्चात् सूत्रार्थ की स्थापना कर लेने पर विवरण रूप से तथा सूत्रार्थ के विस्तृत पाठ रूप होने से 'अपि च' इत्यादि से 'कारिका' को दिया जा रहा है। यह कारिका केवल सूत्रार्थ कथन रूप ही नहीं है अपि तु परीक्षा स्वरूपा भी है यही 'अपि च' के चकार का सांकेतित अर्थ है।

सुखप्रायेष्टेति :—यहाँ पुरुष शब्द से अनुभव करने वाले भोक्ता का ग्रहण

रंजन किया जाता हो तथा (जिसमें) नायिका और नायक का योग (मिलन) हो ॥ ४७ ॥

होता है और भोक्ता ही स्थायीभाव का संवित् स्वरूप है (अर्थात् यही स्थायी-भाव का आस्वादनकर्त्ता या अनुभावक है) रतिरूप पुरुष के व्यभिचारिभाव योग्य होते हैं अतएव रतिरूप ही 'पुरुष' हैं। उपनिषद् पुरुष को 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः' इत्यादि से श्रद्धामय कहते (भी) हैं तो उसी प्रकार स्त्री भी यहां रति रूपिणी है।

भोक्तृत्व में पुरुष की प्रधानता होती है तथा स्त्री भोग्या होती है। प्रधान होने से पुरुष भोग्या (स्त्री) के अधीन नहीं होता। अतएव नायक के साथ अन्य नायिकाओं के सम्बन्ध होने पर भी शृङ्गाररस की हानि नहीं होती। इसके विपरीत भोग्य होने से नायिका परतन्त्र मानी जाती है और उसके पुरुषान्तर से सम्बन्ध होने पर शृङ्गाररस की हानि हो जाती है।

प्रस्तुत कारिका में 'सुखप्रायेष्ट' इत्यादि पुरुष के विशेषण रूप से इष्ट होने से सभी के मेल-जोल से श्रृंगार का विभावत्व दिखलाया गया है और रसोदय और उसके आस्वादन के द्वारा (विभावादि भोक्ता में अन्तर्भूत हो जाते है; इससे) भोक्ता की प्रधानता को भी सूचित किया गया है।

आवश्यक सामग्री की समग्रता या पूर्णता के निश्चय होने पर ही रति-भाव का उपचय (विस्तार) होता है। रत्नावली नाटिका में जब नायिका (सागरिका) को यह ज्ञात होता है कि—'उसके पिता ने उसे उदयन को सम-र्पित कर दिया था' तभी सामग्री की सर्वसम्पन्नता प्रतिपादित होती है तथा 'इस प्रकार कर्णपूर के दर्शन से' इत्यादि से उसकी कुलीनता भी प्रतिपादित होती है। इन सभी से वहाँ नायिका का सर्वसम्पन्नत्व दिखलाया गया अन्यथा उसकी रति उत्तम नहीं होती। क्योंकि जाति तथा सम्पत्ति की समानता के अभाव में असदृश रति का उचित विकास नहीं होता और सहृदयों के मन में (रस) प्रतीति के सम्बन्ध में विरसता उत्पन्न होने लगती है।

जो श्रीशंकुक आदि विषय सामग्री की ही पूर्णता को रस मानते हैं उनकी भ्रान्ति का आधार यही कारिका है परन्तु उपर्युक्त पद्धति से व्याख्या करने

अपि चात्र सूत्रानुविद्धे[1] आर्ये भवतः—

ऋतुमाल्यालङ्कारैः प्रियजनगान्धर्वकाव्यसेवाभिः ।
उपवनगमनविहारैः शृङ्गाररसः समुद्भवति ॥ ४८ ॥

नयनवदनप्रसादैः स्मितमधुरवचोधृतिप्रमोदैश्च ।
मधुरैश्चाङ्गविहारैस्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥ ४९ ॥

[इति शृङ्गाररसप्रकरणम् ॥]

इसी विषय को बतलाने वाली सूत्र-भूता दो आर्याएँ भी हैं—

अनुकूल ऋतु, पुष्पमाला (आदि) के सेवन, अलंकारों के धारण, प्रियजन सहकार, गायन, काव्य श्रवण, सेवा तथा उद्यान में विनोद विहार आदि के द्वारा शृङ्गार रस उद्भूत होता है। इसका अभिनय आँखों

पर यह भ्रान्ति नहीं होगी। कारिका में 'संज्ञितः' शब्द से शृंगार शब्द की अन्वर्थता का निराकरण किया गया है, क्योंकि शृङ्गार शब्द केवल रूढ़ है (यह बतला चुके हैं) 'अपि च' इस भिन्न क्रमवाले पद का आशय यह है कि ऐसा यह केवल श्लोक का ही अर्थ नहीं किन्तु इस विषय में सूत्रार्थ का समर्थन करने वाली दो आर्याओं का भी है।

ऋतुमाल्या—यहाँ मूलकारिका में 'प्रियजन' का अर्थ विदूषक आदि है; गान्धर्वशब्द का अर्थ है संगीत आदि मनोहर विषयों का प्रयोग तथा 'काव्य-सेवा' शब्द से विभाव के अर्थ में विषय के सङ्कल्प या स्वरूप को सूचित किया गया है। और जो यह कहते हैं कि 'काव्य के अन्तर्गत निहित रस काव्यार्थ को ग्रहण करने वाले सहृदय के चित्त में भिन्नभाव स्तर पर गृहीत होता है और इसीलिये सुखात्मक या सुखजनक होने से काव्यार्थ रसरूप है' इसका खण्डन (हमारे विवेचन) से हो गया है।

दूसरी कारिका में 'धृति' तथा 'प्रमोद' शब्दों से व्यभिचारिभावों की सूचना दी गयी है। तथा इस प्रकार शृंगार की दो अवस्थाओं से एक ही शृङ्गाररस होता है इस तथ्य का उपसंहार (भी) किया गया है।

॥ इति शृंगाररस प्रकरणम् ॥

---

१. सूत्रानुबन्धे—क; सूत्रार्थानुविद्धे—क (अ); चात्रानुविद्धे—ख

के विस्फारित करने, मुख की प्रसन्नता, मधुर एवं सस्मित वचनों, धैर्य, आमोद तथा ललित अङ्ग परिचालन (आदि) के द्वारा किया जाना चाहिये ॥ ४८–४९ ॥

हास्य (अथ हास्यरसप्रकरणम्)

अथ हास्यो नाम हासस्थायिभावात्मकः। स च विकृतपरवेषालङ्कारधाष्ट्र्यलौल्यकुहका[1]सत्प्रलापव्यङ्गयदर्शनदोषोदाहरणादिभिर्विभावैरुत्पद्यते[2]। तस्योष्ठ[3]नासाकपोलस्पन्दनदृष्टिव्याकोशाकुञ्चनस्वेदास्यरागपार्श्व ग्रहणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। व्यभिचारिणश्चास्यावहित्थालस्यतन्द्रानिद्रास्वप्नप्रबोधासूयादयः। द्विविधश्चायमात्मस्थः परस्थश्च। यदा स्वयं हसति तदात्मस्थः। यदा[4] तु परं हासयति तदा परस्थः॥

(गद्य भाग) हास्य-रस[1] का स्वरूप 'हास' नाम स्थायी भाव वाला

---

१. हास्यरस का लक्षण करने के लिये 'अथ' इत्यादि से आरंभ करते हैं। मूललक्षण में दिये गये 'आत्म' शब्द से हास्यरस को 'तदात्मकः' माना गया है; इसका अभिप्राय यह है कि—श्रृंगाररस के निरूपण में आचार्य भरत ने (उसके) लक्षण में तो 'रति-प्रभवः' कहा और 'हास्य के लक्षण में 'हासस्थायिभावात्मकः' बतलाया। रसों के लक्षणों में ये अन्तर क्यों रखे गए? इस आशंका के उत्तर में आचार्य-अभिनवगुप्त पाद ने बताया कि श्रृंगार तथा करुणरस के लक्षण में जो आचार्य में 'रतिप्रभवः' तथा 'शोकप्रभवः' कहा है इसका कारण है हास्यादि रसों के स्थायीभाव सजातीय हास्यात्मक प्रतीति को उत्पन्न करते हैं जब कि श्रृंगार तथा करुण के स्थायीभाव सजातीय प्रतीति को उत्पन्न नहीं करते। श्रृंगार के रति स्थायीभाव से होने वाली प्रतीति रति रूप में न होकर सुखात्मक होती है तथा करुण रस के स्थायी

---

१. कलहासत्प्रलाप—ग०। २. समुत्पद्यते—ग०।
३. तस्यौष्ठदंशननासा—ग०। ४. यदापरं ग०।

होता है। यह अन्य व्यक्ति के विकृत वेष अलंकार, ढिढाई, चंचलता, कुहक (कोख तथा गले को छूकर हंसाने), व्यर्थ बकवास, हीन अवयवों के दर्शन, दोषों के (हीनता या अन्य ऐसे ही दुर्गुणों के) देखने तथा इसी प्रकार की अन्य बातों वाले विभावों के द्वारा उत्पन्न (व्यंजित)

शोक से होने वाली प्रतीति शोकात्मक न होकर दुःखात्मक होती है। इस प्रकार रति तथा शोक स्थायी से विजातीय प्रतीति उत्पन्न होने से वे 'स्थायी-भाव -प्रभव' कहे गए। पर शेष हास आदि स्थायीभाव सजातीय प्रतीति के उत्पादक (मात्र) होने से 'स्थायीभावात्मक' बतलाए गए यही भेद का एक कारण है, और दूसरा कारण है विभावादिकों का साधारण और असाधारण होना। शृङ्गार तथा करुण के विभाव असाधारण होते हैं जबकि हास्यादि रसों के विभावादि लोकसाधारण होते हैं। यह भी स्थायीभाव-प्रभव तथा स्थायीभावात्मक के भेद का दूसरा कारण है।

इनमें वेष का अर्थ केशरचना आदि है। अलङ्कार से बाजूबन्द आदि का ग्रहण करना चाहिए। ये दोनों (वेष और अलङ्कार) विकृत अर्थात् देश काल, प्रकृति, आयु तथा अवस्था के विपरीत होने पर हास्यरस के विभाव हो जाते हैं। सभी रसों में प्रयुक्त विभाव हास्यरस के विभाव हो सकते हैं अतः समस्त रसों का हास्य में अन्तर्भाव हो सकता है [यह बात दिखलाई भी गयी है]। विदूषक हास्यजनक वेष के द्वारा हास्यात्मक (को) ही प्रदर्शित करता है। पर वेष शब्द में 'पर' शब्द 'दूसरे से सम्बन्ध रखने वाले' अर्थ को बतलाता है। इस प्रकार देवदत्त आदि अन्य व्यक्तियों के वेष या अलङ्कार को धारण कर उद्घट्टक (अङ्गहार) आदि से भाण्डों के द्वारा जो उसका नृत्य प्रदर्शन होता है वह हास्य उत्पन्न करता है। वेष और अलङ्कार शब्द दूसरे की गति (चलने-फिरने) तथा बोल-चाल आदि के भी उपलक्षण है। धाष्टर्य का अर्थ है निर्लज्जता। विषयों में अनियमिता लौल्य (लोलुपता होती) है। बालकों के लिये उनकी आँख या गर्दन को गुदगुदाना 'कुहक' है। व्यंग का अर्थ अंगहीनता या नकटा-पन है। दोष का अर्थ है जो जैसी प्रकृति का नहीं है उसे वैसे प्रदर्शन में लेना जैसे कोई डरपोक प्रकृति का न हो तो उसे डरपोक दिखलाना या उसके अनुचित कार्यों को प्रदर्शित करना। ये सभी दोष हैं। अथवा जिन

होता है। इसका अभिनय ओठ,[1] नाक तथा गले के फड़काने, दृष्टि को सिकुड़ाने या फैलाने, स्वेद, मुंह के लाल होने तथा बगली झांकने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाय। इसमें रहने वाले संचारी भाव हैं—आलस्य, अवहित्था, तन्द्रा, निद्रा, स्वप्न, प्रबोध तथा असूया (आदि)। यह (हास्य) दो प्रकार का होता है[2]—आत्मस्थ तथा परस्थ। जब मनुष्य स्वयं हंसने लगे तो आत्मस्थ तथा दूसरों को हंसावे तो परस्थ होता है।

अनुचित कार्यों का मुनि ने निषेध किया उनका उल्लेख या कथन करना दोष है। आदि शब्द से उन दोषों का सङ्कल्प या स्मृति करना लिया जाता है।

१. मूल के 'ओष्ठनासा' आदि शब्दों का 'स्पन्दन' शब्द से सम्बन्ध है। 'व्याकोशन' शब्द का अर्थ है आँखों का खोलना तथा बन्द करना तथा 'आकुञ्चन' का अर्थ आँखों को थोड़ा बन्द करना है। इनकी दृष्टि के साथ योजना होती है। 'आस्यराग' का अर्थ है मुख की लालिमा। पार्श्वों के पीड़न का अर्थ है उनको पकड़ना या दबाना। 'तन्द्रा' शब्द का अर्थ है मोह (मूर्च्छा)। ये विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव स्मित आदि आगे कहे जाने वाले प्रकारों के साथ उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति से यथायोग्य सम्बद्ध किये जाते हैं।

२. हास्यरस के दो प्रकार हैं। अपने में स्थित विकृत वेष आदि विभावों से जब विदूषक (आदि पात्र) स्वयं हँसता हो तो वह आत्मस्थ हास्य होता है और यदि वह महारानी आदि अन्य पात्र को हँसाता है तो वह परस्थ हास्य हो जाता है ऐसा श्रीशंकुक आदि प्राचीन आचार्यों ने माना है पर यह ग्राह्य नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर विभावों का आत्मस्थ तथा परस्थ विभाग होता है हास्यरस का नहीं। और स्वामी का शोक परिजनों में भी शोक उत्पन्न करता है तो इस प्रकार शोक के प्रसङ्ग में [करुणादिरस में] भी परस्थता मानी जानी चाहिए। और यदि महादेवी आदि अन्य व्यक्ति में व्यक्त होने वाला हास्य परस्थ माना जाए तो गम्भीर प्रकृति के स्वामी में सेवकों के अनुभावों से उत्पन्न होने वाला क्रोध [रौद्ररस] भी परस्थ होने लगेगा। अतः आत्मस्थ और परस्थ की यह व्याख्या दोषपूर्ण है। तथा स्वयं जिसमें विभाव हो वह हास्य आत्मस्थ तथा दूसरा जिसमें विभाव हो वह परस्थ होता है यह व्याख्या भी ठीक नहीं है। क्योंकि दूसरे का हास्य भी

अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः—

विपरीतालङ्कारैर्विकृताचाराभिधानवेषैश्च ।
[1]विकृतैरङ्गविकारैर्हसतीति रसः स्मृतो हास्यः ॥ ५० ॥
[2]विकृताचारैर्वाक्यैरङ्गविकारैश्च विकृतवेषैश्च ।
हासयति जनं यस्मात्तस्माज्ज्ञेयो रसो हास्यः ॥ ५१ ॥

इस विषय में दो आनुवंशी आर्यायें हैं :—

विपरीत स्थान पर अलंकारों के धारण करने; विकृत व्यवहार, वाक्य तथा वेष के प्रदर्शन करने और विकृत अङ्गों (विकारों तथा) चेष्टाओं आदि के द्वारा हंसाने पर 'हास्य' कहलाता है ॥ ५० ॥

क्योंकि यह अपने विकृत व्यवहार, वाक्य अंगों की क्रियाओं एवं विकृत वेष (आदि) के द्वारा मनुष्यों को हंसाता है अतएव इसे 'हास्य' कहते हैं ॥ ५१ ॥

स्त्रीनीचप्रकृतावेष भूयिष्ठं दृश्यते रसः ।
षड्भेदाश्चास्य विज्ञेयास्तांश्च वक्ष्याम्यहं पुनः ॥ ५२ ॥

यह रस (अधिकांश में) स्त्री तथा नीच प्रकृति के मनुष्यों में अधिक दिखाई देता है। इसके छः प्रकार होते हैं जिन्हें अब मैं बतलाता हूँ ॥ ५२ ॥

(उस) आत्मस्थ हास्य में विभाव होता है और [ऐसा यदि आत्मस्थ और परस्थ का विभाजन करें तो] रति आदि सभी स्थायी भावों में यह संभव हो सकता है।

अतएव यहाँ दो विभागों का आशय यह है कि स्वयं विभावों को न देखने पर भी दूसरे को हँसते देखकर लोग हँसने लगते हैं ऐसा लोक व्यवहार में दृष्टिगत होता है और गम्भीर प्रकृति होने के कारण विभावादि से भी जो नहीं हँसते वे भी दूसरों को हँसता देखकर थोड़ा मुसकुरा ही देते हैं, क्योंकि मनुष्यों का ऐसा स्वभाव दृष्टिगत होता है। जैसे खट्टे-अनार (नीबू या इमली)

---

१. विकृतैरर्थविशेषै—ग० । २. विकृताकारै—ग० ।

हास्य-भेद—

स्मितमथ हसितं विहसितमुपहसितं चापहसितमतिहसितम् ।
द्वौ द्वौ भेदौ स्यातामुत्तममध्याधमप्रकृतौ ॥ ५३ ॥

हास्य के छः भेद हैं—(१) स्मित, (२) हसित, (३) विहसित, (४) उपहसित, (५) अपहसित तथा (६) अतिहसित । ये प्रत्येक दो (दो) प्रकार के होकर उत्तम, मध्यम तथा अधमप्रकृति के व्यक्तियों में प्रयुक्त किये जाते हैं ॥ ५३ ॥

तत्र—

स्मितहसिते ज्येष्ठानां मध्यानां विहसितोपहसिते च ।
अधमानामहसितं ह्यतिहसितं[1] चापि विज्ञेयम् ॥ ५४ ॥

का स्वरूप ही ऐसा संक्रमणशील है कि उसके देखने मात्र से दर्शक के मुँह में पानी आ जाता है इसी प्रकार हास भी सङ्क्रमणशील है जो सूखी लकड़ी में अग्नि के समान शीघ्र अन्यों में फैल जाता है । अतएव स्वगतरूप हास्य आत्मस्थ और अन्यत्रसङ्क्रान्त रूप हास्य परस्थ होता है यही समझना चाहिए ।

स्मितमथ हसितम्—ये हास्य के छः भेद हैं जो उत्तम, मध्यम तथा अधम के दो-दो क्रम में रखे गये हैं । ये दो-दो के क्रम विभावादि के तारतम्य के कारण न्यूनाधिक होते रहते हैं ऐसा कुछ आचार्य मानते हैं पर यह उचित नहीं क्योंकि इस प्रकार तो विभाव के तारतम्य के आधार पर अनेक भेद बनाए जा सकते हैं । अतएव ये भेद सङ्क्रमण के अभिप्राय से ही यहाँ मानना चाहिए । उत्तम प्रकृति के व्यक्ति में जो 'स्मित' है वही व्यापक होने पर 'हसित' हो जाएगा । इसी प्रकार शेष द्विकों को भी समझना चाहिए । और इसी कारण हास की तीन अवस्थाएँ कही जाएगी अन्यथा छः प्रकार का हास्य हो जाता है । हास की मन्दता होने पर 'स्मित', उसके बढ़ जाने पर 'हसित', इसके बाद आगे बढ़ा हुआ 'विहसित' और उसमें भी आगे बढ़कर दूसरों के समीपगत हो 'उपहसित' हो जाता है; और ऐसे ही 'उपहसित' तथा 'अतिहसित' प्रकार भी हो जाते हैं । इस प्रकार यहाँ उपसर्गों के मेल या माध्यम से सूक्ष्म अन्तर करते हुए भेदों की व्यवस्थित कल्पना की गयी है ।

---

१. तथातिहसितश्च—ग० ।

उत्तम-प्रकृति के मनुष्यों में स्मित तथा हसित, मध्यजन में विहसित तथा उपहसित एवं अधमप्रकृति में अपहसित तथा अतिहसित प्रयुक्त किये जाते हैं ॥ ५४ ॥

अत्र श्लोकाः—

[1]ईषद्विकसितैर्गण्डैः कटाक्षैः सौष्ठवान्वितैः ।
अलक्षितद्विजं धीरमुत्तमानां स्मितं भवेत् ॥ ५५ ॥
उत्फुल्लाननेत्रं[2] तु गण्डैर्विकसितैरथ ।
किञ्चिल्लक्षितदन्तं च हसितं तद्विधीयते ॥ ५६ ॥

उत्तम प्रकृति के मनुष्यों में स्थित 'स्मित' (के लक्षण) में गालों का थोड़ा (हास्य के कारण) खिल जाना, नेत्रों का कटाक्ष एवं सौष्ठवयुक्त[1] होना तथा मुसकान रहने पर भी दाँतों का दिखाई न देना—होता है ५५ ॥

(तथा) 'हसित' में मुख एवं नेत्र थोड़े खिल जाते हैं, गाल फैल जाते हैं तथा मुस्कान के साथ कुछ कुछ दाँत भी दिखाई देने लगते हैं ॥ ५६ ॥

मध्यम-प्रकृति के मनुष्यों का हास्य

अथ मध्यमानाम्—

आकुञ्चिताक्षिगण्डं यत्सस्वनं[3] मधुरं तथा ।
कालागतं सास्यरागं तद्वै विहसितं भवेत् ॥ ५७ ॥
उत्फुल्लनासिकं यत्तु जिह्मदृष्टिनिरीक्षितम्[4] ।
[5]निकुञ्चिताङ्गकशिरस्तच्चोपहसितं भवेत् ॥ ५८ ॥

---

१. सौष्ठव का अर्थ है उज्ज्वलता । धीर शब्द का अर्थ है धीरे-धीरे । जिससे यहाँ स्वल्पता का निर्वाह किया गया है । 'विकसितैरथ' में अथ पद का आशय है स्मित के पश्चात् सङ्क्रमण काल में । 'तत्' शब्द से यह सूचित किया है कि 'स्मित' ही आगे चलकर 'हसित' हो जाता है ।

---

१. विहसितैः—ग० । २. नेत्रैस्तु—ग० । ३. सस्वरं—ग० । ४. निरीक्षणम्—ग० । ५. निहञ्चितांसक—घ० ।

जिसमें आँखें तथा गाल कुछ सिकुड़न लिए हों, ध्वनि अल्पता तथा मधुरता लिए हो एवं समय के [1]अनुकूल हो और जिसमें मुख प्रसन्नता के कारण लाल हो जाए तो उसे 'विहसित' हास्य जानिये। 'उपहसित' हास्य में नासिका फूल जाती है, टेढ़ीदृष्टि (जिह्म[2]) से देखना होता है और मस्तक सिकुड़ जाता है ॥ ५७–५८ ॥

अथाधमानाम्—

अस्थानहसितं यत्तु[1] साश्रुनेत्रं तथैव च।
उत्कम्पितांसकशिरस्तच्चापहसितं भवेत् ॥ ५९ ॥

अधमप्रकृति के मनुष्यों का हास्य

जिसमें[3] वेमौके हंसना होता हो, आँखों में (हंसते हंसते) आंसू आ जाए तथा कन्धा और मस्तक जोरों से हिलने लगे तो उसे 'अपहसित' हास्य कहते हैं ॥ ५९ ॥

संरब्धसाश्रुनेत्रं[2] च विकृष्टस्वर[3]-मुद्धतम्।
करोपगूढपार्श्वं च तच्चातिहसितं भवेत् ॥ ६० ॥

जिसमें हंसते हंसते आंसुओं से आँखें भर जायँ, कर्णकटु (विकृष्ट[4]) और उद्धत शब्दों का उच्चारण हो और पसलियों को हाथों से दबाना पड़े तो ऐसे हास्य को 'अतिहसित' जानिये ॥ ६० ॥

हास्यस्थानानि[4] यानि स्युः कार्योत्पन्नानि नाटके।
उत्तमाधममध्यानामेवं तानि प्रयोजयेत् ॥ ६१ ॥

---

१. कालागतम् = जो सभा आदि में समयगत औचित्य के अनुकूल हो।

२. जिह्मनामक दृष्टि से (अर्थात् तिरछे देखकर) भावपूर्ण निरीक्षण करते हुए। [जिह्म दृष्टि का लक्षण आगे ना० शा० ८।६१ पर द्रष्टव्य]

३. अस्थान अर्थात् अनुचित अवसर पर या शोकादि के अवसर पर।

४. विकृष्ट अर्थात् सुनने में बुरा लगने वाला।

---

१. यत्र सास्रनेत्रं—ग०   २. सास्र—ग०।

३. विक्रुष्ट—ग०।   ४. हासस्थानानि—घ०।

[1]नाटकों में कार्यवश (प्रसंगवश) जो हास्य स्थान आते हों उन्हे इसी प्रकार उत्तम, मध्यम तथा अधम पात्रों द्वारा प्रस्तुत करना चाहिये ॥ ६१ ॥

[1]इत्येष स्वसमुत्थस्तथा परसमुत्थश्च विज्ञेयः ।

द्विविधास्त्रिप्रकृतिगतस्त्र्यवस्थभावो रसो हास्यः ॥ ६२ ॥

'हास्यरस' दो प्रकार का है (१) आत्म-समुत्थ तथा (२) पर-समुत्थ जो कि (मनुष्यों की) तीन प्रकार की प्रकृति में प्रयुक्त किया जाता है और इस प्रकार (परिगणना के अनुसार कुल) छः प्रकार का हो जाता है[2] ॥ ६२ ॥

---

१. यहाँ नाटक शब्द से रूपकसामान्य का ग्रहण समझना चाहिए ।

२. हास्य के स्वसमुत्थ से संक्रान्त न होने वाले स्मित, विहसित तथा अपहसित प्रकारों का और परसमुत्थ से तीनों प्रकृतियों के संक्रान्त होने वाले हसित, विहसित तथा अतिहसित प्रकारों का ग्रहण समझना चाहिए । हसितादि से रूप संक्रमण के द्वारा उत्कृष्ट प्रकृति में स्मितादि होते हैं । रति, शोक, क्रोध आदि का अन्यत्र संक्रमण नहीं होता यह बात पहिले कही जा चुकी है । वहाँ उनमें (उस प्रकार की चित्तवृत्ति के व्यक्ति में) जो विभाव विश्रान्ति को प्राप्त करता है वह विभाव हास्य के समान उस चित्तवृत्ति वाले पुरुष से अन्यत्र संक्रमण नहीं करवाता ।

कुछ आचार्यों ने आत्मस्थ तथा परस्थ सभी रसों के भेद माने हैं और हास्य में इनका अभिधान उपलक्षण मात्र है ऐसा कहा है परन्तु यह उचित नहीं है क्योंकि हास का अन्यत्र संक्रमण होता है जो अनुभव सिद्ध है । दूसरे व्याख्याकार इस श्लोक की इस प्रकार व्याख्या करते हैं—'तीन प्रकार की प्रकृतियों में, तीन अवस्था वाला हास्य विभावगत तारतम्य से दो प्रकार का होने पर छः प्रकार हो जाता है यही आत्मस्थ तथा परस्थ भेद से प्रत्येक दो भेद होकर बारह प्रकार का हो जाता है और इन भेदों में पृथक्-पृथक् विभाजन व्यापार होता है ।' यह मत अतिशय विस्तारकारी होने से स्थानाभाव के कारण हम यहाँ विवेचित नहीं कर रहे हैं ।

इति हास्यरसप्रकरणम् ।

---

१. एवमात्मसमुत्थश्च तथा परसमुत्थितः । द्विविधस्त्रिप्रकृतिकः षड्भेदोऽथ रसः स्मृतः ॥ इति ग-पु० ।

करुणरस[1]

अथ करुणो नाम शोकस्थायिभावप्रभवः। स च शापक्लेश-विनिपतितेष्टजनविप्रयोगविभवनाशवधबन्धविद्रवोपघातव्यसनसंयोगादिभिर्विभावैः समुपजायते। [2]तस्याश्रुपातपरिदेवनमुखशोषण-वैवर्ण्यस्रस्तगात्रतानिश्श्वासस्मृतिलोपादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। व्यभिचारिणश्चास्य निर्वेदग्लानिचिन्तौत्सु[3]क्यावेगभ्रममोहश्रमभयविषाददैन्यव्याधिजडतोन्मादापस्मारत्रासालस्यमरणस्तम्भवेपथु-वैवर्ण्याश्रुस्वरभेदादयः। अत्रार्ये भवतः।

अब 'करुणरस' बतलाता हूँ जो कि शोक स्थायी भाव से उत्पन्न

अथ करुणरसप्रकरणम्

१. क्रमानुसार (अवसर उपस्थित होने पर) अब 'अथ करुणो नाम' इत्यादि के द्वारा 'करुणरस' का वर्णन करते हैं। यहाँ 'अथ' शब्द क्रमबोधन के लिये (रखा गया) है। कुछ टीकाकार ऐसा मानते हैं कि 'इस क्रम का कारण यह है कि सम्भोग श्रृङ्गार में अङ्गरूप से हास्य की अपेक्षा होने से श्रृङ्गार के बाद हास्य का निरूपण किया गया और विप्रलम्भ श्रृंगार तथा करुणरस में व्यभिचारिभावों की समानता होती है इसलिए हास्य के बाद करुणरस को क्रमिक रूप से अवसर प्राप्त हुआ है।' परन्तु यह पूर्वापर विरुद्ध मत है। उद्देश्य विभाग के अवसर पर क्रम का निर्देश किया जाने से तदनुकूल क्रम प्राप्त रस का ही यहाँ वर्णन उपयुक्त है।

श्री शङ्कुक का मत है कि 'संसार में दयायुक्त हृदय का भाव 'करुण' के नाम से प्रसिद्ध है। यह करुण अपने दृश्यमान रोदन आदि अनुभाव वाले लिङ्गों द्वारा अभिनेता में स्थित शोक को अनुभव करने वाले सामाजिक सहृदयों में रहने से इसका 'करुण' (यह) सार्थक नाम है।" परन्तु ऐसा कथन पूर्वापर सम्बन्ध को भुला देने का परिणाम है क्योंकि इस मत में शोक का

---

१. स्पर्शनसंयोगा—ख०। २. तस्य चाश्रुपातन—ग०।
३. चिन्तौत्सुक्यावेगमोहश्रम—ग०।

होता है। यह शाप, क्लेश, पतन, प्रियजन वियोग, सम्पत्तिहानि, मृत्यु, (कारागार में) बन्धन, भगदड़, (दुर्भाग्यवश) चोट लग जाना तथा अन्य कष्टों की उपलब्धि होने आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इसका अभिनय अश्रुपात, प्रलाप, मुख का सूख जाना, मुँह का उत्तर जाना

अनुकरण करने वाली 'करुणा' ही 'करुणरस ठहरती है पर दया तो दूसरों की रक्षा करने की भावना का नाम है और वह शोक का अनुकरण रूप कैसे होगी ? और सामाजिकों की दशा किसके प्रति होकर करुणरस की जनक होगी यह स्पष्ट नहीं है अतः यह मत अस्वीकार्य है।

वस्तुतः पूर्वोक्त युक्ति से साधारणीकरण व्यापार द्वारा सर्वसाधारण रूप से आस्वाद्यमान शोक का नाम करुणरस है। मूल में इसी कारण भरतमुनि ने 'नाम' शब्द का प्रयोग किया है। करुणरस 'शोकप्रभव' है यह शृङ्गार के रतिप्रभव' के समान समझ लेना चाहिए।

मूल में शाप पद का ग्रहण अशक्य प्रतीकाररूपहेतु का उपलक्षण है अर्थात् शाप कारण क्लेश में पड़े हुए इष्ट जन की जो विप्रयोग आदि दशाएँ होंगी उनसे करुणरस की उत्पत्ति होती है। विप्रयोग का अर्थ है वियोग। विभव-नाश सर्वविदित है। विद्रव का अर्थ है अपने देश से निर्वासन, यह निर्वासन केवल करुण में ही नहीं परन्तु विप्रलम्भ शृंगार में भी होता है; यही इस प्रसङ्ग में विशेष उल्लेख्य है। उपघात का अर्थ है अग्नि आदि से मरण।

श्रीशङ्कुक ने जो अग्नि आदि के द्वारा होने वाली हानि को 'विद्रव' तथा चोर आदि के द्वारा किया गया सम्पत्ति नाश 'उपघात' बतलाया यह असंगत है, क्योंकि ये सभी कार्य विभवनाश के अन्तर्गत आ जाते हैं। 'व्यसन' का अर्थ है मृगया या जुआ आदि अनर्थजनक कार्य के साथ सम्बन्ध हो जाना। विभव-नाश आदि होने पर भी उत्तम प्रकृति के पुरुष में आत्मगत शोक उत्पन्न नहीं करते तथा मध्यम और अधम प्रकृति के मनुष्यों में शोक उत्पन्न करते हैं यही बतलाने के लिए 'आदि' पद का ग्रहण किया गया है। स्वयं को, भाग्य को या दूसरे को उलाहना देना 'परिदेवन' है। 'निःश्वास' पद से उसके बाद होने वाले ऊर्ध्वश्वास रूप उच्छ्वास को लक्षित किया गया गया है। 'स्मृतिलोप' शब्द से स्तम्भ तथा प्रलय का (लक्षणों के द्वारा) ग्रहण होता है।

(विवर्ण) शरीर की शिथिलता उसाँसे लेना तथा स्मृति लोप आदि अनुभावों के द्वारा किया जाय। इससे निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य, आवेग, भ्रम, मोह, श्रम, भय, विषाद, दैन्य, व्याधि, जड़ता, उन्माद, अपस्मार, त्रास, आलस्य, मरण, स्तम्भ, वेपथु, वैवर्ण्य अश्रु तथा स्वर भेद आदि संचारी (तथा सात्विक) भाव होते हैं। इस विषय की दो आर्याएँ हैं–

इष्टवधदर्शनाद्वा विप्रियवचनस्य संश्र[1]वाद्वापि।

एभिर्भावविशेषैः करुणरसो नाम सम्भवति ॥ ६३ ॥

[2]सस्वनरुदितैर्मोहागमैश्च परिदेवितैर्विलपितैश्च।

अभिनेयः करुणरसो देहायासाभिघातैश्च ॥ ६४ ॥

प्रिय व्यक्ति की मृत्यु[1] अथवा अमंगलकारी समाचार या शब्दों के श्रवण तथा चित्त को आघात पहुँचाने वाले भावों के द्वारा करुणरस उत्पन्न होता है ॥ ६३ ॥

वैवर्ण्य, अश्रु तथा स्वरभेद आदि के सात्त्विक भावों में परिगणित करने के बाद यहाँ पुनः उनका उल्लेख व्यभिचारिभाव के अन्तर्गत हुआ है। ये सात्त्विक भाव चित्तवृत्ति रूप ही हैं परन्तु इनका बाहर से प्रकाशित होने के कारण अनुभावरूप में ग्रहण किया गया है। जैसे कि कहा भी जाता है कि— 'इनका कण्ठ आँसुओं से भर गया है पर आँखों में आँसू नहीं दिखलाई देते। इन अश्रु आदि स्थितियों में सूक्ष्मचित्तवृत्तियों के अभिनय का प्रदर्शन करना इष्ट होने से इनका व्यभिचारि रूप में बीच में दो बार कथन किया गया और आगे भी किया जायगा। अतएव एक बार अनुभाव तथा दूसरी बार व्यभिचारिभाव में कथन होने से यहाँ पुनरक्ति नहीं है। इसी प्रकार आगे भी जान लेना चाहिए। उन्माद और अपस्मार (सामान्य) व्याधि से भिन्न होते हैं इसे आगे बतलाया जायगा।

१. यहाँ 'वध' शब्द बन्ध आदि का उपलक्षण है। विप्रिय शब्द का अर्थ है इष्टजन के वध आदि के वाक्यों का श्रवण करना [जिससे करुणरस

---

१. संश्रयाद्वा—ग०। २. श्वसनविरुदितैर्मोहोद्गमैश्च—ग०।

मंच पर इसे प्रदर्शित करते समय जोर से रोना, मूर्च्छा, पश्चात्ताप, विलाप, देह को पटकने तथा पीटने के अनुभावों को प्रस्तुत किया जाय ॥

रौद्ररस[1]

अथ रौद्रो नाम क्रोधस्थायिभावात्मको रक्षोदानवोद्धतमनुष्यप्रकृतिः[1] संग्रामहेतुकः। स च क्रोधाधर्षणाधिक्षेपावमानानृतवच[2]नोपघातवाक्पारुष्याभिद्रोहमात्सर्यादिभिर्विभावैरुत्पद्यते[3]। तस्य च ताडनपाटनपीडनच्छेदनप्रहरणशस्त्र — सम्पातसम्प्रहाररुधिरा-

की उत्पत्ति हो]। अतएव इष्टजन के दृश्यमान या श्रूयमाण विभवनाश आदि को करुणरस के विभाव के रूप में कविजन अङ्कित करें यही आशय है। यहाँ भावशब्द का विभाव अर्थ है।

अनुभाव और (उनके द्वारा) व्यभिचारिभावों को लक्षित करने के लिये दूसरी आर्या दी गयी है। इसमें प्रकृति, देश, काल, दशा, हेतु आदि के भेद से अनुभावादि के अनेक प्रकार होते है इसे सूचित करने के लिए बहुवचन दिया गया है। 'मोह' का अर्थ जड़ता है, रससे अन्य व्यभिचारिभाव भी उपलक्षित होते हैं। देह का आयासन अर्थात् शरीर को गिराना या मरोड़ना आदि। अभिघात अर्थात् छाती (आदि) पीटना। ये अनुभाव उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति आदि भेद को दृष्टिगत रखते हुए प्रयुक्त किये जांय।

इति करुणरसप्रकरणम्।

अथ रौद्ररसप्रकरणम्

१. करुणरस के बाद 'रौद्रो नाम' इत्यादि से 'रौद्ररस' का लक्षण बतलाते हैं। यहाँ भी आत्मकशब्द का प्रयोग (मूल में) किया गया है जिसका आशय है कि प्रधानतः किसी अन्यायकारिता के प्रति क्रोध होता है। सामान्यतः लोगों के मन में अन्यायकर्त्ता के प्रति उग्र भावना होती है और उस आततायी के रुधिरपान तक कर डालने की भावना मन में उठती है और लोग यह कहते भी हैं कि 'यदि ऐसा आततायी पुरुष मिल जाय तो उसका रुधिरपान करने पर भी सन्तोष नहीं होगा।' महाकवि भास ने अपने नाटक में एक स्थान पर कहा भी है कि—

१. मनुष्यप्रभवः—ग० २. नानृतवचनावाक्पारुष्य—ग०।
३. समुपजायते—ग०।

कर्षणाद्यानि कर्माणि[1]। पुनश्च रक्तनयनस्वेदभ्रुकुटीकरणावष्टम्भदन्तौ[2]-ष्ठपीडनगण्डस्फुरणहस्ताग्रनिष्पेषादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥

[3]व्यभिचारिभावाश्चास्या[4]सम्मोहोत्साहावेगामर्षचपलतौग्र्यगर्व— [विकृतेक्षण] [5]स्वेदवेपथुरोमाञ्चगद्गदादयः ।

'आज न वह त्रेतायुग है न श्रीराम की प्रियभूमि जानकी है न उनका सा कोमल मन ही। पर आज भी यदि लोग रावण को पा जायें तो उसके तिल के बराबर टुकड़े करने पर भी सन्तुष्ट नहीं होंगे।'

इस प्रकार हास्यरस के समान रौद्ररस के विभाव होने पर भी रौद्ररस का आस्वादन क्रोधमय होता है, अतएव उसके आस्वादन करने पर क्रोधात्मक रौद्ररस होता है, जिन पुरुषों में हिंसाभाव प्रधान रहता है उन्हें 'उद्धत' कहा गया है, अतः उद्धत मनुष्यों का वेष धारण करने वाले अभिनेता इस रस के आस्वादन के हेतु होने से प्रकृति माने जाते हैं।

प्राचीन व्याख्याकारों का मत है कि युद्ध के कारण उद्धत प्रकृति के भीमसेन आदि मनुष्यों में रौद्र की सम्भावना होती है और यह रुधिरपान आदि रूप में परिलक्षित होता है। [मूलस्थ 'संग्रामहेतुक' पद का यही आशय है] राक्षसों और दानवों की प्रकृति स्वभावतः रौद्र होती है [उनमें संग्राम हेतुक रौद्रता नहीं रहती]। यह मत अनुचित है। क्योंकि भीमसेन के द्वारा किया हुआ रुधिरपान युद्ध के कारण नहीं किन्तु उसके विपरीत स्वभाव के कारण किया गया है और उद्धत स्वभाव होने से क्रोध में आकर उन्होंने रुधिरपान की अनुचित प्रतिज्ञा कर डाली थी। उसके निर्वाह के लिये ही वेणीसंहार में में कवि ने भीम पर राक्षस के आवेश की योजना की। अतः प्रकृत्या क्रोधी होने से ही ऐसा कार्य हुआ है संग्राम के कारण नहीं। और इन्हीं का अनुकरण अभिनेता भी करता है अतः उसमें रौद्ररस पाया जाता है और इसी कारण उसे मनुष्य प्रकृति भी कहा गया है। अतएव 'संग्राम-हेतुक' का अर्थ यह है

---

१. कार्याणि—ग०। २. भ्रुटीकरदन्तौष्ठ—ग०।
३. व्यभिचारिणश्चास्य—ग०। ४. सम्मोह—ग०।
५. स्वेदवेपथु—ग०।

रौद्ररस का क्रोध स्थायीभाव होता है। इसका उद्भव राक्षस, दानव तथा उद्धत प्रकृति के मनुष्यों से संग्राम के द्वारा होता है। यह क्रोध, बलात् खींचना (आघर्षण), दुर्वचन, अपमान, असत्य वचनों द्वारा आरोप, कठोर वचन, द्रोह, मात्सर्य आदि विभावों द्वारा उत्पन्न होता है। इसके पीटना, फाड़ना, पीड़ा देना, छेदन, शस्त्रों का (छीनना या) लाना (प्रहरणाहरण) शस्त्रों का फेंकना, शस्त्रों से प्रहार, रुधिर निकालना और इसी प्रकार के अन्य कार्य हैं। इसका अभिनय रक्तनयन, स्वेद प्रसार, भ्रुकुटी चढ़ाना, दाँत और ओठों का चबाना, गालों का फुलाना, हाथों का मसलना आदि अनुभावों द्वारा किया जाय। इसमें मोह, उत्साह, आवेग, अमर्ष, चपलता, उग्रता, स्वेद, कम्पन, रोमांच एवं गद्गद आदि संचारी भाव होते हैं।

कि कवि या नट द्वारा वर्णित या प्रदर्शित संग्राम का 'क्रोध' कुत्सित हेतुक है। संग्राम का उचित हेतु क्रोध नहीं होता यही बतलाने के लिये मूल में कुत्सितार्थक क प्रत्यय लगाया गया है इसीलिए 'युद्ध से प्रधानतः वीररस प्रधान रूप को ही ग्रहण करना चाहिये। [तथा युद्ध में वीररस का उत्साह क्रोध में परिणत होकर रौद्ररस हो सकता है यह भी यहाँ संकेतित किया गया है]।

स्वभावतः क्रोधी व्यक्ति को उद्दीपन की अपेक्षा होती है या नहीं इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अपेक्षा होती है। यही बात मूल में 'स च' इत्यादि के द्वारा कही गयी हैं —क्रोध आदि दूसरों के द्वारा उत्पन्न होता है अतः उद्दीपन की स्थिति आवश्यक या सहज है। 'आघर्षण' का अर्थ है स्त्रियों आदि का अपमान करना। देश जाति, कुल, विद्या तथा कर्म आदि की निन्दा करना या उन पर आक्षेप लगाना 'अधिक्षेप' है। झूठ बात को कहना 'अनृतवचन' है। अपने घर के भृत्यों को पीड़ा देना 'उपघात' कहलाता है। वाणी की कठोरता या मारने की धमकी देना 'वाक्पारुष्य' पद का अर्थ है। 'अभिद्रोह' का अर्थ है—मारने की इच्छा। गुणों में दोष दर्शन 'मात्सर्य' है। आदि शब्द से राज्य के अपहरण आदि को लिया जाता है। उद्दीपन विभाव के रूप में कवि द्वारा प्रस्तुत इन विभावों से 'रौद्ररस' अभिव्यक्त होता है।

अत्राह—यदभिहितं [1]रक्षोदानवादीनां रौद्रो रसः किमन्येषां नास्ति। उच्यते—अस्त्यन्येषामपि रौद्रो रसः। किन्त्वधिकारोऽत्र गृह्यते। ते हि स्वभावत एव रौद्राः। कस्मात्। बहुबाहवो बहुमुखाः प्रोद्धूतविकीर्णपिङ्गलशिरोजाः रक्तोद्वृत्तविलोचना भीमासितरूपिणश्चैव। यच्च किञ्चित्समारभन्ते[2] स्वभावेन[3] चेष्टितं वागङ्गादिकं तत्सर्वं रौद्रमेवैषाम्[4] शृङ्गारश्च[5] तैः प्रायशः प्रसभं सेव्यते। तेषां चानुकारिणो[6] ये पुरुषास्तेषामपि संग्रामसम्प्रहारकृतो रौद्रो रसोऽनुमन्तव्यः।

ताडन आदि इसके कार्य हैं तथा नेत्रों की रक्तता आदि अनुभाव हैं यह दोनों अनुभाव रूप होने पर भी दोनों में भेद प्रदर्शनार्थ यहाँ उन्हें पृथक् कहा गया है। भेद यह है कि ताडन आदि अनुभावों को मंच पर प्रत्यक्षतः प्रदर्शित नहीं किया जाता है और इनकी केवल वर्णना या वचनमात्र से सूचना दी जाती है। जैसा कि आगे कहा भी है—

युद्धं राज्यभ्रंशो मरणं नगरोपरोधनञ्चैव।
अप्रत्यक्षकृतानि प्रवेशकैः संविधेयानि॥ (ना० शा० २०।३८)

[युद्ध, राज्यनाश, मरण, नगर पर घेरा डालना आदि प्रत्यक्षतः मंच पर प्रदर्शित न किये जाने वाले कार्यों को प्रवेशकों के द्वारा सूचित करना चाहिए।)

परन्तु रक्तनयन आदि जो अनुभाव हैं उन्हें मंच पर प्रत्यक्षतः प्रस्तुत किया जा सकता है। कुछ व्याख्याकारों के मत में मूल में प्रहरण तथा आहरण का पाठ प्रमादवश आ गया है और इनके विभागों के पृथक् कथन का प्रयोजन महत्वपूर्ण नहीं है।

यहाँ इसका अभिप्राय यह है कि राक्षस, दानव तथा उद्धत प्रकृति के

---

१. राक्षसादीनां——ग०। २. समारभान्ते—ग०।
३. स्वभाव चेष्टितं—ग०। ४. रौद्रमेवेति—ग०।
५. वाक्यमेतन्नोपलक्ष्यते—ग-पु०। ६. चानुगामिनो—ग०।
७. तेषामपि सम्प्रहारकृतो—ग०।

(प्रश्न)—यदि राक्षस दानव आदि में रौद्ररस होता है तो क्या वह अन्य व्यक्तियों में नहीं होता ?

(उत्तर)—हाँ यह अन्य व्यक्तियों में भी उत्पन्न हो सकता है परन्तु राक्षस आदि को विशेष रूप से यहाँ इस रस का अधिकारी माना गया है।

मनुष्य उद्दीपक कारणों के बिना भी जो सामान्य चेष्टाएँ या कार्य करते हैं (यहाँ तक कि नर्मगोष्ठी के वार्तालाप तक उनमें ताडन आदि की प्रमुखता रहती है। यही बात आगे 'यच्च किञ्चित् समारभन्ते' इत्यादि से कही जायगी। इसी कारण ताडनादग्रस्त पुरुष में उद्दीपन के होने पर रक्तनयन आदि और अधिक हो जाते हैं यही बात 'पुनः शब्द से कही गयी है।

शरीर के ऊपरी तले पर चोट करना 'ताडन' है। 'पाटन' का अर्थ है दो टुकड़े कर डालना। 'पीडन' का अर्थ है दबाना या मलना। 'छेदन' का अर्थ काटना और 'भेदन' का अर्थ एक दूसरे को अलग करना है। इन शब्दों में भाव में 'ल्युट्' प्रत्यय किया गया है। शस्त्रों का सभी ओर से प्रहार करना 'प्रहरणाहरण' है। शस्त्रों का ऐसा प्रहार करना जिससे कोई अंग विदीर्ण न हो 'सम्प्रहार' कहलाता है और शरीर का शस्त्र प्रहार से विदीर्ण होना 'पातन' है, इससे रक्तस्राव भी होता है [अंग भंग नहीं]। राक्षस आदि परस्पर परिहास के समय भी प्रहार करते हैं पर इससे रक्त निकलता है [अङ्ग-भङ्ग नहीं होता]।

'रक्तनयन' का अर्थ है लाल आँखें हो जाना। भौहों का नीचे से ऊपर को उठना 'भ्रुकुटी कहलाती है। दांत और ओठों का पीडन अर्थात् दाँतों से ओठों का चबाना 'पीडन' कहलाता है और दोनों हाथों के अगले भागों को एक दूसरे के द्वारा मसलना 'सङ्घर्ष' कहलाता है।

मूल में दिये गये 'भाव' शब्द से व्यभिचारिभाव का ग्रहण होता है। 'असम्मोह' को सम्मोह के विपरीत परिज्ञान के अर्थ में लिया गया है। यहाँ विरोध में 'नञ्' का प्रयोग है (अर्थात् 'न सम्मोह' असम्मोहः सम्मोहविपरीतः इत्यर्थः) सम्मोह में रहने वाला अर्थात् उससे असंगृहीत ज्ञान या सम्यक् ज्ञान 'असम्मोह' है। यहाँ क्रोध के प्रधान रूप से अनुभव या आस्वाद्य होने के कारण (वीर रस का स्थायी भाव स्वरूप) उत्साह व्यभिचारिभाव है। विष के स्पर्श या ज्वरादि के कारण आभ्यन्तर या आन्तरिक भाव के बिना भी बाह्य स्वेद

इसका कारण यह है कि वे स्वाभावतः रौद्र स्वरूपवाले हुआ करते हैं, क्योंकि उनकी अनेक भुजायें एवं अनेक मुख होते हैं, वे चारों ओर बिखरे हुए अपने पीले केशों, लाल और घूमते हुए नेत्रों तथा काले वर्ण वाले होने से भयंकर होते हैं। (इसके अतिरिक्त उनके जो भी कार्य, सम्भाषण तथा

आदि देखे जाने से ये व्यभिचारिभाव हैं, ये अव्यक्त होने पर आन्तर (सात्विक) भाव कहे जाकर पंखा आदि के ग्रहण करने आदि क्रियाओं के द्वारा व्यक्त किये जाते हैं। यहाँ बाह्य स्वेदादि से प्रकट रूप में दिखाई देने वाले (सात्त्विक-भाव) व्यभिचारिभाव के रूप में कहे गये हैं।

राक्षस आदि में ही रौद्ररस की स्थिति मानने पर (फिर) मनुष्यों में उसकी स्थिति नहीं रहनी चाहिए ऐसी आशंका से पूर्वपक्षी 'यदभिहितम्' इत्यादि से अपना प्रस्तुत करता है कि जो रौद्ररस राक्षस आदि में बतलाया गया है वह क्या मनुष्यों में नहीं होता ? उत्तर में भरत ने बतलाया कि मानवादि में रौद्ररस की स्थिति होती है यही बतलाने के लिए मूल में 'अन्येषां' पद दिया गया है। 'अन्य' शब्द का आशय है कवि या अभिनेता के द्वारा राक्षस आदि के अनुकरण कर्त्ता मनुष्य (जो राक्षस आदि के कार्यों का अनुकरण कर रौद्ररस की अभिव्यक्ति करते हैं) है। 'अधिकार' शब्द का अर्थ यहाँ 'अनुवृत्ति' (प्रवृत्ति) है। स्वभाव शब्द के बाद 'एव' पद के प्रयोग से राक्षस आदि में रौद्ररस अवश्य रहता है यह भाव अयोग व्यवच्छेदक से सूचित किया गया है। 'स्वभावतः' का अर्थ है उनका अपना स्वरूप (भाव) अतएव उनमें आङ्गिक रौद्ररस का वर्णन (भी) उचित होता है अन्यथा लाल आँखें इत्यादि से स्वाभाविक रौद्र का ही अभिनय होगा, अनेक बाहु मुखादि के द्वारा आङ्गिक रौद्र का अभिनय नहीं होगा।

(प्रश्न) अपने सेवक आदि के प्रति राक्षस आदि सदा क्रुद्ध नहीं देखे जाते फिर उन्हें स्वभाव रौद्र क्यों कहा गया ? (उत्तर) उनका आकार लोक पसिद्ध मनुष्यादि के आकार से भिन्न होता है, यही मूल में 'बहुबाहवः' से उत्तर दिया है और 'बहुबाहवः' होने का कारण कोई तपश्चर्या या कोई इष्टकर्म होता है, जिसका उद्देश्य दूसरे (शत्रु आदि) का नाश करना होता है। इसी कारण राक्षस आदि स्वाभाविक रूप में भी क्रोधात्मक आशय से युक्त प्रतीत होते हैं और उनसे सामाजिकों को रौद्ररस का ही आस्वादन होता है।

शारीरिक चेष्टायें होती हैं वे भी प्रकृत्या रौद्र (ही) होती हैं। इसलिए सरलता पूर्वक यही मानना उचित है कि जो इनके अनुकर्ता पुरुष हों उनके युद्ध तथा प्रहार आदि से विहित रौद्र-रस उत्पन्न होता है।)

और इन्हीं उपर्युक्त कारणों से उनमें राग के समान क्रोध के अवसर पर जो रक्तनेत्र आदि लक्षण दिखलायी देते हैं वे सहज होने से सदैव विद्यमान रहते हैं। उनके नेत्र लाल और चढ़ी हुई पुतलियों वाले होते हैं और उनका रूप भी सदा काला और अत्यन्त भयानक होता है। इस प्रकार केवल उनका शरीर ही क्रूर नहीं होता किन्तु उनके दृश्यमान कार्य भी रौद्ररस का आस्वादन करवाने वाले होते हैं इसे मूल में—'यच्चेति' इत्यादि से बतलाया गया है। 'स्वभावेन' पद से चित्त में क्रोधजन्य विकार न होने पर भी उनका वाचिक या कायिक व्यापार क्रोधात्मक का ताडन आदि प्रधान होता है और इसलिए काव्य या नाट्य में वर्णन या पदर्शन होने पर वह रौद्ररस के आस्वादन का कारण हो जाता है। 'वागङ्गादिकं' का अर्थ है—ऐसे वाचिक तथा कायिक व्यापार जिनके कारण वाणी या शरीर हों—का रौद्ररस प्रधान हो जाना स्वाभाविक है। प्रत्यक्ष नहीं होने के कारण मानस व्यापार का यहाँ उल्लेख नहीं किया गया (पर वह भी रौद्ररस प्रधान होता है यह मानना चाहिए)।

यहाँ मूल में 'सर्वमिति' के द्वारा कहे गये विषय की 'श्रृंगारश्च' इत्यादि से स्पष्ट किया जाता है। श्रृङ्गार शब्द से यहाँ उसके प्रमदा, उद्यान आदि विभावों का ग्रहण होता है। उनका भी ये बलात् अर्थात् भयङ्कर आकार के द्वारा ही उपभोग करते हैं। जिस श्रृंगार में उग्रता का निषेध हो उसे भी जब क्रूरता या उत्तेजना वश सेवन करते हैं तो फिर दूसरों की तो बात ही क्या है, यही 'च' शब्द का तात्पर्य है और 'प्रायशः' शब्द से यह सूचित किया गया है कि कभी-कभी अनुनय से भी ये श्रृङ्गार-रस का उपभोग करते हैं।

'तो फिर उद्धत पुरुषों में रौद्र आदि आवेग (विकार) कैसे उत्पन्न होते हैं ? क्योंकि वे तो अनेक बाहु आदि से युक्त नहीं होते हैं ?) ऐसी आशङ्का के समाधानार्थ मूल में 'तेषाञ्च' इत्यादि से कहा गया है। अर्थात् उन राक्षसों के कार्य, प्रकृति आदि का अनुकरण करने वाले मनुष्य भी तामसप्रकृति के कारण उन्हीं के समान समझे जाने चाहिए।

और वे जो स्वाभाविक रूप में वाचिक या आंगिक व्यापार प्रारम्भ करते हैं वे भी रौद्र ही होते हैं। ये शृङ्गार का भी बलात्कारपूर्वक सेवन करते हैं। इनकी चाटुकारिता, सेवा या स्तुति करने वाले जो मनुष्य हों उनमें भी युद्ध तथा चोट करने की वृत्ति के सहज (कारणीभूत) होने से रोद्ररस मान लेना चाहिए।

अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः

[1]युद्धप्रहारघातनविकृतच्छेदनविदारणैश्चैव ।
संग्रामसम्भ्रमाद्यैरेभिः[2] सञ्जायते रौद्रः ॥ ६५ ॥
नानाप्रहरणमोक्षैः शिरःकबन्धभुजकर्तनैश्चैव ।
एभिश्चार्थविशेषैरस्याभिनयः[3] प्रयोक्तव्यः ॥ ६६ ॥

उनमें रौद्ररस कैसे होता है इसे 'संग्राम' आदि से कहते हैं। 'सम्प्रहार' पद से पूर्वोक्त ताडन तथा पाटन आदि का ग्रहण होता है। इसलिये बहुबाहुत्व आदि के न होने पर भी उद्धत मनुष्य क्रोध के उपयुक्त वाचिक तथा शारीरिक व्यापार से रौद्रस्वभाव ही हो जाते हैं यह सूचित किया गया है। इस प्रकार राक्षस तथा दानव आदि में रौद्ररस का अयोग व्यवच्छेद निश्चित होता है पर अश्वत्थामा, परशुराम आदि इन उद्धत प्रकृति के पुरुषों से भिन्न वीर रस प्रधान हैं। इनमें कारण विशेष से रौद्ररस के अनुकूल क्रोध पाया जाने पर भी उसका नित्य सम्बन्ध नहीं होता। और राक्षस आदि से भी विभिन्न कारणों से क्रोधाभिनय के समय में क्रोधाभिनय करने वाले हास्य, करुण आदि का भी प्रदर्शन देखा जाता है अतः इनमें केवल रौद्ररस ही रहता है यह नहीं कहा जा सकता है।

(प्रश्न) तो फिर इस प्रकार के (रूप तथा स्वभाव वाले) राक्षस आदि को देखकर सामाजिकों को क्रोधात्मक आस्वाद की प्रतीति कैसे होती है ? (उत्तर) हृदय-संवाद (तादात्मक) ही आस्वाद रूप होता है तथा क्रोध में तामस प्रकृति वाले सामाजिकों का ही तादात्म्य होता है, अतः वे अन्याय करने वाले के विषय में क्रोध का (रौद्ररस के रूप में) आस्वादन करते हैं, अतएव इसमें दोष नहीं माना जायगा।

---

१. सत्वप्रहार—ग०; युद्धप्रहारपातन—ख०।
२. सम्भ्रमोत्थै—ग०। ३. शेषैस्तस्याभि—ध०।

इस विषय में ये अनुवंशीय आर्याएँ हैं :—

रौद्ररस युद्ध, प्रहार, चोट, विकार,[1] छेदन, विदारण, (युद्ध में) त्वरित व्यापार (अथवा घबड़ाहट) आदि के द्वारा प्रकट होता है ॥ ६५ ॥

इसके अभिनय में अनेक शस्त्र प्रहार, सिर, भुजायें तथा धड़ काटना तथा इसी प्रकार अन्य विशेष कार्यों द्वारा किया गया कार्य उपयुक्त होता हैं ॥ ६६ ॥

इति रौद्ररसो रौद्रवागङ्गचेष्टितः।
[1]शस्त्रप्रहारभूयिष्ठ उग्रकर्मक्रियात्मकः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार उग्र वाचिक तथा कायिक व्यापारों से युक्त-शस्त्रप्रहार की मात्रागत अधिकता लिए हुए और भयानक (कार्य और) क्रियाओं से परिपूर्ण रौद्ररस देखा जाता है ॥ ६७ ॥

---

१. 'विकृतच्छेदन' का अर्थ है अङ्गहीन करना आदि। 'युद्ध' पद से दूसरों के द्वारा किये गये छेदनादि व्यापार का औचित्य सूचित पोता है। इसीलिये युद्ध आदि के प्रसङ्ग में अनुमित के आधार पर अन्य व्यक्तियों के क्रोधादि का बिभावत्व सूचित होता है। 'संग्राम सम्भ्रम' का आशय है शस्त्र के ग्रहण करने में शीघ्रता करना।

(दूसरी आर्या में 'नाना' इत्यादि से अनुभाव को बतलाते हैं।) यहाँ 'नानाप्रहण' पद के द्वारा रौद्ररस में मारण की प्रमुखता बतलायी गयी है और क्रोधातिशय के कारण युद्धस्थल पर मृतशत्रु के मस्तक काटने आदि की सूचना से रौद्र का वीररस से भेद दिखलाया गया है, क्योंकि युद्धवीर में ऐसा कार्य नहीं होता है। रौद्ररस में मृतशरीर के शिरच्छेदन आदि कार्य को 'उप-कर्मक्रियात्मकः' के द्वारा कहा गया है, क्योंकि रौद्ररस में क्रोधावेश में आकर उपकर्म अर्थात् शत्रु के मस्तकच्छेदन आदि भयङ्कर कृत्यों से (अर्थात् उनकी अभिनय क्रिया से) पूर्ण 'रौद्र' रस अभिव्यक्त होता है।

इति रौद्ररसप्रकरणम्।

---

१. प्रहरणसङ्कुलशिरः—ग० :

वीररस[1]

अथ वीरो नामोत्तमप्रकृतिरुत्साहात्मकः। स चासंमोहाध्यवसाय-न[1]यबलपराक्रमशक्तिप्रतापप्रभावादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्य स्थैर्यधैर्यशौर्यत्यागवैशारद्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। भावाश्चास्य[2] धृति-मति-गर्वावेगौग्र्यामर्षस्मृतिरोमाञ्चप्रतिबोधादयः।

अत्रार्ये[3] [रसविचारमुखे]—

वीररस उत्तम प्रकृति के पुरुषों में अवस्थित तथा उत्साह स्थायीभाव

अथ वीररसप्रकरणम्

१. (अब) क्रम प्राप्त वीररस का लक्षण बतलाते हैं :—

रौद्ररस के समान युद्धवीर में भी संग्राम, सम्प्रहार आदि रहते हैं इसी कारण रौद्ररस के पश्चात् वीररस का क्रम निधारित किया गया है और इसी आनन्तर्य को मूल में 'अथ' शब्द के द्वारा कहा गया है। उत्साह उत्तमजन की प्रकृति या स्वभाव होने से उत्साह स्थायीभाव वाला वीररस (भी) उत्तम प्रकृति है। अथवा काव्य या नाटच में स्थित उत्तम प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण इसे 'उत्तम प्रकृति' समझना चाहिये। क्योंकि उत्तम वर्णों का उत्साह सर्वत्र आस्वाद्य होता है। (नाटच व काव्य में) चार प्रकार के नायकों को धीर शब्द के अनुगत कहा गया हैं (जैसे 'धीरोदात्त' इत्यादि।) इन वर्गों में प्रायः सभी उत्साहवान् होते हैं किन्तु जिनका वर्णन कवि द्वारा विवक्षित नहीं उनके चरित्र का वर्णन नहीं होता।

जिनका चरित्र किसी उपदेश या आदर्श को प्रकट करने के योग्य होता है उनके उत्साह की अभिव्यक्ति उचित अवसर पर होती है, और अवसर का औचित्य असम्मोह आदि दशायें हैं इसलिए ये ही विभाव रूप में यहाँ कही गयी हैं। 'असम्मोहाध्यवसाय' का अर्थ है, निर्भ्रान्ति वस्तु के तत्व का निश्चय, जिससे मनुष्य की विचार शक्ति को प्रकट किया गया है।

---

१. नयविनयबहुल—ग०। २. सञ्चारिभावा—ग०।
३. अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः :

वाला होता है। यह प्रत्युत्पन्न-मतित्व, असम्मोह, अध्यवसाय, नीति(विनय), बल (सैन्य), पराक्रम, शक्ति, प्रताप, प्रभाव आदि विभावों द्वारा उत्पन्न होता है। इसका अभिनय स्थिरता, धैर्य, शौर्य, त्याग, चातुर्य आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए। इसमें धृति; मति, गर्व, आवेग, औग्र्य, अमर्ष, स्मृति, रोमांच आदि संचारी तथा सात्त्विक भाव होते हैं।

(प्रश्न) यदि 'असम्मोहाध्यवसाय' को उत्साह का कारण माना जाय तो फिर रावणादि में असद्वस्तुविषयकआग्रह रूप सम्मोह ही उत्साह का जनक देखा गया है (अतः असम्मोहादि को उत्साह का कारण कैसे माना जा सकता है) (उत्तम) यह कथन ग्रन्थकार के शब्दों से भिन्न होने के कारण इष्ट नहीं है (क्योंकि 'असम्मोहाध्यवमाय' को ही उत्साह का जनक माना गया है, सम्मोह को नहीं) और जिस सम्मोह को उत्साहजनकत्व (आप) समझ रहे हैं वहाँ भी पराक्रम और नीति आदि उत्साह के जनक विद्यमान होने से ये ही विभाव हैं [अर्थात् ऐसी दशा में सम्मोह के स्थान पर पराक्रम तथा नीति आदि विभाव होते हैं]।

नीति में सन्धि आदि, छः गुणों का उचित प्रयोग 'नय' कहलाता है। इन्द्रियों का नियमन या विजय 'विनय' है। जिसमें हाथी, घोड़े तथा पैदल सैन्य सम्मिलित हों वह सेना 'बल' है। शत्रुसैन्य को आक्रमण कर पराजित कर देना 'पराक्रम' है। यहाँ 'शक्ति का अर्थ है युद्ध आदि का सामर्थ्य। शत्रु को सन्तप्त करने वाली प्रसिद्धि 'प्रताप' है। कुलमर्यादा, सम्पत्ति तथा मन्त्रि आदि की पूर्णता 'प्रभाव' कहलाता है। मूल में दिये गये 'आदि' शब्द से यश आदि को लेना चाहिये। सब मिल कर ही वीररस के जनक 'विभाव' कहलाते हैं। उत्तम पुरुषों में इनमें से कोई कभी अधिक या न्यून हो सकता है।

इसका वास्तविक उदाहरण श्रीराम का समग्रचरित है। जिन नाटकों में नायक अपने मन्त्रि पर आश्रित रहे तो मन्त्रि में भी ये गुण रखे (माने) जा सकते हैं और प्रतिनायक में ये गुण रहने पर भी उत्साह के व्यञ्जक हो सकते हैं। अतएव कवि को अलग अलग गुणों वाले तथा सम्मिलित गुणों वाले विभिन्न चरित्रों (चरितों वाले पात्रों) की स्वयं यथोचित कल्पना कर लेना चाहिए।

'स्थैर्य' का अर्थ है अविचल रहना। गम्भीरता के कारण अपने मानसिक भावों का आच्छादन करना 'धैर्य' है। युद्ध आदि की क्रिया 'शौर्य' और दान

उत्साहाध्यवसायादविषादित्वादविस्मयान्मोहात् ।
विविधादर्थविशेषाद्वीररसो नाम सम्भवति ॥ ६८ ॥
¹स्थितिधैर्यवीर्यगर्वैरुत्साहपराक्रमप्रभावैश्च ।
वाक्यैश्चाक्षेपकृतैर्वीररसः सम्यगभिनेयः ॥ ६९ ॥

इस विषय में ये (दो) आनुवंशीय आर्यायें हैं :—

अध्यवसाय, विषाद, विस्मय एवं मोह-शून्यता, सतर्कता तथा इसी प्रकार के अन्य विशिष्ट अर्थों के द्वारा उत्साहात्मा वीररस उत्पन्न होता है ॥ ६८ ॥

देना 'त्याग' है । साम, दान आदि चारों उपायों का आवश्यकतानुसार प्रयोग करना 'वैशारद्य' है ।

धर्मादि रूप विभिन्न पुरुषार्थों को लक्ष्य में रखते हुए विषाद, विस्मय तथा मोह से रहित होकर अध्यवसाय रूप जो निश्चय होता है वह उत्साह का जनक होने से 'उत्साह' कहलाता है और यही वीररस का स्थायीभाव माना जाता है ।

इसका अभिप्राय यह है कि आपद्ग्रस्तता, अल्पसन्तोष तथा मिथ्याज्ञान को छोड़कर जो तत्व सम्बन्धी निश्चय किया जाता है उनमें उत्साह मूलतः मुख्य कारण होता है और रौद्ररस में तमोगुण को प्रमुखता होने से, अनुचित तथा अशास्त्रीय बन्धनादि होने से वहाँ मोह तथा विस्मय की ही प्रधानता होती है यही पार्थक्य है ।

'स्थिति' का अर्थ स्थिरता है । 'वीर्य' का अर्थ है शौर्य । 'गर्व' पद से वीररस के अनुभावों का अर्थ ग्रहण करना चाहिए । 'उत्साह' पद से निर्बल या निराश पुरुष को उत्साह देना उत्तेजित करना अभिप्रेत है, जैसे सेतुबन्ध में है । दूसरे (शत्रु) पर आक्रमण करना 'पराक्रम' है । युद्ध में सैनिकों को कार्य बतलाते नियोजित करना तथा सैन्यसंचालन 'प्रभाव' सम्पादन समझना चाहिये । शत्रु पर अन्यथा आरोप करना 'आक्षेप' कहलाता है । ऐसे आक्षेप-पूर्ण वचनों के कथन से भी 'वीररस' की उत्पत्ति होती है (और इससे आक्षेप वचनों के अर्थों की गम्भीर और दुर्ज्ञेय होने की सूचना भी मिलती है ।)

इति वीररसप्रकरणम् ।

---

१. स्मृति धैर्यवीर्यशौर्योत्साह—

इस वीररस का अभिनय स्थिरता, धैर्य, वीर्य, गर्व, उत्साह, पराक्रम, प्रभाव तथा आक्षेपपूर्ण कथोपकथन द्वारा किया जाय ॥ ६९ ॥

भयानक रस

अथ भयानको नाम भयस्थायिभावात्मकः। स च विकृतरवसत्त्वदर्शनशिवोलूकत्रासोद्वेगशून्यागाराऽरण्यगमन[1]स्वजनवधबन्धदर्शनश्रुतिकथादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्य प्रवेपितकरणचरणनयनचपलपुलकमुखवैवर्ण्यस्वरभेदादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः॥

व्यभिचारिभावाश्चास्य[2], स्तम्भस्वेदगद्गदरोमाञ्चवेपथुस्वरभेदवैवर्ण्यशङ्कामोहदैन्यावेग[3]चापलजडतात्रासापस्मारमरणादयः।

अथ भयानकरस प्रकरणम्

भयभीत पुरुष को मुख्यरूप से अभयप्रदान करने वाला वीररस होता है अतः उसी के बाद क्रमशः भयानक रस आता है। इसका 'अथ' इत्यादि से स्वरूप बतलाते हैं :—'विकृतत्व' अर्थात् अट्टहासादि शब्द, सत्वों का अर्थात् भूत, प्रेत, पिशाच आदि का दिखलाई देना। दूसरे में स्थित भय और घबराहट भी भयानक रस के कारण होते हैं। शून्य गृह या शून्यवन में पहुँचना, अपने सम्बन्धियों का वध या बन्धन प्रत्यक्षतः देखना या उसका किसी के द्वारा श्रवण करना। 'कथादि' का आशय है कि स्वजन की बीती घटनाओं के पुनः चिन्तन या स्मरण होने आदि कारणोंसे भी भयानकरस की उत्पत्ति होती है।

'प्रवेपित' का अर्थ है हाथ पैर का कांपने लगना, आदि कर्म से व्याधि आदि में होने वाले कम्प के भिन्नत्व की सूचना द्वारा यहाँ भय की व्यञ्जकता बतलायी है। पुलक का अर्थ हैं रोंगटे खड़े हो जाना। स्वर का भेद अर्थात् स्वर का (स्वाभाविक) परिवर्तन हो जाना भय के अनुभाव हैं।

प्रथम आर्या में दिये गये गुरु तथा नृत्य इत्यादि शब्दों का आशय यह है कि स्त्री, नीच तथा बालक आदि में सहज भय होता है यह आगे कहेंगे पर

---

१. रण्यप्रवेश—घ०। २. भावाश्चास्य—ग०।
३. वेगचापलत्रासापस्मार—ग०।

आनुवंश्या अत्रार्याः भवन्ति—

भयानक रस का स्थायीभाव भय होता है। यह (अट्टहासादि) विकृत-शब्द, हिंसक-जन्तुओं के दर्शन (शब्द तथा रुदन), सियार तथा उल्लू के (या पिशाच, भूत, प्रेत आदि के) द्वारा त्रास, उद्वेग, शून्य अरण्य एवं गृह में प्रवेश, आत्मीय व्यक्ति के वध तथा बन्धन का दर्शन श्रवण तथा कथन आदि विभावों के द्वारा उत्पन्न होता है। इसका अभिनय धूजते हुए हाथ पैर तथा फड़कते हुए नेत्रों, रोमांच, मुँह का उत्तर जाना तथा स्वरभेद आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए। इसमें स्तम्भ, स्वेद, गद्गद हो जाना, रोमांच, वेपथु, स्वरभेद, वैवर्ण्य, शंका, मोह, दैन्य, आवेग, जड़ता, त्रास, अपस्मार तथा मरण आदि संचारी (तथा सात्त्विक) भाव होते हैं।

इस विषय में ये आनुवंशीय आर्याएँ हैं :—

विकृतरवसत्वदर्शनसंग्रामारण्यशून्यगृहगमनात्।
गुरुनृपयोरपराधात्कृतकश्च भयानको ज्ञेयः ॥ ७० ॥

उत्तम तथा मध्यम प्रकृति (के पुरुषों) में यह स्वाभाविक नहीं होता, परन्तु उन्हें भी गुरु तथा राजा से भय दिखलाना पड़ता है एवं उस भय के होने पर भी उनका उत्तमत्व रहता ही है तथा राजा से भयभीत होने के द्वारा मन्त्रियों का अप्रभूत्व या विनय ही सूचित होता है। जैसे रत्नावली में—'स्वेच्छाचारी भीत एवास्मि भर्तृः (र० १।७) ['स्वेच्छाचार करते हुए मुझे स्वामी से भय लगता है'] इत्यादि मन्त्री ने कहा है।

यहाँ उपर्युक्त भावना से ऐसे सुसंगत रूप से कार्य (अनुभाव) किये जाते हैं जिससे गुरु आदि को यह प्रतीति हो जाय कि यह सचमुच डर रहा है। अस्वाभाविकता रहने से इसे कृत्रिम (कृतक) भाव कहा गया है। यह भाव बहुत समय तक विद्यमान रहकर आस्वाद्ययोग्य होने के कारण 'भयानकरस' कहलाता हैं। यहाँ 'भय' संचारी (या व्यभिचारिभाव) नहीं है क्योंकि व्यभिचारिभाव तो तभी होगा जब वह स्वभावतः क्षणस्थायी हो (पर भय वैसा नहीं है, अतः वह व्यभिचारिभाव नहीं किन्तु स्थायी है।)

गात्रमुखदृष्टिभेदैरूरुस्तम्भाभिवीक्षणोद्वेगैः।
सन्नमुखशोषहृदयस्पन्दनरोमोद्गमैश्च भयम् ॥ ७१ ॥
एतत्स्वभावजं स्यात्सत्वसमुत्थं तथैव कर्तव्यम्।
पुनरेभिरेव भावैः कृतकं मृदुचेष्टितैः कार्यम् ॥ ७२ ॥

गात्रमुख इत्यादि कारिका से अब अनुभावों का उल्लेख करते हैं। गात्र का अर्थ है—मुख और दृष्टि आदि का भेद उनके रंग (कार्य) और स्थिति आदि में परिवर्तन हो जाना। 'अभिवीक्षण' का अर्थ है— भय के कारण इधर उधर देखने लगना जिसमें किसी एक स्थान पर चक्षुः नहीं ठहरते हों। 'उद्वेग' का अर्थ है—विचलित हो जाना। 'साद' का अर्थ है—अंगों का सुन्न या शिथिल हो जाना। मुखशोषण का तात्पर्य है तालु का सूख जाना। 'हृदय-स्पन्दन' का अर्थ है हृदय की गति का (वेग) बढ़ जाना। 'भयम्' का सम्बन्ध वीररस की आर्या में प्रयुक्त पद 'अभिनेयम्' क्रियापद से लेकर अर्थ होगा। इसका कारण यह है कि ये आर्यायें आचार्यों ने भयानकरस के साथ वीररस के लक्षण को लिखते हुए एक साथ पढ़ी थीं, जिन्हें भरतमुनि ने उचित स्थान पर समाविष्ट कर दिया। अतः 'अभिनेयम्' क्रियापद का दोनों वर्ण्य रसों के साथ अन्वय करना उचित है।

एतत्स्वभावजम्—इत्यादि। यहाँ 'सत्व' शब्द का अर्थ है मन की आन्तरिक दशा। उससे उत्पन्न भय 'सत्वसमुत्थ' होता है। अभिनयादि का निर्देश यहाँ केवल नट के लिए ही नहीं किन्तु दर्शक, सामाजिक आदि सभी के लिए है ऐसी शंकुक आदि प्राचीन टीकाकारों की व्याख्या है परन्तु ऐसा मानना उचित नहीं क्योंकि यह सारा प्रकरण (तथा नाट्यशास्त्र भी) कवि तथा अभिनेताओं के शिक्षण के हेतु ही निर्मित है। और विभाव, अनुभाव तथा संचारी आदि का व्यवहार लोक में नहीं होता, अतः स्पष्ट है कि इनकी योजना रसबोध के लिए होती है और लोकजीवन में उनकी समानता नहीं मिल सकती। 'स्वाभाविक' आदि का आशय यह है कि स्वाभाविक भय राजस और तामस प्रकृति के अर्थात् नीच प्रकृति के व्यक्तियों में होता है पर जो सात्विक प्रकृति के व्यक्ति हैं उनमें स्वाभाविक भय नहीं रहता किन्तु मनःकल्पित या प्रयत्नकृत भय होता है। इसका अभिनय भी इन्हीं वर्णित

करचरणवेपथुस्तम्भगात्रसंकोचहृदयकम्पेन[1] ।
शुष्कोष्ठ-तालु-कण्ठैर्भयानको नित्यमभिनेयः ॥ ७३ ॥

विकृत शब्द, भयंकर जन्तुओं के दर्शन, युद्ध, अरण्य एवं सूने घरों में जाने तथा गुरुजन एवं राजा के अपराध आदि हो जाने के कारण भयानक रस उत्पन्न होता है ॥ ७० ॥

शरीर (हाथ (पैर आदि) के अवयवों, मुख तथा नेत्रों के परिवर्तन, पिण्डलियों के जड़ होने, चारों ओर देखने, उद्विग्न होने, झुके हुए मुँह के

अनुभावों के द्वारा किया जाए किन्तु चेष्ठायें थोड़ी मृदु रहनी चाहिए क्योंकि यह 'कृत्रिम भय' है। यहाँ 'पुनः' शब्द से सहज और कृत्रिम भय में भेद निर्दशित किया गया है।

(प्रश्न) शक्तिशाली होने पर भी राजा आदि गुरु आदि से कृत्रिम भय क्यों दिखलाते हैं ? और भय दिखलाने पर मृदु गात्रकम्पन आदि को क्यों प्रकट करते हैं ? और केवल भयानकरस को ही कृत्रिम क्यों कहा गया जब कि इस प्रकार सभी रस कृत्रिम हो सकते हैं। जैसे कि वेश्या धन की अभिलाषा से कृत्रिम प्रेम प्रर्दशित करती है। ऐसी आशंकाओं का एक सामान्य उत्तर यह है कि 'इसका इसी प्रकार अभिनय करना चाहिए।' क्योंकि अपने गुरु के सम्मुख भय प्रदर्शित करने पर राजा को गुरु विनयशील मानते हैं। और यह भय मृदु चेष्टाओं के द्वारा प्रस्तुत या प्रर्दशित करने पर उसे अधम प्रकृति का नहीं समझा जाता। कृत्रिम शृङ्गार के प्रसङ्ग में कहा गया है कि वेश्या विषयक रति से पुरुषार्थ की सिद्धि वेश्यासक्तों को नहीं होती। पर यहाँ उक्त प्रकार के कार्य से प्रयोजन या पुरुषार्थ की सिद्धि होती है। पर जहाँ दूसरों पर अनुग्रहार्थ राजा कृत्रिम क्रोध आदि को प्रदर्शित करे वहाँ चिरकाल तक स्थित न होने के कारण वह व्यभिचारिभाव समझना चाहिए।

इसी अर्थ को बतलाने के लिए अपनी गुरु एवं वंश परम्परा में प्रसिद्ध 'करचरण' इत्यादि आर्या को भरत यहाँ प्रस्तुत करते हैं। 'यहाँ नृत्य' पद से भय के स्वाभाविक (अकृत्रिम) तथा कृत्रिम होने पर एक ही प्रकार से अभिनय किया जाने का आशय प्रकट होता है।

इति भयानकरसप्रकरणम्।

---

१. हृदयप्रकम्पेन—ग० :

सूखने, हृदय के धड़कने तथा रोमांच आदि से 'भय' अभिनीत होता है।

यह स्वाभाविक भय का लक्षण है। किसी हिंसक पशु के देखने से उत्पन्न भय भी ऐसा ही होता है अथवा सात्विक भावों से प्रकट होने वाला भय भी इसी प्रकार प्रकट किया जाना चाहिए तथा इन्हीं भावों से बनावटी 'भय' का प्रदर्शन भी होता है, परन्तु उसमें चेष्टाएँ थोड़ी हलकी (मृदु) होती हैं ॥ ७२ ॥

भयानक रस का अभिनय हाथ–पैरों के कम्पन, शरीर के स्तम्भन तथा संकोच, हृदय के कम्पन, तालु के शोषण तथा ओष्ठ और हृदय के कम्पन के द्वारा किया जाय ॥ ७३ ॥

बीभत्सरस

अथ बीभत्सो नाम जुगुप्सास्थायिभावात्मकः। स चाहृद्या [प्रशस्ता] [1]प्रियाचोष्यानिष्टश्रवणदर्शनोद्वेजन[2] [परि] कीर्तनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्य च [3]सर्वाङ्गसंहारमुखविकूणनोल्लेखन-निष्ठीवनोद्वेजनादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः भावाश्चास्यापस्मारोद्वेगा[4]-वेगमोहव्याधिमरणादयः। अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः—

अथ बीभत्सरस प्रकरणम्

अब अवसर प्राप्त 'बीभत्सरस' का लक्षण 'अथ इत्यादि से करते हैं।

'अहृद्य' का अर्थ है अग्राह्य। कोई वस्तु हृद्य होने पर भी दूसरों के लिए स्वभाव से ही अत्यन्त अप्रिय [अग्रह्य] होती है, जैसे ब्राह्मणों के लिए लहसुन। धातुदोष अर्थात् वात, पित्त या कफ के कुपित होने पर भी कुछ वस्तुएँ अप्रिय लगती हैं। 'अचोष्य' का अर्थ है—अपने स्वरूप से दुष्ट न होने पर भी मलादि से सक्त। 'अनिष्ट' का अर्थ है—जिसके निरन्तर सेवन से अधिक सेवन की इच्छा न रहना। सर्वाङ्ग-संहार अर्थात् उनको एकत्र करना या सिकोड़ना। 'मुखविकूणन' अर्थात् मुख के अवयव नाक, भौहें आदि को सिकोड़ना। 'उल्लेखन' का अर्थ वमन करना है। कफ का थूँकना 'निष्ठीवन' है तथा 'उद्वेजन' का अर्थ है शरीर को हिलाना।

---

१. प्रियावेक्षा—ग०, प्रियाचोक्षा—घ०। २. दर्शनपरिकीर्तनादि–ग०।
३. सर्वाङ्गहारमुखनेत्रविघूर्णनं हृल्लेखनिष्ठीवन—ग०।
४. स्यापस्मारावेग—घ०।

(गद्य भाव) अब बीभत्सरस बतलाते हैं। इसका 'जुगुप्सा' स्थायी भाव होता है। यह असुन्दर एवं अप्रिय पदार्थों के अवलोकन, अनिष्ट वस्तु के दर्शन तथा कथन आदि विभावों के द्वारा उत्पन्न होता है। इसका अभिनय सभी अङ्गों के संकोच, मुख को सिकोड़ने, घुमाने, ऊपर की ओर ले जाने और थूकने तथा अंगों के घुमाने आदि अनुभावों के द्वारा प्रदर्शित करना चाहिए। इनमें अपस्मार, उद्वेग, आवेग, मोह, व्याधि तथा मरण आदि संचारीभाव होते हैं।

इस विषय की प्रतिपादक भिन्न आर्याएँ हैं :—

अनभिमतदर्शनेन च गन्धरसस्पर्शशब्ददोषैश्च।
उद्वेजनैश्च बहुभिर्बीभत्सरसः समुद्भवति ॥ ७४ ॥
[1]मुखनेत्रविघूर्णननयननासाप्रच्छादनावनमितास्यैः।
अव्यक्तपादपतनै बीभत्सः[2] सम्यगभिनेयः ॥ ७५ ॥

(यह) अप्रिय घिनौने पदार्थ के दर्शन, तथा अप्रिय-गन्ध, रस, स्पर्श शब्द तथा दोषों से पूर्ण अनेक प्रकार की त्रासादायक वस्तुओं के अनुभव करने पर 'बीभत्स' रस उत्पन्न होता है ॥ ७४ ॥

मुँह[1] एवं नेत्रों को घुमाने, नाक और आँखों के वक्र करने, मुँह को झुकाने और अकस्मात् (बिना जाने) पैरों को टिकाने, उठाने आदि के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए ॥ ७५ ॥

---

१. अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त स्थानों या घृणित पदार्थ देखने पर नाक का दबाना प्रायः लोक में देखा जाता है। 'अव्यक्तपादपतन' का अर्थ है परस्पर टकराने, उठाने आदि के द्वारा पैरों का गिरना या हड्डी और कङ्कालों से भरे हुए श्मशान में घूमते हुए व्यक्ति के द्वारा अस्पष्ट अर्थात् कहीं लम्बे और कहीं छोटे डग भरना।

इति बीभत्सरसप्रकरणम्।

---

१. मुखनेत्रविकूणनया—घ०।
२. सम्यगभिनयः प्रयोक्तव्यः—ग०।

अद्भुतरस—

अथाद्भुतो नाम विस्मयस्थायिभावात्मकः स च दिव्यजन-दर्शनेप्सितमनोरथावाप्त्युपवनदेवकुलाभिगमनसभा[1]विमानमायेन्द्र-[2]जालसम्भावनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते । तस्य नयनविस्तारानिमेषप्रेक्षण-रोमाञ्चाश्रुस्वेदहर्षसाधुवाददानप्रबन्धहाहाकारबाहुवदनचेलाङ्गुलि[3]-भ्रमणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः । [4]भावाश्चास्य स्तम्भाश्रुस्वेद[5]-गद्गदरोमाञ्चावेगसम्भ्रमप्रहर्ष[6]-चपलतोन्माद-धृतिजडताप्रलयादयः । अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः—

(गद्य भाग[1]) अब अद्भुतरस बतलाते हैं, जो 'विस्मय' स्थायीभावात्मक है। यह दिव्य जन के दर्शन, इष्ट मनोरथों की प्राप्ति, उद्यान तथा सभा-भवन, सतमंजिले भवन (विमान) माया तथा इन्द्रजाल के दर्शन आदि विभावों द्वारा उत्पन्न होता है। इसका नेत्रों के विस्तार, इकटक देखना

अथ अद्भुतरसप्रकरणम्

---

१. 'सभी नाट्यप्रदर्शन के अन्त में अद्भुतरस रखा जाता है' इस वचन के अनुसार 'अथ' इत्यादि से अब अद्भुतरस का लक्षण करते हैं :—दिव्यजन का अर्थ है गन्धर्व आदि। जिसकी प्राप्ति सम्भव हो वह 'ईप्सित' तथा जिसकी प्राप्ति असम्भव हो वह 'मनोरथ' कहलाता है; इन दोनों को प्राप्त करना अर्थात् इनके समीप आ जाना। जिसने सुन्दर भवन आदि न देखे हों उनके लिये 'देवकुल' (मन्दिर) में जाना 'अद्भुतरस' का विभाव है। एक विशेष प्रकार से निर्मित मण्डप या गृह को 'सभा' कहते हैं। विमान अर्थात् दिव्यरथ। रूप परिवर्तन आदि की कला 'माया' कहलाती है। मन्त्र, द्रव्य या वस्तु के रखने आदि की युक्ति से असम्भव वस्तु को प्रदर्शित करना 'इन्द्रजाल' है।

मूल में आये 'तस्य' पद का अर्थ है अद्भुत रस का। 'हर्ष' शब्द से

---

१. सम्भाव्यमानमाहेन्द्रजाल—ग०। २. जालसाधनादिभिः—घ०।
३. चरणाङ्गुलि—ग०। ४. व्यभिचारिभावाश्चास्य—ग०।
५. अश्रुस्तम्भ—ग०। ६. सम्भ्रमजडताप्रलयादयः—ग०।

रोमाञ्च, अश्रु, स्वेद, हर्ष, साधुवाद, दान (दान प्रबन्ध) (निरन्तर) हा हा कर चिल्लाना, बाहु, मुँह अंगुलि या वस्त्र के एक कोने को घुमाने आदि अनुभावों के द्वारा अभिनय करना चाहिए। इसमें अश्रु, स्तम्भ, स्वेद, गद्‌गदवाणी, रोमांच, आवेग, सम्भ्रम, हर्ष, चपलता, उन्माद, धृति, जड़ता तथा प्रलय आदि संचारी (तथा सात्विक) भाव हैं।

इस विषय में दो अनुवंशीय आर्याएँ हैं :—

यत्वतिशयार्थयुक्तं वाक्यं शिल्पं[1] च कर्म रूपं वा।
तत्सर्वमद्‌भुतरसे[2] विभावरूपं हि विज्ञेयम् ॥ ७६ ॥
[3]स्पर्शग्रहोल्लुकसनैर्हाहाकारैश्च साधुवादैश्च।
वेपथुगद्गदवचनैः स्वेदाद्यैरभिनयस्तस्य ॥ ७७ ॥

जो भी अतिशयोक्तिपूर्ण[1] वाक्य, शिल्प, कर्म तथा रूप हों वे सभी अद्‌भुतरस में विभाव समझने चाहिए ॥ ७६ ॥

इसका स्पर्श, ग्रहण, शरीर को आनन्द के अतिरेक में ऊपर उछालने

अद्‌भुत रस के अनुभावों का ग्रहण होता है। साधु-साधु कहना 'साधुवाद' है तथा उससे प्रसन्न होकर दान (पुरस्कार) आदि देना 'विस्मय' के कार्य या अनुभाव है। विस्मयकारी या अद्‌भुत वस्तु को देखकर निरन्तर हा हा करना, हाथ, वस्त्र या अंगुली आदि का घुमाना (आदि भी) अद्‌भुतरस के अनुभाव हैं।

१. जो दूसरों का अतिक्रमण करे वह 'अतिशय' कहलाता हैं, जो अन्य अर्थों की अपेक्षा उत्कृष्ट हो और उसका प्रतिपादक वाक्य जो कला या उत्तम कार्य रूप हो उसे भी 'अतिशयार्थयुक्त' समझना चाहिए। 'कर्मरूपं' पद में प्रशंसा के अर्थ में 'रूपप्' प्रत्यय किया गया है। यह सभी अद्‌भुत रस का विभाव होता है। 'स्पर्शग्रह' इत्यादि से आगे अद्‌भुतरस के विभावरूप में कहे जाने वाले अभिनय का ग्रहण करना चाहिए। जैसाकि आगे कहा भी हैः—

किञ्चिदाकुञ्चिते नेत्रे कृत्वा भ्रूक्षेपमेव च।
तथांसगण्डयोः स्पर्शात् स्पर्शमेवं विनिर्दिशेत् ॥ (२४—८३)

---

१. शीलञ्च—ग०। २. एभिस्तर्थविशेषै रसोद्‌भुतो नामचयोद्भवः—ग०, रसोद्‌भुतो नाम विज्ञेयः—घ०। ३. स्पर्शग्रहोत्कहसनैः—ग०।

उल्लुकसनम्[1]) हा हा शब्द को उच्चारण, साधुवाद, कम्पन, गद्गद वचन तथा स्वेदादि के द्वारा अभिनय करना चाहिए ॥ ७७ ॥

रसों के तीन प्रकार

शृङ्गारं त्रिविधं विद्याद्वाङ्नैपथ्यक्रियात्मकम् ।
अङ्गनैपथ्यवाक्यैश्च हास्यरौद्रौ त्रिधा स्मृतौ ॥ ७८ ॥
धर्मोपघातजश्चैव [1]तथार्थापचयोद्भवः ।
तथा शोककृतश्चैव करुणस्त्रिविधः स्मृतः ॥ ७९ ॥
दानवीरं धर्मवीरं युद्धवीरं तथैव च ।
रसं वीरमपि प्राह[2] ब्रह्मा त्रिविधमेव हि ॥ ८० ॥

[आँखों को थोड़ा सिकुड़ा कर, भौंहों को ऊपर उठाकर और कपोलों को कन्धे से लगाकर 'स्पर्श' का अभिनय करना चाहिए । (ना० शा० २४–८३)

'उल्लुकसनम्' का अर्थ है शरीर को प्रसन्नता से ऊपर उछालना । यहाँ 'उल्लुकसनैः' आदि में बहुवचन के प्रयोग से विभिन्न पुरुषों की विविध प्रकृति के अन्तर को सूचित किया गया है ।

इति अद्भुतरसप्रकरणम् ।

'शृङ्गार' इत्यादि कारिकाओं के द्वारा रसों के विभेद बतलाने के व्याज से प्रधानभूत विभाव के कारणानुरूप सांख्यदर्शन के अभिमत त्रिगुणात्मक भावों को प्रतिपादित किया गया है ।

रौद्ररस के भेदों में जिसे 'स्वभाव रौद्र' कहा गया है उसे ही यहाँ 'वाक्य-रौद्र' समझना चाहिए, क्योंकि स्वभाव के अनुसार ही 'वाक्य' रहते हैं ।

उत्तम प्रकृति के पुरुषों में 'धर्मोपघातज' शोक हो सकता है और धर्महानि तो उत्तम नहीं होती पर उसका मूल भाव धर्मरक्षण उत्तम होने के कारण 'शोभन हेतु' कहा जा सकता है । 'शोक' शब्द से स्वजन के नाश से उत्पन्न करुण का ग्रहण करना चाहिए । तीनों करुणरस के विभाव होते हैं । धर्म शब्द से यहाँ अग्निहोत्र आदि कार्यकलाप के सम्पादन करने का अर्थ समझना चाहिए ।

---

१. तथा त्वप—ग० घ० । २. प्राहुस्तज्ज्ञास्त्रिविधसम्मतम्—ग० प्राहु-स्तज्ज्ञा स्त्रिविधमेव च—घ० ।

व्याजाच्चैवापराद्धाच्च विन्नासितकमेव च।
पुनर्भयानकं चैव विद्यात्त्रिविधमेव हि ॥ ८१ ॥
बीभत्सः क्षोभणः[1] शुद्ध उद्वेगी स्यात् तृतीयकः।
विष्ठाकृमिभिरुद्वेगी क्षोभणो[2] रुधिरादिजः ॥ ८२ ॥

शृङ्गाररस वाणी, नेपथ्य तथा क्रिया भेद से तीन प्रकार का होता है। हास्य और रौद्ररस भी अंग, नेपथ्य तथा वाक्य के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। करुणरस धर्मोपघातज, अपचयोद्भव तथा शोधकृत भेद से तीन प्रकार का होता है। वीररस के दान-वीर, धर्मवीर तथा युद्धवीर नामक तीन भेद होते हैं ऐसा ब्रह्माजी ने कहा है।

व्याज से अर्थात् बनावटी। इसके द्वारा अनुभावों की मृदुता सूचित की गई है। यहाँ 'अपराध' शब्द से अपराध करने वालों से (चोरों आदि से) होने वाले भय का संकेत है। तीसरे भेद के अन्तर्गत 'वित्रासितकम्' आता है। स्वभाव से ही डरपोक स्त्री बालक आदि को किसी तिनके के हिलने से भय होने लगे तो उसे 'वित्रासितक' कहते हैं। जो विशेषरूप से भीत हैं वे बालक आदि 'वित्रासित' कहलाते हैं और उनमें रहने के कारण 'भय' भी 'वित्रासित' होता है। यहाँ वित्रासित शब्द को संज्ञा के अर्थ में ('संज्ञाया कन्' सूत्र से) 'कन्' प्रत्यय लगाकर ('वित्रासितक' शब्द) निष्पन्न किया गया है।

कुछ प्राचीन टीकाकारों के अनुसार गुरुजन आदि के प्रति अपराध करने पर उत्तम प्रकृति के व्यक्तियों में भी वास्तविक भयावेश हो जाता है। यह उचित नहीं है क्योंकि अपने विनाश की आशंका से वास्तविक भय उत्पन्न होता है जो उत्तम प्रकृति के पुरुषों में नहीं होता। अतः स्त्री तथा नीच प्रकृति के लोगों में यथार्थ (सामान्य) भय देखा जाता है (यही सामान्यतः कहा गया है।)

रुधिर तथा आँतों को देखने से जो बीभत्स उत्पन्न होता है वह क्षुब्ध करने के कारण 'क्षोभण' और शुद्ध कहलाता है और जो विष्ठा आदि के देखने से उत्पन्न होता है वह उद्वेगजन तथा हृदय को विचलित करने वाला होने से उद्वेगी है। यह अशुद्ध विभावों से उत्पन्न होने के कारण अशुद्ध कहलाता है।

---

१. क्षोभजः—ग०। २. क्षभजो—ग० घ०।

भयानकरस व्याज (कृत्रिम, प्रदर्शन); अपराध तथा त्रास द्वारा उत्पन्न होकर तीन प्रकार का होता है।

बीभत्सरस क्षोभज, शुद्ध तथा उद्वेगी भेद से तीन प्रकार का होता है। मूल तथा कीड़े आदि सड़ी वस्तुओं के देखने से 'उद्वेगी', रुधिरादि वस्तु के देखने से 'क्षोभज' ॥ ७८-८२ ॥

अद्भुत-रस के दो भेद—

दिव्यश्चानन्दजश्चैव द्विधा ख्यातोऽद्भुतो रसः।
दिव्यदर्शनतो दिव्यो हर्षादानन्दजः स्मृतः ॥ ८३ ॥

परन्तु (केवल) अद्भुतरस के दो भेद होते हैं—दिव्य[1] तथा आनन्दज। अलौकिक या दिव्य वस्तुओं तथा व्यक्तियों के दर्शन से 'दिव्य' तथा हर्षादि से उत्पन्न 'आनन्दज' होता है ॥ ८३ ॥

इस विषय में (अभिनवगुप्त के उपाध्याय) भट्टतौत का मत है कि इन दोनों प्रकार के बीभत्सों को क्षोभज अर्थात् अशुद्ध समझना चाहिए। संसार को संचालित करने वाले राग द्वेष आदि का विरोधी होकर जो मोक्ष का साधक हो उसे ही वस्तुतः 'शुद्ध बीभत्स' माना जाना चाहिए। बीभत्स का स्थायी भाव जुगुप्सा है जो योगांग होने से मोक्ष में उपयोगी है। जैसा कि पतञ्जलि ने कहा भी है कि—"शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा" (यो० सू० २।४०) (शौच के सिद्ध होने पर अपने शरीर से भी घृणा हो जाती है) अतः शौच से बीभत्स का स्थायी भावजुगुप्सा भी मोक्ष साधन में उपयोगी है और 'विपक्षबाधने प्रतिपक्षबाधनम्' (यो० सू० २।३३) वित्तर्कों के द्वारा बाधा उपस्थित होने पर प्रतिपक्ष की भावना का समाहार आवश्यक है) अतः उक्त दो भेदों के अतिरिक्त बीभत्सरस की यह तीसरी कोटि भी स्वीकार्य होने के कारण बीभत्सरस के तीन प्रकार हो जाते हैं। कारिका में दिये गये 'द्वितीयकः' पद से मोक्षोपयोगी बीभत्स की दुर्लभता होने से उसकी न्यूनता को संकेतित किया गया है।

१. दिव्य शब्द से जिसमें सभा, विमान आदि हो ऐसे विभावों का ग्रहण होता है। जिसमें मनोरथ आदि आनन्द प्रदान करते हों उसे 'आनन्दज' समझना चाहिए। प्रथम में दिव्यता विस्मयकारी और दूसरे में हर्ष आनन्द-प्रदाता होता है।

शान्तरस

अथ[1] शान्तो नाम शमस्थायिभावात्मको मोक्षप्रवर्तकः। स तु

यहाँ शृंगार इत्यादि में आये हुए अन्य विभावों तथा अनुभावों के अभाव की शंका के निराकरण के लिए 'च' कार है [अर्थात् इनके अतिरिक्त अन्य विभाव और अनुभाव भी हो सकते हैं। और उनमें से इतने ही यहाँ सङ्गत हो सकते हैं इसे दिखलाने के लिये चकार के बाद 'एव' शब्द का प्रयोग किया गया है और 'तथा' शब्द से अनुक्त विभावादिकों का संग्रह करने का निर्देश भी किया गया है।

अथ शान्तरसविचारः

अब नवरसवादियों के मत के अनुसार 'शान्तरस' का प्रतिपादक स्वरूप बतलाया जा रहा है। इस विषय में कुछ के अनुसार—शान्त शमस्थायी भाव वाला है और इसकी उत्पत्ति तप और योगिसम्पर्क आदि विभावों से होती है और काम, क्रोध आदि अभावरूप अनुभावों से इसका अभिनय किया जाता है तथा धृति, मति आदि इसमें व्यभिचारिभाव होते हैं।

पर (इस मत के) विपक्षी जन इसे स्वीकार नहीं करते। उनके मत में शम और शान्त शब्द समानार्थक (पर्याय) है जिनमें एक को स्थायी और दूसरे को रस मानना अनुचित होगा। इसके अतिरिक्त भावों की उनचास संख्या नियत होने से यदि यहाँ 'शम' को माना जाय तो यह संख्या का परित्याग होगा अतः संख्यावृद्धि के आपादक होने से शान्त को रस कैसे माना जाय। और ऋतुमाल्य आदि विभाव अपने पश्चात् उत्पन्न होने वाले शृङ्गारादि रस में कारण रूप से प्रतीत होते हैं पर यहाँ तप और स्वाध्याय आदि विभाव अपने उत्तरवर्ती शान्त या शम में कारणरूप से प्रतीति नहीं होते।

अब यदि यह कहें कि (तप, अध्ययन आदि) तत्वज्ञान के बाद में आने वाले हेतु हैं तो पहले उत्पन्न होने वाले तत्व ज्ञान के प्रति कारण होने से शम के विषय में तप, अध्ययन आदि को विभावता नहीं रहेगी। और कामादि के अभाव को भी शान्तरस का अनुभाव नहीं माना जा सकता है क्योंकि कामादि का अभाव शान्त के विरोधी वीर आदि अन्य रसों में भी होता है अतः यह

१. अथ शमो—ख०।

तत्त्वज्ञानवैराग्याशयशुद्ध्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तस्य यमनियमा-

---

अभाव की स्थिति शान्त की बोधक नहीं हो सकती, ऐसी दशा में वीर आदि रसों से शान्त रस का पार्थक्य स्पष्ट नहीं होता ।

(शान्तरस का) अभिनय में भी समावेश नहीं हो सकता क्योंकि चेष्टा के अभाव का अभिनय करना सम्भव नहीं । सोने तथा मूच्छित होने पर निश्चेष्टता मानी गयी है पर इसका अभिनय श्वास प्रश्वास लेने, शयन करने गिरने आदि से किया जाता हैं [अतः 'शम' की व्यापार-शून्यता की दशा का अभिनय कैसे होगा] विषयों के उपभोग से प्राप्त तृप्ति रूप धृति शान्तरस में कैसे सम्भव है ? (और फिर उसमें धृति व्यभिचारी भाव नहीं बन सकता) शम प्रधान पुरुष के निश्चेष्ट बैठ जाने पर उसके द्वारा तत्वज्ञान के उपायों का उपयोग या अनुष्ठान कैसे होगा ? (और तत्वज्ञान के न होने से मोक्ष रूप फलप्राप्ति भी उसे नहीं होगी) साधक पुरुष तत्वज्ञान की प्राप्ति के उपरान्त भी संसार में दूसरों के दुःख से दुःखी देखे जाते हैं [अतः शान्तरस सुख-दुःख से रहित भी नहीं है] इसलिए शान्तरस को स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

[इस प्रकार पूर्वपक्ष उपस्थित करने के बाद उसके समाधान के लिये सिद्धान्त पक्ष का आरम्भ करते हैं] संसार में जैसे धर्मादि तीन पुरुषार्थ कहे गये हैं उसी प्रकार शास्त्र, स्मृति तथा इतिहास आदि में मोक्ष भी चतुर्थ पुरुषार्थ माना गया है । और जैसे काम आदि के उपयुक्त रति आदि शब्दों से अभिहित चित्तवृत्तियाँ कवि तथा अभिनेताओं के कार्य तथा अभिनय के द्वारा उस प्रकार की हार्दिक भावनाओं वाले सामाजिक के लिए शृंगार आदि के रूप में आस्वाद्य बनाई जाकर रसत्व को प्राप्त करवाई जाती है उसी प्रकार मोक्ष पुरुषार्थ के अनुरूप या उपयुक्त शम (रूप) चित्तवृत्ति रसत्व को क्यों नहीं प्राप्त करवायी जा सकेंगी यह कहिये ? और जो जहाँ शम रूप चित्तवृति बतलाई गयी है वही शान्तरस का स्थायी भाव है ।

यहाँ विचारणीय यही है कि इसका स्थायीभाव कौन है ? कुछ लोगों का मत है कि तत्वज्ञान से उत्पन्न 'निर्वेद' ही शान्तरस का स्थायीभाव है । निर्धनता आदि से उत्पन्न निर्वेद से शान्तरस का स्थायी निर्वेद भिन्न है, क्योंकि यहाँ तत्वज्ञान कारण रूप में होने से भिन्न स्थिति उत्पन्न कर रहा है । इसीलिये भरतमुनि ने इसे स्थायी तथा संचारिभावों के मध्यवर्ती रखा है । मुनि

ने स्थायी भावों में निर्वेद को न रखकर उसका व्यभिचारिभावों में ही सर्वप्रथम उल्लेख किया है। यदि 'निर्वेद' मोक्ष का साधन न होकर केवल दरिद्रता आदि से सम्बद्ध होता तो मंगल की कामना से भरत मुनि इसका सर्व प्रथम उल्लेख नहीं करते। और जब भरतमुनि ने 'निर्वेद' को व्यभिचारिभाव माना है तो उसे स्थायीभाव कैसे माना जाय? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि भरतमुनि ने बीभत्स रस के स्थायी भाव जुगुप्सा को शृंगार में व्यभिचारिभाव रूप में निषेध करते हुए सभी स्थायीभावों का अपने रस में स्थायीभावत्व तथा अपने से भिन्न रसों में व्यभिचारिभावत्व स्वीकार करने की अनुमति दी है। यदि कोई भाव स्थायी है तो वही व्यभिचारिभाव हो सकता है। अतः तत्वज्ञानजन्य 'निर्वेद' भी स्थायी तथा व्यभिचारिभाव होकर शान्त रस का स्थायीभाव बन सकता है। और तत्वज्ञानजन्य निर्वेद केवल स्थायीभाव ही नहीं है वह रत्यादि अन्य स्थायी भावों का उपमर्दक भी है। और जो व्यभिचारिभावों के वैचित्र्य को सहन करने वाले रत्यादि से भी अधिक स्थायी स्वभाव वाला है, वही अन्य रसों के स्थायीभावों का विमर्दक होता है [अतः निर्वेद ही शान्तरस का स्थायीभाव है]।

अन्य आचार्य इस मत पर यह आक्षेप करते हैं कि तत्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद शान्तरस का स्थायीभाव है तो तत्वज्ञान को उसका कारण स्वीकारा जाय। पर वैराग्य के मूलभूत तत्वज्ञान को शान्तरस का विभावत्व (कारणत्व) कैसे माना जाय? यदि कहो कि परम्परया उनका उपाय होने से विभावत्व है तो कारण के कारण में विभावत्व का व्यवहार होने से अतिप्रसङ्ग या अनवस्था दोष होगा। [अतः तत्वज्ञानजन्य निर्वेद को स्थायी नहीं माना जा सकता]।

इसके अतिरिक्त सब विषयों में अनुपादेय बुद्धि रूप 'निर्वेद' वैराग्य स्वरूप है। वह तत्वज्ञान के लिए विपरीत रीति से उपयोगी है क्योंकि विरक्त मनुष्य ऐसा प्रयत्न करता है जिससे उसे तत्त्वज्ञान प्राप्त हो और तत्वज्ञान से मोक्ष उत्पन्न होता है। इस प्रकार पहिले वैराग्य और फिर तत्वज्ञान होता है यह नहीं कि तत्त्वज्ञान से निर्वेद और निर्वेद से मोक्ष होता हो। अत तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद को शान्तरस का स्थायीभाव कैसे माना जा सकत है।

प्रयोक्तव्यः। व्यभिचारिणश्चास्य निर्वेद-स्मृति-धृति-सर्वाश्रम-शौच-स्तम्भरोमाञ्चादयः। अत्रार्याः श्लोकाश्च भवन्ति—

अतएव (आत्मज्ञानरहित) केवल 'वैराग्य से प्रकृतिलय होता है' ऐसा श्रद्धेय ईश्वरकृष्ण ने अपनी सांख्यकारिका (का० सं० ४५) में भी कहा है।

(प्रश्न) यह देखा जाता है कि तत्वज्ञानी पुरुष को दृढ़तर वैराग्य होता है। पतञ्जलिमुनि ने भी कहा है कि 'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्' (यो० सू० १।१६) [आत्मज्ञान होने पर प्राकृतिक पदार्थों के प्रति जो वितृष्णभाव हो जाता है वही परवैराग्य है] अतः तत्वज्ञानजन्य निर्वेद शान्तरस का स्थायीभाव माना जा सकता है।

(उत्तर) यह ठीक है पर इस प्रकार के वैराग्य को ज्ञान की पराकाष्ठा माना गया है और यही बात स्वयं पतञ्जलि ने अपने योगसूत्र (१।१६) के द्वारा स्पष्ट भी की है। इस रूप में तत्वज्ञान अपनी ही शृंखला द्वारा परिपोषित होकर परवैराग्य हो जाता है। अतः निर्वेद स्थायीभाव नहीं है किन्तु तत्वज्ञान ही शान्तरस का स्थायीभाव है। और व्यभिचारिभावों की व्याख्या के अवसर पर (अ० ७) तत्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद कहा गया है, पर वहाँ तत्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद को इसलिये कारण कहा गया है कि (जिन) सांसारिक पुरुषों द्वारा भ्रान्तिवश धोखा खाया जाता है उनके विषयभोगादि में उपादेयता-बुद्धिरूप भ्रम को दूर करने के लिये ही निर्वेद के कारण को तत्वज्ञान कहा गया है। जैसा निम्न पद्य में :—

वृथा दुग्धोऽनड्वान् स्तनभरनता गौरिति परं
परिष्वक्तः षण्ढो युवतिरिति लावण्यरहितः।
कृता वैदूर्याशा विकचकिरणे काचशकले
मया मूढेन त्वां कृपणमगुणज्ञं प्रणमता॥

[अर्थ—गुणों को न जानने वाले एवं कृपण स्वरूप आपको अपनी मूढ़ता के कारण प्रणाम कर मैंने अयन के भार से झुकी हुई गौ समझकर अब तक यों ही बैल दुहने का व्यर्थ प्रयास किया, लावण्यहीन नपुंसक को युवती मानकर व्यर्थ ही आलिङ्गन किया और किरणों को प्रतिफलित करने वाले काँच के टुकड़े में वैदूर्यमणि की व्यर्थ ही आशा रखी।]

यहाँ यह गौणरूप से तत्वज्ञान को निर्वेद का कारण मान कर जो कहा है वह मोक्ष के उपपादक निर्वेद के प्रति नहीं है, परन्तु खेदरूप निर्वेद के कारण

(गद्य भाग) अब मैं शान्त रस बतलाता हूँ, जिसका 'शम' स्थायीभाव है तथा जो मोक्ष का आपादक है। यह तत्त्वज्ञान, वैराग्य, चित्त-शुद्धि

(विभाव) रूप में कहा गया है। यह बात व्यभिचारिभावों की व्याख्या के अवसर पर विस्तार से पुनः (ना० शा० अध्या० ७ पर) कहेंगे।

(पूर्वपक्षी–प्रश्न)—मिथ्याज्ञानमूलक विषयों के साथ रागादि सम्बन्ध तत्त्वज्ञान से नष्ट हो जाता है यह अक्षपाद ने दु:खजन्मप्रवृत्ति' (न्या० सू० १।१२) इत्यादि सूत्र से कहकर मिथ्याज्ञान के नाशक तत्त्वज्ञान को दोषाभाव रूप वैराग्य का कारण कहा है।

(सिद्धान्ती-प्रतिप्रश्न) तो इससे क्या हो गया ?

(पूर्वपक्षी) यह कि वैराग्य ही निर्वेद है।

(सिद्धान्ती) यह कैसी बात है ? दोनों कैसे समान हो सकते हैं, क्योंकि शोकप्रवाह के प्रसार रूप चित्तवृत्ति का नाम 'निर्वेद' है और रागादि भावों का विनाशक रूप 'वैराग्य' होता है। और वैराग्य को निर्वेद का रूप मान भी लिया जाय तो भी अपने कारण से उत्पन्न उस दोषाभाव रूप वैराग्य के मध्यवर्ती मिथ्याज्ञान के नाश के बाद होने वाले वैराग्य को मोक्षरूप फल की सिद्धि में साक्षात् कारण नहीं माना जा सकता। तथा 'तत्त्वज्ञान से निर्वेद की उत्पत्ति होती है' ऐसा कहने से 'शम' का ही दूसरा नाम 'निर्वेद' है यह सिद्ध हो जाता है फिर शम को ही क्यों न स्थायी भाव माना जाय। यदि यह कहा जाय कि शम और शान्त दोनों पर्याय हैं तो हास और हास्य शब्द की पर्यायता से ही उसका परिहार हो जाता है और सिद्ध साधनता दोष का निराकरण स्थायीभाव के लौकिक तथा रस के अलौकिक होने से हो जाता है। तथा स्थायीभाव तथा रस में साधारण तथा असाधारण का भेद होने से शम और शान्त में वैलक्षण्य [भेद] भी है। अतएव शान्तरस का निर्वेद स्थायीभाव नहीं है किन्तु शम ही स्थायीभाव माना जाना चाहिये।

कुछ अन्य आचार्यों का यह मत है कि जिन रत्यादि आठ चित्तवृत्तियों का पहले उल्लेख किया गया वे ही पूर्व अभिहित शृङ्गार आदि में उपयोगी या प्रयुक्त विभावों से भिन्न, श्रुत (आध्यात्मिक चर्चा) आदि अलौकिक विभावों के आश्रय से भिन्न रूप में व्यक्त होतीं हैं। अतएव उनमें से ही कोई एक यहाँ स्थायीभाव हो सकता है। तब अखण्डानन्द स्वरूप आत्मविषयक रति ही जो

आदि विभावों के द्वारा उत्पन्न होता है। इसका यम, नियम, अध्यात्म-ज्ञान, ध्यान, धारणा, उपासना, सभी प्राणियों पर दया, यति-वेशग्रहण

कि मोक्ष का साधन कही गयी है—यहाँ (शान्तरस में) स्थायीभाव रूप है। जैसा कि (भगवद्गीता में) कहा गया है :—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ (गी० ३।१७)

[अर्थः—जो आत्मा में रति रखने वाला, आत्मा में ही आनन्द का अनुभव करने वाला तथा अपने में ही सन्तुष्ट रहने वाला व्यक्ति है उसके लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं होता।] यहाँ मोक्षविषयक शान्तरस का रति स्थायीभाव कहा गया है।

इसी प्रकार समस्त वस्तुओं के विषयों में विकार देखकर (विकृतदर्शन-जन्य हास्यरस का 'हास' स्थायी), समस्त संसार को शोचनीय रूप में देखकर [करुण का 'शोक' स्थायी] सांसारिक घटनाओं को [आत्मज्ञान में] अपकारी देखने वाले को [रौद्र का 'क्रोध' स्थायी], अत्यन्त ज्ञानप्रधान वीर्य [उत्साह] का आश्रय लेने वाले को [वीर का 'उत्साह' स्थायी], सारी विषय वस्तुओं से भय का अनुभव करने वाले को [भयानक का 'भय' स्थायी], सभी के लिए स्पृहणीय प्रमदादि से घृणा करने वाले को [बीभत्स का 'जुगुप्सा' स्थायी] और अपने आत्मस्वरूप के अपूर्व साक्षात्कार से विस्मय का अनुभव करने वाले [अद्भुत का 'विस्मय' स्थायी] साधक को मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतः यहाँ रति से लेकर विस्मय पर्यन्त विभिन्न स्थायीभावों का शान्त के स्थायीभाव के रूप में निरूपण किया गया है।

और यह मत भरत के अनुकूल भी (हो सकता) है क्योंकि (जब) भरत विशिष्ट विभावों को गिनाने के साथ 'आदि' शब्द का प्रयोग कर अन्य विभावों का समाहार करते हैं तो उसी से 'उन सामान्य हेतुओं से भिन्न (श्रुतादि रूप) अलौकिक हेतुओं से उत्पन्न रत्यादि से भी मोक्ष की सिद्धि मानी है। [यह अन्य आचार्यों का व्याख्यान है]।

इस प्रकार सभी रसों के स्थायीभाव शान्तरस के स्थायीभाव हो सकते हैं यह स्वीकार करने वालों में परस्पर विचार करने पर किसी एक की भी स्थायी भाव रूप में स्थित निश्चित नहीं हो सकेगी। उन विभावों के भेद से

आदि अनुभावों के द्वारा अभिनय करना चाहिये । इसमें निर्वेद, स्मृति, धृति (सभी आश्रमों में) पवित्रता, स्तम्भ, रोमांच आदि संचारी भाव होते हैं ।

उस-उस रत्यादि का शान्तरस में स्थायिभावकत्व होता है यह कहना भी अनुचित है क्योंकि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न स्थायीभावों की स्थिति मानने पर एक शान्तरस के ही अनन्त भेद होने लगेंगे । और यदि यह कहा जाय कि मोक्ष रूप फल के एक होने से शान्तरस भी अभिन्न होगा तो ऐसी दशा में वीर तथा रौद्ररस का भी किसी एक धर्मादि पुरुषार्थ से अभिन्न फल होने से उनका भी अभेद होगा । अतः रत्यादि आठों या उनमें से कोई एक शान्तरस का स्थायीभाव नहीं हो सकता ।

एक दूसरे मत के अनुसार पाकरस के आस्वाद के समान शान्तरस में सभी स्थायीभाव मिलकर स्थायीभाव हो जाते हैं । किन्तु रत्यादि विविध चित्तवृत्तियों के एक साथ सम्भव न होने तथा हास, क्रोध आदि चित्तवृत्तियों में एक दूसरे का विरोध होने से यह मत भी स्वीकार्य नहीं है ।

(प्रश्न) तो फिर शान्तरस का स्थायीभाव कौन है ? (उत्तर) इसके उत्तर में कहना यह है कि इस विषय में सबसे मुख्य बात है कि तत्वज्ञान ही मोक्ष का साधन होता है अतः उसे ही स्थायीभाव मानना उचित है । ऐन्द्रिकज्ञान से भिन्न आत्मज्ञान ही 'तत्वज्ञान' है । इस रूप में आत्मपदार्थ अनात्म से भिन्न होता है अतः ज्ञान, आनन्द आदि विशुद्ध धर्मों से युक्त और विषयोपभोग की परिकल्पना से हीन आत्मा ही शान्तरस में स्थायीभाव स्वरूप है ।

इस आत्मतत्व के स्थायीभाव होने पर रत्यादि को अस्थायीभाव नहीं समझना चाहिए क्योंकि रत्यादि अपने कारणों के उपस्थित या अनुपस्थित होने के कारण उत्पन्न और विलीन होकर भी आत्मतत्वरूप स्थायी भिति के आश्रित होकर अधिक काल तक स्थिर रहने के कारण स्थायी कहलाते हैं [अतः इनका स्थायित्व सापेक्ष है], परन्तु तत्वज्ञान रत्यादि अन्य समस्त भावों का आश्रय रूप है, अन्य स्थायी स्वभाव वाला है, जो रत्यादि वृत्तियों को व्यभिचारिभावत्व प्राप्त करवाता है और जो स्वभावतः स्थायीभाव रूप में स्वयं सिद्ध हैं । यही कारण है कि भरतमुनि ने इसकी अलग से स्थायी भावों में गणना नहीं की; जैसे किसी मस्तक और धड़ के मध्यवर्ती गोत्व या प्राणित्व की अलग गणना नहीं की जाती । अतः उनचास भावों का ही कथन उचित है ।

इस विषय में आर्याएँ तथा श्लोक हैं :—

मोक्षाध्यात्मसमुत्थस्तत्त्वज्ञानार्थहेतुसंयुक्तः ।

नैःश्रेयसोपदिष्टः शान्तरसो नाम सम्भवति ॥ ८४ ॥

यदि यह प्रश्न किया जाय कि ऐसा होने पर शान्तरस की पृथक् गणना क्यों की गयी है तो इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि इसका आस्वाद इन सभी से भिन्न (प्रकार का) है। अन्य भावों का आस्वाद विभिन्न प्रकार का होता है पर रति आदि के समान आत्मस्वरूप से अमिश्रित होकर लौकिक प्रतीति का विषय नहीं होता। इस समाधि दशा में आत्मस्वरूप निर्विकल्पक रूप से साक्षात्कारात्मक होने पर भी व्युत्थानकाल या समाधि-भंग होने पर अन्य चित्तवृत्तियों से कलुषित हो जाता है। यही कारण है कि शान्तरस को भिन्न रस माना गया है।

अथवा लोक में आत्मा की अनुभूति सम्भव होने पर भी सम्भावना के आधार पर उनकी स्थायीभावों में गणना नहीं की जा सकती, क्योंकि सम्भावित स्थानीभावों का रसों की निष्पत्ति में उपयोग नहीं होता। क्षणिकता के कारण इनमें व्यभिचारित्व और अलक्षणीयत्व का ही बोध होगा; अतएव 'उनचास भावों के द्वारा' इत्यादि जो कहा गया है वह (उचित या) उपपन्न हो जाता है।

और इस आत्मस्वरूप को भरत मुनि ने व्यभिचारिभाव के रूप में सम्भव न होने, विभिन्न अनुभूतियों के उत्पादक न होने तथा अनौचित्य पूर्ण होने से 'शम' शब्द से अभिहित नहीं किया है। पर यदि उसी विशुद्ध 'आत्मस्वरूप' को 'शम' या 'निर्वेद' शब्द से कहा जाय तो भी कोई दोष नहीं है। केवल इतना ही है कि 'शम' एक विशिष्ट चित्तवृत्ति है। यहाँ निर्वेद दीनता आदि से उद्भूत 'निर्वेद' नहीं है अपि तु उससे भिन्न प्रकार का है। यदि यह कहा जाय कि दारिद्र्यादि से उत्पन्न तथा तत्वज्ञान से उत्पन्न 'निर्वेद' को एक ही नाम से अभिहित करने पर विजातीय क्यों माना जाता है? इसका उत्तर यह है कि कारणभेद होने पर भी समानजातीय पदार्थ को समान नाम से अभिहित किया जाता है। यही बात रति आदि अन्य भावों में भी पायी जाती है। अतएव आत्मस्वरूप को ही शान्तरस के स्थायीभाव के रूप में शमता या तत्व-

मोक्षप्राप्ति में उपयोगी आध्यात्मिक ज्ञान से उत्पन्न होने वाला, तत्त्व ज्ञान में हेतुभूत अर्थ (निर्वेद) से युक्त रहने वाला तथा मोक्षज्ञान के लिए कहे गये वचनों के द्वारा शान्तरस (उत्पन्न) होता है ॥ ८४ ॥

ज्ञान कहा जायगा जिसके विभिन्न विकारों से रत्यादि भाव उत्पन्न होते हैं। उन रत्यादि भावों के विद्यमान रहने पर समाधि द्वारा उनके अव्यवहित विशुद्ध स्वरूप का अनुभव कर समाधि के न रहने पर भी चित्त की प्रशान्तवाहिता (शान्ति का विकास) बनी रहती है। जैसा कि योगसूत्र में कहा है 'तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्' (यो० सू० ३।३०) [संस्कारों के कारण उस चित्त की समाधि के उपरान्त भी प्रशान्तस्वरूपा अवस्था बनी रहती है।] अतः आत्मस्वरूप या तत्वज्ञान ही शान्तरस का स्थायीभाव है।

तथा यह लौकिक एवं अलौकिक चित्तवृत्तियों का समस्त समुदाय तत्वज्ञानरूपी स्थायीभाव का व्यभिचारिभाव रूप हो जाता है। उस तत्वज्ञान के अनुभव ही यम, नियम आदि के द्वारा समर्थित या उपकृत होकर शान्तरस के अनुभाव होते हैं। तथा आङ्गिकअभिनय के प्रतिपादक अध्यायों [ना० शा० ६–११] में जो स्वभावाभिनय बतलाये जायेंगे वे भी इसी शान्तरस में सम्बद्ध हो जाते हैं। शान्तरस 'स्वभाव' कहलाता है तथा शेष रस विकार रूप हैं। इसके ईश्वरानुग्रह आदि विभाव हैं तथा विनष्ट होते हुए रत्यादि का भी शान्तरस में आस्वादन हो जाता है।

केवल यही बात (विशिष्ट) है कि विप्रलम्भ शृङ्गार में या सम्भोग शृंगार में 'औत्सुक्य' व्यभिचारिभाव होने पर भी प्रधान रूप में सम्भव होता है। इसी प्रकार रौद्र में उग्रता या करुण, वीर, भयानक और अद्भुत रसों में क्रमशः निर्वेद, धृति, त्रास और हर्ष आदि व्यभिचारिभाव होने पर भी प्रधान रूप से प्रतीत होते हैं। केवल जुगुप्सा में राग के सर्वथा विपरीत होने के कारण व्यभिचारिभाव की प्रधान रूप से प्रतीति नहीं होती। जैसे कि महाव्रत में कपाल आदि का धारण, मद्य या अङ्गना प्रभृति का न्यूनाधिक रूप में सेवन भी धर्म में जुगुप्सा का ही कारण बनता है। इसी प्रकार स्मृतिग्रन्थों में विहित विधान से नियोग द्वारा घृताभ्यक्त देवर से विधवा में पुत्रोत्पादन कार्य भी जुगुप्साजनक है।

बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियसंरोधाध्यात्मसंस्थितोपेतः ।
सर्वप्राणिसुखहितः शान्तरसो नाम विज्ञेयः ॥ ८५ ॥

इसके अतिरिक्त अपने में कृतकृत्य पुरुष का उद्योग परोपकार करने का रहता है इसी कारण परोपकारविषयक अभिलाष तथा प्रयत्न रूप उत्साह—जिसका दूसरा नाम दया या करुणा है—शान्तरस का विशेष रूप से अन्तरङ्ग होता है। इसीलिए कुछ विद्वान् उसे दयावीर और कोई धर्मवीर नाम से व्यवहृत करते हैं।

(प्रश्न) अहंकार से उत्साह प्रेरित किया जाता है और शान्तरस में अहंकार का शैथिल्य रहता है अतः विरुद्ध प्रकृतिवाला उत्साह शान्तरस का अन्तरङ्ग कैसे होगा ?

(उत्तर) विरुद्ध भावों का व्यभिचारिभाव के रूप में वर्णन अनुचित नहीं माना जाता (अर्थात् सर्वदा अनुकूल व्यभिचारिभावों का ही प्रयोग नहीं होता) है और शृंगाररस में निर्वेदादि विरुद्धभावों का वर्णन होने पर अनुचित नहीं है। जैसे नागानन्द नाटक के निम्न वर्णन में :।

शय्या शाद्वलमासनं शुचिशिला सद्म द्रुमाणामधः
शीतं निर्झरवारि पानमशनं कन्दाः सहाया मृगाः ।
इत्यप्रार्थितलभ्यसर्वविभवे दोषोऽयमेको वने
दुष्प्रार्थिनि यत् परार्थघटनावन्ध्यैर्वृथा स्थीयते ॥ (नागा० ४।२)

[अर्थ—जहाँ हरी घास के मैदान ही शय्या हैं, पवित्र शिलातल ही आसन, पेड़ों के नीचे ही घर हैं, पीने के लिए झरनों का शीतल जल और कन्द का भोजन है, जहाँ मित्र रूप में हरिण हैं। इस प्रकार बिना याचना के ही जहाँ सब वैभव प्राप्य है उस वन में केवल यही दोष है कि धन की प्राप्ति दुर्लभ होने से परोपकार की सामर्थ्य नहीं रहती, अतः वहाँ रहना व्यर्थ हो जाता है।] इत्यादि—

उपर्युक्त उदाहरण में परोपकार के लिए उत्साह का अतिरेक दिखलाया गया है। उत्साह शान्तरस का विरोधी नहीं होता क्योंकि कोई भी अवस्था ऐसी नहीं होती जो उत्साहशून्य रहती हो और इच्छा तथा प्रयत्न से रहित मनुष्य पाषाणवत् जड़ है। (दूसरे) परात्पर ब्रह्म और अपर आत्मा जीव का तात्त्विक ज्ञान हो जाने पर फिर कोई अन्य कर्तव्य शेष नहीं रह जाता है

ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियों के विरोध तथा आत्मिक स्थिति से युक्त सभी प्राणियों के सुख तथा हित का आपादक शान्त रस जानो ॥ ८५ ॥

इसलिये प्रशान्तमनाः साधक के द्वारा दूसरों के उपकारार्थ अपने सर्वस्व तथा शरीर का दान कर देना शान्तरस का विरोधी (कार्य) नहीं है। जो 'आत्मानं गोपायेत्' (गौत० ध० सू० ६।३५) [आत्मा की सदा रक्षा करना चाहिए] इत्यादि से मनुष्यों को आत्मसंरक्षण का आदेश दिया गया है वह सांसारिक पुरुषों के लिए उपदेश है। संन्यासियों का उस रक्षण के उपदेश से कोई प्रयोजन नहीं है। क्योंकि—

"धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राणाः संस्थितिहेतवः ।
तान् निघ्नता किं न हतं रक्षता किन्न रक्षितम् ॥"

[मानव जीवन धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की स्थिति को प्राप्त करने के लिये होता है। उनको नाश करने वाले ने क्या नहीं नष्ट कर दिया और उनकी रक्षा करने वाले ने क्या नहीं बचाया !]

यहाँ देह-रक्षा का कारण चतुवर्ग की साधना बतलाया गया है। संन्यासी के लिये तो किसी प्रकार से शरीर का त्याग करने का विधान है फिर उसे परोपकार के लिए त्याग किया जाय तो इससे और क्या उत्तम बात होगी ? [अतएव ऐसे प्रसङ्ग में उत्साह शान्तरस के अन्तर्गत माना जायगा।]

और यदि यह प्रश्न किया जाय कि जीमूतवाहन तो यति नहीं है फिर शान्तरस की अवस्थिति कैसे होगी ? इसका उत्तर यह है कि इस प्रसंग में तत्वज्ञानित्व तो वहाँ विद्यमान है ही। अथवा देह को ही आत्मा मान लेने वाले मनुष्य के लिए तो देह सर्वस्व होता है और उस शरीर को धर्म आदि के सदुद्देश्य से त्यागना ऐसे पुरुषों के लिये कैसे सम्भव होगा। (और जीमूतवाहन ने परार्थ के लिए अपने शरीर का परित्याग किया तो वह तत्त्वज्ञानी अवश्य माना जाना चाहिए)।

यदि यह माना जाय कि शरीर त्याग के लिये तत्वज्ञानी होना आवश्यक नहीं है क्योंकि अतत्त्वज्ञानी पुरुष भी युद्ध में परोपकारार्थ अपने शारीर का त्याग कर देते हैं तो इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि युद्ध में शरीर त्याग की प्रवृत्ति तो होती है परन्तु वह तत्वज्ञान से प्रेरित होकर नहीं होती अपितु शत्रु को पराजित करने की भावना से होती है। इसी तरह भृगुपतन आदि में भी दूसरे उत्तम शरीर की प्राप्ति की इच्छा प्रधानरूप से विद्यमान

न यत्र दुःखं न सुखं न द्वेषो नापि मत्सरः ।
समः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्रथितो रसः ॥ ८६ ॥

रहती है । अतएव परोपकारार्थ निस्वार्थभाव से कार्य करने से लेकर शरीर पर्यन्त जितनी चेष्टाएँ हैं वे बिना तत्वज्ञान के संभव नहीं हो सकतीं हैं (इसी कारण जीमूतवाहन आदि भी तत्वज्ञानी ही हैं) । और तत्वज्ञान से ही पुरुष को सभी आश्रम में मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है यह श्रुति, स्मृति में बतलाया गया है । जैसा कि कहा भी है :—

"देवार्चनरतस्तत्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः ।
श्राद्धं कृत्वा ददद् द्रव्यं गृहस्थोऽपि हि मुच्यते ।।"

[अर्थ —देवताओं की अर्चना एवं भक्ति में लीन रहने वाला, तत्वज्ञानी अतिथि की सेवा करते हुए, श्राद्धादि कर दान देते हुए गृहस्थी होकर भी मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ।]

इनमें अन्तर केवल यह है कि परोपकार रूप (सकाम) कर्म एवं परार्थ-साधन से उपार्जित धर्म के द्वारा बोधिसत्व जैसे तत्वज्ञानी को भी उसके अनुरूप पुनः शरीर आदि की प्राप्ति हो जाती है यह देखा गया है [जब कि निष्काम कर्म से उपार्जित धर्म से संन्यासी जन्ममरण के बन्धन से छूट जाता है ।]

अन्य रसों के प्रसङ्ग में भी अपने कर्तव्य का पालन करने के औचित्य से सुख की प्राप्ति होती है । जैसे श्रीराम का अपने पिता की आज्ञा-पालन करना वीररस का अङ्गभूत होकर सुख की प्राप्ति का कारण बन जाता है । इसी प्रकार शृङ्गार आदि में भी यही क्रम समझना चाहिए । इसी कारण नागानन्द में जीमूतवाहन में परोपकार प्रधान त्रिवर्ग की प्राप्ति रूप फल के अभीष्ट होने से शान्तरस का स्थायित्व होने पर भी उसकी प्रमुखता नहीं है । इसी आशय से नाटक के लक्षण में 'ऋद्धिविलासादिभिर्गुणैः' (ना० शा० २०।११) कहा जाएगा । इससे स्पष्ट है कि ऋद्धि तथा विलासयुक्त, काम तथा अर्थ से सम्पन्न सहृदयों की हृदय-भावना के अनुरूप सुन्दर प्रयोजन (उद्देश्य) वाले चरित्रों को (ही) नाटक में प्रस्तुत करना चाहिए । और इसी अभिप्राय से भरतमुनि ने इन ऋद्धि आदि अंगों का शान्तरस के अन्तर्गत विनियोग नहीं

जिसमें न दुःख हो, न सुख हो, न द्वेष, न मत्सर हो। जो सभ प्राणियों में समता बुद्धि रखे उसे शान्त-रस समझना चाहिये ॥ ८६ ॥

किया। पर शान्तरस में ऋद्धि आदि अंगों के विनियोग नहीं किये जाने के कारण उनका शान्तरस में अभाव प्रतिपादित नहीं किया जा सकता।

अन्य आचार्य नागानन्द के प्रसंग को लेकर यह कहते हैं कि—'जीमूतवाहन ने 'कस्ते पुत्र त्राता भविष्यति' [हे पुत्र, (शंखचूड) जब तुम्हारे राजा ने ही रक्षा नहीं की तो अब तुम्हें कौन बचाएगा] ऐसा कहने वाली वृद्धा माता की ही रक्षा की है। परन्तु इस रक्षा करने में उसने कहीं शक्तिप्रदर्शन नहीं किया और न (शत्रुबधादि रूप) परहिंसा दिखलाई देती है। शक्ति का प्रयोग तथा परहिंसा वीररस में होती है, तब नागानन्द के नायक में इनके अभाव में दया या धर्मवीर नाम देना अनुचित है।' इसका उत्तर यह है कि बोधिसत्वों के मन में शत्रुवध के कार्य द्वारा पुनः अभ्युदय प्राप्त करने की भावना नहीं होने से शक्ति का प्रयोग अभीष्ट नहीं होता। अतः सिद्ध है कि यहाँ नागानन्द में दयारूप उत्साह प्रधान है तथा (इसके साथ) अन्य व्यभिचारिभाव भी यथोचितरूप से रह सकते हैं। जैसा कि योगदर्शन में 'तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः' (यो० सू० ४।२७) [उस समाधि के रन्ध्रों में (समाधि खुलने पर बीच-बीच में) संस्कारों के कारण अन्य प्रत्यय (ज्ञान) भी कहते हैं] अतएव शान्तरस में व्यापारशून्य होने से अनुभावों का अभाव रहेगा यह कथन असंगत है। पर जब मोक्ष की चरमभूमि में पहुँच जाने पर उत्साहादि भावों का अभाव हो जाता है तब यह शान्तरस अनभिनेय हो जाता है। और चरमपरिणति या अन्तिम भूमि पर रति, शोक आदि भी अनभिनेय हो जाते हैं। हृदय की तन्मयता स्थायीभावों के संस्कार के कारण जैसे शृंगारादि रसों में होती है उसी प्रकार तत्वज्ञान के मूल (भूत) संस्कारों से संस्कृत अन्तःकरण वालों को शान्तरस में भी होती है। जैसा कि आगे नाट्यशास्त्र में कहेंगे—'मोक्षेष्वपि विरागिणः' (ना० शा० २७।५८) [मोक्ष के विषय में भी वैराग्यसम्पन्न रहने वाले] इत्यादि।

(प्रश्न) शान्तरस प्रधान नाटकों में वीररस का आस्वादन कैसे संगत होगा?

(उत्तर) जहाँ शान्तरस का प्रयोग किया जाता है वहाँ पुरुषार्थोपयोगी शृङ्गारादि रसों की स्थिति अवश्य रहती है और शान्त के अन्तर्गत उनका

भावा विकारा रत्याद्याः शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः ।
विकारः प्रकृतेर्जातः पुनस्तत्रैव लीयते ॥ ८७ ॥

आस्वादन होता है । जिन प्रहसन आदि में हास्यादि रसों की प्रमुखता होती है वहाँ भी बाद में अन्यरस अन्तरनिष्ठ होकर आस्वाद्य होते हैं [और आस्वादन (रस) की भिन्नता के कारण रूपक भेद तथा रूपकों में रसों की अभिन्न स्थिति बतलायी जाती है] ।

अतः सिद्ध हो गया कि 'शान्तरस' (का अस्तित्व) है । इसलिये नाट्यशास्त्र की प्राचीन पुस्तकों में 'स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्यामः' के बाद 'शान्तो-नाम शमस्थायिभावात्मकः' इत्यादि से शान्तरस का लक्षण दिया गया है ।

सभी रसों के चरम आस्वाद में तद्विषयों की विमुखता के होने के कारण शान्तरस प्रमुखता प्राप्त कर प्रायः निर्व्यापार स्वरूप ही होता है । अन्य रसों की दशा में स्थायीभावात्मक वासनाएं अवस्थित रहती हैं पर शान्तरस में अपनी चरमावस्था में ये वासनाएँ शान्त हो जाती हैं । इसलिये (करिका में) शान्तरस सभी रसों की प्रकृति होकर सर्वप्रमुख या प्रथम रूप में कहा गया ।

जिसकी सामान्यतः सर्वत्र स्थिति रहती हो उसकी अलग गणना नहीं की जाती है अतः शान्तरस का अलग स्थायीभाव नहीं कहने या गणना न करने से भी कोई दोष नहीं है । परन्तु विवेचकजन सामान्य का भी अलग निर्धारण करते हैं अतः उनकी दृष्टि से सामाजिकगत आस्वादनरूप प्रतीति के विषयरूप इस शान्तरस का स्थायीभाव पृथक् होगा ही ।

इतिहास, पुराण, कोश आदि में नवरसों का वर्णन पाया जाता है । इसके अतिरिक्त प्रत्यभिज्ञादर्शन के श्रीमत्सिद्धान्तशास्त्र में भी कहा है कि —

"अष्टानामिह देवानां शृंगारादीन् प्रदर्शयेत् ।
मध्ये च देवदेवस्य शान्तं रूपं प्रकल्पयेत् ॥" इति ।

[अर्थ —चारों ओर स्थित आठ देवों में शृंगारादि आठ रसों को प्रदर्शित करे तथा उनके बीच में महादेव के शान्तरूप की रचना की जाए ।]

इससे भी स्पष्ट है कि नवरस स्वीकार करना युक्तिसंगत है ।

इस शान्तरस के विभाव हैं लोक के प्रति वैराग्यभावना तथा संसार से भीति आदि । इन वैराग्य आदि के उपनिबन्धन से शान्तरस की प्रतीति होती

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते।
एवं नवरसाः दृष्टा नाट्यज्ञैर्लक्षणान्विताः॥ ८८॥

(अन्य रसों के) रति आदि स्थायीभाव वैकारिक भाव हैं किन्तु शान्त प्रकृति है। विकार प्रकृति से उत्पन्न होते हैं तथा फिर उसी में लीन

हैं। मोक्षशास्त्र (उपनिषद् आदि) का चिन्तन करना शान्तरस के अनुभाव हैं और निर्वेद, मति, स्मृति, धृति आदि व्यभिचारिभाव हैं। अतएव स्मृति, धृति तथा उत्साहमूलक ईश्वरप्रणिधान विषयिणी भक्ति तथा श्रद्धा शान्तरस की अंगभूता है और उसकी अलग परिगणना भी इसी कारण नहीं की गयी। इस विषय में एक अन्य संग्रह कारिका इस प्रकार है :—

मोक्षाध्यात्मनिमित्तस्तत्वज्ञानार्थहेतुसंयुक्तः।
निःश्रेयसधर्मयुतः शान्तरसो नाम विज्ञेयः॥ (ना० शा० ६।८३)

यहाँ 'मोक्षाध्यात्मनिमित्तः' से विभाव 'तत्वज्ञानार्थहेतुसंयुक्तः' से स्थायीभाव तथा 'निःश्रेयसधर्मयुतः' पद से अनुभावों का सम्बन्ध क्रमशः तीन विशेषणों के द्वारा दर्शाया गया है। तथा :—

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद् भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये तु शान्त एव प्रलीयते॥ (ना० शा० ६।८७)

इत्यादि कारिका से शान्तरस ही अन्यरसों का मूलभूत है यह बतलाते हुए उपसंहार किया गया है।

और जो 'डिम' में हास्य तथा शृङ्गाररस को छोड़कर 'षड्रसत्त्व' कहा जाएगा उसका अभिप्राय यह निकला कि 'दीप्तरसकाव्ययोनिः' कहलाने वाले 'डिम' के लक्षण के अनुसार रौद्रप्रधान डिम में उसके विरोधी शान्तरस की सम्भावना न रहने से उसका निषेध भी व्यर्थ मानकर नहीं किया गया। पर शान्तरस का नाम न रहने से उसका अभाव नहीं मानना चाहिए। क्योंकि वैसा मानने पर उसे 'दीप्तरसकाव्ययोनिः' विशेषण से कैसे व्यवच्छिन्न किया जाएगा? 'शृङ्गार तथा हास्य से रहित और छः रसों से युक्त' कहने पर (और) किसकी प्राप्ति होती है जिसका भेद करने को विशेषण दिया गया। यदि इस पद से करुण तथा अद्भुत के प्राधान्य का निराकरण मानें तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि 'डिम' के लक्षण ने 'सात्वती तथा आरभटी

हो जाते हैं। शान्तरस से अपने-अपने हेतुओं को प्राप्त करते हुए सभी भाव उद्भूत होते हैं तथा निमित्त (हेतु) के दूर हो जाने पर पुनः उसी में लीन हो जाते हैं। इस प्रकार नाट्यज्ञ मनीषीगण के लिये लक्षणों में युक्त नव रसों का वर्णन किया गया है ॥ ८७-८८॥

वृत्ति से युक्त' ऐसे विशेषण के कारण ही इन दोनों वृत्तियों से हीन करुण तथा अद्भुत रसों का निवारण हो जाता है। शान्तरस में सात्वतीवृत्ति रहने से 'दीप्तरसकाव्ययोनिः' आदि विशेषण इसी का व्यवच्छेदक है। अतः 'डिम' के लक्षण से भी शान्तरस की पुष्टि होती है। बलात् सेवित शृङ्गार 'डिम' के अन्तर्गत प्रयुक्त होता है और हास्य उसके अंग रूप में मान्य है, इसीलिए इन्हीं दोनों का यहाँ निषेध किया गया है। मूलभूत या आत्मपरक रस होने के कारण इसके रंग तथा अभिमानी देवता की कल्पना अनुचित होने पर भी अन्य रसों से समानता लाने के कारण यहाँ भी ऐसा किया गया है। अतः यमनियम तथा ईश्वरप्रणिधान आदि के उपदेश पर आश्रित, महाफल, से युक्त, सभी रसों में प्रधान और समस्त इतिहासादि में व्याप्त रहने वाले शान्तरस की सत्ता युक्तिसंगत है।

(प्रश्न) तो फिर इसका आस्वादन कैसे होता है ?

(उत्तर) आत्मस्वरूप के आच्छादक उत्साह, रति आदि (स्थायी भावों) से आच्छादित जो आत्मतत्त्व है वह दूर-दूर पिरोई गयी मणियों के मध्य उज्ज्वल-सूत्र के समान इन भावों के बीच उद्भासित होता है और जब यह आत्मतत्त्व रति आदि समस्त आकर्षणों के अपने रूप में उपस्थित रहने पर भी प्रकाशित रहता है तब विषयों से विमुखता रूप समस्त दुःखजाल से मुक्ति मिल जाती है और परमानन्द की प्राप्ति के साथ अभिन्नरूप में यह प्रतीति काव्य तथा नाट्य आदि के द्वारा समानरूप से प्रतीति आन्तरिक अवस्था के भेद से लोकोत्तर आनन्द का प्रदाता होकर हृदय को भी इसी प्रकार आनन्दमय बना देता है।

इस प्रकार नौ ही रस सिद्ध होते हैं। क्योंकि पुरुषार्थ में उपयोगी होने के अथवा प्रतीति की अधिकता के कारण केवल नौ रस ही माने जा सकते हैं। श्रीशङ्कुक आदि ने जो यह कहा कि 'स्नेह, भक्ति आदि अन्य रसों के सम्भव होने पर भी प्रसिद्धि के कारण ही यहाँ संख्या का निर्देश किया गया है' यह खण्डित हो जाता है। भावाध्याय (७ अ०) में आगे यही बात और विस्तार

एवमेते रसा ज्ञेयाः नव¹ लक्षणलक्षिताः।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि भावानामपि लक्षणम् ॥ ८९ ॥

इस प्रकार अपने लक्षणों से युक्त नौ रस समझना चाहिए। अब¹ आगे भावों के लक्षण बतलायेंगे ॥ ८९ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे रसाध्यायः षष्ठः।



से कहेंगे। और 'आर्द्रता नामक स्थायीभाव वाला स्नेह (वात्सल्य) रस होता है' यह कहना भी अनुचित है। क्योंकि स्नेह एक प्रकार के आकर्षण का नाम है जो रति तथा उत्साह आदि सभी में समाया रहता हो। जैसे कि बालक का माता-पिता आदि के प्रति, युवकों का अपने मित्रों के प्रति और राम का लक्ष्मण आदि भाइयों के प्रति जो स्नेह का उदय है वह रति में समाविष्ट हो जाता है। यही बात वृद्ध जन की पुत्रादि के प्रति स्नेह के विषय में भी समझना चाहिए। गन्ध स्थायीभाव वाले लौल्यरस के खण्डन विषय में भी यही पद्धति ग्रहण करना चाहिए क्योंकि हास, रति या अन्य किसी रस में उसका अन्तर्भाव हो सकता है। इसी प्रकार भक्तिरस के विषय में भी खण्डन पद्धति रखी जाए और उसका शान्तरस में अन्तर्भाव मान लिया जाए। (अ० भा०)

१. प्रस्तुत अध्याय के विषय का उपसंहार कर अगले अध्याय के विषय की अवतारणा करते हुए अध्याय संगति को भरतमुनि प्रदर्शित करते हैं— 'एवमेते' इत्यादि कारिका से। यहाँ लक्षणलक्षिताः' पद से रसादि का व्यवहार सहेतुक होता है यह सूचित किया गया है। भाव आदि के लक्षणों से भी रस के लक्षण की ही पूर्ति होती है अतः यह कहना कि रति स्थायी भाव से युक्त, ऋतु माल्यादि विभावों से युक्त और नयनविक्षेप (कटाक्ष) आदि अनुभावों से युक्त शृङ्गाररस होता है, पूर्ण नहीं है। इस कथन में आकांक्षा बनी रह जाती है कि रति कैसी होती है ? विभाव किसे कहते हैं तथा अनुभाव क्या हैं। अतएव यद्यपि आपाततः ये भावों के लक्षण प्रतीत होते हैं पर वाक्यैकवाक्यता के द्वारा रस के भी पूरकलक्षण हैं। यह बात मूल में प्रयुक्त 'अपि' शब्द से बतलायी गयी है। इति शिवम्।

१. स्त्वष्ठौ—क०।

सप्तमोऽध्यायः

भाव—

भावानिदानीं व्याख्यास्यामः[1]। अत्राह—भावा इति कस्मात्, किं भवन्तीति भावाः, किं वा भावयन्तीति भावाः। उच्यते—वागङ्गसत्त्वोपेतान्काव्यार्थान्भावयन्तीति भावा इति।

भू[2] इति करणे धातुस्तथा च भावितं वासितं कृतमित्यनर्थान्तरम्। लोकेऽपि च सिद्धम् अहो ह्यनेन[3] गन्धेन रसेन वा सर्वमेव भावितमिति[4]। तच्च व्याप्त्यर्थम्। श्लोकाश्चात्र—

अब मैं भावों को[1] बतलाता हूँ। इस विषय में प्रष्टव्य है कि इन्हें भाव क्यों कहा जाता है? उत्तर—यह इसलिये कि वे भावन करने या

---

१. पिछले अध्याय में भावों की चर्चा हो जाने पर पुनः यहाँ उसी बात को उठाने की आवश्यकता क्या है, क्योंकि वहीं 'भावाश्चापि कथं प्रोक्ताः' (६।३) इत्यादि के द्वारा भावविषयक प्रश्न किया जा चुका है, फिर इस अध्याय में 'किं भवन्तीति' के द्वारा उसकी पुनरुक्ति क्यों की जा रही है।

इस पर कुछ आचार्य अपनी व्याख्या इस प्रकार करते हैं–"पिछले अध्याय में भावाश्चापि' इत्यादि से रसभाव आदि के प्रसंग में विभावादि की प्रश्न और प्रतिज्ञा के रूप में चर्चा सामान्य रूप में की गयी थी। यहाँ विभावादि के स्वरूप निरूपण हेतु सर्वप्रथम प्रधान होने के कारण चित्तवृत्तिरूप स्थायीभाव एवं व्यभिचारिभावों के लक्षण बतलाना इष्ट है अतएव यहाँ इसी से सम्बन्धित विशेष प्रश्न और प्रतिज्ञा करना आवश्यक है।"

पर हमारा मत इससे भिन्न है। हमारे मत में यहाँ भाव शब्द से चित्तवृत्ति विशेष ही ग्रहण की गयी है और उनचास भावों का कथन करते हुए उपसंहार भी इसी आधार पर किया गया है। उनको अपनी योग्यता के अनुसार स्थायी, संचारी, विभाव या अनुभाव माना जाता है तथा जो ऋतु माल्य

---

१. वक्ष्यामः—घ०। २. भावः इति करणसाधनं यथा भावितं—घ०।
३. ह्यन्योन्यगन्धेन—घ०। ४. अपि च व्याप्त्यर्थम्—ग०।

स्थित होने से 'भावयन्तीति भावाः' (व्युत्पत्ति) के अनुसार भाव कहे जाते हैं। प्रश्न—और वे भाव किसका भावन करते हैं? उत्तर—ये शब्दों (वाणी), शरीर के अवयवों तथा सात्त्विक भावों के द्वारा दृश्य-काव्य के अभिप्राय को दर्शकों को बतलाते हैं।

'भाव' शब्द 'भू' धातु से करण (हेतु) अर्थ में निष्पन्न (शब्द) है। भावित, वासित तथा कृत भी इसी अर्थ को प्रकट करनेवाले (समान) शब्द हैं। लौकिक-व्यवहार में भी ये एक दूसरे की सुगन्ध से या रस से भावित हैं, इत्यादि प्रयोग होते देखे जाते हैं। यहाँ 'भावन' का अर्थ है व्यापना।

इसी विषय के प्रतिपादक निम्न श्लोक हैं।

विभावैराहृतो योऽर्थो ह्यनुभावैस्तु[1] गम्यते।
वागङ्गसत्त्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः॥ १॥

आदि (उद्दीपन) विभाव तथा आँसू बहाना आदि बाह्य-क्रियारूप अनुभाव हैं वे अपने जड़ स्वभाव के कारण 'भाव' कहे जा सकते हैं।

और यदि यह मानों कि वे रसप्रतीति को काव्य नाट्य आदि के प्रसंग में सम्पन्न करवाते हैं और भावमग्न भी करते हैं अतः प्रतीति परक क्यो न माने जायें? तो फिर विज्ञानवाद के अनुसार तो उपचार से सारा समग्र विश्व भावमय माना जाए क्योंकि नाट्य में उसी का अभिनय प्रस्तुत किया जाता है। तो फिर इनमें पार्थक्य कैसे होगा? इसलिये स्थायी, व्यभिचारि तथा सात्त्विक ही 'भाव' होते हैं अन्य नहीं। यहाँ विभाव तथा अनुभावों की चर्चा प्रासंगिक रूप (अंगरूप) में ही की जाएगी [प्रधानरूप से नहीं]।

और यहाँ जो 'पुनरुक्ति' की आशंका की गयी है वह भी अनुचित है क्योंकि रसाध्याय के आरम्भ में भावों का अंग रूप में कथन किया गया है, यह कथन उद्देश कथन नहीं है क्योंकि वहाँ केवल उल्लेख मात्र है, नाम लक्षण आदि का अभिधान नहीं [अतएव भावों का कथन अवसर प्राप्त है] और पूर्वाध्याय में जो भावों की चर्चा है वह रसों के लक्षणों के अन्तर्गत गौणरूप में आयी है क्योंकि वहाँ मुख्य रूप में रस लक्षण ही इष्ट है अतएव अब यहाँ भावों का कथन अवसर प्राप्त है। [अ० भा०]

---

१. ह्यनुभावेन—घ०।

जो अर्थ विभावों के द्वारा प्रस्तुत होते हुए अनुभावों से बोध्य होते है वे ही वाणी, अंग, तथा सात्विक भावों के अभिनयों से युक्त होने पर 'भाव'[1] कहे जाते हैं ॥ १ ॥

---

१. भाव चित्तवृत्तिस्वरूप होते हैं अतः इनकी दो प्रकार से व्युत्पत्ति की जा सकती है। 'भवन्तीति भावाः'। यहाँ 'भवति' को रतिभाव के प्रकट होने की स्थिति में मानकर एक अर्थ, कि ये स्थित होने के कारण भाव हैं, व्युत्पन्न हो जाता है। इसमें भाव अपने उत्कर्ष या विस्तार को प्राप्त करता है। और पुनः 'भावयन्तीति भावाः' से 'भाव' का यह आशय लिया जायगा कि यह धीरे-धीरे, अधिकतर-अधिकतम रूप में विकसित होता रहता है और एक क्षण के लिये भी स्थित नहीं होता। इससे ये भाव सीमित समय में अनुभाव की प्रतीति के द्वारा चित्तवृत्तियों को भावित करते हैं [यह आशय 'भावयन्तीति भावाः' के अनुसार (भी दूसरी तरह से) व्युत्पत्ति करने पर निकलता है] और इस प्रकार हृदय में व्याप्त होकर आस्वादनीय स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं। दोनों व्युत्पत्तियों की संभावना के कारण यहाँ 'भवन्ति' तथा 'भावयन्ति' (दो व्युत्पत्तियों) को प्रस्तुत किया गया है। यहाँ दो व्युत्पत्तियाँ दिखला कर प्रश्न की उद्भावना भी मूलमें की गयी है कि भाव 'भवन्ति' के अनुसार स्थित होने के कारण है या 'भावयन्ति' के अनुसार है। और यदि 'भावयन्ति' के अनुसार है तो ये व्याप्त हो कर क्या अनुभावन करते हैं ?

इस प्रकार प्रश्न उपस्थित कर भरतमुनि इसके उत्तर में–'वागङ्ग' इत्यदि से कहते हैं। काव्य के पदों तथा वाक्यों में असाधारणता तथा प्रधानता रहने से उनका पर्यवसान रस में होता है अतः काव्य का अर्थ यहाँ रसरूप है। यहाँ अर्थ शब्द का आशय है जो प्रधानतः प्रतिपाद्य या इष्टतम होकर भावना करवाता हो। यहाँ 'अर्थ' शब्द का केवल शब्दार्थ या वाच्यार्थ नहीं लेना चाहिए। क्योंकि रसादि अर्थों का स्वशब्द से अभिधान न करना ही ध्वनिकार आदि सभी आचार्यों ने दिखलाया है।

इस प्रकार काव्य के अर्थरूप रस की भावना या आस्वादन कराना ही यहाँ इष्ट है। यह लौकिक अर्थरूप आस्वादन स्थायी तथा व्यभिचारि आदि भावों के समूह से सम्भव या सम्पन्न किया जाता है। पहले स्थायी आदि की प्रतीति होकर फिर सर्वसाधारण भावों का आस्वादन सम्भव होता है। यह

आस्वादन पूर्व परिचित भाव का प्रत्यक्षभूत हो कर अगली आस्वादन भूमिका का निष्पादक होने से (आस्वादन की) भावना करवाने वाला कहा जाता है। अतः भाव का निष्पादक या उत्पादक रसास्वादन है। वाणी आदि इसी के (निष्पादक) कार्य रूप में अवस्थित रहते हैं। इसलिये वर्णनात्मकतारूपी वाचिक, निवेश स्थिति या घुमाव आदि शारीर क्रियात्मक आङ्गिक तथा आत्मा के अन्तर्गत भाव तथा बाह्यक्रियारूपी सात्त्विक अभिनय के द्वारा काव्यार्थ अर्थात् रसानुभव को अभिव्यक्त किया जाता है। यहाँ यद्यपि नृत्य कला, ध्रुवा आदि का अन्तरंग भूत 'आहार्य' अभिनय भी होता है तथापि चित्तवृत्तिरूप भावों का भावन करवाने में वाचिकादि तीनों अभिनयों का ही सहकार आवश्यक है, यही दिखलाने के लिये (कारिका में) तीन अभिनयों का उल्लेख किया गया है। (क्योंकि काव्य का अनुभावन आहार्य के बिना भी होते देखा गया है।)

वाचिक आदि अपनी अभिनय प्रक्रिया से सम्पादित ये अलौकिक चित्तवृत्तियाँ अपनी आत्मस्थ लौकिक अवस्था का आस्वादन न करवाते हुए रसरूप का आस्वादन या भावन करवाती हैं अतः चित्तवृत्तियाँ ही भाव हैं। यहाँ भू धातु अंतर्भावित व्यर्थ है जो प्रकृत में 'करोति' या स्थित अर्थ को बतलाती है। यही मूल में—'भू इति' इत्यादि से कहा गया है। भू धातु का 'णिच्' से सम्बन्ध होकर 'भावित' शब्द बनाया गया है। भावित, कृत तथा वासित आदि शब्द समानार्थक है।

वाचिक आदि अभिनयों के अंगों के द्वारा अभिव्यक्त होकर 'भाव' रस-प्रतीति रूप भावना सम्पन्न करता है इस शास्त्रीय अर्थ का प्रमाण लोकप्रचलित आधार पर भी दिया जा सकता है इस आशय से मूल में—'लोकेऽपि' इत्यादि से कहा गया है। केवल लोक में (ही) रस के भावित तथा कृत शब्द के अर्थ ही प्रसिद्ध नहीं हैं [अर्थात् लोक में इस रस के द्वारा यह पदार्थ भावित कर दिया गया इत्यादि अर्थ ही प्रसिद्ध नहीं है] किन्तु पूर्णतः व्याप्त है, ऐसा अर्थ भी लिया जाता है। यह परिव्याप्त होना अर्थ मूल में 'च' शब्द से दर्शाया गया है। 'सर्व' शब्द से गन्ध रस आदि का ग्रहण समझना चाहिए।

'परिव्याप्ति' का यह अर्थ (एक)उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है। कस्तूरी की गन्ध से वस्त्र उसकी गन्ध नहीं बन जाता है किन्तु उसके गुण से पूर्णतः

वागङ्गमुखरागेण[1] सत्त्वेनाभिनयेन च।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भाव उच्यते ॥ २ ॥

संक्रान्त हो जाता है और न उसके समान अन्य गुण की (वस्त्र में) उत्पत्ति ही जाती है। जैसे (भोज्य आदि) पदार्थ गन्ध आदि से भावित होते हैं उसी प्रकार वस्त्रादि में कस्तूरी की परिव्याप्ति समझना चाहिए। इसी प्रकार प्रकृत विषय में वाचिक आदि अभिनय देश काल की प्रमुख एवं विशिष्ट अवस्थाओं को प्रस्तुत करते हैं और अभिनेता में रामादि के वास्तविक गुण न होने पर भी भ्रान्तज्ञान न होकर साधारणीकरण के द्वारा पात्रों को भूमिका में उनकी उन्हीं चित्तवृत्तियों को प्रस्तुत करते हुए अनुभावन करवाया जाता है (यह कस्तूरीगन्ध के समान अनुभावन समझना चाहिए)। तथा इससे सामाजिक अपने आत्मरूप भाव को भावित करता है अतः 'भावयन्तीति भावाः' अर्थात् भावित करने से भाव हैं, यह भावित होने का प्रमुख तात्पर्य माना जाना चाहिए। [अ० भा०]

इसके अतिरिक्त और भी प्राचीन आचार्यों ने 'भाव' शब्द की व्युत्पत्ति दिखलाई है जिसे संग्रह कहने के लिए भरतमुनि निम्न श्लोक प्रस्तुत करते हैं—

१—विभावैराहृतो—विभाव का अर्थ है आलम्बन आदि विषय, क्योंकि उसी से भाव निष्पन्न होता है। अतः विभाव की अपेक्षा से जो भावित (निष्पादित) किये जाते हैं 'वे भाव' हैं। दूसरे आचार्य विभाव और अनुभाव के साथ संचारी भाव को भी अन्तर्गत करते हैं। उनके मत में व्यभिचारिभाव के साथ भी भक्ति होने अर्थात् मिश्रीभाव की प्रक्रिया सम्पन्न की जा सकती है और व्यभिचारिभाव से अन्य व्यभिचारिभावों की उत्पत्ति हो सकती है। जैसे निर्वेद से चिन्ता, श्रम से निर्वेद इत्यादि। यह कथन उचित नहीं। क्योंकि स्थायीभाव व्यभिचारिभाव हो जाते हैं पर व्यभिचारिभाव स्थायीभाव नहीं होते। क्योंकि ऐसा मानने पर उसके आस्वाद में अन्यरस की प्रतीति माननी पड़ेगी। और जहाँ स्थायीभाव के अन्तर्गत व्यभिचारिभाव में अन्य व्यभिचारिभावों की उत्पत्ति दिखाई देती है (जैसे पुरूरवा के उन्माद में तर्क या चिन्ता आदि संचारी भावों की उत्पत्ति) वहाँ भी व्यभिचारिभाव रति स्थायीभाव

---

१. मुखरागैश्च—ग०, घ०।

नाट्यकार के नाट्य-रचना में निगूढ़ भावों को दर्शकों को बोधगम्य बनाने के लिये जो वाणी, शरीर के अवयवों तथा चेहरों के रंगों द्वारा भाव का प्रदर्शन किया जाता है उसे 'भाव' जानो ॥२ ॥

के साथ मिल कर उसी को पुष्ट करते हैं। और यहाँ उन्माद केवल अमात्य स्थानीय होकर अन्य व्यभिचारिभावों से पुष्ट है परन्तु मुख्य तो रति ही है, जैसा कि आगे 'यथा नरेन्द्र' (७।१०) इत्यादि से भरतमुनि ने स्वयं कहा है।

(२) **वागङ्गमुख**—इस प्रकार लोकवृत्त का अनुकरण नाट्य में बतला कर कवि तथा अभिनेता के द्वारा क्रमशः उद्भावना या शिक्षा अभ्यास से उद्भावित या प्रस्तुत किये जाने वाले सामाजिक के अभिप्राय से भावित या निरूपित होने वाले 'भाव' का निरूपण संग्रहरूप में बतलाने के लिये संग्रहरूप दो पद्य कहे गये हैं। अर्थात् वाचिक, आङ्गिक, मुखरागात्मक तथा सात्त्विक अभिनयों के द्वारा कवि के काव्यकौशल से युक्त वर्णन के अन्तर्गत जो अन्तः-करण में स्थित भाव को अनादि काल से पूर्वजन्म के संस्कार आदि के कारण तज्जन्य वासना से युक्त लौकिक होकर भी प्रतिभाप्रसूत रहने वाले मनोभाव का देश, काल आदि भेदों से मुक्त साधारणीकृत रूप में जो आस्वादन योग्यता का निर्माता है वह भाव है। चित्तवृत्ति स्वरूप भाव होता है। सत्त्व का अर्थ है चित्त की एकाग्रता का भाव, उससे उत्पन्न सात्त्विक भाव है, जिनमें कृत्रिम आँसू आदि की उपलब्धि होती है और संचारीभाव में अतिशय उसकी प्राप्ति या उपलब्धि होती है ऐसा अपनी-अपनी अवस्था या संयोग के अनुसार समझना चाहिए। मुखराग यद्यपि सात्त्विक भाव के अन्तर्गत आ जाता है परन्तु अभिनय में इसका महत्त्व होने से विवर्ण भाव वाला मुखराग भी यहाँ प्रधानतः अभिहित किया है। जैसा कि आगे कहा जाएगा—

"शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तः कृतोऽप्यभिनयः शुभः।
मुखरागविहीनस्तु नैव शोभान्वितो भवेत्॥"

(ना० शा० ८।१६५)

क्योंकि इसी के कारण अनेक सूक्ष्म भावों की अभिनय में अभिव्यक्ति की जा सकती है।

(३) **नानाभिनय**—क्योंकि ये भाव आस्वादन के योग चित्रवृत्ति विशेष को भावित करते हैं, ले जाते हैं, प्रतीत करवाते हैं या बुद्धि के गोचर करवाते

नानाभिनयसंबद्धा¹न्भावयन्ति रसानिमान् ।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः ॥ ३ ॥

क्योंकि ये अनेक विध अभिनयों से (युक्त) रसों का भावन करते हैं अतएव इन्हें नाट्य निर्माता (या प्रयोक्ता) गण 'भाव' कहते हैं ॥ ३ ॥

विभाव—

अथ विभाव इति कस्मात् । उच्यते—विभावो नाम विज्ञानार्थः । विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः । विभाव्यतेऽनेन वागङ्गसत्त्वाभिनय इति विभावः । यथा विभावितं विज्ञातमित्यनर्थान्तरम् ।

(प्रश्न) 'विभाव'¹ शब्द का प्रयोग किस हेतु होता है ? (उत्तर) 'विभाव' शब्द का प्रयोग विशिष्ट (स्पष्ट) ज्ञान के लिए किया जाता है ।

हैं (अतः भाव हैं) । 'इमान्' का अर्थ है सामाजिकों को रसप्रतीति करवाने के कारण । यहाँ 'अभिनयसहितान्' के द्वारा यह दर्शाया गया है कि अभिनय भी सामाजिकों को बुद्धि गोचर करवाया जाता है । यही भावना रसों को अपने उपयुक्त स्वरूप द्वारा भावित करती है और लौकिक जीवन में विद्यमान रति आदि भावनाओं को स्थायी भावों के रूप में अभिव्यक्त कर शृङ्गारादि रसों की अभिव्यक्ति या बोध करवाती है । [अ० भा०]

१. पूर्व कारिका में भाव को विभाव से प्रस्तुत बतलाया था; वहाँ यद्यपि प्राकरणिक रूप में चित्तवृत्तियों से उत्पन्न होने वाला कारण रूप विषय विभाव शब्द का अर्थ है ऐसा बतलाया था फिर भी उसके शास्त्रीय अर्थ के विषय में जिज्ञासा बनी ही रहती है । अतः उसी जिज्ञासा के कारण 'विभाव इति कस्मात्' इत्यादि के द्वारा यहाँ स्वरूप विषयक प्रश्न किया गया है । 'कस्मात्' शब्द से उसी प्रश्न को विस्तार देकर पूछा गया है कि ऋतु, माल्य आदि को विभाव शब्द द्वारा क्यों कहा गया है ।

भरतमुनि 'विभाव्यन्ते' इत्यादि से इसी प्रश्न का उत्तर देते हैं । जिन (वाचिक आदि अभिनयों) के द्वारा स्थायी एवं व्यभिचारिभावों का विभावन अर्थात् विशेषरूप से ज्ञान करवाया जाता है वे विभाव कहलाते हैं ।

---

१. सम्बन्धान्—ग० ।

इसके कारण, निमित्त या हेतु पर्याय हैं। (या ये शब्द एकार्थक हैं)। क्योंकि जिसके द्वारा वाणी, अंग तथा सात्त्विक अभिनय का स्पष्ट ज्ञान होता है उसे विभाव जानो। विभावादि तथा विज्ञात शब्द समानार्थक हैं।

अत्र श्लोकः—

बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः[1]।
अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति संज्ञितः ॥ ४ ॥

इस विषय में एक श्लोक है :—

क्योंकि इसके द्वारा वाणी, अंग तथा अभिनय में स्थित अनेक अर्थों का अवबोध होता है अतएव इसे 'विभाव' संज्ञा से अभिहित किया गया है ॥ ४ ॥

अनुभाव[1] :—

अथानुभाव इति कस्मात्? उच्यते—
[2]अनुभाव्यतेऽनेन वागङ्गसत्त्वकृतोऽभिनय इति।

(प्रश्न) 'अनुभाव[2]' शब्द का प्रयोग क्यों होता है? (उत्तर) क्योंकि ये अभिनय को वाणी, अंग तथा सात्त्विक भावों के द्वारा अनुभूति योग्य बनाते हैं, अतः 'अनुभाव' कहलाते हैं।

ज्ञापन करने वाले हेतु विभाव हैं जिन्हें कारण पदवाच्य कहा जाता है। क्योंकि एक ही भाव का अभिनय अनेक कारणों से प्रस्तुत किया जा सकता है। जैसे हर्ष आदि से हास तथा धूप, धुआँ या रोग आदि से आँसू उत्पन्न होते हैं। तो इनकी प्रतीति ठीक से कैसे होगी इसलिये कारण स्वरूप विभाव को देखकर शीघ्र ही सन्देह दूर होकर निश्चय हो जाता है। अतः विभाव ज्ञापक हेतु हैं।

१. अनुभाव—'वाचिक, आङ्गिक तथा सात्त्विक क्रियायें अभिनय को अनुभूति योग्य बनाते हैं' का आशय है वाणी, अङ्ग तथा सत्त्व से युक्त चेष्टायें या व्यापार ही 'अनुभाव' हैं। अनुभाव अंगभूत होने से या सहायक होने के

---

१. भिनयाश्रिताः—ग०।

२. 'यदयमनुभावयति नानार्थाभिनिष्पन्नो वागङ्गसत्वैः कृतोऽभिनयः' इति—ग०।

अत्र श्लोकः—

[1]वागङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते ।
[2]शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः ॥ ५ ॥

इस विषय में एक श्लोक (भी) है ।

क्योंकि (यह) दर्शकों को वाणी तथा अंग के अभिनय के द्वारा अर्थ की अनुभूति (या ज्ञान) को सम्पन्न करता है अतः शाखा, अङ्ग, एवं उपांग से संयुक्त यह 'अनुभाव' कहलाता है । (अथवा वाचिक, तथा आंगिक एवं उपांगों के अभिनय से सम्बद्ध रहने के कारण इसे 'अनुभाव' कहते हैं) ॥ ५ ॥

एवं[3] ते विभावानुभावसंयुक्ता भावा इति व्याख्याताः । अतो ह्येषां भावानां सिद्धिर्भवति । तस्मादे[4]षां भावानां विभावानुभावसंयुक्तानां लक्षणनिदर्शनान्यभिव्याख्यास्यामः । तत्र विभावानुभावौ लोकप्रसिद्धौ । लोकस्वभावानुगतत्वाच्च[5] तयोर्लक्षणं[6] नोच्यतेऽतिप्रसङ्गनिवृत्त्यर्थम्[7] ।

कारण भावों के साथ ही उत्पन्न तथा तिरोहित होते रहते हैं; अतः ये सहावस्थिति की दशा में रहने पर सहायक ही माने जाने चाहिए । साहित्यदर्पणकार ने इसका व्युत्पत्ति परक अर्थ लेकर 'अनु-पश्चाद् भवन्तीति अनुभावाः' कहकर उन्हें भावों के पश्चाद् उत्पन्न होने वाले 'कार्यरूप' माना है । परन्तु भावों तथा अनुभावों की कारण कार्य परक स्थिति तात्विक नहीं है क्योंकि अनुभाव स्थायी आदि भावों से भी उत्पन्न हो सकते हैं और उनके साथ भी रह सकते हैं अतः ऐसी आशंकाओं की व्यर्थ उत्पत्ति करवाने वाले लक्षण की अपेक्षा भरतमुनि के क्रिया रूप व्यापार या अभिनय के अन्तर्गत होनेवाली चेष्टाओं को 'अनुभाव' मानना सुगम होगा ।

---

१. वागङ्गसत्वाभिनयैर्यस्मादर्थो विभाव्यते—ख० ।
२. वागङ्गोपाङ्ग—ग०, घ० ।
३. 'एवं ते' इत्यारभ्य 'सिद्धिर्भवति' इत्यन्तः पाठः ग—पुस्तके नास्ति ।
४. एतेषां—ग० । ५. लोकस्वभावोपगतत्वात्—ग० ६. च्चैषां—ग० ।
७. निवृत्यर्थञ्च—घ० ।

(इस प्रकार) हमने विभाव तथा अनुभाव से संयुक्त 'भावों' को बतलाया क्योंकि इसी प्रकार इन भावों की उत्पत्ति होती है। अब हम विभाव तथा अनुभाव से संयुक्त (इन) भावों का लक्षण तथा उदाहरण देते हुए व्याख्या करेंगे। इनमें विभाव तथा अनुभाव के लोक प्रसिद्ध और मानव प्रकृति के अतिशय अनुगामी होने के कारण लक्षण नहीं बतलाए गए। इनके लक्षण न बतलाने का यही हेतु है।

भवति चात्र श्लोकः—

लोकस्वभावसंसिद्धा लोकयात्रानुगामिनः।
अनुभावा[1] विभावाश्च ज्ञेयास्त्वभिनये बुधैः ॥ ६ ॥

इस विषय में एक श्लोक (भी) है—

लोक प्रकृति से उत्पन्न होने वाले और लोक व्यवहार के अनुसर्त्ता इन अनुभाव तथा विभावों को स्वयं विद्वजन लोकप्रचलित कार्य द्वारा (अभिनय में) समझ लें।

भावों के तीन प्रकार (स्थायी, संचारी तथा सात्विक)

तत्राष्टौ भावाः स्थायिनः त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिणः। अष्टौ सात्विका इति भेदाः। एवमेते काव्यरसाभिव्यक्तिहेतव एकोनपञ्चाशद्भावाः प्रत्यवगन्तव्याः। एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते।

इन भावों में आठ स्थायीभाव, तैंतीस संचारी (व्यभिचारि) भाव तथा आठ सात्विक भाव हैं। इस प्रकार भाव तीन (प्रकार के होते) हैं। काव्य की रसाभिव्यक्ति में करणीभूत ये ही उनचास भाव हैं। इन्हीं के सामान्यगुणों[1] के संयोग द्वारा रसादि निष्पन्न होते हैं। (रस-निष्पत्ति का पिछले अध्याय में वर्णन हो चुका है)

---

१. सामान्यगुणयोगेन का अर्थ है—इन विभिन्न भावों के द्वारा या इनके माध्यम से रसप्रतीति करवाना। अर्थात् विशिष्ट या व्यक्तिनिष्ट भावों का साधारणीकरण की भूमिपर प्रतिष्ठापित कर बोधगम्य या प्रतीतियोग्य बनाना।

---

१. अनुभावविभावाश्च—ग०।

अत्र[1] श्लोकः—

योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना ॥ ७ ॥

इस विषय में निम्न श्लोक भी है :—

जो वस्तु या पदार्थ हृदयस्पर्शी हों, उनका (हृदयस्पर्शी होने में) रस से उत्पन्न होनेवाला कारण 'भाव' है। यह (भाव) सम्पूर्ण शरीर में (तत्काल) उसी प्रकार व्याप जाता है जैसे सूखी लकड़ियों में अग्नि ॥७॥

स्थायीभाव का अन्य भावों से पार्थक्य—

अत्राह—यदि काव्यार्थ[2]-संश्रितैर्विभावानुभावव्यञ्जितैरेकोनपञ्चाशद्भावैः सामान्यगुणयोगेनाभिनिष्पद्यन्ते रसास्तत्कथं स्थायिन[3] एव भावा रसत्वमाप्नुवन्ति। उच्यते—यथा हि समानलक्षणास्तुल्यपाणि-पादोदरशरीराः[4] समानाङ्गप्रत्यङ्गा[5]अपि पुरुषाः कुलशीलविद्याकर्मशिल्प-विचक्षणत्वाद्रा[6]जत्वमाप्नुवन्ति तत्रैव चान्येऽल्पबुद्धयस्तेषामेवानुचरा भवन्ति, तथा विभावानुभावव्यभिचारिणः स्थायिभावानुपाश्रिता भवन्ति। बह्वाश्रयत्वा[7]त्स्वामिभूताः स्थायिनो भावाः तद्वत्स्थानीयपुरुषगुणभूता[8] अन्ये भावास्तान्गुणतयो[9]ऽऽश्रयन्ते [तत्र स्थायिभावाः रसत्वमाप्नुवन्ति] परिजनभूता व्यभिचारिणो भावाः (तान् गुणतयाश्रयन्ते)।

यह कार्य सभी भावों के संयोग द्वारा सम्पन्न किया जाता है जिसका विश्लेषण 'रसनिष्पत्ति' के प्रसंग में विस्तार से किया जा चुका है।

१. भवति चात्र—ग०। २. यदान्योन्यार्थसंश्रितैः—ग०।
३. कथमिदानीमेते स्थायिनोऽष्टौ—ग०।
४. पादोदरसमानाः—ग०। ५. समानप्रत्ययाः—ग०।
६. विचक्षणत्वयुक्ता—ग०। ७. इत्याश्रयत्वात्—ग०।
८. तद्वत् स्थायिनि वपुषि गुणीभूताः—ग०।
९. गुणवत्तया—ग०।

(प्रश्न) यदि काव्य के अर्थों के आश्रित विभाव, अनुभाव (तथा संचारी भावों) द्वारा—जो कि (कुछ) उनचास हैं—रस निष्पन्न होते हैं। और रस इन भावों के सामान्य गुणों के संयोग से (ही) जब निष्पन्न होते हैं तो फिर स्थायीभाव ही रसत्व की अवस्था को कैसे प्राप्त करते हैं, अन्य भाव (विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव) रसावस्था को क्यों नहीं प्राप्त करते ? (उत्तर) जैसे एक जैसे लक्षणवाले हाथ, पैर, उदर तथा शरीर के समान होने पर और अङ्ग प्रत्यंग के समान रहने पर भी (कुछ) पुरुष अपने कुल, शील, विद्या, कर्म तथा शिल्प-गत विलक्षणता के कारण आधिपत्य प्राप्त करते हैं और शेष अपनी बौद्धिक (या अन्य) न्यूनता के कारण (वहीं) सेवक रह जाते हैं, वैसे ही विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव स्थायीभाव के आश्रित होकर रहते हैं। (क्योंकि स्थायीभाव अनेक भावों द्वारा आश्रित रहने के कारण मुख्य है। (इसी प्रकार जो) सेवकों के समानगौणता को लिये हुए अन्य संचारी भाव हैं वे मुख्य भाव का आश्रय ग्रहण करते हैं और गौणभूत ये संचारी (भावादि) राज्य के परिवार के समान (स्थायीभाव के पारिवारिक भाव) हैं।[1]

---

१. स्थायीभाव की प्रधानता का एक अन्य कारण यह भी है कि यह प्रकर्ष को प्राप्त कर अन्य (अनुभावादि भावों) का प्रच्छादक हो जाता है : आचार्य रामचन्द्र गुणचन्द्र ने स्थायीभाव का अन्य विभावादि से पार्थक्य बतलाते हुए विशेष विचार प्रस्तुत किये हैं। तदनुसार रत्यादि स्थायीभाव ज्ञानस्वरूप होने से चेतनात्मक या चेतनास्वरूप होते हैं। वेदान्तशास्त्रादि के अनुसार ज्ञानात्मकता चैतन्य स्वरूप होती हैं। धैर्यादि (मानस क्रियाएँ) अनुभाव ज्ञानरूप होने से अजड़ तथा स्वेदादि अनुभाव शारीरिक या बाह्य क्रियायें होने से जड़ हैं इसलिये अनुभाव उभयरूप हैं। इसी प्रकार वनितादि आलम्बन विभाव चेतनरूप और ऋतुमाल्यादि उद्दीपन विभाव जड़रूप होने से और निर्वेदादि व्यभिचारिभाव ज्ञानरूप होने से चेतनरूप तथा व्याध्यादि शरीरधर्मा होने से जड़ात्मक हैं। इस प्रकार विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारि (एवं सात्विक) भाव ज्ञानरूप (अजड़) और शरीरधर्मादिरूप (जड़) होने से उभयरूप होते हैं और यह भी स्थायी और अन्य विभावादि में परस्पर अन्तर (होता) है। अन्य विद्वान् स्थायी और व्यभिचारिभाव के अन्तर को एक दूसरे उदाहरण से स्पष्ट करते हैं। तदनुसार जैसे सूत्र प्रत्येक मणि के साथ

अत्राह—को दृष्टान्त इति। यथा नरेन्द्रो बहुजनपरिवारोऽपि सन् स एव नाम लभते नान्यः सुमहानपि पुरुषः। तथा विभावानुभावव्यभिचारिपरिवृतः स्थायी भावो रसनाम लभते नरेन्द्रवत्।

(प्रश्न) इस विषय में दृष्टान्त क्या होगा ? (उत्तर) जैसे बड़े परिवार (या अनेक परिजन) से युक्त होने पर भी केवल राजा का ही नाम रहता है। उससे बड़े (कुटुम्बी-जन) का भी नाम नहीं रहता। वैसे ही विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों से युक्त स्थायीभाव ही नरेन्द्र के समान रस-दशा को प्राप्त करता है (अन्य भाव नहीं।)

स्थायीभाव (लक्षण)

भवति चात्र श्लोकः—

तथा नराणां नृपतिः शिष्याणाञ्च यथा गुरुः।
एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह ॥ ८ ॥

इस विषय में एक (परम्परा प्राप्त) श्लोक है —

जैसे मनुष्यों में राजा तथा शिष्यों में गुरु मुख्य होते हैं वैसे ही सब भावों में स्थायी[1] भाव मुख्य (श्रेष्ठ) माना गया है ॥ ८ ॥

लक्षणं खलु पूर्वमभिहितमेषां रस-संज्ञकानां निदर्शनं[1] तु। इदानीं भावसामान्यलक्षणमभिधास्यामः। तत्र[2] स्थायिभावान्वक्ष्यामः—

इनमें रसदशा को प्राप्त करने वाले रसों के लक्षण तथा द्रष्टान्त बतलाए जा चुके हैं। अब हम भावों के सामान्य लक्षण बतलाएँगे। (इनमें भी) सर्वप्रथम स्थायीभावों के लक्षण बतलाते हैं—

रह कर रत्नमाला बनाता है इसी प्रकार स्थायीभाव प्रत्येक संचारी से सम्बद्ध होकर रसावस्था को प्राप्त करता है।

१. स्थायीभाव रत्यादि परिणाम के उत्पादक होने से रसादि के परिणामि कारण हैं। ये रत्यादि जिस रस के स्थायीभाव माने गये हैं उनसे भिन्न रसों में व्यभिचारिभाव या अनुभावरूप भी हो सकते हैं। परन्तु दूसरे रसों में रत्यादि के आगन्तुक स्वरूप में रहने से (उनका) स्थायीभावत्व नहीं होता है।

१. निदर्शनन्तु इति ग पुस्तके नास्ति। २. तत्रादौ—ग०।

रति—

तत्र रतिर्नाम प्रमोदात्मिका[1] ऋतुमाल्यानुलेपनाभरणभोजनवरभवना[2]नुभवनाप्रातिकूल्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तामभिनयेत् स्मितवदनमधुरकथनभ्रूक्षेपकटाक्षादिभिरनुभावैः।

आमोदात्मक-भाव रति[1] कहलाता है। यह ऋतु, माल्य, चन्द्रलेपन, अलंकार धारण, [प्रियजन सेवन] इष्ट भोजन, सुन्दर भवन का उपभोग तथा प्रतिकूल आचरण न करने आदि विभावों द्वारा उद्भूत होता है। इसका मुसुकुराते मुँह, मधुरवाक्य, भ्रूविक्षेप और कटाक्षपात आदि अनुभावों से अभिनय किया जाता है।

अत्र[3] श्लोकः—

इष्टार्थ-विषय-प्राप्त्या रतिः[4] समुपजायते।
सौम्यत्वादभिनेया सा[5] वाङ्माधुर्याङ्गचेष्टितैः ॥ ९ ॥

इस विषय में निम्न श्लोक है—

इष्ट पदार्थ की प्राप्ति से 'रति' उत्पन्न होती है। इसका अभिनय सौम्यता, वाणी के माधुर्य तथा उपयुक्त आंगिक चेष्टाओं द्वारा किया जाए ॥ ९ ॥

---

१. 'रति' का व्यापक अर्थ है—अनुराग या प्रेम। पर यहाँ भरतमुनि ने उसका नाटचप्रसंग में शृंगार के साथ सीमित अर्थ ही ग्रहण किया है। केवल अभिलाष मात्र के प्रदर्शन से रति व्यभिचारिभाव भी बन जाती है तथा देवता, बन्धु, गुरुजन आदि के प्रति प्रेम रहने पर इसका रूप भिन्न या उदात्त हो जाता है। अतः ये दोनों प्रकार 'रति' के शृङ्गाररस के स्थायीभाव से पृथक् हैं। यहाँ रति को आमोदात्मक कह कर भरत ने उसे कान्ताविषयक ही संकेतित किया है जिससे स्पष्टतः वह शृंगाररस का स्थायीभाव बन कर रहे।

---

१. आमोदात्मको भावः—ग०। २. प्रियजन परभावना—ग०।
३. भवति चात्र—ग०। ४. रतिरित्युप—ग०।
५. दभिनेयासौ—ग०।

हास—

अथ हासो नाम—परचेष्टानुकरणकुहकासम्बद्धप्रलाप[1]-पौरोभाग्यमौ[2]-र्ख्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तमभिनयेत्पूर्वोक्तैर्हसितादिभिरनुभावैः।

'हास' (नामक स्थायीभाव) अन्य व्यक्तियों की चेष्टाओं के अनुकरण, आँख या गर्दन का स्पर्श (बेसिर-पैर की) बकवास (असम्बद्ध प्रलाप), दोषोद्भावन (पौरोभाग्य), मूर्खता के प्रदर्शन आदि अनुभावों से उद्भूत (अभिव्यक्त) होता है। इसका पूर्व निर्दिशित हसितादि अनुभावों के द्वारा अभिनय किया जाए।[1]

भवति चात्र श्लोकः—

परचेष्टानुकरणाद्धासः समुपजायते।
स्मितहासातिहसितैरभिनेयः स पण्डितैः॥ १०॥

इस विषय में निम्न श्लोक है :—

अन्य व्यक्तियों की चेष्टाओं की नकल करने पर 'हास' उत्पन्न होता है। इसे पण्डितजन स्मित, हसित तथा अतिहसित (भेदों) के द्वारा अभिनीत करें॥ १०॥

शोक—

शोको नाम—इष्टजनवियोगविभवनाश—वधबन्धदुःखा[3]नुभवनादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तस्याश्रुपातपरिदेवितविलपित[4]वैवर्ण्यस्वरभेदस्रस्तगात्रताभूमिपतनसस्वनरुदिताक्रान्दितदीर्घनिःश्वसित[5]जडतोन्मादमोहमरणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

---

१. मन की प्रसन्नता तथा उन्मादादि से भी चित्त का विकार होने पर 'हास' कहलाता है। कुहक का अर्थ है—आँख या गर्दन का स्पर्श करना।

---

१. चेष्टानुकरणासम्बद्धप्रलाप—ग०। २. सौख्यादि—ग०।
३. वधबन्धनदुःखा—ग०। ४. तस्याश्रुपातविलपितपरिदेवित—ग०।
५. भूमिपाताक्रन्दितविचेष्टितदीर्घ-निश्वसित—ग०।

'शोक'[1] (नामक स्थायी भाव) का उद्भव प्रियजन के वियोग (नाश) सम्पत्तिनाश, (प्रिय या) इष्ट व्यक्ति के वध, बन्धन तथा दुःख के अनुभव करने आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इसका अभिनय अश्रुपात, विलाप, पश्चात्ताप (परिदेवित), विवर्ण (मुँह के उतरने), स्वरभेद (कण्ठ के रुँधजाने), अंगशैथिल्य, भूमिपतन, विलाप, दीर्घ-निश्वास, जड़ता, उन्माद, मोह तथा मरण आदि अनुभावों के द्वार किया जाता है।

रुदितमत्र त्रिविधम्—आनन्दजमार्तिजमीर्ष्यासमुद्भवश्चेति। भवति चात्रार्या:—[1]

इस दशा में सामान्यतः विलाप (रुदित) तीन प्रकार का होता है। (१) आनन्द से, (२) पीड़ा से तथा (३) ईर्ष्या से उद्भूत रुदित।

इस विषय में ये आनुवंशिक आर्याएँ हैं :—

हर्षोत्फुल्लकपोलं सानुस्मरणादपाङ्गविसृतास्रम्[2]।
रोमाञ्चगात्रमनिभृतमानन्दसमुद्भवं भवति ॥ ११ ॥

---

१. स्थायीभाव के विशिष्ट लक्षणों के कारण यहाँ सर्वत्र उनमें होने वाले विभाव, अनुभाव या सात्विकभावों का विभागपूर्वक निदर्शन किया गया है। यह नाट्य में किये जाने वाले अभिनय को दृष्टिगत रखते हुए भरत मुनि ने यहाँ बतलाया है; अतः पूर्वाध्याय में रसाभिव्यक्ति को मुख्य मानकर दिखलाये गये स्थायी, संचारी के विवरण से यह व्यापक है।

शोक—प्रियजन के मरणादि से हृदय में जो आकुलता उत्पन्न हो जाए वही चित्तवृत्ति 'शोक' है। इस दशा में जबतक इष्टजन की जीविताशा का ज्ञान रहता हो तबतक प्रेम की प्रधानता रहने से 'विप्रलम्भ' शृङ्गार ही रहता है और ऐसी दशा में व्याकुलता से उद्भूत 'शोक' संचारीभाव बन जाता है। पर जब इष्टजन के मरणका ज्ञानहो जाए तब 'रतिभाव' शोक की पुष्टि करता है और व्याकुलता के प्रधान हो जाने से वहाँ 'करुणरस' का उद्भव होता है।

---

१. आनन्देर्ष्यार्तिकृतं त्रिविधं रुदितं सदा बुधैर्ज्ञेयम्। तस्य त्वभिनययोगान् विभावगतितः प्रवक्ष्यामि ॥ इति ख—पुस्तकेऽधिकम्।

२. सानुस्मरणञ्च वागनिभृतास्त्रम्—ग०।

३. रोमाञ्चाञ्चितगण्डं रोदनमानन्दजं—ग०।

जिस रोदन में कपोल हर्ष के कारण फूल जाएँ, स्मरण वाक्यों के साथ नेत्रों के प्रान्त भागों से अश्रु ढलकने लगें और बार-बार शरीर रोमांचित होने लगे तो उसे 'आनन्दज रोदन' समझें ॥ ११ ॥

पर्याप्तविमुक्तास्रं सस्वनमस्वस्थगात्रगतिचेष्टम् ।
भूमिनिपातनिवर्ति[1]विलपितमित्यार्तिजं भवति ॥ १२ ॥

जिसमें जोरों की आवाज करते हुए अश्रुप्रवाह अधिकता से हो रहा हो. शरीर की अवस्था, गति तथा चेष्टाएँ अव्यवस्थित हो, भूमि पर गिरकर बार-बार रोदन तथा तदनुकूल चेष्टाएँ हों तो उसे 'आर्तिजरोदन' समझिए ॥ १२ ॥

प्रस्फुरितौष्ठकपोलं सशिरःकम्पं तथा सनिःश्वासम् ।
भ्रुकुटीकटाक्षकुटिलं स्त्रीणामीर्ष्याकृतं भवति ॥ १३ ॥

स्त्रियों का वह जोरों से रोना जिसमें ओठ तथा गाल बार-बार फड़कते हों, मस्तक हिलता हो, लम्बी साँसे ली जाती हों, भ्रुकुटी और दृष्टि क्रोध से चढ़ जाए (कुटिल हो जाए) तो उसे 'ईर्ष्या जन्य रोदन' जानों ॥ १३ ॥

स्त्रीनीचप्रकृतिष्वेष[2] शोको व्यसनसम्भवः ।
धैर्येणोत्तम-मध्यानां नीचानां रुदितेन च ॥ १४ ॥

स्त्री तथा नीच प्रकृति के पात्रों में ही कष्ट से होने वाला 'शोक' होता है। उत्तम तथा मध्यम प्रकृति के पात्रों में धैर्ययुक्त तथा नीच प्रकृति के पात्रों में रोदन के द्वारा यह शोक उद्भूत होता (या दिखाई देता) है ॥१४॥

क्रोध—

क्रोधो नाम—आधर्षणाकुष्टकलहविवादप्रतिकूलादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। अस्य[3] विकृष्टनासापुटोद्वृत्तनयनसन्दष्टोष्ठपुटगण्ड-स्फुरणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

---

१. भूमिनिपातितचेष्टित—ग० ।

२. अनयोर्मध्ये—कारणमपेक्षमाणः प्रायेणायासलिङ्गसंयुक्तः । वीररसान्तर-चारी कार्यः कृतको भवेच्छोकः । इति अधिकं—ग—पुस्तके । स्त्रीनीचप्रकृतिः ह्येष—घ० ।

३. तमभिनयेत् उत्फुल्लनासापुटोद्धतनयन—ग० ।

'क्रोध'[1] (शत्रु आदि को) पकड़ने, गाली देने, झगड़ने या लड़ने तथा विरोध करने आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इसका अभिनय नथुनियों के फूलने, त्यौरी चढ़ाने, आँखों के घुमाने, ओठों के चबाने तथा गालों के फड़कन आदि अनुभावों के द्वारा किया जाता है।

रिपुजो[1] गुरुजश्चैव प्रणयिप्रभवस्तथा।
भृत्यजः कृतकश्चेति क्रोधः पञ्चविधः स्मृतः ॥ १५ ॥

क्रोध के पाँच[2] प्रकार होते हैं। यथा:-(१) रिपुज (शत्रु पर आनेवाला), (२) गुरुज (पूज्यजन पर होनेवाला), (३) प्रणयिजन्य (प्रिया पर होने वाला), (४) भृत्यज (सेवक पर होनेवाला) तथा (५) कृतक बनावटी) ॥ १५ ॥

अत्रार्या भवन्तिः—

भ्रुकुटीकुटिलोत्कटमुखः[2] सन्दष्टोष्ठः स्पृशन्करेण करम्।
क्रुद्धः[3] स्वभुजप्रेक्षी शत्रौ[4] निर्यन्त्रणं रुष्येत् ॥ १६ ॥
इस विषय में ये आनुवंशी आर्याएँ हैं।

१. क्रोध में मुख्यतः जल उठने या उत्तेजित हो जाने की भावना प्रबल रहती है। यदि यही भाव किसी छोटे अपराध या अन्य कारणों से होता है तो इसमें कठोर वचन या मौन रखना भी होता है। ऐसी दशा में 'क्रोध' अमर्ष नामक संचारीभाव बन जाता है। यही 'क्रोध' स्थायी तथा 'अमर्ष' संचारी-भाव में अन्तर है। यहां क्रोध के भरत ने पांच प्रकार बतला कर उसी का परम्परागत आर्याओं के द्वारा विस्तार वर्णन दिया है।

२. यहाँ क्रोध के (पाँच) प्रकारों में विविध आलम्बन निर्दशित किये गये हैं तथा उन्हीं के विभेद से क्रोध के प्रकार तथा उसके विभाव, अनुभाव आदि में अन्तर बतलाया गया है। इनमें शत्रु पर होनेवाले क्रोध में जलन या उत्तेजना के भाव की तीव्रता या जल उठना बतलाया गया है। गुरुजन के प्रति होनेवाले उसको विनयच्छन्न बतलाया गया है तथा प्रिया के प्रति यही भाव

१. अयं श्लोकः ग—पुस्तके नास्ति। २. मुखसन्दष्टौष्ठः—घ०।
३. स्पष्टभुजशिरवक्षाः—ग०; धृष्टभुजशिखरवक्षाः—घ०।
४. शत्रोर्विनियन्त्रणं कुप्येत्—ग०।

शत्रु पर होने वाले क्रोध में भ्रुकुटी का चढ़ाना, मुँह का टेढ़ा (कुटिल) या ऊँचा करना, ओठों का चबाना, हाथों का (एक दूसरे से लगाकर) मलना और स्वयं के मस्तक और छाती को बार-बार स्पर्श करना होता है ॥ १६ ॥

किञ्चिदवाङ्मुखदृष्टिः साम्रस्वेदापमार्जनपरश्च[1] ।
अव्यक्तोल्बणचेष्टो गुरोर्विनय[2]यन्त्रितो रुष्येत् ॥ १७ ॥

पूज्यजन (के द्वारा नियन्त्रित होने) पर जब क्रोध आता है तो उसमें मुँह तथा दृष्टि थोड़ी झुक जाती है, आँसू और पसीने का कुछ-कुछ आना और उसे पोछने लगना रहता है तथा अपनी उद्धत चेष्टाएँ स्पष्ट प्रकट नहीं होने पाती है ॥ १७ ॥

अल्पतरप्रविचारो विकिरन्नश्रूण्यपाङ्गविक्षेपैः[3] ।
सभ्रुकुटीस्फुरितोष्ठः[4] प्रणयोपगतो[5] प्रियां रुष्येत् ॥ १८ ॥

सानुराग प्रिया पर आनेवाले क्रोध में धीरे-धीरे कुछ दूर चलना, आँसुओं का टपकाना, आँखों को तिरछे रखना, भ्रुकुटी चढ़ाना तथा ओठों का चबाना होता है ॥ १८ ॥

होने पर उसमें थोड़ी मृदुता का भाव निर्दशित किया गया है । जब कि अपने सेवक आदि पर यही भाव आने पर क्रूरता नहीं रहती, क्योंकि वहाँ अपना पराक्रम दिखलाना इष्ट नहीं होता केवल मनकी क्षोभपूर्ण वृत्ति ही वहाँ मुख्य रहती है । और जो क्रोध कृत्रिम होता है अर्थात् किसी कारण से उद्भूत होता है उसकी स्थिति दो रसों के अन्तर्गत मानी गयी है । यह वीर रस तथा रौद्र-रस के अन्तर्गत होता है । ऐसी अवस्था में वीररस के अन्तर्गत क्रोध संचारी होकर भी 'कृत्रिम' हो सकता है क्योंकि वहाँ यह नियोजित एवं व्यवस्थित रूप में किसी कारण से ही उत्पन्न होता है । जब कि रौद्ररस में क्रोध किसी कारण विशेष से उत्पन्न होता है तथा वह अपने समकक्ष भावों का अतिक्रमण कर मुख्यता प्राप्त करता है; अतः वहाँ स्थायीभाव प्राप्त करता है तथापि व्यवस्थित नियोजन न होने से (अनिश्चय के कारण) 'कृत्रिम' भी हो जाता है । यही आशय यहाँ 'द्विरसान्तरसञ्चारी' से संकेतित किया है ।

१. किञ्चित् स्वेदापमार्जन—घ० । २. विहरन्—क० ।
३. गुरोर्विनियन्त्रणं—ग० । ४. स्फुरदौष्ठः—ग० ।
५. प्राणयाभिगतां—ग० ।

अथ[1] परिजने तु रोषस्तर्जननिर्भर्त्सनाक्षिविस्तारैः ।
विप्रेक्षणैश्च विविधैरभिनेयः[2] क्रूरतारहितः ॥१९॥

सेवक पर होने वाले क्रोध में तर्जना, डाँटना, आँखों को निकालते हुए देखना तथा ऐसे ही कई प्रकार से देखना होता है ॥ १९ ॥

कारणमवेक्षमाणः[3] प्रायेणायासलिङ्गसंयुक्तः ।
द्विरसान्तरसञ्चारी[4] कार्यः कृतको भवति कोपः ॥ २० ॥

जो किसी कारण को लेकर होनेवाला हो तथा जिसमें प्रायः आयास के लक्षण सम्मिलित रहते हों, जो दो रसों के मध्य में विद्यमान रहता हो तो उसे 'कृतक' क्रोध जानो ॥ २० ॥

[1]उत्साह—

उत्साहो नाम—उत्तमप्रकृतिः । स चाविषादशक्ति[5]-धैर्यशौर्यादिभिर्विभावैरुत्पद्यते । तस्य[6] स्थैर्यधैर्यत्याग-वैशारद्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

'उत्साह' उत्तम प्रकृति के पात्रों में होता है । यह विषादहीनता शक्ति, धैर्य, शौर्य आदि विभावों से उत्पन्न होता है । इसका अभिनय स्थिरता, धैर्य (धारण) तथा चातुर्य (अथवा अङ्गीकृत निर्वाह) आदि अनुभावों के द्वारा किया जाता है ।

अत्र श्लोकः—

असम्मोहादिभिर्व्यक्तो व्यवसायनयात्मकः
उत्साहस्त्वभिनेय[7] स्यादप्रमादोत्थितादिभिः ॥

---

१. उत्साह—यहाँ उत्साह को स्थिरचित्तता आदि से उद्भूत बतला कर नायक आदि में विद्यमान सक्रिय और कर्मठवृत्ति को आवश्यक स्थिति निर्दिशित की गयी है ।

---

१. यः परिजने—ग०

२. स्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः—ग० । ३. मवेक्षमाणः ।

४. वीररसान्तरचारी—क०, उभयरसान्तर—ग० ।

५. धैर्यशौर्यत्यागादिभि—ग० ।

६. तस्य धैर्यत्यागारम्भवैशारद्या—ग० ।

७. स्त्वभिनेयोऽसावप्रमादक्रियादिभिः—ग० ।

इस विषय में एक श्लोक है :—

स्थिर-चित्तता (असम्मोह) आदि के द्वारा उद्‌भूत व्यवसाय तथा नीति से सम्पन्न उत्साह को प्रमाद-हीनता, उत्थान आदि क्रियाओं (अनुभावों) के द्वारा अभिनीत किया जाए ॥ २१ ॥

[1]भय—

भयं नाम—स्त्रीनीचप्रकृतिकम्। गुरुराजापराधश्वापद[1]शून्यागाराटवी-पर्वतगहनगजाहि[2]दर्शननिर्भर्त्सनकान्तार[3]दुर्दिननिशान्धकारोलूक-नक्तञ्चरारावश्रवणादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तस्य[4] प्रकम्पितकरचरण-हृदयकम्पनस्तम्भमुखशोष[5]जिह्वापरिलेहन[6]स्वेदवेपथुत्रा[7]सपरित्राणान्वे-षण[8]-धावनोत्क्रुष्टादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

'भय' स्त्री तथा नीच प्रकृति के पात्रों में होता है। यह गुरुजन तथा राजा के अपराध करने; हिंसक जन्तुदर्शन, शून्य गृह, अरण्य तथा पर्वत में भ्रमण, हाथी तथा सर्प के दर्शन, धौंस, डपट, दुर्गम मार्ग, मेघों तथा रात्रि के अन्धकार, उल्लू तथा राक्षसों की ध्वनियों के श्रवण आदि विभावों के द्वारा उत्पन्न होता है। इसका अभिनय धूजते हुए हाथ तथा पैरों, हृदय के धड़कने, स्तम्भ, मुँह के सूखने, जीभ के चाटने, पसीना पोंछने, कम्पन, त्रास, रक्षकजन की तलाश, भागना, रोना आदि अनुभावों के द्वारा किया जाता है।

अत्र श्लोकाः—

गुरुराजापराधेन रौद्राणाञ्चापि दर्शनात्।
श्रवणादपि घोराणां भयं मोहेन जायते ॥ २२

---

१. भय—प्रबल अनर्थ आदि से होने वाली घबराहट (वैक्लव्य) को ही 'भय' माना जाता है। यदि प्रबल अनर्थ के कारण व्याकुलता न हो तो फिर यह 'त्रास' नामक व्यभिचारिभाव हो जाता है। अन्य आचार्यों का मत है कि उत्पात आदि से जो उत्पन्न होता हैं वह 'त्रास' है तथा अपने अपराधादि से जो उत्पन्न हो उसे 'भय' समझना चाहिए। भय और त्रास में यही पारस्परिक विभेद है।

---

१. श्वापद इति—ग पुस्तके नास्ति।
२. गहनगजाहि इति—ग पुस्तके नास्ति।
३. कान्तार इति —ग पुस्तके नास्ति।
४. प्रवेपित—ग०। ५. शोषण—ग०। ६. परिलेह—ग०।
७. त्रास इति—ग पुस्तके नास्ति। ८. परिलाभान्वेषण—ग०।

इस विषय में ये श्लोक हैं :—

गुरुजन एवं राजापराध, रौद्र (भीषण) वस्तुओं के अवलोकन तथा घोर ध्वनि के श्रवण से मोहवश 'भय' उत्पन्न होता है ॥ २२ ॥

गात्रकम्पनवित्रासै[1]र्वक्त्रशोषणसम्भ्रमैः ।
विस्फारितेक्षणैः कार्यमभिनेय[2] क्रियागुणैः ॥ २३ ॥

शरीर कम्पन; त्रास, मुँह का सूखना, कार्य में शीघ्रता करना, आँखे फाड़कर देखना आदि क्रियाओं के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए ॥ २३ ॥

सत्त्ववित्रासनोद्भूतं[3] भयमुत्पद्यते नृणाम् ।
स्रस्ताङ्गाक्षिनिमेषैस्तदभिनेयं[4] तु नर्तकैः ॥ २४ ॥

मनुष्यों में भय तभी उत्पन्न होता है जबकि सत्व (भूत-प्रेत) से भय (त्रास) हो रहा हो; कुशल अभिनेता इसे ढीले अंगों तथा शंकित दृष्टियों के द्वारा अभिनीत करें ॥ २४ ॥

अत्रार्या भवति—

करचरणहृदयकम्पैस्तम्भनजिह्वोपलेपमुखशोषैः[5] ।
[6]स्रस्तसुविषण्णगात्रैस्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥ २५ ॥

इस विषय में एक आर्या भी है :—

हाथ, पैर तथा हृदय के काँपने, जिह्वा के बार-बार चाटने (मुँह सूखने) स्तम्भ और ढीले तथा अव्यवस्थित अवयवों के द्वारा इस (भय) का अभिनय करना चाहिए ॥ २५ ॥

जुगुप्सा—

जुगुप्सा नाम—स्त्रीनीचप्रकृतिका । सा[7] चाहृद्यदर्शनश्रवणपरिकीर्तनादिभिर्विभवैः समुत्पद्यते । तस्याः सर्वाङ्गसङ्कोच-निष्ठीवन-मुखविकूर्णन[8]हृल्लेखादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

१. गात्रादिकम्पवित्रासैः—ग० । २. अभिनेय—ग० ।
३. तत्र वित्रासनो—ग० । ४. निमेषैश्च व्यभिनेयस्तु—ग० ।
५. मुखशोषणवदनलेहनस्तभैः—क० ।
६. सम्भ्रान्तवदनवेपथुसन्त्रासकृतैरभिनयोऽस्य—क० ।
७. या—ग० । ८. विघूर्णन—ग० ।

[1]'जुगुप्सा' नीच-पुरुष तथा स्त्री (पात्रों) में उत्पन्न होती है। यह घिनौनी वस्तुओं के दर्शन, श्रवण तथा कथन आदि विभावों के द्वारा उत्पन्न होती है। इसका अभिनय शरीर के सभी अवयवों के सिकुड़ाने, थूकने, मुँह घुमाने तथा हृदय के धड़कने या दुखने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाता है।

भवति चात्र श्लोकः—

नासाप्रच्छादनेनेह[1] गात्रसङ्कोचनेन च।
उद्वेजनैः सहृल्लेखैर्जुगुप्सामभिनिर्दिशेत् ॥ २६ ॥

इस विषय में एक श्लोक भी है :—

नाक ढँकने, शरीर के अवयवों को संकुचित करने, उद्वेग तथा हृदय की पीड़ा होने (आदि) अनुभावों के द्वारा जुगुप्सा को प्रदर्शित करना चाहिए ॥ २६ ॥

विस्मय :—

विस्मयो नाम—मायेन्द्रजालमानुषकर्मातिशय-चित्रपुस्तशिल्प-विद्यातिशयादि[2]भिर्विभावै समुत्पद्यते। तस्य नयनविस्तारा-निमेषप्रेक्षित[3]भ्रूक्षेपरोमहर्षणशिरःकम्प-साधुवादादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

[2]'विस्मय' की उत्पत्ति माया, इन्द्रजाल, मनुष्यों के द्वारा विहित असाधारण (विचित्र) कार्य, महान् आश्चर्य-कारिणी चित्रकला, शिल्प-कला तथा पुस्त-विद्या की अतिशयता आदि विभावों के द्वारा होती है। इसका आँखों को फैलाने, इकटक देखने, भौहें घुमाने (भ्रू-विक्षेपण)

---

१. जुगुप्सा—इसका बीभत्स रस के प्रसङ्ग में विवेचन हो चुका है, वही विवरण फिर से प्रसङ्गवश यहाँ भी दे दिया गया है। 'हृल्लेखन' का अर्थ है हृदय की पीड़ा या उसका धड़कना।

२. विस्मय—चित्रकला, शिल्पकला तथा पुस्तविद्या, की (अर्थात् जो लकड़ी तथा धातु की कारीगरी का शिक्षण देने वाली विद्या हो) असाधारणता या अतिशयता से ही मनुष्य आश्चर्यान्वित हो जाता है।

---

१. प्रच्छादनेनापि—ग०। २. विद्यातिशयाद्यै—ग०।
३. प्रेक्षण—ग०।

रोमांचित होने, मस्तक कँपाने, प्रशंसा करने आदि अनुभावों के द्वारा अभिनय करना चाहिए।

भवति चात्र श्लोकः—

कर्मातिशयनिर्वृत्तो विस्मयो हर्षसम्भवः।
सिद्धिस्थाने त्वसौ साध्यः प्रहर्षपुलकादिभिः॥ २७॥
एवमेते स्थायिनो भावा रससंज्ञाः प्रत्यवगन्तव्याः।

इस विषय में एक श्लोक है :—

अपनी सीमा के अतिक्रमणकारी (अतिशय) कार्यों द्वारा होनेवाले हर्ष से 'विस्मय' उत्पन्न होता है। इसका अभिनय हर्ष, रोमाञ्च आदि के द्वारा करना चाहिए॥ २७॥

इसी प्रकार रसदशा को प्राप्त होने वाले स्थायीभाव होते हैं (या समझना चाहिए)।

[1]सञ्चारीभाव—

व्यभिचारिण इदानीं व्याख्यास्यामः[1]। अत्राह-व्यभिचारिण इति कस्मात्। उच्यते—वि अभि इत्येतावुपसर्गौ। चर् इति गत्यर्थो धातुः विविधमाभिमुख्येन[2] रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः। वागङ्गसत्त्वोपेताः प्रयोगे रसान्नयन्तीति व्यभिचारिणः। चरन्ति नयन्तीत्यर्थः। अत्राह कथं नयन्तीति। उच्यते—लोकसिद्धान्त एषः—यथा सूर्य इदं दिनं नक्षत्रं वा नयतीति[3]। न च तेन बाहुभ्यां स्कन्धेन वा नीयते। किंतु लोकप्रसिद्धमेतत्। यथेदं सूर्यो नक्षत्रं दिनं वा नयतीति एवमेते व्यभिचारिण इत्यवगन्तव्याः। तानिह सग्रहाभिहितांस्त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिणो भावान् वर्णयिष्यामः।

अब हम व्यभिचारी (संचारी) भावों को निरूपित करते हैं। प्रश्न—इन्हें व्यभिचारी भाव क्यों कहा जाता है ? उत्तर—इसमें 'वि' तथा 'अभि'

१. संचारीभाव—संचारीभाव की अन्य संज्ञा है व्यभिचारिभाव। व्यभिचारिभाव की भरत ने व्युत्पत्ति भी दी है विशेषात् आभि मुख्येन चरन्तीति

१. वक्ष्यामः—ग०।
२. धात्वर्थवागङ्गसत्वोपेतान्—ग०; यथायं सूर्यो-घ०।
३. यथा सूर्य इदं नक्षत्रममुं वासरं नयतीति—ग०।
४. त इमे सङ्ग्रहाभिहितास्त्रयस्त्रिंशद्भावाः तान् वर्णयिष्यामः—घ०।

उपसर्ग है और 'चर्' धातु है। जिसका अर्थ है—जाना, हिलना। तब 'व्यभिचारी' शब्द का अर्थ हुआ—'वे जो रसों की ओर विभिन्न प्रकारों से आगे बढ़ते हों' और यह भी कि 'वे शब्दों (वाणी), शारीरिक मुद्राओं तथा सात्विक (आदि) भावों से युक्त होकर रसों तक पहुँचने के कारण व्यभिचारिभाव हैं। प्रश्न–ये (रसों को) किस प्रकार वहन करते हैं?' (या उन्हें लेकर आगे बढ़ते हैं), उत्तर–इसे लौकिक व्यवहार में आने वाले सिद्धांत के समान समझ लेना चाहिए। जैसे सूर्य इस नक्षत्र या इस दिन को प्राप्त करता है। यहाँ यह आशय नहीं कि यह अपनी भुजाओं या कन्धे पर उन्हें वहन करता हो किन्तु यह संसार में प्रसिद्ध है कि सूर्य नक्षत्र और दिन को ले जाता है। इसी प्रकार ये भी प्रयोग को आगे बढ़ाने या ले जाने के कारण व्यभिचारी भाव कहलाते हैं ऐसा समझलेना चाहिए। ये भाव पूर्व संग्रह में निदर्शित तैंतीस हैं। अब हम (क्रमशः) इन्हीं का वर्णन प्रारम्भ करते हैं।

[1]निर्वेद—

तत्र निर्वेदो नाम—दारिद्र्योपगमनाधिक्षेपा[1]क्रुष्टक्रोधताडनेष्टजनवियोगतत्त्वज्ञानादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। स्त्रीनीचकुसत्त्वानाम् रुदितानिःश्वसितोच्छ्वसितसम्प्रधारणादिभिरनुभावैस्तमभिनयेत।

'निर्वेद' की उत्पत्ति दारिद्र्य-प्राप्ति, अपमान, गाली या अशिष्ट बकवास, क्रोधित हो प्रताड़ना करना, इष्ट (प्रिय) जन का वियोग तथा

व्यभिचारिणः' अर्थात् ये व्यभिचारिभाव इसलिये कहलाते हैं, क्योंकि वे विविधस्वरूपों या विषयों की ओर अभिमुख रसों के सम्बन्ध में या रसों में संचार करते हैं। अर्थात् ये विविध अनुभावों के अभिनय के द्वारा भाव को रसोद्बोध तक पहुँचा देते हैं। संचारी या व्यभिचारिभाव के स्वरूप को पण्डितराज ने 'यानि सह चरन्ति तानि व्यभिचारिशब्देन व्यपदिश्यन्ते' कहा है अर्थात् स्थायीभावों के साथ रहने वाली चित्तवृत्तियाँ जैसे चिन्ता आदि व्यभिचारिभाव है।

१. निर्वेद—शान्तरस का स्थायीभाव 'निर्वेद' नित्य तथा अनित्य वस्तुओं के विवेक से उत्पन्न होता है अतः वहाँ 'स्थायीभाव' है। परन्तु यहाँ दारिद्र्यादि से उत्पन्न होने के कारण 'संचारीभाव' है। यहाँ निर्वेद की उत्पत्ति में तत्वज्ञान को विभाव बतलाया गया है–यह यद्यपि अन्य कोटियों से भिन्न है तथापि

---

१. व्याध्यवमानाधिक्षेप—क०।

तत्वज्ञान आदि विभावों के द्वारा होती है। स्त्री तथा नीच एवं कुत्सित पात्रों में होनेवाला इस भाव का अभिनय रोना, साँसे भरना, उसांसे लेना निश्चयकरना (सम्प्रधारण) आदि अनुभावों के द्वारा किया जाता है।

भवति चात्र श्लोकः—

दारिद्र्येष्टवियोगाद्यैः निर्वेदो नाम जायते।
सम्प्रधारणनिःश्वासैस्तस्य त्वभिनयो भवेत् ॥ २८ ॥

इस विषय में श्लोक है।

दरिद्रता की प्राप्ति तथा प्रियजन के वियोग आदि से निर्वेद' उत्पन्न होता है। इसका चिन्तन करने तथा ऊँची सांस लेने (निःश्वास) आदि के द्वारा अभिनय किया जाए ॥ २८ ॥

अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः—

इष्टजनस्य वियोगाद्दा[1]रिद्र्याद्व्याधितस्तथा दुःखात्।
[2]ऋद्धिं परस्य दृष्ट्वा निर्वेदो नाम सम्भवति ॥ २२॥

इस विषय में अनुवंशीय आर्याएँ भी हैं—

इष्टजन के वियोग, दरिद्रता, व्याधि तथा दूसरों की वृद्धि देखकर होने वाले दुःख से निर्वेद भाव उत्पन्न होता है ॥ २९ ॥

बाष्पपरिप्लुतनयनः पुनश्च निःश्वासदीन[3]मुखनेत्रः।
योगीव ध्यानपरो भवति हि निर्वेदवान्पुरुषः ॥ ३० ॥

निर्वेदयुक्त पुरुष की आँखे आँसुओं से लबालब होती हैं, वह लम्बी उसाँसे लेता है, उसके चेहरे और आँखों पर दीनता छायी होती है और वह योगी की तरह ध्यानस्थ-सा लगता है या ध्यान में मग्न दिखाई देता है ॥ ३० ॥

संसार के प्रति वैराग्य या अनास्था उत्पन्न करवाने मात्र से साधनभूत है और मोहजन्य भी अन्य दशाओं में होता है अतः संचारीभाव है। 'निर्वेद' का विशेष विवरण शान्तरस प्रकरण में (ना० शा० अ० ६) दिया चुका है।

---

१. इष्टजनविप्रयोगात्—ग०। २. परवृद्धि वा दृष्ट्वा—ग०।
३. दीर्घमुख—ग०।

[1]ग्लानि—

ग्लानिर्नाम—वान्तविरिक्तव्याधितपोनियमोपवासमनस्तापाति-शयपान-[1]मद्यसेवनातिव्यायामाध्व-गमनक्षुत्पिपासानिद्राच्छेदादिभि-र्विभावैः समुत्पद्यते। तस्याः क्षामवाक्यनयनकपोलोदरमन्द[2]पदोत्क्षेपण-वेपनानुत्साहतनुगात्रवैवर्ण्यस्वरभेदादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयो-क्तव्य।

उल्टी, जुलाब, व्याधि, तप, नियम, उपवास, मन का सन्ताप, अतिशय कामाभिभूतता, (छककर) मद्य-पान, अतिशयव्यायाम, दूर तक रास्ता चलना, क्षुधा, प्यास, निद्रा भंग आदि विभावों के द्वारा 'ग्लानि' की उत्पत्ति होती है। इसका अभिनय धीमी आवाज से बोलने, आँखों के कान्तिहीन होने, कपोलों के पीले पड़ जाने, धीरे-धीरे डग भरने, काँपने उत्साह हीनता बतलाने, शरीर के क्षीण होने, मुँह के उतरने और स्वर के भर्राने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाता है।

अत्रार्ये भवतः—

वान्त विरिक्तव्याधिषु[3] तपसा जरसा च जायते ग्लानिः।
कार्श्येन साभिनेया मन्दभ्रमणेन[4] कम्पनेन ॥ ३१ ॥
गदितैः क्षामक्षामैर्नेत्रविकारैश्च दीनसञ्चरैः।
श्लथभावेनाङ्गानां[5] मुहुर्मुहुर्निर्दिशेद् ग्लानिम् ॥ ३२ ॥

---

१. ग्लानि-यहाँ ग्लानि मानसिक स्थितियों की अपेक्षा शारीरिक स्थितियों से उत्पन्न भी निर्दशित की गयी है इसका कारण यह प्रतीत होता है कि शारीरिक स्थितियाँ मानसिक शिथिलता आदि को उत्पन्न कर देती हैं। पण्डितराज ने ग्लानि को मानसिक कष्ट तथा रोग आदि से उत्पन्न शारीरिक दुर्बलता माना है। कुछ प्राचीन आचार्यों (भरतमुनि नहीं) ने 'बलस्यापचयो ग्लानिराधिव्या-धिसमुद्भवः' ["अर्थात् मानसिक कष्ट और रोगों से उत्पन्न होने वाली शक्ति-हीनता का नाम 'ग्लानि' है" ।] माना है। यहाँ 'अपचय' शब्द बल के नाश को प्रतीत करवाता है अतः ऐसे कष्ट की अपेक्षा रोगजन्य निर्बलता से होनेवाली विवर्णता आदि दिखाई देने वाले भाव विशेष को 'ग्लानि' मानना चाहिए।

---

१. मदनसेवादिव्यायाम—घ०।
२. कपोलमन्दमन्दपदोपरामानुत्साहतनुगात्रवैवर्ण्यादिभिरनुभावै—ग०; पदोपक्रमानुत्साह—घ०।
३. वातविरिक्तव्याधि—ग०।
४. मन्दक्रमणानुकम्पेन—ग०।
५. श्लथभावाच्चाङ्गानां—घ०।

इस विषय में आर्याएँ हैं—

उल्टी, जुलाब लगने, बीमारी, तप और बुढ़ापे आदि से ग्लानि उत्पन्न होती है। इसका अभिनय कमजोरी, धीरे-धीरे चलने तथा शरीर के काँपने आदि के द्वारा किया जाए ॥ ३१ ॥

धीमी आवाज में टूटे शब्दों के बोलने, नेत्रों में कमजोरी, दीनभाव से संचरण तथा अंगों की शिथिलता के द्वारा ग्लानि का अभिनय होता है ॥ ३२ ॥

[1]शंका—

शङ्का नाम—सन्देहात्मिका स्त्रीनीचप्रभवा[1]। चौर्याभिग्रहण[2]-नृपापराधपापकर्मकरणादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तस्या मुहुर्मुहु-रवलोकनावगुण्ठन[3]मुखशोषणजिह्वापरिलेहनमुखवैवर्ण्य- (वैस्वर्य)-स्वरभेद-वेपथु-शुष्कौष्ठकण्ठावसादसाधर्म्या[4]दिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

'शंका' सन्देहात्मक स्वरूपवाली तथा स्त्री एवं नीचपात्रों में (रहने और उनसे) उत्पन्न होने वाली भी होती है। यह चोरी से सम्पत्ति ग्रहण करने, नृपापराध तथा पाप कर्म के करने आदि विभावों के द्वारा उत्पन्न होती है। इसका अभिनय बार-बार देखने, संकुचित होने (अवगुण्ठन), मुँह सूखने, ओठों को जीभ से चाटने, मुँह पर हवाई उड़ने (या उसके फीका पड़ने), स्वर के बदल जाने, कम्पन, ओंठ सूखने, कण्ठ से प्रयास करने पर भी शब्द न निकलने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए।

---

१. शङ्का—यह भाव सन्देह मूलक होता है और इसकी स्त्री तथा नीच प्रकृति के पात्रों में अधिक व्याप्ति देखी जाती है, यही दर्शाया गया है। शङ्का से भय आदि की उत्पत्ति होती है अतः कम्प आदि का यह कारण होती है परन्तु चिन्ता से भय आदि की उत्पत्ति नहीं होती यही इन दोनों में पार्थक्य है।

---

१. सन्देहात्मिका स्त्रीनीचप्रभवा इति-ग पुस्तके नास्ति; स्त्रीनीचानां-घ०।

२. चौर्याद्यभिग्रहण—ग०।

३. नावकुण्ठन—ख०; वकुण्ठित मुख—ग०।

४. कण्ठायाससाधर्म्या—ख०, कण्ठावसादादिभिरनुभावैरभिनीयते-घ०।

अत्र श्लोकः—

चौर्यादिजनिता शङ्का प्रायः कार्या भयानके।
प्रियव्यलीकजनिता तथा शृङ्गारिणी मता ॥ ३३ ॥

इस विषय में एक श्लोक है।

'शंका' को भयानक रस में प्रायः चोर से उत्पन्न होने वाली तथा शृङ्गार रस में प्रियतम के अप्रिय-आचरण से (प्रायः) होने वाली रखना चाहिए ॥

अत्राकारसंवरणमपि केचिदिच्छन्ति । तच्च कुशलैरुपाधिभिरिङ्गितैश्चोपलक्ष्यम् ।

कुछ आचार्यों के अनुसार इस स्थिति में आकार का छिपाना भी (एक विभाव) माना जाता है। उसे चातुर्य-पूर्ण क्रियाओं तथा चेष्टाओं द्वारा यहाँ प्रदर्शित करना चाहिए।

अत्रार्ये भवत :—

द्विविधा शङ्का कार्या ह्यात्मसमुत्था च परसमुत्था च।
या तत्रात्मसमुत्था सा ज्ञेया दृष्टिचेष्टाभिः ॥ ३४ ॥
किञ्चित्प्रवेपिताङ्गस्त्वधोमुखो[1] वीक्षते च पार्श्वानि।
गुरुसज्जमानजिह्वः श्यामास्य[2] शङ्कितः पुरुषः ॥ ३५ ॥

इस विषय में (दो) आर्याएँ (भी) हैं :—

शङ्का दो प्रकार की होती है—(१) आत्मसमुत्था तथा (२) परसमुत्था। इनमें प्रथम (आत्कसमुत्था शङ्का) का दृष्टि तथा चेष्टाओं से ज्ञान हो जाता है ॥ ३४ ॥

शङ्कित पुरुष के अंग कुछ-कुछ काँपते हैं, वह नीचा मुँह किये होता है और बगलियाँ झाँकता है, उसकी जिह्वा (जोरों से) अटकती है (सज्जमानजिह्वः) और मुँह काला पड़ जाता है ॥ ३५ ॥

असूया—

असूया नाम—नानापराधद्वेषपरैश्वर्यभाग्यमेधाविद्यालीला[3]दिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तस्याश्च परिषदि दोषप्रख्यापनं गुणोप-

१. किञ्चित्प्रवेपिताङ्गो मुहुर्मुहुर्वीक्षते—ग०; स्तथोन्मुखो वीक्षते—घ०।

२. श्लावास्यः—ग०; श्यावास्यः—घ०।

३. 'मेधा' इति—ग पुस्तके नास्ति।

घातेर्ष्याचक्षुःप्रदानाधोमुखभ्रुकुटीक्रियावज्ञानकुत्सनादिभिरनुभावैर-भिनयः प्रयोक्तव्यः ।

अनेक अपराध, द्वेष, अन्य व्यक्तियों की सम्पत्ति, सद्भाग्य, बुद्धिमत्ता, विद्यार्जन तथा क्रीड़ा (लीला) आदि के अवलोकन आदि विभावों से [1]'असूया' उत्पन्न होती है। इसका अभिनय सभा में दोषों की उद्घोषणा करना गुणों को दबाना या उपेक्षा करना, ईर्ष्या, नीचा मुख रखना, भ्रुकुटी चढ़ाना, अवज्ञा करना तथा अन्य व्यक्तियों की निन्दा या उनको गाली देना आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए।

अत्रार्ये भवतः—

परसौभाग्येश्वरतामेधालीलासमुच्छ्रयान्दृष्ट्वा ।
उत्पद्यते ह्यसूया कृतापराधो भवेद्यश्च ॥ ३३ ॥
भ्रुकुटिकुटिलोत्कटमुखैः[1] सेर्ष्याक्रोधपरिवृत्तनेत्रैश्च[2] ।
गुणनाशनविद्वेषैस्तत्राभिनयः[3] प्रयोक्तव्यः ॥ ३७ ॥

इस विषय में निम्न आर्याएँ हैं :—

दूसरे व्यक्ति के सौभाग्य, समृद्धि, बुद्धि, क्रीड़ा एवं उत्कर्ष को देख कर अपराधी मनुष्य के हृदय में 'असूया' उत्पन्न होती है ॥ ३६ ॥

भ्रुकुटी चढ़ाने, मुँह घुमाने (या टेढ़ा करने), मुँह ऊँचा करने, चेहरे की घबराहट, ईर्ष्या एवं क्रोध से मुँह फेरने, गुणों के नाश करने या उनसे घृणा करने आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए ॥ ३७ ॥

मद—

मदो नाम—मद्योपयोगादुत्पद्यते। स च त्रिविधः पञ्चविध-भावश्च ।

---

१. असूया—द्वेषादि से किसी के सद्गुण को सहन न करना 'असूया' है, इसमें सदा दूसरों के दोष ही देखे जाते हैं। 'असूया' में कभी विद्यमान तथा कभी अविद्यमान दोषों को देखा जाता है। यह भाव जब किसी के अपराध दर्शन से उद्भूत होता है तो इसमें क्रोध या उत्तेजना का थोड़ा मिश्रण या अंश रहता है।

---

१. कुटिलोत्कटमुख—ग० । २. वक्त्राद्यैः—ग० ।
३. रस्याभिनयः—घ० ।

मद्यपान से 'मद' उत्पन्न होता है। यह तीन प्रकार का तथा पाँच भावों से युक्त होता है।

अत्रार्या भवन्ति—

ज्ञेयस्तु[1] मदस्त्रिविधस्तरुणो मध्यस्तथावकृष्टश्च।
करणं पञ्चविधं स्यात्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥३८॥

इस विषय में ये आर्याएँ हैं—

'मद' तीन प्रकार का होता है। (१) तरुण, (२) मध्य तथा (३) अवकृष्ट। इसका अभिनय पाँच प्रकार के हेतुओं (भावों) के (प्रदर्शन) द्वारा प्रस्तुत करना चाहिए ॥ ३८ ॥

कश्चिन्मत्तो गायति रोदिति कश्चित्तथा हसति कश्चित्।
परुषवचनाभिधायी कश्चित्कश्चित्तथा स्वपिति ॥३९॥

इस मद से मत्त कोई पुरुष गाता, कोई रोता, कोई हँसता, कोई कठोर शब्दों (गालियों) को बकता तथा कोई सोता है ॥ ३९ ॥

उत्तमसत्वः शेते हसति च गायति च मध्यमप्रकृतिः।
परुषवचनाभिधायी रोदित्यपि चाधमप्रकृतिः ॥ ४० ॥

इसमें उत्तम प्रकृति का व्यक्ति सोता है, मध्यम प्रकृति हँसता और गाता है और अधमप्रकृति गाली बकता तथा रोता है ॥ ४० ॥

स्मितवदनमधुररागो हृष्टतनुः[2] किञ्चिदाकुलितवाक्यः।
सुकुमाराविद्धगतिस्तरुणमदस्तूत्तमप्रकृतिः ॥ ४१ ॥

---

१. मद—मद्यपान आदि के सेवन से 'मद' उत्पन्न होता है। साहित्यदर्पण के अनुसार सम्मोह और आनन्द की दशा में भी 'मद' होता है। इसमें मद्योपभोगादि आलम्बन विभाव होते हैं। इसके मनोरथों की प्राप्ति हो जाना, इष्ट-पदार्थ का दर्शन, गीत वाद्य तथा नृत्य का वर्णन या अनुष्ठान विभाव होते हैं। क्रोधपूर्ण वचन, घबड़ाहट पूर्ण संभाषण, प्रसन्न शरीर, स्खलित एवं ललित गति, नेत्रों का घूरना आदि अनुभाव होते हैं। रंगमञ्च पर मनोरंजनार्थ मद्यपान का अभिनय किया जाता है पर यदि कोई अभिनेता वास्तव में मद्यपान कर मञ्च पर 'मद' का अभिनय प्रस्तुत करने लगे तो उसका नशा भयादि उपायों से उतार देना चाहिए अन्यथा अभिनय में विघ्न हो सकता है।

---

१. त्रिविधश्च मदः कार्यस्तरुणो—घ०।

२. धृष्टतनुः—ग०।

उत्तम प्रकृति के मनुष्य में 'तरुणमद' होने पर (उसका) मुसकुराता हुआ मुँह, मधुर राग, प्रसन्न शरीर, (थोड़े) लड़खड़ाते शब्द, सुकुमार एवं तिरछी गति हो जाती है ॥ ४१ ॥

स्खलिताघूर्णितनयनः स्रस्तव्याकुलितबाहुविक्षेपः ।
कुटिलव्याविद्धगतिर्भवति[1] मदो मध्यमप्रकृतिः ॥ ४२ ॥

मध्यमप्रकृति के मनुष्य में मद होने पर (उसके) नेत्र घूमते हैं, (उसका) शरीर लड़खड़ाता है, (वह) बाहुओं को ढीला कर देता है या घबराकर उन्हें पटकने लगता है, और (उसकी) गति तिरछी तथा (पैरों के भूमि पर ठीक न टिकने से) अस्थिर हो जाती है ॥ ४२ ॥

नष्टस्मृतिर्हतगतिश्छर्दितहिक्काकफैः सुबीभत्सः ।
गुरुसज्जमानजिह्वो निष्ठीवति चाधमप्रकृतिः ॥ ४३ ॥

अधम-प्रकृति के मनुष्य में 'मद' होने पर (उसकी स्मृति नष्ट हो जाता है, गति रुक जाती है, यह उल्टी, हिचकी तथा कफ को मुँह से गिराने के कारण घिनौना हो जाता है, उसकी जीभ खिंचने लगती है तथा वह थूका करता है ॥ ४३ ॥

रङ्गे पिबतः कार्या मदवृद्धिर्नाट्ययोगमासाद्य ।
कार्यो मदक्षयो वै यः खलु पीत्वा प्रविष्टः स्यात् ॥ ४४ ॥

रङ्गमञ्च पर प्रवेश के उपरान्त मद्य पीने वाले पात्र की मदवृद्धि उसकी भूमिका के अनुसार रखनी चाहिये (अर्थात् उस का 'मद' मञ्च पर नाट्य-कथा के अनुरूप प्रदर्शित करना चाहिए ।) किन्तु जो पात्र मद्यपान करके मञ्च पर अभिनय हेतु प्रवेश करे उनका नशा उतार (या उतरवा) देना चाहिये ॥ ४४ ॥

सन्त्रासाच्छोकाद्वा भयात्प्रहर्षाच्च[2] कारणोपगतः ।
उत्क्रम्यापि[3] हि कार्यो मदप्रणाशः क्रमात्तज्ज्ञैः ॥ ४५ ॥
एभिर्भावविशेषैर्मदो द्रुतं सम्प्रणाशमुपयाति ।
अभ्युदयसुखैर्वाक्यैर्यथैव[4] शोकाः क्षयं यान्ति[5] ॥ ४६ ॥

---

१. मध्यमदो—ग० । २. प्रकर्षाच्च—घ० ।
३. भयप्रकर्षाच्च—ग० । ४. उद्यम्यापि—ग०
५. तथैव शोकः क्षयं याति—ग० ।

अनुभवी जन इस बढ़े हुए 'मद' को क्षीण करने के लिए क्रमशः त्रास, शोक, भय, हर्ष आदि कारणों को रखें। इस प्रकार की विशिष्ट अवस्था से शीघ्र वैसे ही मद उतर जाता है जैसे उन्नति तथा आनन्द के समाचार सुनने से शोक मिट जाता है ॥ ४५-४६ ॥

[1]श्रमः—

श्रमो नाम—अध्वव्यायाम[1]सेवनादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तस्य गात्रपरिमर्दनसंवाहननिःश्वसितविजृम्भितमन्दपदोत्क्षेपण[2]-नयनवदनविकूणन[3]सीत्कारादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

लम्बी यात्रा, व्यायाम, सेवन आदि विभावों के द्वारा 'श्रम' उत्पन्न होता है। शरीर के मालिश करने या दबाने, जोर-जोर से साँस लेने, जंभाई लेने (विजृम्भित), पैरों को धीमीगति से रखने, मुँह और आँखों को घुमाने (विकूणन) आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए।

अत्रार्या—

नृत्ताध्वव्यायामान्नरस्य[4] सञ्जायते श्रमो नाम।
निःश्वासखेदगमनैस्तयाभिनयः प्रयोक्तव्यः॥

इस विषय में एक आर्या है :—

नृत्त, लम्बी यात्रा तथा व्यायाम करने से मनुष्य के शरीर में 'श्रम' उत्पन्न हो जाता है। इसका अभिनय लम्बी साँस लेने तथा थकावट के कारण धीमि गति से चलने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए ॥ ४७ ॥

आलस्यः—

आलस्यं नाम—खेदव्याधिगर्भस्वभावाश्रमसौहित्यादिभि[5]-र्विभावैः समुत्पद्यते स्त्रीनीचानाम्। तदभिनयेत्सर्वकर्मानभिलापशय-ना[6]सननिद्रातन्द्रासेवनादिभिरनुभावैः।

---

१. श्रम—शारीरिक आयासों से उत्पन्न होने वाली थकावट या खेद को 'श्रम' कहा जाता है। श्रम बल के विद्यमान रहने पर भी होता है पर 'ग्लानि नहीं होती यही, दोनों में पार्थक्य है।

---

१. अध्वगतिव्यायाम—ग०। २. निःश्वसितमुखविकूणनजृम्भणाङ्ग-मर्द मन्दपादोत्क्षेपण—घ०। ३. विघूर्णन—घ०।
४. अध्वगतिव्यायामैर्नरस्य—ग०।
५. स्वभावखेदव्याधिसौहित्यगर्भादिभिः—घ०।
५. सर्वकर्म प्रद्वेषशयना—ग०।

[1]'आलस्य' की उत्पत्ति थकावट, व्याधि, गर्भावस्था, स्वभाव, श्रम, अतितृप्ति आदि विभावों के द्वारा होती है। यह स्त्री तथा नीच प्रकृति के पात्रों में उत्पन्न होता है। किसी भी कार्य में रुचि न लेने, बिछौने पर लेटने, बैठने, सोने तथा तन्द्रा युक्त रहने आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय किया जाता है।

अत्रार्या—

आलस्यं त्वभिनेयं खेदोपगतं स्वभावजं[1] **चापि।**
अहारवर्जितानामारम्भाणामनारम्भात् ॥ ४८ ॥

इस विषय में एक आर्या है—

'आलस्य' थकावट से उत्पन्न होता है तथा यह स्वाभाविक भी होता है। आहारपरित्याग तथा सभी आवश्यक कार्यों के आरम्भ न करने आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय किया जाता है ॥ ४८ ॥

दैन्य—

दैन्यं नाम—दौर्गत्यमनस्तापादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तस्याधृतिशिरोरोगगात्रगौरवान्यमनस्कतामृजापरिवर्जनादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

[2]दैन्य की उत्पत्ति दुर्गति तथा मानसिक सन्ताप आदि विभावों के द्वारा होती है। इसका अभिनय, धैर्य-त्याग (अधृति) शिरोपीड़ा

१. आलस्य—खेदादि के कारण चित्त का कार्य विमुख होजाना 'आलस्य' है। इस दशा में न अशक्ति होती है, न कर्तव्याकर्त्तव्य के ज्ञान का अभाव; अतः किसी कार्य के न करने आदि अनुभाव के समान रहने पर भी 'ग्लानि' तथा 'जडता' से इसका विभेद स्पष्ट है। 'आलस्य' श्रम से उत्पन्न होता है इसका आशय यह नहीं है कि 'श्रम' ही आलस्य का विभाव हो जाए क्योंकि यह अत्यन्त तृप्त होने आदि अनुभावों से भी उत्पन्न हो सकता है।

२. दैन्य—दुःख, दरिद्रता तथा अपराधादि से भी 'दैन्य' उत्पन्न होता है तथा इसमें स्वयं के विषय में हीनता का भाव तक उत्पन्न हो जाता है। दैन्य का अन्य लक्षण इस प्रकार है :—

१. खेदव्याधिस्वभावजं—ग०, घ०।
२. गात्रस्तम्भमनःस्तम्भ मृजा—ग०।

(सरदर्द), शरीर के भारी होने, अन्यमनस्कता तथा शुद्धता के (शरीर आदि की सफाई के) परित्याग आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए।

अत्रार्या—

चिन्तौत्सुक्यसमुत्था[1] दुःखाद्या भवति दीनता पुंसाम्।
सर्वमृजापरिहारैर्विविधोऽभिनयो भवेत्तस्य ॥ ४९ ॥

इस विषय में एक आर्या है—

चिन्ता, औत्सुक्य तथा दुःख आदि से मनुष्यों में 'दैन्य' भाव उत्पन्न होता है। सभी प्रकार की शुद्धता का निषेध आदि विविध अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए ॥ ४९ ॥

चिन्ता—

चिन्ता नाम—ऐश्वर्यभ्रंशेष्टद्रव्यापहारदारिद्र्यादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तामभिनयेन्निःश्वासितोच्छ्वसितसन्तापध्यानाधोमुखचिन्तनतनुकार्श्यादिभिरनुभावैः।

चिन्ता की उत्पत्ति, ऐश्वर्य नाश, अभीष्ट वस्तु की चोरी तथा दरिद्रता आदि विभावों से होती है। इसका अभिनय निःश्वास, उसाँस लेना, सन्ताप, ध्यानस्थ हो कर नीचा मुँह कर सोचना तथा शरीर का कृश होना आदि अनुभावों के द्वारा किया जाए।

चित्तौत्सुक्यान्मनस्तापाद्दौर्गत्याच्च विभावतः।
अनुभावात्तु शिरसोऽप्यावृत्तेर्गात्रगौरवात्।
देहोपस्करणत्यागात् दैन्यं भावं विभावयेत् ॥

चित्त की उत्सुकता, मनस्ताप, दरिद्रता आदि विभावों से और मस्तक कंपन, शरीर का भारीपन होना और शरीर के संस्कार का त्याग करना आदि अनुभाव से 'दैन्य' का ज्ञान करना चाहिए।

चिन्ता—वाञ्छित वस्तु के प्राप्त न होने तथा अनिष्ट वस्तु के प्राप्त हो जाने पर जो चित्तवृत्ति विशेष बनती है वही 'चिन्ता' है। प्रारब्ध की असिद्धि, इष्ट जन की अप्राप्ति तथा देश भ्रमण आदि इसके कारण होते हैं।

---

१. समुत्थाद् दुःखाद्वा दीनता भवेत् पुंसाम्—ग०।

अत्रार्ये भवतः—

ऐश्वर्यभ्रंशेष्टद्रव्यक्षयजा[1] बहुप्रकारा तु।
[2]हृदयवितर्कोपगता नृणां चिन्ता समुद्भवति ॥ ५० ॥

इस विषय में दो आर्याएँ हैं—

मनुष्यों में 'चिन्ता' कई प्रकार से उत्पन्न होती है। जैसे—ऐश्वर्य के नाश हो जाने, प्रिय वस्तु के चोरी या नाश हो जाने पर तथा हृदय में उत्पन्न होने वाली अनेक आशंकाओं के होने पर भी ॥५०॥

सोच्छ्वासैर्निःश्वसितैः सन्तापैश्चैव हृदयशून्यतया।
अभिनेतव्या चिन्ता मृजाविहीनैरधृत्या च ॥ ५१ ॥

उसाँस तथा साँस लेने, सन्ताप, हृदय-शून्यता होने, शरीर की उचित सफाई न करने तथा धैर्यहीनता आदि अनुभावों के द्वारा इस (चिन्ता) का अभिनय करना चाहिए ॥ ५१ ॥

[1]मोह—

मोहो नाम-दैवोपघातव्यसनाभिघातव्याधिभयावेगपूर्ववैरानुस्मरणादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तस्य निश्चैतन्यभ्रमण[3]पतनाघूर्णना[4]-दर्शनादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

मोह की उत्पत्ति आकस्मिक (दैवी) चोट लगने; दुःख, चोट, व्याधि-भय, आवेग, पूर्व-शत्रुता का स्मरण होने आदि विभावों से होती है। इसका निश्चेष्टता, चक्कर आना, गिरना, आँखे घुमाना तथा ठीक से न देखना आदि अनुभावों के द्वारा अभिनय करना चाहिए।

१.मोह—चित्त का दैवोपघातादि कारणों से अस्तव्यस्त हो जाना 'मोह' है। इसमें चेतनाहीन अवस्था भी हो जाती है तथा अन्तःकरण के शून्य होने से किसी परिचित व्यक्ति को पहचाना नहीं जा सकता। 'चिन्ता' या यह (मोह) परिणाम होता है अतः इसे (इसी कारण) चिन्ता से भिन्न समझना चाहिये।

---

१. ऐश्वर्येष्टद्रव्यापहारजनिता—ग०।
२. हृदयोत्सुक्योपगता चिन्ता तु नृणां समुद्भवति—ग०।
३. निश्चेष्टिताङ्गभ्रमण—ग०। ४. घूर्णनदर्शनादिभि—ग०।

अत्र श्लोकस्तावदार्या च—

अस्थाने तस्करान् दृष्ट्वा त्रासनैर्विविधैरपि[1]।
तत्प्रतीकारशून्यस्य मोहः समुपजायते ॥ ५२ ॥

इस विषय में एक श्लोक तथा एक आर्या है—

(श्लोक)—अतर्कित स्थान पर चोरों के देखने पर एवं विभिन्न त्रासों के प्राप्त होने तथा उनको रोकने में अक्षम होने पर 'मोह' उत्पन्न हो जाता है ॥ ५२ ॥

व्यसनाभिघातभयपूर्ववैरसंस्मरणरोगजो[2] मोहः।
सर्वेन्द्रियसम्मोहात्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥ ५३ ॥

व्यसन (दुःख) की आकस्मिक प्राप्ति होने पर, चोट, भय तथा पिछली शत्रुता के स्मरण से 'मोह' उत्पन्न होता है। सभी इन्द्रियों की शून्यता के प्रदर्शन द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए ॥ ५३ ॥

[1]स्मृति—

स्मृतिर्नाम—सुखदुःखकृतानां भावानामनुस्मरणम्। सा च स्वास्थ्यजघन्यरात्रिनिद्राच्छेदसमानदर्शनोदाहरणचिन्ताभ्यासादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तामभिनयेच्छिरःकम्पनावलोकन-भ्रूसमुन्नमनादिभिरनुभावैः[3]

सुख तथा दुःख से पूर्ण बीती घटनाओं का याद करना 'स्मरण या स्मृति' कहलाता है। यह स्वास्थ्य, रात्रि के पिछले प्रहर में निद्रानाश, समान व्यक्ति के दिखने तथा सम्भाषण करने, चिन्ता तथा अभ्यास आदि विभावों से उत्पन्न होती है। इसका अभिनय सिर के धुजाने, देखने, भौंहों के ऊपर चढ़ाने (या ऊँचा करने) आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए।

१.स्मृति—किसी समान पदार्थ के देखने आदि से पूर्वदृष्ट अर्थ का मन में जो संस्कार उद्बुद्ध हो जाता है वही 'स्मृति' कहलाता है। इनमें पहिले किसी ज्ञातवस्तु का पुनः ज्ञान होता है। मूल में दिया गया 'जघन्य' पद रात्रि का विशेषण है। जिसका अर्थ होगा रात्रि का अन्तिम या पिछला प्रहर। इसी समय निद्राभंग होने से स्मृतियाँ अधिक जाग्रत होती हैं।

---

१. त्रासनैर्वा पृथग्विधैः–ग०; घ०।
२. संस्मरणजो भवति मोहः–ग०; घ०।
३. भ्रूसममुन्नमनप्रहर्षादिभि—ग०।

आत्रर्यं भवतः—

[1]सुखदुःखमतिक्रान्तं तथा मतिविभावितं यथावृत्तम् ।
चिरविस्मृतं स्मरति यः स्मृतिमानिति वेदितव्योऽसौ ॥ ५४ ॥

जो व्यक्ति बुद्धिद्वारा विभावित अतीत के सुख दुःख का तथा भूली हुई बातों का स्मरण करता हो उसे 'स्मृतिमान्' मानना चाहिए ॥५४॥

स्वास्थ्याभ्याससमुत्था श्रुतिदर्शनसम्भवा स्मृतिर्निपुणैः ।
शिरउद्वाहनकम्पैर्भ्रूक्षेपैश्चाभिनेतव्या ॥ ५५ ॥

स्वास्थ्य, (निरन्तर) अभ्यास, श्रवण तथा दर्शन से 'स्मृति' उत्पन्न होती है । मस्तक उठाने, उसे कम्पाने तथा भौंहों को ऊपर उठाने (आदि) अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए ॥ ५५ ॥

[1]धृति :—

धृतिर्नाम—शौर्यविज्ञानश्रुतिविभवशौचाचारगुरुभक्त्यधिकमनोरथार्थलाभ[2]-क्रीडादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तामभिनयेत्प्राप्तानां विषयाणामुपभोगादप्राप्तातीतोपहतविनष्टानामननुशोचनादिभिरनुभावैः ।

धृति की उत्पत्ति शौर्य, विज्ञान, विद्या (शास्त्र ज्ञान), समृद्धि, पवित्रता, सदाचार (या सद्चरित्रता), गुरुजन में भक्ति, अधिक अर्थलाभ तथा क्रीड़ा, विनोद आदि विभावों के द्वारा होती है । इसका अभिनय सम्प्राप्त सुखों का उपभोग, अप्राप्त, अतीत तथा विनष्ट सुखों के प्रति शोक न करने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए ।

अत्रार्यें भवतः—

विज्ञानशौचविभवश्रुतिशक्तिसमुद्भवा धृतिः सद्भिः ।
भयशोकविषादाद्यै रहिता तु सदा प्रयोक्तव्या ॥ ५६ ॥

---

१. धृति—(इस चित्तवृत्ति में) शोक, भय और लोभ से होने वाले उपद्रव ज्ञान, शक्ति और सन्तोष से शान्त कर दिये जाएँ तो वह भी 'धृति' कहलाती है । यह सन्तोषस्वरूपा होती है ।

---

१. अत्र श्लोकार्ये भवतः—सुखदुःखमतिक्रान्तं तथा मतिविभावितम् ।
विस्मृतञ्च यथावृत्तं स्मरेद्यः स्मृतिमानसौ ॥—ग० ।

२. भक्त्यधिकार्थलाभ—ग० ।

इस विषय में दो आर्याएँ हैं :—

विज्ञान, शौच (पवित्रता), वैभव, श्रुति तथा शक्ति से 'धृति' उत्पन्न होती है। इसका भय, शोक तथा विषाद से रहित अनुभावों के द्वारा अभिनय किया जाए ॥ ५६ ॥

प्राप्तानामुपभोगः शब्दस्पर्श[1]रूपरस[1]गन्धानाम् ।
[2]अप्राप्तैश्च न शोको यस्यां हि भवेद्धृतिः सा तु ॥ ५७ ॥

जिसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के प्राप्त होने पर उसका उपयोग किया जाता हो तथा उनके न प्राप्त होने पर (भी) जब शोक न होता हो तो उस दशा को 'धृति' जानो ॥ ५७ ॥

[1]व्रीडा:—

व्रीडा नाम—अकार्यकरणात्मिका। सा च गुरुव्यतिक्रमणा-[3]वज्ञानप्रतिज्ञानिर्वहणपश्चात्तापादिभिर्विभावादिभिः समुत्पद्यते। तां निगूढवदनाधोमुख-विचिन्तनोर्वीलेखन-वस्त्राङ्गुलीयकस्पर्शन[4]नख-निकृन्तनादिभिरनुभावैर[5]भिनयेत् ।

अकार्यों (अयोग्य या अनुचित कार्यों) के करने की वृत्ति मूलतः 'व्रीडा' में होती है। यह गुरुजन की आज्ञाओं (या स्थिति) के उल्लंघन, अपमान, प्रतिज्ञा की अपूर्णता तथा पश्चात्ताप आदि विभावों के द्वारा उत्पन्न होती है। इसका अभिनय मुँह छिपाने, सर झुकाकर विचार करने, पृथ्वी पर लिखने, वस्त्र और अंगूठी को पलेटने, पृथ्वी को नख से कुरेदने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए।

अत्रार्ये भवतः—

किञ्चिदकार्यं कुर्वन्नेवं यो[6] दृश्यते शुचिभिरन्यैः ।
पश्चात्तापेन व्रीडित इति वेदितव्योऽसौ ॥ ५८ ॥

---

१. व्रीडा—अपने द्वारा किये गये दुराचरण (अकार्य या अनुचित कार्य) से 'व्रीडा' उत्पन्न होती है। यह चित्तवृत्ति भरतोक्त विभावों से उत्पन्न होती है। इसमें पश्चात्ताप आदि मानसज्ञान भी होते हैं ।

---

१. रसरूप—घ० ।
२. अप्राप्ते न हि शोको—ग०, अप्राप्तौ; न हि—घ० ।
३. प्रतिज्ञानानिर्वहणकृतप्रत्यादिष्टपश्चात्तापादिभिर्विभावैरुत्पद्यते—ग० ।
४. संस्पर्शन—ग० । ५. नखनिस्तोदनादिभि—ख० ।
६. यो हि नरो—ग० ।

इस विषय में निम्न दो आर्याएँ हैं :—

जब कोई अकर्मण्य व्यक्ति अन्य पवित्र या निर्दोष पुरुषों को दिखाई देता है और वह (अपनी स्थिति को) उन व्यक्तियों के द्वारा जान लेने पर पश्चात्ताप करता है तो उसे 'व्रीडा (भाव) से युक्त समझना चाहिए ॥ ५८ ॥

लज्जानिगूढवदनो भूमिं विलिखन्नखांश्च[1] विनिकृन्तन् ।
वस्त्राङ्गुलीयकानां संस्पर्शं व्रीलितः कुर्यात् ॥ ५९ ॥

व्रीडायुक्त पुरूष लज्जा के कारण मुँह नीचा किए रहता है । वह पृथ्वी पर हाथ या नख से कुरेदता है तथा वस्त्र (के कोने) और अंगुठी को बार-बार स्पर्श करता है ॥ ५९ ॥

[1]चपलता—

चपलता नाम—रागद्वेषमात्सर्यामर्षेर्ष्याप्रतिकूलादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते[2] । तस्याश्च वाक्पारुष्यनिर्भर्त्सन[3]वधबन्धसम्प्रहारताडना दिभि[4]रनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

'चपलता' राग, द्वेष, क्रोध, ईर्ष्या तथा विरोध या प्रतिकूलता आदि विभावों के द्वारा उत्पन्न होती है । इसका अभिनय कठोर शब्दों के कहने, डाँटने, मारने, बाँधने, प्रहार करने, पीटने (ताडन) और अनुभावों के द्वारा करना चाहिए ।

आत्रार्या भवति—

अविमृश्य तु यः कार्यं पुरुषो वधताडनं[5] समारभते ।
अविनिश्चितकारित्वात्स तु खलु चपलो बुधैर्ज्ञेयः ॥ ६० ॥

इस विषय में एक आर्या है :—

जो व्यक्ति बिना विचार के किसी का वध या ताडन कर डालता है तो उसे बिना निश्चय के कार्य करने के कारण 'चपल' कहा जाता है ॥ ६० ॥

---

१. चपलता—यह बिना सोचे विचारे काम करने वाली वृत्ति होती है । इसमें भावना के आवेग की अधिकता रहने से विचार की शक्ति अवरुद्ध हो जाती है । यह अमर्ष आदि से उत्पन्न होने से कार्य रूप होने के कारण 'अमर्ष' नाम संचारी भाव से स्वतः भिन्नता रखती है ।

---

१. नखैश्च—ग० । २. रुत्पद्यते—ग० ।
३. वाक्पारुष्यादिभर्त्सन—ग० । ४. ताडनज्ञापनादिभि—ग० ।
५. वधबन्धनादिकं—ग० ।

[1]हर्ष—

हर्षो नाम—मनोरथ-लाभेष्टजनसमागमनमनः-परितोषदेवगुरु-राजभर्तृप्रसादभोजनाच्छादनधनलाभोपभोगादिर्विभावैः समुत्पद्यते। तमभिनयेन्नयनवदनप्रसादप्रियभाषणालिङ्गनकण्टकितपुलकितास्रस्वे[1]-दादिभिरनुभावैः।

'हर्ष' का उद्भव मनोरथों की पूर्ति, इष्ट या प्रिय व्यक्ति का मिलन, मानसिक तुष्टि, देव, गुरु, राजा तथा स्वामी की कृपा, श्रेष्ठ भोजन, वस्त्र तथा सम्पत्ति की प्राप्ति तथा उसका उपभोग आदि विभावों से होता है। इसका अभिनय नेत्र तथा मुँह की रौनक (प्रसादन) प्रिय-भाषण, आलिङ्गन, रोमांच, अश्रुपतन तथा स्वेद आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए।

अत्रार्ये भवतः

अप्राप्ये प्राप्ये वा लब्धेऽर्थे प्रियसमागमे वाऽपि।
हृदयमनोरथलाभे हर्षः सञ्जायते पुंसाम्॥ ६१॥

१. हर्ष—इष्ट वस्तु की प्राप्ति आदि से चित्त में जो एक प्रसन्नता या विकास का भाव होता है वही चित्तवृत्ति 'हर्ष' कहलाती है। कुछ आचार्य मनोरथ आदि के पूर्ण होने की सम्भावना या प्राप्ति की दशा में भी हर्ष को मानते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने हर्ष के विषय में एक प्राचीन मत इस प्रकार उद्धृत किया है —

"देवभर्तृगुरुस्वाभिप्रसादः प्रियसङ्गमः।
मनोरथाप्तिरप्राप्यमनोहरधनागमः॥
तथोत्पत्तिश्च पुत्रादेर्विभावो यत्र जायते।
नेत्रवक्तृप्रसादश्च प्रियोक्तिः पुलकोद्गमः॥
अश्रुस्वेदादयश्चानुभावा हर्षं तमादिशेत्॥
(र० ग० नि० सा० संस्क० पृ० ९४)

अर्थात् देवता, गुरु और स्वामी की प्रसन्नता, इष्ट समागम, मनोरथ की पूर्ति, दुर्लभ एवं विलोभनीय सम्पत्ति की उपलब्धि, पुत्र आदि का जन्म जिसके विभाव होते हैं तथा नेत्र एवं मुख की प्रसन्नता, प्रियवचन, रोमाञ्च, अश्रु तथा स्वेद आदि जिसमें अनुभाव होते हैं उसे 'हर्ष' कहते हैं।

१. कण्टकितास्रस्वेदोद्गमललितताडनादिभि—ग०।

इस विषय में दो आर्याएँ हैं :—

'हर्ष' मनुष्य में तब उत्पन्न होता है जब अप्राप्य या प्राप्य वस्तु की प्राप्ति, प्रिय समागम अथवा अभिलषित मनोरथ की प्राप्ति हो (जाए) ॥ ६१ ॥

नयनवदनप्रसादप्रियभाषालिङ्गनैश्च रोमाञ्चैः ।
ललितैश्चाङ्गविहारैः स्वेदाद्यैरभिनयस्तस्य ॥ ६२ ॥

नेत्र तथा चेहरे के खिलने, प्रिय भाषण, आलिङ्गन, रोमांच, शरीर के अवयवों का सुन्दरता से घुमाना (ललिताङ्गविहार) तथा स्वेद आदि के द्वारा (इस) 'हर्ष' का अभिनय करना चाहिए ॥ ६२ ॥

आवेग—

आवेगो नाम—उत्पातवातवर्षाग्निकुञ्जरोद्भ्रमणप्रियाप्रियश्रवणव्यसनाभिघातादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तत्रोत्पातकृतो नाम विद्युदुल्कानिर्घातप्रपतनचन्द्रसूर्योपरागकेतुदर्शनकृतः ।[1] तमभिनयेत्सर्वाङ्गस्रस्ततावैमनस्य[2]मुखवैवर्ण्यविषादविस्मयादिभिः । वातकृतं पुनरवगुण्ठनाक्षिपरिमार्जन[3]वस्त्रसङ्गूहनत्वरितगमनादिभिरनुभावैः । वर्षकृतं पुनः सर्वाङ्गसम्पिडनप्रधावनच्छन्नाश्रय[4]मार्गणादिभिः अग्निकृतं तु धूमाकुलनेत्रताऽङ्गसङ्कोचनविधूननातिक्रान्तादिभिः । कुञ्जरोद्भ्रमणकृतं नाम त्वरितापसर्पणचञ्चलगमनभयस्तम्भवेपथुपश्चादवलोकनविस्मयादिभिः । प्रियश्रवणकृतं नामाभ्युत्थानालिङ्गनवस्त्राभरणप्रदानाश्रुपुलकितादिभिः[5] । अप्रियश्रवणकृतं नाम[6] भूमिपतनविषमविवर्तनपरिधावनविलापनाक्रन्दादिभिः । प्रकृतिव्यसनकृतं[7] नाम सहसापसर्पण[8]शस्त्रचर्मवर्मधारणगजतुरगरथारोहणसम्प्रहारणादिभिः ।

१. दर्शनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते—ग० ।
२. सर्वाङ्गस्रस्तविषण्णवैमनस्य—ग० । ३. नाक्षिमर्दन—ग० ।
४. छन्नाश्रय—ख०, छन्नाश्रयणादि—घ० ।
५. प्रोद्यताश्रुपुलकादिभिः—ग० ।
६. भूमिपतनपरिदेवितविषमपरिवर्तिकपरिधावितविलापरुदितादिभिः-ग०, घ० । ७. व्यसनाभिघातकृतं तु—ग० । ८. सहसापक्रमण—ग० ।

उत्पात, हवा, वर्षा, अग्नि, हाथी का उत्पात, प्रिय या अप्रिय वृत्त का श्रवण, विपत्ति तथा प्रहार आदि विभावों से 'आवेग' की उत्पत्ति होती है। (अब क्रमशः) इन कथित कारणों से उत्पन्न होने वाले आवेगों में उत्पात से होने वाला आवेग—विजली या उल्काओं का घात, तारों का टूटना, सूर्य तथा चन्द्रग्रहण तथा केतु-दर्शन आदि विभावों से उद्भूत होता है। इस आवेग का प्रदर्शन सभी अंगों की शिथिलता, मनकी खिन्नता (अस्थिरचित्त), चेहरे का उतरना, विषाद तथा विस्मय आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए। बात से उत्पन्न आवेग का प्रदर्शन मुँह ढँकने, आँखें मलने, वस्त्रों को समेटने तथा शीघ्र चलने आदि अनुभावों से होता है। वर्षा से उत्पन्न आवेग का अभिनय शरीर के सभी अंगों के सिकुड़ाने, दौड़ने, छाया वाले प्रदेश के देखने, ढूँढ़ने आदि अनुभावों से होता है। अग्नि से उत्पन्न आवेग का अभिनय धूएँ से घबराई आँखों, अंगों के सिकुड़ाने या भुकाने, धुएँ को झाड़ने या हाथों से हटाने, शीघ्रता से उछलने या पीछे हटनें (अपक्रान्त) आदि अनुभावों से होता है। हाथी के उपद्रव से उत्पन्न आवेग का अभिनय शीघ्रता से भागने, चपल गति, भय, स्तम्भ, कम्पन, घूमकर पीछे देखने तथा विस्मय आदि-आदि अनुभावों से होता है। प्रिय श्रवण से उत्पन्न आवेग का अभिनय अगवानी करने, आलिंगन करने, वस्त्र तथा अलंकारों को देने, हर्षाश्रु तथा रोमांच आदि अनुभावों से करना चाहिए। अप्रिय श्रवण से उत्पन्न आवेग का अभिनय पृथ्वी पर गिरने विषमभूमि पर लोटने, भागने, विलाप करने, रोने, चिल्लाने आदि अनुभावों से होता है। प्रकृतिव्यसन— प्रसिद्ध या (प्रकृति द्वारा होने वाला कष्ट) से उत्पन्न आवेग का अभिनय सहसा (आगे आने) दौड़ने, शस्त्र तथा कवचों के धारण हाथी, घोड़ा, रथ पर चढ़ने तथा प्रहार करने आदि अनुभावों से होता है।

[1]एवमष्टविकल्पोऽयमावेगः सम्भ्रमात्मकः।
स्थैर्येणोत्तममध्यानां नीचानां चापसर्पणैः[2] ॥ ६२ ॥

इस प्रकार सम्भ्रमात्मा यह 'आवेग'[1] आठ प्रकार का होता है। इसमें

१. आवेग—अनर्थाधिक्य से उद्भुत होने वाली संभ्रमात्मा चित्तवृत्ति 'आवेग' कहलाती है। भरतमुनि ने इसके आठ हेतु उपस्थित करते हुए अलग-अलग उनके लक्षण देकर 'आवेग' के आठ भेद भी बतलाये हैं।

१. इत्येषोष्टविधो ज्ञेयः—ग०। २. चापसर्पणात्—ग०।

उत्तम तथा मध्यम प्रकृति के व्यक्ति स्थैर्ययुक्त तथा अधमप्रकृति के व्यक्ति भागने वाले होते हैं ॥ ६३ ॥

अत्रार्ये भवतः—

अप्रियनिवेदनादिश्रवणादवधारितवचनस्य[1] ।

शस्त्राक्षेपात्त्रासादावेगो नाम सम्भवति ॥ ६४ ॥

इस विषय में दो आर्याएँ भी हैं :—

आवेग की उत्पत्ति अप्रिय समाचार को सुनकर, सहसा वचनों के उच्चारण एवं शस्त्रों के प्रहार तथा त्रास से होती है ॥ ६४ ॥

अप्रियनिवेदनाद्यो विषादभावाश्रयोऽनुभावोऽस्य ।

[3]सहसारिदर्शनाच्चेत्प्रहरणपरिघट्टनैः[4] कार्यः ॥ ६५ ॥

अप्रिय समाचार से उत्पन्न आवेग होने पर—उसमें विषाद, सहसा शत्रु का दिखाई देना आदि होते हैं। इसका अभिनय शस्त्रों के प्रहार तथा टक्कर देना आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए ॥ ६५ ॥

[1]जड़ता—

जडता नाम—सर्वकार्याप्रतिपत्तिः इष्टानिष्टश्रवणदर्शनव्याध्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तामभिनयेदकथनाभिभाषण[5]–तूष्णीम्भावानिमेषनिरीक्ष[6]णपरवशत्वादिरनुभावैः ।

सभी कार्यों में प्रवृत्ति न होना 'जड़ता' कहलाता है। यह इष्ट या अनिष्ट वस्तु के दर्शन, श्रवण अथवा व्याधि आदि विभावों से उत्पन्न होती है।

---

१. जड़ता—मन के शिथिल हो जाने पर योग्य कार्यों के अनुसन्धान से हीन जो चित्तवृत्ति बनती है वही 'जड़ता' है। इसमें किसी भी कार्य को करने की प्रवृत्ति नहीं होती। 'मोह' में वस्तु के नेत्रादि से देखने आदि के कार्य नहीं हो पाते हैं परन्तु इस भाव में वस्तु के दर्शन आदि तो होते हैं पर उनका विशेष रूप में परिचय या परिज्ञान नहीं हो पाता। अर्थात् न जानना मोह और यथातथ्य रूप में वस्तु का अज्ञान 'जड़ता' है। यही दोनों भावों में पार्थक्य है।

---

१. निवेदनाद्वा सहसा ह्यभिधारितारिवचनेन—क० ।
२. शस्त्रक्षेपत्रासा—ग० । ३. सहसा निदर्शनं चेत्—ग० ।
४. परिघट्टनं कार्यम्—ग० । ५. कथनाभाषणतूष्णीं—ग० ।
६. भावाप्रतिभनिमेषनिरीक्षण—ग० ।

(पूछने पर) कुछ भी न कहने (अकथन) मौन रखने, अपलक देखते रहने तथा पराधीन होने आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए।

अत्रार्या भवति—

इष्टं वाऽनिष्टं या सुखदुःखे[1] वा न वेत्ति यो मोहात्।
तूष्णीकः परवशगो भवति स जडसंज्ञितः[2] पुरुषः॥

जो मनुष्य मोहवश इष्ट या अनिष्टकारी वस्तु तथा अच्छे (सुख) और बुरे के भेद को (दुःख) को नहीं जानता तो चुप चाप और पराधीन ऐसे व्यक्ति को 'जड़' कहते हैं॥ ६६॥

[1]गर्व :—

गर्वो नाम—ऐश्वर्यकुलरूपयौवनविद्या-बलधनलाभादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तस्यासूयावज्ञाधर्षणा[3]नुत्तरदानासम्भाषणाङ्गावलोकन[4]-विभ्रमापहसनवाक्पारुष्य-गुरुव्यतिक्रमणाधिक्षेपवचनविच्छेदादिभि-रनुभावै[5]रभिनयः प्रयोक्तव्यः।

ऐश्वर्य, उच्चकुल, रूप, यौवन, विद्या, बल तथा (आकस्मिक) धन-लाभ आदि विभावों से 'गर्व' उत्पन्न होता है। इसका अभिनय असूया, अवज्ञा, (अनादर) दूसरों को टक्कर देना या पीसना (आघर्षण), उत्तर न देना, न बोलना, अपनी बाजू आदि अङ्गों को देखना, उतावलापन बतलाना (विभ्रम), हँसी उड़ाना, कड़े शब्द बोलना, पूज्यजन (की मर्यादा) का अतिक्रमण करना एवं उनका अपमान करना तथा संभाषण बन्द करना (या व्यङ्ग करना) आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए।

अत्रार्या भवति—

[6]विद्यावाते रूपादैश्वर्यादथवा धनागमाद्वापि।
गर्वः खलु नीचानां दृष्ट्यङ्गविचालनैः[7] कार्यः॥ ६७॥

---

१. गर्व—ऐश्वर्य, रूप, विद्यादि के कारण अपना उत्कर्ष बतलाना या दूसरों की अवज्ञा करना और अपने को बड़ा मान लेना ('आधिक्यधीः') 'गर्व' नामक संचारी भाव है।

---

१. सुखदुःखं—ग०। २. संज्ञकः—ग०।
३. तस्यावज्ञाधर्षणा—ग०। ४. णांसावलोकन—ग०।
५. धिक्षेपादिभिरनुभावै—ग०। ६. विद्यायौवनरूपादैश्च—ग०।
७. विचारणैः—ग०।

इस विषय में एक आर्या है :—

विद्या की प्राप्ति, रूप, वैभव, तथा धन आदि के (आकस्मिक) लाभ से नीचप्रकृति के पुरुषों में गर्व उत्पन्न होता है। दृष्टि तथा शरीरावयों के चालन द्वारा इसे अभिनीत करना चाहिए॥ ६७॥

[1]विषाद :—

विषादो नाम—कार्यानिस्तरण[1]दैवव्यापत्तिसमुत्थः। तमभिनयेत्सहायान्वेषणोपायचिन्तिनोत्साहविघातवैमनस्यनिःश्वसितादिभिरनुभावैरुत्तममध्यमानाम्। अधमानां तु विपरिधावनालोकनमुखशोषणसृक्कपरिलेहननिद्रानिःश्वसितध्यानादिभिरनुभावैः।

प्रारम्भ किये हुए कार्य के समान न होने तथा दैव की प्रतिकूलता रहने से 'विषाद' उत्पन्न होता है। उत्तम तथा मध्यम प्रकृति के पात्रों में सहायक ढूँढने, उपाय सोचने, उत्साह नाश, चित्त में मलिन होने तथा दीर्घ निःश्वास लेने आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय किया जाय तथा अधम-प्रकृति के व्यक्तियों में (स्थित) विषाद का अभिनय दूर भागने, नीचे देखने, मुँह सूखने, ओंठ चाटने, सोने, दीर्घ उसाँसे भरने तथा ध्यान करने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाए।

अत्रार्याश्लोकौ—

कार्यानिस्तरणाद्वा[2] चौर्याभिग्रहणराजदोषाद्वा।
[3]दैवादर्थविपत्तेर्भवति विषादः सदा पुंसाम्॥ ६८॥

इस विषय में एक आर्या तथा श्लोक है :—

प्रारम्भ किये हुए कार्य के न निपटने, चोरी के कारण बन्धन प्राप्त

---

१. विषाद—वाञ्छित सिद्धि के न होने से चित्त में जो एक अनुत्साह का प्रसार हो जाता है वही खिन्नता 'विषाद' है। इससे पश्चात्ताप आदि भी होते हैं। यहाँ कार्यानिस्तरण का अर्थ है प्रारम्भ किये गये कार्य को पूरा न कर पाना या कार्य का निर्वाह न कर पाना। दैव व्यापत्ति का अर्थ है दैवात् प्राप्त कष्ट या भाग्य की प्रतिकूलता। विपरिधावन का अर्थ है दूर भागना।

---

१. कार्यारम्भानिस्तरण—ग०, घ०।

२. कार्यानिस्तरणकृतशौर्यादिग्रहण—ग०, घ०।

३. दैवादिष्टो योऽर्थस्तदसम्प्राप्तौ विषादः स्यात्—ग०, घ०।

करने, सम्पत्ति ले, राजा के द्वारा क्षति पहुँचाने तथा दुर्भाग्य के कारण अर्थनाश होने से 'विषाद' उत्पन्न होता है ॥ ६८ ॥

[1]वैचित्र्योपायचिन्ताभ्यां कार्यमुत्तममध्ययोः ।
निद्रानिःश्वसितध्यानैरधनमानां तु योजयेत्[2] ॥ ६९ ॥

इस विषाद को उत्तम तथा मध्यम प्रकृति के पात्रों में विभिन्न उपायों के चिन्तन द्वारा तथा अधम प्रकृति के मनुष्यों में निद्रा, दीर्घ निःश्वास तथा ध्यान करने आदि के अनुभावों के द्वारा अभिनीत करना चाहिए ॥६९॥

[1]औत्सुक्य—

औत्सुक्यं नाम—इष्टजनवियोगानुस्मरणोद्यानदर्शनादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तस्य दीर्घनिःश्वसिताधोमुखविचिन्तननिद्रातन्द्रीशयनाभिलाषादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

प्रियजन के वियोग एवं उनकी याद आना तथा उद्यान दर्शन आदि से 'औत्सुक्य' उत्पन्न होता है । दीर्घनिःश्वास, नीचा मुँह कर सोचने, निद्रा, तन्द्रा तथा भूमि पर लेट जाने की अभिलाषा करने आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए ।

अत्रार्या भवति—

इष्टजनस्य वियोगादौत्सुक्यं जायते ह्यनुस्मृत्या ।
चिन्तानिन्द्रातन्द्रीगात्रगुरुत्वैरभिनयोऽस्य ॥ ७० ॥

---

१. औत्सुक्य—अभीष्ट वस्तु या कार्य की तात्कालिकपूर्ति करने की अभिलाषा भी 'औत्सुक्य' कहलाती है । अर्थात् इष्ट के प्रति शीघ्रता से अभिमुख होना 'औत्सुक्य' है । पण्डितराज द्वारा दिया गया औत्सुक्य का निम्न लक्षण भी भरत के अनुरूप है । यथा :—

'सञ्जातमिष्टविरहादुद्दीप्तं प्रियसंस्मृतेः ।
निद्रया तन्द्रया गात्रगौरवेण च चिन्तया ॥
अनुभावितमाख्यातमौत्सुक्यं भावचिन्तया ।" [र० गं० नि० ला० पृ० ११२]

अर्थात् इष्टजन के विरह से उत्पन्न होने वाला और प्रियजन की स्मृति से उद्दीप्त होने वाला भाव 'औत्सुक्य' है । इसके अनुभाव हैं—निद्रा, आलस्य, शरीर का भारीपन और चिन्ता करना ।

---

१. विचित्रो—ग० । २. दर्शयेत्—घ० ।

इस विषय में एक आर्या है :—

इष्टजन के बिछुड़ने तथा उनकी याद आने से 'औत्सुक्य' उत्पन्न होता है। चिन्ता, निद्रा, तन्द्रा तथा शरीर के भारीपन द्वारा इसे अभिनीत करना चाहिए ॥ ७० ॥

[1]निद्रा—

निद्रा नाम—दौर्बल्यश्रमक्लममदालस्य[1]चिन्ताऽत्याहारस्वभावादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तामभिनयेद्वदनगौरवशरीरावलोकननेत्रघूर्णनगात्रविजृम्भणमान्द्योच्छ्वसित[2]सन्नगात्रताक्षिनिमीलनादिभि[3]रनुभावैः।

दुर्बलता, श्रम, मद, आलस्य, (अतिशय) चिन्ता, अति आहार तथा स्वभाव आदि विभावों से 'निद्रा' उत्पन्न होती है। (शरीर के) मुँह के भारीपन, शरीर के लोटाने, नेत्रों को घुमाने, अँगड़ाई लेने, गहरी साँस लेने, शरीर के सुन्न हो जाने तथा आँखें बन्द करने आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय किया जाए।

अत्रार्ये भवतः—

आलस्याद्दौर्बल्यात्क्लमाच्छ्रमाच्चिन्तनात्स्वभावाच्च।
रात्रौ जागरणादपि निद्रा पुरुषस्य सम्भवति ॥ ७१ ॥

इस विषय में दो आर्याएँ हैं :—

आलस्य, दुर्बलता, क्लेश, (अतिशय) श्रम, चिन्तन, स्वभाव तथा रात्रि में जागरण के कारण मनुष्य को 'निद्रा आती है ॥ ७१ ॥

[4]तां मुखगौरवगात्रपरिलोडन·नयनमीलनजडत्वैः।
जृम्भणगात्रविमर्दैरनुभावैरभिनयेत्प्राज्ञः[5] ॥ ७२ ॥

१. निद्रा—श्रम आदि के कारण इन्द्रियों के व्यापार की विरति 'निद्रा' है। (मूल के) व्यापारविरति का आशय यह है कि इस समय ज्ञानेन्द्रियाँ विषय ग्रहण से हट जाती हैं परन्तु मन का व्यापार निद्राजाल में भी होता रहता है।

१. श्रममदालस्य—ग०।
२. गात्रपरिलोडननेत्रविघूर्णनजृम्भणगात्रविमर्दनोच्छ्वसित—ग०।
३. निमीलनसम्मोहनादिभि—ग०।
४. तस्या मुखगौरवगात्रैनयननिमीलनविघूर्णनजडत्वैः—ग०।
५. रभिनयः प्रयोक्तव्यः—ग०।

इस (निद्रा) का अभिनय चेहरे के भारीपन, शरीर के हिलाने डुलाने, आँखों को बन्द करने, जड़ता, जम्भाई लेने तथा शरीर के दबाने (मर्दन करने) आदि अनुभावों से किया जाए ॥ ७२ ॥

[1]अपस्मार :—

अपस्मारो नाम—[1]देवयक्षनागब्रह्मराक्षसभूतप्रेतपिशाचग्रहणानु[2]स्मरणोच्छिष्ट शून्यागारसेवनाशुचिकालान्तरापरिपतनव्या[3]ध्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तस्य स्फु[4]रितनिःश्वसितोत्कम्पितधावपतनस्वेदस्तम्भनवदनफेन[5]जिह्वापरिलेहनादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

देव, यक्ष, नाग, ब्रह्मराक्षस, भूत, प्रेत तथा पिशाच के लगने तथा उनके स्मरण हो जाने, उच्छिष्ट भोजन तथा शून्य भवन के सेवन करने, अपवित्र एवं दुर्गम अरण्यमार्ग पर चलने और धातु की विषमता आदि विभावों के कारण 'अपस्मार' उत्पन्न होता है । इसका अभिनय कम्पन, निश्वास निकालने, जोर से धूजने, दौड़ने, गिरने, स्वेद, (जड़वत) स्थिर हो जाने (स्तम्भन) मुँह में झाग आ जाने, हिचकी तथा जीभ चाटने आदि अनुभवों के द्वारा किया जाता है ।

अत्रार्यं भवतः—

भूतपिशाचग्रहणानुस्मरणोच्छिष्टशून्यगृहगमनात् ।
कालान्तरातिपातादशुचेश्च[6] भवत्यपस्मारः ॥ ७३ ॥

---

१. अपस्मार—यह एक व्याधि के रूप में होता है जिसे मिर्गी कहते हैं परन्तु यहाँ इसे एक आवेशात्मक भाव मानकर प्रस्तुत किया गया है । इसका विशेष रूप से उल्लेख इस बात को समझाने के लिये किया है कि बीभत्स और भयानक रसों की यही व्याधि अंग होती है और विप्रलम्भ शृङ्गार की अन्य व्याधियाँ भी अंग हो सकती हैं ।

१. देवनागयक्षपिशाचादीनां ग्रहणाद्—ग० ।
२. अनुस्मरणाद्—ग० । ३. धातुवैषम्यादिभि—ग० ।
४. दुरितकम्पिनिःश्वसित—ग० । ५. हिक्काजिह्वा—ग० ।
६. भवेदप—ग० ।

इस विषय में दो आर्याएँ हैं—

भूत पिशाच के लग जाने या उनका स्मरण करने, उच्छिष्ट वस्तु तथा शून्य गृह में जाने, उचित समय के बीत जाने (चूक जाने) तथा अपवित्र रहने से 'अपस्मार' होता है ॥ ७३ ॥

सहसा भूमौ पतनं प्रवेपनं[1] वदनफेनमोक्षश्च ।
[2]निःसंज्ञस्योत्थानं रूपाण्येतान्यपस्मारे ॥ ७४ ॥

अपस्मार में पृथ्वी पर सहसा गिरना, कम्पित होना, मुँह से फेन निकलना, निश्चेष्ट स्थिति में (बेहोशी में) उठ जाना (आदि) अनुभाव होते हैं ॥ ७४ ॥

[1]सुप्त :—

सुप्तं नाम—निद्राभिभवः[3] । इन्द्रियविषयोपगमन-मोहनक्षितितलशयनप्रसारणानुकर्षणादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । निद्रासमुत्थं तदुच्छ्वसित[4]सन्नगात्राक्षिनिमीलनसर्वेन्द्रियसम्मोहनोत्स्वप्नायितादिभिरनुभावैरभिनयेत् ।

'सुप्त' भाव निद्रा से उत्पन्न होता है (निद्राभिभव) यह इन्द्रियों के द्वारा अपने अपने विषय का सेवन, इन्द्रियों की सुन्नता (मोहन), पृथ्वी पर लोट जाना (सो जाना) या फैल कर लेटना तथा सिकुड़जाना (अनुकर्षण) आदि विभावों में 'सुप्त' उत्पन्न होता है । इसका अभिनय गहरी साँस लेने, शरीर के चेष्टा हीन रखने, आँखों के मीचने, सभी इन्द्रियों के सुन्न हो जाने, (नींद में) बड़बड़ाने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाता है ।

---

१. सुप्त—यह भाव निद्रा से उत्पन्न ज्ञान है । अर्थात् प्रबल निद्रा का आ जाना 'सुप्त' है । 'निद्रा में मन की अवधानता वृत्ति विद्यमान रहती है परन्तु वही 'सुप्त' भाव में बिलकुल अवरुद्ध हो जाती है । यही निद्रा और सुप्त में विभेद है फिर भी निद्रा के सभी विभाव 'सुप्त' में कारण रूप में समझने चाहिए । इन्द्रियमोहन का अर्थ है विषयों से अत्यन्त विमुख हो जाना या इन्द्रियों का सुन्न हो जाना ।

---

१. प्रकम्पनं—ग०; । २. निस्संज्ञाभ्युत्थानं—ग० निद्रासमुत्थम्—घ० ।
३. 'निद्राभिभवः' इत्यारभ्य 'समुत्पद्यते' इत्यन्तं पाठः ग-पुस्तके नास्ति ।
४. निश्वसितसन्नगात्रा—ग० ।

अत्रार्ये[1] भवतः—

[2]निद्राभिभवेन्द्रियोपरमणमोहनैर्भवेत् सुप्तम् ।
अक्षिनिमीलोच्छ्वसनैः स्वप्नायितजल्पितैः कार्यः ॥ ७५ ॥

इस विषय में दो आर्याएँ हैं:—

निद्रा के व्याघात, इन्द्रियों के चेष्टाहीन होने, (इन्द्रियों के) अपने विषय का अनुभव न करने (मोहन आदि) से 'सुप्त' होता है । इसे आँखें मूँदने, गहरी साँसें लेने, सपना देखने तथा नींद में बड़बड़ाने के द्वारा अभिनीत किया जाता है ॥ ७५ ॥

सोच्छ्वासैर्निःश्वासैर्मन्दाक्षिनिमीलनेन निश्चेष्टः ।
सर्वेन्द्रियसम्मोहात्सुप्तं स्वप्नैश्च[3] युञ्जीत ॥ ७६ ॥

जोर से साँसे लेने, आँखों को धीरे धीरे बन्द करने, शरीर को निश्चेष्ट रखने, सभी इन्द्रियों के सुन्न हो जाने तथा स्वप्न देखने के अनुभावों द्वारा 'सुप्त' भाव को अभिनीत करे ॥ ७६ ॥

विबोध—

विबोधो नाम—आहारपरिणामनिद्राच्छेदस्वप्नान्ततीव्रशब्दस्पर्श[4]-श्रवणादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तमभिनयेज्जृम्भणाक्षिपरिमर्दन-शयनमोक्षणादिभि[5]रनुभावैः ।

निद्रा का नाश (ही) 'विबोध'[1] कहलाता है । यह भोजन के पचने, नींद के टूटने, खराब स्वप्नों के देखने, जोर की आवाज, स्पर्श तथा श्रवण आदि विभावों के द्वारा उत्पन्न होता है । इसका अभिनय जंभाई लेने, आँखें मलने, बिछौना छोड़ने इत्यादि अनुभावों के द्वारा किया जाता है ।

---

१. विबोध—निद्रा के भंग होने पर जो 'बोध' होता है अर्थात् शब्दादि से होने वाला निद्राभंग या आरम्भिकरूप में जाग उठना (वही) 'विबोध' है ।

---

१. अत्रार्या—ग० ।
२. इयमार्या ग—पुस्तके नास्ति । ३. स्वप्नैः प्रयुञ्जीत—ग० ।
४. शब्दरूपादिभि—ग० ।
५. शयनमोक्षाङ्गवदनभुजावक्षेपणाङ्गुलित्रोटनादिभि—ग० ।

अत्रार्या भवति—

आहारविपरिणामाच्छब्दस्पर्शादिभिश्च सम्भूतः ।
प्रतिबोधस्त्वभिनेयो जृम्भणवदनाक्षिपरिमर्दैः ॥ ७७ ॥

इस विषय में आर्या है :—

भोजन के पच जाने, शब्द तथा स्पर्श आदि से 'विबोध' उत्पन्न होता है। इसे जंभाई लेने, मुँह तथा आँखों को मलने (आदि) अनुभावों के द्वारा अभिनीत करे ॥ ७७ ॥

अमर्ष—

अमर्षो नाम—विद्यैश्वर्यशौर्यबला[1]धिकैरधिक्षिप्तस्यावमानितस्य वा समुत्पद्यते । तमभिनयेच्छिरःकम्पनप्रस्वेदनाधो[2]मुखचिन्तनध्याना-ध्यवसायोपायसहायान्वेषणादिभिरनुभावैः[3] ।

अपने से अधिक विद्या, ऐश्वर्य तथा शक्ति सम्पन्न व्यक्तियों के द्वारा निन्दित या तिरस्कृत व्यक्तियों में 'अमर्ष'[1] भाव उत्पन्न होता है। मस्तक हिलाने, पसीना आ जाने, नीचा मुँह कर सोचने और देखने, निश्चय करने (अध्यवसाय), उपाय तथा सहायक ढूँढ़ने आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय किया जाता है।

अत्र श्लोकौ—

आक्षिप्तानां सभामध्ये [4]विद्याशौर्यबलाधिकैः ।
नृणामुत्साहसंयोगादमर्षो[5] नाम जायते ॥ ७८ ॥

---

१. अमर्ष—अपमानित होने पर प्रतिकार की भावना जाग्रत होना 'अमर्ष' है। अमर्ष भाव में प्रतिपक्षों के प्रति कार्य करने की प्रवृत्ति नहीं रहती केवल चुप रहना या नीचा मुख करना होता है और 'क्रोध' में प्रतिपक्षी के नाश करने की प्रवृत्ति हो जाती है अर्थात् जब भावना कोमल अवस्था में हो तो 'अमर्ष' और वही उत्कट अवस्था प्राप्त कर ले तो 'क्रोध' हो जाती है। आशय यही है कि अपकारी के प्रति अपकार की भावना रखना 'अमर्ष' तथा अपकार न करने पर भी दूसरे को हानि पहुँचा देने की भावना 'क्रोध' है।

---

१ धनबला—ग० । २. स्वेदाधो—ग० ।
३. चिन्तनाध्यवसायोपायान्वेषणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः—ग० ।
४. विद्यैश्वर्य—घ० ।
५. मुत्साहसम्पन्नो—ग०, घ० ।

इस विषय में दो श्लोक हैं—

'अमर्ष' भाव उस उत्साह युक्त व्यक्ति में उत्पन्न होता है जो सभा में किसी विद्या, ऐश्वर्य तथा बल में अधिक व्यक्ति द्वारा तिरस्कृत (पराभूत या निन्दित) किया गया हो ॥ ७८ ॥

उत्साहाध्यवसायाभ्यामधोमुखविचिन्तनैः ।
शिरःप्रकम्पस्वेदाद्यैस्तं प्रयुञ्जीत पण्डितः[1] ॥ ७९ ॥

उत्साह, अध्यवसाय, नीचा मुँह कर सोचने, मस्तक कँपाने तथा पसीना आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए ॥ ७९ ॥

अवहित्थ—

अवहित्थं नाम—आकारप्रच्छादनात्मकम् । तच्च लज्जाभयापजयगौरवजैह्म्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तस्यान्यथाकथनावलोकित[2]कथाभङ्गकृतक[3]धैर्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

अपने स्वरूप का आच्छादन [1]'अवहित्थ' कहलाता है । यह लज्जा, भय, पराजय, गौरव, छल या कुटिलता (जैह्म्य) आदि विभावों से उत्पन्न होता है । इसका अभिनय अन्यथा कथन, दूसरी ओर (या नीचे) देखने, कथन के (सहसा) बन्द कर देने और बनावटी धीरज धारण करने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए ।

अत्र श्लोको भवति—

धाष्टर्यजैह्म्यादिसम्भूतमवहित्थं भयात्मकम्[4] ।
तच्चागणनया कार्यं नातीवोत्तर[5]भाषणात् ॥ ८० ॥

---

१. अवहित्थ—हर्ष आदि को लज्जादि के कारण छिपाने के लिए जिस चित्तवृत्ति को निर्माण करना होता है वह है 'अवहित्थ' । अर्थात् बाहर प्रकाशित न होने वाली चित्तवृत्ति 'अवहित्थ' है । इसकी व्युत्पत्ति है 'न बहिःस्था चित्तवृत्तिरिति पृषोदरादित्वात् अवहित्थम्' । इसमें प्रस्तुत क्रिया से भिन्न कथन, दर्शन, वार्तालाप का विच्छेद, कृत्रिमस्थिरता दिखलाना आदि अन्य क्रियाएँ होती हैं । अन्यत्र भी आचार्यों ने इसका लक्षण 'अनुभावपिधानार्थोऽवहित्थं भाव उच्यते' कहा है । जिसका आशय है (हर्ष आदि) अनुभाव को छिपाने के लिये जो उत्पन्न किया जाए वह भाव 'अवहित्थ' है ।

---

१. नाट्यवित्—ग०, घ० । २. कथनाविलोकित—ग० ।
३. कृतैरनुभावै—ग० । ४. भयानकम्—ग० ।
५. तानि चोत्तर—ग०; नातिचोत्तर—घ० ।

इस विषय में एक श्लोक है :—

धृष्टता तथा कुटिलता (आदि) से उत्पन्न 'अवहित्थ' भयमूलक होता है। इसका (किसी) कार्य के प्रति लापरवाही रखने, उत्तर में अधिक न कहने या बोलने आदि अनुभावों के द्वारा अभिनय किया जाता है ॥ ८० ॥

उग्रता—

उग्रता नाम—चौर्याभिग्रहणनृपापराधासत्प्रलापादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तां च वधबन्धनताडननिर्भर्त्सनादिभिरभावैरभिनयेत्।

चोरी में पकड़े जाने, राजा का अपराध करने तथा झूठ बकवास करने (असत्प्रलाप) आदि विभावों से 'उग्रता'[1] उत्पन्न होती है। वध, बन्धन, ताड़न तथा निर्भर्त्सन (डाटने) आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए।

अत्रार्या भवति—

[1]चौर्याभिग्रहणवशान्नृपापराधादथोग्रता भवति।
वधबन्धताडनादिभिरनुभावैरभिनयस्तस्याः ॥ ८१ ॥

इस विषय में आर्या (भी) है :—

चोरी में पकड़े जाने तथा राजा के अपराधी बनने के कारण 'उग्रता' उत्पन्न होती है। इसे वध, बन्धन तथा ताड़न करने आदि अनुभावों द्वारा अभिनीत करना चाहिए ॥ ८१ ॥

मति—

मतिर्नाम—[2]नानाशास्त्रविचिन्तनोहापोहादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तामभिनयेच्छिष्योपदेशार्थविकल्पनसंशयच्छेदादिभि[3]रनुभावैः।

अनेक शास्त्रार्थों के विचिन्तन, अनेक विषयों पर तर्क-वितर्क करने आदि विभावों से 'मति'[2] उत्पन्न होती है। इसका अभिनय शिष्य को उपदेश देने,

१. उग्रता—यह भाव निर्दयता स्वरूप होता है। अपराध के कारण दुष्ट पुरुष के प्रति बध बन्धादि द्वारा जो निर्दयता का प्रकाशन है वही 'उग्रता' है।

२. मति—शास्त्रादि के विचार से किसी तथ्य का विनिश्चय करना 'मति' है। इसके द्वारा भ्रमोच्छेदन आदि कार्य होने से यह 'भाव' मात्र माना गया

१. चौर्याभिग्रहयोगात्—क०; चौर्यग्रहणनिरोधात्—ग०।
२. नानाशास्त्रार्थचिन्तन—ग०। ३. संशयच्छेदना—ग०।

अर्थों के अन्वेषण (विकल्पन) तथा संशयापनोदन करने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए ।

भवति चात्र श्लोकः—

[1]नानाशास्त्रार्थबोधेन मतिः संजायते नृणाम् ।
शिष्योपदेशार्थकृतस्तस्या स्त्वभिनयो भवेत् ॥ ८२ ॥

इस विषय में निम्न श्लोक है :—

अनेक शास्त्रों के अर्थबोध द्वारा मनुष्यों में 'मति' उत्पन्न होती है । इसका अभिनय शिष्योपदेश देने तथा अर्थावबोध (अर्थज्ञापन) आदि के द्वारा करना चाहिए ॥ ८२ ॥

व्याधि—

व्याधिर्नाम—वातपित्तकफसंनिपातप्रभवः । तस्यः ज्वरादयो विशेषाः । ज्वरस्तु द्विविधः सशीतः सदाहश्च । तत्र सशीतो नाम—प्रवेपितसर्वाङ्गोत्कम्पननिकुञ्चनाग्न्यभिलाषरोमाञ्चहनुवलननासा[2]विकूणनमुखशोषणपरिदेवितादिभिरनुभावैरभिनेयः[3] । सदाहो नाम—[4]विक्षिप्ताङ्गकरचरणभूम्यभिलाषानुलेपनशीताभिलाषपरिदेवन[5]मुखशोषोत्कुष्टादिभिरनुभावैः । ये चान्ये व्याधयस्तेऽपि खलु मुखविकूणन[6]-गात्रस्तम्भस्रस्ताक्षिनिःश्वसनस्तनितोत्क्रुष्टवेपनादिभिरनुभावैरभिनेयाः ।

है । इसका काव्यों में सन्निवेश उपयोगी होता है क्योंकि कई घटनाओं को इसी माध्यम से आगे बढ़ाया जाता है । अतएव यह केवल विचार मात्र न होकर एक संगत एवं निश्चित विचार को (निर्णयस्वरूप विचारों को) लेकर प्रवृत्त होता है और ऐसी मानसिक दशा का निर्माण करना ही 'मति' का प्रयोजन होने से इसकी संचारी भावमें गणना की गयी है ।

---

१. नानाशास्त्रार्थनिष्पन्ना—क०; नानाशास्त्रविनिष्पन्ना—ग० ।
२. कुञ्चितहनुविचलननासा—क०; कुञ्चितहनुचालननासाविघूर्णन—ग० ।
३. रभिनयः प्रयोक्तव्यः—ग० ।
४. विक्षिप्तकरचरणभूम्यभिलाषा—ग० ।
५. परिदेवितोत्क्रुष्टादिभिः—ग० । ६. विघूर्णन—ग० ।

वात, पित्त तथा कफ (में से किसी एक की विकृति) के कारण 'व्याधि'[३] उत्पन्न होती है। ज्वर आदि इसके विभेद हैं। ज्वर के दो प्रकार हैं—एक शीतज्वर तथा अन्य पित्तज्वर। शीतज्वर का अभिनय सम्पूर्ण अंगों के धूजने (काँपने), (शरीर के) सिकुड़ाने, आग की अभिलाषा करने, रोमांच, ठुड्डी के हिलाने, नाक को घुमाने, मुख सूखने तथा विलाप करने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए। पित्तज्वर (सदाहज्वर) का अभिनय वस्त्रों के फेकने, हाथ पैरों के पटकने, भूमि पर लोटने की इच्छा करने, चन्दन लेपन के उपयोग करने, शीतलवस्तु की इच्छा रखने, विलाप करने तथा जोर से चिल्लाने (उत्क्रोश) आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए। इसके अतिरिक्त यदि अन्य व्याधियाँ (भी) हों तो उनका अभिनय मुँह को नीचे झुकाने या घुमाने, शरीर के निष्क्रिय होने, आखों के शिथिल हो जाने; निःश्वास लेने, चीत्कार करने (स्तनित), रोने तथा कम्पन आदि अनुभावों से करना चाहिए।

अत्र श्लोको भवति—

समासतस्तु[१] व्याधीनां कर्तव्योऽभिनयो बुधैः।
स्रस्ताङ्गगात्रविक्षेपैस्तथा [२]मुखविकूणनैः॥ ८३॥

इस विषय में एक श्लोक है—

सामान्यतः व्याधि का अभिनय अंगों की शिथिलता, अंगों के पटकने, मुँह घुमाने या नीचा करने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए॥ ८३॥

उन्माद—

उन्मादो नाम—इष्टजनवियोग-विभवनाशाभिघात-वातपित्तश्लेष्म-प्रकोपादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तमनिमित्तहसितरुदितोत्क्रुष्टासम्बद्धप्र-

---

१. व्याधि—रोग या वियोग से उत्पन्न मानसिक या शारीरिक ताप ही 'व्याधि' है। यहाँ 'व्याधि' को अभिनय की अपेक्षा से एक दशाविशेष के चित्रण हेतु ही संचारीभाव के रूप में रखा गया है। इसमें शारीरिक या मानसिक स्थिति का ऐसा चित्रण किया जाए जिससे स्वस्थता परिलक्षित न हो। और यह शरीर दोनों के कारण अद्भुत भी दिखलाई जा सकती है जैसा भरत मुनि ने बतलाया भी है।

---

१. सामान्यतस्तु—ग०। २. रुजामुखविघूर्णनैः—ग०, घ०।

लापशयितोपविष्टो[1] त्थितप्रधावितनृत्तगीतपठितभस्मपांस्व[2]वधूलन-तृण-निर्माल्यकुचेलचीरघटकपालशरावाभरणधारणोपभोगैरनेकैश्चावस्थितै-श्चेष्टानुकरणादिभिरनुभावैरभिनयेत्[3] ।

इष्टजन के वियोग, सम्पत्ति की हानि, (दुःख से) धक्का या चोट लगना, वात, पित्त एवं कफ के प्रकोप होने आदि विभावों से 'उन्माद'[1] उत्पन्न होता है। अकारण हँसने, रोने, गाली देने (उत्कृष्ट) तथा (वे सिर पैर की बातें) बकने, नीचे सो जाने, बैठ जाने, उठ भागने, नाचने, गाने, (तथा) पढ़ने, (अकारण अपने शरीर पर) राख और मिट्टी को उछालने, तृण, फेंकी हुई वस्तुएँ (या चढ़ाए हुए पुष्प); फटे या गन्दे वस्त्र, टुटे हुए सरावले (शराव) तथा मिट्टी के घड़े आदि को इकट्ठा करने, (धारण) और उनका उपभोग आदि इसी प्रकार की अन्य अनेक अव्यवस्थित चेष्टाओं के अनुकरण आदि अनुभावों के द्वारा इनका अभिनय करना चाहिए।

अत्रार्ये भवतः—

इष्टजनविभवनाशादभिघाताद्वातपित्तकफकोपात् ।
विविधाच्चित्तविकाराद्उन्मादो नाम सम्भवति ॥ ८४ ॥

इस विषय में निम्नलिखित) दो आर्याएँ हैं :—

प्रियजन के बिछुड़ने, वैभव-नाश होने; चोट लगने, वात, पित्त एवं कफ के प्रकोप होने तथा अनेक-विध चित की विकृतियों के कारण 'उन्माद' होता है।

अनिमित्तरुदित[4]हसितोपविष्टगीतप्रधावितोत्क्रुष्टैः ।
अन्यैश्च[5] विकारकृतैरुन्मादं सम्प्रयुञ्जीत ॥ ८५ ॥

---

१. उन्माद—दोषादि के कारण मन का पथभ्रष्ट हो जाना अथवा अनुचित विवेकहीन कार्य करना 'उन्माद' है। 'अपस्मार' में चित्त की विकलता होती है और 'उन्माद' में चित्त की अस्थिरता। 'उन्माद' उत्तमपात्र के विप्रलम्भ-शृङ्गार में और अधमपात्र के करुण रस में संचारिभाव रहता है और 'अपस्मार' बीभत्स और भयानकरस में संचारिभाव होता है। यही दोनों में पार्थक्य है।

---

१. शयनोपविष्ट—ग० ।

२. पांस्वतिधूलननिर्माल्यवीरघटचक्रशरावाभरणस्पर्शनोपभोगैश्चानवस्थित-चेष्टा—क० । ३. रन्यैश्चानवहितचेष्टाकरणादिभिरनुभावै रभिनेयाः—ग० ।

४. हसितरुदितो—ख० । ५. अन्योन्यविकारकृतै—क० ।

अकारण रोने, हँसने, बैठने, गाने, दौड़ने, गाली देने (उत्क्रुष्टैः) तथा इसी प्रकार के अन्य विकारजन्य कार्य करने आदि के द्वारा 'उन्माद' का अभिनय करना चाहिए ॥ ८५ ॥

मरण—

मरणं नाम—व्याधिजमभिघातजञ्च। तत्र यदान्त्र-यकृच्छूल-दोषवैषम्यगण्डपिटकज्वरविषूचिकादिभिरुत्पद्यते तद्व्याधिप्रभवम्। अभिघातजन्तु—शस्त्राहिदंश-विषपानश्वापदगजतुरगरथपशुयान[1]-पात-विनाशप्रभवम्। एतयो[2]रभिनयविशेषान्वक्ष्यामः। तत्र व्याधिजं—विषण्णगात्राव्यायताङ्गविचेष्टित-निमीलित-नयनहिक्काश्वासोपेतानवेक्षित[3]-परिजनाव्यक्ताक्षरकथनादिभिरनुभावैरभिनयेत्।

रोग तथा आकस्मिक दुर्घटना-जन्य चोट के द्वारा 'मरण'[1] होता है। इन दो प्रकारों में रोगजन्य-मरण—अन्त्र, यकृत-रोग, शूल, त्रिदोष, गण्ड, पिटक, ज्वर तथा हैजा (विसूचिका) आदि से होता है तथा दुर्घटना-जन्य (चोट से होने वाला) मरण—शस्त्र, सर्पदंश, विषपान, हिंसक जन्तुओं के प्रहार, हाथी घोड़ा, रथ, पशु तथा यान से (नीचे) गिरने आदि से उत्पन्न होता है। अब इन दोनों प्रकारों के अभिनय बतलाता हूँ।

व्याधि-जन्य मरण का अभिनय शरीर के सुन्न हो जाने, (शरीर के) अवयवों के फैल जाने या गति-हीन हो जाने, आँखे खुली (या बन्द) रखने, हिचकी और साँस चलने, परिजनों को देखने पर टूटे शब्दों के उच्चारण करने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए।

---

१. मरण—भरतमुनि ने मरण के दो प्रकार बतला कर विस्तार से उसका विवरण दिया है। इनमें प्रथम व्याधिज और दूसरा अभिघातज मरण है। 'मरण' की दशा चित्तवृत्ति विशेष या मानसिक दशा ही नहीं है वह स्थायी-भाव के अधिक समीप आकर सहायक दशा के रूप में पहुँच जाती है। भरतोक्त दोनों प्रकारों के उदाहरण भास तथा शूद्रक की रचनाओं में मिल जाते हैं। भास के प्रतिमानाटक में महाराज दशरथ का व्याधिज 'मरण' प्रस्तुत किया

---

१. रथयानपवनविनाश—ग०।
२. रिदानीमभिनयविशेषं वक्ष्यामि—ग०।
३. श्वासोत्पतनमनपेक्षित—ग०।

अत्र श्लोको भवति—

व्याधीनामेकभावो हि मरणाभिनयः स्मृतः ।
विषण्णगात्रैर्निश्चेष्टैरिन्द्रियैश्च विवर्जितः ॥ ८६ ॥

इस विषय में एक श्लोक है :—

मरण का अभिनय सभी व्याधियों के एक साथ घनीभूत होने का प्रकार (माना गया) है। इसे शिथिल शरीर, चेष्टाहीन इन्द्रियाँ तथा अर्थों के द्वारा प्रस्तुत करना चाहिए ॥ ८६ ॥

अभिघातजे तु—नानाप्रकारा अभिनयविशेषाः शस्त्रक्षताहिदष्टविषपीतगजादिपतितश्वापदहताः। यथा तत्र शस्त्रक्षते तावत्सहसा—भूमिपतनवेपनस्फुरणादिभिरभिनयः प्रयोक्तव्यः। अहिदष्टविषपीत[1]-

---

है तथा इसी प्रकार 'उरूभंग' नाटक में दुर्योधन का अभिघातज मरण दिखलाया गया है। इसका आशय केवल इतना ही है कि प्रधान नायक या नायिका का मरण नाट्यमंच पर वर्जित है। यदि कथावस्तु में ऐसी मरण दशा आही जाए तो उसके पुनर्जीवन का उल्लेख होना चाहिये। जैसे 'मृच्छकटिक' में शकार द्वारा 'वसन्तसेना' का वध कर देना और उसका पुनरुज्जीवित होना। कुछ आचार्य इसी लिये मरण की पूर्वावस्था को 'मरण' भाव मानने के पक्ष में हैं तथा उत्तरवर्त्ती आचार्यों ने ऐसा माना भी है परन्तु कुछ अन्य उत्तरवर्ती नाट्यशास्त्रीय लेखकों ने 'मरण' का मंच पर प्रदर्शन ही वर्जित बतलाया। जब कि प्रख्यात नायक से वध का निषेध ही भरत आचार्य को इष्ट है न कि सामान्य पात्रों या नायकेतरपात्र की मृत्यु का। पर यही विषय उत्तरवर्ती नाट्यशास्त्रकार गंभीरता से ग्रहण न कर सके। आचार्य अभिनवगुप्त ने इसकी निम्न व्याख्या की है–"मरणमिति न जीवित-वियोग उच्यते। अपि तु चैतन्यावस्थैव प्राणत्याग–कर्तृकालिका या सम्बन्धाद्यवसरगता मन्तव्या। मरणमचिरकालप्रत्यापत्तिमयमत्र मन्तव्यम्। येन शोकावस्थानमेव न लभते।" (अभि० भा०)–अर्थात् मरण का आशय जीवन की एकान्त समाप्ति नहीं लेना चाहिए किन्तु प्राणत्याग करने की वह अवस्था जो अनेक सम्बन्ध या अवसर से उपलब्ध होती हो। यहाँ 'मरण' थोड़े समय तक रहने वाला भाव ही लिया जाए जिससे वह शोक की निरन्तर दशा को अवसर न देने पाए।

---

१. अहिदष्टे तु विषपीते वा—ग०।

योर्विषवेगो यथा—कार्श्यवेपथुविदाहहिक्काफेनस्कन्धभङ्गजडतामरणानीत्यष्टौ विषवेगाः।

आकस्मिकदुर्घटनाजन्य मरण को—शस्त्रक्षत होने, सर्पदंश, विषपान, हाथी से गिरने तथा हिंसक पशुओं से मारे जाने आदि विभिन्न विधाओं के द्वारा अभिनीत किया जाता है। जैसे—शस्त्र से आहत होकर मरने में सहसा भूमि-पतन, कम्पन तथा फड़कने आदि के द्वारा। सर्पदंश से विषभक्षण से या उसके चढ़जाने से होने वाले मरण में विषवेग की आठ दशाएँ होती हैं। यथा—(१) शरीर के कृश हो जाने, (२) कम्प, (३) दाह, (४) हिचकी, (५) मुँह में फेन आ जाने, (६) गले के ढीले होने, (७) जड़ता (बेहोशी) तथा अन्तिम दशा (८) मरण।

अत्रानुवंश्यौ श्लोकौ भवतः—

काश्यं तु प्रथमे वेगे द्वितीये वेपथुर्भवेत्[1]।
दाहं तृतीये हिक्कां च चतुर्थे सम्प्रयोजयेत्॥ ८७॥
फेनश्च पञ्चमे कुर्यात्षष्ठे स्कन्धस्य भञ्जनम्[2]।
जडतां सप्तमे कुर्यादष्टमे मरणं भवेत्॥ ८८॥

इस विषय में दो अनुवंशीय श्लोक हैं :—

विष भक्षणोपरान्त प्रथमवेग में शरीर में कृशता, दूसरे में कंपन, तीसरे में दाह, चौथे में हिचकी, पाँचवें में मुँह में फेसूट (फेन) निकलना, छठें में गले की ढल जाना, सातवें में बेहोशी तथा आठवें अन्तिम वेग में मरण हो जाता है॥ ८७-८८॥

अत्रार्या भवति—

श्वापदगजतुरगरथोद्भवं[3] तु पशुयानपतनजं वाऽपि।
शस्त्रक्षतवत्कुर्यादनवेक्षित[4]गात्रसञ्चारम्॥ ८९॥

इस विषय में आर्या (भी) है :—

हिंसक जन्तुओं के प्रहार, हाथी, घोड़ा, रथ, पशु तथा अन्य सवारी से गिरने पर हो जाने वाले मरण का अभिनय शस्त्रक्षत मरण के समान ही करना चाहिए॥ ८९॥

१. वेपथुस्तथा—घ०। २. षष्ठे तु स्कन्धभञ्जनम्—घ०।
३. श्वापदगजतुरगोद्भवपशुयानपतनजं चापि—ग०।
४. दनपेक्षित—ग०, घ०।

इत्येवं मरणं ज्ञेयं नानावस्थान्तरात्मकम् ।
प्रयोक्तव्यं बुधैः सम्यग्यथा भावाङ्गचेष्टितैः[1] ॥ ९० ॥

इस प्रकार मरण अनेक अवस्थाओं से युक्त होता है । इसका अभिनय बुध जन योग्य (उपयुक्त) भावों तथा आङ्गिक क्रियाओं द्वारा प्रस्तुत करें ॥

त्रास—

त्रासो नाम—विद्युदुल्काशनिनिपातनिर्घाताम्बु[2]धरमहासत्त्वपशुरवादिभिर्विभावैरुत्पद्यते । तमभिनयेत्संक्षिप्ताङ्गोत्कम्पनवेपथुस्तम्भरोमाञ्चगद्गदप्रलापादिभिरनुभावैः ।

बिजली, उल्का तथा वज्र के पतन, भूकम्प (निर्घात) मेघध्वनि तथा हिंसक पशु (आदि) के शब्दों आदि विभावों से 'त्रास'[1] उत्पन्न होता है । शरीर के अवयवों को सिकुड़ाने, सिहरने, धूजने, शरीर के जड़ हो जाने (स्तम्भ), रोमाञ्च, गद्गद् भाषण तथा असम्बद्ध प्रलाप करने आदि अनुभावों के द्वारा इनका अभिनय करना चाहिए ।

अत्र श्लोको भवति—

महाभैरवनादाद्यैस्त्रासः समुपजायते ।
स्रस्ताङ्गाक्षिनिमेषैश्च[3] तस्य त्वभिनयो भवेत् ॥ ९१ ॥

इस विषय में निम्न एक श्लोक है :—

अनेक विभीषक ध्वनि आदि के उत्पन्न होने से 'त्रास' उत्पन्न होता है । इसे शरीर के भागों को ढीला छोड़ने तथा आँखों को (आधा) बन्द करने के अनुभावों के द्वारा अभिनीत करना चाहिए ॥ ९१ ॥

---

१. त्रास—किसी भयंकर वस्तु को देखने पर जो चकित या क्षुब्ध मनोवृत्ति हो जाती है वही 'त्रास' है । घोर दर्शनादिजन्य 'त्रास' होता है तथा अनर्थ की सम्भावना से मानसिक बल का क्षीण हो जाना 'भय' है । 'भय' की स्थिति दीर्घकाल तक चलकर पूर्वापर विचार तथा भावों से सम्बद्ध होती है अतः स्थायी है और 'त्रास' एक आगन्तुक दशा होकर उद्विग्न मनोदशा मात्र रहने से सचारी है । यही इन दोनों में पार्थक्य है ।

---

१. भाषाङ्गचेष्टितैः—क०; वागङ्गचेष्टितैः—ग० ।

२. ताम्बुधरसनवातमहासत्त्वदर्शन—क०; ताम्बुद-रव-सत्त्वदर्शनपश्वारवादिभि—ग० ।

३. स्रस्ताङ्गार्द्धनिमेषाद्यैस्तस्य—क०, ग० ।

वितर्क—

वितर्को नाम—सन्देहविमर्शविप्रतिपत्त्यादिभि[1]र्विभावैरुत्पद्यते। तमभिनयेद्विविधविचारित[2]प्रश्नसम्प्रधारणमन्त्रसङ्गूहनादिभिरनुभावैः।

आशंका, विमर्श तथा ऊहापोह (विप्रतिपत्ति) आदि विभावों के द्वारा 'वितर्क' उत्पन्न होता है। अनेक वादविवाद, विचार, प्रश्न एवं परिभाषाओं के स्थापन तथा रहस्य मंत्रणाओं के छिपा लेने आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए।

अत्र श्लोको भवति—

विचारणादिसम्भूतः सन्देहातिशयात्मकः[3]।
वितर्कः[4] सोऽभिनेयस्तु शिरोभ्रूक्षेपकम्पनैः॥ ९२॥

इस विषय में एक आनुवंशीय श्लोक है :—

विचार मिमर्श आदि से उत्पन्न तथा अतिशय सन्देहयुक्त स्वरूपवाले [1]'वितर्क' का अभिनय सिर, भौंहें तथा पलकों के घुमाने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए॥ ९२॥

एवमेते त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिणो भावा देशकालावस्थानुरू[5]प्येणात्मगतपरगतमध्यस्था उत्तममध्यमाधमैः स्त्रीपुंसैः स्वप्रयोगवशादुपपाद्या[6] इति।

इस प्रकार (ये) तैंतीस संचारीभाव होते हैं। इनका (कसी भी) (नाट्य रचना में) उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति के सभी स्त्री तथा

---

१. वितर्क—सन्देह आदि के अनन्तर उत्पन्न होने वाली तर्कना 'वितर्क' कहलाती है। यह अनुकूल निर्णय में सहायक होता है। 'चिन्ता' से इसका भेद यही है कि चिन्ता किसी निश्चय को उत्पन्न नहीं करती तथा चिन्ता का स्वरूप होता है 'क्या होगा' 'कैसा होगा' इत्यादि परन्तु 'वितर्क' निश्चय का आपादक होता है और उसका स्वरूप होता है 'ऐसा करना उचित होगा' इत्यादि।

---

१. प्रत्ययादिभि–ग०। २. प्रज्ञासम्प्रधारण–क०, संज्ञासम्प्रधारण–ग०, घ०

३. ससन्देहक्रिया–क०; सन्देहजनना-ग०।

४. वितर्कस्त्वभिनेयः स्या–ग०, घ०।

५. देशकालावस्थानुगत—ग०। ६. पुरुषप्रयोगवशादुत्पाद्या—ग०।

पुरुषो के द्वारा देश, काल, अवस्था तथा कार्य के अनुसार (तथा प्रयोग की आवश्यकता आदि को ध्यान में रखते हुए) प्रयोग करना चाहिए।

अत्र श्लोकः—

त्रयस्त्रिंशदिमे भावा विज्ञेया व्यभिचारिणः।
सात्त्विकांस्तु पुनर्भावान्प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः[1] ॥ ९३ ॥

इस प्रकार ये तैंतीस व्यभिचारी भाव होते हैं अब मैं सात्त्विक भावों का क्रमशः वर्णन करता हूँ ॥ ९३ ॥

सात्त्विकभाव—

अत्राह - किमन्ये भावाः सत्त्वेन विनाऽभिनीयन्ते[2] यस्मादुच्यन्ते एते सात्त्विका इति? अत्रोच्यते—एवमेतत्। कस्मात्? इह हि सत्त्वं नाम मनः प्रभवम्। तच्च समाहितमनस्त्वादुच्यते[3]। मनसः[4] समाधौ सत्त्वनिष्पत्तिर्भवति। तस्य च योऽसौ स्वभावो रोमाञ्चाश्रुवैवर्ण्यादिलक्षणो[5] यथाभावोपगतः स न[6] शक्योऽन्यमनसा कर्तुमिति लोकस्वभावानुकरणत्वाच्च नाट्यस्य सत्त्वमीप्सितम्।

अत्राह-को दृष्टान्तः ?-इह हि नाट्यधर्मिप्रवृत्ताः[7] सुखदुःखकृता[8] भावास्तथा[9] सत्त्वविशुद्धाः[10] कार्याः यथा सरूपा भवन्ति! तत्र दुःखं नाम रोदनात्मकम्। तत् कथमदुःखितेन सुखञ्च प्रहर्षात्मकमसुखितेन चाभिनेयम् एतदेवास्य सत्त्वं यद् दुःखितेन सुखितेन वाऽश्रुरोमाञ्चौ दर्शयितव्यौ इति कृत्वा सात्त्विका भावा इत्यभिव्याख्याताः।

---

१. व्याख्यास्याम्यनपूर्वशः —ग०।
२. विनाभिधीयन्ते यत एते—क०; ग०। ३. उत्पद्यते—ग०।
४. मनःसमाधानाच्च सत्त्वनिवृत्तिर्भवति—ग०।
५. स्तम्भस्वेदरोमाञ्चास्र—ग०।
६. न दृश्यते मनसा कर्तुमिति—ग०।
७. नाट्यधर्मः प्रवृत्तः—ग०। ८. कृतो—ग०। ९. भाव—ग०।
१०. सत्त्वविशुद्धाधिष्ठितः कार्यो यथास्वरूपो भवति—ग०।

प्रश्न :—क्या अन्य भाव सत्त्व के बिना (या उससे रहित) होते हैं, जो इन्हें ही सात्त्विक कहा गया ? उत्तर :—इन्हें सात्त्विकभाव[1] कहे जाने में हेतु है। क्योंकि 'सत्त्व' मन के आत्यन्तिक सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। मन की एकाग्रता से 'सत्त्व' आदि की उत्पत्ति होती है। इसका जो रोमांच अश्रु तथा वैवर्ण्य आदि से युक्त स्वरूप है उसका अनुकरण अन्यमनस्क भाव से ठीक नहीं हो सकता। अतएव नाटक में लोक स्वभाव के अनुसार स्थिति सत्त्व ही अपेक्षित है। (प्रश्न—) इस विषय में क्या दृष्टान्त दिया जा सकता है ? (उत्तर) नाट्यप्रयोग के समय नाट्यधर्म में प्रवृत्त सुख-दुःख के भावों को इस प्रकार सात्त्विक भावों से उत्पन्न होने वाले बतलाना चाहिए कि वे यथार्थ स्वरूप वाले प्रतीत होने लगें। रोदनात्मक भाव दुःख कहलाता है। इस दुःख भाव को जो कभी दुःखी न हुआ हो ऐसा सुखी प्रयोक्ता तथा प्रहर्षात्मक सुख को दुःखी प्रयोक्ता कैसे अभिनीत कर सकेगा ? इस सम्बन्ध में यही 'सत्त्व' है जो कि अभिनेता दुःखी हो या सुखी हो उस अश्रु या रोमाञ्च को अभिनय द्वारा प्रस्तुत करना होता है। इस प्रकार सात्त्विक भावों की व्याख्या की गयी।

न इमे—

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभेदोऽथ[1] वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः[2] ॥ ९४ ॥

इस सात्विक भावों की संख्या आठ है। यथा—(१) स्तम्भ, (२) स्वेद,

१. सात्त्विकभाव—सात्त्विक शब्द की व्युत्पत्ति है–'अवहितं मनः सत्त्वं तत्प्रयोजनं हेतुरस्येति सात्त्विकः' अर्थात् एकाग्रमन का नाम सत्त्व है, यह सत्त्व जिसका प्रयोजन अर्थात् हेतु हो वह 'सात्त्विक' कहलाता है। मानसिक स्थिरता के अभाव में अभिनेता के द्वारा स्वरभेदादि का प्रदर्शन प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है अतः एकाग्र मन से स्वरभेदादि का प्रदर्शन करना सात्त्विक अभिनय है जो सात्त्विक भावों का आश्रय लेकर किया जाता है। यद्यपि ये अनुभाव हैं किन्तु 'सत्त्व' से उद्भूत होने के कारण इनकी पृथक् गणना की गयी। इन स्वेदादि सात्त्विकभावों के भरतमुनि ने प्रथम लक्षण बतलाये हैं और फिर इनके अभिनय की प्रक्रिया दिखलायी है।

१. स्वरसादोऽथ—घ०।
२. मताः—ख०।

(३) रोमांच, (४) स्वरभंग, (५) वेपथु, (६) वैवर्ण्य, (७) अश्रु तथा (८) प्रलय ॥ ९४ ॥

अत्रार्याः तत्र—

क्रोधभयहर्षलज्जादुःखश्रमरोगतापघातेभ्यः ।
व्यायामक्लमघर्मैः[1] स्वेदः सम्पीडनाच्चैव ॥ ९५ ॥

इस विषय में ये आर्याएँ हैं :—

स्वेद—क्रोध, भय, हर्ष, लज्जा, दुःख, श्रम, रोग, ताप, चोट, व्यायाम, क्लेश, घाम तथा अंगों के दबाने (सम्पीडन) आदि में 'स्वेद' उत्पन्न होता है ॥ ९५ ॥

हर्षभयशोक[2]विस्मयविषादरोषादिसम्भवः[3] स्तम्भः ।
शीतभयहर्षरोषस्पर्शजरारोगजः[4] कम्पः ॥ ९६ ॥

स्तम्भ तथा वेपथु—हर्ष, भय, शोक, विस्मय (हैरानी) दुःख तथा क्रोध आदि से 'स्तम्भ' उत्पन्न होता है तथा शीत, भय, हर्ष, क्रोध, स्पर्श, जरा (बुढ़ापा) तथा रोग से 'कम्प' (वेपथु) उत्पन्न होता है ॥ ९६ ॥

आनन्दामर्षाभ्यां धूमाञ्जनजृम्भणा[5]द्भयाच्छोकात् ।
[6]अनिमेषप्रेक्षणतः शीताद्रोगाद् भवेदश्रु[7] ॥ ९७ ॥

अश्रु—(अस्त्र) —आनन्द या क्रोध से, आँखों में धुँआँ या अंजन लगने से, जंभाई से, भय, शोक तथा एकटक देखने तथा शीत और रोग से 'अश्रु' उत्पन्न होता है ॥ ९७ ॥

शीतक्रोधभयश्रमरोगक्लमतापजश्च वैवर्ण्यम् ।
स्पर्शभयशीतहर्षैः[8] क्रोधाद्रोगाच्च रोमाञ्चः ॥ ९८ ॥

वैवर्ण्य (मुँह का फीका पड़ जाना) शीत, क्रोध, भय, थकावट, रोग, क्लेश (क्लम) तथा घास (ताप) से 'वैवर्ण्य' उत्पन्न होता है । 'रोमांच—स्पर्श, भय, शीत, हर्ष, क्रोध तथा रोग से 'रोमांच' उत्पन्न होता है ॥ ९८ ॥

---

१. घर्मात्—ग० । २. रोग—ग० । ३. मदरोषसम्भवः—ग० ।
४. सम्भवः—ग० । ५. जृम्भणभयाच्च—ग० ।
६. शोकानिमिषप्रेक्षणशीताद्—ग० । ७. भवेदस्रम्—घ० ।
८. गीतहर्षात्—क०; शीतहर्षात्—ग० ।

स्वरभेदो[1] भयहर्षक्रोधजरारौक्ष्यरोगमदजनितः।
श्रममूर्च्छामदनिद्राभिघातमोहादिभिः प्रलयः ॥ ९९ ॥

स्वरभंग—भय, हर्ष क्रोध, बुढ़ापा, गले के सूखने (रौक्ष्य) रोग तथा मद से 'स्वरभंग' होता है। प्रलय—श्रम, मूर्च्छा, मद, निद्रा, चोट, तथा मोह आदि से 'प्रलय' की उत्पत्ति होती है ॥ ९९ ॥

एवमेते बुधैर्ज्ञेया भावा ह्यष्टौ तु सात्त्विकाः।
कर्म चैषां प्रवक्ष्यामि [3]रसभावानुभावकम् ॥ १०० ॥

(इस प्रकार) आठ सात्त्विकभाव (होते) हैं जिन्हे (विज्ञजन को) जानना चाहिए। रस तथा भावों के अनुसार अब मैं इन भावों की अभिनय-प्रक्रिया (कार्य) बतलाता हूँ ॥१००॥

सात्त्विकभावों का अभिनय-विधान—

निःसंज्ञो[4] निष्प्रकम्पश्च स्थितः[5] शून्यजडाकृतिः।
स्कन्नगात्रतया[6] चैव स्तम्भं त्वभिनयेद्बुधः ॥ १०१ ॥

'स्तम्भ' का अभिनय संज्ञाहीन, चेष्टाहीन, गतिहीन, (शून्य) जड़-आकृति के स्तब्ध और संज्ञाहीन अंगो से (बुद्धिमान जन) प्रयुक्त करें ॥

व्यञ्जनग्रहणाच्चापि[7] स्वेदापनयनेन च।
स्वेद[8] एवाभिनेतव्यस्तथा वाताभिलाषतः ॥ १०२ ॥

'स्वेद' का अभिनय पंखा उठा लेने, पसीना पोंछने तथा वायु की अभिलाषा रखने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए ॥ १०२ ॥

मुहुः कण्टकितत्वेन तथोल्लुकसनेन च।
पुलकेन[9] च रोमाञ्चं गात्रस्पर्शेन दर्शयेत् ॥ १०३ ॥

'रोमांच' का अभिनय रोएँ खड़े हो जाने, पुलक की आवृत्ति (या बार-बार रोंगटे खड़े होने) तथा गात्र स्पर्श के द्वारा किया जाता है ॥ १०३ ॥

---

१. स्वरसादो—ग०। २. जयहर्षक्रोधजरामोहमद—क०; ज्वररोग—ग०।
३. ह्यनुभावा—ग०। ४. निश्चेष्टो—ख०।
५. स्मितशून्य—ग०। ६. निःसंज्ञस्तब्धगात्रश्च—ग०।
७. व्यञ्जन—ग०। ८. स्वेदस्याभिनयो योज्यस्तथा—क०, ग०।
९. रोमाञ्चस्त्वभिनयोऽसौ गात्रसंस्पर्शनेन च—ग०।

स्वरभेदोऽभिनेतव्यो[1] भिन्नगद्गदनिस्वनैः[2] ।
वेपनात्स्फुरणात्कम्पाद्वेपथुं सम्प्रदर्शयेत्[3] ॥ १०४ ॥

'स्वरभेद' का अभिनय भिन्न तथा गद्गद् स्वरों से करना चाहिए। तथा 'वेपथु' का अंगों के काँपने, फड़कने, हिलने आदि अनुभावों से किया जाए ॥ १०४ ॥

मुखवर्णपरावृत्त्या नाडीपीडनयोगतः ।
वैवर्ण्यमभिनेतव्यं प्रयत्नात्तद्धि दुष्करम् ॥ १०५ ॥

'वैवर्ण्य' का अभिनय चेहरे के रंग के परिवर्तन और नाड़ी के दबाने के द्वारा प्रयत्नपूर्वक किया जाए। यह अंगाश्रित अभिनय होने से कठिनाई से प्रस्तुत होता है ॥ १०५ ॥

[4]बाष्पाम्बुप्लुतनेत्रत्वान्नेत्रसम्मार्जनेन च ।
मुहुरश्रुकणापातैरास्रं त्वभिनयेद्बुधः ॥ १०६ ॥

'अश्रु' का अभिनय नेत्रों को आँसुओं से भरते (हुए), आँखें पोंछने, तथा बार-बार आँसुओं को गिराने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए ॥ १०६ ॥

निश्चेष्टो निष्प्रकम्पत्वादव्यक्तश्वसितादपि ।
महीनिपातनाच्चापि[5] प्रलयाभिनयो भवेत् ॥ १०७ ॥

'प्रलय' का अभिनय चेष्टाहीन, निष्कम्प (बिना हिलने डुलने), श्वास के बन्द करने (या साँस की गति न दिखाई देने) और पृथ्वी पर गिरने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए ॥ १०७ ॥

---

१. स्वरभेदं तथा चैव—ग० । २. विस्वरैः—घ० ।
३. सम्प्रयोजयेत्—ग०, घ० ।
४. सार्धमेतत् पद्यं ख—गपुस्तकयोर्नास्ति ।
५. मेदिनीपतनाच्चापि—ग० ।

(संचारी आदि) भावों की रसों में विनियोजना—

एकोनपञ्चाशदिमे यथावद्
भावास्त्र्यवस्था[1] ह्युदिता मयेह ।
भूयश्च[2] ये यत्र रसे नियोज्या-
स्ताँच्छ्रोतुमर्हन्ति च विप्रमुख्याः ॥ १०८ ॥

इन तीन प्रकार के इन उनचास भावों की मैंने यथावत् व्याख्या की। अब मैं विभिन्न रसों में होने वाले इनके प्रयोग बतलाता हूँ जिन्हें मुनिजन ध्यानपूर्वक सुनें ॥ १०८ ॥

आलस्यौग्र्यजुगुप्साख्यैरेवं[3] भावैस्तु वर्जिताः ।
उद्भावयन्ति शृङ्गारं सर्वे भावाः स्वसंज्ञया[4] ॥ १०९ ॥

आलस्य, उग्रता तथा जुगुप्सा को छोड़कर शेष सभी भाव (अपने नामों से) 'शृङ्गार' रस को उत्पन्न करते हैं ॥ १०९ ॥

---

१. आलस्यादि तीन संचारियों के अतिरिक्त कुल ४६ भाव ऐसे हैं जो शृङ्गार को उद्भावित करते है। इन भावों की गणना एक भिन्न पाठ में इस प्रकार दी गयी है :—

शङ्का व्याधिस्तथा ग्लानिश्चिन्ताऽसूया भयं तथा ।
विस्मयश्च वितर्कश्च स्तम्भश्चपलता तथा ॥
रोमाञ्चहर्षौ निद्रा च तथोन्मादमदावपि ।
स्वेदश्चैवावहित्थश्च प्रलयो वेपथुस्तथा ॥
विषादश्रमनिर्वेदा गर्वावेगौ धृतिः स्मृतिः ।
मतिर्मोहो विबोधश्च सुप्तमौत्सुक्यकं तथा ॥

---

१. व्यवस्था गदिता मया वः—ग० ।
२. येषाञ्च ये यत्र रसे नियोज्यास्तान्—ग० ;
३. जुगुप्साभिर्भावैस्तु परिवर्जिताः—ग० ।
४. यथावसरमेते हि स्थायिसञ्चारिसत्त्वजाः ।
उद्दीपयन्ति शृंगारं रसमासाद्य संज्ञितम् ॥
इति क-पुस्तकेऽधिकम् ।

ग्लानिः शङ्का ह्यसूया च श्रमश्चपलता तथा ।

सुप्तं निद्रावहित्थं च हास्ये भावाः प्रकीर्तिताः ॥ ११० ॥

ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, चपलता, सुप्त, निद्रा तथा अवहित्थ नामक भाव 'हास्यरस' में होते हैं ॥ ११० ॥

निर्वेदश्चैव चिन्ता च दैन्यं ग्लानस्त्रमेव[1] च ।

जडता मरणं चैव व्याधिश्च करुणे स्मृताः[2] ॥ १११ ॥

निर्वेद, चिन्ता, दैन्य, ग्लानि, अस्त्र, जड़ता, मरण तथा व्याधि नामक भाव 'करुण' रस में होते हैं ॥ १११ ॥

गर्वोऽसूया [3]मदोत्साहावावेगोऽमर्ष[4] एव च ।

क्रोधश्चपलतौग्रयं[5] च विज्ञेया रौद्रसम्भवाः ॥ ११२ ॥

क्रोधामर्षौ च हासश्च शोकोऽपस्मार एव च ।
दैन्यश्च मरणञ्चैव रतिरुत्साहसंयुता ।
त्रासवैवर्ण्यरुदितैः स्वरभेदः शमोऽपि च ॥
जडता च तथा षट् च चत्वारिंशत् प्रकीर्तिताः ॥
[ना० शा० G. O. S. Vol. I, पृ० ३७७]

अर्थात् शंका, व्याधि, ग्लानि, चिन्ता, असूया, भय, विस्मय, वितर्क, स्तम्भ, चपलता, रोमाञ्च, हर्ष, निद्रा, उन्माद, मद, स्वेद, अवहित्थ, प्रलय, वेपथु, विषाद, श्रम, निर्वेद, गर्व, आवेग, धृति, स्मृति, मति, मोह, विबोध, सुप्त, औत्सुक्य, क्रोध, अमर्ष, हास, शोक, अपस्मार, दैन्य, मरण, रति, उत्साह, त्रास, वैवर्ण्य, रुदन, स्वरभेद, शम और जड़ता ये छियालिस भाव कहे गये हैं ।

परन्तु श्रृङ्गार में जिन छियालिस भावों को लिया है उनमें केवल तीन संचारीभावों का ही भरत ने निषेध किया है—अतः यह उल्लेख पुनरुक्त-सा होने पर संग्रह की दृष्टि से ही किया गया प्रतीत होता है । इसमें 'शम' का उल्लेख होने से यह प्रक्षिप्त भाग है, यह स्पष्ट हो जाता है ।

---

१. ग्लान्यास्त्रमेव—क० ।
२. रसे—ग० ।
३. तथोत्साह—ग० ।
४. मद एव—ग० ।
५. क्रोधश्चपलता हर्षो रौद्रे तूग्रत्वमेव च—ग० ।

गर्व, असूया, उत्साह, आवेग, मद, क्रोध, चपलता, हर्ष तथा उग्रता नामक भाव 'रौद्र' रस में होते हैं ॥ ११२ ॥

असम्मोहस्तथोत्साह आवेगो हर्ष एव च ।
मतिश्चैव तथोग्रत्वममर्षो[1] मद एव च ॥ ११३ ॥
रोमाञ्चः स्वरभेदश्च[2] क्रोधोऽसूया धृतिस्तथा ।
गर्वश्चैव वितर्कश्च वीरे भावा भवन्ति हि ॥ ११४ ॥

असम्मोह (प्रत्युत्पन्नमतित्व), उत्साह, आवेग, हर्ष, मति, उग्रता, अमर्ष, मद, रोमांच, स्वरभेद, क्रोध, असूया, धृति, गर्व तथा वितर्क 'वीर' रस में होते हैं ॥ ११३-११४ ॥

वेपथुः स्वरभेदश्च रोमाञ्चो गद्गदस्तथा ।
स्तम्भश्च[3] मरणं स्वेदो वैवर्ण्यं च भयानके ॥ ११५ ॥

वेपथु, स्वरभेद रोमांच, गद्गद्, स्तम्भ, मरण, स्वेद तथा वैवर्ण्य नामक भाव 'भयानक' रस में होते हैं ॥ ११५ ॥

अपस्मारस्तथोन्मादो विषादो मद एव च ।
मृत्युर्व्याधिर्भयं चैव भावा बीभत्ससंश्रयाः[4] ॥ ११६ ॥

अपस्मार, उन्माद, विषाद, मद, मरण व्याधि तथा भय नामक भाव 'बीभत्स' रस में होते हैं ॥ ११६ ॥

स्तम्भः स्वेदश्च मोहश्च रोमाञ्चो विस्मयस्तथा ।
आवेगो जडता हर्षो मूर्च्छा चैवाद्भुते रसे[5] ॥ ११७ ॥

स्तम्भ, स्वेद, मोह, रोमांच, विस्मय, आवेग, जड़ता, हर्ष तथा मूर्च्छा-नामक भाव 'अद्भुत' रस में होते हैं ॥११७॥

---

१. हर्ष उन्माद एव च—ग० ।
२. प्रतिबोधश्च क्रोधासूये—ग० ।
३. त्रासश्च मरणञ्चैव—ग० ।
४. संश्रिताः—ग० ।
५. चैवाद्भुताश्रयाः—ग० ।

ये[1] त्वेते सात्त्विका भावा नानाभिनयसंश्रिताः ।
रसेष्वेतेषु सर्वेषु ते[2] ज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः ॥ ११८ ॥

ये तथा अन्य जो सात्त्विक भाव हों उन्हें अनेक अभिनयों से युक्त इन सभी रस भावों में नाट्यप्रयोक्ता जन प्रयुक्त करें ॥ ११८ ॥

न ह्येकरसजं काव्यं किंचिदस्ति प्रयोगतः ।
भावो वापि रसो वापि प्रवृत्तिर्वृत्तिरेव वा ॥ ११९ ॥

व्यवहार (प्रयोग) में कोई भी नाट्य-प्रयोग एक रस वाला नहीं होता और फिर वह चाहे भाव, रस, प्रवृत्ति या वृत्ति हो वह भी एक रस युक्त नहीं होती ॥ ११९ ॥

बहूनां[3] समवेतानां रूपं यस्य भवेद्बहु ।
स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः संचारिणो मताः ॥ १२० ॥

अनेक समवेत रसों में जिस एक का स्वरूप मुख्य हो (अधिक रहे) उसे स्थायी तथा शेष को संचारी भाव समझना चाहिए ॥ १२० ॥

दीपयन्तः प्रवर्तन्ते ये पुनः स्थायिनं रसम् ।
ते तु सञ्चारिणो ज्ञेयास्ते हि स्थायित्वमागताः ॥ १२१ ॥

जो स्थायीभाव अन्य रस को उद्दीपित करते हुए प्रवृत्त हों उन्हें संचारी समझना चाहिए (पर) ये अपने प्रकृतरस के प्रसंग में स्थायी होते हैं ।

विभावानुभावयुक्तो ह्यङ्गवस्तुसमाश्रयः ।
संचारिभिस्तु संयुक्तः स्थाय्येव तु रसो भवेत् ॥ १२२ ॥

विभाव तथा अनुभावों से युक्त (हस्तादि-अवयवों के समान) अंगों के निवेश तथा कथावस्तु का सहकार पाकर एवं संचारी भावों से युक्त होकर स्थायीभाव रस-दशा को प्राप्त करता है ॥ १२२ ॥

---

१. ये चान्ये—क० ।
२. विज्ञेयाः—ग० ।
३. सर्वेषां—ग० ।

स्थायी सत्त्वातिरेकेण प्रयोक्तव्यः प्रयोक्तृभिः ।
संचार्याकारमात्रेण स्थायी यस्माद्वस्थितः[1] ॥ १२३ ॥

प्रयोक्ता जन स्थायी भाव को अतिशय सात्त्विक भावों से संयुक्त करते हुए प्रस्तुत करें, (किन्तु) संचारीभावों को आकृतिमात्र से ही गौणरूप में प्रस्तुत करें क्योंकि ये स्थायीभाव के सहायकमात्र हैं । (अतएव इन्हें अधिक विस्तार प्राप्त नहीं करावें)[1] ॥ १२३ ॥

चित्राणि न विरज्यन्ते लोके चित्रं हि दुर्लभम् ।
विमर्दे रागमायाति प्रयुक्तमपि[2] यत्नतः ॥ १२४ ॥

(दर्शकों में) विचित्रता (या विभिन्न रसों का प्रदर्शन) विराम उत्पन्न नहीं करती क्योंकि (व्यवहार में) विविधता दुर्लभ रहती है । किन्तु

---

१. पद्य संख्या १२४ तथा १२५ के मध्य निम्न पद्य भी बड़ोदा संस्करण में मिलते हैं ।

ये त्वेते सात्त्विका भावा नानाभिनययोजिताः ।
रसेष्वेतेषु सर्वेषु ते ज्ञेया नाट्यकोविदैः ॥

अनेकविध अभिनयों में योजित जो ये सात्त्विक भाव हैं उन्हें इन समस्त रसों में प्रयुक्त करने का ज्ञान नाट्यप्रयोग में कुशल पुरुषों को रखना चाहिए ।

न ह्येकरसजं काव्यं नैकभावैकवृत्तिकम् ।
विमर्दे रागमायाति प्रयुक्तं हि प्रयत्नतः ॥
भावा वापि रसा वापि प्रवृत्तिर्वृत्तिरेव वा ।

ऐसा कोई काव्य नहीं जिसमें एक ही रस, भाव या वृत्ति हो, पर चाहे भाव, रस प्रवृत्ति या वृत्ति हों उनके प्रयत्नपूर्वक प्रयोग करने पर इन सभी के संयोग से ही रसत्व की दशा का निर्माण होता है ।

बीभत्साद्भुतशान्तानां त्रैविध्यं नात्र कथ्यते ॥
षण्णां रसानां त्रैविध्यं नानाभावरसान्वितम् ।
सत्त्वप्रयोजितो ह्यर्थः; प्रयोगोऽत्र विराजते ।
विदित्वा हि विराजन्ते लोके चित्रं हि दुर्लभम् ॥

---

१. यस्माद् व्यवस्थितः—ग०, घ० ।

१. प्रयुक्तं हि प्रयत्नतः ।

प्रयत्नपूर्वक किया हुआ विभिन्न वस्तुओं का मिश्रण (विमर्द) बड़ा ही मनोरंजक होता है ॥ १२४ ॥

नानाभावार्थसम्पन्नाः[1] स्थायिसत्त्वाभिचारिणः[2] ।
पुष्पावकीर्णाः[3] कर्तव्याः काव्येषु[4] हि रसा बुधैः ॥ १२५ ॥

नाट्य में अनेक अर्थों तथा भावों से पूर्ण स्थायी, सात्त्विक तथा संचारी भावों की योजना माला में पिरोये हुए पुष्पों की तरह (अपेक्षित रूप में) ठीक से करनी चाहिए १२५ ॥

एवं रसाश्च भावाश्च व्यवस्था[5] नाटके स्मृताः
य एवमेताञ्जानाति स गच्छेत् सिद्धिमुत्तमाम् ॥ १२६ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे भावविकल्पो[6] नाम सप्तमोऽध्यायः ।



इस प्रकार नाटक में रसों तथा भावों की तीन अवस्थाओं का निरूपण किया गया है । जो ठीक से समझता है वह अतिशय सफलता प्राप्त करता है ॥ १२६ ॥

भरतनाट्यशास्त्र 'भावाध्याय' समाप्त ।
सप्तमाध्याय समाप्त ।



बीभत्स, अद्भुत और शान्त रस की त्रिविधता का यहाँ कथन नहीं किया जा रहा है किन्तु अनेक भावों तथा रसों से युक्त छः रसों का त्रिविध प्रयोग ही कहा गया है। यहाँ प्रयोग का अर्थ है सात्त्विकभाव के प्रयोज्य विषय । इसे जान लेने पर नाट्यप्रयोक्ताजन प्रतिष्ठादि प्राप्त कर शोभित होते हैं, यद्यपि संसार में विचित्रता या विविध रसों का मिश्रित प्रयोग दुर्लभ होता है ।

१. नानार्थभावनिष्पन्ना—घ० ।
२. स्थायी सत्त्वविचारिणः—ग० ।
३. पुंसावकीर्णा—ग० ।
४. काव्ये सत्त्वरसाश्रये—ग०; काव्येषु हि रसाश्रयाः—घ० ।
५. व्यवस्था—ग० । ६. भावव्यञ्जकोनाम—घ० ।



परिशिष्ट

(नाट्यशास्त्र :अध्याय १-७)

अतिरिक्त टिप्पणियाँ

प्रथम अध्याय

(संकेत—टिप्पणियों के आरम्भ में दी गयी संख्या अध्यायगत श्लोकों की है।)

१. 'नाट्यशास्त्र'–शब्द की व्याख्या अति विस्तीर्ण है। कुछ आचार्य कहते हैं –'नाट्यस्य नटवृत्तस्य' शास्त्रं शासनोपायं ग्रन्थम्' अर्थात् नटों की अभिनय प्रक्रिया का विवरण देकर जिसे पठनीय (ग्रन्थ) बनाया जाए ऐसा शास्त्र ही **'नाट्यशास्त्र'** है। कर्त्तव्य एवं अकर्तव्य की शिक्षा देने के कारण इसका शास्त्रत्व निर्विवाद है। अन्य व्याख्याकार कहते हैं कि नाट्यशास्त्र शब्द नाट्य-वेद शब्द का पर्याय है अतः–नाट्यञ्च तत् शास्त्रम् इति नाट्यशास्त्रम्' व्याख्या ही उचित है। यह नाट्यवेद अर्थात् यह नटकर्मों की शिक्षा प्रदान करने वाला ग्रन्थ है। पर इस व्याख्यान में आपत्ति यह है कि नाट्यपद से जिस नाट्यकला का ग्रहण होता है वह शब्दरूप होने के कारण प्रवचन के योग्य नहीं है। इसके अतिरिक्त कलारूप नाट्य शब्दात्मक नहीं जिसका प्रवचन किया जा सके। केवल नाट्य के व्यवस्थित रूप में निरूपित कर देने पर इससे भिन्न एवं बाह्य-रूपों का (जो अशास्त्रीय है) स्वतः निराकरण हो जाता है इसलिये 'शास्त्र' शब्द का नाट्यपद के साथ प्रयोग भी निरर्थक है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थ के अन्त में 'य इदं शृणुयात् प्रोक्तं नाट्यवेदं स्वयं भुवा' (ना० शा० ३६।७४) इत्यादि जो कहा गया है वह भी असंगत हो जाएगा क्योंकि बिना शब्दात्मक रूप के 'शृणुयात्' शब्द उसका वाचक कैसे हो सकेगा।

अतएव भरतमुनि गुरुभूत एवं सभी के अधिपति ब्रह्मा एवं महेश्वर विष-यक स्मृति, औत्सुक्य, मति आदि व्यभिचारि भावों और बाह्य विषयों से असम्बद्ध या अवृत्तिरूपी जडता, अवहित्था आदि के साथ (धर्म–) वीर रस से अनुगत होकर तदनुकूल नमस्कार–(आदि) स्वरूप शिरोनमन रूप आङ्गिक एवं वाचिक अनुभावों को प्रकट करते हुए नाट्यशास्त्र के प्रवचनभूत प्रयोजन को ही प्रदर्शित कर रहे हैं; क्योंकि प्रयोजन ही प्रत्येक व्यक्ति का प्रयोजन होता है।

नाट्य आस्आदनात्मा एवं साक्षात्कारात्मक प्रत्यक्षज्ञान से ग्राह्य होने वाला रसात्मक पदार्थ है और इस अलौकिक रसात्मक नाट्य का जो शास्त्र अर्थात् शासन है वही 'नाट्यशास्त्र' कहलाता है, जो अशास्त्रीय भांड आदि के प्रदर्शनों से भिन्न है। अतः ब्रह्मा आदि के अन्य शिष्यों ने जिसे अनुपयोगी तथ्यों एवं तत्वों के मिश्रण से अनुपयुक्त विस्तार दे दिया था उस 'नाट्यशास्त्र' का उपयोगी एवं यथार्थ निरूपण ही मैं (भरतमुनि) यहाँ करूँगा यह तथ्य मूल में 'प्रवक्ष्यामि' पद से संकेतित किया गया है क्योंकि इसी 'नाट्य' को पितामह ब्रह्मा ने मुझे प्रदान किया था। यही तथ्य नाट्यशास्त्र के प्रस्तुत अध्याय में आगे भी दिखलाया गया है। अतएव 'नाट्यस्य वेदः शास्त्रम् वा' ऐसा समास ही उचित है। यदि 'नाट्यवेद' पद से नाट्यशास्त्र को ग्रहण नहीं किया गया तो फिर इसका परम्परा सम्पन्न अध्यापन सम्भव नहीं होगा क्योंकि ब्रह्मप्रोक्त नाट्यवेद ही यहाँ परम्परा के अनुसार निरूपित किया गया है।

इसके अतिरिक्त चारों वेदों से पितामह ब्रह्मा ने क्रमशः पाठ्य, गीत, अभिनय तथा रसरूप अंगों को लेकर जिस नाट्यवेद की सर्जना की उसी नाट्यवेद (या नाट्यशास्त्र) का निरूपण यहाँ इष्ट है अतः तद्विषयक शास्त्र ही यहाँ 'नाट्यशास्त्र' शब्द से अभिहित किया गया है,

यदि **'विद्'** धातु के ज्ञान, सत्ता, लाभ तथा विचार (सभी) अर्थों को ध्यान में रख कर 'नाट्यस्य वेदनं सत्ता लाभो विचारश्च यत्र स नाट्यवेदः' एसी व्याख्या करे तो नाट्यवेद शब्द रूपक के दस प्रकारों का ग्राहक हो जाता है। इस व्याख्या के अनुसार 'ब्रह्मणा यदुदाहृतम्' का अर्थ होगा—उस नाट्यवेद का—जिसका ब्रह्मा ने प्रथम रूपक (अमृतमन्थन नामक समवकार) लिख कर उदाहरण प्रस्तुत किया था—मैं निरूपण करूँगा। (या प्रवचन या वर्णन करता हूँ।) पर अन्य व्याख्याकार—नटकर्म अथवा अनुकरणीय होने के कारण नाट्यशब्द से नाटकादि रूपक ही लेते हैं अतएव इनके लक्षणादि का प्रतिपादक शास्त्र 'नाट्यशास्त्र' माना जाए। (आशय यह कि दशरूपकों का निरूपण जिस शास्त्र में हो उसे ही 'नाट्यशास्त्र' समझना चाहिये।) इसी नाट्यशास्त्र का ब्रह्मा ने निरूपण किया था और स्वयं रूपक रचना लिख कर नटों से उसका अभिनय प्रयोग भी प्रस्तुत करवाया था।

(इसके अतिरिक्त) अन्य विद्वान् 'ब्रह्मणा यदुदाहृतम्' की एक अन्य व्याख्या करते हैं। उनका कहना है कि वेद नामक शब्दराशि से प्राप्त होने वाले विधि एवं प्रतिषेध के आदेशात्मक शिक्षण को यह नाट्य के द्वारा शासन

योग्य बना देता है अतएव वेदवत् होने और विधिनिषेध का शिक्षण प्रयोजन रहने के कारण इसकी शास्त्रवत्ता स्वतः स्पष्ट है।

भट्टनायक के अनुसार इसकी व्याख्या भिन्न है—परब्रह्म परमात्मा (ब्रह्मणा) ने जिसको (यत्) अविद्या कल्पित मिथ्या जगद्रूप भेद के ग्रहण करने हेतु उदाहरण बनाया (उदाहृतम्) वह 'नाट्यशास्त्र' जैसे नाटकादि में रामादि का चरित कल्पित, एकरूप में स्थिर न रहने वाला, स्वप्नादि से विलक्षण, अद्भुतरूप में प्रतीत होता हुआ धर्मादि पुरुषार्थ का साधन वन जाता है। इसी प्रकार यह जगद् भी नाम रूपात्मक प्रपञ्च लिये हुए है तथा इससे नाट्य का मोक्षसाधनात्मक पारमार्थिक प्रयोजन भी बन जाता है।

यहाँ नाट्यशास्त्र का प्रवचन **प्रयोजन,** नाट्यवेद **अभिधेय** (विषय) व्युत्पाद्य व्युत्पादकभाव प्रयोजन एवं विधिवत् जिज्ञासु भाव से शास्त्र तत्व का ग्राहक अधिकारी का भी प्रकृत पद्य से संकेत मिलने से अनुबन्धचतुष्टय की भी अनायास पूर्ति हो जाती है।

२–५ भरतमुनि ने नाट्यवेद की उत्पत्ति की पुराकथा दिखलाते हुए ब्रह्मप्रोक्त नाट्यवेद की स्वयं के नाट्यशास्त्र से भिन्नता मानकर यहाँ उसे दिखलाने का निश्चय सूचित किया है। क्योंकि विधिनिषेध के उपदेशों का वेदों के समान प्रदाता होने के कारण नाट्यवेद या नाट्यशास्त्र भी जब वेद या ज्ञानराशि भूत है तो इसके गुह्य रहस्यों का तात्विकस्वरूप ज्ञात करना आवश्यक हो जाता है तथा सहज इच्छा होती है, इसकी संज्ञागत प्रसिद्धि के कारण भी कि इसका स्वरूप क्या है ? इत्यादि।

इस सन्दर्भ में सर्व प्रथम प्रश्न यह है कि नाट्यवेद की उत्पत्ति का प्रयोजन क्या है—क्योंकि यदि वेद से ही नाट्य के प्रयोजन की पूर्ति हो जाए तो इसकी आवश्यकता नहीं रहेगी और यदि यह उत्पन्न हुआ है तो फिर जन्य होने से (वेद के समान जब) नित्य नहीं है तो फिर वेदों की समानता कैसे धारण करेगा। इस पर यदि आप यह कहें कि प्रत्यक्षतः जिन्हें वेदों का उपदेश नहीं किया जा सकता हो ऐसे व्यक्तियों के लिये नाट्यवेद जी रचना की गयी है तो इससे किस प्रयोजन का सम्पादन होगा। क्या जिन्हें वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त है ऐसे त्रैवर्ण इसके अधिकारी होंगे या फिर उनसे भिन्न शूद्रादि ही। यह दूसरा प्रश्न है।

'इसके कितने अङ्ग हैं या अंगों की संख्या किती है' इस प्रश्न का आशय यह है कि यदि नाट्यवेद के अंग अधिक या अनेक हों तो उनकी निश्चित संख्या का विनिश्चय (अवधारण) न होने से—कठिन होगा। इसी सन्दर्भ

में इसी से लगा हुआ प्रश्न यह भी उपस्थित होगा कि इस नाट्य के गीत, वाद्य, नृत्य एवं अभिनय आदि दिखलाई देने वाले अंग कितने हैं तथा यह नाट्य इन अंगों से पृथक् वेदवत् अङ्गी रूप में विद्यमान रहने वाला भी है या फिर अङ्गों का समुदाय मात्र होकर स्थित रहनेवाला ? यह तीसरा प्रश्न है।

इस नाट्यवेद में कितने प्रमाण ग्राह्य हैं या प्रमाण कौन-कौन से हैं। यह चौथा प्रश्न है। इस पर यदि आशंका की जाए कि नाट्य के प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा गृहीत होने के कारण प्रमाण विषयक चर्चा का प्रश्न व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त धर्मादि श्रेय प्राप्ति के उपायों का बोधक (भी) नाट्य होता है अतः इन्हें बतलाने वाले नाटच के लिये (फिर अन्य) प्रमाणों की क्या अपेक्षा है और यदि ऐसा माना जाए तो फिर प्रमाण विषयक प्रश्न का मूल में उपस्थापन क्यों किया गया।

(इस प्रकार) इन आशंकाओं (के उत्थापन) के बाद आचार्य अभिनव गुप्त ने इन्हीं का (विवेचनात्मक) उत्तर देते हुए बतलाया कि–'यह ठीक है कि एक प्रकार से प्रश्न का उपस्थापन व्यर्थ हो परन्तु यहाँ प्रश्न का आशय यह है कि नाटच के जो भी अङ्ग हैं उनका ज्ञान किस प्रमाण से किया जायगा ? इसी से दूसरा अभिप्राय यह भी निकलता है कि नाटच की अङ्गिता या अङ्गभाव का बोध किस प्रकार से होगा ? इसी प्रश्न का एक अंश यह भी है कि इसमें अङ्गाङ्गिभाव का नियम किस प्रमाण से ज्ञात होता है। इस व्याख्या में प्रमाणपद निश्चय के जनक प्रमाण-साधन का ग्राहक होगा।

अन्य व्याख्याकारों का मत है कि नाटचगत रूपकादि प्रभेदों एवं पाठच, अभिनय, रस एवं गीत आदि नाटचाङ्गों के उपपादक इस नाटचवेद ग्रंथ का परिमाण कितना है (या ग्रन्थ संख्या कितनी है ?)। इस प्रकार यहाँ चतुर्थ प्रश्न विभाग विषयक है जिससे परिमाण जिज्ञास्य है।

अब इसी क्रम में आगे पाँचवाँ प्रश्न आता है–'इस नाटच का प्रयोग किस प्रकार करना चाहिए ?' इस प्रकार पूछने का उद्देश्य यह है कि जब नाटचादि में अभिनय, गीत एवं पाठचादि अंगों का एक साथ एवं एक ही समय प्रयोग हो रहा हो तब चक्षु, श्रोत्र आदि विभिन्न इन्द्रियों को एक साथ इसकी प्रतीति सम्भव नहीं होगी तो समवेत नाटच की एकात्मक प्रतीति कैसे सम्भव होगी ?

इसके अतिरिक्त विभिन्न अंगों का पृथक्-पृथक् प्रयोग प्रस्तुत करने पर एकात्मप्रतीति और भी कठिनाई उत्पन्न करेगी। ऐसी दशा में नाटच-प्रयोग सम्पन्न कैसे हो पाएगा ?

इससे यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि इस नाट्य का प्रयोग किसी सुनिश्चित अङ्गाङ्गिभाव द्वारा होता है या अनिश्चित अङ्गाङ्गिभाव से। इस प्रकार इस प्रश्न के द्वारा सामान्याभिनय, चित्राभिनय एवं रूपक-भेदों के विषय में (पंचम) प्रश्न उपस्थापन किया गया और इन पाँच प्रश्नों के उपस्थापन द्वारा यह भी सूचित किया गया है कि 'नाट्यशास्त्र' कवि (नाट्यकार) तथा अभिनेता (प्रयोक्ता) की उनके अपने कर्तव्यों के शिक्षार्थ रचित है यह भी सूचित होता है।

६. मूल में प्रयुक्त 'तु' शब्द एव के अर्थ में है जिसका आशय है बिना विलम्ब किये हुए। पूर्वकालतामात्र में 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' (अ० २।४।२६) के द्वारा श्रवण एवं प्रतिवचन रूप दो क्रियाओं में से श्रवण किया की पूर्व-कालता क्त्वा प्रत्यय से सूचित होती है जो श्रवण एवं प्रतिवचनगत व्यवधान रहने पर भी हो सकती है। 'ततः' पद से हेतुता सूचित होती है और 'कथा' पद यथातत्व के अर्थ को स्पष्ट करने (अर्थात् उचितरीति से विस्तारपूर्वक प्रतिपादन करने) के लिये प्रयुक्त किया गया है।

कुछ आचार्यों के मत में पिछले पाँच प्रश्नों के उपस्थापन के अनन्तर उनका विनिश्चय इसी अध्याय में कर दिया गया है और फिर उद्देश्य क्रम से उनके विभाग, लक्षण तथा परीक्षा के लिए नाट्यशास्त्र के शेष अध्याय रचे गये हैं। अन्य विद्वानों का मत यह है कि पूर्वरङ्गविधान तक के पाँच अध्यायों में दो प्रश्न का निश्चयपूर्वक उत्तर दिया गया और शेष तीन प्रश्नों का चित्रा-भिनय पर्यन्त अवशिष्ट बाईस अध्यायों में। आचार्य अभिनवगुप्त ने इस प्रकार के अन्य सभी व्याख्यानों की समीक्षा करते हुए बतलाया कि इन पाँच प्रश्नों के विवेचन हेतु विभागपूर्वक अध्यायों का क्रम निश्चित नहीं होने से किसी विशेष क्रम का अवलम्बन कैसे सम्भव हो सकता है। अतएव प्रश्नपञ्चक से निरूपक नाट्यशास्त्र रूपी महावाक्य के द्वारा यथावसर सभी तत्वों का विनि-श्चय कर समग्र प्रश्नों का निश्चयपूर्वक उत्तर दिया गया है।

७. नाट्यवेद की उत्पत्ति कुलाल द्वारा घटादि के निर्माण के समान प्रत्यक्ष नहीं क्योंकि यह तो पुराकाल में पितामह ब्रह्मा द्वारा सम्पन्न की गयी थी जिसे अब केवल शब्दों से सुना जा सकता है। इसी आशय को मूल में 'श्रूयताम्' पद से सूचित किया गया है।

८. पौराणिक मान्यता के अनुसार चतुर्दश मन्वन्तरों का एक कल्प होता

है जो एक ब्राह्म दिन कहलाता है। इन चौदह मन्वन्तरों में स्वायम्भुव मन्वन्तर प्रथम था। आज वर्तमान वैवस्वत मन्वन्तर इस कल्पक्रम में सातवाँ होता है। इन सभी मन्वन्तरों के त्रेतायुग के आदि में ब्रह्मा 'नाट्यवेद' का निर्माण करते हैं और सभी मन्वन्तरों में देवगण की प्रार्थना पर ब्रह्मा नाट्यवेद की रचना करते हैं।

९-११. 'क्रीडनीयकं' पद की व्याख्या होगी 'क्रीड्यते विक्षिप्यतेऽनेनेति क्रीडनीयकम्। यहाँ बाहुलक से अनीयर प्रत्यय द्वारा क्रीडनीयक शब्द निष्पन्न होता है। अथवा 'क्रीडनाय हितं क्रीडनीयकम्' करें तो यहाँ अज्ञातार्थक 'क' प्रत्यय द्वारा भी क्रीडनीयक शब्द निष्पन्न हो जाएगा।

१२. 'सार्ववर्णिक' पद से वेदाध्ययन के अधिकारी एवं अनाधिकारी दोनों ही प्रकार के सुकुमारमति गृहीत हैं। आशय यह कि शास्त्रों के अध्येता या अनधिकारी सभी नाट्य द्वारा शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। अन्य व्याख्याकार इसका अर्थ करते हैं–जिस नाट्य में सभी वर्णों के अपने-अपने कर्तव्य का निरूपण किया जाए उसे सार्ववर्णिक समझना चाहिए तथा उसके आधार पर जिसकी रचना हो ऐसा नाट्यवेद सार्ववर्णिक है जिससे कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान सुदृढ़ होता है।'

१३. देवताओं को सामान्यतः बिदा करने के बाद यहाँ पुनः इन्द्र का पृथक् उल्लेख देवराज के प्रति विशेष सम्मान प्रदर्शनार्थ है। समाधि लगा कर वेदों का स्मरण करने का उद्देश्य है सभी वेदों का एक साथ आभान सम्भव होना। इन्हीं के साथ यहाँ एक प्रक्षिप्त श्लोक भी मिलता है। यथा—

नेमे वेदाः यतः श्राव्याः स्त्रीशूद्राद्यासु जातिषु।
वेदमन्यत्ततः स्रक्ष्ये सर्वश्राव्यन्तु पञ्चमम्॥

[क्योंकि स्त्री तथा शूद्र आदि जातियों के द्वारा वेद सुने नहीं जा सकते हैं अतएव सभी के द्वारा सुने जाने वाले एवं इन पूर्व वेदों से भिन्न (अभिनव) पाँचवें वेद का निर्माण करता हूँ।]

१४-१५. धर्मादि का साधक होने से 'नाट्य' धर्म्य है। यहाँ धर्म पद पुरुषार्थों के उपलक्षणार्थ प्रयुक्त समझना चाहिए। वेद, शास्त्र आदि से भी चतुर्विध पुरुषार्थ-साधनों का ज्ञान हो जाता है तब फिर नाट्य में ही कौन सी विशेषता है? ऐसी आशंका के निवारणार्थ ही मूल में 'ससङ्ग्रह' पद रखा गया है। ठीक तरह से जिससे ग्रहण होता हो उसे कहते हैं 'संग्रह' अर्थात्

निश्चित प्रतीति के लिये किसी अन्य प्रमाण पर भी आश्रित न रहता हो या जिसे अपेक्षा न रहे। ऐसा प्रतीति प्रत्यक्ष ज्ञानात्मिका ही होती है क्योंकि किसी अर्थ के प्रत्यक्ष हो जाने की दशा में तद्विषयक जिज्ञासा पूर्ण हो जाती है। नाटच भी ऐसी ही (प्रत्यक्षज्ञानात्मिका) एवं निश्चित प्रतीति है।

यहाँ नाटच शब्द से दशरूपकों के अभिनय प्रशिक्षक शास्त्र को समझना चाहिए जिसकी रचना करने का ब्रह्मा द्वारा संकल्प किया गया। नाटच प्रयोग-प्रधान होता है अतः केवल बुद्धि द्वारा ग्रहण करने मात्र से इसे (प्रत्यक्ष अभिनयादि) कार्य के बिना बोधगम्य नहीं बनाया जा सकता है।

१६. मूल में दिये गये 'चतुर्वेदाङ्गसम्भव' पद की व्याख्या दो प्रकार से होती है। जिसमें प्रथम–'चतुर्भ्यो वेदेभ्योऽङ्गानां सम्भवः यस्य' (अर्थात् जिस नाट्य के अङ्गों की उत्पत्ति चारों वेदों से हुई हो)। तथा दूसरी–'चत्वारो वेदा अङ्गानां पाठचादीनां सम्भवाः यस्य' अर्थात् चारों वेद जिस नाट्यवेद के पाठच आदि अंगों के कारण अथवा उद्भवभूमि हैं।

१७. 'पाठचम्' शब्द पठ् धातु के 'व्यक्त वाणी के उच्चारण करने अर्थ को ध्यान में रख कर निष्पन्न किया गया है। वाणी अर्थात् वाक्यों की स्पष्टता ही व्यक्तत्व है जिसे विवक्षाविशिष्ट अर्थबोधन की क्षमता कहते हैं। यह क्षमता आगे काकुस्वर आदि निरूपण (ना० शा० अध्याय १७) अध्याय में बतलाये गये स्वर, अलङ्कार आदि के समन्वय से आती है और उस काकु, अलङ्कार आदि सामग्री की योजना से युक्त संवाद का ही नाम 'पाठच' है। नाट्य में इसकी प्रमुखता होती है अतः सर्वप्रथम यहाँ भी इसी का उल्लेख किया गया। जैसा कि आगे कहेंगे—

वाचि यत्नस्तु कर्त्तव्यो नाटचस्यैषा तनूः स्मृता।
अङ्गनेपथ्यसत्वानि वाक्यार्थं व्यञ्जयन्ति हि ॥ (ना० शा० १५।२)

[नाटच को प्रस्तुत करते समय अभिनेता को वाणी के विषय में विशेष प्रयास करना चाहिए क्योंकि यही नाटच का (विशेष) शरीर मानी जाती है तथा नाटच के आङ्गिक, आहार्य तथा सात्विक अभिनय जैसे अन्य अङ्ग भी वाणी के अर्थ को ही अभिव्यक्त करते हैं।]

इसी कारण अभिनय से पृथक् करते हुए पाठच को सर्वप्रथम बतलाया गया।

इस पाठचरूप प्रधान अंश को ऋग्वेद से ग्रहण किया गया। ऋग्वेद के उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों से युक्त पाठ्य भाग को (जो त्रैस्वर्य युक्त कहा गया है) नाटच में लिया गया। इसलिये पाठ्य में तीनों स्वर विद्यमान

हैं। पाठ्य विषयक स्वर के प्रसङ्ग से पाठ्य के उपरान्त सामवेद से गीत को लिया गया। यहाँ 'च' कार से पाठ्य और गीत को समान महत्व का दर्शाया गया है तथा 'एव' के द्वारा यह भी सूचित किया है कि सामवेद से केवल गीत मात्र का ग्रहण किया गया है क्योंकि गीत को ही साम कहा जाता है। इसके अतिरिक्त गीत के आधारभूत ध्रुवा तथा पद को ऋग्वेद से ही लिया गया, यह भी 'एव' पद के द्वारा मूल में सूचित किया गया है।

अध्वर्यु के प्रधान-कर्मोपपादक यजुर्वेद से प्रदक्षिणा, गमन आदि के क्रम एवं प्रसङ्गों में अङ्गकर्मों के होने के कारण आङ्गिकअभिनय का एवं उस अवस्था या स्थिति में धारण किये जाने वाले वेष के कारण आहार्य अभिनय का और उन कर्मों में प्रयत्न करने वाले व्यक्तियों के द्वारा विहित धैर्य आदि मानसिक व्यापार के कारण सात्विक अभिनय की प्राप्ति हो जाने के कारण यजुर्वेद से सभी अभिनयों का ग्रहण बतलाया गया।

अथर्ववेद में प्रतिपादित शान्ति तथा अभिनय कर्मों में नट के समान ऋत्विज् को शम और कम्प आदि अनुभावों, प्रजा के शुभ चिन्तन तथा शत्रु मारण आदि विभावों और वास्तव में होने वाले धृति, प्रमोद आदि सञ्चारी भावों का मुख्यरूप से संयोग रहने के कारण विभावादि सामग्री से निष्पन्न रसास्वाद के होने से रसों का अथर्ववेद से ग्रहण बतलाया गया।

इस प्रकार पाठ्य आदि से प्रारब्ध, गीत वाद्य आदि से अनुसृत एवं अभिनय से परिपुष्ट रसचर्वणासमन्वित आह्लादात्मस्वरूप 'नाट्य' होता है। इस नाट्य के द्वारा सामाजिकों को वेद के समान ही विधिनिषेध या कर्त्तव्या-कर्त्तव्य का बोध होने से शिक्षाप्रदाता नाट्य वेद-स्वरूप है। इसलिए बलात् कार्य कराने वाले राजाज्ञा रूप वेदादि शास्त्र से भिन्न स्वरूपवाले एवं अनायास ही कर्त्तव्याकर्त्तव्य के ज्ञानबोधक नाट्य का वेदत्व उपपन्न हो जाता है।

१८. वेदों का अर्थ समझने में सहायक होने के कारण जिनसे अर्थ भान होता हो उन्हें उपवेद कहते हैं। इनमें प्रजा के स्वास्थ्यरक्षण का उपायदर्शन करने वाला आयुर्वेद ऋग्वेद का उपवेद है। इसके अतिरिक्त यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद, सामवेद का उपवेद गन्धर्ववेद एवं अथर्ववेद का उपवेद अर्थवेद या शिल्पशास्त्र है। चरणव्यूह में यही उपवेदों का क्रम (दिखलाया गया) है। (परन्तु) सुश्रुत आदि आचार्यों ने आयुर्वेद को अथर्ववेद का भी उपवेद माना है।

२२. यहाँ ग्रहण पद से गुरुमुख से विद्या का अध्ययन, धारण पद से उसका स्मरण रखना; ज्ञान पद से उसका विविध तर्कवितर्क द्वारा भली भाँति

मनन करना तथा प्रयोग पद से अभिनय के द्वारा सामाजिकों के समक्ष रङ्ग-शाला में उसको प्रस्तुत करने का अर्थ सूचित किया गया है। इसके अतिरिक्त यहाँ 'च' पद से उसका बार-बार प्रयोग कर श्रम, अभ्यास आदि को भी निर्दशित किया गया है।

३६. पद्य ३६ तथा ३७ के बीच निम्न पद्य प्रक्षिप्त रूप में (पाठ 'त' बड़ौदा संस्करण) प्राप्त होते हैं।

किरीटिनश्च माषञ्च तथा धन्विनमेव च।
शिलापट्टं स्वर्णगुञ्जं शिलालिनमथापि च ॥ क ॥
अग्निवेशं शिवञ्चैव ध्यानं जप्यं सुमङ्गलम्।
जैगिषव्यं कुण्डिनञ्च तथा कलशमेव च।
विद्धाक्षं घूर्णनासञ्चाप्यसितं सितमेव च ॥ ख ॥

(किरीट, माष, धन्विन्, शिलापट्ट, स्वर्णगुञ्ज, शिलालिन्, अग्निवेश, शिव, ध्यान, जप, सुमंगल, जैगिषव्य, कुण्डिन, कलश, विद्धाक्ष, घूर्णनास, असित तथा सित)।

४६-४७ सौन्दर्याधायक होने के कारण शृङ्गार रस में कैशिकी वृत्ति की उपयुक्तता तो (उचित ठहरायी जा सकती) है परन्तु इसका उपयोग इसके अतिरिक्त भी है। यह वृत्ति कवि, अभिनेता तथा सामाजिकों के हृदय में रसों की भावना या व्याप्ति रूप तथा रसोत्पादक शैली का एक प्रकार होने से इन्हीं दोनों स्वरूपों वाली भी मानी जाती है। इसके अतिरिक्त रौद्रादि रसों को प्रस्तुत करने के लिये जो अभिनय किया जाता है यदि उसमें अनु-प्रासादि अलङ्कार एवं वलन, वर्तना आदि व्यापार का ठीक से जमाव न हो तो रसोत्पत्ति में बाधा भी उपस्थित होगी। (पर जब ये शब्दसौन्दर्य और अङ्गसौष्ठव भी कैशिकी वृत्ति के प्रकार होकर रसानुकूलता के आपादक हो जाएँ तो अबाध रस प्रतीति होगी ही) अतएव सभी रसों के उपयुक्त होने से कैशिकीवृत्ति का एक विशिष्ट उपयोग भी है।

मूल में प्रयुक्त 'स्त्रीजनाद्रते' पद का अभिप्राय यह है कि भगवान् शिव के समान हृदय में जब तक उद्दामआनन्द से पूर्ण पवित्रता एवं रसप्रसूत सौन्दर्य का उद्रेक नहीं हो तब तक अभिनय में अपेक्षित सहजसौन्दर्य लाना कठिन होता है और यह विषयों से सहज विमुख रहने वाले मुनियों में तो बड़ी कठिनाई पैदा करता है क्योंकि ऐसी वृत्तियों से वे सर्वथा अपरचित होते हैं तथा दूर रहते हैं। अतएव मुनियों से स्त्री पात्र का सहज अभिनय सम्भव

ही नहीं है। इसके अतिरिक्त शृङ्गारादि के अभिनय में अपेक्षित तन्मयता को प्रवचन तथा अभ्यास के द्वारा इन मुनिजन में उत्पन्न भी नहीं किया जा सकता है। स्त्रियों के सम्पर्क में आने से एक तो उन मुनिजन में भी ऐसी भावनाएँ लायी जा सकती हैं एवं इनके सम्पर्क से ये भी सुकुमार भावनाओं का अनायास बोध एवं यथार्थ प्रस्तुतीकरण कर लेंगे। यहाँ मुनि ने स्त्रियों के बिना कैशिकी वृत्ति के अभिनय की बात सामान्य जन के लिये बतलायी है क्योंकि भगवान् शिव एवं पुरुषोत्तम विष्णु असामान्य देवता होने से पुरुष होकर भी सभी वृत्तियों के अभिनय का सामर्थ्य रखते हैं।

इसके अतिरिक्त यहाँ वृत्तियों का जातिपरक एक अन्य पक्ष भी है। तदनुसार ये वृत्तियाँ विभिन्न श्रेणियों या जातियों से सम्बद्ध भी है। जैसे भरत जाति में प्रचलित शैली की वृत्ति का नाम 'भारती' हो गया। भरत जाति में कुछ लोग नाटक खेलते हुए जीवन यापन करते थे तथा नटवंशीय या भरत कहलाते थे। सात्वत जाति सम्भवतः अभारतीय जाति थी। कहते हैं कि भावप्रवण भक्तितत्व का सात्वतों के कारण भारत में प्रचलन हुआ और भागवतसम्प्रदाय इन्हीं की देन हैं। इसी प्रकार कैशिकी और आरभटी वृत्तियाँ भी विभिन्न जातियों से सम्बद्ध है। इनमें कैशिक जाति पश्चिम के कास्पियन-तट पर बसी हुई जाति का नाम है तथा आरभट जाति ग्रीक लेखकों द्वारा उल्लिखित Arbitus से अभिन्न है जो सिन्धुघाटी में विद्यमान थी। श्री घोष का यह पक्ष साधार है क्योंकि जब रीतियों का सम्बन्ध और विकास भारतीय प्रदेशों से सम्बद्ध है–जैसे विदर्भ की वैदर्भी, गौड की गौडी, लाट की लाटी तथा पञ्चाल की पञ्चाली–तो फिर जातियों से सम्बद्ध भारती आदि वृत्तियों के मानने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए।

५६–५७. पूर्वरङ्ग का मुख्य माङ्गलिक अंग 'नान्दी' माना गया है। कुछ व्याख्याकारों के मत में इसे समस्त अंगों का उपलक्षण समझना चाहिए। अन्य व्याख्याकार कहते हैं कि पूर्वरङ्ग में अकेले नान्दी का प्रयोग भी किया जा सकता है केवल यही इस कथन का यहाँ आशय है।

उपाध्याय भट्टतोत का मत है कि जब तक प्रस्तुत नाट्यप्रयोग में दैत्यों ने विघ्न उपस्थित नहीं किया था तब तक विधिवत् पूर्वरङ्ग के समग्रभाव में प्रस्तुत करने का अवसर ही उपस्थित नहीं होता क्योंकि मुख्यतः नाट्यमण्डप के रक्षक देवताओं के स्थापन एवं उनके परितोषार्थ यह पूर्वरङ्ग सम्पन्न किया जाता है तथा गौणरूप से दैत्यों के असन्तोष का भी यही कारण बनता है।

अतएव जब दैत्यों ने इसमें विघ्न उपस्थित किया तभी से पूर्वरङ्ग विधान का प्रारम्भ हुआ है। इसलिये यहाँ पूर्वरङ्ग का जब अपने सभी अङ्गों के साथ प्रयोग ही नहीं हुआ था तब केवल नान्दी को ही प्रस्तुत किया गया ऐसा समझना चाहिए।

नान्दी के प्रस्तुत करने में अन्य हेतु बतलाने के लिये मूल में 'वेदनिर्मिता' विशेषण दिया गया है। वेद में सभी कार्यों के आरम्भ में मंगलाचरण-विधान है इसलिये (नाट्यवेद के वेदनिस्सृत होने के कारण) यहाँ भी नान्दी का प्रयोग किया गया। विघ्नों की इस समय तक न उपस्थिति थी और न सम्भावना ही अतएव विघ्नों के निवारक पूर्वरङ्ग के साङ्ग अनुष्ठान का प्रसंग ही यहाँ उपस्थित नहीं होता।

वाक्य तथा महावाक्य के प्रति आठ अङ्गभूत पदों से या महावाक्य के अङ्गभूत अवान्तर वाक्यों से युक्त रहने के कारण नान्दी दोनों प्रकार की हो सकती है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक प्रकार भी इसके हो सकते हैं यह बतलाने के लिए इसे विचित्रा कहा गया है।

आचार्य भट्टतोत का मत है कि मूल में अङ्गपद के ग्रहण से अवान्तर वाक्यों का ही उपादान होगा। जिससे चतुरस्र नाट्यमण्डप में प्रस्तुत प्रयोग में अष्टपदा नान्दी तथा त्र्यस्र नाट्यमण्डप में द्वादशपदा नान्दी का प्रयोग करने का निर्देश मानना ही उचित होगा। जैसा कि आगे भी 'नान्दी पदैर्द्वादशभिः अष्टभिर्वा पदैरपि' (ना० शा० ५।१०४) ['आठ या बारह पदों से युक्त नान्दी को'] इत्यादि से कहा गया है। यहाँ प्रयुक्त 'अपि' शब्द से अष्टपदा एवं द्वादशपदा नान्दी के अतिरिक्त चतुरस्र नाट्यमण्डप में चतुष्पदा तथा षोडषपदा नान्दी को भी लिया जाना (इष्ट है यही) संकेतित है। और इस प्रकार त्र्यस्र नाट्यमण्डप में तीन या छः पदों की नान्दी को लिया जा सकेगा। इस प्रकार थोड़े भेद के कारण नान्दी के तीन भेद प्रत्येक नान्दी के मोटे तौर पर हो सकते हैं और फिर इस प्रकार नान्दी की अनन्त विधाएँ कल्पित करना सम्भव हो जाता है।

५७. मूल के 'अनुकृतिर्बद्धा' पद का आशय है अभिनय का आरम्भ करना। किन्हीं व्याख्याकारों ने इसका अर्थ अभ्यास आरम्भ करना भी किया है जो असंगत है। आशय यही कि प्रस्तावना के उपरान्त नाट्य का आरम्भ अभिनय के साथ होता है। अन्य आचार्य यहाँ अनुकृति पद का अर्थ करते हैं–'नाट्य की अनुकरण स्वरूपा प्रस्तावना'। इन्होंने मूल पाठ भी माना है– 'कृता तदन्तेऽनुकृतिः' ['उस नान्दी के पश्चात् प्रस्तावना सम्पन्न की']।

प्राचीन काल में (भी) यही परिपाटी प्रचलित थी तथा इसी कारण भास आदि नाट्यकारों की रचना में नान्दी पाठ कहीं नहीं मिलता और 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' लिखने का भी यही कारण स्पष्ट हो जाता है।

दैत्यों पर देवगण की विजय के आख्यान को प्रस्तुत करने का आशय केवल इतना ही है कि डिम, समवकार या ईहामृग प्रकारों वाले रूपकों में से अन्यतम का प्रदर्शन आरम्भ करना। यद्यपि भरतपुत्रों को रूपकों के सभी प्रकारों का शिक्षण दिया गया था एवं अभ्यास भी करवाया गया था किन्तु उन सभी एक का एक साथ प्रदर्शन सम्भव नहीं होने से उनमें से एक का यहाँ प्रथम प्रयोग प्रस्तुत किया गया। इस पर कुछ व्याख्याकार आपत्ति प्रस्तुत कर कहते हैं कि—'युद्धादि से भयंकर स्वरूप रखने वाले समवकार जैसे रूपक प्रकार में कैशिकी का स्थान ही नहीं होता अतः कैशिकी वृत्ति के प्रयोगार्थ उचित सामग्री प्राप्त करने का प्रतिपादक पूर्वग्रन्थ असंगत मानना पड़ेगा'। यह उचित नहीं। क्योंकि समवकार में भी जो सौन्दर्यात्मक वैचित्र्य होता है वह भी कैशिकी के कारण है अतः बिना कैशिकी के वह कैसे सम्पन्न होगा।

इस प्रयोग में देवगण एवं असुरों के वर्तमान चरित्र का अभिनय प्रस्तुत नहीं किया गया था यह तो पूर्वमन्वन्तर के देव एवं असुरों का चरित्र था। पूर्वमन्वन्तर में होनेवाली असुरों की पराजय के प्रख्यात कथानक को भ्रमवश असुरों ने समान जातीय होने के कारण वर्तमान सन्दर्भ में अपनी पराजय मान ली और वे क्षुब्ध हो गये। इससे एक अन्य संकेत यह भी मिलता है कि वर्तमान चरित्रों एवं उनसे मिलते जुलते चरित्रों का अभिनय उचित नहीं होता क्योंकि ऐसा करने पर अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं।

६९–७०. 'जर्जर' शब्द का विग्रह है 'जीर्यत्यतिशयमनेनेति जर्जरः'। इसे 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' (अ० ३।१।१३४) से अच प्रत्यय कर यङ् लुगन्त में निष्पन्न करते हैं। यहाँ जर्जर शब्द दो बार प्रयुक्त हुआ है। दूसरी बार जर्जर शब्द ध्वज के लिये आया है। इसे जॄ धातु से णिच् प्रत्यय के पश्चात् अच् प्रत्यय करके निष्पन्न किया जाए। इस समय उपाख्यान का संकेत यही है कि नाट्यप्रयोग में विघ्न करने वाले तत्वों पर शासन नियन्त्रण करे तथा (हो सके तो) दण्ड की भी व्यवस्था करे।

१०५–१०६. मूल में प्रयुक्त 'वचन' पद से यह सूचित किया गया है कि जो दोषारोपण किया गया है उसका सरलता से समाधान या निवारण किया जा सकता है। यहाँ देवताओं के प्रति जो पक्षपात का आरोप है उसे मिथ्या-

ज्ञान से गृहीत रज्जु में सर्प से उत्पन्न भय के समान भ्रान्तिदायक समझना चाहिए। नाट्यप्रयोग का उद्देश्य या आशय दैत्यों की दुष्टता तथा देवों की सज्जनता की प्रसिद्धि या प्रचार करना नहीं है। यहाँ केवल शुभ तथा अशुभ कर्मों का फल दिखलाना इष्ट है। इसके अतिरिक्त इसमें देवगण या दैत्यों पर ही कोई बल नहीं दिया गया है प्रत्युत उत्तमकर्म का उत्तम परिणाम दिखलाया गया है जिसे एकपक्षीय पक्षपात नहीं मान सकते; क्योंकि दैत्यों के शुभकर्मों का भी नाट्य में शुभ परिणाम दिखलाया जा सकता है। दूसरे इसका कारण यह भी है कि शुभाशुभ कर्म धर्माधर्म रूप होते हैं और नाट्यवेद उन्हें सुख एवं दुःख के फलस्वरूप अलग-अलग निर्धारित करता है। इसका आशय यही है कि जो किसी विशिष्ट देश एवं काल में इस प्रकार शुभाशुभ कर्मों के द्वारा धर्माधर्म का उपार्जन करता है उसे तदनुरूप फल की उपलब्धि होती है। इस तथ्य की नाट्यवेद प्रेरणा भर देता है क्योंकि वह वेद या धर्मशास्त्र के समान आदेशात्मक उपदेश का प्रदाता नहीं हैं।

१०७ परन्तु उपर्युक्त तथ्य के मान लेने पर भी एक प्रश्न पुनः उपस्थित होता है कि ऐसा होने पर भी ऐसे चरित्रों की उद्भावना ही क्यों की जाए जिससे क्षोभ, असन्तोष या दुःख उत्पन्न होता हो ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि नाट्य के बाहर सभी अपने स्वरूप में विद्यमान रहे क्योंकि इसमें केवल देवों या असुरों का ही चरित्र प्रदर्शित नहीं होता और उन्हीं के किसी चरित्र के प्रदर्शन करने का इसका उद्देश्य भी नहीं है। क्योंकि नाट्य-प्रदर्शन में उनका तात्विकबोध नहीं होता, न ही सादृश्यज्ञान से 'यह इसके समान है' ऐसा बोध होता है, न ही भ्रान्तरूप में शुक्तिका-रजतवत् स्मृतिरूप ज्ञान रखा जाता है, न ही सत्यज्ञान से बाधित मिथ्याज्ञान का यहाँ आरोप रहता है, न ही समानगुणों के अध्यवसाय द्वारा 'गौर्वाहीकः' के समान बोध करवाना यहाँ इष्ट है, मुख में चन्द्र की सम्भावना द्वारा उत्प्रेक्षमाण स्वरूप का बोध भी यहाँ इष्ट नहीं है, न प्रतिकृति या अनुकृतरूपवाले खिलौनों की तरह इसमें किसी प्रतिकृति का प्रस्तुतीकरण है, न ही गुरुशिष्यों के व्याख्यान की तरह स्वभावानुकरण का प्रतिपादन है, न इन्द्रजाल की तरह तात्कालिक निर्माण और दक्षता से किसी की हूबहू नकल करने की हाथ की सफाई या मायाकारी सदृश नटों में रामादि बुद्धि इसमें होती है।

इस प्रकार निर्दिष्ट इन सभी पक्षों में असाधारणता होने से रसास्वाद सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त कवि के लिये भी वर्णनीय नियत व्यक्ति के वर्णन में अनौचित्य का परिहार सम्भव न हो तो काव्यनिर्माण कैसे सम्भव

होगा। चाहे मुख्य अनुकार्य का दर्शन हो या प्रयोक्ता (अभिनेता) का, दोनों दशाओं में लौकिक व्यापार के देखने पर सांसारिक या लौकिक हर्ष क्रोधादि की उत्पत्ति अवश्य होगी तथा इन दोनों के देखने में ही बुद्धि को केन्द्रित करने या लगाये रखने पर रसानुभूति भी नहीं हो सकेगी।

ऐसी स्थिति में–'नाट्य में ऐसा क्या दिखलाया जाता है' जैसा प्रश्न बना ही रह जाता है तथा इसी के समाधान के हेतु भरतमुनि ने—**त्रैलोक्यस्यास्य'** इत्यादि कारिका का उत्तरार्ध कहा है।

तदनुसार नाट्य न तो किसी अनुकार्य या व्यक्तिविशेष के चरित्र का अनुभावन अर्थात् प्रत्यक्ष करवाता है और न ही उसका अनुकरण स्वरूप माना जाता है किन्तु यह तो साधारणीकरण व्यापार द्वारा समान्यीकृत स्वरूप से समग्र विश्व के भावों का 'अनुकीर्तन है' अर्थात् इस नाट्य का ग्रहण अनुव्यवसायात्मक प्रतीति से होता है तथा प्रमाणों के आधार पर एक बार नाट्य की अनुकरणरूपता के खण्डन कर दिये जाने पर भी (लौकिक अनुकरण के अनुसार उसके रहने के कारण) गौण रूप से उसे अनुकरण मान लेने में भी कोई दोष नहीं होता और वास्तव में अनुकरणादि से नाटक का भेद सिद्ध हो जाने पर शाब्दिक-विवाद की आवश्यकता ही नहीं रहती। (इस तथ्य को आगे प्रसङ्गवश विस्तार से पुनः प्रतिपादित किया जाएगा।)

१०८–११५. यहाँ 'क्वचिद्धर्म' इत्यादि एवं पद्य ११२ आदि में अभिहित नाना भावों को बतलाया गया है। यहाँ प्रयुक्त धर्मादि शब्द औचित्यानुसार अपने से सम्बद्ध स्थायी, संचारीभाव एवं विभाव आदि के सूचक हैं। इनमें 'क्वचिद्धर्मः' तथा 'क्वचिदर्थं' पद से उत्साह स्थायीभाव सूचित किया गया है। इसी प्रकार 'क्रीड़ा'पद से विस्मयादि, 'शम' से निर्वेद, 'हास्य' से हास, 'युद्ध' से क्रोध, 'काम' से रति, 'वध' से भय, जुगुप्सा एवं शोक आदि स्थायीभावों की सूचना दी गयी है। इन स्थायीभावों की सूचना से तदनुरूप संचारीभाव एवं विभावों को भी समझना चाहिए।

इसके अतिरिक्त 'क्वचिद्धर्मः' पद से धर्मप्रधान नाटक या प्रकरण भी गृहीत होते हैं। क्रीडा प्रधान रूपकों में भाण को लिया जा सकता है एवं अर्थ की प्रमुखता प्रकरण आदि में मिल सकती हैं। इस प्रकार लक्षणानुसार ये बातें दशरूपकों में भी देखी (तथा समझी) जा सकती हैं।

समग्र नाटक में इन विशेषताओं को लक्षणानुसार देखने के अतिरिक्त नाटकादि के एक-देश में भी इन्हें प्राप्त किया जा सकता है। तदनुसार धर्मप्रधानता के लिये छलितराम नाटक के एक भाग में श्रीराम का अश्वमेधयज्ञ

करना 'धर्म' का उदाहरण है। इसी प्रकार क्रीड़ा प्रधानता को स्वप्नवासवदत्त में देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त नाट्यादि के एक छोटे अंश में भी ये धर्मादि देखे जा सकते हैं। जैसे शाकुन्तल नाटक में—

'दुष्यन्त—क्या यही कुलपति कण्व की असवर्णक्षेत्रसम्भवा कन्या है।' यहाँ 'धर्म' है। इस प्रकार किसी नाट्यरचना में अथवा उसके एक विभाग या अंश में भी इन धर्मादि को उदाहरण स्वरूप प्राप्त किया जा सकता है।

११६. नाट्य में प्रमुखतः केवल धर्मादि का या पुरुषार्थ के उपाय मात्र का उपदेश ही नहीं दिया जाता है, किन्तु इन उपायों से प्राप्त होने वाले फल या परिणाम को भी दर्शाया जाता है या उसका संकेत किया जाता है। इसका आशय यही है कि साधारणीकरण व्यापार द्वारा समग्र विश्व के भावों को प्रस्तुत करने वाले नाट्य के देखने पर न दिखलाई देने या प्राप्त होने वाला कोई ज्ञानादि नहीं होता और ज्ञान शब्द से यहाँ आत्मज्ञान विषयक तथ्य भी लिया जा सकता है जिसे नाट्य में देखा भी जा सकता है। जैसे वेणीसंहार के—'आत्मारामा विहितरतयो' (वे० सं० १।२३) पद्य में आत्मज्ञान है।

शिल्प शब्द से माला गूँथने, चित्र या खिलोने बनाने या रंग रोगन चढ़ाने (पुस्त) आदि रचना को लिया जाता है। जैसे 'वेष्टितैर्ग्रथितगुम्फसंहतैरातते्श्च कुसुमैः सपल्लवैः, इत्यादि में मालारचना शिल्प ही है।

विद्या से आशय है राजनीति के अन्तर्गत दण्डनीति। जैसे बालरामायण के—'श्रमव्यायामाभ्यां प्रतिविहिततन्त्रस्य नृपतेः' (बा० रा० १।२४) पद्य में दण्डनीति है।

'कला' शब्द से गीतवाद्य आदि को लेना चाहिए। जैसे नागानन्द नाटक के—'व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना' (ना० नं० १।१४) इत्यादि पद्य में संगीत-कला का वर्णन है।

योग का अर्थ है ज्ञान से कला पर्यन्त तत्वों का अपने भेदों सहित एक दूसरे में मिश्रण होना। जैसे—'मेघाशङ्किशिखण्डिताण्डवविधा' इत्यादि पद्य में वाद्य तथा गीत के अङ्गों का परस्पर मिश्रण रखा गया है।

इसी प्रकार विक्रमोर्वशीय के—'आविलपयोधराग्रं लवलीदलपाण्डुकोमलच्छायम्' (विक्र० ५। ८) में शृङ्गारस के साथ आयुर्वेद तन्त्र का मिश्रण किया गया है।

'कर्म' पद से युद्ध के व्यापार आदि लिये जा सकते हैं। जैसे—आलीढ़-

स्थितटङ्कितस्य' इत्यादि पद्य में इन्द्र तथा असुरों के परस्पर युद्ध विषयक दावपेंचों का चित्रण है।

११९-१२०. 'नाट्य' जब देवता या असुरों से किसी प्रकार का भी सम्बद्ध नहीं होता तो फिर उनके नामादि का उल्लेख क्यों किया जाता है। ऐसी आशंका के समाधानार्थ यहाँ कहा जा रहा है—

देव, असुर, भूपति, (सामान्य) गृहस्थ, ब्रह्मर्षि एवं मुनि आदि को अधिकारी व्यक्ति या पात्र होने के कारण नाट्य में प्रस्तुत किया जाता है। इसका कारण यह भी है कि व्यक्तिविशेष का थोड़ा आधार न लेकर नाटकीय-कथा का प्रस्तुतीकरण कैसे सम्भव हो सकता है। इसके अतिरिक्त निश्छल उदारता एवं धर्मादि से सम्पन्न बलि एवं प्रहलाद जैसे असुर पात्रों को भी नाट्य में आधार बनाया जा सकता है। इसलिये केवल देव एवं भूपति को ही नाट्य में प्रमुख रूप से प्रमुख प्रदर्शन हेतु लिये जाने की बात कहना व्यर्थ है। नाट्य में न केवल देव एवं असुरों को ही किन्तु ब्रह्मर्षि, मुनि, महीपति, सद्गृहस्थ आदि को भी रखा जा सकता है। अतएव असुरों का अपमान करने या देवताओं को प्रसन्न करने हेतु ही केवल नाट्य का निर्माण नहीं किया गया है यह स्पष्ट है।

१२१. यहाँ 'अयं' पद से प्रत्यक्षसदृश अनुव्यवसाय का विषयभूत लोकस्वभाव कहा गया है जो सत्यासत्य विलक्षण होने से अनिर्वचनीय है। आशय यह कि साधारणीकरण व्यापार के द्वारा समग्र विश्व का स्वभाव जब अपने स्वभाव रूप में प्रतीत होनेवाला होकर आस्वाद्यमान स्थिति को प्राप्त करता है तो ऐसा अर्थ 'नाट्य' कहलाता है। यह सुख-दुःख से युक्त होने के कारण विचित्र है। इसमें केवल दुःखात्मकता या सुखात्मकता नहीं होती। अतएव लौकिक सुख दुःखादि भावों के सदृश या इन्हीं के संस्कारों से अनुप्राणित समुदायरूप अर्थ है 'नाट्य'। इस नाट्य का अङ्ग अभिनय होता है।

रत्यादिभाव या स्वरूप का अनुकरण करने वाला 'नाट्य' प्रतीति का विषय कैसे होगा? इस आशंका के समाधानार्थ ही मूल में स्वभावपद का विशेषण दिया है—**'अङ्गाद्यभिनयोपेतः'**। अङ्गादि उन्हें कहते हैं जिनमें शाखा (या आङ्गिक नृत्तादि तथा गीत) की प्रमुखता रहती हो।

ये अङ्गादि अनुमान ज्ञान या सङ्केतग्रह पर आश्रित शब्दज्ञानस्वरूप नहीं होते किन्तु प्रत्यक्षसदृश, लौकिक, सम्यक्, मिथ्या आदि प्रतीति से विलक्षण आस्वादन नाम से अभिहित होने वाली प्रतीति में उपयोगी होने वाले होते हैं। अथवा अङ्गपद से रसप्रतीति के हेतुभूत विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारि-

भाव भी लिये जा सकते हैं। ये जिसमें प्रधान हो वे अङ्गादि होंगे। ये विभावादि ही रस के अभिमुख्य नयन या आस्वादनयोग्य बनाने के निमित्त होने से अभिनय कहलाते हैं। जैसा कि रसाध्याय (ना० शा० अध्या० ६) में आगे बतलाया जाएगा।

उन अङ्गादि के अभिनय से युक्त हो बुद्धिरूपी दर्पण में जो अर्थ प्रतिबिम्बित होते हैं वे ही 'नाट्य' हैं। यह नाट्य नटनीय, नर्तनीय या नर्तनरूप, यत्नपूर्वक पहुँचाने वाला एवं हृदय में प्रविष्ट होने योग्य स्वरूप वाला होता है। अतएव नटों का जो (यह) परम्परागत कार्य (वृत्ति) है, वह भी धर्मादि का प्रतिपादक होकर 'नाट्य' कहलाएगा। यह नाट्य सुख एवं दुःखों के फलों से सम्बद्ध होता है तथा इसका फल होता है सुख-दुःखादि की अनुभूतियों के अनन्तर होनेवाला हेयोपादेयता का ज्ञान। इसी तथ्य को आगे (भावाध्याय में) और विस्तार से प्रस्तुत किया गया है।

द्वितीय अध्याय

१. इस प्रकार प्रथमाध्याय के विषय का विधिवत् ज्ञान करने के एवं 'रङ्गपूजां कुरुष्व' जैसे वचन से रंगपूजा के विषय में प्रेरणा लेने के उपरान्त उन मुनिजन ने फिर प्रश्न उपस्थापित किये। इसका कारण यह भी था कि कदाचित् भरतमुनि पाठ्यादि (नाट्याङ्गों) के समान पूजन की अन्तरंगता को ध्यान में रखते हुए विस्तार से सर्वप्रथम पूजन का ही प्रतिपादन करने लगेंगे तो पूजा के आधारस्थल रङ्गमण्डप का वर्णन नहीं हो सकेगा। इसके अतिरिक्त 'गानं रङ्गश्च सङ्ग्रहः' में मुनि ने नाट्यमण्डप का सब अङ्गों के बाद उल्लेख किया है इसलिये उद्देश्यक्रम से इसका निरूपण यदि अन्त में किया गया तो फिर रंगमण्डप और पूजन की अन्विति नहीं रहने से व्यवस्थित बोध में प्रतिबन्ध उपस्थित हो जाएगा या उसके प्रतिपादन का अवसर हो न आएगा। इस प्रकार की आशंकाओं एवं सम्भावित स्थितियों को विचार कर ही आत्रेय आदि मुनियों ने रङ्गमण्डप विषयक जिज्ञासा की सर्वप्रथम अवतारणा उपस्थापित की।

२. (इस) कारिका में दिया गया 'अथवा' शब्द पूजनविषयक पूछे गये पिछले प्रश्न के निराकरणार्थ प्रयुक्त है क्योंकि पूर्वप्रश्न मण्डपरचना के लिये करना अभीष्ट था और तभी पूजनविषयक प्रश्न करना क्रमप्राप्त होता। लक्षणपद से रंगमण्डप के विशेष आकार परिणाम आदि का स्वरूप ग्रहण समझना चाहिए। प्रश्न—असाधारण धर्म के कथन स्वरूप लक्षण को यहाँ कैसे ग्रहण न करें? उत्तर—यहाँ 'लक्ष्यते इति लक्षणं' व्युत्पत्ति करते हैं। इसका आशय है कि जो लक्षित होता (दिखलाई देता) हो वही रङ्गमण्डप का आकार, सन्निवेश आदि यहाँ लक्षण पद से अभिप्रेत है।

३. 'नाट्ययोग' का अर्थ है नाट्य की उत्पत्ति। 'तावत्' पद से पूर्व अभिहित प्रश्नों को न छोड़ने का संकेत है। यहाँ 'लक्षण' शब्द के साथ एव पद का अध्याहार होता है। अर्थात् लक्षण का आकार, परिणाम बतलाना अंग है और नाट्यमण्डप के निर्माण के पश्चात् ही यजन किया जा सकता है अतएव अब प्रथम 'लक्षण' बतलाना ही आवश्यक है।

४. मुनि ने मण्डप लक्षण एवं इनके यजन को बतलाने की बात कह दी किन्तु क्रिया अर्थात् रचनाशैली को छोड़ दिया था जिसे अगले पद्य में मुनि ने

स्वयं निर्दिशित किया । यहाँ उसके न बतलाने का कारण यह है कि मण्डप के लक्षण एवं यजन विधान की तो मनुष्यों के साथ देवगण के लिये आवश्यकता थी किन्तु उन्हें क्रिया की अपेक्षा नहीं थी क्योंकि देवगण मानस शक्ति से सभी (अपेक्षित मञ्च आदि) वस्तु के निर्माण की क्षमता रखते हैं ।

६. 'वास्तु' का अर्थ है नाड्यमण्डप के लिए ली जाने वाली भूमि का परिणाम आदि ।

७. 'इह' पद से आशय है प्रेक्षागृह के स्वरूपादि के विषय में । 'सन्निवेश' अर्थात् आकार एवं परिमाण । विश्वकर्मा के द्वारा विचार कर इस सारे क्रम को मिश्रित करने के कारण उन्हें सक्षम विशेषण दिया गया है—'धीमता' । प्रश्न—प्रेक्षागृह के आकार एवं परिमाण के अनुसार तीन प्रकारों को ही क्यों रखा गया । उत्तर—'शास्त्रतः' । क्योंकि शास्त्र से ही इनके वर्णित प्रकारों का इस प्रकार बोध होता है क्योंकि शास्त्र का अप्रामाण्य नहीं होता (इसी कारण तीन प्रकार रखे गये) ।

८-१० 'विकृष्ट' शब्द की व्याख्या है—'विभागेन कृष्टः दीर्घः इति विकृष्टः' अर्थात् लम्बाई चौड़ाई की दोनों दिशाओं में जो अलग-अलग (विभागेन) खींचा गया (कृष्टः) हो, अर्थात् चौड़ाई की अपेक्षा जिसकी लम्बाई अधिक रहे । चतुरस्र शब्द की व्याख्या 'चतस्रसु दिक्षु साम्येन इति चतुरस्रः' अर्थात् जिसकी लम्बाई चौड़ाई चारों दिशाओं में समान हो [या जिसकी चारों भुजायें समान हों] ऐसा वर्गाकार क्षेत्र वाला प्रकार 'चतुरस्र' कहलाएगा ।

त्र्यस्र शब्द की व्याख्या है—'तिस्रो अश्रयः त्र्यश्री तदस्मिन्निति त्र्यश्रः' अर्थात् जिसमें तीन कोण (अश्री) हों वह त्र्यश्री और त्र्यश्री जिसका प्रकार हो वह त्र्यश्र अर्थात् त्रिकोण (यहाँ 'तदस्मिन्' इत्यादि पाणिनिसूत्र से मत्वर्थीय अच् एवं ईकार लोप आदि होकर त्र्यश्र पद निष्पन्न होता है) ।

नाट्यमण्डपों के हस्त एवं दण्डप्रमाण के परिमाणानुसार ही ज्येष्ठ, मध्यम एवं कनिष्ठ भाव समझना चाहिए; विकृष्ट, चतुरस्र एवं त्र्यश्र के आकार के आधार पर नहीं । ये सभी भेद यद्यपि प्रचलित या उपयोगी नहीं हैं फिर भी किसी समय प्रयोग होने के कारण तथा भविष्य में किसी समय उपयोग की सम्भावना रहने के अतिरिक्त परम्परा के संरक्षणार्थ यहाँ इनका निर्देश एवं वर्णन किया गया है ।

११. जहाँ देव एवं असुर सदृश नायक एवं प्रतिनायक हों तो आरभटी वृत्ति प्रधान डिम आदि रूपकों के लिए लम्बे-चौड़े रङ्गमण्डप की अपेक्षा रहती है, क्योंकि इसमें (भाण्ड प्रभृति) वाद्यवादन का अधिक उपयोग होता है

और चलने, फिरने, भागने आदि के लिये अधिक लम्बाई वाले एवं ऊँचे-नीचे स्थानों की आवश्यकता रहती है, जिनमें पात्रों के द्वारा भी दीर्घ परिमाण वाले तालानुसारी डग भरने आदि के विधान होने के कारण ज्येष्ठ नाट्यमण्डप उपयुक्त रहता है। इन रूपकों का अभिनय मध्यम प्रकार के या छोटे नाट्य-मण्डपों में ठीक से नहीं हो सकता है, इसी कारण ज्येष्ठमण्डप का विधान किया गया।

(कुछ) अन्य आचार्यों का मत है कि जहाँ देवगण प्रेक्षक हों वहाँ ज्येष्ठ नाट्यमण्डप का निर्माण किया जाए। आचार्य **अभिनवगुप्त** के अनुसार यहाँ देवताओं का प्रेक्षकरूप अभिप्रेत नहीं है अर्थात् देवगण द्वारा अभिनय करने या उनके प्रेक्षक बनने का यहाँ विचार करना असंगत होगा। हमें तो दशरूपकों के लिए उपयुक्त नाट्यमण्डप पर ही विचार करना इष्ट है। क्योंकि डिम जैसे रूपकों में भयङ्कर दृश्य आदि दिखाना पड़ता है; अतएव इनके लिए ज्येष्ठ मण्डप की आवश्यकता है। इसका इतना ही आशय है कि ज्येष्ठ, मध्यम एवं अवर प्रकारों का सप्रभेद प्रतिपादन मनुष्यों के लिए ही किया गया है।

१६. 'अणु' उस त्र्यणुक (या त्रसरेणु) को कहते हैं जहाँ से दृश्यता आरम्भ होती है; अतएव वैशेषिकादिसम्मत अणुपरिमाण का द्व्यणुक यहाँ अणु शब्द से ग्रहण नहीं करना चाहिएं। अर्थात् तीन द्व्यणुक से निर्मित महत् परिमाण वाला 'त्र्यणुक' ही––जो दृश्य होता है––यहाँ माप-तौल के व्यवहार में अणु मानकर प्रयुक्त होना चाहिए।

१९. हस्त एवं दण्डप्रमाण के अनुसार नाट्यमण्डपों का ज्येष्ठादि क्रम में लक्षण निर्द्धारित किया गया है। इसका उद्देश्य यह है कि डिम जैसे रूपकों के लिये ज्येष्ठ मण्डप को राजा आदि धीरोदात्त नायक के चरित्र वाले नाटकादि के लिए मध्यमपरिमाण के मण्डप एवं तापस, विप्र आदि से सङ्कीर्ण चरित्रवाले प्रहसन आदि रूपकों के लिए कनिष्ठ परिमाण वाले नाट्यमण्डप को रखना उपयुक्त रहता है।

आशय यह कि विविध रूपकों के प्रयोग प्रस्तुत करने के लिए उपयुक्त नाट्यमण्डप देना ही उद्देश्य है जिससे रूपकों में विद्यमान पात्रों का स्वभावानुसार साक्षात्कार दर्शकों को सम्भव हो सके। (अतएव विवरणानुसार नाट्यमण्डप ही उपयुक्तता की दृष्टि से निर्माण होने चाहिए एवं इसी प्रकार के मण्डपों पर उपयुक्त रूपकादि का प्रयोग प्रस्तुत किया जाना चाहिए।)

२०. रङ्गमण्डप में नाट्यप्रयोक्ता के सामने की दिशा और उनके पीठ की ओर (पीछे की ओर) स्थित दिशा को लेकर नाट्यमण्डप का जो भाग होगा

वही उसकी लम्बाई समझी जाएगी। इसी प्रकार दोनों बाजुओं में रहनेवाली दिशाओं का भाग उसकी चौड़ाई होगी। मनुष्यों के लिए निर्मित नाट्यमण्डपों को इससे अधिक परिमाण वाले नहीं रखना चाहिए क्योंकि बड़े नाट्यमण्डप होने पर उनमें प्रस्तुत नाट्यप्रयोगों को ठीक से देखना और समझना कठिन हो जाता है।

२१. मध्यम नाट्यमण्डप सर्वाधिक उपयुक्त नाट्यमण्डप होता है क्योंकि इसके बाद किसी अन्य प्रकार की अपेक्षा नहीं रहती (और सभी रूपकों के प्रकारों को इस पर प्रस्तुत किया जा सकता है।) यहाँ नाट्यपद का प्रयोग रूपकों के सभी भेदों को बतलाने के लिये किया गया है।

२२. 'विप्रकर्ष' में प्रकर्ष का अर्थ होगा बड़ेपन या छोटेपन की अन्तिम सीमा। उसका जो अतिक्रमण करता है उसे 'विप्रकृष्ट' कहा जाएगा [अर्थात् ज्येष्ठ प्रमाण वाला नाट्यमण्डप]। विप्रकृष्ट मण्डप के ज्येष्ठ प्रमाण वाले विस्तीर्ण प्रकार में पाठ्य (जो नाट्य का शरीर एवं मुख्य अङ्ग माना गया है, वही मुख्य अंग) विस्वरता को प्राप्त करेगा जिससे प्रेक्षकवर्ग को उपताप-कता प्राप्त होगी। इस उपतापकता का कारण बनेगा ऊँचा करके या क्लेश-पूर्वक जिसके स्वर काकु आदि विभाग को समझ सकना। इसके अतिरिक्त दूरस्थ प्रेक्षकों के लिए यही 'विस्वरत्व' अश्राव्यता भी उत्पन्न करेगा (क्योंकि अधिक दूरी के होने से स्वर के धीमे होकर पहुँचने पर उसमें सुनाई देने की योग्यता ही नहीं रहेगी)। मुनि ने इस विस्वरता का कारण बतलाया है 'अनिस्सरणधर्मत्वात्' अर्थात् अत्यन्त दूर पहुँचने पर शब्द का प्रसारित न हो पाना। इसी कारण पाठ्य विस्वरता को प्राप्त करता है। अनिस्सरणधर्म को हम वर्तमान वैज्ञानिक परावर्तन-सिद्धान्त (Principl of reflaction) की तुलना में रख सकते हैं। बड़े प्रेक्षागृह में उच्चारित शब्दों की ध्वनियाँ प्रति-ध्वनि के कारण विघटन प्राप्त कर लेती हैं। यह कार्य ध्वनियों के पारस्परिक अवरोध के कारण भी होता है, क्योंकि एक त्रिकोण आकार में जो भी छोटा है, ध्वनि प्रबल होने से वहाँ देर तक रहती है और प्रतिध्वनि का समय लम्बा कर देती है। वाणी की प्रतिध्वनि का समय संगीत की प्रतिध्वनि से भिन्न होता है, अतः प्रेक्षागृह को वाणी एवं संगीत दोनों के उपयुक्त होना अपेक्षित है।

इसके अतिरिक्त अतिशय छोटे नाट्यमण्डप में भी उच्चस्वर से बोला गया पाठ्य एवं गीत 'अनिस्सरणधर्म' वाला होने के कारण माधुर्य-हीन हो जाता है क्योंकि यह अनुरणनरूप मधुरगुञ्जन को उत्पन्न करने वाला स्वर नहीं

है। स्वर का गुञ्जन तत्व ही स्वरूप है यह बात आगे गेयाधिकार प्रकरण (ना० शा० २६) में विस्तार से कही जाएगी। पाठ्य के समान ही योगक्षेम रखने के कारण गीत और आतोद्य का भी इसी से विस्वरत्व गृहीत समझना चाहिए।

२३. नाट्य के प्रधानभूत अङ्ग पाठ्य एवं अनुरञ्जक गीत, वाद्य आदि के विस्वरत्व होने पर अभिनय का ठीक से प्रत्यक्षीकरण असंभव हो जाता है। आस्यगत का अर्थ है चेहरे पर विद्यमान भाव भी जो अभिनेताओं द्वारा प्रस्तुत अनेक प्रकार की दृष्टियों; अश्रु, स्वेद, विवर्णता आदि अनुभावों, मुकुट, पगड़ी आदि वेषभूषाओं तथा आङ्गिक चेष्टाओं के अभिनय से गृहीत होता है—यह भी प्रेक्षागृह के अतिविस्तीर्ण होने पर अस्पष्टता धारण करेगा।

'प्रकृष्टत्वात्' पद की व्याख्या है—'प्रगतं कृष्टं कर्षणं दैर्घ्यं यस्य तस्य भावस्तस्मात्' अर्थात् जिसका कृष्ट अर्थात् कर्षण या दीर्घता प्रगत अर्थात् नष्ट हो चुकी हो उसी का भाव प्रकृष्टत्व कहलाता है।

इस प्रकार नाट्यवेश्म के छोटे होने पर भी अतिसामीप्य के कारण उत्पन्न होनेवाली दूसरी स्थिति अव्यक्तता की आ जाती है। पहिले अतिदूर होने एवं प्रेक्षागृह के बड़े होने के कारण अव्यक्तता आयी थी जो उसके छोटे होने पर भी तथैव उपस्थित हो जाती है। आशय यह कि अतिदीर्घ एवं अतिशय छोटा प्रेक्षागृह उत्तम या उपयुक्त नहीं है, अतः मध्यम प्रेक्षागृह ही उत्तम होता है।

२४. मध्यम प्रेक्षागृह के उचित होने का एक अन्य कारण यह भी है कि यह अधिक पसन्द भी किया जाता है, क्योंकि इसमें प्रस्तुत किये जानेवाले सभी रूपक भेदों के अन्तर्गत अङ्गभूत पाठ्य, उपरंजक गीत वाद्य एवं अभिनय की स्पष्ट प्रतिपत्ति होती है।

२५. दण्ड समाश्रित प्रमाण वाले प्रेक्षागृहों का अभिधान देवताओं के अभिप्राय से ही किया गया है अतः मनुष्यों के लिये हस्त समाश्रित प्रमाण का ही विधान अभिप्रेत है यह स्पष्ट हो जाता है। अतएव हस्तसमाश्रित प्रमाण-वाले नाट्यमण्डपों का ही लक्षण प्रमाण आदि बतलाना यहाँ इष्ट है। (और दण्डसमाश्रित प्रमाण के प्रेक्षागृहों को इन्हीं के समान केवल शास्त्रलक्षण की पूर्ति के हेतु ही यहाँ उपस्थापित किया गया समझना चाहिए।)

२६. यहाँ विभागपद हेयोपादेयता रूप तथा वास्तुपद गृहमण्डप का वाचक समझना चाहिए। अर्थात् भूमि का विभाग हेय तथा उपादेय (दोनों) दृष्टियों से परीक्षा करते हुए देखा जाना चाहिए। वास्तु प्रमाण का आशय

है कि जिस नाट्यमण्डप का निर्माण होना है उसी के विवरण एवं प्रमाणों के [तथा वास्तुशास्त्र के अनुकुल एवं तदनुसार विवरण एवं प्रमाणों के] अनुसार निर्माण करना चाहिए।

३१–३७. कपास, मूञ्ज या सन का सूत (डोरी) बन सकता है जिसका उपयोग यहाँ किया जाता है परन्तु चमड़े का मानसूत्र (जिसे आजकल फीता कहते हैं) नहीं बनाया जाए। स्वामी पद का अर्थ है प्रेक्षा या खेल को करवाने की आज्ञा देनेवाले या इसमें मुख्यतः सहायक बनने वाले अर्थात् राजा या अर्थपति।

३७–३८ मध्यम परिमाण के जिस विकृष्ट नाट्यमण्डप का अभी उल्लेख किया गया अब उसी का सूत्रपात कर व्यवस्थित विवरण बतलाया जा रहा है। इसकी विभाग विधि यह है कि —चौसठ हाथ लम्बाई (दैर्घ्य) एवं बत्तीस हाथ चौड़ाई (विस्तार) का क्षेत्र लेकर उसके बीच चौड़ाई की ओर से विभागार्थ सूत को फैलाना चाहिए। इनमें जो पीछे की ओर रहने वाला भाग पड़ेगा ऐसे भाग को मूल में पृष्ठभाग कहा गया है। इसके बीच में फिर चौड़ाई में सूत फैलाकर विभाग करना चाहिए। इस प्रकार उस पिछले (३२ × ३२) हाथवाले भाग के सोलह हाथ (अर्थात् १६ × ३२ हाथ) के दो भाग हो जाएँगें। उनमें से अगले (१६ × ३२ हाथ वाले) भाग को आधा विभक्त करे और उसमें आगे रहनेवाले भाग पर रङ्गपीठ और उसके बाद के (१६ × ८ हाथ वाले) पिछले भाग पर रङ्गशीर्ष की रचना करते हैं। रङ्गशीर्ष कहते हैं उस स्थान को जो नेपथ्यगृह से रङ्गपीठ पर आनेवाले (प्रवेश करने वाले) पात्रों के बीच में पड़ने वाला रंगमञ्च का प्रदेश होता है। यदि प्रेक्षागृह के मुख्य प्रवेशद्वार की ओर पैर करते हुए कोई मनुष्य चित्त सो जाए तो उसका मस्तक जैसे सर्वोच्च भाग में रहता है इसी प्रकार नाट्यमण्डप के प्रवेश द्वार से जिसका अन्तिम छोर दिखलाई पड़े ऐसा रंगपीठ से और नेपथ्य से लगा हुआ मध्यवर्ती प्रदेश–जिसका विस्तार १६ × ८ हाथ का प्रमाण रहता है—रंगशीर्ष समझना चाहिए।

इस रंगशीर्ष के पीछे (लम्बाई में १६ × ३२ हाथ का) नेपथ्यगृह बनाया जाता है। इसमें अभिनेतागण वेषभूषा परिवर्तन तथा वेषभूषा धारण, विश्राम एवं प्रतीक्षा आदि कार्य करते हैं (जैसा कि नाट्यशास्त्र में निर्दशित है)। अतएव नाट्यमण्डप के सबसे पिछले (१६ × ३२ हाथ के) भाग में नेपथ्यगृह बनाया जाता है। विकृष्ट (या आयताकार) नाट्यमण्डप के मान का यही विभाजनक्रम होता है।

कुछ विद्वानों का यह मत भी है कि जब चौड़ाई में रंगपीठ बत्तीस हाथ और लम्बाई में आठ हाथ हो तो उसे उपर्युक्त विवरण से समझने में कठिनाई पड़ेगी क्योंकि लम्बाई चौड़ाई से अधिक होती है क्योंकि ६४ × ३२ हाथ के क्षेत्र में जो लम्बाई थी वह तीसरे विभाजन में १६ × ३२ तथा चौथे १६ + ८ में चौड़ाई बन जाएगा। यह केवल समझने की बात ही है क्योंकि विवरणानुसार सम्पन्न करने पर आकार प्रमाण आदि में इससे कोई अन्तर नहीं आता।

रङ्गशीर्ष तथा रङ्गपीठ :—

नाटयशास्त्र के विवेचक विद्वानों ने रंगशीर्ष तथा रंगपीठ के स्थान, स्वरूप आदि के विषय में पर्याप्त उहापोह किया है। डॉ० मनोमोहन घोष रंगशीर्ष तथा रंगपीठ को पृथक् नहीं मानते। इनके मत में ये दोनों शब्द एक दूसरे के पर्याय हैं तथा अभिन्न भी। इनके मत में नाटयमण्डप का तीन चौथाई भाग प्रेक्षकों के बैठने के लिये और एक चतुर्थांश क्षेत्र रङ्गपीठ और नेपथ्यगृह के लिये रखा जाता है। नेपथ्यगृह के द्वार पर जो एक पर्दा स्थापित करते हैं यही यवनिका है जिसे उठाकर रङ्गमंच पर पात्र प्रवेश करते हैं।

प्रो० डी० आर० मनकड ने श्री घोष के मत की आलोचना करते हुए नाट्यशास्त्र द्वारा अभिप्रेत रङ्गपीठ तथा रङ्गशीर्ष की पृथक् स्थिति को स्पष्ट किया। तदनुसार भरतमुनि ने विकृष्ट नाट्यमण्डप में समुन्नत तथा चतुरस्र नाटयमण्डप में सम रङ्गशीर्ष बनाने का विधान (ना० शा० २।१०४) किया है। यह किसकी अपेक्षा समुन्नत या सम रखे जाएँ इस जिज्ञासा का उत्तर है रंगपीठ की अपेक्षा रंगपीठ समुन्नत या सम रहने चाहिए। इसके अतिरिक्त नाटयशास्त्र में ही रंगशीर्ष और रंगपीठ को एक ही पद्य में पृथक्-पृथक् निर्दशित भी किया गया है (ना० शा० २।७३)। इस प्रकार (स्पष्ट हो गया कि) रंगपीठ और रंगशीर्ष दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं।

डॉ० वे० राघवन् ने भी नाटयशास्त्र के उपर्युक्त प्रमाणों एवं अभिनव भारती के साक्ष्य पर रंगशीर्ष तथा रंगपीठ को पृथक् निरूपित किया। इनने अभिनवगुप्त द्वारा बतलाये गये यवनिका लगाने के स्थान को लेकर कहा कि जब रंगपीठ और रंगशीर्ष के बीच में यवनिका लगायी जाती हो तो इससे ही स्पष्ट हो जाएगा कि रंगशीर्ष तथा रंगपीठ भिन्न हैं तथा इन दोनों का विभाजन यवनिका करती है जिसे उठाकर पात्र मंच पर प्रवेश करते हैं।

आचार्य विश्वेश्वर ने 'रङ्गशीर्ष' मूल पाठ बनाकर इसी तथ्य को सहमति दी कि रङ्गशीर्ष तथा रङ्गपीठ दो भिन्न स्थान पर होने से पृथक् ही हैं जिसे स्वयं भरतमुनि तथा आचार्य अभिनवगुप्त ने बतलाया। परन्तु इस प्रकार के मूल पाठ संशोधन के बिना ही जब श्री प्रो० मनडक एवं डॉ राघवन द्वारा निर्दशित प्रमाणों एवं विवेचन से जब स्पष्ट हो गया तो फिर इस प्रयास की युक्तिसंगत अपेक्षा नहीं है। डॉ० सुब्बाराव ने रंगशीर्ष तथा रङ्गपीठ का स्पष्टीकरण नहीं दिया परन्तु इन दोनों को अभिन्न मान कर डॉ० घोप की ही पुष्टि की।

मत्तवारणी

६७. यद्यपि मूल में 'पार्श्वे' पद एकवचन में प्रयुक्त किया गया है परन्तु किसी विशेष पार्श्व का ग्रहण न होने के कारण एवं अगली कारिका में 'उत्सेधेन तयोस्तुल्यम्' में 'तयोः' पद के द्विवचन द्वारा दोनों बाजुओं में मत्त-वारणी का निर्माण करने की प्रतीति अवाधित रूप से होती है।

यहाँ मत्तवारणी के जो चार स्तम्भ बतलाये हैं उन्हें मण्डप के बाहर निकले हुए रखा जाता है। इसलिये रङ्गपीठ की दीवार के पूरे होने पर उससे मिले हुए मण्डप से बाहर की ओर दो खम्भे तथा उससे भी परे भित्ति के बाहर की ओर एक दूसरे से और पूर्व में लगाए गए दोनों खम्भों से भी आठ हाथ के अन्तर पर दो खम्भे लगेंगे। इस प्रकार आठ हाथ की लम्बाई चौड़ाई (८ × ८ हाथ) के चौकोर वर्गाकार वाले दो बरामदे बन जाते हैं जिन्हें मत्तवारणी कहते हैं।

जिन विद्वानों को विकृष्ट नाट्यमण्डप में विकृष्ट स्वरूप की मत्तवारणी इष्ट है उनके मत में सोलह हाथ लम्बी और आठ हाथ चौड़ी मत्तवारणी बनाने पर विकृष्टता सम्भव है। ऐसी दशा में सोलह हाथ लम्बे—रङ्गशीर्ष तथा रङ्गपीठ के सामने—के भाग की ओर से मिलाते हुए इसे उठाया जाएगा।

६८. प्रेक्षकों के बैठने के स्थान की अपेक्षा मत्तवारणी को डेढ़ हाथ ऊँचा रखा जाता है। कुछ विद्वान् डेढ़ हाथ की अपेक्षा एक हाथ ऊँचा रखना भी उचित मानते हैं। मूल में प्रयुक्त 'तयोः' पद इस बात का ज्ञापक है कि मत्तवारणी दोनों बाजुओं में बनाई जाए। मत्तवारणी की ऊँचाई के उपयुक्त प्रमाण में रङ्गपीठ की ऊँचाई रखी जाती है। इसका आशय यह है कि रंग-मण्डप के निचले भूभाग (ब्रघ्न) की अपेक्षा रङ्गपीठ की ऊँचाई डेढ़ हाथ रहनी चाहिए जिससे मत्तवारणी की आड़ न पड़ने के कारण रङ्गपीठ पर होने

वाले अभिनय कार्य तथा दृश्यों को ठीक से देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त 'उत्सेधेन' पद में रखे गये एकवचन से भी यही सूचित होता है कि मत्तवारणी और रंगपीठ के समान ऊँचाई पर स्थित रहने से मत्तवारणी की आड़ नहीं होगी और रङ्गपीठ की दृश्यावलि सुस्पष्ट दिखलाई पड़ेगी।

इसके विपरीत यदि रङ्गपीठ की अपेक्षा मत्तवारणी को अधिक ऊँचा रखा जाएगा तो रंगपीठ पर होने वाले अभिनयादि ठीक से दृष्टिगोचर न होंगे।

भरतमुनि के मूलवचन तथा अभिनवगुप्त की व्याख्या के आधार पर विचार करने पर स्पष्ट होगा कि रंगपीठ, रङ्गशीर्ष तथा नेपथ्यगृह प्रेक्षकों के बैठने के स्थान की अपेक्षा ऊँचे रखे जाते थे। इसका समर्थन मुनि के 'पूरणे मृत्तिका चात्र' (ना० शा० २।७४) इत्यादि से भी होता है। यह भराव रङ्गशीर्ष के बनाने तथा वेदिका भूमि को ऊँचा उठाने हेतु किया जाता था। इस प्रकार स्पष्ट है कि रङ्गपीठ और उसी के समान मत्तवारणियाँ भी सामाजिकों के बैठने के स्थान (अर्थात् आगे की प्रथम पंक्ति) की अपेक्षा ऊँची रखी जाती है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि रंगपीठ के दोनों पार्श्व में 'मत्तवारणी' की रचना की जाती थी। (इसे न तो रंगशीर्ष पर और न ही किसी एक बाजू में बनाया जाता था।)

'मत्तवारणी' का विश्लेषण नाट्यशास्त्र के अनुशीलनकर्त्ताओं के लिये महत्वपूर्ण स्थान रखता है। कुछ विद्वान् 'मत्तवारण' शब्द को उपयुक्त मानते हैं क्योंकि 'मत्तवारण' का अर्थ कोश में 'प्रसादवीथीनां वरण्डः' दिया गया है जिसमें कोई भ्रम नहीं रहता। परन्तु 'मत्तवारण' शब्द को ही स्त्रीलिंग में सौन्दर्याधान की दृष्टि से ही प्राचीन काल में परिवर्तित कर दिया गया होगा क्योंकि 'नाट्यशास्त्र' में सर्वत्र 'मत्तवारणी' पद ही मिलता है।

कुमारी गोदावरी केतकर ने मत्तवारणी शब्द को अशुद्ध माना है। उनके मत में कारिणी, धारिणी की तरह 'मत्तवारिणी' शब्द व्याकरण सम्मत है। परन्तु इनकी कल्पना उचित नहीं मानी जा सकती। 'मत्तवारण' शब्द से 'षिद्गौरादिभ्यश्च' से ङीष् प्रत्यय का विधान कर 'मत्तवारणी' शब्द बनाया जा सकता है तथा व्याकरण की दृष्टि से भी इसमें अशुद्धि नहीं होगी (क्योंकि गौरादि आकृतिगण होने से ङीष् प्रत्यय निर्बाध है)। इसलिये जब 'मत्तवारणी' शब्द अशुद्ध नहीं है तो फिर इसके शुद्ध करने के प्रयास निरर्थक ही होंगे। 'मत्तवारण' शब्द की व्युत्पत्ति 'मत्तं वारयति इति 'मत्तवारणः' भी की जाती है। यद्यपि ऐसी व्युत्पत्ति से इसके स्वरूप का कोई संकेत नहीं मिलता

पर आगे हम बतलायेंगे कि 'मत्तः चासौ वारणः' के द्वारा स्वरूप का साधारण संकेत ग्रहण होता है अतएव 'मत्तवारण' शब्द ही यहाँ उपर्युक्त प्रत्यय सम्पन्न होकर 'मत्तवारणी' की सिद्धि में सहायक है।

मत्तवारणी के साथ अनेक प्रश्न संसक्त हैं, जिन पर आधुनिक अनुशीलन-कर्त्ता विद्वानों ने पर्याप्त ऊहापोह एवं व्याख्यायें प्रस्तुत की हैं। अभिनवभारती के पिछले विवरण से स्पष्ट है कि रङ्गपीठ के दोनों ओर या फिर रंगपीठ तथा रंगशीर्ष के दोनों ओर मत्तवारणी की रचना की जाती थी। यह वरण्डा मुख्य भवन से बाहर की ओर बनेगा, भीतर नहीं; अतएव रंगपीठ (तथा रंग-शीर्ष दोनों) के बराबर बननेवाली मत्तवारणी भी बाहर ही बनेगी, भीतर नहीं। इस तथ्य को मूलनाट्यशास्त्र तथा अभिनवभारती के मिलान से ठीक से हृदयंगम किया जाना चाहिये।

इतने स्पष्ट विवरण के बाद भी **डॉ० मनोमोहन घोष** तथा **प्रा० डी० आर० मनकड** ने मत्तवारणियों का आकार वरण्डा मानते हुए भी इन्हें मुख्य भवन के अन्दर निर्मित माना। यह कल्पना नवीन अवश्य है किन्तु अभिनव-भारती के विपरीत है।

प्रो० भानु ने मत्तवारणी शब्द की अन्वर्थ व्याख्या करते हुए कहा कि व्युत्पत्ति ('मत्तान् वारयतीति मत्तवारणी') के आधार पर मत्तवारणी की स्थिति रंगपीठ के सामने रखी जाए। इनका मत है कि नाट्यप्रयोग को देखने-वाले (दर्शक) किसी दृश्य को देखकर कदाचित् भावावेश में आकर रंग-मञ्च पर अभिनय करनेवाले पात्रों के पास पहुँचने की चेष्टा करने लगते हैं इसलिए नाट्यप्रयोग को निर्बाध एवं व्यवस्थित रखने के लिये ऐसे दर्शकों की रोक आवश्यक है। इसी रोक के उद्देश्य से रंगमञ्च के सामने लगाया जाने वाला कटहरा ही मत्तवारणी है। इसी मत का व्युत्पत्ति के आधार पर समर्थन कर **श्री जयशङ्करप्रसाद** ने भी मत्तवारणी का उपयोग मत्तवालों का वारण माना है परन्तु इनके मत में मत्तवारणी का स्थान रंगपीठ के अगले भाग में था जो रंगपीठ के बराबर केवल एक ओर चार खम्भों से रुकावट के लिये बनायी जाती थी। इसकी ऊँचाई डेढ़ हाथ रखी जाती थी तथा यह रंगपीठ के अगले भाग में लगा दी जाती थी। (देखिये काव्यकला तथा अन्य निबन्ध-जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ ६३)

इस प्रकार अन्वर्थ व्याख्यान के आधार पर खड़ी की गयी मत्तवारणी की कल्पना सौन्दर्यमयी चाहे बन जाए किन्तु इस प्रकार की खींचातानी से उसकी सही स्थिति एवं उपयोग ही बदल डाला गया। प्रो० भानु तथा श्री प्रसादजी

के ये सुझाव विचित्र होकर रह गये। इसका कारण यह भी रहा कि ऐसी मत्तवारणी स्वयं ही दर्शक एवं अभिनय प्रयोग के मध्य रुकावट है।

बडौदा से प्रकाशित अभिनवभारती व्याख्या समन्वित 'नाट्यशास्त्र' के परिशिष्ट में **प्रो० सुब्बाराव** ने 'नाट्यमण्डप' पर स्वतन्त्र निबन्ध लिख कर समग्र द्वितीयाध्याय पर प्रकाश डालने का महनीय प्रयास किया। इसमें मत्तवारणी पर एकदम अछूती तथा चौंका देने वाली कल्पना प्रस्तुत की गयी, जो उनकी अनुशीलनप्रतिभा-प्रसूत है। इनका कहना है कि मदमत्त हाथियों की कलात्मक पंक्ति (जिसे एक लम्बी पट्टी में उत्कीर्ण कर नाट्यमण्डप की ऊँचाई के मध्य अलङ्करण के लिये लगाया जाता है) ही 'मत्तवारणी' है।

अपने पक्ष को प्रस्तुत करते हुए इनने मूलपाठ में भी संशोधन किया है। इनके मत में 'चतुस्तम्भसमायुक्ता' पाठ शुद्ध नहीं है अतएव इसे 'चतुस्तम्ब-समायुक्ता' माना जाना उचित है। स्तम्बपद का अर्थ है हाथियों के बाँधने का खूंटा या स्तम्भ। अतएव चार खम्बों अर्थात् खूंटों से युक्त मत्त हाथियों की पंक्ति को रंगमञ्च के सामने के भाग में एक पट्टी पर उत्कीर्ण कर (या एक लम्बी पंक्ति में चित्रित कर) सजावट के लिये लगाया जाए। यह डेढ़ हाथ मञ्च के समतल (के नीचे तक) से उठायी जाती है। इस प्रकार 'मत्तानां वारणानां श्रेणिः मत्तवारणी' अपने यौगिक अर्थ के अनुसार सम्पन्न की जा सकती है।

इस मत्तवारणी को लगाने का एक विशेष अभिप्राय भी है। क्योंकि रंगपीठ का रक्षक देवता इन्द्र माना गया है अतएव उसके वाहन ऐरावत की यह प्रतीक है। इसीलिये मत्तवारणी की अधिदेवता विद्युत् नाट्यशास्त्र में मानी गयी है।

श्री राव का मत है कि 'उत्सेधेन तयोस्तुल्यम्' में 'तयोः' पद का अर्थ होगा 'मत्तवारणीरंगमण्डपयोः'। इस प्रकार इस वाक्य का अर्थ होगा—'मत्तवारणी रंगमण्डप के बराबर ऊँचाई से'। यह 'मत्तवारणी' एक पङ्क्ति की होगी अतएव यह सामने की ओर दिखाई देने वाली रंगपीठ की एक बाजू है।

श्रीराव का यह मत अलंकरण की दृष्टि से भले ही एक उत्तम सुझाव हो किन्तु इससे भरतमुनि के आशय की सुस्पष्ट व्याख्या नहीं होती क्योंकि मत्त-वारणी केवल प्रतीक या नाट्यमण्डप का अलङ्कारमात्र नहीं है।

'मत्तवारणी' नाट्यशाला में उपयोग के कारण अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है इसी कारण वह रंगपीठ की तथा कभी-कभी रंगपीठ एवं रंगशीर्ष की बाजू में निर्मित की जाती थी जो एक वेदिका पर बनी होती थी। मत्त-वारणी शब्द इसके ऊपरी आकार को भी संकेतित करता है क्योंकि एक वरंडे

के आकार की बनाकर इसके ऊपरी भाग को हाथी द्वारा ऊँची की गई सूँड के आकार में अम्बारी के समान रखा जा सकता है।

श्री भोजराज ने अपने समराङ्गणसूत्रधार में इसके आकार को इस प्रकार निर्दशित किया है :—

मुखभद्रं भवेद्युक्तं वेदिका मत्तवारणैः।
क्षेत्रभागोदयार्धा भूराभूमिफलकान्तरम् ॥ (राजगृह अध्या० ३०।९)

[ऐसी मत्तवारणी से या अम्बारी से वेदिका का भाग सुहाना हो जायगा जो भूमि के एक छोर से उठकर भूमि के दूसरे छोर तक के भाग को आच्छादित किये रहती है।]

इसके झुकाव का विवरण भी भोजराज ने वहीं दिया है। तदनुसार—'यह अम्बारी जितनी बड़ी होगी उसकी ऊँचाई के तीसरे हिस्से के बराबर उसका निकास रखा जाएगा'। उदाहरण के लिये यदि १२ फुट ऊँची मत्तवारणी बनायी जाती है तो इसके आगे की निकासी या छज्जे को ४ फुट आगे निकला हुआ बनाना चाहिए।' (राज० अध्या० ३०।१०–११)

नाट्यप्रयोग के लिये मत्तवारणी आवश्यक एवं उपयोगी अंग (होती) है क्योंकि एक अङ्क के अन्तर्गत आनेवाले दृश्यों का कई स्थानों पर अभिनय किया जाता है। यह अभिनय अधिकांश में रंगपीठ पर होता है अतएव जब किसी दूसरे प्रदेश तक जाने की पात्रों की स्थिति आती है तो ऐसे दृश्य में पात्र परिक्रमण करते हुए मत्तवारणी में सजे दृश्य में पहुँचा दिये जाते हैं। इससे स्पष्ट हो जाएगा कि मत्तवारणी वर्तमान प्रचलित पक्षक (Wings) नहीं है तथा इसकी नाट्यप्रयोग में उपयोगिता को ध्यान में रख कर ही भरतमुनि ने प्रमाप आदि देकर इतना सुस्पष्ट एवं विस्तीर्ण व्याख्यान किया था।

षड्दारुक—

७३–७७. रङ्गपीठ की रचना के प्रसङ्ग में 'रङ्गशीर्ष' का उल्लेख हो चुका था अतः रंगशीर्ष के 'षड्दारुक' के विषय में यहाँ विचार करना इष्ट है।

नेपथ्यगृह की भित्ति के सामने—उससे लगे हुए एक दूसरे से आठ हाथ ही दूरी पर—दो खम्भों को खड़ा कर उनके मध्य दो छोटे द्वार बनाने की अपेक्षा से चार हाथ के अन्तर पर अन्य दो खम्भों को खड़ा करते हैं। इनके ऊपर और नीचे दो लकड़ियों को लगाया जाए। इस प्रकार छः काष्ठ खण्डों के रहने से इसे 'षड्दारुक' कहते हैं। इसका विग्रह होगा—'यत्र षड् दारूणि

तत् 'षड्दारुकं', संज्ञायां कन्' अर्थात् जिसमें छः काष्ठ खण्ड लगे हों उसे षड्-दारुक कहते हैं। इसमें संज्ञा के अर्थ में 'कन् प्रत्यय' का विधान करते हुए 'षड्दारुक' शब्द निष्पन्न किया गया है।

इससे नेपथ्यगृह में दो द्वार बनाते जाते हैं एवं इन दो द्वारों में एक दक्षिण तथा दूसरा उत्तर की ओर रखा जाता है। इनका उपयोग अभिनय पूर्ण करने के पश्चात् पात्रों के विश्राम या प्रतीक्षा के लिए किया जाता है। इसके अतिरिक्त एकाएक सामाजिकों (प्रेक्षकों) की दृष्टि से बचने में भी ये द्वार सहायक होते हैं।

इस पर प्राचीन व्याख्याकार नाट्यवर्तिकार हर्ष का निम्न मत है—

'पार्श्वद्वयोर्ध्वाधरदारुमण्डितं
स्तम्भद्वयोपेतमिह त्रिद्वारकम्।' इति षड्दारुकम्।

अर्थात् किनारों या बाजुओं में दो खम्भे, उनके ऊपर तथा नीचे दो लकड़ियों से युक्त और बीच में लगे दो खम्भों से युक्त तीन दरवाजे वाली तिदरी को यहाँ 'षड्दारुक' कहा जाता है, क्योंकि इसमें लगी हुई लकड़ियों की संख्या छः होती है।

अन्य (तीसरे पक्ष के) व्याख्याकारों का मत है कि दारुकर्म के जो छः प्रकार हैं उन्हें ही षड्दारुक समझना चाहिए जिनको भरतमुनि ने ही आगे दर्शाया है। दारुकर्म के ये छः प्रकार इस प्रकार हैं—(१) ऊह, (२) प्रत्यूह, (३) निर्यूह, (४) सञ्जवन, (५) अनुबन्ध तथा (६) कुहर। ये ही षड्दारुक हैं। इनके लक्षण क्रमशः दिये जा रहे हैं।

(१) 'ऊह' कहते हैं—स्तम्भ के ऊपरी सिरे से निकला हुआ काष्ठ। (२) 'प्रत्यूह' का आशय है—तुला या उस काष्ठ के ऊपर का दूसरा खण्ड, जो उससे भी अधिक बाहर निकला हुआ रहे, (३) 'निर्यूह' का अर्थ है—तुला से बाहर दो खम्भों के मध्य लगा हुआ चौखट या तख्तों की दीवार। (४) 'सञ्जवन' कहते हैं—ऊपर की ओर उठे हुए दीवार जैसे लकड़ी के तख्ते को, (५) 'अनुबन्ध' ऊपर की ओर उभार कर की गयी लकड़ी की खुदाई होती है तथा (६) 'कुहर' का अर्थ होता है लकड़ी पर की गयी वह खुदाई जिसे अन्दर गड्ढ को गहरा करते हुए (कुरेदते हुए) किया जाता है।

७७–७८. रंगशीर्ष के धरातल पर कछुए की पीठ-सा भाग (अर्थात् चारों ओर से ढलवाँ और बीच में उभरा हुआ भाग) 'कूर्मपृष्ठ' कहलाता है।

'मत्स्यपृष्ठ' कहते हैं चारों ओर नीचा और बीच में दूर तक उभरा हुआ लम्बा भाग। आशय यही कि इन दोनों प्रकार के धरातल रंगशीर्ष के नहीं रहने चाहिए।

८०-८४. दारुकर्म के छः प्रकार हैं—ऊह, प्रत्यूह, निर्यूह, सज्जवन, अनुबन्ध तथा कुहर। इनकी व्याख्या पूर्व में की जा चुकी है। ऊह तथा प्रत्यूह की एक व्याख्या और भी है। ऊह प्रत्यूह का अर्थ यहाँ होगा—'तर्क में उपयोगी अन्वय का नाम है 'ऊह' तथा व्यतिरेक का नाम होगा 'प्रत्यूह' जिन्हें दूसरे शब्द में ऊहापोह भी कह सकते हैं।

८४-८५. प्रतिद्वार अर्थात् अवान्तर द्वार को द्वारविद्ध न करे अर्थात् दोनों दरवाजों का मध्यभाग एक दूसरे के सामने नहीं आने पाए। नागदन्त का अर्थ है खम्भे के ऊपर लगाई जाने वाली खूँटी जिसे पुतली या चित्रादि के टाँगने के लिये लगाया जाए। इसे कुछ शिल्पज्ञ गजमुख कहते हैं। आशय यह कि नागदन्त दीवारों में नहीं लगाये जायें।

८५-८६. आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने द्विभूमि के विषय में अन्य व्याख्याकारों के कुछ मत दर्शाये हैं। तदनुसार द्विभूमि का प्रथमपक्ष (१) में अर्थ है—दो भूमि अर्थात् रंगपीठ के नीचे और ऊपर की भूमि से युक्त। द्वितीयपक्ष (२) में इसका अर्थ है—मत्तवारणी के बाहर निकले भाग के बराबर दूसरी भित्ति बना कर चारों प्रदक्षिणा मार्ग के समान दूसरी भूमि से युक्त जो होता है वही द्विभूमि कहलाता है। यह द्वितीयपक्ष है। तथा (३) मण्डप के ऊपर दूसरी मंजिल बनाने पर भी नाट्यमण्डप द्विभूमि कहलाता है। यह तृतीयपक्ष है।

इसके अतिरिक्त कुछ व्याख्याकार मूल में द्विभूमि पद को च्छेद कर 'अद्विभूमि' पद मानते हैं। इनका मत है कि नाट्यमण्डप में एक ही मंजिल होती है।

आचार्य भट्टतोत द्विभूमि पद की वीप्सागर्भ व्याख्या करते हैं। अर्थात् दो-दो प्रकार की भूमि जिसमें हो ऐसा नाट्यमण्डप द्विभूमि होगा। यह इस प्रकार होगा कि भूमि क्रमशः नीची, फिर ऊँची होती हुई रंगपीठ के पास से रंगपीठ के द्वार तक समान ऊँचाई में समाप्त होती है। इस प्रकार की भूमि रहने से प्रेक्षकों की एक दूसरे की आड़ नहीं आती और न एक दूसरे को ढँक सकता है। इसके अतिरिक्त इसका आकार पर्वतगुहा सदृश हो जाता है जिससे शब्द बाहर नहीं जाता और जाली आदि बना कर वातायन की न्यूनता भी इसमें बनी रहती है।

इस प्रकार द्विभूमि नाट्यमण्डप होने पर गीत (तथा वाद्यों में) विद्यमान स्वरों की गम्भीरता नाट्यमण्डप में घूम कर एक दूसरे की प्रतिध्वनि को उत्पन्न कर भर जाने के कारण हो जाती है।

'कुतप' शब्द का अर्थ है गायक एवं वादक वर्ग। इसकी व्युत्पत्ति है— 'कुनट्यिभूमिस्तां तपत्युज्ज्वलयतीति कृत्वा कुतुपः' अर्थात् जो नाट्यभूमि को उज्ज्वल या सुशोभित करे उसे 'कुतुप' कहा जाता है। इसकी अन्यत्युत्पत्ति है—'कुतं शब्दं पातीति कुतपः' अर्थात् जो शब्दों की रक्षा करता हो।

९१-९२. यद्यपि विकृष्ट नाट्यमण्डप के वर्णन से चतुरस्र नाटचमण्डप का भी अनुमान सम्भव हो सकता है फिर भी विस्पष्ट कथन के उद्देश्य से मुनि ने इसका 'पुनरेव' इत्यादि से अलग विवरण दिया है। इसके अतिरिक्त चतुरस्र मण्डप के लक्षण के बिना विकृष्ट नाटचमण्डप के स्तम्भविभाग एवं प्रेक्षकादि की उपवेशन-भूमि व्यवस्था आदि का समग्रतया बोध भी सम्भव नहीं है। इस कारण चतुरस्र नाटचमण्डप का पृथक् सुस्पष्ट लक्षण देना आवश्यक है। विकृष्ट नाटचमण्डप के लक्षण में मुनि ने स्तम्भों एवं रंगयोजना (या प्रेक्षकों को बैठने के उपयुक्त भूभाग की व्यवस्था) को चतुरस्र नाटचमण्डप के समान समझने का उल्लेख किया है; अतएव विकृष्ट के लक्षण को पूर्ण करने के लिये भी चतुरस्र का लक्षण बतलाना आवश्यक है इस तथ्य को मूलकारिका के 'पुनः' शब्द से यहाँ सूचित किया गया है।

'समन्ततः' का आशय है कि चारों दिशाओं में बत्तीस-बत्तीस हाथ के प्रमाण वाला वर्गाकार (चौकोर) नाटचमण्डप का निर्माण किया जाए।

९३. 'प्रविभज्य च' का अर्थ है पूर्ववत् ३२ × ३२ हाथ के प्रमाण को नाप कर इस प्रकार पूर्ववर्णित विकृष्ट नाटचमण्डप के विधानानुसार ही आरम्भ से लेकर विभागानुसार सभी कार्य सम्पन्न किये जाएँ तथा बाहर की ओर पक्की ईंटों की दीवारें बनवा दी जाएँ।

९४. इसके उपरान्त जिन स्तम्भों को (नाटचमण्डप के) भीतर लगाना है उनका विधान इस कारिका से बतलाया गया है। तदनुसार चतुरस्रनाटचमण्डप के ३२ × ३२ हाथ के भूक्षेत्र को चारों ओर से आठ-आठ विभागों में विभक्त करना चाहिए जिससे शतरंज या चौपड़ के फलक के समान चौसठ कोठों का एक क्षेत्र तैयार हो। इसमें बीच के कोठों में चारों ओर से आठ-आठ हाथ प्रमाण वाला रङ्गपीठ बनाया जाए। इसके पश्चिम की ओर पूर्व-पश्चिम बारह हाथ का एवं उत्तर-दक्षिण बत्तीस हाथ का क्षेत्र बचेगा। इसमें रंगपीठ के अन्दर समाविष्ट भाग आठ हाथ का होगा। पश्चिम की ओर जो बारह हाथ का (अर्थात् १२ × ३२ हाथ का) क्षेत्र बचेगा, उसमें से रङ्गपीठ

का समीपवर्ती—पूर्व पश्चिम चार हाथ और चौड़ाई में बत्तीस हाथ क्षेत्र को लेकर उस पर रङ्गपीठ से पश्चिम की ओर उतने ही प्रमाण वाले (अर्थात् ४ × ३२ हाथ के) षड्दारुक समन्वित रङ्गपीठ की रचना करना चाहिये तथा इससे पश्चिम में बचे हुये भाग पर (अर्थात् ८ × ३२ हाथ के क्षेत्र पर) नेपथ्यगृह का निर्माण करना चाहिये।

इस प्रकार जब रंगपीठ, रंगशीर्ष तथा नेपथ्यगृह का निर्माण हो जाए तो रंगपीठ को लक्ष्य-केन्द्र मान कर षड्दारुक स्तम्भों के अतिरिक्त (आगे बतलाये गये) विधानानुसार दस स्तम्भ लगाना चाहिए।

इनका विभाजन इस प्रकार है—पहिले चार स्तम्भ रंगपीठ के चारों कोनों में लगाये जाएँ। इसके पश्चात् आग्नेयकोण के स्तम्भ से चार हाथ की दूरी पर दक्षिण की ओर एक स्तम्भ लगाना चाहिये। इसी प्रकार नैर्ऋत्य कोण के स्तम्भ से भी चार हाथ की दूरी पर दक्षिण की ओर दूसरा स्तम्भ लगाया जाए। [फिर ईशान कोण के स्तम्भ से चार हाथ दूरी पर उत्तर की ओर एक स्तम्भ तथा वायव्य-कोण के स्तम्भ से चार हाथ की दूरी पर दूसरा इसी प्रकार स्तम्भ लगाया जाए।] तब पूर्वभाग के ईशान और आग्नेय कोण के स्तम्भों से चार हाथ की दूरी पर पूर्व की ओर दो स्तम्भ और लगाये जाते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर कोणों में लगने वाले छः स्तम्भ हो जाते हैं। इनमें यदि रंगपीठ के चारों कोनों में लगने वाले चार स्तम्भों को और जोड़ दें तो सब मिलाकर स्तम्भों की संख्या दस हो जाती है। ये दस स्तम्भ रङ्गपीठ पर लगाये जाते हैं।

९५–९६. इन दस स्तम्भों के बाहर की ओर दर्शकों के [सामाजिकों के] बैठने के लिये आसन बनाना चाहिये जो लकड़ी और ईंटों से सोपानबद्ध आकृति में बनाये जाते हैं। ये आसन स्तम्भों के बाहर रहते हैं क्योंकि उनके समीप रहने पर देखने में रुकावट आती है। यहाँ 'रङ्गपीठावलोक्यम्' पद से इसी तथ्य की ओर संकेत किया गया गया है। इसकी व्याख्या है—'रङ्गपीठावलोकने साधु भूतं रङ्गपीठावलोक्यम्'। इससे भी नाट्यमण्डप के द्विभूमित्व का समर्थन होता है।

९७. बीच में लगनेवाले अन्य स्तम्भों का इस कारिका में विवरण दिया गया है। इनका क्रम यह है—रङ्गपीठ के दक्षिण में लगाये गये दो स्तम्भों से चार हाथ के अन्तर पर एवं एक दूसरे आठ हाथ के अन्तर पर दो स्तम्भ, दक्षिण पूर्व के आग्नेय कोण के स्तम्भ के सामने आने वाले पूर्व स्तम्भ में चार हाथ की दूरी पर दक्षिण की ओर दक्षिण स्तम्भ लगाते हैं। इसी प्रकार पूर्व स्थापित दस स्तम्भों में से दक्षिण की ओर स्तम्भों एवं दक्षिण की भित्ति के मध्य भाग में तीन स्तम्भ लगते हैं। इसी प्रकार उत्तर की ओर भी तीन

स्तम्भ लगाये जाते हैं जो सब मिला कर मध्यभाग में लगने वाले छः स्तम्भ हो जाते हैं।

९८. इसके पश्चात् आठ स्तम्भ और लगाते हैं। इनका योजना-क्रम इस प्रकार है—दक्षिणभित्ति के उत्तरभाग की ओर चार हाथ के अन्तर पर एक स्तम्भ पूर्व में लगाया जाता है। यह उत्तर की ओर पूर्व स्थापित छः स्तम्भों में से तृतीय स्तम्भ से एवं दक्षिणभित्ति से (भी) चार हाथ के अन्तर पर होता है। इसी प्रकार उत्तरभित्ति से दक्षिणभाग की ओर भी चार हाथ के अन्तर पर एक स्तम्भ लगाएँ। इसके बाद पूर्व की भित्ति से चार हाथ की दूरी पर रंगमञ्च के विभागों को मान कर तदनुसार दो स्तम्भ और फिर इन से भी प्रत्येक से चार-चार हाथ के अन्तर पर दो-दो स्तम्भ (अर्थात् ४ स्तम्भ) लगाते हैं। इस प्रकार सब मिलाकर (१ + १ + २ + ४ = ८) आठ स्तम्भ हो जाते हैं।

'विद्धास्य'–पद की व्याख्या है—'विद्धामास्यं मुखं यस्य तत्' अर्थात् जिनके मुख विंधने के कारण एक दूसरे के अन्दर घुसे हुये रहते हों। इस प्रकार के आठ-आठ हाथ वाले शहतीरों को—जिन पर कलात्मक विधान में पद्म आदि उत्कीर्ण किये हों—इन स्तम्भों पर स्थापित कर दे और इन शहतीरों के मुखों के जोड़ पर एक हाथ के प्रमाण की धारिणी—अर्थात् तुलाओं को रोकने वाले स्तम्भों को सहारा देनेवाले काष्ठखण्डों को ऊपर स्थापित करते हैं।

चतुरस्रमण्डप का यही स्तम्भ विधान है। इसी विधान को विकृष्ट तथा त्र्यश्र नाट्यमण्डपों पर भी विचार कर ठीक से लागू करना चाहिए। उपर्युक्त मान्यता नाट्यशास्त्र के प्राचीन व्याख्याकार श्री **शंकुक** की है। **भट्ट लोल्लट** आदि अन्य व्याख्याकारों का मत है कि ये आठ स्तम्भ नेपथ्यगृह में लगाए जाते हैं।

इसके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र के वार्तिककार (हर्ष) ने इन स्तम्भों की व्यवस्था का निम्न क्रम बतलाया है :—

अन्तर्नेपथ्यगृहं स्तम्भौ द्वौ पीठगाश्च चत्वारः।
परितोऽन्ये चत्वारो दशैवमुक्ता भवन्त्येते ॥ क ॥
चत्वारः पार्श्वाभ्यां पश्चादग्रे च याविह द्वौ द्वौ।
ते चाप्यष्टावन्ये ह्युपरि निवेश्या य उद्दिष्टाः ॥ ख ॥
षट् सान्तरास्तथान्ये कार्या इति भवति शास्त्रतात्पर्यम्।
दत्तोऽन्यथा क्रमस्तेषां वा कश्चिदेवं भवेदत्र ॥ ग ॥
भित्तेः स्तम्भानाञ्च स्यादन्तरमष्टहस्तमेवान्ते।
तैरुत्क्षिप्तैः स्यादिह चाधारो ह्युपरि काष्ठासु ॥ घ ॥

पूर्ववर्णित दस स्तम्भों में से दो स्तम्भ नेपथ्यगृह में, चार स्तम्भ रङ्गपीठ पर तथा शेष चार स्तम्भ रङ्गपीठ की दोनों बाजुओं में प्रत्येक आठ-आठ हाथ की दूरी पर लगाए जाने चाहिए। (इस प्रकार कारिका २।९७ में कहे गये दस स्तम्भों की स्थापना की गयी)। (क)

इसके पश्चात् आठ स्तम्भों में से चार स्तम्भ रङ्गपीठ के पार्श्वों में रङ्ग-पीठ के आगे और पीछे दो-दो स्तम्भ प्रत्येक ओर लगाये जाते हैं। (इस प्रकार कारिका २।९८ के अनुसार आठ स्तम्भ की विधि हो गयी)। (ख)

इसके उपरान्त शेष स्थानों पर आवश्यकता एवं अवसर का विचार करते हुए शास्त्रानुसार छः स्तम्भ और लगाना चाहिये। परन्तु इसके अति-रिक्त तर्कसम्मत अन्य क्रम में भी इन्हें रखा जा सकता है। (ग)

किन्तु प्रत्येक स्थिति में भित्ति से स्तम्भों का अन्तर अधिक से अधिक आठ हाथ का रहना चाहिये (और कम से कम चार हाथ भी रह सकता है)। इस प्रकार स्तम्भों को स्थापित करने से ऊपर की ओर काष्ठाच्छादन या छत के लिये ठीक आधार प्राप्त हो जाता है। (घ)

स्तम्भविषयक व्यवस्था में इस प्रकार इन आचार्यों के विविध मत प्राप्त होते हैं। इस विषय में उपाध्याय **भट्ट तौत** ने तात्विक विश्लेषण करते हुये बतलाया कि प्रेक्षागृह के तीन विभाग होते हैं—अधोभूमि, रङ्गपीठ तथा [रङ्गपीठ सहित] नेपथ्य। स्तम्भों का विभाजन इन्हीं विभागों में स्तम्भ स्थापनार्थ किया गया है। तदनुसार 'तत्राभ्यन्तरतः' इत्यादि के द्वारा अधो-भूमि (सामाजिकों के बैठने के स्थान) में दस स्तम्भ लगाते हैं। इनका क्रम यह है कि बत्तीस हाथ की चौड़ाई में दोनों भित्तियों से एवं एक दूसरे से चार-चार हाथ की दूरी पर दो-दो स्तम्भ लगाये जाते हैं। इस प्रकार दोनों ओर की दीवारों के पास चार स्तम्भ हुए। फिर इन्हीं भित्तियों में आठ-आठ हाथ की दूरी पर दो-दो स्तम्भ और लगाए जाएँ जो चार होंगें। इस प्रकार सब मिलाकर आठ स्तम्भ हो जाएँगे।

इन स्तम्भों को लगाते समय एवं इनका एक दूसरे से अन्तर रखते समय (भी) यह ध्यान रहना चाहिये कि इनमें से कोई स्तम्भ किसी द्वार के सामने न आने पाए। इस प्रकार पूर्व अभिहित दस स्तम्भों में से आठ स्तम्भ लग जाने पर दो स्तम्भ रङ्गपीठ के पूर्वभाग की ओर लगे हुये दोनों स्तम्भों की बाजू में एक दूसरे से आठ हाथ की दूरी पर लगा दिये जाएँ। अब इस प्रकार दोनों ओर पाँच-पाँच स्तम्भ हो जाएँगे।

'रङ्गपीठोपरिस्थिताः' में विद्यमान उपरि शब्द का अर्थ सम्मुख लेना चाहिये (अर्थात् रङ्गपीठ के सम्मुख)। आशय यह है कि रङ्गपीठ को छोड़ कर उसके अगले भाग अर्थात् अधोभूमि में ये दस स्तम्भ लगाये जाने चाहिये। तब फिर बची हुई भूमि में प्रेक्षकों के उपवेशनार्थ आसनों की व्यवस्था करनी चाहिये।

इसके पश्चात् रङ्गपीठ पर छः स्तम्भ लगाये जाते हैं। ये बत्तीस हाथ की लम्बाई में रङ्गपीठ के पूर्व दिशा वाले दोनों कोणों पर दो स्तम्भ तथा उसके समीप उत्तर दक्षिण में आठ-आठ हाथ के अन्तर पर दो स्तम्भ और लगते हैं। इस प्रकार सब मिला कर आठ-आठ हाथ की दूरी पर चार स्तम्भ हो जाते हैं। इसके बाद अधोभूमि में रङ्गपीठ के कोनों पर स्थित दोनों स्तम्भों से पूर्व की ओर आठ-आठ हाथ के अन्तर पर दो स्तम्भ लगाये जाते हैं। इस प्रकार आठ-आठ हाथ के अन्तर पर छः स्तम्भ लगते हैं।

इसके उपरान्त रङ्गपीठ के पीछे रङ्गशीर्ष का (बारह हाथ चौड़ा एवं बत्तीस हाथ लम्बा) भाग बचता है। उनका चार हाथ चौड़ा तथा बत्तीस हाथ लम्बा जो भाग होगा उस पर दो तुलाएँ डालना चाहिये और प्रत्येक के नीचे आठ-आठ हाथ के अन्तर पर चार स्तम्भ लगाना चाहिये। ये आठ स्तम्भ रङ्गशीर्ष पर लगाये जाते हैं जिनका मुनि ने 'अष्टौ स्तम्भान् पुनश्चैव' (ना० शा० २।९८) के द्वारा निर्देश किया है। अतएव रङ्गशीर्ष पर ये आठ स्तम्भ नियमतः लगाये जाने चाहिये।

१००. अधोभूमि, रङ्गपीठ तथा रङ्गशीर्ष पर स्तम्भों के लगाने के पश्चात् प्रेक्षागृह के ३२ × ८ हाथ वाले अवशिष्ट भूभाग-पर जो नेपथ्यगृह है तथा जहाँ से रङ्गपीठ पर पात्रों का प्रवेश होता है, उस कक्ष्या विभाग में दो द्वार रखे जाते हैं। इन दो द्वारों को मुनि ने काक्ष्या विभाग अध्याय में बतलाया भी है। अतएव द्वार शब्द को जातिपरक मान कर यहाँ एकवचन में प्रयुक्त समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त द्वार का 'एकम्' विशेषण भी वर्गीकरण के लिये ही यहाँ प्रयुक्त किया गया है।

१०१. नेपथ्यगृह में रखा गया एक अन्य (तीसरा) द्वार पात्रों के प्रवेशार्थ रखा जाता है जिससे सूत्रधार तथा इसकी भार्या आदि पात्रों का प्रवेश होता है। इसके अतिरिक्त मुख्य द्वार के रूप में चौथा द्वार प्रेक्षकों के प्रवेश के लिये (प्रेक्षागृह के) सामने की ओर बनाते हैं। यहाँ सामने शब्द का अर्थ

है पूर्व दिशा में। जैसा कि कक्षाध्याय (ना० शा० अ० १३) में बतलाया गया है कि नेपथ्यगृह के सामने पड़नेवाला द्वार पूर्वद्वार कहलाता है। इस प्रकार सब मिला कर [दो द्वार वाद्यवादकों के प्रवेशार्थ, एक पात्रों के प्रवेशार्थ तथा एक मुख्य द्वार सामाजिकों के प्रवेशार्थ] चार द्वार हो जाते हैं।

अन्य आचार्यों का मत है कि दो द्वार वाद्यवादकों के प्रवेशार्थ, दो द्वार पात्रों एवं प्रेक्षकों के प्रवेशार्थ उपर्युक्त विधानानुसार रखने के अतिरिक्त प्रकाश एवं वायु के लिये दो द्वार अगल-बगल में भी रखे जाएँ। इस प्रकार नाट्यगृह में छः द्वार रहने चाहिये।

१०४. 'समुन्नत' का आशय है कि रङ्गपीठ की अपेक्षा ऊँचाई पर विकृष्ट नाट्यमण्डप में रङ्गशीर्ष बनाया जाए (क्योंकि चतुरस्र में रङ्गशीर्ष समतल होता है)। इससे यह भी सूचित होता है कि विकृष्ट नाटयमण्डप में चतुरस्र के क्रम में कहे गये स्तम्भों की संख्या को भी दुगुना कर देना चाहिये। यही दोनों में अन्तर है।

१०५–१०६. इस स्थान पर मूल में प्रयुक्त त्र्यश्र पद लक्ष्य तथा 'त्रिकोण' पद लक्षण है। क्योंकि यह नाट्यमण्डप पूर्वोक्त दोनों नाटयमण्डपों से सम्बन्ध रखता है। अतएव इसका मान दोनों नाटयमण्डपों के अनुसार [अर्थात् त्र्यश्र नाटयमण्डप का प्रत्येक भुजा का आकार ६४ हाथ या ३२ हाथ का] रखा जाए। इनके बीच में रङ्गपीठ त्रिकोणात्मक आकारवाला तथा रङ्गशीर्ष तथा नेपथ्यगृह भी त्रिकोण ही रखे जाते हैं।

१०७. इस नाटयमण्डप का द्वार भी विकृष्ट तथा चतुरस्र नाटयमण्डपों के समान पूर्व दिशा में कोण पर निर्मित किया जाए। यह द्वार प्रेक्षकों के प्रवेशार्थ रहता है। रङ्गपीठ के पिछले भाग में विद्यमान रङ्गशीर्ष में दूसरे द्वार बनाये जाएँ। यहाँ भी पूर्ववत् जातिविवक्षा में द्वार शब्द का एकवचन में प्रयोग किया गया है। अतएव नेपथ्यगृह से प्रवेश करने वाले पात्रों के प्रवेशार्थ रङ्गशीर्ष तथा नेपथ्यगृह के मध्य दो द्वार ही बनाये जाते हैं। मूल में प्रयुक्त 'च' शब्द से पात्रों के प्रवेशार्थ द्वार निर्माण करना समझना चाहिये। इस प्रकार त्र्यस्र नाटयमण्डप में कुल तीन द्वार ही बनेंगे।

१०८. यहाँ प्रयुक्त 'सर्व' पद से चतुरस्र नाटयमण्डप की अपेक्षा न्यूनाधिक्य न होना सूचित किया गया है क्योंकि विकृष्ट नाटयमण्डप में स्तम्भों की द्विगुणता या आधिक्य बतलाया गया है। त्र्यश्र नाटयमण्डप में प्रतिरङ्ग

अर्थात् रङ्गशीर्ष में दो द्वार बनाये जाएँ। ये रङ्गशीर्ष के पीछे तथा उसके दोनों ओर बनाये जा सकते हैं।

१०९. इस प्रकार नाटचमण्डपों के इन अठारह प्रकारों के समझ लेने पर आवश्यकतानुसार अनेक प्रकार के नाटचमण्डप बनाये जा सकते हैं। यहाँ बुधैः पद ऊहापोह करते हुये नाटचमण्डप का निर्माण करवाने वाले चतुर एवं शिल्पशास्त्र—विज्ञाताओं के लिये प्रयुक्त किया गया है।



तृतीय अध्याय

१. नवनाट्यमण्डप के निर्माण होने पर देवगण का अर्चन क्रम प्राप्त है तथा आवश्यक भी। प्रथम अध्याय में स्वयं भरतमुनि ने अर्चनविधि सम्पन्न करने का निर्देश किया था अतएव उसका निरूपण करना ही प्रस्तुत अध्याय की संगति है जो प्रयोग के क्रम को ध्यान में रखते हुये स्थापित की गयी है। इसके अतिरिक्त मण्डप-विधान के अनन्तर इसका विवरण आवश्यक होने के कारण भी यहाँ रखा गया है क्योंकि देवपूजन के बिना नाट्यप्रयोग को प्रस्तुत करना अभीष्ट नहीं है। यहाँ 'जप्यपरै' पद के द्वारा ब्राह्मणों से 'रक्षोघ्नमन्त्र' का जप करवाना संकेतित किया गया है।

२. 'अधिवासन' शब्द का आशय है देवगण को नवनिर्मित नाट्य-भवन में निवासार्थ आमन्त्रित करना।

१७. 'उद्योतन' यहाँ पर्यग्निकरण विधि को संकेतित करता है। अर्थात् जलते हुये दर्भों या समिधा से रङ्गमञ्च पर प्रकाश करना। यह एक धार्मिक विधि है।

१९. 'प्रतिसर' शब्द का अर्थ है सूत से निर्मित कंकण का बाँधना। आज भी यह प्रथा विद्यमान है।

२४. 'प्रयुक्त' शब्द से सर्व प्रथम ईशान-कोण में भगवान् शिव की स्थापना करने का संकेत किया गया है। इसके उपरान्त क्रमशः दिशाओं में देवगण की विधिवत् स्थापना करनी चाहिये।

४३. 'उत्कारिक' शब्द का अर्थ है मीठा पदार्थ जो लपसी या हलवा जैसा हो।

९९–१००. देवेगण के पूजन का उद्देश्य है प्रयोग में सम्भावित अनर्थ बाधा या असफलता का दूर होना। मुनि ने इसकी अनिवार्यता भी इसी उद्देश्य की पूर्ति के कारण साग्रह बतलाई है। पूजन के अभाव में नाट्याचार्य के सम्पूर्ण श्रम के व्यर्थ होने की भी आशंका है तथा नाट्यप्रयोग में इस त्रुटि के कारण घातक परिणाम भी निकल सकते है। यहाँ इसी का संकेत किया गया है।

१०३. यद्यपि नवनाट्यमण्डप निर्माण के समय ही इन निर्दिष्ट देवगण का पूजन करना चाहिये किन्तु कुछ आचार्य प्रत्येक प्रेक्षा या नाट्यप्रयोग के आरम्भ के अवसर पर भी इस पूजन-विधान को आवश्यक मानते हैं।

चतुर्थ अध्याय

१. पूजन के उपरान्त नाट्यप्रयोग के प्रस्तुत करने में विलम्ब करना अभीष्ट नहीं होता, यह अर्थ 'क्षिप्र' पद से मूल में दर्शाया गया है। यद्यपि सम्फेट, विद्रव आदि से युक्त प्रस्तावना को ही पहिले प्रस्तुत किया गया था परन्तु विघ्नों के द्वारा बीच में ही रुकावट उत्पन्न कर देने के कारण नाट्य-मण्डप का निर्माण कर विघ्नों की सान्त्वना के साथ ही नाट्यमण्डप के अधि-कारी रक्षक देवताओं की स्थापना की गयी। इस प्रकार जब विघ्नों का निराकरण हो गया तो प्रयोग के प्रस्तुत करने में विलम्ब की आवश्यकता क्यों हो। आशय यह कि प्रयोग का प्रस्तुतीकरण अब शीघ्र होना चाहिये।

२-४. भरतमुनि ने 'अमृतमन्थन' जैसी वीररसप्रधान पुराकथा को लोक-प्रसिद्ध आख्यान के रूप में रखा है। इस समवकार में चारों प्रकार के नायकों के उत्साह नामक स्थायीभाव से निष्पन्न वीररस की प्रमुखता है। इसी कारण यह देव आदि सभी दर्शकों की रसास्वादनात्मा चर्वणा को निष्पन्न करने में सक्षम प्रयोग होकर सर्वप्रथम प्रस्तुत किया गया था।

५-८. नाट्यप्रयोग के इतिवृत्तात्मक विवरण को प्रस्तुत करने के उप-रान्त कैशिकीवृत्ति के आत्मस्वरूप नृत्तप्रयोग का नाट्य के साथ प्रस्तुतीकरण बतलाने के लिये मुनि ने पुनः उसकी पुराकथा के साथ विवृत्ति प्रस्तुत की। यहाँ 'फिर किसी समय' से आशय है जितना समय शिक्षणकाल में बीत चुका हो उसके पश्चात्। ब्रह्मा का महेश्वर के समीप नाट्यप्रयोग प्रस्तुत करने के लिये स्वयं पहुँचने का अर्थ है प्रयोग को सर्वप्रथम शास्त्रविद् पुरुषों के सम्मुख प्रस्तुत कर उनसे परामर्श लिये जाएँ जिससे प्रयोग परिकृत होकर समाज में व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया जा सके। इसके अतिरिक्त मूल में प्रयुक्त 'सन्दर्शयामः' पद से प्रयोक्ता और कवि के मध्यवर्ती समीक्षक के रहने की सूचना मिलती है।

९-१०. यहाँ 'अयम्' पद से अमृतमन्थन समवकार जैसे नाट्यप्रयोग को प्रस्तुत करना संकेतित है। इसके अतिरिक्त शिव के उद्धत चरित्र को लेकर प्रस्तुत किये गये त्रिपुरदाह नामक डिम के प्रयोग से परीक्षक की सन्तुष्टि को दिखलाते हुये नृत्यप्रयोग की पृष्ठभूमि तैयार की गयी है।

१३-१६. यहाँ आशय यह है कि भरतमुनि ने अन्तर्यवनिका में होनेवाले प्रत्याहार से लेकर जिन नौ अङ्कों का तथा गीतविधान से लेकर प्ररोचना तक

के दस अङ्गों का ब्रह्माजी से जो ज्ञान प्राप्त किया था उन अङ्गों से युक्त पूर्व-रङ्ग को वैचित्र्यहीन होने के कारण शुद्ध माना जाता था। किन्तु नाट्याभिनय के साथ जब विनियोग सहित अङ्गहारों के साथ नृत्त की उसमें योजना हो गयी तो इस नृत्तादि से सम्पन्न (समृद्ध ?) होकर यही प्रयोग विचित्रता या चित्रत्व सम्पन्न हो गया। इस प्रकार के प्रयोग के लिये वाञ्छित प्रदेश जब पूर्वरङ्ग था ही तब इस प्रक्रिया का अनुसरण करते हुये जब करण और अङ्गहारों से विभूषित सुकुमार एवं उद्धत नृत्तप्रयोग प्रस्तुत किये गये तो इसी का चित्र नामकरण हो गया।

शुद्ध पूर्वरङ्ग केवल कर्तव्यमात्र होने से प्रस्तुत किया जाता था जिसका दृष्टफल तो था ही अदृष्टफल भी उतना ही माना जाता था। इस प्रकार यह दो प्रयोजन वाला होकर भी रंजक नहीं था क्योंकि इसमें शुष्क विधानों की भरमार थी। तब दोनों प्रयोजन का निर्वाह करते हुये नृत्त की भी इसमें योजना की गयी क्योंकि नृत्त दृष्टादृष्ट फल भी देता है और विचित्रता उत्पन्न करने के कारण रंजक भी होता है। अतएव पूर्वरङ्ग के उद्धत प्रयोग में महेश्वरप्रयुक्त अङ्गहारों और सुकुमार प्रयोग में अनुद्धत अङ्गहारों से युक्त नृत्त का विधान किया गया। क्योंकि नृत्तप्रयोग की फलवत्ता अङ्गहारों के द्वारा ही होती है जिनके करण अङ्ग है। इसके अतिरिक्त गीतक, वर्धमानक आदि में और वाक्यार्थाभिनय में भी यथायोग्य दशा को ध्यान में रख कर अङ्गहार एवं पिण्डीबन्ध आदि का प्रयोग (अभिनीत या) प्रस्तुत किया जा सकता है। इसे 'सम्यगेवाभिनेति' पद के द्वारा सूचित करते हुये उपर्युक्त तथ्य को निर्दशित किया है।

१६–१९. भरतमुनि ने महेश्वर के प्रसाद की पुराकथा देकर अपनी आधिकारिता के साथ अभिनय के प्रस्तुतीकरण का रोचक–इतिवृत्त भी निर्दशित किया है। 'तण्डु' ने अङ्गहार आदि का भरत को प्रयोग सहित ज्ञान करवाया था इसलिये अङ्गहारादि से युक्त इस नृत्त प्रयोग का नाम 'ताण्डव' हो गया। यहाँ तण्डु शब्द नन्दी या नन्दिकेश्वर के लिये और मुनि शब्द भरत-मुनि के लिये प्रयुक्त है। नृत्त में अङ्गहारों की प्रमुखता रहती है इसी कारण उद्देश्यपूर्वक अङ्गहारों का प्रथम उल्लेख किया गया किन्तु करणों का समुदाय अङ्गहार होता है अतएव बिना करणों के अङ्गहारों का बोध ठीक से नहीं हो सकता इसलिये अङ्गभूत करणों का नामतः उद्देश्य कथन कर उनके ही लक्षण यहाँ सर्वप्रथम बतलाये जाएँगे।

अङ्गहार बत्तीस हैं। वैसे अङ्गहारों की अनन्तता है फिर भी इतने प्रभेद प्रमुख एवं प्रसिद्ध हैं और परम्परा से इनके प्रयोग होते रहे हैं इसी कारण यहाँ इनका उद्देश्यकथन कर लक्षण भी दिया गया।

२८-३३. करणों के समुहों को निर्दशित कर अङ्गहारों का प्रयोग किया जाता है इनमें जब एक करण के साथ लगे हुये दूसरे करण को प्रस्तुत किया जाता है तब हस्त, पाद आदि अङ्गों को एक साथ विधिवत् न्यस्त कर प्रयोग प्रस्तुत करते हैं। मुनि ने इस प्रकार प्रयुक्त इन करणों को भी बतलाने का संकेत किया है जिसका आशय है कि कभी-कभी इन प्रयोगों को ऊह या तर्क के द्वारा भी समझना चाहिये। यही आशय 'च' शब्द द्वारा संकेतित किया गया है।

बिना रसविच्छेद के हस्त पादादि की जो क्रिया विलासपूर्ण प्रकार से प्रस्तुत की जाती है उसका पूर्ण नाम है 'नृत्तकरण'। व्यवहार में इसे पूरा न कहते हुये इसके एक करण को ही अभिहित किया जाता है। जैसे भीमसेन को 'भीम' कहना।

अङ्गहारों की विशिष्टता के बोधार्थ उनसे सम्बध करणों के एकाधिक मेल बतलाये गये हैं। नृतमातृका का अर्थ है नृत्त से उत्पन्न करने में जो करणीभूत हैं। एकाधिक करणों के मेल से ही नृत्त का निर्माण होता है जो संख्यागत आधिक्य के होने पर देर तक चलते हुए स्पष्टरूप प्राप्त करता जाता है। इस प्रकार (यहाँ सर्वत्र) दो से अधिक संख्या का मेल ही वाञ्छित है जिसे 'एव' शब्द से संकेतित किया गया है। ये तीन करणों के मेल वाले कलापक-भेद से लेकर नवकरणों के भेद संघातक तक बनते हैं और इस प्रकार समुदाय बनाकर अङ्गहारों का निर्माण करते हैं।

यहाँ यह एक आशंका अवश्य उत्पन्न होती है कि जब इस अध्याय में करणों के लक्षण बतलाये गये तो उसके भी आधार या अङ्ग स्वरूप स्थान, चारी आदि के स्वरूप भी करणों के पूर्व ही बतलाना चाहिये था। इसका उत्तर यही है कि जब तण्डु से मुनि ने ताण्डव का ज्ञान प्राप्त किया तब मुनि को चारी, स्थान तथा हस्ताभिनय का ज्ञान प्राप्त था और तण्डु से केवल करण एवं अंगहारों की ही प्राप्ति होने के कारण उन्हें यहाँ सलक्षण बतला दिया गया (और अन्य अभिनयों का मुनि ने अपने उद्दिष्ट अध्यायों में आङ्गिक अभिनय के अन्तर्गत लक्षण सहित यथावसर ही निरूपण किया)।

३४-५५. करणों की संख्या १०८ है जिनके क्रमशः नाम यहाँ विवरण सहित उल्लिखित है।

५६-६०. करणों के सहायक होने से ही यहाँ गति, तथा प्रचार आदि का अंग (भूत) स्वरूप में निरूपण किया गया है परन्तु अभिनयादि में गति आदि की स्वतन्त्ररूप में विनियोजना भी की जाती है और इनका प्रयोग भी होता है। इसी कारण यहाँ गति, परिक्रम आदि का मुनि ने उल्लेखमात्र किया है परन्तु गति आदि के (अन्यत्र उद्देश्यक्रमप्राप्त अध्यायों में ही) पृथक् एवं सम्पूर्ण लक्षण दिये गये हैं।

करण—स्थिति (अवस्थान या खड़े होने की दशा) और गति (अर्थात् पैरों की चाल) जैसे दो तत्वों के आधार पर करण प्रवृत्त हुआ है। इनमें भी अवस्थान दशा में स्थानों और गति में चारियों का प्रयोग होता है। इनमें शरीर के ऊपरी भाग या अङ्ग और गति में नृत्तहस्त एवं दृष्टियों का तथा स्थिति में पताक आदि हस्तों का प्रयोग वाञ्छित होता है इस कारण यद्यपि गति और स्थिति के सम्मिलित रूप को करण माना गया है परन्तु अङ्गहारों के निर्माण में करणों का विनियोजन शास्त्र एवं परम्परासंगत है। इसी कारण मान्य करणों की संख्या १०८ है यद्यपि इनके गति और स्थिति के आधार पर असीम भेद किये जा सकते हैं।

(१) तलपुष्पपुट

६०-६२. इस करण में हाथ पुष्पपुट मुद्रा (ना० शा० ६।१५०) में रहता है और पैर अग्रतलसंचर (ना० शा० १०।४८) रखा जाता है। इसमें पार्श्व (कोख) को सन्नत (ना० शा० १०।१२) रखते हैं और पुष्पपुटहस्त को उन्नत उरोदेश से संश्लिष्ट कर स्थापित करते हैं। इस करण में पुष्पपुट हस्त और अग्रतलसंचर पाद के मेल के एक भाग की सूचना देने से इसका नाम भी 'तलपुष्पपुट' रखा गया है। इसकी योजना पुष्पाञ्जलि विकीर्ण करने एवं लज्जा भाव के अभिनय में की जाती है।

(२) वर्तित

६२-६३. इस करण में तलपुष्पपुट स्थिति प्रस्तुत कर हाथ झुका कर नीचे जंघाओं के बराबर लटकाते हुये फैला दिया जाता है। संगीतरत्नाकर के अनुसार—'यदि दोनों हाथों को एक साथ मिला कर कलाई को स्वस्तिक स्थिति में रखे और फिर उन्हें व्यावृत्त और परिवर्तित कर जंघाओं के बराबर हथेली रखते हुये लटकाया जाए तो'वर्तित' करण हो जाता है।

इसकी योजना असूया के अभिनय में की जाती है पर यदि पताक हस्तों को नीचे की ओर ले जाकर मसलते हुये रखे तो यह क्रोध भाव को भी प्रकट करता है।

(३) वलितोरुक

६२-६४. इस करण में हाथ शुकतुण्ड (ना० शा० ६।५३) मुद्रा में रहता है और जंघाओं को वलित रखते हुये (ना० शा० १०।२८) आक्षिप्ता चारी में पैर को टिकाते हैं और अन्त में बद्धाचारी (ना० शा० ११।२१) में दोनों पैरों को न्यस्त करते हैं। इसमें शुकतुण्ड हस्त नीचे मुख किये हुये (अधोमुख)

रखते हैं। इसकी योजना मुग्धा नायिका के लज्जाभाव के अभिनय में की जाती है।

(४) अपविद्ध

६४-६५. इस करण में हाथ को चतुरस्र स्थिति (ना० शा० ६।१७८) में रख कर (दाहिने हाथ को) गोल चक्राकार रूप में निकाल कर फिर आक्षिप्ता चारी में (ना० शा० ११।३७) स्थित हो इसी दाहिने हाथ को शुकतुण्ड मुद्रा (ना० शा० ६।५३) में जंघा पर न्यस्त किया जाता है और बायां हाथ कटकामुखमुद्रा (ना० शा० ६।६०) में वक्ष पर न्यस्त किया जाता है। इसकी योजना असूया तथा क्रोधभाव में की जाती है।

(५) समनख

६५-६६. इस करण में दोनों हाथ लताहस्त मुद्रा (ना० शा० ६।१९८) में लटकते हुये रखते हैं। पैरों को समनख मुद्रा (११।१४) में रखने का आशय है अंगुलियों को मिला कर रखना जिससे नख साथ-साथ (पास-पास) रहें। समनखौ के स्थान पर कहीं 'समनयौ' पाठान्तर भी मिलता है तदनुसार अर्थ होगा—'दोनों चरण मिलाकर रखे हुये हों'। इसकी योजना नृत्त के समय होने वाले प्रथम प्रवेश में की जाती है।

(६) लीन

६६-६७. इस करण में दो पताक हस्त (ना० शा० ६।१८) अंजलि मुद्रा में (ना० शा० ६।१८८) वक्ष पर न्यस्त करते हैं और निकुंचित शिर (ना० शा० ८।३२) रखते हैं। इसमें पहिले नृत्तहस्तों को ऊर्ध्वमण्डल (ना० शा० ६।२०३) मुद्रा में रख कर फिर वक्ष पर दो पताक हस्तों से अंजलि बनाकर रखते हैं। यह अंजलि मुद्रा ऊर्ध्वमण्डलनृत्त हस्त के पश्चात् बनायी जाती है। इसकी योजना प्रिय की चाटुकारिता या प्रार्थना के वाक्यार्थाभिनय में की जाती है।

(७) स्वस्तिक-रेचित

६७-६८. इस करण में दो चुतुरस्र हस्तों को हंसपक्ष-मुद्रा (ना० शा० ६।१०६) में रेचित करते हुये (ना० शा० ६।१९३) फिर आविद्धवक्र मुद्रा में (ना० शा० ६।१९०) रख कर स्वस्तिक और फिर विप्रकीर्ण (ना० शा० ६।१८७) करते हैं। इसके बाद इन्हें 'पक्षवञ्चितक मुद्रा (ना० शा० ६।२००) में रखकर पक्षप्रद्योतक (ना० शा० ६।२०१) मुद्रा के नृत्तहस्त प्रस्तुत कर

कटिप्रदेश पर न्यस्त करते हैं और दोनों पैरों को स्वस्तिक स्थित में रखते हैं। (इस प्रकार इस करण में छः नृत्तहस्तों का सलक्षण प्रयोग होता है।)

इसकी योजना हर्ष भाव के प्रकट करने एवं नृत्ताभिनय में की जाती है।

(८) मण्डलस्वस्तिक

६८-६९. इस करण में दोनों हाथों को चतुरस्रमुद्रा में (ना० शा० ६।२८४) और दोनों पैरों को विच्युताचारी (ना० शा० ११।१६) में न्यस्त करते हैं फिर चक्राकार गति से ऊर्ध्वमण्डल हस्तों (ना० शा० ६।२०३) को स्वस्तिक कर मण्डलस्थानक (ना० शा० ११।६५) में स्थित हो जाते हैं। इसमें दोनों पैर अग्रतलसंचर स्थिति में न्यस्त कर दोनों हाथों को आभुग्न कर वक्षस्थल (ना० शा० ८।२–३) पर रखा जाता है।

[संगीतरत्नाकर के अनुसार इस करण में (वक्षःस्थल के आभुग्न न होने पर भी) केवल निर्दिष्ट विधि के अनुसार हाथों को वक्ष पर न्यस्त करना इष्ट है।]

इसकी योजना लज्जा और पश्चात्ताप में तथा पराभव के वाक्यार्थाभिनय में की जाती है।

(९) निकुट्टक

६९-७०. इस करण में मण्डल स्थान में (ना० शा० ११।६५) स्थित होकर हाथों को चतुरस्र दशा में (ना० शा० ६।१८४) घुमाते हुये ऊपर उठाते हुये मस्तक पर निकुट्टित करे और पैर उद्घट्टित स्थिति (ना० शा० १०।४१–४२) में रखे और इसी प्रकार क्रमशः दोनों हाथों को संचालित करना चाहिये। जब दाहिने हाथ से यह क्रम सञ्चालन हो तो बायें हाथ को आविद्ध क्रम में संचालित कर चतुरस्र मुद्रा में न्यस्त करे और फिर बायें हाथ और पैर को निकुट्टित करे।

चतुरस्र हस्त से मस्तक पर निकुट्टन का आशय है अलपल्लव हस्त (ना० शा० ६।६१) की कनिष्ठ उङ्गली का ऊपर-नीचे मस्तक और बाहु के मध्य भाग में निकुट्टन करना। पाद के अञ्चित करने का आशय है उन्हें उद्घट्टित दशा में निकुट्टन के लिये व्यस्त करना।

इसकी योजना आत्मसम्भावना के वाक्यार्थाभिनय में की जाती है।

(१०) अर्ध-निकुट्टक

७०-७१. इस करण के अन्तिम अर्ध भाग में निकुट्टक का लक्षण विद्यमान है। अतएव अनेक (अन्य) आचार्य निकुट्टक के एक भाग का या एक

बाजू किया जाने वाला आधे भाग का अभिनय करने से इसे अर्धनिकुट्टक मानते हैं। अञ्चित हस्त से आशय है उसे यहाँ अपल्लव मुद्रा (ना० शा० ९।९१) में न्यस्त करना।

आत्मसम्भावना के अल्प मात्रा में रहने की स्थिति वाले वाक्यार्थाभिनय में इस करण की योजना की जाती है।

(११) कटिच्छिन्न

७१-७२. इस करण में भ्रमरी चारी (ना० शा० ११।४५) में दोनों बाजुओं से घुमाव लेकर मण्डलस्थान में (ना० शा० ११।६५) स्थिति होते हैं तथा कटि को छिन्ना दशा (ना० शा० ९।२४५) में रखते हैं। फिर बाहु एवं मस्तक के बराबर दोनों हाथों को पल्लव मुद्रा में न्यस्त करते हैं। पल्लवहस्त पताक (ना० शा० ९।१८) और अलपल्लव (ना० शा० ९।१९६) हस्त साथ रखते हैं। इस प्रकार यह क्रम पर्याय से किया जाता है और ऐसी आवृत्ति दो या तीन बार की जाती है जिससे यह करण बन जाता है।

विस्मयप्रधान वाक्यार्थाभिनय में इसकी योजना की जाती है। यहाँ अलपल्लव का किया जाने वाला प्रयोग भी विस्मयभाव की प्रमुखता को संकेतित कर रहा है।

(१२) अर्ध रेचित

७२-७३. इस करण में मण्डलस्थान में स्थित होकर वक्ष प्रदेश पर कटकामुख हस्त (ना० शा० ९।६०) व्यस्त कर उसे सूचीमुख मुद्रा (ना० शा० ९।१९१) में कर ले और फिर वहाँ से हटा कर 'अपसृत' स्थिति में ले जाए, सौष्ठव प्रक्रिया से पार्श्व को 'नत' करे और चरण को निकुट्टित कर शरीर के अर्धभाग को रेचित या बाहर की ओर ले जाने वाला रखे।

इसकी योजना असमंजस चेष्टा के वाक्यार्थाभिनय में की जाती है।

(१३) वक्षःस्वस्तिक

७३-७४. इस करण में चतुरस्र हस्तों को रेचित कर फिर व्यावृत्त करते हुये वक्ष तक ऊपर ले जाते हैं और आभुग्न या झुके हुये वक्ष (ना० शा० २०) पर स्वस्तिक करते हुये न्यस्त करते हैं। हस्त स्वस्तिक के समय ही दोनों पैरों को भी स्वस्तिक दशा में (एक पैर की दूरी जंघा और टखनी के साथ रखते हुये स्वस्तिक बना कर) रखते हैं। इसमें सौष्ठव का प्रमुखरूप में विनियोजन रखा जाता है।

इसकी योजना लज्जित एवं पश्चात्ताप से संतप्त दशा के अभिनय में की जाती है। (संगीतरत्नाकर के अनुसार अभुग्न वक्ष के न रखने पर भी इस करण की लज्जा और अनुताप के अभिनय में योजना हो सकती है)।

(१४) उन्मत्त

७४-७५. इस करण में आविद्धचारी (ना० शा० ११।३८) में स्थापित चरणों को पर्यायशः अंचित (ना० शा० १०।५१) दशा में रखते हुये दोनों हाथों को रेचित करते हैं।

इसकी योजना सौभाग्य आदि से उत्पन्न होने वाले गर्व भाव में की जाती है।

(१५) स्वस्तिक

७५-७६. इस करण में बायें हाथ को उद्वेष्टित अर्थात् निकाल कर उसे गोलघुमाव (अर्थात् वर्तन) देते हुये व्यावर्तित करण के समय उछाला लेकर दोनों हाथ और पैरों को एक साथ स्वस्तिक बना लिया जाता है।

इसकी योजना निषेध, शीघ्रता, (दूसरों के) अन्वेषण तथा सम्भाषण के वाक्यार्थाभिनय में की जाती है।

(१६) पृष्ठस्वस्तिक

७६-७७. इस करण में उद्वेष्टित कर्म के साथ बाहुओं के विक्षेप के समय पैरों को अपक्रान्ता चारी (ना० शा० ११।३१) की स्थिति रख कर अपवेष्टित कर्म के साथ दूसरे चरण को अर्धसूची चारी (ना० शा० १२।३४) के साथ रेचित करते हुये (फिर) दोनों हाथ और पैरों से स्वस्तिक करते हैं। इसमें त्रिक को चालित करने के साथ पीछे घूम कर दक्षिण पाद के पीछे वाम पाद को न्यस्त करते हुये (दोनों से) स्वस्तिक बनाते हैं।

यहाँ अर्ध शब्द दूसरे पाद के सूची कार्य को बतलाने हेतु प्रयुक्त समझना चाहिये उसके क्रमशः दुहराने को नहीं। स्वस्तिक के सभी अर्थों में इस करण की भी योजना करते हैं। अन्य आचार्यों का मत है कि युद्ध की दशा में घुमाव लेने के अवसर पर पृष्ठस्वस्तिक की योजना करना चाहिये।

(१७) दिवस्वस्तिक

७७-७८. इस करण में स्वस्तिक करण की प्रक्रिया को पार्श्वों में आगे और पीछे चारों दिशाओं में त्रुटित अंगों से अंगश्लेष करते हैं (त्रुटित अङ्गों के अंगश्लेष को कटि द्वारा करते हैं)

इसकी योजना गीत के परिवर्त में की जाती है।

[गीत परिवर्त को इसी अध्याय में आगे ४।३०६ पर बतलाया गया है जहाँ 'यदा गीतवशादङ्गं भूयो भूयो विवर्तते' आदि मुनि ने कहा है।]

(१८) अलातक

७८-७९. इस करण में दक्षिण चरण से अलाता चारी (ना० शा० ११।४१) को प्रस्तुत कर दक्षिण हस्त को नितम्ब हस्त (ना० शा० ६।१६६) बना कर उसे चतुरस्र करते हैं। वाम चरण से उर्ध्वजानु चारी (ना० णा० ११।३३) को और फिर इसी से अलात चारी को प्रयुक्त करे और दक्षिण हस्त को नितम्ब मुद्रा में रख कर चतुरस्र करे। इसके आरम्भ में दोनों हाथ कन्धों के बराबर और अन्त में नीचे की ओर फैले हुये रहते हैं। उर्ध्वजानु के प्रयोग के कारण जानुओं के ऊपर उठाने और उनके संचलन का क्रम महत्वपूर्ण रहने के एवं अलाता चारी के प्रयोग को दुहराने या दो बार होने के कारण इस करण का नाम 'अलातक' रखा गया है।

इसकी योजना ललितभाव के नृत्त में की जाती है।

(१९) कटीसम

७९-८०. इस करण में स्वस्तिक के पश्चात् चरण को अपसृत करने का आशय है आक्षिप्ता चारी (ना० शा० १२।३७) के पश्चात् अपक्रान्ता चारी (ना० शा० ११।३१) का प्रयोग करना। इसमें चरणों के समान हस्तों को अपसृत करना चाहिये अर्थात् दोनों हाथों को पृथक् कर एक को कटकामुख मुद्रा में (ना० शा० ९।६१) नाभिप्रदेश के समीप एवं दूसरे को अर्धचन्द्र मुद्रा (ना० शा० ६।४३) में कटिप्रदेश पर रखते हैं। इसमें एक पार्श्व 'नत' और दूसरा 'उद्वाहित' स्थिति में रहता है।

यह करण वैष्णवस्थान से युक्त माना जाता है [ना० शा० ११।५२–५३] इसकी योजना सूत्रधार द्वारा जर्जर के अभिमन्त्रण के समय की जाती है।

(२०) आक्षिप्तरेचित

८०-८१. इस करण में हृदय के बराबर दोनों हाथों को व्यावर्तित एवं क्षिप्त कर एक हाथ से हंसपक्ष मुद्रा में चक्राकार घुमाव लेते हैं। इसके पश्चात् दूसरा वक्षप्रदेश पर आक्षिप्त करे और अञ्चित मुद्रा में करते हुये उसे अपविद्ध किया जाए। इस प्रकार शरीर के भाग से दोनों हाथों को निकाल

कर उनके चक्रकार संचलन (अपविद्ध दशा में) करने से यह करण आक्षिप्त रेचित कहलाता है। इसमें दोनों पाद प्रयोगानुसार 'अञ्चित' तथा 'सूची', हस्त 'रेचित्' तथा जानु 'क्षिप्त' रखी जाती है।

इसकी योजना त्याग, उपादान एवं परम्परा निदर्शन के वाक्यार्थाभिनय में की जाती है।

(२१) विक्षिताक्षिप्त

८१-८२. इस करण में हाथ और पैर को विक्षेप किया जाता है। विक्षेप का लक्षण है—'एक हाथ का—व्यावृत्त करण के समय—व्यावर्तन कर पैर द्वारा बाहर निकालने का कार्य करना। इसमें अन्य हाथ चतुरस्र स्थिति में रखते हैं और फिर परिवर्तित कर दूसरे हाथ और पैर से विक्षेप करते हैं। इसकी योजना आने-जाने के भाव को प्रकट करने वाले वाक्यार्थाभिनय में की जाती है।

इस करण के विषय में भट्टतोत का मत भिन्नता रखता है। उनका मत है कि इस करण को उपर्युक्त स्थिति में केवल संयोजित नहीं किया जाए क्योंकि जहाँ अभिनय के लिये हस्तमुद्राओं का प्रयोग होता है वहीं वाक्याभिनय माना गया है। करण नृत्तमात्र के लिये उपयोगी होते हैं, क्योंकि इनमें वर्तना की प्रमुखता या नृत्तहस्तों की प्रमुखता रहती है। अतएव प्रधानतः नृत्त में इस करण का प्रयोग होना चाहिये।

इसके अतिरिक्त अन्य आचार्यों का मत है कि कदाचित् योजनानुसार शस्त्र मोक्षण आदि अभिनय प्रस्तुत करने के अवसर पर बीच में गति, परिक्रमण, युद्ध, नियुद्ध, चारी एवं स्थान के प्रस्तुत करने के अवसर आते हैं; अतः ताल के विचारानुसार वहीं ऐसे करणों की योजना करनी चाहिये।

(२२) अर्धस्वस्तिक

८२-८३. इस करण में दोनों पैर स्वस्तिक स्थिति में न्यस्त कर दक्षिण हस्त को करिहस्त (ना० शा० ९।१९१) मुद्रा में और वाम हस्त कटकामुख (ना० शा० ९।६०) मुद्रा में वक्ष पर स्थित करते हैं। जो करिहस्त के स्थान पर 'कटिहस्त' पाठ मानते हैं उनके मत से वाम हस्त को अर्धचन्द्र (ना० शा० ९।४२) स्थिति में कटि पर न्यस्त किया जाता है। इस (करण) में दोनों पैरों से स्वस्तिक करने के कारण इसका नाम अर्धस्वस्तिक रखा गया क्योंकि अभिनय हस्तों का इसमें प्रयोग नहीं होता।

अन्य आचार्यों के मत में पक्षवञ्चितक तथा पक्षप्रद्योतक (ना० शा० ९।१९२, १९३) नृत्तहस्तों के साथ अर्धचन्द्र हस्त को कटि पर न्यस्त करना इसमें इष्ट होता है।

(२३) अञ्चित

८३-८४. इस करण में अर्धस्वस्तिक करण (२२) से करिहस्त को व्यावर्तित कर अलपल्लव हस्त को (ना० शा० ९।२००) अञ्चित करते हैं। अर्थात् अर्धस्वस्तिक करण का करिहस्त व्यावृत्त होकर नासिका के अग्रभाग के सामने या बराबर पर अलपल्लव किया जाए और फिर विवर्तित स्थिति में संचलित हो कर झुकाते हुये न्यस्त किया जाता है तो अञ्चित करण हो जाता है।

इसकी योजना सामने की ओर देखने एवं कौतुक दिखलाने के वाक्यार्थाभिनय में की जाती है।

(२४) भुजङ्गत्रासित

८४-८५. इस करण में चरण के प्रयोग के अनुरूप (अर्थात् चरणों की गति का अनुसरण करने वाले) हस्त व्यावृत्त और परिवृत्त किये जाते हैं और फिर क्रमशः एक को दोलाहस्त (ना० शा० ९।१४२) और दूसरे को कटकामुख (ना० शा० ९।६०) मुद्रा में न्यस्त करते हैं। इसी प्रकार अर्थानुसारी हस्तपादप्रयोग की समता के कारण चारी का नाम भी भुजङ्गत्रासिता (ना० शा० १२।४२) रखा गया है।

[इस करण का आरम्भ भुजङ्गत्रासिता चारी में कुञ्चित पाद को ऊपर उठाते हुये करते हैं, फिर पाद, ऊरु, कटि एवं जानु को तिरछा घुमाव देकर बाद में हाथों को पैरों की गति के अनुसार व्यावृत्त और परिवृत्त करते हैं और तब फिर एक हस्त दोला और दूसरा कटकामुख मुद्रा में रखते हुये करण समाप्त करते हैं—सं० रत्ना०]

इस करण की अपने नाम के अनुसार सर्प से डरने के भाव के अभिनय में योजना की जाती है।

(२५) ऊर्ध्वजानु

८५-८६. इस करण में चरण को कुञ्चित करने (ना० शा० १०।५३) के समय उसी ओर के एक हस्त को भी कुञ्चित कर स्तनप्रदेश पर उसके सामने या जानु के ऊपर अलपल्लव मुद्रा (ना० शा० ९।८८) में ऊपर की ओर हथेली करते हुये या अराल मुद्रा (ना० शा ९।४५) में इसी तरह न्यस्त करते हैं। जानु को पक्षवञ्चितक के द्वारा छाती के बराबर फैलाकर ऊपर उठाते हैं और अन्त में दूसरे हस्त को कटकामुख मुद्रा (ना० शा० ९।६०) में वक्ष पर स्थापित करते हैं।

(२६) निकुञ्चित

८६-८७. इन करण में वृश्चिककरण की (ना० शा० ४।१०८) स्थिति

में पैर को रखते हैं और फिर एक हाथ को मस्तक के पार्श्व भाग तक ले जाकर अराल मुद्रा (ना० शा० ९।४५) में और दूसरे हाथ को नासिका के सामने के भाग तक ले जाकर अराल मुद्रा में न्यस्त करते हैं। कुछ आचार्य नासिका के अग्रभाग तक एक हस्त पताक (ना० शा० ९।१८) एवं दूसरा हस्त सूचीमुख (ना० शा० ९.६४) मुद्रा में रखने का निर्देश करते हैं।

इसकी योजना आकाशगमन, मुँह उठाकर विचार करने, वितर्क तथा ध्यान करने के वाक्यार्थाभिनय में की जाती है।

(२७) मत्तल्लि

८७-८८. इस करण में इसी के नाम की (मत्तल्लि चारी ना० शा० ११।२८) चारी में स्थित रहते हैं जिसमें घूमने वाले पैरों से चक्कर लगाकर एक पैर दूसरे की टखनी के पास स्वस्तिक होकर रखते हैं। इस समय दोनों हाथ नितम्ब मुद्रा में गोल चक्कर लेकर निकट आने पर झटके से उछाले जाते हैं। यह क्रम अनेक बार (या बार-बार) दोहराया जाता है जिसमें एक साथ नितम्बहस्तमुद्रा में दोनों हाथ उद्वेष्टित कर अपविद्ध गति में संचालित होते हैं।

मत्तल्लि शब्द की व्युत्पत्ति है—'मत्तं मदनं तनोतीति मत्तल्लि' अर्थात् जो मद अर्थात् मदन का विस्तार करता हो, उस करण को 'मत्तल्लि कहते हैं। इसकी योजना (नागानन्द नाटक के शेखरक जैसे) मदमत्त पात्र के अभिनय में करते हैं।

(२८) अर्धमत्तल्लि

८८-८९. इस करण में स्खलित चरणों को पीछे हटाते हैं (अर्थात् पीछे सिकुड़ाते हुये हटाते हैं) वाम हस्त हंसपक्ष मुद्रा में जोर से घुमाते हुये रेचित और दक्षिण हस्त कटि पर न्यस्त करते हैं।

यह मत्तल्लिकरण से उत्पन्न होता है जिसमें पैरों का प्रसारण तथा संकोच विशिष्टता लिये रहता है। इसकी तरुण मद में योजना की जाती है।

(२९) रेचित-निकुट्टक

८९-९०. इस करण में दक्षिण हस्त रेचित (अर्थात् हंसपक्ष मुद्रा में तेजी से चक्कर लगाते हुये) रखते हैं और दक्षिण पाद उद्घट्टित क्रिया में (अर्थात् पंजे के बल खड़ा होकर पृथ्वी पर पटकाते हुये) रखते हैं, वाम हस्त दोला-मुद्रा में (ना० शा० ९।१४२) झूले की तरह आने-जाने की क्रिया में संचालित करते हैं।

(३०) पादापविद्धक

९०-९१. इस करण में दोनों कटकामुख हस्त (ना० शा० ९।६०) उलट कर नाभिप्रदेश से आठ अंगुल की दूरी पर न्यस्त करते हैं, एक पैर दूसरे को सूची द्वारा आविद्ध करता है और फिर दूसरा पैर इसी प्रकार पहले को सूची से आविद्ध कर अपक्रान्ताचारी (ना० शा ११।३१) की दशा में न्यस्त होता है।

पादापविद्धक की व्युत्पत्ति है–'पादात् पादान्तरमपविद्धमपसारितं यत्र तत् पादापविद्धकम्' अर्थात् जिसमें एक पैर दूसरे के द्वारा अपविद्ध अर्थात् हटाया जाता हो उसे 'पादापविद्धक' करण कहा जाता है।

(३१) वलित

९१-९२. इस करण में हाथ सर्पशीर्ष मुद्रा (ना० शा० ९।१९२) से आरम्भ कर सूचीमुख मुद्रा में (ना० शा० ९।६४) लाये जाएँ तथा बाहर की ओर अपसृत किये जाते हैं। इसी समय साथ-साथ सूची चारी में न्यस्त पैरों को भ्रमरीचारी (ना० शा० ११।४५) में लाकर त्रिक को एक घुमाव दिया जाता है। इसमें त्रिक के घुमाव लेने या वलित होने से इस करण को वलित कहा जाता है। एक भिन्न पाठ में इसे स्खलित करण भी माना जाता है।

(३२) घूर्णित

९२-९३ इस करण में दोलाहस्त मुद्रा में दोनों हाथ कलाई पर उलटी स्थिति में मिलाते हैं (अर्थात् एक हाथ को ऊपर से घुमाव लेते हुये व्यावर्तित तथा दूसरे को नीचे से परिवर्तित होकर लाते हैं) तथा दूसरे बाजू से घुमाव लेकर जंघाएँ स्वस्तिक स्थिति में न्यस्त करते हुये उसी ओर से अपक्रान्ताचारी (ना० शा० ११।३१) में (अर्थात् एक दूसरे से हटाते हुये) चरण न्यस्त करते हैं। इसमें वाम हस्त 'दोला' होता है।

(३३) ललित

९३-९४. इस करण में वामहस्त लता मुद्रा (ना० शा० ९।१९८) में और दक्षिण हस्त नितम्ब (ना० शा० ९।१९६) तथा केश बन्ध मुद्रा में और फिर वाम हस्त करिहस्त (ना० शा० ९।१९९) मुद्रा में रखते हैं फिर एक लता हस्त और दूसरे त्रिपताक हस्त को कानों के पास ले जाकर दक्षिण हस्त को अपवर्तित कर (अर्थात् दाहिनी बाजू के वक्ष और कोख को झुकाकर दाहिने हाथ को बायें हाथ की कोहनी के नीचे ले जाकर उसी ओर फैलाते हुये रख कर) पैरों को हाथ की गति के अनुसार बार-बार अंग से निकुट्टित करते (उद्घट्टित करते) हुये रखते हैं।

निकुट्टित के स्थान पर शार्ङ्गदेव उद्घट्टित पाठ उचित मानते हैं। इसकी योजना विलासपूर्ण नृत्त में की जाती है।

(३४) दण्डपक्ष

९४-९५. इस करण में ऊर्ध्वजानुचारी (ना० शा० ११।३३) में स्थित होकर दोनों लताहस्त प्रदर्शित करे फिर एक बाजू का लता हस्त जानू पर रखे और दूसरी बाजू से फिर इसी प्रक्रिया को दोहरावे। इस प्रकार एक बाजू में पक्ष सीधा (दण्डवत्) स्थित रहने के कारण इस करण का दण्डपक्ष नाम हो गया है।

(३५) भुजङ्गत्रस्तरेचित

९५-९६. इस करण में भुजङ्गत्रासिता चारी (ना० शा० ११।४२) में स्थित होकर दोनों हंसपक्ष हस्तों को रेचित कर अर्थात् जोर से चक्कर लगवा कर वाम कुक्षि को एक घुमाव देते हैं अर्थात् इन्हें बायीं बाजू में ले जाते हैं।

(३६) नूपुर

९६-९७. इस करण में भ्रमरीचारी (ना० शा० ११।४५) में त्रिक को एक सौष्टवपूर्ण घुमाव देकर एक पाद नूपुरपादिका चारी (ना० शा० ११।३५) में न्यस्त कर उसी बाजू के हाथ को हंसपक्ष मुद्रा में रेचित कर दूसरी बाजू के हाथ को लता मुद्रा में न्यस्त किया जाता है।

(३७) वैशाखरेचित

९७-९८. इस करण में हस्तों को हंसपक्ष मुद्रा में घुमाव देकर रेचित करते हैं तथा इसी के अनुसार पाद, ग्रीवा तथा कटि को भी रेचित करते हुये अर्थात् घुमाव देते हुये रख कर वैशाखस्थान (ना० शा० ११।६१, ६२) में स्थित हो जाते हैं।

राहुलाचार्य का मत है कि पाद, ग्रीवा और कटि का पृथक् भ्रमण या घुमाव ही 'रेचित' है। इस करण का अंगों की रेचित चेष्टा तथा स्थिति के करण तथा वैशाख स्थान में स्थित होने के आधार पर ही 'वैशाख-रेचित' नामकरण हुआ है।

(३८) भ्रमर

९८-९९. इस करण में आक्षिप्ताचारी (ना० शा० ११।३७) में एक बाजू के पैर को रखने के साथ उद्वेष्टित मुद्रा में (ना० शा० ९।२१३) हस्तों को रखते हुये त्रिक को घुमाव देकर पैर से स्वस्तिक करते हैं। फिर इसी प्रकार दूसरी बाजू के पैर से इसी प्रक्रिया को दोहराया जाता है तथा पर्यायशः यह प्रयोग होता है।

इसके लक्षण में आये हुये 'च' शब्द का आशय है पैरों को स्वस्तिक स्थिति में न्यस्त करना। पाद के एक वचन और हस्तों के द्विवचन से पर्यायशः प्रयोग करने की सूचना भी दी गयी है। इसकी योजना उद्धत परिक्रमण में की जाती है।

(३९) चतुर

९९-२००. इस करण में वक्षस्थल के सामने वाम-हस्त की अलपल्लव मुद्रा (ना० शा० ६।६३) में रखते हैं। 'अञ्चित' का अर्थ है अलपल्लवहस्त। इसमें दक्षिण हस्त चतुर मुद्रा (ना० शा० ६।६३) में तथा पैर कुट्टित अर्थात् उद्धट्टित स्थिति (ना० शा० १०।४२ में झुका कर रखा जाता है।

इसकी योजना विदूषक के विस्मयकारक सूच्याभिनय में की जाती है।

(४०) भुजङ्गाञ्चितक

१००-१०१. इस करण में भुजङ्गत्रासिता चारी में (ना० शा० ११।४२) कुंचित पाद रखते हैं, दक्षिणहस्त 'रेचित' (ना० शा० ६।१६३) अर्थात् हंसपक्ष मुद्रा में तथा वामहस्त लतामुद्रा में (ना० शा० ६।१६८) रखा जाता है।

(४१) दण्डकरेचित

१०१-१०२. इस करण में पैरों को दण्डपादा चारी (ना० शा० ११।४४) में न्यस्त कर हाथों को दण्डपक्ष करते हुये (ना० शा० ६।२०२) फैलाते हुये (विक्षिप्त) रहते हैं। इसके बाद इन्हें 'रेचित' करते हैं। यहाँ हाथों के सीधे विक्षिप्त करने और रेचित करने का आशय है उन्हें दण्डपक्ष मुद्रा में न्यस्त करना। इसी प्रकार पादों के विक्षेप करने का आशय है इन्हें दण्डपादा-चारी में न्यस्त करना।

प्रसन्नता के भाव में इसकी योजना की जाती है कुछ अन्य आचार्य उद्धत विषयों में भी इसकी योजना मानते हैं।

(४२) वृश्चिककुट्टित

१०२-१०३. इस करण में एक पैर वृश्चिकचरण की स्थिति में न्यस्त करते हैं तथा दो अलपल्लव हस्तों को (ना० शा० ६।६३) बाहु और मस्तक के बराबर अर्थात् कन्धों के सामने क्रमशः निकुट्टित करते हुये रखा जाता है।

इसकी योजना विस्मय, आकाशगमन तथा वाञ्छा करने आदि को प्रमुखता वाले वाक्यार्थाभिनय में की जाती है।

(४३) कटिभ्रान्त

१०३-१०४. इस करण में सूची चारी का (ना० शा० ११।३४) प्रयोग करते हुए वाम पाद को शीघ्रता से दक्षिण जानु तक उठा कर सामने (आगे) की ओर पटकते हैं और फिर इसी पाद को शीघ्रता से हटाते हुये दक्षिणपाद के पार्श्व में न्यस्त करते हैं। इसी समय त्रिक को गोल घुमाव दे कर कटि को रेचित किया जाता है। फिर भ्रमरी चारी (ना० शा० ११।४४) का प्रयोग कर दोनों हाथों को प्रयोग के अनुसार संचालित करतेहुए कटि के रेचन काल में व्यावृत्त तथा परिवृत्त करने के बाद चतुरस्र करते हुए रखते हैं।

इसकी योजना गति परिक्रमण के मध्यवर्ती भागों या गतियों की पूर्ति के अवसर पर की जाती है।

(४४) लतावृश्चिक

१०४-१०५. इस करण के पथमार्ध का आशय यह है कि वृश्चिक चरण रखते हुये वाम हस्त लतामुद्रा (ना० शा० ९।१९०) में न्यस्त करना चाहिए।

इसकी योजना आकाश से गिरने के अभिनय में की जाती है।

(४५) छिन्न

१०५-१०६. इस करण में दो अलपल्लव हस्तों (ना० शा० ९।९१) को क्रमशः कटिप्रदेश पर न्यस्त करते हैं तथा पैर की एड़ियों को वैशाखस्थान में (ना० शा० ११।६१) क्रमशः ऊपर-नीचे उठाते हुये रख कर कटि को बीच घुमाव देकर छिन्न कर देते हैं। इसमें वैशाखस्थान में (ना० शा० ११।६१) साढ़े तीन ताल के अन्तर से पैरों को रखते हुये स्थित होना पड़ता है।

इसकी योजना अङ्ग-भङ्ग या अंगों को बचाने या तालभंग होने में की जाती है।

(४६) वृश्चिक-रेचित

१०६-१०७. इस करण में दोनों वृश्चिक चरणों को घुमा कर पीछे ले जाते हैं तथा दो स्वस्तिक हस्तों (ना० शा० ९।१८७) को 'रेचित' करते हैं अर्थात् इन्हें हंसपक्ष मुद्रा में शीघ्रता से ऊपर-नीचे घुमाव देते हुये रखते हैं और फिर अलग कर लेते हैं।

इसकी योजना आकाशयान के निदर्श के अभिनय में रखी जाती है।

(४७) वृश्चिक

१०७-१०८. इस करण में दोनों हाथों को बाहु और मस्तक प्रदेश पर झुका कर रखने का आशय है उन्हें करिहस्त (ना० शा० ९।१९९) स्थिति

में रखना। इसमें बिच्छू की पुच्छ के समान पाद पीछे की ओर झुका हुआ तथा पीठ नमाते हुये रखते हैं। एक पैर की वृश्चिक दशा में स्थिति रहने पर दूसरा पैर भी झुका रहना चाहिये।

वृश्चिककरण के प्रयोग में सदा दूर सन्नतपृष्ठ (अर्थात् पीठ को दूर तक झुकी हुई रखना) वाञ्छित होता है।

इसकी योजना आकाशयान या ऐरावत हाथी की आकाश में गति में की जाती है।

(४८) व्यंसित

१०८-१०९. इस कारण में आलीढ़ स्थान (ना० शा० ११।६७) का प्रयोग करते हैं, तर्जनी को उद्वेष्टित करण द्वारा विप्रकीर्ण स्थिति में चक्राकार कर एक हस्त नीचे घुमाव लेता है और दूसरा इसी प्रकार लेकर वक्षःस्थल पर न्यस्त किया जाता है। रेचित हस्तों में एक की हथेली ऊपर और दूसरे की उलटी रखी जाती है और ये क्रमशः ऊपर-नीचे जाते समय कम्पित स्थिति में रहते हैं।

इसकी योजना हनुमान जैसे महावीर के पराक्रम प्रदर्शन में की जाती है।

(४९) पार्श्वनिकुट्टक

१०९-११०. इस करण में हाथों को स्वस्तिक स्थिति में न्यस्त करते हैं जिसमें एक हाथ वक्षः के नीचे बाजू में नीचा मुख किये हुए और दूसरा ऊपर मुख रखते हुए न्यस्त करते हैं। पैर के तलभाग को निकुट्टित करते हैं अर्थात् पार्श्वगत हस्त के साथ एक पाद को ऊपर उठा कर पटकते हैं और फिर इसी प्रकार दूसरे पार्श्वगत हस्त के साथ एक पाद को उठाकर पटकते हैं। यह क्रम दोनों पार्श्वों से दोहराया जाता है। (यहाँ निकुट्टन का लक्षण आचार्य कोहल प्रोक्त ही समझना चाहिए।)

इसकी योजना प्रकाश, सञ्चार एवं अभ्यास में की जाती है।

(५०) ललाट तिलक

११०-१११. इसमें वृश्चिकचरण को घुमा कर पीछे की ओर से लेते हुए ऊपर उठा कर ललाट तक इस प्रकार ले जाते हैं कि पैर के अँगूठे का वहाँ स्पर्श हो जाए। इसमें एक हस्त पताकमुद्रा (ना० शा० ९।१८) में तथा हस्त तक ऊपर उठे हुए पैर के अंगूठे को धारण करते हुए रखा जाता है।

इसकी योजना विद्याधर (यक्ष) जैसे पात्रों की आकाशगति बतलाने में की जाती है।

(५१) क्रान्तक

१११-११२. इस करण में अतिक्रान्ता चारी (ना० शा० ११।३०) में स्थित हो कर कुञ्चित पाद को उठाकर आगे (सामने की) भूमि पर पटका जाता है। इसके साथ ही हस्तों को व्यावर्तित (ना० शा० ६।२१७) कर देह के भाग से निकाल कर तथा परिवर्तित कर आक्षिप्त करते हुए बाद में कटकामुख मुद्रा में वक्ष पर स्थापित करना चाहिए। इसी प्रकार दूसरी बाजू से भी इसी प्रकार पाद तथा हस्त की क्षिप्तता सञ्चालित कर हस्तों को वक्ष पर न्यस्त किया जाए।

इसकी योजना उद्धत परिक्रमण में की जाती है।

(५२) कुञ्चित

११२-११३. इस करण में एक पैर नत अर्थात् झुक कर पीछे की ओर मोड़ते हुए रखा जाता है, जानु भूमि का स्पर्श करती हुई तथा पिंडली उठी हुई रखी जाती है। दूसरा पैर समपाद दशा में (अर्थात् अग्रतलसञ्चर पाद की (ना० शा० १०।४८-४९) स्थिति में) आगे बढ़ कर झुका हुआ रखा जाता है। दक्षिण हस्त अलपल्लव मुद्रा (ना० शा० ६।९३) में ऊपर की ओर हथेली रखते हुए बायीं कोख की ओर रखते हैं।

इसकी योजना उल्लास में व्याप्त देवगण के अभिनय में की जाती है।

(५३) चक्रमण्डल

११३-११४. इस करण में अपविद्ध पाद करने का आशय है अड्डिता चारी (ना० शा० ११।२३) का प्रयोग करना। इसके साथ ही दोला हस्तों (ना० शा० ६।१४२) से चक्राकार घुमाव लेते हुए शरीर के मध्यभाग को नमाया जाता है।

इसकी योजना उद्धत परिक्रमण एवं देवगण की परिक्रमा करने के अभिनय के अवसर पर की जाती है।

(५४) उरोमण्डल

११४-११५. इस करण के आरम्भ में स्थितावर्ता चारी (ना० शा० ११।१५) में स्वस्तिक चरणों को आगे बढ़ा कर फिर अपविद्ध स्थिति से हटा कर स्थापित करते हैं। इसके बाद बद्धाचारी (ना० शा० ११।२१) में स्थित होकर दोनों हाथ उरोमण्डल मुद्रा (ना० शा० ६।२०४) में न्यस्त करते हैं।

इसकी योजना उद्धत गति में परिक्रमा करने में की जाती है।

(५५) आक्षिप्त

११५-११६. इस करण में आक्षिप्ताचारी (ना० शा० ११।३७) में हाथ

पैरों को कुञ्चित स्थिति में न्यस्त करते हैं फिर एक पार्श्व को थोड़ा झुकाते हुए चतुरस्र हस्तों को वेग से झटके के साथ कटकामुख मुद्रा में रखा जाता है।

इसकी योजना विदूषक की गति में की जाती है।

(५६) तलविलसित

११६-११७. इस करण में ऊपर की ओर उठाये गये पैर की उंगलियाँ ऊपर की ओर तथा उसका तलवा सामने मुड़ा हुआ रखा जाता है। इसी क्रम को दूसरे पैर के द्वारा (भी) दोहराया जाए और इसी के साथ-साथ दो पताक हस्तों (ना० शा० ६।१८) को एक दूसरे से संश्लिष्ट हो कर ऊपर-नीचे सञ्चालित करते हुए एक दूसरे से मिलते एवं अलग होते हुए रखे जाते हैं।

इस प्रकार पैर और हाथों के तलभाग का आकाश के विस्तीर्ण भाग में सुन्दरता के साथ मिलन करवाने के कारण इस करण को 'तलविलसित' कहा जाता है [पादलस्य हस्ततलस्य च विकृष्टे देशे विलसितं श्लेषणं यत्र तत्तल-विलसितम्-अ० भा०]

इसकी योजना पूर्वरङ्ग के समय सूत्रधार द्वारा उठाये गये पैरों की स्थिति में की जाती है।

(५७) अर्गल

११७–११८. इस करण में वाम पाद की कनिष्ठ अंगुली के भार पर दाहिना पैर टिकाया जाता है जो शरीर को पीछे की ओर फैला कर पैर को ढ़ाई ताल के अन्तर पर रख कर सम्पादित करते हैं। इसी समय हाथों को अलपल्लव मुद्रा में (ना० शा० ६।२००) रखते हुए शरीर के भाग को नियन्त्रित करने के साथ-साथ दोनों हाथ-पैरों को भी इसी क्रम में झुकाते हैं।

इसकी योजना अङ्गद सदृश पात्र के घूमने आदि की स्थिति में करते हैं।

(५८) विक्षिप्त

११८-११९. इस करण में दोनों पैरों को क्रमशः विद्युद्भ्रान्ता चारी (ना० शा० ११।४०) तथा दण्डपाद चारी (ना० शा० ११।४४) में न्यस्त करते हुए दोनों हाथों को चक्राकार घुमाव में उद्वेष्टित, अपवेष्टित तथा रेचित करते हुए सामने, पीछे तथा बगल में झटके से फेंका जाता है। (आशय यह कि पाद, हस्त तथा जानु को क्षिप्त करने के कारण इस करण को 'विक्षिप्त' कहते हैं।)

इसकी योजना उद्धत परिक्रमण में की जाती है।

(५९) आवर्त्त

११९–१२०. इस करण में पैरों से चाषगति चारी का (ना० शा०

११।२८) प्रयोग करते हुए दोनों हाथों को उद्वेष्टित तथा अपवेष्टित स्थिति में सञ्चालित करते हैं फिर उन्हें दोला हस्तमुद्रा में रखते हैं और पैरों से गोल घुमाव तेजी से लिया जाता है।

इसकी योजना भयत्रस्त दशा में नायिका की नायक के समीप जाने (के अभिनय) के अवसर पर की जाती है।

(६०) दोलापाद

१२०–१२१. इस करण में ऊर्ध्वजानु चारी (ना० शा० ११।३३) के पश्चात् दोलापाद चारी (ना० शा० ११।३६) को प्रयुक्त करते हैं [अर्थात् कुञ्चित पाद को ऊपर फेंककर एक बाजू से दूसरी बाजू की ओर झुलाया जाता है] और पैरों की गति के अनुसार दोनों दोलाहस्तों (ना० शा० ९।१४२) को सञ्चालित करते हैं।

(६१) विवृत्त

१२१–१२२. इस करण में आक्षिप्ताचारी (ना० शा० ११।३७) में वाम पाद को उछाल देकर हाथों को (देह की सीमा से) बाहर फैला कर चक्राकार गति में व्यावृत्त तथा परिवृत्त करते हुए आक्षिप्त क्रम में सञ्चालित करते हैं। फिर भ्रमरी चारी (ना० शा० ११।३७) द्वारा त्रिक को घुमाव देकर दोनों हाथों को रेचित अर्थात् हंसपक्ष मुद्रा (ना० शा० ९।१९३) में शीघ्रता से गोल घुमाव देते हुए संचालित करते हैं।

त्रिक को विवर्तित अर्थात् घुमाव देकर संचालित करने के कारण इस करण को 'विवृत्त' कहा जाता है। इसकी योजना उद्धतगति से परिक्रमण करने के अभिनय में की जाती है।

(६२) विनिवृत्त

१२२–१२३. इस करण के आरम्भ में सूची चारी (ना० शा० ११।३४) में पैरों को न्यस्त कर फिर बद्धाचारी (ना० शा० ११।२१) द्वारा एक पैर के पिछले भाग को दूसरे पैर के पीछे ले जाकर स्वस्तिक स्थिति में व्यस्त करते हैं और एडी पर दक्षिण पाद को विद्ध करते हैं। फिर 'त्रिक' को घुमाव देते हुए पार्श्व का गोल घुमाव लगाते है और साथ-साथ दोनों हंसपक्ष हस्तों (ना० शा० ९।१९३) को रेचित अर्थात् शीघ्रता से गोल घुमाव देते हुए संचालित करते हैं। इसकी योजना भी पूर्वकरण की स्थिति में की जाती है।

(६३) पार्श्वक्रान्तम्

१२३–१२४. इस करण में पार्श्वक्रान्ता चारी (ना० शा० ११।३२) में पैरों को व्यस्त कर कुंचित पाद को ऊपर उछाला देकर पार्श्व के समीप न्यस्त करते हैं और फिर सामने की ओर एक चरण को पटका जाता है तथा

दोनों हाथों के पैरों के संचालन क्रम के अनुसार रखते हुए क्रमशः आगे फैला कर रखते हैं। यहाँ 'प्रयोग' का अर्थ होता है गतिप्रचार या युद्धादि के अवसर पर पैर तथा हाथों का एक क्रम में संचालन करना।

इसकी योजना भीम सदृश उद्धत प्रकृति के रौद्ररस प्रधान पात्र की गति में की जाती है।

(६४) निस्तम्भित

१२४–१२५. इस करण में एक पैर को कुञ्चित कर दूसरे पैर के पीछे न्यस्त करते हैं; वक्ष को निर्भुग्न (ना० शा० १०।४–५) तथा पार्श्व को उन्नत स्थिति में रखते हुए कटकामुख मुद्रा (ना० शा० ९।६०) वाले हस्त की मध्यमा अंगुली से ललाट पर तिलक करने का भाव सम्पन्न करते हैं।

कुछ विद्वानों के मत में कुञ्चित पाद रखने का आशय है वृश्चिक चरण का प्रयोग करना। इस करण का अन्य नाम 'निशुम्भित' भी पाया जाता है।

इस करण में पैर से पृथ्वी पर आघात करने का प्रयोग रखने से ऐसे करण की शिवजी के नृत्याभिनय में योजना की जाती है।

(६५) विद्युद्भ्रान्त

१२५–१२६. इस करण में विद्युद्भ्रान्ता चारी (ना० शा० ११।४०) में स्थित होते हुए तेजी से एक पैर पिछे ले जाकर इस प्रकार फैलाते हैं कि वह मस्तक को छूने लगता है तथा दूसरे पैर को समपाद स्थिति में न्यस्त करते हुए उस पर शरीर का भार स्थापित करते हैं, इसके साथ ही दोनों बहुओं को मण्डल (अर्थात् चक्राकार घुमाव देने) के पश्चात् आविद्ध करते हुए चतुरस्र स्थिति में घुमाते हैं।

इस करण में बिजली के समान ऊपर को ओर घुमाव लेने के तथा विद्युतभ्रान्ता चारी के मूलतः प्रयोग के कारण इस करण का अन्वर्थ अभिधान है 'विद्युद्भ्रान्त'।

पात्रों के उद्धत परिक्रम तथा उद्धतगति में इस करण की योजना की जाती है।

(६६) अतिक्रान्त

१२६–१२७. इस करण के आरम्भ में अतिक्रान्ता चारी (ना० शा० ११।३०) का प्रयोग कर अन्त में एक चरण को आगे की ओर फैलाते हैं तथा पैरों की गति के अनुसार हाथों का (संचालन या) अनुगमन किया जाता है।

जहाँ अन्यथा निर्दिष्ट न हो ऐसे गति तथा परिक्रमण के सभी अवसरों (अभिनय के अवसर) पर इस करण की योजना की जाती है ।

(६७) विवर्तिक

१२७–१२८. इस करण में एक पैर और एक हाथ को आक्षिप्त स्थिति में व्यस्त करने के साथ दूसरे हाथ को हंसपक्ष मुद्रा में 'रेचित' करते हुए (जोर से चक्कर लगाते हुए) रखते हैं तथा त्रिक को घुमाव देते हैं ।

(६८) गजक्रीडितक

१२८–१२९. इस करण में दक्षिण हस्त को करिहस्त मुद्रा (ना० शा० ९।१६१) तथा वाम हस्त को त्रिपताक मुद्रा (ना० शा० ९।२७) में कानों के बराबर (समीप) लाकर 'अञ्चित' करते हैं, पैरों को दोलपाद चारी (ना० शा० ११।३६) में न्यस्त करते है तथा पैरों के संचालन का क्रम हाथों द्वारा अनुसृत होता है ।

इस करण का प्रयोग अपने नामानुसारी कार्यों एवं क्रियाओं के अभिनयादि में किया जाता है ।

(६९) तलसंस्फोटित

१२९–१३०. इस करण में अतिक्रान्ता चारी (ना० शा० ११।३०) अथता दण्डपाद चारी (ना० शा० ११।४४) में चरणों को न्यस्त कर फिर शीघ्रता से चरण उठाते हुए घुटने को क्षिप्त स्थिति में आगे की ओर स्थापित करते हैं, इसी समय दो पताक-हस्तों (ना० शा० ९।१८) को संश्लिष्ट कर शब्द निकालते हैं । यह शब्द तालानुसार अनेक बार किया जाता है तथा विषयानुरूप प्रयोगों में इसकी योजना की जाती है ।

(७०) गरुडप्लुतक

१३०–१३१. इस करण में वृश्चिक चरण को पीछे की ओर (मोड़ कर) फैलाते हैं अर्थात् उठे हुए पैर का घुटना मुड़ा हुआ रखा जाता है और दूसरे पैर की तिरछी एडी पर शरीर का भार सन्तुलित करते हुए दोनों हाथों को लतामुद्रा में (ना० शा० ९।१९८) न्यस्त कर 'रेचित' करते हैं ।

(७१) गण्डसूची

१३१–१३२. इस करण में एक सूचीपाद (ना० शा० १०।५५) तथा दूसरा समपाद (ना० शा० १०।४३–४४) रखते हैं, एक पार्श्व को झुका हुआ रखने के साथ अञ्चित, अलपल्लव या सूचीमुख (ना० शा० ९।१९१) मुद्राओं में से एक में हस्त को संचालित कर वक्ष पर न्यस्त करते हैं और

दूसरे अलपल्लव मुद्रा वाले हस्त को गण्ड (कपोल) प्रदेश का स्पर्श करते हुए रखा जाता है।

कुछ विद्वान् सूचीमुख हस्त या सूच्यास्य (ना० शा० ९।१९१, ६५) हस्त को कपोलप्रदेश अर्थात् ठुड्डी का स्पर्श करते हुए रखने के पक्ष में हैं और अन्य विद्वान् गण्डप्रदेश का स्पर्श करते समय सूचीपाद में चरण न्यस्त करने का निर्देश करते हैं।

कपोलों के अलङ्करण करने के अभिनय में इस करण की योजना की जाती है।

(७२) परिवृत्त

१३२–१३३. इस करण में दोनों हाथ ऊर्ध्वमण्डल मुद्रा (ना० शा० ९।२०३) में चक्राकार घुमाये जाते हैं तथा सूचीपाद (ना० शा० १०।५५) को बद्धाचारी (ना० शा० ११।२१) में मिश्रितक्रम में दूसरे पाद की समीपवर्ति स्थिति (ना० शा० ११।४५) में न्यस्त करते हैं। 'ऊरु' को परिवृत्त अर्थात् पीछे की ओर से घूमने वाले और त्रिक को भी भ्रमरी चारी में (ना० शा० ११।४४) घूमते हुए रखते हैं।

(७३) पार्श्वजानु

१३३–१३४. इस करण में एक समपाद चरण (ना० शा० १०।४३–४४) के पार्श्व में दूसरे चरण को न्यस्त करते हैं, मुष्टि हस्त (ना० शा० ९।५४) को वक्ष पर तथा अर्धचन्द्र हस्त (ना० शा० ९।४२) को कटि पर न्यस्त करते हैं।

'पार्श्वजानु' शब्द से यही समझना चाहिए कि पार्श्व अर्थात् ऊरु का पिछला भाग उसी से सम्बद्ध जानु के साथ जहाँ रहता हो उस 'करण' का यह अन्वर्थ नाम है। इसकी योजना बाहुयुद्ध तथा युद्ध की दशा में की जाती है।

(७४) गृध्रावलीनक

१३४–१३५. इस करण में पैर को पीछे की ओर अंगूठे की भूमि से श्लिष्ट करते हुए अञ्चित चरण में रखा जाता है, जानु को झुका कर पाद आगे-पीछे जाकर न्यस्त होते रहते हैं साथ ही दोनों लताहस्त तथा पार्श्व भी प्रसारित स्थिति में न्यस्त करते हैं।

इसकी योजना किसी बड़े पक्षी या गिद्ध आदि के युद्ध में की जाती है।

(७५) सन्नत

१३५–१३६. इस करण के आरम्भ में हरिणप्लुता चारी (ना० शा० ११।४३) में एक उछाल लेकर पैरों को स्वस्तिक स्थिति में सामने न्यस्त करते हैं तथा इसी के साथ दोनों 'सन्नत' अर्थात् दोला हस्तों को रखा जाता है।

इसकी योजना अधम पात्रके समीप (या साथ-साथ) चलने या धीरे-धीरे चलने के अभिनय में की जाती है ।

(७६) सूची

१३६–१३७. इस करण में कुञ्चित पाद को (ना० शा० १०।५३) सूची चारी (ना० शा० ११।३४) की स्थिति के अनुसार उठाते हुए भूमि का स्पर्श न करते हुए न्यस्त करते हैं तथा उसी ओर का (एक) हाथ कटकामुख मुद्रा (ना० शा० ९।६०) में वक्ष पर न्यस्त करते हैं और दूसरा हाथ अलपल्लव मुद्रा (ना० शा० ९।८८) में मस्तक पर न्यस्त करते हैं । इसी समय तदनुरूप समपाद के पार्श्व को एक पैर का अंगूठा स्पर्श करता है ।

इसकी योजना विस्मय के अभिनय में की जाती है ।

(७७) अर्धसूची

१३७–१३८. इस करण में सूची चारी (ना० शा० ११।३४) के अन्तिम अर्धभाग का प्रयोग किया जाता है । सूची चारी के एक भाग का प्रयोग होने से इस करण का नाम भी 'अर्धसूची' हो गया । यहाँ शिरोहस्त का अर्थ है मस्तक पर न्यस्त अलपल्लव हस्त ।

(७८) सूचीविद्ध

१३८–१३९. इस करण में (भी) सूची चारी (ना० शा० ११।३४) के अन्तिम भाग को प्रयोगानुसार कुञ्चित, दक्षिण पाद को अन्य पैर की एड़ी से विद्ध अर्थात् सटा हुआ रखते हैं तथा दक्षिण हस्त को अर्धचन्द्र मुद्रा (ना० शा० ९।५२) में पक्षवञ्चितक स्थिति में कटिप्रदेश पर न्यस्त कर वाम हस्त को कटकामुख मुद्रा में (ना० शा० ९।६०) वक्ष पर न्यस्त किया जाता है ।

चिन्ता के अभिनय में इस करण की योजना की जाती है ।

(७९) अपक्रान्त

१३९–१४०. इस करण के आरम्भ में अपक्रान्ता चारी (ना० शा० ११।३१) में दोनों ऊरुओं को वलन क्रिया में संचालित कर बद्धाचारी (ना० शा० ११।२१) द्वारा फिर दोनों को स्वस्तिक किया जाता है और दोनों हाथों को (अर्थात् दक्षिण हस्त दोला मुद्रा में तथा वाम हस्त पताक मुद्रा में) पैरों की स्थिति के अनुसार संचालित किया जाता है ।

(८०) मयूरललित

१४०–१४१. इस करण में वृश्चिक पाद रखते हुए दोनों रेचित हस्तों को हंसपक्ष मुद्रा में जोर से चक्कर लगाते हुए रखते हैं फिर पैर (ऊरु प्रदेश) सिकुड़ा कर भ्रमरी चारी (ना० शा० ११।४५) में न्यस्त करते हैं । यह

क्रिया कलाप मयूर नृत्य का अनुकरण करनेवाला हो जाने से इस करण का 'मयूरललित' नामकरण हो गया है।

(८१) सर्पित

१४१–१४२. इस करण के आरम्भ में एक पाद को अञ्चित (ना० शा० १०।५१) करते हुए न्यस्त करे और फिर उसे दूसरे से 'अपसृत' अर्थात् अलग करते हैं, इसी के साथ मस्तक को 'परिवाहित' स्थिति (ना० शा० ८।२७) में नमाते हैं और तदनुसार दोनों हाथों को 'रेचित' किया जाता है फिर यही क्रम दूसरी ओर के पैर तथा हाथ आदि के द्वारा दोहराया जाता है। जिस ओर का हस्त पाद संचालित होता है उसी ओर (बाजू) मस्तक भी रखा जाता है इसीलिये लक्षण में 'परिवाहित' स्थिति मस्तक की रखी गई है।

इस करण में मदावस्था में पैरों की एक दूसरे के पास आने की स्थिति रहती है अतएव इसकी 'सर्पित' संज्ञा अन्वर्थ है।

(८२) दण्डपाद

१४२–१४३. इस करण में नूपुरपाद चारी (ना० शा० ११।३५) के पश्चात् दण्डपाद चारी में (ना० शा० ११।४४) चरणों को फैला कर न्यस्त करते हैं तथा हाथों को 'आविद्ध' अर्थात् अपविद्ध मुद्रा (ना० शा० ६।२२०) में संचालित करते हुए पैर के साथ सीधे न्यस्त करते हैं।

क्रोधावेश में घूमने की स्थिति में इस करण की योजना की जाती है।

(८३) हरिणप्लुत

१४३–१४४. इस करण के आरम्भ में अतिक्रान्ता चारी (ना० शा० ११।३०) एवं उसके पश्चात् हरिणप्लुता चारी (ना० शा० ११।४३) में पैरों को न्यस्त करते हुए तदनुसार हाथ भी दोला (ना० शा० ६।१४२) एवं कटकामुख (ना० शा० ६।६०) मुद्रा में न्यस्त हो कर पैरों की गति का अनुसरण करते हैं।

(८४) प्रेङ्खोलित

१४४–१४५. इस करण में कुञ्चित पाद को एक ओर से दूसरी ओर झुलाते हुए दोलपाद चारी (ना० शा० ११।३६) को प्रस्तुत कर फिर एक पैर का दूसरे से उछाल लेकर घुमाव देते हुए भ्रमरी चारी (ना० शा० ११।४५) को प्रदर्शित करते हैं तथा पार्श्व को विवर्तित स्थिति में न्यस्त रखते हैं।

(८५) नितम्ब

१४५–१४६. इस करण में ऊपर उठी हुई अंगुली वाले दो पताक हस्तों

को व्यावर्तित करण द्वारा मस्तक के समीप तक ले जाते हैं और फिर पलट कर कन्धों के समानान्तर करते हुए वक्षप्रदेश से नीचे ले जाकर पताक करते हुए दक्षिण हस्त का पृष्ठ वक्ष से लगता हुआ और वाम हस्त उसी को देखते हुए सामने न्यस्त करते हैं और फिर देह की ओर अंगुली करते हुए दोनों हाथों से 'रेचित' कर घूर्णित दशा में न्यस्त कर अन्त में नितम्ब मुद्रा (ना० शा० ९।१९६) में हाथों को न्यस्त करते हैं।

इस करण में अंगुलियों का अभिमुखीकरण तीन पात द्वारा सूचित किया गया है।

(८६) स्खलित

१४६–१४७. इस करण में दोलपादचारी में (.ना० शा० ११।३१) चरण न्यस्त होते हैं तथा हाथ इनकी गति के अनुसार आते-जाते हुए रखते हैं, फिर हंसपक्ष मुद्रा में जोर से घुमाव देते हुए बाहुओं को रेचित करते हैं। यही क्रम दूसरी बाजू के पैर और हाथों से भी दोहराया जाता है।

(८७) करिहस्त

१४७-१४८. इस करण में वाम हस्त कटकामुख मुद्रा (ना० शा० ९।६०) में वक्ष पर न्यस्त करते हैं तथा दक्षिण हस्त त्रिपताक मुद्रा में (ना० शा० ९।२७), कान के समीप। इसके साथ ही एक उद्वेष्टित पाद को शीघ्रता से अञ्चित करते हुए निकाला जाता है। यह अंश करिहस्त नृत्तहस्त (ना० शा० ९।१९९) की सदृशता लिये हुए होने से इस करण का नाम 'करि-हस्त' रखा गया। यह अङ्गहारों में आवश्यक रूप से न्यस्त किया जाता है।

(८८) प्रसर्पितक

१४८-१४९. इस करण में एक हाथ को हंसपक्ष मुद्रा में शीघ्रता से घुमाव देकर 'रेचित' करते हैं और दूसरे को लता मुद्रा में रखते हैं तथा उसी ओर दोनों पैरों को ले जाकर पृथ्वी पर रखते हुए घर्षण करते हुए मन्द गति में आगे चलते हैं।

इसका प्रयोग आकाशगामी पात्रों की गति में किया जाता है।

(८९) सिंह-विक्रीडित

१४९-१५०. इस करण में अलातचारी में (ना० शा० ११।४१) द्रुत गति में चरण को आगे रखते हुए इसी के अनुसार उसी ओर चपेट देते हुए हाथ को भी रखते हैं और फिर यही प्रक्रिया दूसरी ओर से भी दोहरायी जाती है।

इस करण में चेष्टाओं की सिंहगति से समानता होने के कारण इसका अन्वर्थ नाम है। इसकी रौद्रगति में योजना की जाती है।

(९०) सिंहाकर्षितक

१५०-१५१. इस करण में वृश्चिक चरण को एक ओर रख कर उसे स्वस्तिक करते हैं तथा हाथों को पद्मकोश मुद्रा (ना० शा० ९।६२) में न्यस्त कर ऊर्णनाभमुद्रा में (ना० शा० ९।२०) ले जाकर निकुञ्चित करते हुए ऊपर नीचे फैलाते हैं। फिर दूसरी बाजू से वृश्चिक चरण को पीछे की ओर रखते हुए इसी प्रक्रिया को दोहराते हैं और बाहुओं को निकुञ्चित कर पूर्व स्थिति के विपरीत दिशा में ले जाते हैं।

सिंहसदृश चेष्टाओं के अभिनय में इस करण की योजना करते हैं।

(९१) उद्वृत्त

१५१-१५२. इस करण के आरम्भ में हाथ और पैरों कोआक्षिप्त करते हैं जिससे सारे शरीर की आक्षिप्त स्थिति हो जाती है। इसके पश्चात् उद्वृत्ता चारी में (ना० शा० ११।३९) स्थित होकर कुञ्चितपाद को आविद्धा चारी में (ना० शा० ११।३८) स्वस्तिक स्थिति से लपेटते हुए चक्कर लगा कर ऊपर उठाते हैं और झटके से नीचे पटका जाता है, फिर एक चक्कर लगा कर दूसरे कुञ्चिपाद से भी यही क्रम दोहराते हैं।

(९२) उपसृतक

१५२-१५३. इस करण में कुञ्चितपाद को ऊपर उठाकर आक्षिप्ता चारी (ना० शा० ११।३७) में रखते हुए वाम हस्त को व्यावृत्त एवं परिवृत्त कर शरीर को लगाते हुए दक्षिण हस्त को अरालमुद्रा में (ना० शा० ९।४५) न्यस्त करते हैं।

इसकी योजना विनयपूर्वक निवेदन करने के अभिनय में की जाती है।

(९३) तलसंघट्टित

१५३-१५४. इस करण में कुञ्चितपाद को दोलपाद चारी की (ना० शा० ११।३६) स्थिति में एक ओर से दूसरी ओर झुलाते हुए रखते हैं, दोनों हाथों को पताक मुद्रा में (ना० शा० ९।१८) एक दूसरे के तलों को श्लिष्ट करते हुए रखे और वैष्णवस्थान (ना० शा० ११।५२) में स्थित होकर दक्षिणहस्त कटि प्रदेश पर न्यस्त करते हुए वाम हस्त को हंसपक्ष मुद्रा में द्रुतगति से घुमाव देते हुए 'रेचित' करते हैं।

[तलों के श्लिष्ट होने से आशय है ताली बजाना। रेचित करने पर दोनों हाथ अलग हो जाते हैं। यहाँ वैष्णवस्थान में स्थित रहने की दशा में पैरों की दूरी दो ताल के अन्तर पर रखी जाती है।

अनुकम्पाप्रधान वाक्यार्थाभिनय में इस करण की योजना करते हैं।

(९४) जनित

१५४. इस करण में जनिता चारी (ना० शा० ११।२५) में स्थित होते हुए एक मुष्टिहस्त वक्ष पर तथा दूसरा लताहस्त झूलता हुआ रखते हुए पैर को अग्रतलसंचर के लक्षण में न्यस्त करते हैं।

क्रियारम्भ के अभिनय में इस करण की योजना की जाती है।

(९५) अवहित्थ

१५४-१५५. इस करण में जनिता चारी में (ना० शा० ११।२५) स्थित होकर हाथों को अराल तथा अलपल्लव मुद्रा में ललाट एवं वक्ष के समीप चक्राकार गति में घेरा लगाते हैं और फिर नीचे-ऊपर करते हुए एक पार्श्व में लाकर इन्हीं अराल एवं अलपल्लव हस्तों द्वारा उद्वेष्टित एवं परिवर्तित प्रक्रिया करवायी जाकर इन्हें एक दूसरे के सामने रखते हुए वक्ष पर न्यस्त करते हैं।

गोपनप्रधान वाक्यार्थाभिनय में इसकी योजना की जाती है। दूसरे आचार्य अवहित्थ हस्तमुद्रा (ना० शा० ९।१५६) के द्वारा इस करण का सम्पादन उचित समझते हैं जिसमें मस्तक से वक्ष तक लाये गये हस्तों की गति की प्रमुख स्थिति रहती हो और इसी कारण इसका 'अवहित्थ' नामकरण का भी औचित्य प्रतिपादित करते हैं। इनके मत में चिन्ता एवं दुर्बलता के भाव में इस करण की योजना की जाती है।

(९६) निवेश

१५६-१५७. इस करण में मण्डलस्थान (ना० शा० ११।५५-६६) के लक्षणानुसार चार ताल के अन्तर से पैरों को स्थापित कर स्थित होते हैं तथा निर्भुग्न वक्ष (ना० शा० ९।२२६) रखते हुए दोनों हाथों को कटकामुख मुद्रा में (ना० शा० ९।६०) वक्ष पर न्यस्त करते हैं।

हाथी और घोड़े जैसे वाहन पर सवारी करने के भाव में इस करण की योजना की जाती है।

(९७) एलकाक्रीडित

१५७-१५८. इस करण में एलकाक्रीडिता चारी (ना० शा० ११।२०)

में अग्रतलसंचर पैरों को ऊपर-नीचे उछाल लेकर नीचे लाने के समय शरीर को झुकाते और ऊपर ले जाते समय शरीर को सिकुड़ा कर रखते हुए घुमाव लेते हुए दोनों हाथ दोल तथा कटकामुख मुद्रा में न्यस्त करते हैं।

इसकी योजना मृग आदि प्राणियों तथा अधम पात्रों की गति प्रस्तुत करने में की जाती है।

(९८) ऊरुद्वृत्त

१५८-१५९. इस करण में ऊरुद्वृता चारी (ना० शा० ११।३८) में तलसंचार की एड़ी बाहर की ओर करते हैं एवं जंघाएँ झुकी हुई रखते हैं, इसके साथ ही हाथों को चक्राकार घुमाते हुए (व्यावर्तित) क्रमशः अराल तथा कटकामुख मुद्रा (ना० शा० ६।६०) में रखते हुए क्रमशः ऊरु प्रदेश एवं पृष्ठ की ओर झुकाकर रखते हैं।

इसकी योजना प्रणयावस्था में होने वाले क्रोध, ईर्ष्या, प्रणय एवं प्रार्थना के भावाभिनय में की जाती है।

(९९) मदस्खलित

१५९-१६०. इस करण में आविद्ध चारी (ना० शा० ११।३८) में स्वस्तिक किये गये कुञ्चित पाद को फैला कर शीघ्रता से 'अञ्चित' कर नीचे पटकते हैं, दोनों हाथ दोलामुद्रा में नीचे हिलाते हुए न्यस्त करते हैं और मस्तक परिवाहित दशा में (ना० शा० ८।२७) क्रमशः एक ओर से दूसरी ओर घूमने वाला रखा जाता है।

इसकी योजना मद की मध्यावस्था में रखी जाती है।

(१००) विष्णुक्रान्त

१६०-१६१. इस करण में कुञ्चित पाद को भूमि से ऊपर की ओर दण्डपाद चारी की (ना० शा० ११।४३) स्थिति में बढ़ाते हैं तथा दोनों हंसपक्ष हस्तों को घूमते हुए रख कर 'रेचित' करते हैं।

विष्णुक्रान्त शब्द से आशय है विष्णु सदृश पादोत्क्रमण निर्दशित करना। इसका अभिनय ऐसे ही अवसर पर होता है।

(१०१) सम्भ्रान्त

१६१-१६२. इस करण में आविद्धा चारी में (ना० शा० ११।३८) पैरों को चक्राकार घूमनेवाले रखते हैं और हाथों को व्यावर्तित तथा परिवर्तित करते हुए 'अलपल्लव' मुद्रा में संचालित करते हुए ऊरू पर न्यस्त करते हैं।

इसकी योजना घबड़ाहट की दशा में चलने के अभिनय में की जाती है।

(१०२) विष्कम्भ

१६२–१६३. इस करण में सूचीपाद चारी में (ना० शा० ११-३४) स्थित वाम पाद को निकुट्टित करते हैं, इसके साथ ही सूचीमुख मुद्रा में (ना० शा० ९।१९१) न्यस्त वाम हस्त को अलपल्लव मुद्रा में न्यस्त दक्षिण हस्त से अलग करते हुए 'विद्ध' करते हैं और फिर वक्ष पर न्यस्त करते हैं। फिर इसी प्रक्रिया को दुहराते हुए दक्षिण पाद एवं दक्षिण हस्त से विद्ध करते हुए दक्षिण पाद को निकुट्टित किया जाता है।

इस प्रकार इस करण में एक ही प्रक्रिया के बार-बार 'विष्कम्भ' करने अर्थात् दुहराने के कारण इसका नाम 'विष्कम्भ' रखा गया है।

(१०३) उद्घट्टित

१६३–१६४. इस करण में उद्घट्टित (चरण की) स्थिति में पंजे के बल पर खड़े होकर एड़ी से भूमि को छूते हैं और इसी के साथ एक हाथ से दूसरे हाथ पर ताल देते हैं। इसके साथ ही पार्श्व को नत करते हैं। फिर दूसरी बाजू से इसी प्रक्रिया को दोहराया जाता है।

प्रसन्नता के भावाभिनय में इस करण की योजना की जाती है।

(१०४) वृषभक्रीडित

१६४–१६५. इस करण में अलाता चारी (ना० शा० ११।४१) में पैरों को न्यस्त करते हुए दोनों हाथों को 'रेचित' अर्थात् चक्राकार घुमा कर कुञ्चित करते हैं और पुनः बाहु एवं शीर्ष प्रदेश पर अलपल्लव मुद्रा में अञ्चित करते हुए अर्थात् वृत्ताकार मोड़ कर उन्हें न्यस्त करते हैं।

(१०५) लोलित

१६५–१६६. इस करण में वैष्णवस्थान (ना० शा० ११।५२–५३) में स्थित होकर दक्षिण-हस्त को रेचित (अर्थात् हंसपक्ष मुद्रा में शीघ्र घुमाव देते हुए) रखते हैं और वाम-हस्त को 'अञ्चित' अर्थात् अलपल्लव मुद्रा में वक्ष पर न्यस्त करते हैं तथा मस्तक को लोलित (८।३५) स्थिति में दोनों पार्श्व में विश्राम लेते या रुकते हुए रखते हैं।

(१०६) नागापसर्पित

१६६–१६७. इस करण में दोनों चरण स्वस्तिक करते हुए अलग हटाते हैं, हाथ 'रेचित' कर घूमते हुए रखते हैं और मस्तक कुटिलगति से क्रमशः एक पार्श्व में परिवाहित स्थिति (ना० शा० ८।२७) में घुमाया जाता है।

इस करण का कुटिलगति के कारण नागापसर्पित नाम अन्वर्थ है।

(१०७) शकटास्य

१६७–१६८. इस करण में शकटास्या चारी में (ना० शा० ११।१६) पाद को अग्रतलसञ्चर स्थिति में न्यस्त करते हैं, अङ्गों को स्थिर दशा में (निषण्ण) रखते हुए एक हाथ को फैलाया जाता है। उर को उद्वाहित स्थिति में रख कर दूसरे हाथ को कटकामुख मुद्रा में वक्ष पर न्यस्त करते हैं।

इस शब्द की व्युत्पत्ति है—'शकटस्य असनं क्षेपः' अर्थात् शकट का स्थापन ही 'शकटास्य' करण होता है। भाणिका जैसे उपरूपक में उपयुक्त बालक्रीडा के अवसर पर इस करण की अभिनय-प्रदर्शनार्थ योजना की जाती है।

(१०८) गङ्गावतरण

१६८–१६९ इस करण में दोनों चरणों को उत्क्षेप तथा निक्षेप के पश्चात् उन्नत एवं सन्नत करते हैं और उन्हें पीछे की ओर इस प्रकार उठाते हैं, कि उनके तलवे और उङ्गलियाँ ऊपर की ओर रहें, इसके साथ-साथ दोनों त्रिपताक हस्तों को हथेलियों के बल पृथ्वी पर टिका कर शरीर (के बल) को सन्तुलित करते हैं और ग्रीवा को सन्नत मुद्रा में (ना० शा० ८।१७०) झुका कर रखते हैं।

इसमें त्रिविक्रम की स्थिति में पैरों को फैला कर नीचे उतरने के प्रयोग के द्वारा गङ्गादेवी के अवतरण जैसी स्थिति का भान करवाया जाता है। नामानुसार ही स्थिति के अनुरूप अभिनय उपस्थित होने पर इस करण की योजना करनी चाहिए।

१६९–१७०. बम्बई संस्करण में पद्य १६९ तथा १७० के मध्य चार पद्य प्राप्त होते हैं जिन्हें वहाँ मूलपाठ में भी संयुक्त किया गया है। बड़ौदा संस्करण में इनकी क्रम संख्या न देकर इन्हें इसी स्थान में रखा गया है। ये पद्य नाट्यशास्त्र में थोड़े पाठान्तर के साथ अलग-अलग प्रसंगों में प्राप्त होते हैं तथा वहीं इनके अर्थ को भी प्राप्त किया जा सकता है। अभिनवगुप्त आचार्य ने इसी कारण इस स्थान पर इनकी व्याख्या नहीं की। पाठकों के बोधार्थ उन्हें यहाँ भी सानुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है :—

यानि स्थानानि याश्चार्यो व्यायामे कथितानि तु।
पादप्रचारस्तेषान्तु करणानामयं भवेत् ॥ क ॥
ये चापि नृत्तहस्तास्तु गदिता नृत्तकर्मणि।
तेषां समासतो योगः करणेषु विभाव्यते ॥ ख ॥
प्रायेण करणे कार्यो वामो वक्षःस्थितः करः।
चरणश्चा (स्या) नुगश्चापि दक्षिणस्तु भवेत् करः ॥ ग ॥

चार्यश्चैव तु याः प्रोक्ता नृत्तहस्तास्तथैव च ।
सा मातृकेति विज्ञेया तद्भेदात् करणानि तु ॥ घ ॥

[नृत्त (सम्बन्धी व्यायाम) के प्रसंग में यहाँ जिन स्थान एवं चारियों का उल्लेख किया गया है ये नृत्त करणों में होने वाले पादप्रचारों अथवा गति के उपयोगी होने के कारण प्रसङ्गवश यहाँ बतलाये गये हैं । (क)

और नृत्तकर्म में जिन नृत्तहस्तों का विधान बतलाया गया उन्हें भी करणों में अनेकविध रूप में सहयोग करने या प्रयोग होने के कारण ही निर्दिष्ट किया गया है । (ख)

जहाँ अन्यथा निर्दिष्ट न हो तो वहाँ प्रायः वाम हस्त को वक्ष पर न्यस्त करते हैं और दक्षिण हस्त को चरण की गति के अनुरूप क्रियाशील रखा जाता है । (ग)

इस प्रसङ्ग में जिन चारियों एवं नृत्तहस्तों का उल्लेख हुआ है उन्हें उत्पादक होने के कारण नृत्तकरणों की मातृका माना जाता है क्योंकि इनके भेदों (या विभागों) से ही नृत्तकरणों की रचना होती है । (घ)]

अङ्गहार—

(१) स्थिरहस्त

१७०–१७३. अङ्गहार के आरम्भ में दोनों हाथों को ऊपर फैला कर उत्क्षिप्त करने का आशय है लीन–करण (ना० शा० ४।६६) का सम्पादन करना, फिर सम्पादनस्थान में चरणों को न्यस्त करते हुए समनख–करण (ना० शा० ४।६५) को प्रस्तुत करते हैं । फिर व्यंसितकरण (ना० शा० ४।१०८) को प्रस्तुत कर अपसृत एवं विप्रकीर्ण हस्तों को ऊपर की ओर उठाते हुए आलीढ़ स्थान में (ना० शा० ११।६७–६८) स्थित होते हैं और फिर परिवर्तन कर प्रत्यालीढ़ स्थान (ना० शा० ११।७०–७१) में स्थित हो जाते हैं । इसके पश्चात् फिर क्रमशः निकुट्टित (ना० शा० ४।६६), ऊरुद्वृत्त (ना० शा० ४।१५६), आक्षिप्त (ना० शा० ४।७५), स्वस्तिक (ना० शा० ४।११५), नितम्ब (ना० शा० ४।१४६), करिहस्त (ना० शा० ४।१४३) तथा अन्त में कटिच्छिन्न करण (ना० शा० ४।७२) को प्रस्तुत करते हैं । इस प्रकार इस अङ्गहार में एकादश करण समूह का प्रयोग होता है ।

कुछ आचार्यगण (इन) अङ्गहारों में अभिहित अङ्ग एवं करणों का चारों दिशाओं में प्रस्तुतीकरण करने का निर्देश करते हैं क्योंकि मुनि ने स्वयं परिवृत्तक–रेचित अङ्गहार के लक्षण-प्रसङ्ग में 'पराङ्मुखविधिर्भूय एवमेव भवेत् पुनः' के द्वारा इसी तथ्य की ओर संकेत किया है ।

(२) पर्यस्तक

१७३-१७५. इस अङ्गहार के आरम्भ में तलपुष्पपुट करण (ना० शा० ४।६१) को और फिर क्रमशः अपविद्ध (ना० शा० ४।५४), वर्तित (ना० शा० ४।६२), निकुट्टक (ना० शा० ४।६६), उरुद्वृत्त (ना० शा ४।१५६) आक्षिप्त (ना० शा० ४।११६), उरोमण्डल (ना० शा० ४।११५), नितम्ब (ना० शा० ४।१४६) करिहस्त (ना० शा० ४।१४८) तथा अन्त में कटिच्छिन्न करण (ना० शा० ४।७२) को प्रस्तुत करते हैं।

तलपुष्पपुट तथा अपविद्ध करण के पश्चात् वर्तित करण के स्थान पर एक पाठान्तर के अनुसार प्रत्यालीढ़ स्थान का प्रयोग कर निकुट्टित करण का सम्पादन करना निर्दिष्ट किया गया है। इस प्रकार इस अङ्गहार में दस करणसमूह का प्रयोग रहता है।

(३) सूचीविद्ध

१७५-१७७. इस अङ्गहार के आरम्भ में अलपल्लव तथा सूचीहस्त को प्रस्तुत करने के निर्देश से अर्धसूची करण (ना० शा० ४।१३७) प्रस्तुत करने का संकेत है। इसके पश्चात् क्रमशः विक्षिप्त करण (ना० शा० ४।११६) से लेकर मूल में निर्दिष्ट करणों का (ना० शा० ४।१२०, ६६, १५६, ११६, ११५, १४८ तथा ७२) प्रयोग किया जाता है।

(४) अपविद्ध

१७७-१७९. इस अङ्गहार के आरम्भ में अपविद्ध करण (ना० शा० ४।६४) का तथा इसके बाद में सूचीविद्ध करण (ना० शा० ४।१३६) का प्रयोग किया जाता है। इसके पश्चात् हाथों को उद्वेष्टित कर त्रिक को बद्धा-चारी (ना० शा० ११।२१) में स्थित कर (एक) घुमाव देते हैं तथा उरोमण्डल हस्तमुद्रा से प्रस्तुत होने वाले उरोमण्डल करण से हस्तों को वक्ष-प्रदेश पर न्यस्त कर अन्त में कटिछिन्न (ना० शा० ४।७२) करण को सम्पन्न करते हैं।

(५) आक्षिप्तक

१७९-१८१. इस अङ्गहार का आरम्भ नूपुरकरण (ना० शा० ४।७७) से होता है और फिर क्रमशः विक्षिप्त करण से लेकर नाट्यशास्त्रोक्त कटि-च्छिन्न तक के करणों को सम्पन्न करते हैं।

कुछ विद्वानों के मत में जहाँ मूल में 'पुनः' शब्द का प्रयोग हो वहाँ करणों का दुहराया जाना मुनि को इष्ट है यह आशय लेना चाहिए।

(६) उद्घट्टित

१८१–१८३. इस अङ्गहार के आरम्भ में बारी-बारी से दोनों ओर हाथों को चक्राकार घुमाते हैं और फिर बाहर की ओर क्षिप्त करने के साथ ही चरणों को झुकाने के कार्य द्वारा निकुट्टक–करण को प्रस्तुत करने की सूचना दी गयी है। इस स्थिति में अपविद्ध या उरोमण्डल करण को भी ले सकते हैं पर उन्हें यहाँ अन्य चेष्टाओं में लिया जा सकता है। इसके पश्चात् क्रमशः नितम्ब, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों को सम्पन्न किया जाता है।

(७) विष्कम्भ

१८४–१८७. इस अङ्गहार में पिछले करण के समान आरम्भ में हाथों को उद्वेष्टित तथा अपवेष्टित एवं चरणों को निकुट्टित करते हैं और फिर हाथों और पैरों को क्रमशः कुंचित करते हुए दोनों पार्श्वों से अञ्चित करण का प्रयोग करते हैं। इसके बाद निकुञ्चित (ना० शा० ४।८७) एवं अर्धस्वस्तिक (ना० शा० ४।८३) करणों को प्रस्तुत कर अञ्चित करण (ना० शा० ४।८४) को प्रस्तुत किया जाए। इसके बाद निकुञ्चित (४।८७) तथा अर्धस्वस्तिक (ना० शा० ४।८३) करण के बाद अञ्चित करण (ना० शा० ४।८४) और फिर उरूद्वृत्त करण (ना० शा० ४।१५८–१५९) का प्रदर्शन कर हाथों को चतुरस्र स्थिति में न्यस्त कर चरणों से निकुट्टक करण प्रस्तुत करे। फिर भुजङ्गत्रासित करण (ना० शा० ४।८४) को प्रस्तुत करते समय उनमें विशेष रूप में हाथों को उद्वेष्टित स्थिति में न्यस्त रखे। फिर इसके साथ ही भ्रमरक करण (ना० शा० ४।९८) का प्रयोग करे तथा कटि प्रदेश को मध्यभाग से वलित कर छिन्न स्थिति में लाये और अन्त में करिहस्त (ना० शा० ४।१४७–१४८) तथा कटिछिन्न (ना० शा० ४।७१) करणों को प्रस्तुत कर इस अङ्गहार को सम्पन्न किया जाए।

(८) अपराजित

१८७–१८९. इस अङ्गहार के आरम्भ में दण्डपाद करण का (ना० शा० ४।१४२) प्रयोग कर हाथों को बाहर की ओर झटके से फेंक कर 'विक्षिप्त' तथा अन्दर की ओर खींच कर 'आक्षिप्त' करे फिर व्यंसित करण (ना० शा० ४।१०९) सम्पन्न करने के पश्चात् वाम हस्त एवं वाम चरण को एक साथ आगे सरकता हुआ रखते हुए प्रसर्पित करण (ना० शा० ४।१४९) को प्रस्तुत किया जाए। इसके पश्चात् हाथों को चतुरस्र कर पैरों से दो निकुट्टक करणों अर्थात् निकुट्टक और अर्धनिकुट्टक करणों (ना० शा० ४।६९–७०)

को प्रस्तुत कर क्रमशः आक्षिप्त (ना० शा० ४।११६) उरोमण्डल (ना० शा० ४।११५) और अन्त में करिहस्त (ना० शा० ४।१४८) और कटिच्छिन्न करणों (ना० शा० ४।७२) को प्रस्तुत करना चाहिए।

(९) विष्कम्भापसृत

१८९–१९१. इस अङ्गहार के आरम्भ में कुट्टित करण को प्रस्तुत करने का आशय है निकुट्टक तथा अर्धनिकुट्टक करणों को प्रस्तुत करना। इसके पश्चात् भुजङ्गत्रासित करण को (ना० शा० ४।८४) प्रस्तुत कर हस्तों को रेचित कर पताक मुद्रा में (ना० शा० ६।१८) न्यस्त करे और फिर क्रमशः आक्षिप्तक (ना० शा० ४।११६), उरोमण्डल (ना० शा० ४।११५) तथा कटिछिन्न करण (ना० शा० ४।७२) को प्रस्तुत करे। यहाँ विशेषता यह है कि कटिछिन्न करण में पर्यायशः एक लताहस्त रखा जाए।

(१०) मत्ताक्रीड

१९१–१९४. इस अङ्गहार के आरम्भ में त्रिक के वलन करने से भ्रमरक करण (ना० ४।६६) प्रस्तुत करने का संकेत है। फिर नूपुर करण को (ना० शा० ४।६७) प्रस्तुत कर कुञ्चित पाद करते हुए भुजङ्गत्रासित करण (ना० शा० ४।८४) का और सव्य अर्थात् दक्षिण अंगप्रदेश से वैशाखरेचित करण (ना० शा० ४।६८) का प्रयोग किया जाए। यहाँ परिच्छिन्न शब्द से 'छिन्न' करण को प्रस्तुत करना इष्ट है तथा बाह्यभ्रमरक का आशय है भ्रमरक करण को बायीं ओर से प्रस्तुत करना। इसके उपरान्त व्यंसित करण (ना० शा० ४।१०६) को प्रस्तुत करे और फिर क्रमशः उरोमण्डल (ना० शा० ४।११५), नितम्ब (ना० शा० ४।१४६), करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों को प्रस्तुत किया जाए।

(११) स्वस्तिकरेचित

१९४–१९६. इस अङ्गहार के आरम्भ में हाथ तथा पैरों को रेचित करने का आशय है वैशाखरेचित करण (ना० शा० ४।६८) को प्रस्तुत करना। इसके पश्चात् वृश्चिककरण को प्रस्तुत करे और फिर एक बार वैशाखरेचित तथा वृश्चिककरणों को दोहरा दे और लताहस्तों के साथ निकुट्टककरण को और अन्त में दोनों पार्श्वों से कटि को छिन्न कर कटिच्छिन्न करण (ना० शा० ४।७२) को प्रस्तुत करे।

(१२) पार्श्वस्वस्तिक

१९६–१९९. इस अङ्गहार के आरम्भ में दोनों पार्श्वों से स्वस्तिक करने का आशय है दिक्स्वस्तिक करण (ना० शा० ४।७७) का प्रयोग करना।

फिर एक ओर से निकुट्टक करते हुए अर्धनिकुट्टक करण (ना० शा० ४।७०) को और फिर दूसरी ओर से दिक्स्वस्तिक करण को प्रस्तुत कर अर्ध-निकुट्टक करण दोहराया जाए। हाथों को व्यावृत्त करने से अपविद्ध करण (ना० शा० ४।६४) का प्रयोग सूचित किया गया है। इसके बाद फिर क्रमशः ऊरूद्वृत्त, आक्षिप्त, नितम्ब, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग करना चाहिए।

(१३) वृश्चिकापसृत

१९९-२०१. इस अङ्गहार के आरम्भ में वृश्चिक करण के साथ लताहस्त के प्रयोग से लतावृश्चिक करण का (ना० शा० ४।१०५) प्रयोग सूचित किया गया है। हाथ को नासिका के अग्रभाग के समानान्तर ले जाकर झुकाते हुए निकुञ्चित करण (ना० शा० ४।८७) का तथा हाथ को उद्वेष्टित करते हुए अर्धमत्तल्लि करण (ना० शा० ४।८६) का प्रयोग किया जाए। इसके पश्चात् हाथों को उद्वेष्टित कर नितम्ब करण (ना० शा० ४।१४६) को प्रस्तुत करे और फिर क्रमशः करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों को प्रदर्शित करे।

कुछ आचार्य नितम्ब के स्थान पर भ्रमरक करण का औचित्य इस अङ्गहार में स्वीकार करते हैं। उनके मत में नितम्ब-परिवर्तन शब्द का अर्थ होगा नितम्ब भ्रमण जिसे भ्रमरक करण में किया जाता है।

(१४) भ्रमर

२०१-२०३. इस अङ्गहार के आरम्भ में नूपुरपादिकाचारी (ना० शा० ११।३५) के प्रयोग द्वारा नूपुर करण (ना० शा० ४।६७) का प्रयोग इष्ट है। इसके उपरान्त आक्षिप्तक करण का प्रयोग करना चाहिए। 'कटिच्छिन्न' को बीच में रखने से यहाँ परिच्छिन्न करण का (ना० शा० ४।१०६) भी प्रयोग इष्ट है फिर सूचीपाद (ना० शा० ४।१३६), नितम्ब (ना० शा० ४।१४६), करिहस्त (ना० शा० ४।१४८), उरोमण्डल (ना० शा० ४।११५) तथा कटिच्छिन्न करणों का क्रमशः प्रयोग किया जाए।

(१५) मत्तस्खलितक

२०३-२०५. इस अङ्गहार के आरम्भ में मत्तल्लि-करण (ना० शा० ४।८८) का प्रयोग करते हैं, फिर दक्षिण हस्त के आवर्तन और कपोल पर निकुञ्चन के द्वारा गण्डमुखी (ना० शा० ४।१३२) तथा लीन करण (ना० शा० ४।६६) का प्रयोग किया जाता है और फिर अपविद्ध (ना० शा० ४।६४) तथा तलसंस्फोटित करण (ना० शा० ४।१३०) को क्षिप्रगति में प्रस्तुत करते हुए अन्त में करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करण को सम्पन्न करते हैं।

(१६) मदविलसित

२०५–२०७. इस अङ्गहार के आरम्भ में दोलाहस्तों के उल्लेख से मद-स्खलितक-करण (ना० शा० ४।१५६) का प्रयोग इष्ट है एवं स्वस्तिक चरण के अपसरण द्वारा मत्तल्लिकरण (ना० शा० ४।८८), अञ्चित एवं ललित हस्तों के संघट्टित करने (ताली बजाने) के द्वारा तलसंघट्टित-करण के प्रयोग का संकेत दिया गया है। इसके उपरान्त क्रमशः निकुट्टक (ना० शा० ४।६६), ऊरूद्वृत्त (ना० शा० ४।१५६), करिहस्त एवं कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग करते हैं।

कुछ आचार्य आरम्भ के तीन करणों को तीन बार दोहराते हुए इस अङ्गहार में तेरह करणों का प्रयोग तथा अन्य आचार्य इसी अङ्गहार के सात करणों के तीन बार प्रयोग को सम्पन्न करने वाले इस करण में इक्कीस करणों के प्रयोग को बतलाते हैं।

(१७) गतिमण्डल

२०७–२०९. इस अङ्गहार के आरम्भ में मण्डलस्थान (ना० शा० ११।६५–६७) के उल्लेख से मण्डलस्वस्तिक–करण (ना० शा० ४।६६) तथा निवेश–करण (ना० शा० ४।१५६) के प्रयोग का संकेत दिया गया है और रेचित हस्त के द्वारा उन्मत करण (ना० शा० ४।७५) का इसी प्रकार उद्घट्टित चरण के प्रयोग से उद्घट्टितकरण का प्रयोग इष्ट है। इसके पश्चात् क्रमशः इसमें मत्तल्लि, आक्षिप्त, उरोमण्डल तथा कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाता है।

(१८) परिच्छिन्न

२०९–२११. इस अङ्गहार के आरम्भ में प्रस्तुत समपाद स्थान से (ना० शा० ११।५९–६१) समनखकरण (ना० शा० ४।६५) का प्रयोग इष्ट है। परिच्छिन्न करण से छिन्न करण (ना० शा० ४।१०६) का तथा पैरों से आविद्धाचारी के (ना० शा० ११।३८) प्रदर्शन से सम्भ्रान्तकरण (ना० शा० ४।१६१) का प्रयोग सूचित किया गया है। बाह्यभ्रमरक के प्रदर्शन का आशय है भ्रमरक करण का (ना० शा० ४।६६) सम्पादन करना।

इसके पश्चात् वामपाद से सूचीचारी के द्वारा अर्धसूची करण (ना० शा० ४।१३८) का प्रयोग करना और फिर क्रमशः अतिक्रान्त (ना० शा० ४।१२७) भुजङ्गत्रासित (ना० शा० ४।८५) तथा करिहस्त एवं कटिच्छिन्न करणों को प्रयुक्त करना चाहिए।

(१९) परिवृत्तकरेचित

२११–२१५ इस अङ्गहार के आरम्भ में हाथों को मस्तक पर स्वस्तिक

कर शिथिल-क्रम में रखने से क्रमशः नितम्ब (ना० शा० ४।१४६) तथा स्वस्तिक चेष्टा से स्वस्तिकरेचित करण (ना० शा० ४।६७) का प्रयोग सूचित किया गया है। इसके पश्चात् शरीर को झुकाने के क्रिया-कलाप से विक्षिप्ताक्षिप्त करण (ना० शा० ४।८१) का तथा शरीर को उन्नत स्थिति में न्यस्त कर हस्तों को रेचित एवं लता चेष्टा में सञ्चालित करने के द्वारा लतावृश्चिक करण (ना० शा० ४।१०५) का प्रयोग सूचित किया गया है। हस्तों के रेचित प्रयोग द्वारा उन्मत्त करण (ना० शा० ४।७४) का प्रयोग समझना चाहिए। इसके पश्चात् करिहस्त एवं भुजङ्गत्रासित करण को प्रस्तुत किया जाता है और फिर आक्षिप्तक करण (ना० शा० ४।११६) को सम्पन्न किया जाता है। इसके पश्चात् पैरों की स्वस्तिक क्रिया करते हुए बद्धाचारी (ना० शा० ११।२१) के प्रयोग से नितम्ब करण (ना० शा० ४।१४६) का सम्पादन किया जाता है। अन्तिम दो करणों को छोड़ कर सभी करणों को फिर से उलटे घुमाव या चारों ओर मुँह फिरा कर दुहराना इष्ट है और इन उल्लिखित करणों के विधिवत् प्रस्तुत करने के पश्चात् (ही) अन्त में करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों को प्रस्तुत करना चाहिए।

(२०) वैशाख-रेचित

२१५–२१८. इस अङ्गहार के आरम्भ में शरीर के साथ हाथों को रेचित एवं अपविद्ध करने के द्वारा दोनों बाजुओं से वैशाखरेचित करण (न० शा० ४।६८) का प्रयोग इष्ट है। फिर इसी क्रम को दुहराना चाहिए और नूपुर तथा भुजङ्गत्रासित करणों को क्रमशः प्रयुक्त करना चाहिये। 'रेचित' से आशय है उन्मत करण (ना० शा० ४।७४) का प्रयोग करना। इसके पश्चात् मण्डलस्वस्तिक करण को प्रस्तुत करके बाहु और मस्तक को निकुञ्चित करते हुए निकुट्टित करण (ना० शा० ४।५६) को प्रस्तुत करना चाहिए। इसके पश्चात् क्रमशः ऊरूद्वृत्त, आक्षिप्तक, उरोमण्डल, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों को प्रस्तुत करना चाहिए।

(२१) परावृत्त

२१८–२२०. इस अङ्गहार के आरम्भ में दाहिने बाजू से जनित-करण (ना० शा० ४।१५५) को प्रस्तुत कर एक पैर फैला कर शकटास्य-करण (ना० शा० ४।१६८) को प्रस्तुत करते हैं। इसके पश्चात् अलात-करण (ना० शा० ४।७८) को प्रस्तुत कर त्रिक को घुमाव देते हुए भ्रमरक-करण (ना० शा० ४।९८) प्रस्तुत किया जाता है। फिर वाम हस्त को अञ्चित

करते हुए कपोल पर कुट्टन करते हुए करिहस्त करण को प्रस्तुत करते हुए अन्त में कटिच्छिन्न करण को प्रस्तुत करते हैं।

(२२) अलातक

२२०–२२२. इस अङ्गहार के आरम्भ में स्वस्तिक-करण (ना० शा० ४।६८) को प्रस्तुत कर दोनों हाथों को व्यंसितकरण (ना० शा० ४।१०६) की प्रक्रिया में न्यस्त रखा जाता है। यहाँ 'व्यंसितौ करौ' शब्द को द्विवचन में प्रयुक्त करने का आशय है इस करण को दोहराया जाना। इसके पश्चात् क्रमशः अलातक (ना० शा० ४।७८), ऊर्ध्वजानु (ना० शा० ४।८६), निकुञ्चित (ना० शा० ४।८७), अर्धसूची (ना० शा० ४।१३८), विक्षिप्त (ना० शा० ४।११६), उद्वृत्त (ना० शा० ४।१५२), आक्षिप्तक (ना० शा० ४।११६) तथा अन्त में करिहस्त एवं कटिच्छिन्न करणों को प्रस्तुत करना चाहिए।

(२३) पार्श्वच्छेद

२२२–२२४. इस अङ्गहार के आरम्भ में वक्ष पर हाथों को निकुट्टित करने के द्वारा वृश्चिक-कुट्टिक-करण (ना० शा० ४।१०३) का प्रयोग सूचित किया गया है। इसके उपरान्त ऊर्ध्वजानु करण (ना० शा० ४।८६) को कुञ्चित पाद रखते हुए प्रस्तुत करना चाहिए। फिर आक्षिप्तक (ना० शा० ४।११६) तथा स्वस्तिक करण (ना० शा० ४।७५) को प्रस्तुत कर त्रिक को घुमाव देते हैं। इसके पश्चात् हाथों को उरोमण्डल स्थिति में न्यस्त कर उरोमण्डल-करण (ना० शा० ४।११५) को प्रस्तुत करते हैं तथा फिर क्रमशः नितम्ब, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों को प्रस्तुत करते हैं।

(२४) विद्युद्भ्रान्त

२२४–२२६. इस अङ्गहार के आरम्भ में वामचरण से सूचीचारी के प्रस्तुत करने का आशय है बायी ओर से अर्धसूची-करण (ना० शा० ४।१३८) का तथा दाहिनी ओर से विद्युद्भ्रान्त करण (ना० शा० ४।१२६) का प्रयोग करना। फिर इन्हीं दोनों करणों को विपरीत दिशा से (अर्थात् दक्षिण चरण से अर्धसूची और वामचरण से विद्युद्भ्रान्त करण का) सम्पादन किया जाए और बाद में छिन्न अर्थात् परिच्छिन्नकरण (ना० शा० ४।१०६) को प्रस्तुत कर त्रिक को घुमाव देते हैं। अभिनवगुप्तपादाचार्य के अनुसार परिच्छिन्न करण के बाद अतिक्रान्त करण का प्रयोग करना चाहिए। इसके पश्चात् लता-हस्त के साथ लतावृश्चिक करण (ना० शा० ४।१०५) को प्रस्तुत कर अन्त में कटिच्छिन्न करण का प्रयोग किया जाए।

(२५) उद्वृत्तक

२२६–२२८. इस अङ्गहार के आरम्भ में नूपुरपादिकाचारी (ना० शा० ११।३५) को प्रस्तुत करने का आशय है नूपुर करण (ना० शा० ४।९८) को प्रस्तुत करना। इसके पश्चात् दक्षिण एवं वाम हस्त को झुलाते हुए रखने के द्वारा भुजङ्गाञ्चित करण (ना० शा० ४।१०१) तथा पार्श्व में करने (इत्यादि) से गृद्धवलीनक करण (ना० शा० ४।१३५) का प्रयोग सूचित होता है। 'करौ सव्यवामौ' में प्रयुक्त द्विवचन से इन दोनों को एक साथ प्रस्तुत करने की भी स्थिति सूचित की गयी है। इसके पश्चात् विक्षिप्त करण (ना० शा० ४।११६) को प्रस्तुत करते हुए इसी हस्तमुद्रा से सूचीकरण को सम्पादित कर त्रिक को परिवर्तित कर बद्धाचारी में चरण को न्यस्त कर नितम्ब करण (ना० शा० ४।१४५) को प्रस्तुत करे। फिर लता-वृश्चिक-करण (ना० शा० ४।१०५) को प्रस्तुत कर अन्त में कटिच्छिन्न करण का प्रयोग किया जाए।

(२६) आलीढ़

२२८–२३०. इस अङ्गहार के आरम्भ में आलीढ़ स्थान (ना० शा० ११।६७) में स्थित होकर फिर व्यंसितकरण (ना० शा० ४।१०९) को प्रस्तुत करते हैं। फिर इसी स्थान में रखी जाने वाली हस्तमुद्रा वाले हाथों को बाहुओं के कोनों अर्थात् कन्धों पर निकुट्टित करते हुए निकुट्टित-करण (ना० शा० ४।६९) को प्रस्तुत किया जाए। इसके उपरान्त वामचरण से नूपुर-करण (ना० शा० ४।९८) और दक्षिण चरण से अलातकरण (ना० शा० ४।७८) को प्रस्तुत किया जाए। फिर दक्षिण भाग से आक्षिप्त करण (ना० शा० ४।११६) को प्रस्तुत कर इसी में आगे दोनों हाथों से उरोमण्डल-करण (ना० शा० ४।१२५) को प्रस्तुत कर अन्त में करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों को प्रस्तुत किया जाए।

(२७) रेचित

२३०–२३२. इस अङ्गहार का आरम्भ रेचित् हस्तों से होता है तथा इसमें रेचित प्रक्रिया वाले सभी करणों का समावेश किया जाता है जिसे अन्त में कहे गये—'रेचितं करणं कार्यम्' द्वारा सूचित समझना चाहिए। 'कार्यम्' पद से सभी रेचित प्रक्रिया वाले करणों को अङ्गों सहित व्यावहारिक बुद्धि से संयुक्त करते हुए प्रयोग में विचित्रता उत्पन्न करना अभीष्ट है। अतएव अङ्गों के विचित्र प्रभेदों से मिश्रित स्वरूप वाला यह अङ्गहार माना जाता है। रेचित प्रक्रिया बड़ी उलझी हुई है फिर भी इसका क्रम इस प्रकार रहता

है। इसमें आरम्भ में स्वस्तिकरेचितकरण (ना० शा० ४।६७) को और फिर क्रमशः अर्धरेचित (ना० शा० ४।८०), आक्षिप्तरेचित (ना० शा० ४।८६), अर्धमत्तल्लि (ना० शा० ४।६८) रेचकनिकुट्टक (ना० शा० ४।६०), भुजङ्गत्रस्तरेचित (ना० शा० ४।६६), नूपुर (ना० शा० ४।६७), वैशाखरेचित (ना० शा० ४।६८), भुजङ्गाञ्चितक (ना० शा० ४।१०१), दण्डरेचित (ना० शा० ४।१०२), वृश्चिकरेचित (ना० शा० ४।१०७), व्यंसित (ना० शा० ४।१०६), निवृत्त (ना० शा० ४।१२२), विनिवृत्त (ना० शा० ४।११३), विवर्तितक (ना० शा० ४।१२८), गरुडप्लुत (ना० शा० ४।१३१), मयूरललित (ना० शा० ४।१४१), सर्पितक (ना० शा० ४।१४२) स्खलित (ना० शा० ४।१४७), प्रसर्पितक (ना० शा० ४।१४६), तलसंघट्टित (ना० शा० ४।१५४), वृषभक्रीडित (ना० शा० ४।१६५) तथा लोलित (ना० शा० ४।१६६) करणों का प्रयोग होता है। यहाँ मूल में 'पुनस्तेनैव योगेन' इत्यादि से पार्श्व तथा अङ्गों को आनत करने का आशय है एक करण के प्रयोग के बाद विचित्रता के लिए चक्रमण्डलकरण (ना० शा० ४।११४) को प्रस्तुत कर फिर दूसरे करणों को प्रस्तुत करना। करणों का विचित्रतासम्पन्न यह क्रम चक्रमण्डल करण से व्यवहित होते हुए चलना चाहिए। इस प्रकार निर्दिष्ट करणों का जब क्रमिक पूर्ण हो जाए तो अन्त में उरोमण्डल (ना० शा० ४।११५) तथा कटिच्छिन्न करण को प्रस्तुत कर अङ्गहार को पूर्ण किया जाए।

(२८) आच्छुरित

२३२–२३४. इस अङ्गहार के आरम्भ में नूपुर करण (ना० शा० ४।६७) को प्रस्तुत करते हैं। यहाँ त्रिक को घुमाव देने का आशय है भ्रमरक-करण (ना० शा० ४।६६) को प्रस्तुत करना। इसके पश्चात् व्यंसित-करण (ना० शा० ४।१०६) को प्रस्तुत करते हुए त्रिक को विवर्तिक कर नितम्ब-करण (ना० शा० ४।१४६) को प्रस्तुत करते हैं फिर वाम चरण से अलातक करण (ना० शा० ४।७८) को और इसी के साथ लगातार सूची करण (ना० शा० ४।१३७) को प्रस्तुत कर अन्त में करिहस्त एवं कटिच्छिन्न करण को प्रस्तुत किया जाता है।

(२९) आक्षिप्तरेचित

२३३–२३७. इस अङ्गहार में हस्त तथा चरण के स्वस्तिक प्रयोग के साथ रेचित होने वाले सभी करणों का प्रयोग ग्रहण किया गया है। तदनुसार स्वस्तिक पादों के रेचन से होने वाले स्वस्तिक-रेचित (ना० शा ४।६७)

करण से आरम्भ होकर क्रमशः पृष्ठस्वस्तिक (ना० शा० ४।७६), दिक्स्वस्तिक (ना० शा० ४।७७) कटीसम (ना० शा० ४।७६), घूर्णित (ना० शा० ४।६३), भ्रमर (ना० शा० ४।६६), वृश्चिकरेचित (ना० शा० ४।१०७), पार्श्वनिकुट्टक (ना० शा० ४।११०), उरोमण्डल (ना० शा० ४।११५), सन्नत (ना० शा० ४।१३६), सिंहाकर्षित (ना० शा० ४।१५१) तथा नागापसर्पित करणों (ना० शा० ४।१६७) को सम्पन्न करते हैं। इसमें वक्षःस्वस्तिक (ना० शा० ४।७४) करण को रेचन क्रिया से रहित होने के कारण मुनि ने समाविष्ट नहीं किया परन्तु कुछ आचार्य परिवर्तन क्रम में इस करण में भी रेचन प्रक्रिया मानते हैं और वक्षःस्वस्तिक को भी इस करण क्रम में रखने का समर्थन करते हैं।

इसी प्रकार रेचित हस्त पादों के उत्क्षेपण को बतलाकर हस्त पादों की उत्क्षेपण क्रिया वाले सभी करणों का समावेश (भी) यहाँ सूचित किया गया है। तदनुसार उत्क्षेपण क्रिया वाले इन करणों का क्रमशः प्रयोग करना चाहिये। ये हैं—दण्डपक्ष (ना० शा० ४।६५), ललाटतिलक, (ना० शा० ४।१११), तलविलसित (ना० शा० ४।११७), निसुम्भित (ना० शा० ४।१२५), विद्युद्भ्रान्त (ना० शा० ४।१२६), गजक्रीडित (ना० शा० ४।१२६), नितम्ब (ना० शा० ४।१४६), विष्णुक्रान्त (ना० शा० ४।१६१), उरूद्वृत्त (ना० शा० ४।१५६), आक्षिप्त (ना० शा० ४।११६) तथा उरोमण्डल (ना० शा० ४।११५) और फिर अन्त में पुनः नितम्ब (ना० शा० ४।१४६), करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों को प्रस्तुत कर (इस) अङ्गहार को पूर्ण करना चाहिए।

(३०) सम्भ्रान्त

२३७–२४०. इस अङ्गहार के आरम्भ में विक्षिप्त करण (ना० शा० ४।११६) को प्रस्तुत कर हस्त एवं पादों को मुख के अनुसार संचालित करते हुए रखने का आशय है अञ्चित (ना० शा० ४।८३), गण्डसूची (ना० शा० ४।१३२) तथा गंगावतरण (ना० शा० ४।१६६) करणों का क्रमशः सम्पादन करना। इसी प्रकार वाम हस्त से सूची के प्रयोग द्वारा अर्धसूची करण (ना० शा० ४।१३८) का तथा विक्षेप से दण्डसूची करण (ना० शा० ४।१४३) का संकेत समझना चाहिए। दक्षिण हस्त को वक्ष पर न्यस्त रखने से चतुर करण (ना० शा० ४।३६) तथा त्रिक के घुमाव के भ्रमरक करण (ना० शा० ४।६६) का प्रयोग सूचित किया है। इसके उपरान्त क्रमशः नुपूर (ना० शा० ४।६७) आक्षिप्तक (ना० शा० ४।११६), अर्धस्वस्तिक

(ना० शा० ४।८३), नितम्ब (ना० शा० ४।१४६), करिहस्त, उरोमण्डल (ना० शा० ४।११५) तथा अन्त में कटिच्छिन्न करण को प्रस्तुत किया जाता है ।

(३१) अपसर्पित

२४०–२४२. इस अङ्गहार के आरम्भ में अपक्रान्त क्रम के प्रदर्शित करने का आशय है अपक्रान्त करण (ना० शा० ४।१४०) का प्रयोग करना । इसके पश्चात् हाथों को वक्ष पर न्यस्त करते हुए व्यंसित करण (ना० शा० ४।१०९) को तथा हाथों को उद्वेष्टित प्रक्रिया में सञ्चालित करते हुऐ करिहस्त करण (ना० शा० ४।१४८) को प्रस्तुत करना चाहिए । यहाँ इसके बाद क्रमशः अर्धसूची (ना० शा० ४।१३८), विक्षिप्त (ना० शा० ४।११९) एवं कटिच्छिन्न करण (ना० शा० ४।७६) को प्रस्तुत करना चाहिए । यहाँ उद्वृत्त का अर्थ है उरूद्वृत्त करण (ना० शा० ४।१५९) को प्रस्तुत करना । इसके पश्चात् अन्त में क्रमशः आक्षिप्त (ना० शा० ४।१३८), करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों को प्रस्तुत किया जाता है ।

(३२) अर्धनिकुट्टक

२४२–२४४. इस अङ्गहार के आरम्भ में नुपूरपादचारी (ना० शा०) में चरणों को न्यस्त कर नुपूर-करण (ना० शा० ४।९७) को तथा हस्तपाद को आक्षिप्त करते हुए विवृत्त करण (ना० शा० ४।१२२) को प्रस्तुत करना चाहिए । इसके पश्चात् चरणों की गति के अनुसार त्रिक को घुमाव देते हुए भ्रमरीचारी को प्रस्तुत किया जाए तथा हस्त एवं पादों को निकुट्टित प्रक्रिया में संचालित करते हुए निकुट्टक (ना० शा० ४।६९) तथा अर्ध-निकुट्टक (ना० शा० ४।७०) करणों को प्रस्तुत करते हुए अन्त में उरोमण्डल (ना० शा० ४।११५), करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों को प्रस्तुत किया जाए ।

इस प्रकार विभिन्न करणों से अङ्गहार निष्पन्न होते हैं जिसे बतलाया जा चुका है । इन प्रत्येक करणों के सम्पन्न करने में जो समय लगेगा उसका मिलाकर जो प्रमाणानुसार समय होगा वही एक अङ्गहार में लगने वाला समय माना जाएगा ।

ये अङ्गहार छः, बारह या चौबीस करणों से निष्पन्न होनेवाले होते हैं । इनमें सन्धिकाल के आधार पर मात्रा, ताल तथा कला के प्रमाणानुसार एक

या दो करणों को प्रविष्ट करवाने का प्रयोग रखा जाए जो सोलह मात्रा तक के प्रमाण का हो सकता है। इसके अतिरिक्त पूर्व अभिहित कुछ अङ्गहार सोलह करणों वाले होने से बड़े आकार वाले हैं। इसकी चतुरस्र ताल रखी जाती है। इनकी संख्या सोलह है। इनमें किसी एक के न्यून होने पर किसी अन्य से ताल क्रिया लेते हुए ताल प्रमाण की पूर्ति की जाती है।

इस अङ्गहारों में अपविद्ध, उद्घट्टित, विष्कम्भ, विष्कम्भापसृत, स्वस्तिकरेचित, वृश्चिकापसृत, मत्तस्खलित, गतिमण्डल, परिवृत्तकरेचित, परावृत्त, अलातक, उद्वृत्तक, रेचित, आक्षिप्तरेचित, सम्भ्रान्त तथा अर्धनिकुट्टक त्र्यस्र ताल वाले होते हैं। ये सोलह हैं। इसी प्रकार अवशिष्ट सोलह अङ्गहार चतुरस्रताल वाले होंगे जो मिलकर बत्तीस हो जाएंगे।

इसी प्रकार स्थूल दो विभागों (चतुरस्र तथा त्र्यस्र) एवं अवान्तर सोलह विभागों में विभक्त इन अङ्गहारों का पूर्वरङ्ग बहिर्यवनिकागत उत्थापना से प्ररोचना पर्यन्त अङ्गों में प्रयोग होने के कारण भी बत्तीस प्रकार हो जाते हैं। यह कुछ आचार्यों का मत है। अन्य आचार्यों का मत है कि चार नर्तकियों के प्रत्येक के प्रयोगों से चार प्रकार बनकर फिर पिण्डीबन्ध, रेचक, न्यास तथा अपन्यास प्रकारों से युक्त होने पर (अन्त में) बत्तीस प्रकार बन जाते हैं। इसके अतिरिक्त दूसरे आचार्यों का मत है कि अङ्ग तथा वस्तु से निबद्ध गीतों की वस्तु तीन प्रकार की होती है। वर्धमानक के नौ, आसारित के चार एवं पाणिका का एक प्रकार है। इस प्रकार ब्रह्मगीति की विचित्रता बत्तीस प्रकार से सुशोभित होती है तथा उन्हीं के प्रयोगों को अपने स्वरूप में रखने वाले होने के कारण अङ्गहारों की संख्या भी बत्तीस ही मानी गयी है।

रेचक

करणों तथा अङ्गहारों में अंगरूप में रेचकों के प्रयोग को बतलाया जा चुका है पर नृत्त तथा नृत्य के अनेक प्रयोगों में भी इनकी योजना रखी जाती है। इसके अतिरिक्त सुकुमारगति तथा वाद्यगत प्रधानता रखने वाले प्रयोग भी 'रेचक' से युक्त रहते हैं। इस कारणों से 'रेचकों' का स्वतन्त्र महत्त्व भी है। रेचन या रेचित-प्रक्रिया अङ्गों के पृथक्-पृथक् व्यवस्थित स्वरूप में वलन को (चक्राकार घुमाव) कहा जाता है। अतएव इसकी वैशाखमण्डलस्थान या वैशाखरेचितकरण और चारी से भिन्नता स्पष्ट है, यद्यपि इन करणों, मण्डलों तथा चारियों में भी अङ्गरूप में इनका प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त यह भी नहीं समझ लेना चाहिए कि करण, अङ्गहार एवं रेचकों का केवल पूर्वरङ्ग के अङ्गों में ही प्रयोग होता है किन्तु ये अन्यत्र किये जाने-

वाले नृत्यादि प्रयोग में भी उपयोगी होते हैं। इसके अतिरिक्त देवगण के प्रीत्यर्थ भी अङ्गहार, करण एवं रेचकों का प्रयोग किया जाता है।

इनके रेचक होने का कारण मुनि ने स्वयं ही निर्दशित कर दिया है। इनके चार प्रकार ये हैं :—(१) पादरेचक, (२) कटिरेचक, (३) हस्त-रेचक तथा (४) ग्रीवा रेचक।

पाद-रेचक—इसमें विविध प्रकम्पित या स्खलित गति में पैरों को अलग-अलग एक के पास दूसरे को एक बाजू से दूसरी बाजू में संचालित करना होता है।

कटि-रेचक—इसमें त्रिक को ऊपर उठाना, घुमाव देना, पीछे हटाना (अपसर्पण) तथा चक्राकार गति में संचालित करना होता है।

कर-रेचक—इसमें हाथों का ऊपर उठाना, फेंकना (परिक्षेप), आगे की ओर करना, फैलाना तथा गोल घुमाव में संचालित करना होता है।

ग्रीवा-रेचक—इसमें ग्रीवा को ऊपर की ओर उठाना, तानना, नीचे झुकाना, एक बाजू में झुकाना तथा गोल-घुमाव में संचालित करना होता है।

२५२–२५४. मुनि ने पुराकथा के साथ तहाँ पिण्डीबन्ध के अवतरण को निर्दशित किया है। पिण्डीबन्ध नृत्य की एक आकृति विशेष है जिसमें करण तथा अङ्गहार विनियोजित होते हैं। अभिनवगुप्तपाद ने आकार सादृश्य को पिण्डीबन्ध कहा है। उनका मत है कि इस आकरगत वैशिष्ट्य को ही ध्यान में रख कर प्रयोगानुसार इसमें स्वरूप रखे गये हैं।

इस प्रकार ये पिण्डीबन्ध आधार, अङ्ग, प्रयोग तथा साधनगत विभिन्नता के कारण अनेकप्रकार के हो सकते हैं। आधार से आशय है स्थानगत विभेद। यह विभेद पृथ्वी, स्वर्ग, पाताल आदि लोकों के कारण सात प्रकार का होता है। इसी तरह दो हाथ, दो पैर, दो नेत्र तथा एक मस्तक इस प्रकार अङ्गगत सात विभेद हैं। एक या एकाधिक प्रयोक्ता होने से प्रयोक्तागत विभेद हो जाते हैं जो सम एवं विषम प्रयोग भेद से युक्त होकर चार प्रकार के हो जाते हैं। ये चार विभेद करणों तथा अङ्गहारों से सम्पादित होकर अनन्त भेद धारण कर लेते हैं। इस प्रकार अनन्तभेद बनने पर भी प्रधान देवगण के नाम पर होनेवाले पिण्डीबन्धों का ही भरतमुनि ने उल्लेख किया है।

२५५–२६१. इन पिण्डीबन्धों के द्वारा देवगण का परितोष भी होता है तथा इनके मध्य इन्हीं देवताओं के आयुध, वाहन, कर्म तथा भावों का अङ्गों द्वारा अभिनय भी प्रस्तुत किया जाता है। उदाहरणार्थ तलपुष्पपुट-करण के

कर्म से भगवती का, निस्तम्भित करण से भगवान शिव का, निकुट्टक करण के प्रयोग से उनके त्रिशूलाकृति शस्त्र का, गरुडप्लुतक से तार्क्ष्यगति का तथा गंगावतरण करण से धारापिण्डी का, नागापसर्पित करण से भोगिपिण्डी तथा स्थिरहस्त अङ्गहार से वैसे आकारवाले त्रिशूल, शिवलिङ्ग आदि विभिन्न पिण्डीबन्धों का अभिनय किया जा सकता है तथा रेचित अङ्गहारों के प्रयोग से सभी कथित आधारों के अनन्त प्रकारों का अभिनय होता है। नन्दिकेश्वर ने कहा भी है।

रेचिताख्योऽङ्गहारो यो द्विधा तेन ह्यशेषतः।
तुष्यन्ति देवतास्तेन ताण्डवे तं नियोजयेत्॥

[रेचित नामक जो दो अंगहार (रेचित तथा आक्षिप्तरेचित) हैं उनके प्रयोग से देवगण प्रसन्न होते हैं अतएव ताण्डव में इनकी योजना की जाए।] और इस प्रकार यह तथ्य संक्षेप में आगमोक्तसिद्धान्त के संरक्षण हेतु यहाँ भी संकेतित किया गया है।

२६१–२६२. भगवान महेश्वर द्वारा रेचक, अंगहार तथा पिण्डीबन्धों की सृष्टि कर उन्हें तण्डु को प्रदान करने का आशय है करणों का प्रयोग तथा स्वरूप दिखलाना। नृत्य के इस आरम्भिक उपकरण के प्राप्त हो जाने पर तण्डु ने गीत तथा वाद्ययन्त्र के सम्मिश्रण या सहकार से ताण्डव नृत्य-प्रयोग का निर्माण किया अतएव इस करणाश्रित प्रयोग का तण्डु के नाम पर ताण्डव नामकरण भी हो गया।

इस प्रयोग में नृत्त (या नृत्य) के साथ गीत एवं वाद्य मिल कर चलते हैं इसी कारण वैयाकरणों ने इसकी 'तण्डोरयं ताण्डवः' व्युत्पत्ति की।

भाण्ड शब्द का अर्थ है वाद्ययन्त्र। इसकी व्युत्पत्ति है—'भणति शब्दं करोतीति भाण्डम्'। अर्थात् जो शब्द करता हो ऐसा अवनद्ध वाद्ययन्त्र भाण्ड कहलाता है।

२६३–२६४. आत्रेय आदि मुनियों ने यहाँ भरत मुनि के समक्ष आवश्यक प्रश्न उपस्थापित किया है कि नृत्त नाट्य से भिन्न है या अभिन्न। यदि भिन्न है तो इसके पृथक् प्रयोजन कौन होंगे ? या यह प्रयोजन–विहीन है। ये दोनों भिन्न नहीं हैं क्योंकि अंगविक्षेप रूप नृत्त एवं गतिगत साम्य दोनों में विद्यमान है। अभिनय-प्रयोग (नाट्य) में गाये गये गीत वाक्यों के अर्थों की अभिव्यक्ति की जाती है एवं रस से संयुक्त भावों का अविकल दर्शन होता है

किन्तु नृत्त केवल आंगिक हस्तचलन मात्र होता है। अतएव इसकी वास्तविक प्रकृति क्या हो सकती है। क्योंकि वार्तिककर ने कहा भी है :—

'वाच्यानुगतेऽभिनये प्रतिपाद्येऽर्थे च गात्र वक्षेपैः।
उभयोरपि हि समाने को भेदो नृत्तनाट्यगान्तियोः॥'

[अभिनय में वाणी का अनुसरण करते हुए अर्थ को अभिव्यक्ति करने में गात्र विक्षेप होता है तथा नृत्त में भी अंगसञ्चालन किया जाता है अतएव इतनी दोनों में जब समानता है तो फिर नृत्त एवं नाट्य में भेद क्या होगा ?]

इस प्रश्न का सार यह है कि नाट्यकला में अभिनय की महत्वपूर्ण स्थिति निश्चित है तो फिर उसी के साथ नृत्त प्रयोग की विशेष आवश्यकता क्यों होगी ? और यदि नृत्त प्रयोग केवल अंगसंचालन मात्र है तो यहाँ इसकी संगति कैसे बनेगी ? क्योंकि यह अर्थों का भावक होता है, प्रापक नहीं।

२६५–२६८. भरत मुनि ने इसके उत्तर में बतलाया कि शोभाधायक होने के कारण नृत्त प्रयोगयोग्य है। यद्यपि इसमें अर्थ की अपेक्षा नहीं होती किन्तु जब यह प्रवृत्त होता है तो अपने आंगिक विक्षेपों एवं विलासपूर्ण चेष्टाओं के समृद्ध प्रयोग के द्वारा विचित्रता एवं सौन्दर्य की विशिष्ट उद्भावना करता है। यह उद्भावना गेयपदों या भावादि के वाचिक कथात्मक अभिनय से सम्पन्न नाट्य की अपेक्षा विलक्षण है जिसमें गीत के पदों के अर्थों की व्यञ्जना अपेक्षित नहीं होती। इसी कारण नृत्त की पृथक् प्रवृत्ति मानी जाती है।

इसके अतिरिक्त नृत्त में रञ्जकता एवं लोकप्रियता भी होती है और प्रायः समाज भी इसमें सहजभाव से रुचि लेता है तथा इसे देखने को लालायित रहता है। अतएव विशिष्ट सामाजिक उत्सवों आदि के अवसर पर इसका स्वतन्त्र प्रयोग होने से नाट्य के समान नृत्त भी विनोद या मनोरञ्जन का उपपादक होकर प्रवृत्त हुआ है यह स्पष्ट हो जाता है।

२६९–२७१. 'देव' शब्द यहाँ विशेष अर्थ के संकेतार्थ प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ है वे भगवान् शिव जिसके द्वारा तण्डु को गति प्रयोग का आश्रय लेकर निष्ठा से नृत्त में प्रवृत्त का उपदेश दिया गया। गीत का अर्थ है काव्य। क्योंकि अंगविक्षेपात्मक नृत्त में काव्य या गीत के अभिनय का आधार लेकर प्रवृत्त होने पर प्रयोग और सुन्दर बन पड़ेगा। आचार्य कोहल ने कहा है कि—

'नाट्योक्त्याभिनयेनेदं वत्स योजय ताण्डवम्'।

['अर्थात् भगवान् शिव ने तण्डु को नाट्यगत वर्णादि कथन के अभिनय के साथ ताण्डव की योजना करने का आदेश दिया।']

इस ताण्डव का संयोजन देवताओं की स्तुति के प्रसंग में होना है पर नृत्त के सुकुमार प्रयोगों को लेकर श्रृंगाररस की भी इसमें अवतारणा की जा सकती है। ऐसे प्रभूत नृत्तात्मक प्रबन्ध हैं जिनमें अभिनय या नाट्यात्मकता नहीं होती परन्तु इनमें सुकुमार, मसृण एवं उद्धत नृत्तों का प्रयोग सम्भव है। शृङ्गाररस से पूर्णतः अथवा अंशतः उद्‌भूत होने से मसृण नृत्त का प्रयोग होता है। यद्यपि रस की स्थिति नाट्य के बिना सम्भव नहीं मानी गयी है तथापि काव्य से अभिनय की निष्पत्ति होने से रस की स्थिति सम्भव होगी। मसृण नृत्त इसी कारण शृङ्गाररस से पूर्ण है क्योंकि इसमें जो अभिनयात्मक नाट्यप्रयोग होते हैं वे रसों के अंश हैं। शुद्ध नृत्त में गीत की संयोजना भी की जाती है तथा ऐसा प्रयोग रागकाव्य कहलाता है जिसमें सुन्दरता से कथा का निर्वाह रहता है। यही अभिनेय नाट्यप्रयोग 'काव्य' (कहलाता) है। जैसा कि आचार्य कोहल ने बतलाया भी है :—

'लयान्तरप्रयोगेण रागैश्चापि प्रयोजितम्।
नानारसं सुनिर्वाह्यरसं काव्यमिति स्मृतम् ॥'

[अर्थात् जिसके अन्तर्गत गीत के साथ लय एवं ताल का प्रयोग होता हो तथा जिसमें रसों का निर्वाह करते हुए कथा का निवेश करते हुए प्रयोग होता हो तो उसे 'रागकाव्य' समझना चाहिए।] 'राग' गीत्यात्मक होने से स्वर का आधार ग्रहण करता है पर काव्य जब इसी राग का आधार ग्रहण करेगा तो यही 'रागकाव्य' कहलाएगा।

इस प्रकार नृत्त का शुद्ध स्वरूप है रेचक एवं अङ्गहारों से निर्मित होना एवं पुनः गीत एवं अभिनय के प्रति उन्मुख होना। इसके उपरान्त गान क्रिया एवं वाद्यादि का अनुसरण करने वाला भी 'नृत्त' होगा। इस प्रकार भगवान् शिवजी के द्वारा उपदिष्ट इस 'नृत्त' का जो पर्याप्त विकास एवं स्वरूप विस्तार हुआ वही 'ताण्डव' है जिसे पूर्व में निर्दशित किया जा चुका है।

२७२. अङ्गहारों का प्रयोग पूर्वरङ्ग में होता है तथा पिण्डीबन्ध एवं रेचकों से युक्त अङ्गहार होते हैं यह पूर्व में बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त अङ्गहारों के अंगभूत करण एवं नृत्त का भी इसी क्रम में स्वरूपादि निर्दशित किया गया। अब यहाँ प्रकृत विचार यही उपस्थित होता है कि इन अङ्गहारों का कैसे प्रयोग हो। हम यह बतला आये हैं कि इसका प्रयोग पूर्वरङ्ग के अवसर पर होता है तथा यहीं ताण्डवनृत्त की भी योजना की जाती है। अङ्गहारों से युक्त इसी ताण्डवनृत्त का जब प्रयोग होता है तो उसमें वर्ध-

मानक अवश्य रहता है। इस वर्धमानक के ज्ञान के बिना ताण्डव का प्रयोग सम्भव नहीं होता, इसलिए सर्वप्रथम वर्धमानक का स्वरूप बतलाना उचित है। इसके बाद ही गतिविधि बतलायी जा सकती है।

वर्धमानक में कलाओं की वृद्धि का उल्लेख मुनि ने किया है। तदनुसार सत्रह कलाओं का कनिष्ठ, तैंतीस कलाओं का मध्यम एवं पैंसठ कलाओं का ज्येष्ठ वर्धमानक समझना चाहिए। इन कलाओं की संख्यावृद्धि से लय में वृद्धि होती है और कला एवं अक्षरों की वृद्धि के अनुसार नर्तकियों की संख्यावृद्धि भी की जाती है। उदाहरणार्थ प्रथम आसारित में एक नर्तकी प्रयोग प्रस्तुत करती है तो द्वितीय में दो नर्तकियाँ और आगे भी इसी क्रम से वृद्धि होती जाती है।

२७३-२७४. कुतुप का अर्थ है चारों प्रकार के वाद्य यन्त्र के एवं उनके वादक। इनका विशेषत: न्यास अर्थात् यथायोग्य स्वर, ताल, लय तथा कला आदि में सन्निवेश ही 'कुतुपविन्यास' कहलाएगा। यह प्रत्याहार, अवतरण आदि से लेकर आसारित तक चलता है। जब यह सुनियोजित एवं पूर्ण हो जाता है तभी प्रयोक्तागण के द्वारा आसारित एवं नृत्त का सम्पादन सम्भव होता है।

२७४-२७५. आसारित के पश्चात् उपोहन विधि सम्पादित की जाती है। कनिष्ठा-सारित में पाँच कलाओं के प्रमाणवाला शुष्काक्षर प्रयोग 'उपोहन' कहलाता है। यह उपोहन तन्त्री पर गान के साथ सम्पन्न होता है। यहाँ गान से आशय है जो बाँसुरी एवं वीणा पर बजायी जा सकती हो ऐसी धुन। इस उपोहन क्रिया की समाप्ति पर नर्तकी का प्रवेश होता है तथा इस प्रवेश के साथ (ही) भाण्डवाद्य का वादन (आरम्भ) किया जाता है।

२७५-२७६. वाद्यों पर जिन विशुद्ध करण एवं जातियों के प्रयोग का निर्देश यहाँ किया गया है उनका ना० शा० ३४।१३६-१३८ पर विशद निरूपण किया गया है। यहाँ वाद्यों के अनुसार चलने वाली तलानुसार गति से चारी के प्रयोग का संकेत दिया गया है। वैशाखस्थानक का अर्थ है वैशाखरेचित करण का प्रयोग करना, पुष्पाञ्जलि लेकर प्रविष्ट नर्तकी के द्वारा प्रवेश के समय तलपुष्पपुट करण का प्रयोग करना चाहिए।

२७७-२७८. यह नर्तकी रंगपीठ पर चारों ओर घूमते हुए पुष्पों को बिखेरे एवं देवगण को प्रणाम करे। इसके पश्चात् आङ्गिक चेष्टाओं के द्वारा सम्पादित अभिनय को प्रस्तुत किया जाए। यह प्रयोग भक्ति प्रदर्शन के लिये किया जाता है। यहाँ अभिनय पद से आशय है आसारित का पदार्थ वाक्यार्थ

विषयक वह भावप्रदर्शन जो स्वयं के अभिमुखीनयन हेतु सम्पन्न होता है। यह अभिनय सामाजिकों के रञ्जनार्थ प्रस्तुत नहीं किया जाता।

२७८–२७९. अङ्गहारों के प्रयोग के अवसर पर भाण्डवाद्यों का प्रयोग अर्थात् वादन करने से आशय है केवल अङ्गहारों के प्रयोग के समय वाद्यवादन सुन्दर होना चाहिए क्योंकि अङ्गहार अभिनयशून्य होते हैं। ऐसी दशा में नृत्त की प्रमुखता रहती है और तदनुसार रहने वाले वाद्यवादन को विशेष सावधानी से रखना आवश्यक हो जाता है।

२७९–२८०. वाद्यों का एवं इनके वादन विधान का नाट्यशास्त्र के ३१ वें अध्याय में विस्तार से निरूपण किया गया है। तदनुसार सम का अर्थ है वाद्ययन्त्र में प्रयुक्त अक्षर, अंग, ताल, लय, यति, पाणि, ग्रह तथा न्यास नामक आठ प्रकारों से काल एवं देश की समता रखना। इसी योग के कारण होने-वाली वाद्यगत हृद्यता 'रक्त' कहलाती है, जो मायूरी आदि त्रिविध मार्जनाओं के योग से होती है। वर्ण तथा पाणि का विस्पष्ट विभाजन 'विभक्त' कहलाता है। वादन के समय ककारादि वर्णों की स्पष्टता को 'स्फुट' कहते हैं जिसमें नृत्त के (अंगहार तथा करणादि के) अंगों का सुस्पष्ट अनुसरण या अनुहरण होता है। मृदङ्गवादन के समय इन सभी की अपेक्षा होती है। इनका सलक्षण विवेचन ना० शा० के ३३ वें अध्याय में विस्तारपूर्वक प्राप्त है।

२८०–२८२. यहाँ 'पृथक्' शब्द से प्रत्येक नर्तकी का क्रमिक प्रवेश संकेतित किया गया है अर्थात् क्रमशः प्रविष्ट होकर नर्तकियाँ आसारित प्रयोग को सम्पन्न करें। आसारित के कनिष्ठ आदि चार प्रकारों का संख्या के अनुसार चार नर्तकियों द्वारा भिन्न क्रम में प्रयोग रहना चाहिए। यह प्रयोग जब पृथक् या भिन्न क्रम में वाद्यानुसारी किया जाता है तो 'पर्यस्तक' कहलाता है। इसमें पूर्वप्रविष्ट नर्तकी दूसरी नर्तकी के आने पर हट जाती है तथा इस प्रकार क्रमशः पृथक्-पृथक् चारों नर्तकियाँ अपना नृत्त प्रयोग प्रस्तुत करती हैं। पर्यस्तक में अभिनयशून्य स्थिति होती है किन्तु पिण्डीबन्ध में वस्तु या भाव का अभिनय आ जाता है तथा पिण्डीबन्ध के पश्चात् नर्तकियों को मञ्च से निष्क्रमण करना आवश्यक होता है।

२८३–२८५. 'चित्र' का अर्थ है अनेक प्रकार से एवं विचित्रता लिये हुए। 'ओघ' का लक्षण है—'ओघो विलम्बित-लये मुख्ये एको द्रुतो लयः।' (ना० शा० अभि० भा० vol iv पृष्ठ ४२६) अर्थात् विलम्बित लय के मुख्य रूप में रहते हुये जिसमें एक बार द्रुत लय में वाद्यवादन का सम्पादन होता हो उसे 'ओघ' समझना चाहिये। यह नदी के वेग की तरह सभी भाण्ड-

वाद्यों पर होता है एवं यह वाद्यवादन किसी एक करण पर आश्रित नहीं होता तथा उपरिपाणि प्रहत होता है। ओघ की अन्य संज्ञा 'चतुष्क' है। 'भूयः' पद से यह भी संकेतित किया गया है कि यहाँ उपवहन का प्रयोग कनिष्ठासारित से अधिक प्रमाणवाला रहने से षट्कला प्रमाण वाला रखा जाता है तथा प्रसङ्गवश अधिक लय एवं गति भी रहती है।

२८६-२८७. इसके उपरान्त तृतीय एवं चतुर्थ आसारित का प्रयोग करते हैं जिसमें पूर्ववत् नर्तकी प्रवेश कर पूर्ववर्णित विधि से नृत्तप्रयोग सम्पन्न करती है। इस समय भाण्डवाद्यवादन तथा गीत के साथ साथ पद-पद पर आसारित (नृत्तप्रयोग) होता है। गीत की वस्तु का क्रमशः प्रथम पाद एक बार, दूसरे का दो बार, तीसरे का तीन बार एवं चौथे का चार बार गान करते हैं। अतएव इसका गीत के चार पाद या खण्ड भी अर्थ लिया जा सकता है। ये हैं—मुख, प्रतिमुख, शरीर तथा संहरण। इनका आश्रय लेकर वर्धमानक में आसारित का चार बार प्रयोग या आवर्तन करते हैं। यहाँ वस्तु का अर्थ है अङ्ग।

२८९. पिण्डीबन्ध के प्रकार या भेदों का क्रमिकता लिये हुये आसारित में प्रयोग किया जाता है यह बतला चुके हैं। जिनमें सर्वप्रथम भेद सामान्य-प्रकार का होने के कारण इसका 'पिण्डी' नाम रखा गया है। यह विशेषता हीन एवं एकजूट होकर प्रयोग करने योग्य होता है क्योंकि इसमें नर्तकियाँ सम्मिलित नृत्त सम्पन्न करती हैं, ये जब एक दूसरे का हाथ ग्रहण कर नृत्त करती हैं तो (यही) शृङ्खलिका का प्रकार बन जाता है, एक दूसरे की भुजाओं को लतावत् जकड़ कर नृत्त करने पर लताबन्ध नामक प्रकार तथा अलग बिखर कर या हट कर नृत्त प्रस्तुत करने पर भेद्यक नामक चतुर्थ प्रकार बन जाता है। भावप्रकाशन में शारदातनय ने यही पिण्डीबन्धों का स्वरूप माना है। आचार्य अभिनवगुप्त ने भी इस नृत्त को सामूहिक मान कर इस प्रयोग को सजातीय एवं विजातीय स्थिति में विभक्त किया है। इनके मत में एक नाल में आबद्ध कमल सदृश स्वरूप वाला सजातीय तथा हंस के द्वारा मुख में पकड़े गये सनाल कमल सदृश नृत्त विजातीय है, तीसरा प्रकार जाल के समान विचित्रता (या बुनावट) लिये हुये होने से सजातीय तथा फिर इसी स्थिति से बिखर जाना या हटना विजातीय होकर चतुर्थ प्रकार बनाता है।

२९०-२९१. इस पिण्डीबन्ध को आधार भेद से आसारित में निष्पन्न करते हैं। तदनुसार कनिष्ठ आसारित में पिण्डीबन्ध का, इसी में लय भेद से शृङ्खला का, मध्यम आसारित में लताबन्ध का तथा ज्येष्ठ आसारित में भेद्यक का प्रयोग किया जाता है।

२९२–२९३. यह एक तो वाद्ययन्त्र के प्रयोग के आधार पर और दूसरे भद्रासन अर्थात् पैरों से ताल देने की स्थिति के आधार पर निष्पन्न होता है। अतएव यह विधिवत् प्रशिक्षण तथा सुदीर्घ अभ्यास के बिना प्रस्तुत नहीं किया जाना चाहिये।

अतएव गीत, अङ्ग, वाद्य, नर्तकी एवं पिण्डीबन्ध आदि के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जायगा कि नाट्य, नृत्य एवं नृत्त प्रयोगाश्रित एवं आश्रित से हैं और व्यवस्थित शिक्षण एवं अभ्यास होने पर ही उत्तमता से प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

२९४–२९७. यहाँ प्रधानतया गीतकों का विधान एवं गीतकाश्रित छन्दकों की भी विधि निर्दशित की गयी है। गीतक में विद्यमान वस्तु तथा अङ्गों का जिसमें स्वेच्छापूर्वक एक या दो के नियम को न देखते हुये यदि प्रयोग किया जाए तो वे छन्दक कहलाते हैं। ये नृत्त तालात्मक स्वरूप वाले होते हैं। गीत के खण्ड को वस्तु एवं उसके स्वल्प अंशों को अङ्ग कहते हैं। वस्तु निबद्ध गीतक के तीन प्रकार माने जाते हैं—(१) मद्रक, (२) परान्तक तथा (३) प्रकरी। अङ्गकृत या अङ्गनिबद्ध गीतक हैं—उल्लोप्यक, रोविन्दक, ओवेणक तथा उत्तर।

अब हम इनकी प्रयोगगत अर्थात् नृत्त एवं वादयन्त्रों में योजना का विधान बतलाते हैं।

प्रथम वस्तु आदि से गीतक के प्रयोग में उपोहन करना 'क्षेप' कहलाता है तथा द्वितीय वस्तु से गीतक के प्रयोग में प्रत्युपोहन करना 'प्रतिक्षेप' होता है। प्रथम वस्तु में आक्षिप्तिका एवं उपोहन का प्रयोग करते हैं तदनन्तर नर्तकी का प्रवेश होता है और फिर द्वितीय वस्तु में प्रत्युपोहन विधि सम्पन्न की जाती है। नर्तकी के अवतरण के समय सभी वाद्ययन्त्रों से वादन रहना चाहिये।

२९७–२९८. यहाँ आसारित में होनेवाले नृत्त, अभिनय एवं वादन की पूर्वकथित विधि को सम्पन्न करते हैं। तदनुसार जैसे आसारित में नियमतः नर्तकियों की संख्या-वृद्धि का क्रम रहता है और इसमें एक नर्तकी का अभिनय प्रयोग रखते हैं। यहाँ नृत्त के साथ भाण्ड आदि वाद्ययन्त्रों का वादन एवं गीतक के प्रयोग में वस्तु की प्रथम-द्वितीय संख्या के अनुसार नर्तकियों की संख्यावृद्धि का क्रम रखा जाता है। वस्तु निबद्ध गीतों की यही विधि मानी गयी है।

२९८–३००. अङ्गों से निबद्ध होने वाले छन्दक गीतों में गीतक के अनुरूप प्रयोग-विधान इष्ट होता है तथा नृत्त, अभिनय एवं वाद्यवादन की यही शैली अभिमत है।

३००–३०१. गुरु शब्द से दो मात्रा के बराबर काल तथा लघु या अल्प शब्द से एक मात्रिक काल का ग्रहण होता है परन्तु अर्धमात्रा का काल भी अल्प शब्द से ले लिया जाता है। 'मुख' से यहाँ आशय है छन्दक के आरम्भ में किये जाने वाले उपोहन का वस्तु से सम्बद्ध गान। उपोहन में स्थायी स्वर के आधार पर आगे के स्वरों का स्थापन करते हैं। यहाँ मुख वस्तु से एवं पोहन को गान से सम्बद्ध माना जा सकता है।

३०१–३०२. जब मागधी, अर्धमागधी आदि गीतकों के प्रथम-द्वितीय पादभागों के अंशों को दोहराया जाए तो उसके आरम्भिक अंश को अभिनय से एवं अवशिष्ट अङ्ग को नृत्त से व्यक्त या प्रदर्शित किया जाता है। आवर्तन किये जाने वाले शेष अङ्ग शुद्ध नृत्त के साथ प्रयोग में आते हैं अतः केवल वस्तु या अङ्ग आदि की समाप्ति पर ही नृत्त नहीं होता किन्तु मध्यवर्ती अङ्गों के समय भी इसका प्रयोग किया जा सकता है।

३०२–३०३. गीतक के प्रयोग में जब उनके अंश दोहराए जाएँ तो उसके साथ त्रिपाणि और त्रिविध लय के साथ वाद्यवादन रहना इष्ट है। तीन प्रकार के पाणि ताल में प्रयुक्त होते हैं। इसके नाम हैं—सम, अर्धपाणि तथा उपरिपाणि। संगीत एवं नृत्त के साथ चलने वाला ताल समपाणि, बाद में रखा गया अर्धपाणि या अवपाणि और पूर्व में प्रयुक्त उपरिपाणि कहलाता है। इसका विस्तार से विवेचन तालाध्याय (ना० शा० अध्या० ३३) में किया गया है। इसी प्रकार छन्द, अक्षर तथा पदों की समता 'लय' कहलाती है जिसके कला एवं कालान्तरभेद से द्रुत, मध्य तथा विलम्बित भेद होते हैं। यही यति मार्ग आदि का भी बोधक होता है।

प्रथम आवर्त में काव्य या गीत के अर्थानुसारी अभिनय के अनुसार अङ्गों को द्रुत आदि लय का उचित अनुसरण करते हुये रखा जाए। यहाँ कुछ आचार्यों का मत है कि त्रिपाणि एवं लय समन्वित वाद्यवादन के अनुसार ही गीत की लय रखी जानी चाहिये।

३०४–३०७. ये साढ़े तीन पद्य प्रक्षिप्त है। सप्त गीतों में से यहाँ आसारित, गीतक तथा छन्दक का ही विचार करते हुये उनका विधान क्रम बतलाया गया है।

३०८. इस पद्य की दूसरे प्रकार से भी व्याख्या की जा सकती है। छन्दक आदि गीतों के साथ सम्पन्न होने वाले लयानुसारी जिस नृत्तप्रयोग का पूर्व में वर्णन हुआ है यह देवस्तुति का आश्रय लेकर प्रवृत्त होने वाला होता है। किन्तु जो अब बतलाया जा रहा है वह सुकुमार प्रयोग है। अर्थात् इसके पूर्व आसारित आदि के साथ किया जाने वाला नृत्त प्रयोग 'उद्धत' था। अब

'मसृण' या सुकुमार बतलाते हैं। यह प्रयोग शृंगाररस से उत्पन्न होता है तथा शृङ्गाररस से समन्वित भी। सुकुमार काव्य के आश्रय पर सुकुमार गीत एवं तदन्तर्गत नृत्त प्रयोग का भी विधान रहता है।

३१०. जब गीत क्रिया के विस्तार करने वाले स्थायी आदि वर्णों की—जो गीत के आलंकारिक अंश हैं—निवृत्ति अर्थात् समीपतर स्थिति हो तो ऐसी अवस्था में नृत्त का प्रयोग करना चाहिये। अङ्ग, वस्तु तथा वर्ण के परिवर्तन आदि के साथ वाद्यगत वैचित्र्य की उद्भावना करते हुये यहाँ नृत्तप्रयोग सम्पन्न करना इष्ट है। अंग वस्तु का आशय यह है कि जहाँ गीत के अङ्ग की अर्थात् पाद की निवृत्ति हो तो ऐसी दशा में नृत्तप्रयोग सम्पन्न किया जाए। अङ्ग-वस्तु के भिन्न क्रम के अवधारण में भी नृत्त प्रयोग करना चाहिये।

३११–३१२. नायक एवं नायिका की प्रणयाश्रित स्थितियों में जैसे आशा बँधाने वाले दूती के वचन, दम्पत्ति के कामजन्य पारस्परिक प्रणयारोप तथा प्रहर्ष के अनुरूप उल्लासपूर्ण अन्य आन्तरिक प्रवृत्तियों के अवसर पर 'नृत्त' का प्रयोग करना चाहिये। इसी प्रकार गीयमान काव्य में कान्ता का सामीप्य, वसन्त ऋतु तथा चन्द्रोदय आदि का अनुकूल समय हो तो ऐसे प्रसंग पर भी 'नृत्त' का प्रयोग किया जाए।

३१३. 'अङ्ग' शब्द का यहाँ आशय है गीत का आधरभूत पद्यखण्ड या नाटकीय कथा का एक अंश। इन अवस्थाओं में नृत्त प्रयोग नहीं रखा जाता है।

३१४. नायिका के समीप प्रिय के न रहने से उनकी दशा विरहोत्कण्ठिता या वासकसज्जा की सूचित की गयी है। सखीजन से वार्तालाप का आशय है नायिका का अपने वियुक्त या विदूर प्रियतम से मिलन हेतु अभिलाषा या संकल्प की भावना में सखी के साथ स्थित रहना। ऐसी परिस्थितियों में भी 'नृत्त' की योजना नहीं की जाती है।

३१६. प्रिय के असन्निहित रहने पर भी नायिका को हर्षोपलब्धि सम्भव है। जैसे मिलन की सम्भावना होना, प्रिय के प्रवास से लौटने के समाचार मिलना, या शुभशकुन दिखलाई देना। यहाँ भी 'अंग' शब्द से गीत का अंश तथा नाटकीय कथावस्तु का एक अंश प्रसंगानुसार समझना चाहिये।

३१७. यहाँ 'अङ्ग' का अर्थ है छन्दक गीत का अंशविशेष। इस अंश में जब देवस्तुति विषयक आख्यान रहता हो तो नृत्त प्रयोग किया जाना चाहिये। इसका कारण यह भी है कि यह महेश्वर प्रयुक्त (प्रोक्त भी) ताण्डव-नृत्त के

अन्तर्गत होता है, अतएव इसमें उद्‍धृत नृत्त को विद्युद्भ्रान्त, गरुडप्लुत जैसे करणों से सम्पन्न अङ्गहारों की प्रमुखता लिये हुये प्रस्तुत करना चाहिये।

३१८. इसी उद्धत के समानान्तर देवी पार्वती के द्वारा ललित अंगहारों से सम्पन्न नृत्त की सर्जना की गयी है। अतएव जिन अंशों में प्रणय या शृंगारमय कोमल प्रसंग उपस्थित होते हों वहाँ तलपुष्पपुट, लीन तथा नितम्ब जैसे करणों से सम्पन्न अंगहारों की प्रमुखता लिये हुये ललित नृत्त प्रस्तुत करना चाहिये।

३१९-३२०. चतुष्पदा ध्रुवा आदि शुष्क गीत कहलाते हैं। जिनके गीत रूप में प्रस्तुत करते समय होनेवाले वाद्यवादन का विधान बतलाया जा रहा है। चतुष्पाद ध्रुवा गान के अवसर पर पाद के अन्तिम अंशस्वर के आने पर ताल सूचनार्थ भाण्ड वाद्य पर पहली थाप लगा कर वादन आरम्भ करना चाहिये। यहाँ 'ग्रह' का अर्थ है भाण्डवाद्य पर ताल देना अर्थात् नियमानुसार थाप देकर वाद्यवादन आरम्भ करना।

३२१. समपादा ध्रुवा का अर्थ है चतुष्पदा-ध्रुवा जिसमें समसंख्याक अक्षरों वाले चार पाद का छन्द रहता है। उसके एक पाद के गान की समाप्ति के समय प्रदेशिनी उंगली से भाण्डवाद्य पर थाप मारते हुये वाद्यवादन प्रारम्भ करना चाहिये।

३२२. जिस ध्रुवा का गान हो रहा हो उसके एक पाद की वाद्यवादन के साथ फिर से आवृत्ति (परिवर्त) की जाती है। फिर जब यही गीत अभिनय प्रयोग के साथ दोहराया जाए तो दूसरी बार होने वाले गान में गीत के अन्तिम पाद के गान होने के समय ताल या थाप देकर नियमानुसार वाद्यवादन आरम्भ करना चाहिये।

३२३. एक वस्तु या समग्र ध्रुवा के स्थायी आदि विशेष अंगों के निवृत्त होने का यहाँ अर्थ है परावर्तन या उनकी आवृत्ति करना। 'निवृत्ति' का अर्थ समाप्ति है। 'वर्ण' से आशय है वर्णवृत्त। इनकी समाप्ति पर जब फिर से दोहराने के लिये इन्हीं का आरम्भ हो या उपोहन-क्रिया होती हो तभी भाण्ड वाद्य का वादन रखना चाहिये।

पंचम अध्याय

१. पूर्व अध्याय के साथ पञ्चम अध्याय की संगति को सम्पन्न करने हेतु पुराकल्प के द्वारा कथन प्रारम्भ करते हैं—'भरतस्य' इत्यादि। पूर्व में चतुर्थ अध्याय में 'नृत्त' का विवरण करणादि के साथ बतलाया जा चुका था जिसे 'महाफल' कहा गया जो कि नाट्यविषयक प्रश्न के अन्तर्गत उसी के क्रम या सन्तान के हेतु के रूप में कहा गया। इसका प्रयोजन है नृत्त और नाट्य का विभेद से ज्ञान करना क्योंकि नृत्त से अनुषक्त ही नाट्य हृदयावर्जक होता है अतः प्रश्नकर्त्ता शिष्यों ने भी यह सब जान कर प्रसन्न होते हुये ही प्रश्न किया।

२–४. कारिका में प्रयुक्त 'महातेजा' पद गुरु की आचार्य प्रशस्ति तथा अध्यापन में अपेक्षित गंभीर ज्ञान की क्षमता को संकेतित करते हुये है। यह आदरपूर्वक आमन्त्रण है जो गुरु को तत्वकथन के प्रोत्साहनार्थ भी है।

५. नाटकादि में पूर्वरंग आवश्यक है जिसका प्रयोग ठीक रूप में होने की शिक्षाहेतु यहाँ जिज्ञासा की गयी।

६–७. यहाँ 'गदत' इत्यादि पद से यहाँ प्रसंगवश शाब्दिक निरूपण तो कर रहा हूँ और आश्रावणा आदि का स्वरूपादि का निरूपण गेयाधिकार प्रकरण में (अध्याय २९ से ३३ तक) में पुनः विस्तार से होगा। यद्यपि अभी दूर है पर अर्थवश उसे यहाँ भी थोड़ा बतलाना अपेक्षित है। 'पादभागाः' इत्यादि से पूर्वरंग की व्याख्या करते हैं। यहाँ 'यवनिका' के अन्दर बहिर्गीत को ही पूर्वरंग समझना चाहिये जो गीतकोत्थापनादि ध्रुवारूप हो। विशिष्ट गीतों में स्थित जो जो चच्चत्पुट तथा चाचपुट ताल है तथा उनमें जो गीतकाल का सोलहवाँ हिस्सा है उससे मात्रा का निर्माण होता है तथा मात्रा से वस्तु का और वस्तु से गीयमान का। द्विकल एवं चतुष्कल तालों के संग से मात्रा का भाग बनता है। अक्षरों के अनुसार द्विकल एवं चतुष्कल सभी गीत वर्धमानक आदि गेय से संग्रहीत हो जाते हैं। कला शब्द से द्विकल आदि सप्तविध ताल कलाएँ कही जाती हैं। अतः गीत, ताल, वाद्य, नृत्त एवं नाट्य के समन्वित प्रयोग को पूर्वरंग समझना चाहिये।

९–१०. पूर्वरंग में आरम्भ आदि होते हैं जिन्हें पूर्वरंग के सम्बन्धी के रूप में समझना चाहिये।

११–१५. रंगपीठ तथा रंगशीर्ष के भाग के मध्य ही यवनिका संयुक्त करते हैं क्योंकि इसी के अन्दर नट तथा वादक गण प्रत्याहारादि अंगों का प्रयोग करेंगे। इसके अतिरिक्त यवनिका को हटा कर बाद में मद्रक या वर्धमानक में से कोई गीत का प्रयोग किया जाता है जिसे 'गीतानां मद्रकादीनाम्' से बतलाया है। अन्य आचार्य 'वर्धमानमथापीह' के 'अथापि' के स्थान पर 'अतोऽपि' पाठ मान कर कहते हैं कि मद्रक तथा वर्धमानक ये दोनों ही गीत यहाँ किये जा सकते हैं। किन्तु ऐसी बात 'एतान्यङ्गानि कार्याणि' जैसे अङ्ग पदार्थ के निरूपण के विपरीत हो जाता है क्योंकि निर्देश किसी एक अंग का ही होता है दो का नहीं। अन्य कुछ दोनों की एक ही अंग बतलाकर 'अथापि' के 'अपि' शब्द से किसी एक अङ्ग को भी लेने का आशय निकालते हैं।

१६. इस प्रकार पूर्वरंग के अङ्गों का चयन कर 'एतानि' इत्यादि से क्रम पूर्वक उद्देश कथन संकेतित है यह दिखलाते हैं। तथा 'एतेषाम्' इत्यादि से उद्देश के अनुसारी लक्षण का उपक्रम मुनि ने बतलाया है।

१७. उसी क्रम से 'कुतपस्य' इत्यादि से लक्षण कह रहे हैं। नेपथ्यगृह के द्वारों के मध्यवर्ती प्रदेश में पूर्वाभिमुख मृदंग वादक तथा उसी के बाजू में बाँयीं ओर पणव वादक को, रंगपीठ की दक्षिण दिशा में उत्तराभिमुख गायक को तथा इसी के सामने उत्तरदिशा में दक्षिणाभिमुखी गायिकाओं की गायक के बाँयी ओर वीणा वादक तथा उसी की बाजू में बाँसुरी वादक को बिठाया जाता है। यही एक स्थान में बिठलाया 'कुतपन्यास' है। इस प्रकार अवतरण पर्यन्त एक ही अंग माना गया है। अवतरण को कुछ आचार्य गायकादि निवेशन अर्थ न मानकर गायकादि के स्थान स्वरादि निवेशन को लेते हैं। यहाँ षड्जादि स्वरों का परिग्रह अवतरण है जहाँ जाति, साधारण स्वर, गान आदि सात अंगों वाले शुद्ध सप्तक से शुद्ध सप्तकगीति प्रयोज्य होती है।

१८. **परिगीत**—मनोरञ्जक गीत का बिम्ब शारीर स्वर है क्योंकि यही मूल होता है। उस स्वर के अनुसन्धानार्थ जो आलाप है वही 'आरम्भ कहलाता है। इसके पश्चात् मान रूप ताल को प्रमुखता वाले आतोद्य का अनुसन्धान करना जहाँ गायक गाता हो तो वह **'आश्रावणा'** होगी।

१९–२२. वक्त्रपाणि का अर्थ है वक्त्र अर्थात् आरंभ में हाथ की उँगलियों का व्यापार संचालन करना। इसमें दक्षिणादि वृत्तियों का विभागों का अनुसन्धान रहता है। वृत्तियों के विभागपूर्वक शुष्कप्रयोग के लिये वीणा के तारों

का परिचालन 'परिघट्टना' है। इस प्रकार ये सभी परिवर्तन पर्यन्त ये अंग हैं जिनका विवेचन अधो टिप्पणियों में है। (वहीं द्रष्टव्य भी)

२४. 'नान्दी' जो आवश्यक अंग है तथा जिसमें प्रार्थना भी होती है तथा अभ्यर्थना भी। जब-जब भी नाट्य प्रयोग होगा नान्दी अवश्य होगी क्योंकि यह नित्यविधि है। अन्य पाठ्य उत्थापन आदि को प्रयोग के अनुसार अन्यथा उपपन्न किया जा सकता है किन्तु नान्दी नहीं। नान्दी का भारती वृत्ति के अंगों के निरूपण (अध्याय—२२ में) के प्रसंग में प्ररोचना के रूप में भी होता है जो जयाभ्युदयिनी होती है।

२५. यहाँ शुष्कावकृष्टा का ही विधान कहा है तथा मुनि ने इसी का लक्षण भी दिया है। यह शुष्कावकृष्टा जर्जर या विघ्ननाशक देवता की यशोदर्शिका है इस कारण इसका प्रयोग करने के उपरान्त ही नाट्याभिनय प्रस्तुत होता है।

२६-२९. रंगद्वार, चारी, महाचारी, त्रिगत तथा प्ररोचना का क्रमिक विवरण यहाँ किया गया है। (द्र०—टिप्पणी भी।)

३१-४०. अब इसी तथ्य को पुराकल्प या इतिहास को **'चित्र'** इत्यादि दस श्लोकों में कहा जा रहा है।

४१-४२. इसका प्रयोग सप्तरूप में अर्थात् ध्रुवाओं में करना अभीष्ट है इसी तथ्य को—**'धातुभि'** इत्यादि से बतलाते हैं। चित्रा नामक वीणा जो अंगुलि से सारित होती है उसके साथ-साथ अवनद्ध या भाण्डवाद्य को अन्वित करते हुये प्रयुक्त किया जावे तथा बड़ी कुशलता या सावधानी के साथ ही यह किया जावें।

४३. इसकी जो पूर्वकाल में निर्गीत-संज्ञा रखी गयी या उसका कारण बतलाने के लिये कहते हैं—**'निर्गीत'** इत्यादि से। पद का अर्थ है अर्थ—के प्रत्यायक तथा झण्टु आदि वर्ण मात्र होते हैं। सार्थक एवं गीयमान पदों से भिन्न हों वे ही बहिर्गीत या निर्गीत हैं यही समझना चाहिये।

४४-५३. निर्गीत सप्तरूप ध्रुवा से युक्त होते हैं। बहिर्यवनिका के उत्थापनादि अंग होते हैं—उनके कारण को आगे—**'आश्रावणायाम्'** इत्यादि से अगली आठ कारिकाओं से दिखलाया है। इस प्रकार सभी को बतलाकर उपसंहार में कहते हैं—**'आश्रावणादि'** इत्यादि से।

५४. उसी की प्रशंसा में भी दिखलाते हैं—**'देवस्तुष्यति'**—इत्यादि से। इसमें हेतु है देवताओं की पूजा अतः यह प्रेक्षाकर्ता, सूत्रधार या प्रयोक्ता पात्रों का कर्तव्य है कि इसे सम्पादन करें।

५७-५९. यहाँ नाट्य के उपरञ्जक तत्वों में जो गीत को कहा गया उनमें ध्रुवागान महत्वशाली है, ज्येष्ठ है तथा इसके प्रकृति भूत गान्धर्व को जानना चाहिये परन्तु इसे विस्तार से आगे आस्तोद्य विधान तथा तालाध्याय में दिखलाया जा रहा है अतः यहाँ पूर्वरंग के प्रकृति प्रसंग में उत्थापनादि के लक्षण ही दिये जा रहे हैं विषय की दृष्टि से।

६०-६३. 'आदौ द्वे' इत्यादि से उत्थापना ध्रुवा के स्वरूप को कहते हैं। यह ध्रुवा विश्लोका जाति के अन्तर्गत होती है जिसका ना० शा ३२। १४६ पर लक्षण है। चतुरस्र ताल में उसकी योजना की जाए इसे—**'शम्या च'** इत्यादि से मुनि ने बतलाया।

६४-६६. यहाँ चार सन्निपात कहने से चारों पात्रों का परिवर्त दिखलाया है। तृतीय कहने का अर्थ है अन्त्य कला से रहित तीन पादों का तन्त्री गान से समन्वित प्रयोग कर उसमें अन्तिम तृतीय कला से आरम्भ कर चतुर्थ पाद की समाप्ति तक पुष्कर (मृदंग भेद) वाद्य के प्रयोग के साथ मध्यलय में गान चलता है। इसी समय सूत्रधार का प्रवेश होता है। यहाँ सूत्रधार पद के साहचर्य से दोनों पारिपार्श्वकों का भी ग्रहण समझना चाहिये अर्थात् वे सूत्रधार के साथ ही प्रवेश करें।

६७-६९. सूत्रधार एवं पारिपार्श्वकों की इतिकर्तव्यता को दिखलाते हैं—**'पुष्पांजलि'** इत्यादि से। इनमें सर्वप्रथम सूत्रधार पुष्पाञ्जलि अर्पण करेगा, शेष दो में से एक भृङ्गार पात्र को धारण करता है और दूसरा जर्जर को। शुद्धि के लिये जिसमें जल भरा हो ऐसा पात्र 'भृङ्गार' या झारी तथा विघ्नों की शान्ति के लिये वंशादि निर्मित जर्जर है। दोनों पार्श्वों में स्थित रहने के कारण ये पारिपार्श्विक हैं जिसके मध्य में सूत्रधार रहता है इस प्रकार ये तीनों ही पाँच पैर आगे बढ़ाते हैं।

७२. जिस कार्य के लिये पाँच पैर आगे बढ़ाते हैं उस पुष्पाञ्जलि की विधि कहते हैं—**'सूचीमित्यादि'** से।

७५. यहाँ यही बात है कि ३६ कलाओं के मध्यवर्ती समय में सूत्रधार के प्रवेश, पाँच पैर आगे चलना, पुष्पाञ्जलि अर्पण और अभिवादन का तीन बार होना—यह कार्य रहता है। इनमें पञ्चपदी जितनी कलाओं में हो जाए उससे बची हुई कलाओं में करण तथा नृत्तहस्तों का अवलंबन कर वह तीन अभिवादन करे।

७६. द्वितीय परिवर्त के तीन कर्म को दिखला कर द्रुतलय में सम्पन्न तृतीय परिवर्त के कर्म को दिखलाते हैं— **'ततः परम्'** इत्यादि से।

८०-८१. यहाँ 'आडूय' पद से भृङ्गार धारी पात्र के भ्रमण के समय मौनभाव की स्थिति होती है। शौच को दिखलाते है **'प्रयत्न'** इत्यादि से। यहाँ तृतीय कर्म है।

८२. इसी तीसरे कर्म को दिखलाते हुये बतलाया कि पैरों के चतुर्थ परिवर्त के अन्तिम सन्निपात के समय ही जर्जर को ग्रहण करते हैं।

८३. चतुर्थ परिवर्त में दो कर्म दिखलाये गये हैं जर्जर ग्रहण तथा आठ कला में जप्य कार्य सम्पन्न करना। यह विघ्नों के उच्छेद हेतु होता है। 'अत्र विघ्नविनाश' (३।७८) इत्यादि चार श्लोकों का उच्चारण किया जाता है।

८४-८६. पञ्चपदी में अपेक्षित काल जो जर्जर ग्रहण से लेकर होगा वह है चौबीस कला का समय जो कुतप गमन पर्यन्त क्रिया में रहेगा। 'षोडश' का अर्थ है दो कलाओं के हिसाब से एक पतन होना।

८७-८८. **त्र्यस्त्र**—इत्यादि। यह प्रसंग के कारण कहा गया है द्वादश पात इत्यादि बात। **उत्थापनं कार्यम्**—इत्यादि। यहाँ नाट्याभिनय के प्रयोग के उत्थापन का ध्रुवाभिनयरूपता से अधिक उचित अर्थ द्वारा आक्षेप है तथा **'यत्तु काव्येन'** इत्यादि से ध्रुवागान में परिवर्तों की अदृष्टफलार्थ इतिकर्तव्यता नहीं पर कवि के द्वारा चार अपेक्षा वाली ध्रुवा का उपयोग हो ऐसा वृद्ध आचार्यों का परामर्श या मत है।

१०४-१०५. यहाँ 'तत्र' पद का अर्थ है अपकृष्टा ध्रुवा गान के होने पर जिसमें मध्य स्वर की योजना रहती है जिसका मध्यमांश नान्दीपाठ में प्राप्त है। इसी का उपजीवन कर काश्यपाचार्य ने कहा कि 'पूर्वरङ्गे षाडव' (पूर्वरंग में षाडव स्वर को योजित किया जाता है)। यहाँ 'अपि' से चतुरस्र पूर्वरंग में चतुष्पदा अष्ट या षोडशपदा नान्दी को तथा त्र्यस्र पूर्वरंग में त्रिपदा और षट्पदा नान्दी को रखा जाए यह भी सूचित होता है। अब 'नमोस्तु' इत्यादि से 'देवता इति' तक नान्दी पाठ है उदाहरणार्थ।

११०-१११. यहाँ प्रयुक्त **'पद'** शब्द से प्रसंगवश 'वाक्य' का ग्रहण समझना चाहिये। 'एवं' अर्थात् चतुर्थकार के प्रवेश में यही विधि होगी। नान्दी के बाद 'शुष्कावकृष्टा ध्रूवा अंग की पूर्ति करने के लिये है—**'ततः'** इत्यादि से उसे भी यहाँ दिखलाया है। सूत्रधार द्वारा जर्जरस्तुति के पाठ में 'जयति' पद के अर्थ को दिखलाने के लिये 'नान्दी' को उसी से लगी हुई रखी गयी है।

११४-११६. यहाँ **'ततः श्लोकम्'** इत्यादि से रंगद्वार नामक अंग को दिखलाते हैं। इसमें देव स्तोत्र का पाठ कर फिर जिस देवता के उद्देश्य से या उन्हीं के उत्सववश नाट्य का प्रयोग हो तो उस देवता की भी स्तुति की जावे। अथवा जो नाट्याभिनय करवाता हो उस नाट्य के प्रस्तोता अर्थपति की अथवा स्तुति के प्रति इसके उदासीन दिखने पर ब्रह्मा की स्तुति की जावे। इस प्रकार जर्जर विषयक श्लोक को और रंगद्वार विषय श्लोक पाठ कर जर्जर झुकाया जाता है।

११७. तब पीछे की ओर लौटने वाले पैरों से पूर्वाभिमुख ही अपसर्पण करते हैं। यहाँ सूत्रधार से प्रयोज्य चारी और महाचारी सूचित की गयी है। रंगद्वार और चारी में अड्डिता ध्रुवा का प्रयोग किया जाता है। 'अड्डिता' को ही कुछ अवकृष्टा ही सन्दर्भवश लेते हैं। कुछ अन्य आचार्य बिना ध्रुवा के भी रंगद्वार को प्रस्तुत करने के मत में हैं।

१२५. अब महाचारी के प्रयोग को अवतारणा करते हैं—**'पारिपार्श्विक हस्ते'** इत्यादि से।

१२६-१२८. महाचारी में चतुरस्रा ध्रुवा को संगीतशास्त्रानुसारी द्रुतलय में रखते हैं। ध्रुवागान का सम्बन्ध छन्द से रखा गया है जैसा कि यहाँ त्रिष्टुप् छन्द रखा गया।

१२९. यह चतुरस्रा ध्रुवा के त्रिष्टुप् छन्द का उदाहरण है।

१३१-१३३. चतुरस्रा ध्रुवा के पश्चात् सूत्रधार वाद्ययन्त्रों की ओर संचरण करता है इसमें सूची चारी के बाद पादविक्षेप किया जाता है। यहाँ पञ्चपदी का जो पूर्व में उल्लेख किया था वहाँ पादविक्षेप एक ताल के अन्तर से विहित था पर यहाँ जब द्रुतलय से उत्क्षेप कहा गया है तो इसका आशय तीन ताल के अन्तर से पादविक्षेप करना होगा।

१३४. 'ततो रौद्र' इत्यादि से महाचारी की सूचना करते हुये कहते हैं। यहाँ 'रुद्रस्यायं रौद्रो रसः' ऐसी व्याख्या के अनुसार जहाँ रौद्र रस है वहाँ पादों के संहरण से ओज की प्रमुखता को संकेत किया गया है। यहाँ ध्रुवा के अन्य रूप का उल्लेख न करने से 'अड्डिता' ध्रुवा को ही समझना चाहिये जो पूर्व में कही गयी थी।

१३५. 'तयो' इत्यादि से आगे 'त्रिगत' को दिखलाते हैं। नर्कुटक से छन्दोगत आठ मूल जातियों को समझना चाहिये जिनमें रथोद्धता, बुदबुदक, वंशपत्र आदि हैं इनमें किसी एक ध्रुवा से उपलक्षित गान 'नर्कुटक' है। तीनों

पात्रों का वार्तालाप 'वाणीगत' रूप के कारण भारतीवृत्ति के अन्तर्गत होगा। (यह सूत्रधार तथा विदूषक और पारिपार्श्विक के बीच का वार्तालाप है जो 'त्रिगत' के अन्तर्गत है जिसका स्वरूप चल रहा है।)

१३९-१४०. नाटकीय कथा या इतिवृत्त की ओर सामाजिकों का ध्यान आकृष्ट करना या उसकी ओर ध्यान देने के 'आमन्त्रण' को 'प्ररोचना' माना जाता है। प्ररोचना के पश्चात् सूची चारी के प्रयोग के बाद आविद्धचारी के प्रयोग के साथ ही तीनों एक साथ रंगमञ्च से प्रस्थान करते हैं।

१४१. द्वितीय अध्याय में वर्णित त्रिविध नाट्यमण्डपों में चतुरस्र मण्डप पर किया जाने वाला पूर्वरंग प्रयोग अभी तक बतलाया गया। अब आगे 'त्र्यस्र' पर होने वाले 'पूर्वरंग' को बतलाते हैं।

१४७. यहाँ पूर्वरंग के दो प्रकारों का पुनः संकेत कर दिखलाया है कि इनमें चतुरस्र विस्तीर्यता तथा त्र्यस्र संक्षिप्तता वाला होता है। प्रयोग में इसके प्रमाण को ध्यान में रखने के लिये यह बात दोहरायी गयी।

१५३. पूर्वरंग के शुद्ध प्रभेद को दिखला कर अब 'चित्र' का निरूपण **'एवं तावद्'** इत्यादि से किया। इनमें निर्दिष्ट प्रयोग विधान में कुछ मिश्रित कर 'चित्रत्व' की अवतारणा रखी गयी है।

१५५. चतुर्थकार के पश्चात् यहाँ गान्धर्वों (कुशल संगीत विदों) के द्वारा उदात्तगान में अवकृष्टा शुष्कावकृष्टा ध्रुवागीत का गान करना अभीष्ट है। यह प्रयोगपद्धतिगत नवीनता 'चित्रत्व' में लानी पड़ती है।

१५६-१५९. यहाँ 'शुद्धा' के स्थान पर 'सिद्धः' पाठ भी है जिसका अर्थ होगा सिद्धगण पुष्पमाला विकीर्ण करें। यहाँ देवांगनाओं के द्वारा नृत्य प्रयोग को दिखलाया है जो चारी तथा महाचारी के स्थान पर प्रतीत होता है। इस प्रकार किञ्चित् भिन्नता के लिये नाट्याचार्य कुशलता से नान्दी के एक एक चरणों के मध्य ताण्डव का प्रयोग करें। यहाँ नान्दी के बीच 'ताण्डव' का नियोजन अभीष्ट है। यह भरत ने नाट्याचार्यों को स्वतन्त्रता दी है कि वे शुद्ध या चित्र में से किसी को भी प्रस्तुत करें परन्तु पूर्वरंग को आवश्यक रूप में प्रस्तुत करने के बाद ही नाट्यप्रयोग आरम्भ होना चाहिए।

१६०-१६५. पूर्व में नान्दी के अन्तर्गत 'ताण्डव' की योजना कही गयी थी उन नर्तकियों के प्रयोगप्रदर्शन के बाद रंगमञ्च से चले जाने के बाद अगले पूर्वरंग के अंगों की यहाँ योजनाविधि या निर्देश है। इनमें नृत्त और गीत का प्रयोग अतिशय न होकर सन्तुलित रहना चाहिये तथा यह दोनों

प्रकार के पूर्वरंग में लागू होगा। इसलिये यदि इन अंगों का अतिशय प्रयोग या प्रसंग रखा जाएगा तो यह प्रयोक्ता तथा प्रेक्षक दोनों को ही प्रभावित करेगा। इस प्रसंग में अभिनवभारती में पूर्ववर्णित अंगों को अवधानहेतु एक बार एकत्र कर दिखलाया। यथा—उत्थापन, परिवर्तन, अवकृष्टाध्रुवा, गीत, नान्दीपाठ, शुष्कावकृष्ट, जर्जरश्लोकध्रुवा, रङ्गद्वार, अड्डिता, आर्यापाठ, ध्रुवा, रौद्रश्लोकपाठ, नर्कुटक, त्रिगत तथा प्ररोचना। त्र्यस्र में भी ये ही सोलह अंग होंगे तथा नान्दी पाठों के मध्य में 'नृत्त'। इस प्रकार इसके अधिक प्रयोग से रस तथा भाव के अभिनय में स्पष्टता की स्थिति नहीं आती है और आरम्भ में ही प्रेक्षकों को पूर्वरंग में ही खिन्नता हो तो आगे किये जाने वाले नाट्यप्रयोग पर अच्छा प्रभाव नहीं होगा या प्रयोग रंजक नहीं रहेगा। अतः लोक एवं शास्त्रानुसारी लक्षणों के आधार पर परम्परानुगामी पाट्यप्रयोग उचित होता है। इस प्रकार त्र्यस्र या चतुरस्र मण्डप पर किये गये शुद्ध या चित्र में से किसी भी रूप को प्रस्तुत कर सूत्रधार अपने सभी दल के साथ रंग से निष्क्रमण करता है।

१६५–१६९. 'देवपार्थिव' इत्यादि से लेकर 'प्रस्तावनां ततः' तक का अंश अतिरिक्त होने से अभिनवगुप्त ने इसकी व्याख्या नहीं की। 'स्थापक' पद की व्याख्या है स्थापयति समस्तं रूपकवृत्तमिति **'स्थापकः'** अर्थात् रूपक के इतिवृत्त का जो समापन करता है। सूत्रधार के सौमनस्य, विस्मय, अद्भुतदृष्टि, अदीर्घसूत्रता या क्षिप्रकारिता एवं रक्षा इत्यादि सूत्रधार गुण स्थापक में ही होते हैं।

१७०–१७१. 'अर्थानुगा' अर्थात् अर्थ की अनुसारी प्रावेशिकी नामक ध्रुवा को तथा उत्थापनी ध्रुवा के प्रकार को जो अर्थानुकूल हो—प्रयोग किया जाए। यह प्रावेशिकी मध्यलय से मुक्त होती है। इसके बाद 'चारी' को किया जाए।

१७२–१७६. सुवाक्य इत्यादि। वह फिर से प्ररोचना के द्वारा जय एवं आशीः के क्रम से सामाजिकों को प्रशन्न करने वाले श्लोक को देवता तथा द्विजों के उद्देश्य से पाठ करे तथा इसके पश्चात् कवि के नाम की उद्घोषणा करे। इसमें वह कवि के गुणों का भी ऐसा वर्णन कर सकता है जिससे कवि की प्रसिद्धि और आदरणीयता स्थापित हो। इसके बाद वह रूपक विशेष का प्रख्यापन करे जिसमें प्रस्तुत रूपक के अर्थ की उपक्षेप करने वाली 'प्रस्तावना' की जाए। इससे आरम्भ से ही दर्शकों को संक्षेप में संस्कार होकर वे नाटकीय वृत्त की जानकारी पा जाएँ। प्रस्तावक के द्वारा उस बात की सूचना

भी मिल जाए कि प्रस्तोतव्य रूपक दिव्य या मानवीय चरित्रों वाला है। यहाँ ऐसी स्थितियों के लिये भिन्न भिन्न आश्रय या रूप भी वह ग्रहण करे इस प्रकार यहाँ प्रस्तावक को रूपकीय इतिवृत्त के अनुरूप ही अपने को प्रस्तुत करना चाहिये जिससे सामाजिकों को कथावस्तु के ग्रहण में अनकूलता हो।

१७७-१७९. अब पूर्वरंग का फलकथन करते हैं—**'य इमम्'** इत्यादि से। यथाविधि प्रयोग करने से 'अभ्युदय' होता है। यहाँ शुभ का अर्थ है दृष्ट अभ्युदय की प्राप्ति। यहाँ प्रयुक्त अपचय पद दृष्ट प्रत्यक्ष प्रत्यवाय बोधक तथा तिर्यक् योनि पद अदृष्ट परोक्ष प्रत्यवाय बोधक समझना चाहिये।

१८०-१८१. जिस प्रकार की भी प्रवृत्तिविशेष में नियत रूपक नायक होता है वैसी ही प्रवृत्ति के उपयुक्त वेषभूषा, भाषा, आचार तथा अभिनय का अनुगमन करने वाले सूत्रधारादि स्थापक पर्यन्त पात्रों को त्र्यस्र या च -रस्र भेद के पूर्वरंग को प्रस्तुत करना चाहिये।

षष्ठ अध्याय

१. पूर्वरङ्ग के विधान के पश्चात् नाट्यप्रयोग के प्रमुखतः लक्ष्य तत्वों के सिंहावलोकनन्याय से पुनः प्रश्न स्थापन करने से अध्याय संगति होगी। यहाँ मुनियों ने प्रथम अध्याय में उत्थापित प्रश्नों के बाद पुनः पाँच प्रश्न पूछे हैं जिनका समाधान अगले अध्यायों में किया गया। आचार्य अभिनवगुप्तपाद इन्हें पूर्व में पूछे गये प्रश्नों का ही विस्तार भी माना है।

२. पाठ्यम् (१।१७) इत्यादि में नाट्य के अंगों तथा अभिनय के अन्तवर्ती रस की प्रधानता के कारण यहाँ रस के विषय में पुनः प्रश्न पूछा जा रहा है क्योंकि तभी 'एतदाख्यातुमर्हसि' कथन संगत होगा तथा इसी से यह भी प्रतीत होता है कि इससे पूर्व जब रस के विषय में कुछ भी नहीं बतलाया गया था अतः अब इसे पूरी तरह से बतलाने की कृपा करें।

४. मुनिजन के प्रश्नों के उत्तर में भरतमुनि ने पुनः रस तथा भावों का विकल्प अर्थात् विशेष रूप से निश्चयात्मक विवरण को बतलाने वाले (रसभावविकल्पन) वाक्य कहे।

५. 'यथाक्रमम्' का अर्थ है संग्रह, कारिका आदि के क्रम से सब का प्रतिपादन करते हुये।

६. यहाँ शक्य पद सामान्याभिप्राय से माध्यस्थ दिखलाने के लिये प्रयुक्त हुआ है। इस विषय को प्रतिपद रूप में निरूपित करना संभव नहीं है केवल लक्षण ही सरलता से कर देता है। अतः रसभावादि के प्रतिपद निरूपण के स्थान पर लक्षण तथा उसके अंग उद्देश एवं परीक्षा को किया जा रहा है। इसका कारण है 'बहुत्वात्' अनन्त होने से।

७. अर्थ अर्थात् प्रतिपाद्य विषय के 'तत्त्वतः' अर्थात् विकार के कारण अङ्ग अर्थात् जो नाट्य के मुख्य अङ्ग के भी अङ्गभूत विषय हैं उन सभी अवान्तर अङ्गों का।

१०. 'रसा भावा' इत्यादि से संग्रह दिखलाते हैं। यहाँ अभिनय पद से आंगिक आदि तीनों अभिनय का ग्रहण समझना चाहिये [आहार्य को छोड़ कर] जो गीत तथा वाद्य से मिलकर पञ्चांग हो जाते हैं।

१५. **'संग्रह'** इत्यादि। उद्देश का ही विस्तार होना 'विभाग' है यह शास्त्रप्रवृत्ति का अलग अङ्ग न होकर उद्देश के ही अन्तर्गत होता है तथा

भरतमुनि तथा इनके व्याख्याकार अभिनवगुप्तपाद दोनों ही इस तथ्य से सहमत हैं। दर्शनशास्त्र की अनेक शाखाओं में इसी मान्यता को एक परम्परा के साथ लिया जाता है।

१७. यह पद्य कुछ प्रतियों में नहीं रखा गया है। आठ रसों की मान्यता ब्रह्मा से सम्बन्ध रखती है जिनसे भरत को नाट्य का आगम हुआ। इसी कारण इस पर अभिनवभारती भी नहीं मिलती है।

१९–२२. अब **'निर्वेद-ग्लानि'** इत्यादि से संचारी भावों को बतलाते हैं। यहाँ ये ही व्यभिचारी भाव हैं इस तथ्य को तैंतीस की संख्या के नियमार्थ भी दिया गया है।

२३. सात्विक भाव व्यभिचारीभावत्व तथा अभिनयोपयोगित्व दोनों धर्मों से युक्त होते हैं। इसी कारण इन्हें सञ्चारी भावों के पश्चात् दिखलाते हैं—**'स्तम्भ'**इत्यादि से। ये अभिनय के धर्म तो हैं किन्तु अभिनय से भिन्नता भी रखते हैं।

२४. अब तृतीय संग्रहभूत नाट्यांग के रूप में अभिनय को उसके चार प्रकारों के साथ दिखलाते हैं—**'आङ्गिक'** इत्यादि से। यहाँ कारिका में 'चत्वारः' पद से आहार्य अभिनय की साक्षात्कार बुद्धि के उपयोग में अन्तरगता को (उपयोगिता को) सूचित किया गया है। इसी कारण रस तथा भाव के बाद अभिनय का क्रमिक रूप में विवरण दिया गया।

२५. लौकिक धर्म एवं तन्मूलक उपयोगी सामाजिक धर्म का अभिनय अनुगमन करते हैं इसी कारण इनके बाद ही **'धर्मी'** का कथन करते हैं—**'लोकधर्मी'** इत्यादि से।

२५–२६. रूपकों की उपकारक होने से तथा अभिनय के बिना अभिनेतव्य के सम्भव न होने के कारण वृत्तियों का भी यहाँ लोकधर्मी आदि के बाद विवरण है। यहाँ चार संख्या इनके आधिक्य के निराकरणार्थ दी गयी है।

२६–२७. ये वृत्तियाँ देशों के आधार पर रहने के कारण वृत्ति के बाद प्रवृत्तियाँ दिखलाई गईं।

२७. अभिनय की परिणति सिद्धि में होने से दोनों सिद्धियों को बतलाया गया 'दैविकी' इत्यादि से।

२८. यहाँ पाठ्य एवं गान में ही स्वरों का अन्तर्भाव रहने पर भी उनके महत्व को देखते हुये पृथक् उल्लेख किया गया। इनमें केवल स्वरों से भी नाट्य का उपरञ्जन या शोभा होती है जो अन्तरालाप है उसी के ग्रहणार्थ स्वरों का पृथक् ग्रहण यहाँ है।

२८-२९. लक्षणों से समन्वित वाद्यों के चार ही वर्णभेद होते हैं इससे अधिक नहीं ।

३०-३१. गीत के आधारभूत निश्चित पद समूह को 'ध्रुवा' कहते हैं उसमें योग अर्थात् सम्बन्ध से युक्त होने के कारण एवं उसकी प्रधानता से युक्त गान का साधारणगान से पार्थक्य स्वतः हो जाता है ।

३१. 'मण्डप' भी त्रिविध है जिसे द्वितीय अध्याय में विस्तार से दिखलाया जा चुका है तथा जिसका पात्रों के गमनागमन तथा वादकों के उपवेशन आदि के लिये आधारभूत उपयोगिता होती है ।

३२. इस प्रकार उद्देशकथन के बाद अब रसादि की क्रमशः लक्षण मीमांसा आरम्भ करते हैं—**'एवमेष'** इत्यादि से । इसमें सूत्ररूप में रस का स्वरूप दिखलाते हैं—**'तत्रेति'** इत्यादि से ।

रसनिष्पत्ति सूत्र कहते हैं—**तत्रेति** से । इसकी अभिनवभारती के साथ सार्थक व्याख्या दी जा चुकी है (अतः टिप्पणियाँ छोटी हैं) ।

४४-४६. यहाँ वर्ण और अधिकारी देवता आगमानुसारी हैं, इनकी उत्पत्ति का विवरण भी युक्तिसंगत है जैसा कि पादटिप्पणियों से स्पष्ट है ।

५८. यहाँ 'जिह्म दृष्टि निरीक्षण' इत्यादि (का ५८) पद की व्याख्या है वक्र कही जाने वाली भाव भरी दृष्टि से जिसमें निरीक्षण किया जाता है ऐसे [जिह्मदृष्टि का लक्षण ना० शा० ८।३१ पर दिया गया है ।]

७४-७५. वीभत्सरस में गन्ध, रस, स्पर्श एवं शब्दगत विकारों से जो घृणा का भाव या उससे हटने की क्रियाएँ हैं उनके द्वारा ।

७८-८३. रसों के वचन, वेष एवं क्रियागत विकार से सांख्यदर्शन के आधार पर त्रिगुणगत विभेदों को ध्यान में रख कर प्रत्येक रस की त्रिविधता बन जाती है । इस प्रकार कारणीभूत विभावों के तीन विकारों से कार्य में भी त्रिविधता आती है इसी तथ्य को मुनि ने यहाँ दिखलाया है । केवल अद्भुत रस के दो ही प्रभेद होते हैं ।

८४-८८. यहाँ मूल की कारिकासंख्या शान्तरस के विवरण में केवल उद्धरणों की सुविधा से लगाई है क्योंकि शान्तरस की कारिकाएँ नाट्यशास्त्र की मूलप्रतियों में कहीं नहीं भी है तथा जहाँ हैं भी वहाँ भी इन्हें मूलानुगत संख्या से पृथक् रखा गया है । अतएव इन्हें यहाँ औचित्यवश ही हमने संख्या लगा कर ही सम्पादित किया है ।

सप्तम अध्याय

(भावाध्याय)

१. जब षष्ठ अध्याय के अन्त में भावों के लक्षण निरूपण की सूचना दी जा चुकी थी तो फिर यहाँ उनका यह कथन उनमें प्रधानतः स्थायी एवं सञ्चारीभावगत भेदों के साथ लक्षण दिखलाने के लिये हुआ है जिसकी यहाँ प्रतिज्ञा भी की गयी है। इसके अतिरिक्त रसाध्याय में नाट्य के अङ्गों के बीच में उद्देश्य-संकीर्तन के रूप में भावों का उल्लेख था और वहाँ रस-निरूपण के प्रसंग में ही भावों की चर्चा रखी गयी थी परन्तु यहाँ प्रधानतः स्थायी, संचारी आदि भावों के ही लक्षण बतलाना अभीष्ट है तथा यही अध्याय-संगति भी है। इसी कारण मुनि ने विषय का आरम्भ करते हुये कहा है—**'विभावै'** इत्यादि से।

३–४. प्रथम कारिका में यद्यपि प्रकरण से चित्तवृत्ति के उद्भव का हेतु जो विषय है उसे 'विभाव' कहा गया तथापि विभाव के विषय में पुनः स्पष्टीकरणार्थ प्रश्न करते हैं—**'विभाव'** इत्यादि गद्यभाग से। इसी का उत्तर भी मुनि ने 'विभाव्यन्ते' इत्यादि गद्यभाग से दिया है। जिन स्थायी एवं व्यभिचारियों से सम्बद्ध वागादि अभिनय है उन स्थायी एवं व्यभिचारियों को वागादि अभिनयों के साथ जिनसे विभावित या विशिष्ट रूप में जाने जानेवाले जो हैं उन्हें 'विभाव' समझना चाहिये। क्योंकि अभिनय में अनेक कारणीभूत रहते हैं जैसे हर्ष से हास की उत्पत्ति, घाम, धुआ, रोग आदि के कारण आँखों से अश्रु प्रवाह का बहना यहाँ केवल वाष्पपद के प्रयोग मात्र से कुछ नहीं प्रतीत होता है तो वह 'विभाव' शब्द से शीघ्र निश्चित होकर प्रतीत हो सकता है।

५. वागङ्गाभिनयेन—इसमें जो 'ग' पाठ है उसकी पारम्परिक व्याख्या के आधार पर योजना होगी—वाणी अङ्ग तथा सत्व के अभिनयों से अर्थात् त्रिविध अभिनय प्रभेदों के कारण जिस अर्थ की अनुभावना या प्रतीति करवायी जाती है ऐसा वाणी, अङ्ग तथा उपाङ्गों के द्वारा प्रस्तुत वह वाचिकादि अभिनय का रूप 'अनुभाव' होता है। 'वागङ्गोपाङ्गसंयुक्तः' 'ग' सम्मत पाठ लिया गया है जो यहाँ संगत है।

८. विभावादि से उपचित **'स्थायी'** ही रसत्व प्राप्त करता है परन्तु जब वह संयुक्त या व्यवस्थित रूप में योगप्राप्त नहीं करे तो स्वतन्त्र या पृथक्

भाव की दशा में 'स्थायी' है। वह उसकी संयोग के पूर्व की स्थिति या लिङ्ग भी हो सकता है। अतः अनुपचित स्थायी ही स्थायी है इसलिये प्रत्येक स्थायी का पृथक् पृथक् विवरण भी अपेक्षित होगा जिसे क्रमशः अब मुनि देते हैं। (स्थायी का विवरण मूल तथा वहीं टिप्पणी में द्रष्टव्य)

२८–३०. संचारीभावों का विवरण आरम्भ करते हुए मुनि क्रमशः उनके लक्षण के प्रसङ्ग में सर्वप्रथम 'निर्वेद' का स्वरूप देते हैं—**'तत्र निर्वेद'** इत्यादि से। अतः जो दारिद्र्य, व्याधि आदि कारणों से उत्पन्न होने वाला और रुदित निश्वसित आदि दशा का कारण होने वाला ऐसा मनोविकार जो दुःखरूपी विशेषभाव है वह 'निर्वेद' है। चिरकाल तक विद्यमान भ्रान्ति के हान तथा उपादान की गणना के बाद जो तत्वज्ञान होकर भ्रमनिवारण हो जाता है तो व्यक्ति स्वयं को जो 'धिक् मैं व्यर्थ ही भ्रमित रहा' जैसा बोध 'निर्वेद' को उत्पन्न करता है। जैसे—वृथा दुग्धोऽनड्वान्' इत्यादि पद्य (ना० शा० भाग १, पृ० ३५३ टिप्पणी पर) है।

'सम्प्रधारणादि' पद से यह भी समझना चाहिये कि यद्यपि सम्प्रधारण वितर्क या अन्य भाव के रूप में होता है फिर भी वह अनुभावों के रूप में ही है संचारी के रूप में नहीं। 'निर्वेदवान् पुरुषः' में मतुप् प्रत्यय से यह भी दिखलाया गया है कि ये निर्वेद आदि घटादि की तरह 'इदं' रूप में अवभासित नहीं होते किन्तु 'अहं निर्विण्णः' इत्यादि के रूप में आश्रय पारतन्त्र्येण ही अवभासित होते हैं। इसलिये 'निर्वेद' यह आन्तर विकार है। यह 'निर्वेद' स्वयं पुरुषार्थ सिद्धि के लिये उत्साह रति आदि के समान अत्यन्त अनुरञ्जन के लिये अथवा हास, विस्मय आदि के समान अन्य मुखप्रेक्षित रहने के कारण संचारी है।

३१–३२. 'ग्लानि' के विवरण में प्रयुक्त वान्त तथा विरिक्त पद में भाव में क्तप्रत्यय हुआ है। 'क्षामवाक्य' में वाक्य की क्षीणता स्वर के नीचे रहने से होगी। मन्द भाव से पैरों को उठाने तथा उसी के साथ साथ विपरीत दशा में इन्हें नीचे रखने के कार्य से। वान्त इत्यादि में निमित्त सप्तमी है। यहाँ कारिकारूप मुहुर्मुहुः पद से मुनि ने यह भी दिखलाया कि सजातीय तथा विजातीय चित्तवृत्ति के प्रवाहमात्र संचारियों के रहने पर कभी कभी किसी एक की चिर स्थिति नहीं होती या कभी थोड़ी हो भी सकती है।

३३–३५. 'शङ्का' के विवरण में 'चौर्यग्रहण' पद अनुचित कार्यों का उपलक्षण है। अतः इसी के समान जो अनुचित कार्य है उनके मध्य में किसी एक के करने या वैसे कार्य के करने वाले को न जाने की आशङ्का रहने से 'शङ्का'

हो जाती है। इसी को आगे नृपापराधादि प्रदर्शन से विस्तारपूर्वक कहा भी गया है। **'स्त्रीनीचानाम्'** इति। यहाँ यद्यपि उत्तम स्वभाव तथा प्रकृति वाली स्त्री से किसी अकार्य की स्थिति नहीं होती और अधम प्रकृति की स्त्री का 'नीच' पद से संग्रह हो भी जाता है परन्तु फिर भी यहाँ जो 'स्त्रीपद' दिया गया है उससे यह समझना चाहिये कि जो अपाप भी है किन्तु जो किसी अपराध में लगा दी जाए तो ऐसी स्त्रियों के चित्त में 'शङ्का' होती ही है क्योंकि स्त्री का स्वभाव भीरु या डरपोक रहता है। अतः जो अन्यगतत्वेन 'शङ्का' है जैसी वेणीसंहार नाटक में दुर्योधन की भानुमती के प्रति थी तो यह भी इससे गृहीत हो जाती है। यहाँ केवल प्रतिनायकभूत दुर्योधन का ऐसा कार्य 'अनौचित्य' होकर आया है जो वर्णनानौचित्य जैसा कार्य बन गया है। **आकारसंवरणमपीति**—यहाँ प्रयुक्त 'अपि' शब्द से जो 'अवहित्थ' में बाहुल्येन दिखलाई देते हों वे कार्य यहाँ भी रखे जा सकते हैं। केचित् पद से यह भी दिखलाया गया है कि वस्तुतः यह शङ्का का अनुभाव नहीं अवहित्थ भाव का भी है। आकारसंवरण शङ्का को किस प्रकार उत्पन्न कर सकता है ऐसी आशङ्का के उत्तर में 'तच्च' इत्यादि से कहा गया। उपाधि का अर्थ होगा आकार संवरण का उपाय जैसे अपने कथन को बन्द कर देना तथा अतिरिक्त बातचीत करने लगना आदि। इंगित अर्थात् अङ्गों के और उपाङ्गों के ऐसे स्पन्दनमय कार्य जो दबाये न जा सकते हों।

द्विविधेति—यहाँ आत्मपद से स्वात्मगतता अपराध तथा पर शब्द से परगत अपराध समझना चाहिये। इनमें परगत अपराध के सम्भाव्यमान न रहने पर जो 'शङ्का' है वह 'परोत्थ है।

इतना रहने पर भी परत्र चौर्यादि की आशङ्का क्यों होगी ऐसी आशङ्का को दिखलाने के लिये **'दृष्टिचेष्टाभिः'** से कहते हैं। वह जब दूसरे के अपराध किये जाने पर देखना या चेष्टा करता है (और अपने अप्रगल्भ या भीरु स्वभाव के कारण जब स्वयं भी अपराध युक्त हो जाए) तो (भी) वहाँ चौर्यादि अपराध विषयक शङ्का हो जाती है। •पार्श्वादि को शङ्का की दशा में देखना जिसे बगले झांकना कहा जाता है वह कौए की तरह आशङ्कित होकर करना चाहिये।

३६-३७ गुणनाशन—येन वचनेन गुणो नाश्येत अर्थात् जिस कथन से गुण को समाप्त करते हुये विद्वेष आदि से कहते हुये रहा जाता हो। जैसे किसी सात्विक ब्राह्मण को तप से निरत देखकर ढोंगी बतलाना आदि।

३८-४६. 'करणं' पद का यहाँ अर्थ होगा चेष्टा अतः जहाँ पञ्चविध चेष्टाएँ हैं वही 'मद' का अभिनय भी समझना चाहिये। यही सूत्र में भाव शब्द

से दिखलाया गया है। ये पाँच चेष्टाएँ **'कश्चिन्मत्त'** इत्यादि कारिका से कहते हैं। प्रकृति के भेद से उत्तमपात्र को तरुण मद तथा मध्यमपात्र को मध्यम मद ही हो ऐसा नियम नहीं है अतः सभी को तरुणमद, मध्यम तथा नीच पात्र को मध्यममद तथा नीचपात्र को उत्कृष्ट या गहरा मद भी हो जाता है। यहाँ यही बात कवि तथा नट के उपदेशार्थ **'रङ्गे पिबतः'** इत्यदि से बतलाया है। प्रसङ्गवश इसी प्रकार के अन्य रूप को भी **'अभ्युदयसुखैः'** इत्यादि से दिखलाते हैं। अभ्युदय के वाच्य या शब्द द्वारा बतलाने वाले वाक्य के द्वारा अर्थात् प्रीति या सुखप्रद कथन से।

५०-५१. यहाँ कारिका में प्रयुक्त ऐश्वर्यभ्रंश पद से तात्कालिक दशा और 'दारिद्रय' से कुलक्रमागत की स्थिति समझना चाहिये यही इनमें विशेष या भेदक है। इस विवरण से संकेत मिलता है कि चिन्ता के पूर्व तथा उत्तर कक्ष में अर्थात् पहिले और अन्त में वितर्क होता ही है।

५२-५३. मोह में होने वाले 'दैवोपघात' पद का अर्थ है अग्नि तथा जल का उपद्रव होना। 'तत्प्रतीकारशून्यस्य' पद से मोह की पूर्वावस्था किंकर्तव्यता मूढ़ता को मोह शब्द से दिखलाया गया है। इसकी स्थिति 'सर्वेन्द्रियसम्मोह' इत्यादि से इस प्रकार दिखलायी गयी है जिससे आन्तरिक संवेदना की मोह में समाप्ति नहीं होती है तथा इसी से मोह चित्तवृत्ति रूप भाव होता है यह भी संकेतित हो जाता है।

५४-५५. 'सुखदुःखकृतानां' पद की सुखदुःखयोः कृतं निष्पत्तिर्यतः तेषाम् व्याख्या है। इस प्रकार स्मृति सभी विषयों में व्यापक रहती है यह स्पष्ट हो जाता है। यहाँ 'जघन्य' पद का अर्थ है रात्रि का पश्चिम या चरमभाग।

५६-५७. कारिकास्थ 'विज्ञान' पद का अर्थ है विवेक ज्ञान, शौच या तप सेवादि का आचरण रूप अधिक अर्थ अर्थात् जो इष्ट मनोरथ से अधिक हो ऐसे अर्थ का लाभ हो जाना। यहाँ कुछ की तो विषयता है जिससे ईप्सित लाभ होकर 'धृति' होती है और किन्हीं की करणता है जैसे क्रीड़ा के विनोद से दुखित होकर 'धृति' पाता है। किसी की उभयरूपता (विषयता और करणता दोनों) होती है जैसे प्राप्त विषयादि का उपभोग पाकर अप्राप्त के विषय में अनुशोचन ही तो ऐसे विभावों से 'धृति' होगी। उपहृत पद का अर्थ है जीर्णादि रूप को प्राप्त तथा विनष्ट अर्थात् ध्वस्त होना।

५८-५९. अकार्य-करण शब्द से उसका ज्ञान कहा गया है। 'जो किया न जाना था ऐसा मैंने कर डाला' इस प्रकार की विशेष समझ का आना। इसी

कारण स्त्री तथा बालक आदि के सम्मुख किसी अपूर्व पुरुष के आने पर लज्जा देखी जाती है, बिना किसी अकार्य के किये जाने पर भी। 'मैंने पूर्व तथा पर का विचार नहीं रखा इसी बात को लोग समझ रहे हैं' ऐसी बात होने पर भूमि लेखन आदि होते हैं। 'शुचिभि:' का अर्थ है उचित कार्य करने वालों के द्वारा। क्योंकि अकार्य करने वालों के बीच किसी को भी अपने अकार्य की बुद्धि नहीं आती है। परन्तु जब इसका बाद में मन में 'विवेक' जागृत होता है तो पश्चात्ताप का भाव उदित होता है और वह फिर पिछले दोष के न हटने के कारण सन्तप्त करता ही है।

६०. कारिकास्थ 'वधताडनम्' से पाप रूप तथा सहसा करने के अयोग्य जो भी कार्य हों उन अनुचित कार्य का इसी से संकेत मिल जाता है। इसी से यह भी कि विमर्श के बिना शीघ्रता से जो कार्य किया जाता है वही 'चापल्य' है।

६१–६२. पुत्रादिगत हर्षकारणत्व को बतलाकर मुनि ने यह दिखलाया कि अन्यगत सजातीय भाव भी भाव का कारण हो जाता है। जैसे रामगत निर्वेद चिन्ता आदि लक्ष्मण के निर्वेद चिन्तादि की उत्पत्ति में कारण होते हैं। अप्राप्य का अर्थ है असम्भवनीय की प्राप्ति। हृदय जहाँ जिस वस्तु को सारभूत मान ले तो उसकी प्राप्ति से हर्ष उत्पन्न हो ही जाता है। जैसे सुवर्ण प्राप्ति के लिये दूर देशों में भ्रमण करने वाले को अनन्त मूल्यवान् सुवर्ण तथा रत्न का लाभ होना। यहाँ मनोरथ के हृदय के द्वारा ग्रहण करने से उसकी आङ्गिक व्यापारों से विभिन्नता दिखलाई गयी है।

६३–६५. प्रयोगगत योग्यता के कारण आविष्टहृदयवालों में ही 'आवेग' रहने के कारण प्रतिविभाव तथा अनुभावों के भेदों से होने वाले प्रयोग वैचित्र्य को लक्षण में विस्तार से मुनि ने दिखलाया है। 'उत्पातकृत' के स्वरूप में अतिक्रान्ता और अपक्रान्ता चारी के द्वारा अपसर्पण किया जाना चाहिये। उद्भ्रमण जहाँ सीमा को लङ्घन कर भ्रमण हो। अप्रिय श्रवण में किसी सामान्य-जनक आवेग हो तो वहाँ शोक के अनुभावों को एक के बाद एक शीघ्रगति में रखने चाहिये तथा बाद में 'शोक' को रखा जाए और धीरप्रकृति के जन में प्रथम शोक तथा बाद में अनुभावों को रखे—यह **श्री शङ्कुक** का मत है। परन्तु ऐसा मानना समीचीन नहीं क्योंकि यदि ऐसा मान भी ले तो आवेग स्थायीभाव हो जाएगा और शोक व्यभिचारीभाव बन जाएगा। अतः यदि अधीर प्रकृति को प्रथम क्षण में शोक उत्पन्न ही हो गया हो तो वह द्वितीय क्षण में आवेग से अभिभूत होगा या बढ़ा दिया जाएगा। परन्तु धीरप्रकृत्ति

को आवेग होकर भी धैर्य से दबता हुआ अपनी उचित दशा में आच्छादित सा रहता है न कि वह उत्पन्न ही नहीं होता। जैसा कि यही आगे स्वयं मुनि ने ही 'स्थैर्येणोत्तममध्यानाम्' (ना० शा० ७।६३) से कहा भी है। इसके अतिरिक्त संचारीभावों के साहचर्य से रहित स्थायीभाव की कोई भी स्थिति नहीं है। इसी प्रकार स्थायीभाव की भित्ति से बन्ध्य या रहित संचारीभाव की भी विचित्राभरी स्थितियाँ नहीं रहेंगी। यहाँ 'अपसर्पणै' पद में प्रयुक्त बहुवचन इस क्रिया की अनेक स्थितियों के सूचनार्थ रखी गयी है, जिनमें पलायन आदि आते हैं। इसके अतिरिक्त अग्नि तथा कुञ्जर आदि के उपद्रव के समय रहने वाले 'आवेग' में यह 'अपसर्पण' अनेक बार होगा। अप्रियनिवेदन से जो आवेग होगा उसमें विषाद आदि अनुभाव होंगे यह बात कहने पर एक संचारी की दूसरे के बीच में यह स्थिति रहेगी यह बात भी इसी से दिख जाती है। इसे हमने आरम्भ में ही दर्शाया भी है।

६६. कार्य के विषय में प्रवृत्ति न होना (अप्रतिपत्तिः) इससे विवेकाभाव ही जडता है यह स्पष्ट है। प्रश्न के करने पर भी उत्तर में कुछ न कहना यह स्थिति सामान्यरूप में मित्रों के कथन में प्रवृत्ति न होना ही है। यह मोह के पूर्व में या बाद में भी हो सकती है यह भी लक्षण से स्पष्ट है।

६७–६८. जो पुरुष अपने जीवन के पूर्व भाग में विद्यादि से हीन होते हैं ऐसे नीच प्रकृति के पुरुषों को विद्यादि की बाद में प्राप्ति हो जाने पर उनमें 'गर्व' हो ही जाएगा। ऐसी स्थिति में दृष्टि तथा अङ्गों की विविध विकारों से युक्त गति होगी। यह इनमें धारावाहिकरूप में रखी जाएगी परन्तु यही भाव उत्तमपुरुषों में बिजली की तरह क्षणमात्र के लिये आएगा।

६९–७०. मूल लक्षण में दिये गये विवरण से आये हुये पदों में कार्य पद का अर्थ है उपायों के द्वारा किये या चलने वाले उद्यम का अनिस्तरण अर्थात् फल की सम्पत्ति से रहित होना ऐसी जो दैवव्यापत्ति अर्थात् भाग्य की विषमता उससे 'विषाद' होता है। ऐसा कहने से ये ही सूचित होता है कि दैव के दोष से उत्पन्न जो फल की सम्पत्ति का क्षीण होना वह उत्तम उपायों के रहने पर भी हो सकती है। कुछ **आचार्य** इस भाव के क्रोध की दशा में न रहने की बात करते हैं परन्तु वह ठीक नहीं। क्योंकि रौद्रप्रकृति के व्यक्ति में भी 'विषाद' मिलता है। जैसे **रामाभ्युदय में**—

एतत्तु क्षतिमातनोति मनसो यद्वज्रधाराङ्किते।
क्रौर्यच्छाप्रणयः प्लवङ्गनखरैः प्राप्तः प्रहस्तोरसि ॥

यहाँ जो मानस क्षति है वही दौर्मनस्य भाव है और यही विषाद का अनुभाव है। ये पशुवृत्ति वानर जो सदा भागने की वृत्ति रखने वाले हैं उनकी कार्य भाव की इच्छा अनुचित है। किन्तु उनका जो प्रणय या अभीष्ट है वह समग्र अभिलषित पदार्थ की परिपूर्णता में है परन्तु यह भाग्य की प्रतिकूलता के कारण उत्तम उद्यम या उपायों के करने पर भी उनसे फल की सम्पत्ति या प्राप्ति को नहीं करवा सकता। इस प्रकार अनुभाव के द्वारा यह बात स्पष्ट दिखती है तथा इस रूप में विद्यमान विषाद का क्रोध व्यभिचारित्व किसी भी युक्ति या आगम या अनुभव से विरुद्ध पड़ेगा।

७०. उत्सुक का भाव 'औत्सुक्य' है। इसमें 'वियोग' पद के ग्रहण से इसकी विप्रलम्भ शृङ्गार में प्रमुखता की सूचना मिलती है। लक्षण में 'स्मरण' पद से स्मृति से यह उद्दीप्त होता है तथा इसमें शयनाभिलाष बिना निद्रा के भी हो सकता है। यह बात पृथक् से बतलाने के लिये दोनों को अलग अलग दिखलाया है।

७१-७२. लक्षण में प्रयुक्त 'दौर्बल्य' पद का अर्थ है व्याधि आदि के कारण शक्ति का क्षीण होना तथा क्लम अर्थात् स्वेद से होने वाला स्राव।

७३-७४. देवगण से लेकर पिशाच तक ग्रहों से जो अधिष्ठान के लिये स्मरण किया जाता है अथवा जो सत्वहीन है वह पुरुष इन देवादि का ध्यान या भय रख कर अपस्मार से ग्रसित हो जाता हैं। किसी अशुचि स्थिति में शरीर के हो जाने पर इन ग्रहों का चिरकाल तक अवस्थान हो जाता है। वात, पित्त तथा श्लेष्म धातुओं के वैषम्य तथा बुद्धिस्थान में जम जाने पर 'अपस्मार' जो मानते हैं उनका आशय बुद्धितत्व के विकृत हो जाने से है।

७५-७७- लक्षण में सुप्त के लिये 'निद्रासमुत्थ' पद देने का आशय यही है कि जो प्रगाढ़ स्थिति है वही 'सुप्त' है जो विषयों से उपरमण की स्थिति है। जब कोई स्वप्न दशा में किसी का अनुस्मरण करता है तो ऐसा प्रलाप सुनकर बाहर लोक में उसकी किसी स्मृति का अनुमान लगाया जाता है।

७७. निद्रा के अपनी नियत मर्यादा के वश या आहार के परिणाम आदि से या इनके बिना भी निद्रा का छेद हो जाने से 'निद्राच्छेद' को पृथक् रूप में 'विवोध' में दिखलाया गया। यह स्वप्न की परिसमाप्ति रूप होता है। शब्द, स्पर्श आदि विबोधगत ही होते हैं ऐसा **श्री घण्टुक** का मत है परन्तु ये शब्दादि बाह्य मानना उचित है।

७७-७९. प्रतिकार की इच्छा रूप यह 'अमर्ष' क्रोध से भिन्न है। इसमें ध्यान बिना किसी लक्ष के अवस्थान है जो चिन्ता से यहाँ भिन्नता भी रखता

है। 'उत्साह सम्पन्न' पद से यह सूचित होता है कि उत्साहहीन या प्राकृत जन में यह नहीं होता। लक्षण में उत्साह तथा अध्यवसाय पद से इनके अनुभावों को समझना चाहिये।

८०. 'अवहित्थ' पद का निरुक्त है—'न बहिस्थं चित्तं येन इति।' यह पृषोदरादित्वात् सिद्ध होता है। अन्य व्याख्या है—'आक्रियते बहिःप्रकाश्यते चित्तवृत्ति र्यैस्तेषाम् भ्रूविकाराणाम् आच्छादनकारि यत् चित्तवृत्तिरूपम् तत् 'अवहित्थम' अर्थात् बाहर व्यक्त होने वाले भ्रूविकारों के आच्छादन से जिस चित्तवृत्ति का प्रकट होना लक्षित हो वह 'अवहित्थ' है। जो आच्छादनकारि चित्तवृत्तिरूप है। प्रगल्भ पुरुष अपने आकार का संवरण समझता है इसी कारण उससे एक 'धाष्ट्र्य' और लगाया गया है। लज्जायुक्त अप्रगल्भ इन कार्य को नहीं कर सकता या जानता इसलिये इसके सभी विभावादि में 'धाष्ट्र्य' ही अनुगत रहता है यह समझना चाहिए।

८१. अकार्य का चौर्य कर्म उपलक्षण है क्योंकि यही अनेक अकार्यों का कारण बनता है तथा इसी कारण जब राजादि के द्वारा मनुष्य को पकड़ा जाता है तो उस अपराधी के प्रति उग्रता तथा निर्दयभाव उनका रहता है। यही बात राजा के प्रति अपराध करने वाले तथा असत्प्रलाप या मिथ्यादोषवादी के प्रति भी होती है।

८२. अपूर्व प्रतिभान रूप 'मति' होती है। अनेक शास्त्रों का अर्थ (आशय) या प्रयोजन है विवेक का लाभ होना उससे यह उद्धत होती है। इसलिये शिष्य को उपदेश देने वाले भाव से या प्रयोजन से जो क्षेपादि देह विकार होते हैं उन्हीं अनुभावों में 'मति' का अभिनय दिखलाया गया है।

८३. ज्वर की सभी व्याधियों में प्रधानता रहने के कारण 'ग्रहण' किया गया। मदनविकार में भी ज्वर की सम्भावना रहती ही है। व्याधि के रहने पर उस समय जो किसी आतुर की चित्तवृत्ति होगी वही यहाँ व्याधिशब्द से अभीष्ट है क्योकि व्याधि की दशा में आतुर का चित्त अपने स्वाभाविक रूप में स्थित नहीं रहता है।

८४-८५. इष्टजन से वियोग की दशा में (विप्रलम्भ शृङ्गार की स्थिति में) उत्तम पक्ष को भी पुरुरवा की तरह 'उन्माद' होता है। उत्तमपात्र न होने की दशा में यह विभवनाश से भी होता है। अतएव इसमें प्रकृति के औचित्य के आधार पर विभावादि को विभागपूर्वक रखना होता है। कुछ टीकाकार इसमें 'चित्तविकार' पद की व्याख्या 'चित्तं विकरोतीति विकारः' करते हैं। परन्तु यहाँ **भट्टतोत**—चित्त का जो विकार अर्थात् विकीर्णता या

बिखराव है जो किसी एक के निश्चय न होने से एक स्थान पर स्थित न रहना है जो 'उन्माद' रूप है। जैसे विक्रमोर्वशीय में प्रिया को न देखने पर तथा अन्य कुछ न प्राप्त रहने पर नायक का शीघ्र उन्माद युक्त हो जाना। यही बात कविकुलचक्रवर्ती कालिदास ने प्रतिबोधित भी की—'तिष्ठेत् कोपवशात्' (वि० व०) इत्यादि से। अनिमित्तता का अर्थ है किसी प्रसिद्ध कारण का न रहना। व्याधि के अन्तर्गत उन्माद भी एक है किन्तु विप्रलम्भ आदि में विचित्र चेष्टाओं आदि से प्रयोग में सुन्दरता लाने के कारण इसे व्याधि से पृथक् रूप में रखा गया। इसी प्रकार अपस्मार में भी समझना चाहिये। क्योंकि वह बीभत्स, भयानक आदि में इसी प्रकार विचित्रता उत्पन्न कर देता है।

८६–९०. जब व्याधि के शरीर में अधिक गहराई से जम जाने के कारण ऐसी चित्तवृत्ति बने कि अब इससे निपटना अशक्य है तो यही चित्तवृत्ति अभिनय में, 'मरण' है अर्थात् प्राणों का त्याग करना। इसलिये म्रियमाण दशा की चित्तवृत्ति ही यहाँ भरत ने मरण रूप संचारी माना है मृतावस्था को नहीं। क्योंकि उसमें किन्हीं अनुभावों की स्थिति नहीं होती। यहाँ इन्द्रियों से वर्जित अभिनय रहने के कारण 'सर्वेन्द्रियसम्मोह' भी कहा गया है।

९१. 'भैरव' का अर्थ है जो भीरुजन को त्रास देता हो ऐसा। शीघ्र ही विधूननकारी चमत्कार करने वाला 'त्रास' भय से पूर्वापर विचार के कारण भिन्न है यह बात 'अक्षिनिमेषैः' पद तथा उसमें प्रयुक्त बहुवचन के द्वारा संकेतित की गयी है।

९२. 'वितर्क' के लक्षणगत रूप में 'सन्देह' सदा उभयावलम्बी ज्ञान होता है जिसे संशय भी कहते हैं। विमर्श का अर्थ है विशेष प्रतीति की आकांक्षा रूप इच्छा की स्थिति रहना। कुछ विद्वान् धर्मी में सन्देह तथा धर्म में विमर्श इस प्रकार स्थित भ्रान्ति ज्ञान को 'विप्रत्यय' कहते हैं। इसमें 'विद्रुत या' चली गयी जैसी बुद्धि से कार्यकलापों का परित्याग तथा प्राप्ति दोनों विवक्षित रहती हैं (किसी मन्त्र या मन्त्रों (गुप्त सलाह) को ग्रहण करने के कारण इसकी अवहित्थ से समान स्थिति रहती है)। विचारणा का अर्थ है पूर्व पर का विचार। नय अर्थात् षाड्गुण्य का प्रयोग ही जिसकी आत्मा है ऐसा, क्योंकि अन्य पक्ष में रहने वाले बल की सम्भावना के ज्ञान से ही सभी नीति प्रयोग होते हैं। **आचार्य चाणक्य** ने 'दैवमचिन्त्यं पुरुषकारस्तु चिन्त्यः' कहकर तर्कपूर्वक सभी नीति व्यवहार को करने की बात कही है। जैसा कि आचार्य भट्टतौत ने भी कहा—

'सम्भावनाप्रमाणो हि तीक्ष्णप्रज्ञोऽपि यद् वदेत्।'

अर्थात् तीक्ष्णबुद्धि चतुर जन भी सम्भावना या तर्क करके ही कहते हैं। इत्यादि।

त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिणो भावा इति। संचारी भाव तैंतीस ही होते जैसे— दम्भ का अवहित्थ में, उद्वेग का निर्वेद में, क्षुत् तृष्णा का ग्लानि में अन्तर्भाव हो जाता है। कुछ आचार्य कहते हैं कि चित्तवृत्तियों की गिनती करने में कौन सक्षम है और गणना तार्किक गुणन के द्वारा या सांख्य दर्शन के द्वारा संख्या प्रत्यय की सरणि से सभी का संग्रह भी हो तो उसकी सीमा क्या होगी। इसके अतिरिक्त यदि कवि तथा अभिनेता के शिक्षार्थ इतने संचारी का निरूपण हो तो फिर अन्य भावों को भी दिखलाना उचित है इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि सामान्याभिनयाध्याय में मुनि ने पुरुष तथा स्त्रियों के भाव चेष्टाओं तथा अलङ्कारों का विवरण दे ही दिया है जो संचारी से भिन्न है। यहाँ विभाव, अनुभाव के अतिरिक्त संचारी का मात्र निरूपण हुआ है। इसी कारण ग्लानि में क्षुततृष्णा जैसी दशा का विभावत्वेन प्रसिद्ध होने से लक्षण में उल्लेख हुआ है। प्रत्येक भाव का कवि तथा अभिनेता के उपयोगी लक्षण देना अधिक उपयुक्त भी नहीं है केवल शास्त्र की दृष्टि से ही भावों का विवरण उपयुक्त है। कुछ आचार्य कहते हैं कि मुख्यरूप से तैंतीस भावों का यदि ज्ञान रहेगा तो अनुभावों का बोध सरलता से हो सकता है। आचार्यों का मत है कि इन्हीं संचारी के प्रयोग से सौन्दर्य की सृष्टि होती है तथा ये ही स्थायी की चर्वणाभूमि को प्रस्तुत करते हैं जिससे आगे चलकर स्थायी रसत्व प्राप्त कर सके।



परिशिष्ट २

पद्यार्धानुक्रमणिका

द

श

आधार एवं सन्दर्भ ग्रन्थसूची

अपराजित पृच्छा ।
अभिनयदर्पण । नन्दिकेश्वर । कलकत्ता ।
अभिनवभारती । अभिनवगुप्तप्रणीत नाट्यशास्त्र व्याख्या भाग १ से ४ बड़ौदा ।
अर्थशास्त्र । कौटिल्य । चौखम्बा, वाराणसी ।
काव्यादर्श । दण्डी । चौखम्बा, वाराणसी ।
काव्यप्रकाश । मम्मट । चौखम्बा, वाराणसी ।
काव्यालङ्कारसूत्र । भामह । चौखम्बा, वाराणसी ।
काव्यालङ्कारसूत्र । उद्भट । निर्णयसागर, बम्बई ।
काव्यालङ्कारसूत्र । वामन । चौखम्बा, वाराणसी ।
काव्येन्दुप्रकाश । कामराजदीक्षित । चौखम्बा, वाराणसी ।
दशरूपक । धनिक तथा धनञ्जय । चौखम्बा, वाराणसी ।
नाटकलक्षणरत्नकोश । सागरनन्दी । चौखम्बा, वाराणसी ।
नाटकचन्द्रिका । रूपगोस्वामी । चौखम्बा, वाराणसी ।
नाट्यशास्त्र । भरतमुनि । काव्यमाला, वाराणसी तथा बड़ौदा संस्करण ।
नाट्यशास्त्र । भरतमुनि । मनोमोहनघोषकृत अंग्रेजी भाषानुवाद ।
नाट्यशास्त्र संग्रह । मद्रास ।
नारदीयशिक्षा ।
पाणिनीय शिक्षा । चौखम्बा, वाराणसी ।
भरतकोष । सं० रामकृष्णकवि । पूना ।
भरतार्णव । नन्दिकेश्वर । मद्रास ।
भरतभाष्य । नान्यदेव । खैरागढ़ संगीत विश्वविद्यालय ।
भावप्रकाशन । शारदातनय । बडौदा ।
भारतीय नाट्यशास्त्र । गोदावरी केतकर (मराठी)
मानसारशिल्पशास्त्र । डॉ० पी० के० आचार्य ।
रसगङ्गाधर । पण्डितराज जगन्नाथ । चौखम्बा, वाराणसी ।
रसार्णवसुधाकरः । सिंहभूपाल । सं० डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी
राजतरङ्गिणी । कल्हण, जोनराज तथा श्रीवर ।
शार्ङ्गधर-पद्धति । शार्ङ्गधर ।
शृङ्गारप्रकाश । भोज । ज्योश्यार सम्पादित खण्ड १-३ ।
सरस्वतीकण्ठाभरण । भोज । कलकत्ता ।
साहित्यदर्पण । विश्वनाथ कविराज । चौखम्बा, वाराणसी ।
सङ्गीतमकरन्द । नारद । बडौदा ।
सङ्गीतरत्नाकर । शार्ङ्गदेव । अड्यार-(खण्ड १-४)
समराङ्गणसूत्रधार । भोज । बड़ौदा ।
कालिदास अकादमी जर्नल । उज्जैन का रंगमंच अंक १ ।

अंग्रेजी सन्दर्भ ग्रन्थ

Ancient Indian Theatre. D. R. Mankad
Bharata's Nāṭya and Costume. Dr. G. S. Gurye
Bibliography of Sanskrit Drama. Schuler
Classical Sanskrit Literature. A. B. Keith
Classical Indian Dance in Literature and the Arts. Dr. Kapilā Vātsyāyana
Comparative Æsthetics. Vol. I. Dr. Kanti Chandra Pandeya.
Contribution to the History of the Hindu Drama. Dr. Manomohan Ghosha.
Dictionary of Hindu Architecture. P. K. Acharya
Drama and Dramatics of Non-European Race. William Ridgeway.
Drama in Sanskrit Literature. R. V. Jahagirdar
History of Indian Literature. Vol. I, II, III A. M. Winternitz
History of Sanskrit Literature. Dr. S. N. Dasgupta and Dr. S. K. De.
History of Sanskrit Poetics. Dr. S. K. De.
History of Sanskrit Poetics. Dr. P. V. Kene.
Indian Theatre. C. B. Gupta.
Laws and Practice of Sanskrit Drama Dr. S. N. Shastri,
Number of Rasas. V. Raghavan.
Shriṅgār Prakāsh of Bhaja. V. Raghawan
Sanskrit Drama. A. B. Keith.
Select Speciemen of the Hindu Theatre (I–III. Vols.). H. H. Wilson.
Types of Sanskrit Drama. Dr. D. R. Mankad.
The Tāndava Lakshaṇam. V. V. Narayanswami Naidu.

हिन्दी-सन्दर्भ ग्रन्थ

संस्कृत साहित्य में शब्दालंकार—डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी।
नाट्यवार्ता—(अनामिका-कलकत्ता) का नाट्यशास्त्रविशेषांक।



नाट्यशास्त्र–प्रथमभाग शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	१३	परम्रा	परम्परा
३	१०	प्ररम्भ किया	प्रारम्भ किया
३	१९	प्रामणिकता प्रदान	प्रामाणिकता प्रदान
९	४	यमधूभ्रायणौ तथा ॥ २७ ॥	यमधूम्रायणौ तथा
१६	१	सर्वोपकरणानि वैः ।	सर्वोपकरणानि वै ।
१९	१	देवराज ने इन्द्र अभिनय में	देवराज इन्द्र ने अभिनय में
१९	७	गृहीत्वां ध्वजमुत्तमम् ।	गृहीत्वा ध्वजमुत्तमम् ।
२१	१०	तनवेक्षितुमर्हसि ॥८१॥	तदेवेक्षितुमर्हसि ॥ ८१ ॥
२२	६	विनियुक्तस्तु चन्द्रमा ।	विनियुक्तस्तु चन्द्रमाः ।
३४	४	सर्वे भावास्तु मानुषा	सर्वे भावास्तु मानुषाः ।
३७	१०	अणू रजश्च लिक्षा	अणू रजश्च बालश्च लिक्षा
४३	८	शखदन्दुभिनर्घोषैः	शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैः
४३	२४	पाषण्ड का बुरा कार्य नहीं	पाखण्ड शब्द का बुरा अर्थ नहीं
४७	७	पहिले ब्राह्मणस्तम्भ नीचे	पहिले ब्राह्मणस्तम्भ के नीचे
४८	२१	कर्तृनापि तथा सर्वान्	कर्तृनपि तथा सर्वान्
५१	८	येऽङ्कदोषविवजिताः ।	येऽङ्कदोषविवर्जिताः ।
५३	४	नानाकुट्टिभविन्यस्तैः	नानाकुट्टिमविन्यस्तैः
५३	१३	की स्थित संभव नहीं ।	स्थिति संभव नहीं ।
५६	१२	चतुस्त्रेऽपि कारयेत् ।	चतुरस्त्रेऽपि कारयेत् ।
६०	७	त्र्यश्रस्यापि प्रयोक्तृभि ॥१०८॥	त्र्यस्त्रस्यापि प्रयोक्तृभिः ॥१०८॥
६०	२०	यह सभी शिल्पिकों	यह सभी शिल्पियों
६३	१३	त्वं महेन्द्रग्रहरण	त्वं महेन्द्रप्रहरण
६३	१४	गोब्राह्मणशिवश्चै	गोब्राह्मणशिवश्चैव
६४	२०	दिनके अन्तमें आने नाले घोर	दिनके अन्तमें आने वाले घोर
६८	९	पितन् पिशाचानुरंगान्	पितॄन् पिशाचानुरगान्
७४	२	पृथ्वी के नीचले भाग	पृथ्वी के निचले भाग
७५	२५	पुण्यमालापुरस्कृतम् ।	पुण्यमालापुरस्कृतम् ।
७७	१४	अतएव आपको अपने जन्म तथा और गुणों के	अतएव आपको अपने जन्म तथा गुणों के
८०	१६	रंगमञ्च की विधिवत् पूजना न की जाने	रंगमञ्च की विधिवत् पूजा न की जाने

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८२	१	जो मनुष्य को चित्त के उद्वेग के	जो मनुष्य चित्त के उद्वेग के
८७	१७	नामतः कर्मतस्तथाः ।	नामतः कर्मतस्तथा ।
९१	४	गृध्रावलीनिकं चैव	गृध्रावलीनकं चैव
९१	१७	चैवेत्युक्तमष्ठधिकं शतम् ।	चैवेत्युक्तमष्टाधिकं शतम् ।
९१	२१	अभिनय के मध्य बचन वाले	अभिनय के मध्य बचने वाले
९४	२२	बलित मुद्रा रखी जाए	वलित मुद्रा में रखी जाए
९५	१०	शरीर अपनी रवभाविक अवस्था में	शरीर अपनी स्वभाविक अवस्था में
९५	२०	तो स्वस्तिरेचित	तो स्वस्तिकरेचित
९५	२२	पाङमुखोर्ध्वतलौ समौ ॥६८॥	प्राङ्मुखोर्ध्वतलौ समौ ॥६८॥
९६	७	'निकुट्टित' हथा पैरों को	'निकुट्टित' तथा पैरों को
९७	२	कोख को 'तन' मुद्रा में	कोख को नत मुद्रा में
९७	१६	इने 'स्वस्तिक' करण जाने ॥	इसे 'स्वस्तिक' करण जाने
९७	२६	नव्यकोविदैः-क	नाट्यकोविदैः-क
९८	६	करे तो 'आलात' करण	करे तो 'आलात' करण
९८	१०	चेष्टा में रखे हो तो	चेष्टा में रखी हो तो
९९	१६	(ताल नादि आदि के)	(ताल वाद्य आदि के)
१०१	१७	कोख की ओर मोह ले तो	कोख की ओर मोड़ ले तो
१०३	८	पीछे की ओर घुमाया रखा जाए	पीछे की ओर घुमा हुआ रखा जाए
१०४	२	तो उस करुण को 'वृश्चिक' कहते हैं ।	तो उस करण को 'वृश्चिक' कहते हैं ।
१०५	६	झूलती हुई भुजाओं से युक्त रखे	झूलती हुई भुजाओं से युक्त रखें
१०५	२५	'अर्गल' करण जानों ॥ ११७-११८	'अर्गल' करण जानों ॥११७-११८॥
१०६	२३	हाथों के रेचित मुद्रा में रखे	हाथों को रेचित मुद्रा में रखे
१०८	९	दोनों हाथों (दाये-वायें) क्रमशः	दोनों हाथों (दाए-बाँए) को क्रमशः
१०९	१९	ज्ञेयमर्धसूचिति नामतः	ज्ञेयमर्धसूचीति नामतः
११०	१३	आञ्चितापसृतौ पादौ	अञ्चितापसृतौ पादौ
१११	१६	नाव्यप्रयोग के अनुसार चारी ओर घुमा दे	नाट्यप्रयोग के अनुसार चारों ओर घुमा दे
११२	१६	गिर 'उद्वृत्त' चारी में	फिर 'उद्वृत्त' चारी में

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११३	४०	तदवहित्थंकम् ।	तदवहित्थकम् ।
११६	१५	कुर्यात्तथैव निकुट्टकम् ॥१७२॥	कुर्यात्तथैव च निकुट्टकम् ॥१७२॥
११७	९	कटिच्छिन्नं ततैव च ॥१७४॥	कटिच्छिन्नं तथैव च ॥१७४
११७	१९	ऊरूद्वृत्तं तथाचित—	ऊरूद्वृत्तं तथाक्षिप्त—
११९	९	पादेन च निकुट्टिकम् ॥१८५॥	पादेन च निकुट्टितम् ॥१८५॥
११९	१२	विष्कम्भे परिकीर्तिम् ।	विष्कम्भे परिकीर्तितम् ।
११९	२३	कर्तव्यः स कटिच्छोदोम० ।	कर्तव्यः स कटिच्छेदो ग० ।
१२३	९	तलसंस्कोटसंयुतम् ॥१०४॥	तलसंस्फोटसंयुतम् ॥२०४
१२५	१९	रेचितं मण्ललञ्चैव	रेचितं मण्डलञ्चैव
१२६	८	यण्डदेशे निकुट्टयेत् ॥२१९॥	गण्डदेशे निकुट्टयेत् ॥२१९
१३४	७	पद्मपिण्डी स्वयंभुव ॥२५६॥	पद्मपिण्डी स्वयंभुवः ॥२५६॥
१३८	१९	गत्या वाद्यानुसारिण्यां	गत्या वाद्यानुसारिण्या
१३९	१३	अङ्गहारप्रयीगे च	अङ्गहारप्रयोगे च
१५२	१०	संगतीरत्नाकर ने चित्र, वार्तिक···	संगीतरत्नाकर ने चित्र वार्तिक
१५३	१३	ताल०) पदभाग का विशेष विवरण	ताल०) पादभाग का विशेष विवरण
१५४	८	नृत्तपाटयकृतानि तु ॥१२॥	नृत्तपाठ्यकृतानि तु ॥१२॥
१५८	१०	यस्मादुस्थापययन्त्यत्र	यस्मादुत्थापयन्त्यत्र
१५८	११	रङ्गेऽस्मिंस्तमादुत्थापनं स्मृतम् ॥ २२ ॥	रङ्गेऽस्मिँस्तस्मादुत्थापनं स्मृतम् ॥ २२ ॥
१६२	५	मात्सर्यादैत्यराचसाः ॥३३॥	मात्सर्याद्दैत्यराक्षसाः ॥३३॥
१६३	१०	देवाः कर्मानुकीर्तनम्	देवाः कर्मानुकीर्तनात् ।
१६५	२३	अवसर पर परमोपयोगी हो ऐसी वीणा	अवसर पर संगति में परमोपयोगी हो ऐसी वीणा
१७२	१५	स्वयं ब्रह्मा प्रतिष्टतः ॥७६॥	स्वयं ब्रह्मा प्रतिष्ठितः ॥७६॥
१७६	१५	वाहेनानुगतेन च ॥ ८९ ॥	वाद्येनानुगतेन च ॥ ८९ ॥
१७८	१४	वायाँ हाथ स्त्रीपाद	बायाँ पैर स्त्रीपाद
१८०	१६	सूत्रधार पठेत्तत्र	सूत्रधारः पठेत्तत्र
१८२	५	सम्यगुप्ताभिर्वाग्निमदौ पारिपार्श्विकौ ॥११०॥	सम्यगुप्ताभिर्वाग्भिस्तौ पारिपार्श्विकौ ॥ ११० ॥
१८४	८	आद्यमन्तं चतुर्थपञ्चमं च···	आद्यमन्त्यं चतुर्थञ्च पञ्चमञ्च···
१६८	१३	चतुरस्रा ध्रुवा तत्र द्रुतलयान्विता ॥ १२६ ॥	चतुस्रा ध्रुवा तत्र तथा द्रुतलयान्विता ॥ १२६ ॥

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१८६	१८	इस ध्रुवा का प्रत्येक पाद एकादशाक्षर का···	इस ध्रुवा का प्रत्येक पाद त्रिष्टुप् छन्द में एकादशाक्षर का···
१८७	१२	पादैद्रुतलयान्वितैः।	पादैर्द्रुतलयान्वितैः।
१८८	७	तत्रपि वामवेधस्तु	यत्रापि वामवेधस्तु
१९२	१८	लगता है तथा यह शब्दा क्रिया के···	लगता है तथा यह सशब्दा क्रिया के···
१९८	९	सूत्रधारगुणाकृति।	सूत्रधारगुणाकृतिः।
२१२	४	प्रश्नान्पञ्चभिधत्स्व नः ॥१॥	प्रश्नान् पञ्चाभिधत्स्व नः ॥१॥
२१२	८	नाट्यै नाट्यविचक्षणैः।	नाट्ये नाट्यविचक्षणैः।
२१२	२	कारिका चैव निरुक्तं चैव	कारिकाश्चैव निरुक्तं चैव
२१३	८	रसाभावविकल्पनम् ॥ ४ ॥	रसभावविकल्पनम् ॥ ४ ॥
२२३	९	आहार्यः सःत्विकस्था।	अहार्यः सात्विकस्तथा।
२२३	२४	आन्तरिक भावों के सभिव्यंजक स्वेद	आन्तरिक भावों के अभिव्यञ्जक स्वेद
२२४	१५	तथा सात्वि अभिन्य का विवरण···	तथा सात्विक अभिनय का विवरण···
२४	२३	नाट्यधर्मी का लक्षण ना० शा० अध्य ११४ में	नाट्यधर्मी का लक्षण ना० शा० अध्या० ११।१४ में
२२६	८	इस व्युपत्ति के अनुसार	इस व्युत्पत्ति के अनुसार
२२८	७	तावदादावभिव्याख्यामः।	तावदादावभिव्याख्यास्यामः।
२२९	५	स्याय्यात्मिकाया उत्पत्तै	स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ
२३७	१६	ननु प्रभदादिभिः कारणैः	ननु प्रमदादिभिः कारणैः
२४०	१	···वैधुर्याभावे कतं न···	···वैधुर्याभावे कथं न···
२४६	२३	परब्रह्मास्वोदसविधेन भोगेन परं···	परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं
२४८	११	भट्टलोल्लट पक्षानभ्युषगमादेव नाभ्युपगत	भट्टलोल्लटपक्षानध्युपगमादेव नाभ्युपगत
२४८	२१	(रसा ?) त्मनः प्रतीतयो	(रसा ?) त्मानः प्रतीतयो
२५४	२२	यथः—अज्जवि हरिणो	यथाः—अज्जवि हरिणो
२६४	२१	एतद्गुणप्रधानभावाकृत एव च	एतद्गुणप्रधानभावकृत एव च
२६५	१०	तया परमुपहन्नभीष्ट वियोगसन्तप्त···	तया परमुपहसन्नभीष्ट वियोग-सन्तप्त···
२६५	१२	तयाकान्तः किञ्चि···	तयाक्रान्तः किञ्चि···
२६६	१९	कर्तंव्यान्तरविषये स्योत्सा-हादेरखण्डनात्।	कर्तव्यान्तरविषयस्योत्साहा-देरखण्डनात्।

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२६६	२१	यथाह पातञ्जलेः	यथाह पतञ्जलिः
२७०	१८	स्थायिविलण एव रसः।	स्थायिविलचण एव रसः।
२७१	१०	तेन स्थायिप्रतितीरनुमिति-रूपा	तेन स्थायिप्रतीतिरनुमितिरूपा
२७२	१३	पूर्णीभविष्यद्रसास्वादाङ्कुरी-भावेनानुमान···	पूर्णीभविष्यद्रसास्वादाङ्कुरीभावेना-नुमान···
२७४	२३	नन्नेवं रसोऽप्रमेयः स्यात्?	नन्वेवं रसोऽप्रमेयः स्यात?
२७७	२५	वाङ्मयरूपी महार्णवा को	वाङ्मयरूपी महार्णव को
२७९	३	आत्तमात्तमित्याद्यर्पितानु-भावर्गस्तु	आत्तमात्तमित्याद्यर्पितानुभाव-वर्गस्तु
२८२	१	भिर्द्रव्यंञ्जनौषधिभिश्च षाडवादयो···	भिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनौषधिभिश्च षाडवादयो
२८२	२०	कषायेभ्यो मिश्रेभ्यश्चः विलचणः···	कषायेभ्यो मिश्रेभ्यश्च विलचणः···
२८४	१	कल्पव्यञ्जननितो मन्तव्यः।	कल्पव्यञ्जनजनितो मन्तव्यः।
२८६	९	भक्तं भक्तिविदो जनाः ॥३३॥	भक्तं भक्तविदो जनाः ॥३३॥
२८६	१०	स्थायिभावाँस्तथा बुधा।॰	स्थायिभावाँस्तथा बुधाः।
२८९	२०	तथा अनुकरण रस है' इस)	का अनुकरण रस है' इस)
२८९	२१	क्या रसों में भावों की	क्या रसों से भावों की
२९३	५	रससंवितमूलक काव्य के द्वारा	रससंविन्मूलक काव्य के द्वारा
२९३	८	में दिभावादि की प्रतीति	में विभावादि की प्रतीति
२९४	३	(इति) अतएंव अब इन रसों की	(वृत्ति) अतएव अब इन रसों की
२९६	८	हास्यः प्रथमदैवतः।	हास्यः प्रमथदैवतः।
२९६	२३	शिव के कीड़ा करने वाले गणों···	शिव के साथ क्रीड़ा करने वाले गणों···
३००	२०	रख इये हैं···	रखे गये हैं···
३००	२२	यथा अपने उज्ज्वल	तथा अपने उज्ज्वल
३०१	५	सुधार कहलाता है।	श्रृङ्गार कहलाता है।
३०१	१९	फलाप्राप्ति की अवस्था तक रहने···	फलप्राप्ति की अवस्था तक रहने···
३०३	२७	परन्तु भोग अभाव में प्रियजन के प्रति···	परन्तु भोग के अभाव में प्रियजन के प्रति···

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३०५	२१	आदि इष्टजन से नायक नायिका की उत्तम-प्रकृति···	आदि इष्टजन ये नायक नायिका की उत्तम· प्रकृति···
३०७	२९	इसी बात को सूचित करने के मूल में 'अन्त्य' पद का···	इसी बात को सूचित करने के लिये मूल में 'अन्त्य' पद का···
३१०	९	भरतमुनि ने भी 'यहामा-भिनवेशित्व (ना० शा० २४।२०७)	भरतमुनि ने भी 'यलामा-भिनिवेशित्व (ना० शा० २४।२०७)
३१२	६	एक दूसरे से पार्थक्य रहते हैं।	एक दूसरे से पार्थक्य रखते हैं।
३१३	२६	के चकार का सांकेतिक अर्थ है।	के चकार का सांकेतिक अर्थ है।
३१४	५	योग्य होते हैं अतएव रतिरूप ही 'पुरुष' है।	भोग्य होते हैं अतएव रतिरूप ही 'पुरुष' है।
३१७	१	विकृतवेष अलंकार ठिढ़ाई,	विकृतवेष अलंकार ढ़िठाई
३१७	१८	विदूषक हास्यजनक वेष के द्वारा हास्यात्मक (को) ही प्रदर्शित···	विदूषक हास्य जनक अपने वेष के द्वारा हास्य (को) ही प्रदर्शित···
३२०	१०	अधमानामहसितं	अधमानामपहसितं
३२३	२८	एवसात्मसमुत्थश्च···द्विविध-श्चिप्रकृतिकः षड्भेदो···	एवमात्मसमुत्थश्च···द्विविध-स्त्रिप्रकृतिकः षड्भेदो···
३२५	४	मुँह का उत्तर जाना	मुँह का उतर जाना
३२५	२२	विभवनाश आदि होने पर भी उत्तम प्रकृति···	ये विभवनाश आदि होने पर भी उत्तमप्रकृति······
३२६	२	इससें निर्वेद, ग्लानि चिन्ता···	इसमें निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता···
३२७	१४	मोह का अर्थ जडता है। रस से अन्य	मोह का अर्थ जडता है। इससे अन्य···
३२७	२१	यहाँ भी आत्कशब्दका प्रयोग (मूल में)···	यहाँ भी आत्मशब्द का प्रयोग (मूलमें)···
३२९	२	तथा उद्धत प्रकृति के मनुष्यों से···	तथा उद्धत प्रकृति के मनुष्यों से···

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३३१	८	इसी कारण ताडनादग्रस्त पुरुष में···	इसी कारण ताडनादिग्रस्त पुरुष में···
३३२	११	इत्यादि से अपना प्रस्तुत करता है कि···	इत्यादि से अपना मत प्रस्तुत करता है कि···
३३५	१३	व्यापार का औचित्य सूचित पीता है। इसीलिये··· प्रसङ्ग में अनुमित के आधार पर	व्यापार का औचित्य सूचित होता है । इसीलिये··· प्रसङ्ग में अनुमिति के आधार पर
३३५	२१	कार्य को 'उपकर्मक्रियात्मकः' के द्वारा···क्रोधावेश में आकर उपकर्म अर्थात्	कार्य को 'उग्रकर्मक्रियात्मकः' के द्वारा ··· क्रोधावेश में आकर उग्रकर्म अर्थात्···
३३९	२३	प्रथम आर्या में दिये गये गुरु तथा नृत्य इत्यादि	प्रथम आर्या में दिये गये गुरु तथा नृप इत्यादि
३४०	७	मुँह का उत्तर जाना तथा स्वरभेद···	मुँह का उतर जाना तथा स्वर-भेद···
‹	१९	भीत एवास्मि भर्तृः (र० १।७)	भीत एवास्मि भर्तुः (र० १।७)
३४१	३	एतत्स्वभावजं स्यात् सत्व-सामुत्थं तथैव	एतत्स्वभावजं स्यात् सत्वसमुत्थं तथैव···
३४२	२५	यहाँ 'नृत्य' पद से भय के स्वाभाविक···	यहाँ 'नित्य' पद से भय के स्वाभाविक···
३४३	१३	सर्वाङ्गसंहारमुखविकूणनो-नेखन-निष्ठीवनो···	सर्वाङ्गसंहारमुखविकूणनोल्लेखन-निष्ठीवनौ···
३४३	१९	अत्यन्त अप्रिय (अग्रह्य) होती है,	अत्यन्त अप्रिय (अग्राह्य) होती है,
३४४	८	प्रतिपादक भिन्न आर्याएँ है	प्रतिपादक निम्न आर्याएँ है···
३४५	३	कुलाभिगमनसम्भा-विमान-मायेन्द्र···	कुलाभिगमन सभाविमान-मायेन्द्र
३४६	२६	२ एभिस्तर्थविशेषै	२ एभिस्त्वर्थविशेषै
३४८	७	तथा शोधकृतभेद से तीन प्रकार का···	तथा शोककृत भेद से तीन प्रकार का
३४९	३	बीभत्स रस चोभज, शुद्ध तथा उद्वेगी	बीभत्सरस चोभण, शुद्ध तथा उद्वेगी
३४९	४	मूल तथा कीडे आदि सड़ी वस्तुओं के···	मल तथा कीडे आदि सड़ी वस्तुओं के···

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३४९	५	वस्तु के देखने से 'चोभण' ॥ ७८–८२ ॥	वस्तु के देखने से 'चोभण' ॥ ७८–८२ ॥
३४९	१३	बीभत्सों को चोभज अर्थात् अशुद्ध समझना···	बीभत्सों को चोभण अर्थात् अशुद्ध समझना
३५०	२२	कारणरूप से प्रतीति नहीं होते।	कारणरूप से प्रतीत नहीं होते।
३५५	२९	स्थायीभाव रूप में स्थित निश्चित नहीं···	स्थायीभाव रूप में स्थिति निश्चित नहीं···
३५६	१०	एक दूसरे मत के अनुसार पाकरस के आस्वाद···	एक दूसरे मत के अनुसार पानक-रस के आस्वाद···
३५९	१७	इत्यप्रापार्थितलभ्यसर्व ··· वने दुष्प्रार्थिनि यत्	इत्यप्रार्थितलभ्य सर्व···वने दुष्प्रा-पार्थिनि यत्···
३६५	३	मनीषिगण के लिये लक्षणों में युक्त नवरसों का	मनीषिगण के लिये लक्षणों से युक्त 'नवरसों' का
३६५	१९	उज्ज्वल-सूत्र के समान इन भावों के बीच	उज्ज्वलसूत्र के समान इन भावों के बीच···
३६५	२३	समानरूप से प्रतीति आन्त-रिक अवस्था के भेद से···	समानरूप से प्रतीत आन्तरिक अवस्था के भेद से···
३६९	१९	'वागङ्ग' इत्यदि से	'वागङ्ग' इत्यादि से
३७१	१५	दिखलाई है जिसे संग्रह कहने के लिये···	दिखलाई है जिसे संग्रह करने के लिये···
३७२	२८	आस्वादन के योग चित्रवृत्ति विशेष···	आस्वादन के योग्य चित्तवृत्ति विशेष···
३८०	२	श्लतुमाल्यानुलेपनाभरण···	ऋतुमाल्यानुलेपनाभरण···
३८०	५	यह ऋतु माल्य, चन्द्रलेपन	यह ऋतुमाल्य चन्दन लेपन
३८१	२	भाग्यमौ-र्ख्यादिभिर्विभावैः	भाग्यमौर्ख्यादिभिर्विभावैः
३८१	१८	नदिभिर्विभावैः समु···	नादिभिर्विभावैः समु···
३८४	२३	गुरुजन के प्रति होनेवाले उसको विनयच्छन्न	गुरुजन के प्रति होनेवाले क्रोध में उसको विनयच्छन्न—
३८८	२३	परिकीर्तनादिभिर्विभवैः समु···	परिकीर्तनादिभिर्विभावैः समु···
३९०	१५	वि-अभि इत्येतानुपसर्गौ	वि-अभि इत्येतावुपसर्गौ
३९०	२२	सग्रहाभिहितांस्त्रयत्रिंश-द्व्यभिचारि···	सङ्ग्रहाभिहितांस्त्रयस्त्रिंशद्व्यभि-चारि···

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३९५	१९	प्रथम (आत्वसमुत्था शङ्का)	प्रथम (आत्मसमुत्था शङ्का)
३९६	२२	स च त्रिविधः पश्चविध भावश्च ।	
३९९	१५	गमनैस्तयाभिनयः प्रयोक्तव्यः	गमनैस्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः
४००	८	अहारवजितानां	आहारवर्जितानां
४०४	१	आत्रर्यो भवतः—	अत्रार्यौ भवतः—
४०४	७	कम्पैभ्रूक्षेपैश्चाभिनेतव्या ॥	कम्पैर्भ्रूक्षेपैश्चाभिनेतव्या ॥
४०४	२१	···समुद्भवा घृतिः सद्भिः	···समुद्भवा धृतिः सद्भिः
४०५	२४	पश्चात्तापेन वीडित इति	पश्चात्तापेन युतो व्रीडित इति
४०६	११	नाम रागद्वैषमात्सर्यामर्ष्येर्ष्या···	नाम रागद्वेषमात्सर्यामर्ष्येर्ष्या
४०६	१२	तस्याश्च पाक्यारुष्य	तस्याश्च वाक्पारुष्य···
४०६	१८	आत्रार्या भवति	अत्रार्या भवति
४०८	१६	सर्वाङ्गसपिडनप्रधावन···	सर्वाङ्गसम्पिण्डनप्रधावन···
४०९	१३	भुकाने, धुएँ को झाड़ने,···	झुकाने, धुएँ को झाड़ने,···
४१२	७	येत्सहान्वेषणोपायचिन्तिनोत्साह···	येत् सहायान्वेषणोपायचिन्तनोत्साह···
४१२	१०	कार्य के समान न होने	कार्य के समाप्त न होने
४१२	१२	चित्त में मलिन होने	चित्त के मलिन होने
४१३	१	सम्पत्ति ले राजा के द्वारा चति पहुँचाने···	सम्पत्ति के राजा के द्वारा चति पहुँचाने···
४१४	१६	दौर्बल्यात्वलमाच्छ्रमा···	दौर्बल्यात् क्लमाच्छ्रमा···
४१५	७	निःश्वसितोत्कम्पितधावपतनस्वेद	निःश्वसितोत्कम्पितधावन-पतन-स्वेद···
४१६	१३	सम्मोहनोत्स्वप्नायितादिभिरनुभावै···	सम्मोहनोत्स्वप्नायितादिभिरनुभावै···
४१६	१५	सुप्त भाव निद्रा से उत्पन्न होता है। (निद्राभिभव) यह इन्द्रियों के द्वारा अपने	सुप्त भाव गहरी निद्रा से उत्पन्न होता है (निद्राभिभव)। इन्द्रियों के द्वारा अपने
४१६	१८	आदि विभावों में 'सुप्त' उत्पन्न होता है।	आदि विभावों से 'सुप्त' उत्पन्न होता है।
४१९	१९	सम्भूतभवहित्थं भयात्मकम् ।	सम्भूतमवहित्थं भयात्मकम् ।

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४२०	७	निर्भर्त्सनादिभिरभावै-रभिनयेत्।	निर्भर्त्सनादिभिरनुभावैरभिनयेतां
४२१	११	तस्यः ज्वरादयो विशेषाः। ज्वरन्तु द्विविधः···	तस्याः ज्वरादयो विशेषाः। ज्वरस्तु द्विविधः···
४२१	१३	निकुञ्जनाभिलाषरोमाञ्च···	निकुञ्चनाभिलाषरोमाञ्च···
४२२	२७	और यह शरीर दोनों के कारण	और यह शरीर होने के कारण
४२३	६	गाली देने (उत्कृष्ट) तथा (बेसिर पैर की बातें)	गाली देने (उत्कुष्ट) तथा (बेसिर पैर की बातें)
४२३	९	टुटे हुए सरावले	टूटे हुए सरावले
४२५	१९	प्रख्यात नायक ने वध का निषेध ही भरत	प्रख्यात नायक के वध का निषेध ही भरत
४२६	१९	गले की ढल जाना	गले का ढल जाना
४२८	१२	विचार विमर्श आदि से उत्पन्न···	विचार विमर्श आदि से उत्पन्न···
४३०	१६	न इमे	त इमे
४३०	१७	स्कम्भः स्वेदोऽथ	स्तम्भः स्वेदोऽथ
४३१	८	आदि में 'स्वेद' उत्पन्न	आदि से 'स्वेद' उत्पन्न
४३१	२३	क्लेश (क्लम) तथा घास (ताप) से···	क्लेश (क्लम) तथा घाम (ताप) से···
४३२	१	स्वरभेदोऽभिनेतव्यौ	स्वरभेदोऽभिनेतव्यो
४३४	१७	विस्ययश्च वितर्कश्च	विस्मयश्च वितर्कश्च
४३५	५	ग्लानस्त्रमेव च	ग्लान्यस्त्रमेव च
४३८	९	(या विभिन्न रसों का प्रदर्शन) विराम उत्पन्न करती···	(या विचित्रता रसों का प्रदर्शन) विराग उत्पन्न नहीं करती···
४३९	१२	जो ठीक तरह से समझता है वह अतिशय	जो इसी तरह इन्हें ठीक तरह से समझता है वह अतिशय

चौखम्भा संस्कृत संस्थान
भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा प्रचारक
पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० ११३९
जड़ाव भवन, के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी–२२१००१ (भारत)